ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक—36

आचार्य हरिभद्र सूरि विरचित

षड्दर्शनसमुच्चय

श्री गुणरत्नसूरिकृत तर्करहस्यदीपिका, सोमतिलकसूरिकृत लघुवृत्ति तथा
अज्ञातकर्तृक अवचूर्णि सहित

सम्पादक

डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

प्रस्तावना-लेखक

पं. दलसुख मालवणिया

भारतीय ज्ञानपीठ

पाँचवाँ संस्करण : 2000 □ मूल्य : 150 रु.

प्रधान सम्पादकीय

यद्यपि हरिभद्र (७५० ई० अनुमानित) ने अपने पीछे आत्मपरिचयात्मक विवरण अत्यल्प ही छोड़ा है, तथापि उनके संस्कृत और प्राकृतमें निबद्ध प्रायः अनेक विषयके आकर ग्रन्थोंकी एक लम्बी श्रेणी भारतीय साहित्यमें उनका यश महान् व्यक्तित्व स्थापित करती है। (द्र० याकोबी : समराइच्चकहा प्रस्तावना, बिब्लोथिका इण्डिका, सं० १९७, कलकत्ता १९२६, सुखलालजी संघवी : समदर्शी आचार्य हरिभद्र, राजस्थान ओरियंटल सीरिज, सं० ६८, जोधपुर १९६३)। यद्यपि उनका योगदान मुख्यतया जैनधर्मसे सम्बन्धित है तथापि अध्ययनके क्षेत्रमें उनका अधिकार व्यापक था। वह अर्धमागधी आगम ग्रन्थोंके सर्वप्रथम संस्कृत टीकाकार हैं। दूसरे दिङ्नागके न्यायप्रवेश पर उनकी टीका इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि उनकी विद्वत्ता केवल धार्मिक दायरे तक ही सीमित नहीं थी। तीसरे वैदिक पुराण तथा दार्शनिक सम्प्रदायों पर उनका महान् अधिकार था, जैसा कि उनके धूर्ताख्यान तथा शास्त्रवार्तासमुच्चयसे स्पष्ट है। चौथे उनके प्रकरणोंसे ज्ञात होता है कि किस प्रकार वे जैन सिद्धान्तोंकी व्याख्यामें यहाँ तक कि संवर्द्धन और आपूर्तिमें व्यापक विद्वत्ता तथा नवीन बुद्धिको ला रहे थे, जैसा कि उनके योगके विवेचनमें देखा जाता है। पाँचवें विषय ही उनका तलस्पर्शी मस्तिष्क अनेकान्तकी संचेतनासे संकुल था, जिसने अनेक जैन सिद्धान्तोंकी सुस्पष्ट व्याख्या की, पृथक्ताके लिए नहीं प्रत्युत तुलना तथा यदि आवश्यक हुआ तो अन्य सिद्धान्तोंके विवेकसे खण्डन करनेके लिए। छठे वे एक कुशल कथाकार तथा प्रौढ़ धार्मिक गुरु हैं। अन्ततः भारतीय साहित्यमें वह अपने षड्दर्शनसमुच्चयमें छह दर्शनोंके संक्षिप्त सारको प्रदान करने वाले व्यक्तियोंमें अग्रगामी व्यक्ति हैं।

सामान्यतया भारतमें धार्मिक दार्शनिकोंने अपने दर्शनके अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तोंका अध्ययन, सत्यकी खोजके सन्दर्भमें तुलनात्मक अध्ययनके लिए उन्हें समझनेकी अपेक्षा उनकी आलोचना या खण्डनके लिए अधिक किया। सम्भवतया हरिभद्र एक गणनीय अपवाद हैं। उनका षड्दर्शनसमुच्चय छह दर्शनों—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीयका आधिकारिक विवरण देने वाला प्राचीनतम ज्ञात संग्रह है। उनकी परिगणना रूढ़िवादियोंसे भिन्न है और यह वास्तवमें सम्पूर्ण भारतीय धर्म-दर्शनोंके विवेचनकी दृष्टिसे विस्तृत है।

इस प्रकारके सार संग्रह लिखनेके विचारका अपना महत्त्व है और पण्डित दलसुख मालवणियाने अपनी हिन्दी प्रस्तावनामें इसका विवरण दिया है कि इस प्रकारके अन्य कितने ग्रन्थ लिखे गये।

हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयको गुणरत्नसूरि एक सुयोग्य टीकाकार प्राप्त हुए और उनकी टीका तर्करहस्यदीपिका पर्याप्त विस्तृत है। उनकी व्याख्यामें हमें प्राप्य कतिपय विवरणोंकी अपनी विशेषताएँ हैं। वे सन् १३४३ से १४१८ के बीचमें हुए। उनके तथा उनकी कृतियोंके विषयमें आवश्यक विवरण पण्डित मालवणियाकी हिन्दी प्रस्तावनामें दिये गये हैं। गुणरत्नसूरि कृत तर्करहस्यदीपिकाके अतिरिक्त सोमतिलक कृत लघुवृत्ति तथा अज्ञात लेखककी अवचूर्णी भी प्रस्तुत संस्करणमें शामिल की गयी हैं।

षड्दर्शनसमुच्चय और तर्करहस्यदीपिकाने बहुत पहलेसे प्राच्य विद्याविदोंका ध्यान आकर्षित किया है, क्योंकि हरिभद्रकी कृति भारतीय दर्शनोंका एक अच्छा गुटका है और गुणरत्नकी टीका उसकी एक सुललित व्याख्या है। एफ० हालने षड्दर्शनसमुच्चय तथा चारित्रसिंहगणि कृत इसकी वृत्तिका उल्लेख 'ए

कन्ट्रीब्यूशन टुवर्डस् एन इण्डेक्स टु दि बिबिलियोग्राफी आफ द इंडियन फिलासफीकल सिस्टमस्, कलकत्ता १८५९ में किया है। उसके बाद एफ० एल० पुलेने हरिभद्रके विषयमें कुछ सूचनाएँ संगृहीत की तथा मूल और टीकाका अध्ययन जारी रखा। जिओरनाले डेला सोसाइटिया एशियाटिका इटालियन वालुम १, पृष्ठ ४७-७३, वालुम ८, पृष्ठ १५९-१८७, वालुम ९, पृष्ठ १-३२, वालुम ११, पृष्ठ २२५-३६, फ्लोरेन्ज १८८७ १८९५-९६-९९)। एल० सुआलीने इसके एक भागका इटालियन अनुवाद एशियाटिक सोसाइटी आफ इटलीके उपर्युक्त अरनल भाग १७, पृष्ठ २४२-७१ फिरेन्ज १९०४ में प्रस्तुत किया तथा बादमें उन्होंने गुणरत्नकृत टीकाके साथ मूलका सम्पादन बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता १९०५ में किया।

कुछ समय पूर्व डॉ० के० एस० मूर्तिने इसका नोट्सके साथ अँगरेजीमें अनुवाद किया है और 'ए कम्पेण्डियम आफ सिक्स फिलासफीज'के नामसे टैगोर पब्लिशिंग हाउस, तेनाली १९५७ में प्रकाशित किया है।

स्वर्गीय पण्डित महेन्द्रकुमार उन कतिपय नैसर्गिक प्रतिभाशाली विद्वानोंमें-से एक थे, जिन्होंने हमें जैन न्यायके अनेक ग्रन्थोंके आदर्श संस्करण दिये। जैसे न्यायविनिश्चयविवरण भाग १-२, राजवार्तिक भाग १-२ और सिद्धिविनिश्चय भाग १-२ जो इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हैं। उन्होंने सिंघी जैन सीरिज, बम्बई १९३९ के लिए अकलंकग्रन्थत्रयम् तथा माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई १९४१ के लिए न्यायकुमुदचन्द्रका सम्पादन किया। और निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४१ के लिए प्रमेयकमलमार्तण्डका सम्पादन किया। ये संस्करण उनकी दुरूह ग्रन्थोंकी तलस्पर्शी विद्वत्ता को व्यक्त करते हैं और उन्होंने पं० सुखलालजीकी प्रेरणासे तुलनात्मक टिप्पणोंको जो परम्परा उद्भावित की वह उनके समस्त भारतीय ज्ञानके विशाल अध्ययनकी साक्षी है। उनके दुःखद अवसानके समाचार सुनकर प्रो० डॉ० ई० फाउवालनर, आस्ट्रिया, ने उनके विषयमें मुझे लिखा था (उनका पत्र ७-३-१९६०) 'पण्डित महेन्द्रकुमारजीका निधन जैन विद्याके लिए एक बहुत बड़ी क्षति है। वे आश्चर्यकारी विद्वत्ताके धनी एक अच्छे पण्डित थे।'

स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी अनुवाद सहित षड्दर्शनसमुच्चयका गुणरत्न तथा सोमतिलककी टीकाओं तथा अज्ञात कर्तृक अवचूर्णिके साथ यह संस्करण प्रकाशित करते हुए ग्रन्थमाला सम्पादकोंको हार्दिक प्रसन्नता है। पण्डित दलसुख मालवणियाने पण्डित महेन्द्रकुमारजी की सामग्रीका प्रेसके लिए पुनरवलोकन किया तथा वर्तमान रूपमें इसके प्रकाशनके लिए महती सहायता की। उन्होंने हिन्दीमें विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना भी लिखी है। यह सन्तोषका विषय है कि हम दोनोंके समान मित्र पण्डित महेन्द्रकुमार-जी का यह ग्रन्थ समुचित रूपमें उस ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहा है जिसके प्रारम्भिक विकासकी शुरुआत स्वयं उन्हींके हाथों हुई थी।

हम श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी तथा उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती रमाजीके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं जो इस ग्रन्थमालाकी प्रगतिमें गहरी रुचि लेते तथा ऐसे ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिए उदारतापूर्वक सहायता करते हैं। हम पं० दलसुख मालवणियाके उदार सक्रिय सहयोगके लिए आभारी हैं।

हम श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैनको सोत्साह मार्गदर्शनके लिए धन्यवाद देते हैं तथा डॉ० गोकुलचन्द्र जैन-को भी जिन्होंने एकसे अधिक तरहसे इस प्रकाशनमें सहयोग किया, विशेष रूपसे अनुक्रमणिका आदि तैयार करनेमें।

—हीरालाल जैन
—आ० ने० उपाध्ये

कोल्हापुर
१० फरवरी १९७०

प्रस्तावना

प्रथम संस्करण से)

पं० दलसुख मालवणिया

डायरेक्टर, ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद

प्रास्ताविक

षड्दर्शन समुच्चय मूल[1] और गुणरत्नकृत टीकाका अनुवाद श्री पं० महेन्द्रकुमारजी ने ता० २५-६-४० चार बजे पूरा किया था ऐसी सूचना उनकी पांडुलिपिसे मिलती है । और टिप्पण लिखनेका कार्य उन्होंने ई० १९५९ में अपनी मृत्यु (ई० १९५९ जून) के कुछ मास पूर्व किया ऐसा डॉ० गोकुलचन्द्रजीकी सूचनासे प्रतीत होता है । टिप्पणीके लिखनेमें डॉ० गोकुलचन्द्रजीने सहायता की थी ऐसा भी उनसे मालूम हुआ है । अनुवाद करके उन्होंने छोड़ रखा था और प्रकाशककी तलाश थी यह तो मैं जानता हूँ । किन्तु खेद इस बातका है कि उनके जीवनकालमें इस ग्रन्थको वे मुद्रित रूपसे देख नहीं सके । और इस कार्यको मित्रकृत्यके रूपमें करनेमें दुःखमिश्रित सन्तोषका अनुभव मैं कर रहा हूँ ।

उनकी जो सामग्री मुझे मिली उसे ठीक करके, यत्र-तत्र संशोधित करके मैंने प्रेस-योग्य बना दी थी । कुछ पृष्ठोंके प्रूफ भी मैंने देखे और पूरे ग्रन्थके प्रूफ मुद्रण-कार्य शीघ्र हो इस दृष्टिसे मेरे पास भेजे नहीं गये । आनन्द इस बातका है कि मेरे परम मित्रका यह कार्य पूरा हो गया ।

यह भी आनन्दका विषय है कि इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठसे हो रहा है । ज्ञानपीठके आरम्भ कालसे ही उनका सम्बन्ध ज्ञानपीठसे एक या दूसरे रूपमें रहा है । अकलंकके कई ग्रन्थोंका उद्धार पं० महेन्द्रकुमारजीने किया और ज्ञानपीठने उनका प्रकाशन किया—उससे दोनोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी । इतने उत्तम रूपसे भारतीय दर्शनोंके ग्रन्थ प्रायः नहीं मुद्रित होते । तुलनात्मक टिप्पणी दे कर दर्शनग्रन्थोंका संपादन पूज्य पं० सुखलालजी ने शुरू किया था । उसी पद्धतिका अनुसरण करके पं० महेन्द्रकुमारजीने जिस उत्तम रीतिसे उन ग्रन्थोंका संपादन किया और ज्ञानपीठने उन्हें सुन्दररूपसे छापा यह तो भारतीय दर्शन ग्रन्थके प्रकाशनके इतिहासमें सुवर्ण पृष्ठ है । उन ग्रन्थोंके जरिये भारतीय दर्शनोंके तुलनात्मक अध्ययनको प्रगति मिली है—यह निःसंशय है । पं० महेन्द्रकुमारजी जीवित होते तो प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चयकी प्रस्तावना कैसी लिखते यह नहीं कहा जा सकता किन्तु यहाँ जो लिखा जा रहा है उससे तो बढ़कर होती—इसमें सन्देह नहीं है ।

षड्दर्शनसमुच्चय और उसकी वृत्तिके संशोधनमें उपयुक्त हस्तप्रतियोंके विषयमें मेरे समक्ष पं० महेन्द्रकुमारजीके द्वारा लिखित कोई सामग्री नहीं आयी अतएव यह कहना कठिन है कि उन्होंने तत्-तत् संज्ञाओंके द्वारा निर्दिष्ट कौन-सी प्रतियोंका उपयोग किया है । किन्तु इतना तो निश्चित है कि उन्होंने अच्छी हस्त-प्रतियोंका उपयोग प्रस्तुत ग्रन्थके संशोधनमें किया है और उसे शुद्ध करनेका पूरा प्रयत्न किया है ।

उनके द्वारा संपादित अन्य ग्रन्थोंकी तरह इसमें भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक टिप्पण अन्य ग्रन्थोंसे उद्धृत किये हैं । संकेत सूचीके आधारपर-से एक तालिका तैयार की गयी है जिससे वाचकको पता लगेगा कि प्रस्तुत ग्रन्थके संशोधनके लिए उन्होंने कितना परिश्रम किया है । उन्होंने विविध ग्रन्थोंके कौनसे संस्करणोंका टिप्पणीमें उपयोग किया है—यह भी पता लगा कर निर्दिष्ट किया गया है ।

---

१. 'षड्दर्शन समुच्चय' गुजराती अनुवादक : श्री चन्द्रसिंह सूरि, प्रकाशक-जैन तत्त्वादर्श सभा, अहमदाबाद, ई० १८९२; अष्टकप्रकरणके साथ, प्रकाशक : सोमचन्द्रात्मजो नारायणः, सुरत, ई० १९१८; हरिभद्रसूरिग्रन्थमालामें प्र० जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर, विक्रम सं० १९६४ (ई० १९०७) ।

उन्होंने इस ग्रन्थकी प्रस्तावना लिखी थी कि नहीं यह पता नहीं लगता। जो सामग्री मेरे समक्ष आयी उसमें तो उसकी कोई सूचना है नहीं। अतएव मैंने प्रस्तावनाके रूपमें थोड़ा लिख देना उचित समझा है।

ज्ञानपीठके संचालकोंने मित्रकृत्य करनेका यह शुभ अवसर दिया एतदर्थ मैं ग्रन्थमालाके सम्पादकोंका और ज्ञानपीठके संचालकोंका आभारी हूँ।

षड्दर्शन

दर्शनोंकी छह संख्या कब निश्चित हुई उसका इतिहासमें पक्का पता नहीं लगता। विद्यास्थानोंकी गिनतीके प्रसंगमें दर्शनों या तर्कोंकी संख्याकी चर्चा होने लगी थी इतना ही कहा जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् (७-१-२) में अध्ययनके अनेक विषयोंकी गिनतीमें वाकोवाक्यका उल्लेख मिलता है। उसका अर्थ है वाद-विवाद। परन्तु अर्थशास्त्रमें आन्वीक्षिकी आदि चार ही विद्याओंका उल्लेख है तथा आन्वीक्षिकी विद्यामें भी सांख्य, योग और लोकायतोंका उल्लेख है तथा आन्वीक्षिकीके विषयमें कहा है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

स्मृतियोंमें याज्ञवल्क्यस्मृति (१-३) में १४ विद्यास्थानोंको गिनाया है, उनमें केवल न्याय और मीमांसाका उल्लेख है। पुराणोंमें भी जहाँ विद्याओंका उल्लेख है वहाँ भी प्रायः याज्ञवल्क्यस्मृतिका अनुसरण है[2]। किन्तु न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने तो न्यायशास्त्रको ही आन्वीक्षिकी विद्या माना है। उनका कहना है कि "सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥"

—न्यायभाष्य १.१.१.

वात्स्यायन ने ठीक ही कहा है क्योंकि त्रयी हो या वार्ता या दण्डनीति—इन सभी विद्याओंके विषयमें आन्वीक्षिकी ही निर्णायक है—ऐसा कौटिल्यका मत है—क्योंकि आन्वीक्षिकी होके द्वारा अर्थात् हेतुप्रयोगद्वारा तीनों विद्याओंका अन्तिम ध्येय सिद्ध होता है। सुखके अवसरपर या आपत्तिके अवसरमें बुद्धिको स्थिर रखनेवाली आन्वीक्षिकी ही है। प्रज्ञामें, वचनमें और क्रियामें वैशारद्य आन्वीक्षिकीके कारण ही आता है। अतएव आन्वीक्षिकी सर्वविद्याओंकी विद्या है। सब विद्याओंके लिए प्रदीप है।[3] सांख्य हों या योग या लोकायत—ये सभी आन्वीक्षिकीका आश्रय लेकर ही अपनी बातको सिद्ध करते थे अतएव कौटिल्यने भले उन तीनोंका नाम आन्वीक्षिकीमें गिनाया किन्तु उन तीनोंका आधार आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या ही है। वे प्रमाण, न्याय या तर्कोंका आश्रय लेकर ही अपनी बातको सिद्ध कर सकते हैं ऐसा अभिमत न्यायभाष्यकारका है। इस परसे हम कह सकते हैं कि कौटिल्यके समय तक भले ही न्यायशास्त्रको पृथक् दर्शनके रूपमें स्थान मिला नहीं था किन्तु आन्वीक्षिकीके रूपमें उसकी सत्ता माननी चाहिए। न्यायशास्त्रमें जब वैशेषिक दर्शनको समान तन्त्र माना जाने लगा तब वह सब विद्याओंका आधार रूप न रहकर एक स्वतन्त्र दर्शन बन गया। यही

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र—१-२ (कांगले)। २. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भा० ५, पृ० ८२०, ९२६, ११५२। ३. सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी।१०। धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्तायां नयापनयौ दण्डनीत्यां बलाबलेतिहासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति।११।—कौटिलीय अर्थशास्त्र १।२।

कारण है कि पुराणों और स्मृतियोंमें न्याय और मीमांसाको पृथक् गिनाया गया। इस प्रकार पुराण कालमें न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और लोकायत—ये दर्शन पृथक् सिद्ध होते हैं। स्मृति और पुराणोंमें विद्या-स्थानोंमें सांख्य-योग-लोकायतको स्थान मिलना सम्भव नहीं था क्योंकि उनका आधार वेद नहीं था। किन्तु महाभारत और गीतासे स्पष्ट है कि दर्शनोंमें सांख्य-योगका स्थान पूरी तरहसे जम चुका था। और वे अवैदिक नहीं, किन्तु वैदिक दर्शनमें शामिल कर लिये गये थे। इस प्रकार ईसाकी प्रारम्भकी शताब्दियोंमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा—ये दर्शन वैदिकोंमें पृथक्-पृथक् रूपसे अपना स्थान जमा चुके थे। उनके विरोधमें जैन, बौद्ध और चार्वाक—ये तीन अवैदिक दर्शन भी ईसा पूर्व कालसे वैदिक दार्शनिकोंके लिए समस्या रूप बने हुए थे। मीमांसामें कर्म और ज्ञानके प्राधान्यको लेकर दो भेद हो गये थे। अतएव वैदिकोंमें षट्तर्क या षड्दर्शनकी स्थापना हो गयी थी जिसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व और उत्तर मीमांसा—ये प्राधान्य रखते थे।

प्रस्तुत ग्रन्थमें षड्दर्शनोंका विवरण है किन्तु दर्शनोंकी छह संख्या और उस छह संख्यामें भी किन-किन दर्शनोंका समावेश है—इस विषयमें ऐकमत्य नहीं दीखता। वैदिक दर्शनोंके अनुयायी जब छह दर्शनोंकी चर्चा करते हैं तब वे छह दर्शनोंमें केवल वैदिक दर्शनोंका ही सम्मेलन करते हैं; किन्तु प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चयमें वैदिक-अवैदिक सब मिलाकर छह संख्या है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि दर्शनोंको छह गिननेकी प्रक्रिया भी ईसवी सन्के प्रारम्भकी कई शताब्दियोंके बाद ही शुरू हुई है। वाचस्पति मिश्रने एक वैशेषिकदर्शनको छोड़कर न्याय, मीमांसा—पूर्व और उत्तर, सांख्य और योग—इन पाँचोंकी व्याख्या की। इससे यह तो पता लगता है कि उनके समय तक छहों वैदिक दर्शन प्रतिष्ठित हो चुके थे। उन्होंने वैशेषिक दर्शनपर पृथक् लिखना इसलिए जरूरी नहीं समझा कि उस दर्शनके तत्त्वोंका विवेचन न्यायमें हो ही जाता है। वाचस्पति एक अपवादरूप वैदिक लेखक हैं। इनके पहले किसी एक वैदिक लेखकने तत्तद्दर्शनोंके ग्रन्थोंका समर्थन तत्तद्दर्शनोंकी मान्यताके अनुसार नहीं किया केवल वाचस्पतिने यह नया मार्ग अपनाया और जिस दर्शनपर लिखने बैठे तो उसी दर्शनके होकर लिखा। आचार्य हरिभद्र और वाचस्पतिमें यह अन्तर है कि वाचस्पतिने टीकाकारके रूपमें या स्वतन्त्ररूपसे विरोधी दर्शनका निराकरण करके तत् तद्दर्शनोंका समर्थन किया है। जब कि हरिभद्रने मात्र परिचय दिया है। यह भी अन्तर है कि वाचस्पतिने दर्शनोंपर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे किन्तु हरिभद्रने एक ही ग्रन्थमें छहों दर्शनोंका परिचय दिया। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि वाचस्पतिके दर्शनोंमें चार्वाक दर्शनका समर्थन नहीं है और न अन्य अवैदिक जैन बौद्धका। जब कि हरिभद्रने वैदिक-अवैदिक सभी दर्शनोंका अपने ग्रन्थमें समावेश परिचयके लिए कर लिया है। आचार्य हरिभद्रने बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इन छह दर्शनोंका समावेश षड्दर्शनसमुच्चयमें किया है।

दार्शनिकोंमें प्रथम तो यह प्रवृत्ति शुरू हुई कि अपने विरोधी मतोंका निराकरण करना। किन्तु आगे चलकर वैदिकोंमें यह प्रवृत्ति भी देखी जाती है कि सच्चे अर्थमें वेदके अनुयायी केवल ये स्वयं हैं और उनका ही दर्शन वेदका अनुयायी है, अन्य दर्शन वेदकी दुहाई तो देते हैं किन्तु वस्तुतः वेद और उसके मतसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। जब स्वयं वैदिक दर्शनोंमें ही पारस्परिक ऐसा विवाद हो तब अवैदिक दर्शनोंका तो ये वैदिक दर्शन तिरस्कार ही करें यह स्वाभाविक है। इस भूमिका में हम देखते हैं कि न्यायमंजरीकार जयन्त केवल वैदिक दर्शनोंको ही तर्कमें या न्यायमें समाविष्ट करते हैं और बौद्धादि अन्य दर्शनोंका बहिष्कार घोषित करते हैं[1]। यह प्रवृत्ति उनसे पहलेके [2]कुमारिलमें भी स्पष्टरूपसे विद्यमान है। और [3]शंकराचार्य भी उसका अनुकरण करते हैं। विशेषता यह है कि वे सांख्य-योग-बौद्ध, वैशेषिक, जैन और न्यायदर्शनको तथा शैव और वैष्णव दर्शनोंको भी वेद विरोधी मानते हैं।

---

१. न्यायमंजरी पृ० ४। २. तन्त्रवार्तिक १,३,४। हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र भाग० ५, पृ० ९२६ में उद्धरण है। अन्य उद्धरण उसीमें पृ० १००९, १२६२ में है। ३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २,१,१; २,१,३;२,१,११-१२, २,२,१-४४

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक ये दर्शन अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें वैदिक थे नहीं किन्तु उनकी व्याख्या और व्यवस्था जैसे-जैसे होने लगी वे अपनेको वैदिक दर्शनोंमें शामिल करने लगे और अपने आगमरूपसे वेदको स्थान देने लगे। एक ही वेद परस्पर विरोधी दर्शनका मूल कैसे हो सकता है—इस विचारके विकासके साथ ही ये दर्शन एक-दूसरेको अवैदिक घोषित करने लगे थे। और केवल अपनेको ही वैदिक दर्शन गिनने लगे थे। किन्तु वेदको नाना व्याख्याएँ हुई हैं और हो सकती हैं—इस विचारके विकासके साथ ये ही दर्शन अन्य दर्शनोंको भी वैदिक दर्शन मानने लगे थे—ऐसा भी हम कह सकते हैं। इस विचारके मूलमें बौद्धोंके अनेक दर्शनोंकी उपस्थिति भी एक कारण हो सकता है। क्योंकि बौद्ध दर्शनोंके विविध भेद हुए, उसके बाद ही परस्पर विरोधी होकर भी वे वैदिक दर्शन हैं ऐसे विचारकी भूमिका वैदिकोंमें हम देखते हैं। और वैदिक दर्शनोंकी गिनती भी इस भूमिकाके बाद देखते हैं। वैदिक दर्शन छह हैं—इस बातका उल्लेख अन्तमें हम पाते हैं किन्तु उनके पूर्व भी षट्तर्क या षड्दर्शनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। आगे चलकर बौद्धोंके दर्शनभेदके विषयमें बौद्ध टीकाकारोंने यह स्पष्टीकरण करना शुरू किया कि ये दर्शनभेद अधिकारीभेदसे हैं। स्वयं बुद्धके उपदेशको लेकर जब ये विविध विरोधी व्याख्याएँ होने लगीं तो प्रश्न होना स्वाभाविक ही था कि एक ही भगवान् बुद्ध परस्पर विरोधी बातोंका उपदेश कैसे दे सकते हैं? इसके उत्तरमें यह भी कहना शुरू हुआ कि ये उपदेश अधिकारी भेदसे भिन्न थे अतएव इन उपदेशोंमें विरोध नहीं। अतएव बौद्धोंके दर्शनभेदोंमें भी परस्पर विरोध नहीं। किन्तु अधिकारभेदसे ही उन दर्शनोंकी प्रवृत्ति हुई है ऐसा समझना चाहिए। दर्शनभेदका यही स्पष्टीकरण परस्पर विरोधी वैदिक दर्शनोंके विषयमें भी होने लगा—यह हम सर्वदर्शनसंग्रह जैसे ग्रन्थोंसे जान सकते हैं।

षड्दर्शनसमुच्चयकी रचनाभूमिका

वेदसे लेकर उपनिषदों तक भारतीय चिन्तनधारा उन्मुक्त रूपसे बह रही थी। अनेक आश्रमों और प्रतिष्ठानोंमें अनेक ऋषि-मुनि और चिन्तक अपने-अपने विचार शिष्यों और जिज्ञासुके समक्ष रख रहे थे। उन विचारोंकी व्यवस्था थी नहीं। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीरके बाद यह स्पष्ट हुआ कि वैदिक और अवैदिक ऐसी दो धाराएँ मुख्य हैं। अवैदिकोंमें भी गोशालक आदि कई विचारक थे उनमें-से बौद्ध, जैन और चार्वाक आगे चलकर स्वतन्त्र दर्शनरूपसे स्थिर हुए। वैदिकोंमें भी कई शाखाएँ स्पष्ट हुईं। और सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा (कर्ममीमांसा, ज्ञानमीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा) आदि दर्शन स्थिर हुए। इनमें-से सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक प्रारम्भमें अवैदिक दर्शन थे किन्तु बादमें वैदिक हो गये।

वस्तुतः देखा जाय तो विविध दर्शन एक ही तत्त्वको अनेक रूपसे निरूपित करते थे। अतएव जैसा भी तत्त्व हो किन्तु उसके निरूपणके ये अनेक दृष्टिबिन्दु थे—यह स्पष्ट है। किन्तु ये दार्शनिक अपने ही मतकी पुष्टि करनेमें लगे हुए थे और अन्य मतोंके निराकरणमें तत्पर थे। अतः उन दार्शनिकोंसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे अनेक दृष्टियोंसे एक ही तत्त्वका निरूपण करें। नैयायिकादि सभी दर्शन वस्तु तत्त्वकी एक निश्चित प्ररूपणा लेकर चले थे और उसी ओर उनका आग्रह होनेसे तत्-तत् दर्शनकी सृष्टि हो गयी थी। तत्-तत् दर्शनके उस परिष्कृत रूपसे बाहर जाना उनके लिए सम्भव नहीं था।

जैन दार्शनिकोंके विषयमें ऐसी बात नहीं है। वे तो दार्शनिक विकासके क्षेत्रमें नैयायिकादि सभी दर्शनोंके परिष्कारके बाद अर्थात् तीसरी शतीके बाद आये। अतएव वे अपना मार्ग निश्चित करनेमें स्वतन्त्र थे और उनके लिए यह भी सुविधा थी कि जैनागम ग्रन्थोंमें वस्तुविचार नयोंके द्वारा अर्थात् अनेक दृष्टियोंसे हुआ था। जैन आगमोंमें मुख्यरूपसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियोंसे तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा विचारणा करनेकी पद्धति अपनायी गयी है। इसके अलावा व्यवहार और निश्चय इन दो नयोंसे भी विचारणा देखी जाती है। इन आगम ग्रन्थोंकी जब व्याख्या होने लगी तब

सात नयोंका सिद्धान्त विकसित हुआ। यही समय है जबसे लेकर जैनदार्शनिक भारतीय दर्शन क्षेत्रमें जो वाद-विवाद चल रहा था उसमें क्रमसे शामिल होते गये। परिणाम स्वरूप विविध मतोंके बीच अपने मतका सामंजस्य कैसा है और कैसा होना चाहिए—इस विषयकी ओर उनकी दृष्टि गयी। यह तो स्पष्ट हो गया कि वे जब द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तुविचार करते हैं तब वस्तुको नित्य माननेवाले दार्शनिकोंसे उनका ऐकमत्य होता है और जब पर्यायदृष्टिसे विचार करते हैं तब वस्तुको अनित्य माननेवाले बौद्धोंसे ऐकमत्य होता है। अतएव इस बातको लेकर वे दर्शनोंके अन्य विचारोंसे भी परिचित होनेकी आवश्यकताको महसूस करने लगे और अन्य दर्शनोंसे जैन दर्शनका किन-किन बातोंमें मतैक्य और विभेद है—इसकी तलाशमें प्रवृत्त हुए। उस प्रवृत्तिके फलस्वरूप जैन आचार्योंमें अपने नयसिद्धान्तका पुनरवेक्षण करना जरूरी हो गया। तथा अन्य मतोंका सही-सही ज्ञान भी आवश्यक हो गया। इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति नयसिद्धान्तकी समयानुकूल व्याख्या करके की गयी और अन्य दर्शनोंके विषयमें सही ज्ञान देनेवाले प्रकरण लिखकर और अन्य दर्शनोंका नयसिद्धान्तसे सम्बन्ध जोड़कर भी की गयी। इसी प्रवृत्तिके फल आचार्य हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चयमें हम विभिन्न रूपसे देखते हैं। इन दोनों ग्रन्थोंकी अपनी-अपनी क्या विशेषता है यह हम आगे कहेंगे। किन्तु उसकी पूर्वभूमिका किस प्रकार बनी यह प्रथम बताना जरूरी है। अतएव इसीकी चर्चा यहाँ की जाती है।

नयोंके विषयमें सर्वप्रथम आचार्य उमास्वातिने प्रश्न उठाया है कि एक ही वस्तुका विविध रूपसे निरूपण करनेवाले ये नय क्या तन्त्रान्तरीय मत हैं या अपने ही मतमें प्रश्नकर्ताओंने अपनी-अपनी समझके अनुसार कुछ मतभेद खड़े किये हैं? उत्तर दिया है कि न तो ये नय तन्त्रान्तरीय मत है और न ये अपने ही मतके लोगोंने मतभेद खड़े किये हैं। किन्तु एक ही वस्तुके जाननेके नाना तरीके हैं। पुनः प्रश्न किया कि तो फिर एक ही वस्तुके विषयमें नाना प्रकारका निरूपण करनेवाले नयोंमें परस्पर विरोध क्यों नहीं? उत्तरमें स्पष्ट किया है कि एक ही वस्तुको अनेक दृष्टियोंसे देखा जा सकता है अतएव इनमें विरोधको अवकाश नहीं है। जैसे एक ही वस्तु नाना प्रकारके ज्ञानोंसे अनेकरूप देखी जा सकती है वैसे ही नाना नयोंसे उसे अनेक प्रकारसे जाना जा सकता है—उसमें कोई विरोध नहीं[1]।

स्पष्ट है कि विविध नयोंके द्वारा किया गया दर्शन एक ही मतके अनुयायी द्वारा—अर्थात् जैनधर्मके अनुयायी द्वारा नाना प्रकारके अध्यवसाय = निर्णय हैं। उनका सम्बन्ध परवादीके मतोंसे नहीं है—ऐसा स्पष्ट अभिप्राय आचार्य उमास्वातिका है। किन्तु चिन्तनशील व्यक्तिको आचार्य उमास्वातिके इस उत्तरसे सन्तोष हो नहीं सकता। क्योंकि दार्शनिक वाद-विवादके क्षेत्रमें परस्पर ऐसे कई विरोधी मत वह देखता है और उनका साम्य जैनोंके द्वारा विविध रूपसे किये गये निर्णयोंके साथ भी वह देखता है, तब नयोंका जैनेतर मतोंसे सामंजस्य या संयोजन बिठानेका प्रयत्न वह न करे यह हो नहीं सकता। इसी प्रक्रियामें-से प्रथम तो सर्वदर्शनोंका अभ्यास बढ़ानेकी ओर जैनाचार्य प्रवृत्त हुए। और उसके फलस्वरूप नय और जैनेतर विविध मतोंका किस प्रकारका सम्बन्ध हो सकता है इस विचारणाकी प्रक्रिया शुरू हुई।

इस विचारणामें अग्रसर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर हुए ऐसा जान पड़ता है। विक्रम चौथी-पाँचवीं शतीमें होनेवाले आचार्य सिद्धसेनने ३२ द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं उनमें-से ८वींमें जल्पकथा, ७वींमें वाद, ९वींमें वेदवाद, १२वींमें न्यायदर्शन, १३वींमें सांख्यदर्शन, १४वींमें वैशेषिकदर्शन, १५वींमें बौद्धदर्शन, १०वींमें योगविद्या, १६वींमें नियतिवाद आदि जैनेतरदर्शनोंकी चर्चा की है। और, सन्मतितर्कमें नय और नयाभास-सुनय-दुर्नयका भी स्पष्टीकरण करके नयोंमें नयी विचारणाका सूत्रपात कर दिया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय अपने दृष्टिबिन्दुसे विचार करें यह ठीक है किन्तु अपनी मर्यादासे बाहर जाकर ऐसा आग्रह रखें कि वस्तुका यही एक रूप है तो प्रत्येक मिथ्यादृष्टि होंगे (१,१३), किन्तु यदि दोनों नय अपने विषयका विभाग करके चलें तो दोनों एकान्त मिलकर अनेकान्त बन जाता है (१,१४)। प्रत्येक नय

१. तत्त्वार्थभाष्य—१,३५।

दुर्नय बन जाता है यदि अपनी दृष्टिका ही आग्रह हो (१,१५) । सभी नय मिथ्यादृष्टि होते हैं यदि वे स्वपक्षके साथ ही प्रतिबद्ध हैं किन्तु यदि वे परस्परकी अपेक्षा रखते हैं तो सम्यक् हो जाते हैं (१,२१), दोनों नय माने जायें तब ही संसार-मोक्षकी व्यवस्था बन सकती है अन्यथा नहीं (१,१७-२०) । आचार्य सिद्धसेनने अपने इस मतकी पुष्टिके लिए सुन्दर उदाहरण दिया है । उसका निर्देश भी जरूरी है । उन्होंने कहा है कि कितने ही मूल्यवान् वैडूर्य आदि मणि हों किन्तु जबतक वे पृथक्-पृथक् हैं 'रत्नावलि'के नामसे वंचित ही रहेंगे । उसी प्रकार अपने-अपने मतोंके विषयमें ये नय कितने ही सुनिश्चित हों किन्तु जबतक वे अन्य-अन्य पक्षोंसे निरपेक्ष हैं वे 'सम्यग्दर्शन' नामसे वंचित ही रहेंगे । जिस प्रकार वे ही मणि जब अपने-अपने योग्य स्थानमें एक डोरेमें बँध जाते हैं तब अपने-अपने नामोंको छोड़कर एक 'रत्नावलि' नामको धारण करते हैं, उसी प्रकार ये सभी नयवाद भी सब मिलकर अपने-अपने वक्तव्यके अनुरूप वस्तुदर्शनमें योग्य स्थान प्राप्त करके 'सम्यग्दर्शन' नामको प्राप्त कर लेते हैं और अपनी विशेष संज्ञाका परित्याग करते हैं । (१,२२-२५) । यही अनेकान्तवाद है ।

स्पष्ट है कि सन्मतिकार सिद्धसेनके मतसे नयोंका सुनय और दुर्नय ऐसा विभाग जरूरी है । तात्पर्य इतना ही है कि अन्य दर्शनोंके जो मत हैं यदि वे अनेकान्तवादके एक अंश रूपसे हैं तब तो सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय । यहींसे नयवादके साथ अन्य दार्शनिक मतोंके संयोजनकी प्रक्रिया शुरू हुई है । स्वयं सिद्धसेनने इस प्रक्रियाका सूत्रपात भी इन शब्दोंमें कर दिया है—जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं । और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय = परमत हैं । कपिलदर्शन द्रव्यार्थिक नयका वक्तव्य है, और शुद्धोदनतनयका वाद परिशुद्ध पर्यायार्थिक नयका वक्तव्य है । तथा उलूक (वैशेषिक) मतमें दोनों नय स्वीकृत हैं फिर भी ये सभी 'मिथ्यात्व' हैं क्योंकि अपने-अपने विषयको प्राधान्य देते हैं और परस्पर निरपेक्ष हैं । सारांश कि यदि ये अन्य मतसापेक्ष हों तब ही 'सम्यग्दर्शन' संज्ञाके योग्य हैं, अन्यथा नहीं (३,४७-४९) ।

सिद्धसेनकी इस सूचनाको लेकर तत्कालीन सभी मतोंका संग्रह विक्रम पाँचवीं शतीके पूर्वार्धमें आचार्य मल्लवादीने अपने नयचक्रमें कर दिया है[1] । मल्लवादीका यह ग्रन्थ अपने कालकी अद्वितीय कृति कही जा सकती है । वर्तमानमें अनुपलब्ध ग्रन्थ और मतोंका परिचय केवल इस नयचक्रसे इसलिए मिलता है कि आचार्य मल्लवादीने अपने कालतक विकसित एक भी प्रधान मतको छोड़ा नहीं । अतएव अपने-अपने मतको प्रदर्शित करनेवाले तत्-तत् दर्शनोंके ग्रन्थोंकी अपेक्षा सर्वसंग्राहक यह ग्रन्थ षड्दर्शनसमुच्चय जैसे ग्रन्थोंकी पूर्वभूमिका रूप बन जाता है । नयचक्रकी रचनाकी जो विशेषता है वह उसके नामसे ही सूचित हो जाती है । नयोंका अर्थात् तत्कालीन नाना वादोंका यह चक्र है । चक्रकी कल्पनाके पीछे आचार्यका आशय यह है कि कोई भी मत अपने-आपमें पूर्ण नहीं है । जिस प्रकार उस मतकी स्थापना दलीलोंसे हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरुद्ध मतकी दलीलोंसे हो सकता है । स्थापना-उत्थापनाका यह चक्र चलता रहता है । अतएव अनेकान्तवादमें ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें तब ही उनका औचित्य है, अन्यथा नहीं । इसी आशयको सिद्ध करनेके लिए आचार्यने क्रमशः एक-एक मत लेकर उसकी स्थापना की है और अन्य मतसे उसका निराकरण करके अन्यमतकी स्थापना की गयी है । तब तीसरा मत उसकी भी उत्थापना करके अपनी स्थापना करता है—इस प्रकार अन्तिम मत जब अपनी स्थापना करता है तब प्रथम मत उसीका निराकरण करके अपनी स्थापना करता है—इस प्रकार चक्रका एक परिवर्त पूरा हुआ किन्तु चक्रका चलना यहीं समाप्त नहीं होता, पूर्वोक्त प्रक्रियाका पुनरावर्तन होता है ।

अपने कालके जिन मतोंका संग्रह नयचक्रमें है वे ये हैं—अज्ञानवाद, पुरुषाद्वैत, नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, भाववाद, प्रकृति-पुरुषवाद, ईश्वरवाद, कर्मवाद, द्रव्य-क्रियावाद, षड्पदार्थवाद, स्याद्वाद, शब्दाद्वैत, ज्ञानवाद, सामान्यवाद, अपोहवाद, अवक्तव्यवाद, रूपादिसमुदायवाद, क्षणिकवाद, शून्यवाद—इन मुख्य

१. इसके विशेष परिचयके लिए देखो, आगमयुगका जैनदर्शन (आगरा) पृ० २९६ ।

वादोंके अलावा गौण भी अनेकवादोंकी चर्चा देखी जा सकती है जैसे कि प्रत्यक्षलक्षण, सत्कार्य-असत्कार्य वाद आदि।

नयचक्रके नयविषयक मतका सारांश यह है कि अंशसे किया हुआ दर्शन नय है अतएव वही एकमात्र दर्शन नहीं हो सकता। उसका विरोधी दर्शन भी है और उसको भी वस्तुदर्शनमें स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने उस समय प्रचलित विविध मतोंको अर्थात् विविध जैनेतर मतोंको ही नय माना और उन्हींके समूहको जैनदर्शन या अनेकान्तवाद माना। ये ही जैनेतर मत पृथक्-पृथक् नयाभास हैं और अनेकान्तवादके चक्रमें यथास्थान सन्निहित होकर नय हैं।

स्पष्ट है कि आचार्य उमास्वातिकी नयकी समझ और आचार्य मल्लवादीकी नयकी समझमें अन्तर है। उमास्वाति नयोंको परमतोंसे पृथक् ही रखना चाहते हैं वहीं मल्लवादी परवादों—परमतोंको ही नयचक्रमें स्थान देकर अनेकान्तवादकी स्थापनाका प्रयत्न करते हैं। नयचक्रका यह प्रयत्न उन्हीं तक सीमित रहा। केवल नयाभासोंके वर्णनमें परमतोंको स्थान दिलानेमें वे निमित्त अवश्य हुए। अकलंकसे लेकर अन्य सभी जैनाचार्योंने नयाभासके दृष्टान्तरूपसे विविध दर्शनोंको स्थान दिया है किन्तु नयोंके वर्णनमें केवल जैनदृष्टि ही रखी है। उसे किसी अन्यदीय मतके साथ जोड़ा नहीं है।

यहाँ यह भी प्रासंगिक कह देना चाहिए कि विशेषावश्यकके कर्ता आचार्य जिनभद्र नयचक्रके इस मतसे सहमत हैं कि विविध नयोंका समूह ही जैनदर्शन है (गा० ७२)। किन्तु उन्होंने भी नयवर्णनके प्रसंगमें नयरूपसे अन्यदीय मतका निरूपण नहीं किया किन्तु जैनसम्मत नयोंका निरूपण किया। इस अर्थमें वे उमास्वातिका अनुसरण करते हैं, नयचक्रका नहीं। सारांश कि इतना तो सिद्ध हुआ कि सर्वनयोंका समूह ही जैनदर्शन या सम्यग्दर्शन हो सकता है। यही मत सिद्धसेनने भी स्पष्ट रूपसे स्वीकृत किया था।

षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय

आचार्य हरिभद्रने ये दो ग्रन्थ लिखे। उन दोनोंमें उनकी रचनाकी दृष्टि भिन्न-भिन्न रही है। षड्-दर्शनसमुच्चयमें तो छहों दर्शनोंका सामान्य परिचय करा देना ही उद्दिष्ट है। इसके विपरीत शास्त्रवार्ता-समुच्चयमें जैनदृष्टिसे विविध दर्शनोंका निराकरण करके जैनदर्शन और अन्य दर्शनोंमें भेद मिटाना हो तो तद्दर्शनमें किस प्रकारका संशोधन होना जरूरी है यह निर्दिष्ट किया है। अर्थात् जैनदर्शनके साथ अन्य-अन्य दर्शनोंका समन्वय उन दर्शनोंमें कुछ संशोधन किया जाय तो हो सकता है—इस ओर इशारा आचार्य हरिभद्रने किया है। नयचक्रकी पद्धति और शास्त्रवार्ताकी पद्धतिमें यह भेद है कि नयचक्रमें प्रथम एक दर्शनकी स्थापना होनेके बाद उसके विरोधमें अन्य दर्शन खड़ा होता है और उसके भी विरोधमें क्रमशः अन्य दर्शन—इस प्रकार तत्कालके विविध दर्शनोंका बलाबल देखकर मल्लवादीने एक दर्शनके विरोधमें अन्य दर्शन खड़ा किया है और दर्शनचक्रकी रचना की है। कोई दर्शन सर्वथा प्रबल नहीं और कोई दर्शन सर्वथा निर्बल नहीं। यह चित्र नयचक्रमें है। तब शास्त्रवार्तासमुच्चयमें अन्य सभी दर्शन निर्बल ही हैं और केवल जैनदर्शन ही सयुक्तिक है—यही स्थापना है। दोनों ग्रन्थोंमें समग्रभावसे भारतीय दर्शनोंका संग्रह है। नयचक्रमें गौण-मुख्य सभी सिद्धान्तोंका और शास्त्रवार्तामें मुख्य-मुख्य दर्शनोंका और उनमें भी उनके मुख्य सिद्धान्तोंका ही संग्रह है।

जिस रूपमें आचार्य हरिभद्रने दर्शनोंकी छह संख्या मान्य रखी है वह उनकी ही सूझ है। सामान्य रूपसे छह दर्शनोंमें छह वैदिक दर्शन ही गिने जाते हैं किन्तु आचार्य हरिभद्रको छह दर्शनोंमें जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन भी शामिल करना था अतएव उन्होंने १ सांख्य, २ योग, ३ नैयायिक, ४ वैशेषिक, ५ पूर्व-मीमांसा और ६ उत्तरमीमांसा इन छह वैदिकदर्शनोंके स्थानमें छह संख्याकी पूर्ति इस प्रकार की—१ बौद्ध, २ नैयायिक, ३ सांख्य, ४ जैन, ५ वैशेषिक और ६ जैमिनीय। और ये ही दर्शन हैं और इन्हींमें सब

दर्शनोंका संग्रह भी हो जाता है—ऐसा स्पष्टीकरण किया है (का० १–३) और इन छह दर्शनोंको आस्तिकवादकी संज्ञा दी है (का० ७७)।

यह भी निर्दिष्ट है कि कुछके मतसे नैयायिकसे वैशेषिकोंके मतको भिन्न माना नहीं जाता अतएव उनके मतानुसार पाँच आस्तिक दर्शन हुए (का० ७८) और छह संख्याकी पूर्ति वे लोकायत दर्शनको जोड़कर करते हैं अतएव हम यहाँ लोकायत दर्शनका भी निरूपण करेंगे (का० ७९)। सारांश यह हुआ कि आचार्य हरिभद्रने छह आस्तिकदर्शन और एक नास्तिकदर्शन—लोकायत दर्शनका प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चयमें निरूपण किया है। इससे स्पष्ट है कि हरिभद्रने वेदान्तदर्शन या उत्तरमीमांसाको इसमें स्थान दिया नहीं। इसका कारण यह हो सकता है कि उस कालमें अन्य दर्शनोंके समान वेदान्तने पृथक् दर्शनके रूपमें स्थान पाया नहीं था। वेदान्तदर्शनका दर्शनोंमें स्थान आचार्य शंकरके भाष्य और उसकी टीका भामतीके बाद जिस प्रकारसे प्रतिष्ठित हुआ सम्भवतः उसके पूर्व उतनी प्रतिष्ठा उसकी न भी हो। यह भी कारण हो सकता है कि गुजरात राजस्थानमें उस काल तक वेदान्तकी उतनी प्रतिष्ठा न भी हो।

शास्त्रवार्तासमुच्चयकी रचना तत्त्वसंग्रहको समक्ष रखकर हुई है। दोनोंमें अपनी-अपनी दृष्टिसे ज्ञान-दर्शनोंका निराकरण मुख्य है। शास्त्रवार्तासमुच्चयमें जिन दर्शनोंका निराकरण है उनका दर्शनविभाग क्रमसे नहीं किन्तु विषय-विभागको लेकर है। प्रसिद्ध दर्शनोंमें चार्वाकोंके भौतिकवादका सर्वप्रथम निराकरण किया गया है तदनन्तर स्वभाववाद आदिका जिनकी कि नयचक्रमें प्रारम्भमें स्थापना और निराकरण है। तदनन्तर ईश्वरवाद जो न्याय-वैशेषिक संमत है, प्रकृति-पुरुषवाद (सांख्यसंमत), क्षणिकवाद (बौद्ध), विज्ञानाद्वैत (योगाचार बौद्ध), पुनः क्षणिकवाद (बौद्ध), और शून्यवाद (बौद्ध) का निराकरण किया गया है। तदनन्तर नित्यानित्यवाद (जैन) की स्थापना करके अद्वैतवाद (वेदान्त) का निराकरण किया है। तदनन्तर जैनोंके मुक्तिवादकी स्थापना और सर्वज्ञताप्रतिषेधवाद (मीमांसक) और शब्दार्थसम्बन्धप्रतिषेधवादका निराकरण है। इससे स्पष्ट है कि षड्दर्शनसमुच्चयमें जिस वेदान्तको स्थान नहीं मिला था उसे शास्त्रवार्तासमुच्चयमें (का० ५३४–५५२) मिला है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि आचार्य हरिभद्रने शान्तरक्षितका तत्त्व-संग्रह देखा और उसमें-से प्रस्तुत वादके विषयमें उन्होंने जाना तब उस विषयकी उनकी जिज्ञासा बलवती हुई और अन्य सामग्रीको भी उपलब्ध किया। तत्त्व-संग्रहकी टीकामें उसे औपनिषदिक अद्वैतावलम्बी कहा गया है (का० ३२८)। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि तत्त्व-संग्रहमें भी आत्मपरीक्षा प्रकरणमें औपनिषदात्मपरीक्षा—यह एक अवान्तर प्रकरण है। वेदान्तके विषयमें उसमें कोई स्वतन्त्र 'परीक्षा' नहीं है। तत्त्व-संग्रहके पूर्वमें भी समन्तभद्राचार्यकी आप्तमीमांसामें अद्वैतवादका निराकरण था ही। वह भी आचार्य हरिभद्रने षड्दर्शनकी रचनाके पूर्व न देखा हो यह सम्भव नहीं लगता। अतएव षड्दर्शनमें वेदान्तको स्वतन्त्र दर्शनका स्थान न देनेमें यही कारण हो सकता है कि उस दर्शनकी प्रमुख दर्शनके रूपमें प्रतिष्ठा अभी पायी न थी।

दर्शनसंग्राहक अन्य ग्रन्थ

प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चयका अनुसरण करके अन्य जैनाचार्योंने दर्शनसंग्राहक ग्रन्थ लिखे। और इनमें भी उन्होंने आचार्य हरिभद्र जैसा ही दर्शनोंका परिचय मात्र देनेका उद्देश्य रखा है।

आचार्य हरिभद्रके बाद किसी जैन मुनिने "सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः" ग्रन्थ लिखा था। उसकी ताड़पत्रमें वि० १२०१ में लिखी गयी प्रति उपलब्ध है—इससे पता चलता है कि वह राजशेखरसे भी पूर्वकी रचना है। मुनिश्री जंबूविजयजीने इस पुस्तिकाका सम्पादन किया है और जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बईसे वह ई० १९६४ में प्रकाशित है। इसमें क्रमशः नैयायिक, वैशेषिक, जैन, सांख्य, बौद्ध, मीमांसा और लोकायत दर्शनोंका परिचय है। आचार्य हरिभद्रका षड्दर्शन पद्योंमें है तब यह गद्यमें है। वही दर्शन इसमें भी है जो आचार्य हरिभद्रके षड्दर्शनमें है। इस ग्रन्थमें दर्शनोंके प्रमाण और प्रमेयका परिचय कराना लेखकको अभिप्रेत है।

वायडगच्छके जीवदेवसूरिके शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (वि० १२६५) ने 'विवेक विलास'[1]की रचना की है (प्रकाशक, सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय, आगरा, वि० १९७६) उसके अष्टम उल्लासमें 'षड्दर्शनविचार' नामका प्रकरण है—उसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव (नैयायिक और वैशेषिक) और नास्तिक—इन छहों दर्शनोंका संक्षेपमें परिचय दिया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थमें शैवमें न्याय-वैशेषिकका समावेश है—यह ध्यान देने योग्य है। यह भी आचार्य हरिभद्रके समान केवल परिचयात्मक प्रकरण है। अन्तमें जो उपदेश दिया है वह ध्यान देने योग्य है—

सन्तु शास्त्राणि सर्वाणि सरहस्यानि दूरतः। एकमप्यक्षरं सम्यक् शिक्षितं निष्फलं नहि ॥ ८.३११

यह प्रकरण ६६ श्लोक प्रमाण है।

आचार्य शंकरकृत माना जानेवाला 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' अथवा 'सर्वदर्शनसिद्धान्तसंग्रह' मद्रास सरकारके प्रेससे ई० १९०९ में श्री रंगाचार्य-द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। श्री पं० सुखलालजी-को यह प्रसिद्ध अद्वैत वेदान्तके आद्यशंकराचार्यकी कृति होनेमें सन्देह है (समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४२)। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह कृति सर्वदर्शनसंग्रह (माधवाचार्य) से प्राचीन है। इस ग्रन्थकारके मतसे भी वैदिक और अवैदिक ऐसा दर्शन विभाग है। वैदिकोंमें इनके मतसे जैन, बौद्ध और बृहस्पतिके मतोंका समावेश नहीं है। इस ग्रन्थमें भी माधवाचार्यके सर्वदर्शनसंग्रहकी तरह पूर्व-पूर्व दर्शनका उत्तर-उत्तर दर्शनके द्वारा निराकरण है। दर्शनोंका इस प्रकार निराकरण करके अन्तमें अद्वैत वेदान्तकी प्रतिष्ठा की गयी है। दर्शनोंका क्रम इस ग्रन्थमें इस प्रकार है—

१. लोकायतिकपक्ष, २. आर्हतपक्ष, ३. माध्यमिक, ४. योगाचार, ५. सौत्रान्तिक, ६. वैभाषिक, ७. वैशेषिक, ८. नैयायिक, ९. प्रभाकर, १० भट्टाचार्य (कुमारांश = कुमारिल), ११. सांख्य, १२. पतञ्जलि, १३. वेदव्यास, १४. वेदान्त। इन दर्शनोंमें-से वेदव्यासके दर्शनके नामसे जो पक्ष उपस्थित किया गया है वह महाभारतका दर्शन है। जैनदर्शनको आर्हतपक्षमें उपस्थित किया गया है किन्तु लेखकने भ्रमपूर्ण बातोंका उल्लेख किया है। पता नहीं उनके समक्ष जैनदर्शनका कौन-सा ग्रन्थ था। लेखक जैनोंके मात्र दिगम्बर सम्प्रदायसे परिचित हैं। बौद्धोंके चार पक्षोंको अधिकारी भेदसे स्वीकृत किया है। इतना ही नहीं किन्तु बृहस्पति, आर्हत और बौद्धोंके मतोंको भी अधिकारीके भेदसे भिन्न माने हैं। अन्य वैदिक मतोंके विषयमें भी इनका कहना है कि ये सभी वेदान्त शास्त्रके अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए ही तत्पर हैं—

वेदान्तशास्त्रसिद्धान्तः संक्षेपादथ कथ्यते। तदर्थप्रवणाः प्रायः सिद्धान्ताः परवादिनाम् ॥ १२.१

वेदबाह्य दर्शनोंको लेखक नास्तिककी उपाधि देता है—

"नास्तिकान् वेदबाह्यांस्तान् बौद्धलोकायतार्हतान् ॥ ५.१

सायण माधवाचार्य (ई० १३००) ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रन्थकी रचना की उसकी पद्धति नयचक्रसे मिलती है। भेद यह है कि उन्होंने क्रमशः नयचक्रकी तरह, पूर्व-पूर्व दर्शनका उत्तर-उत्तर दर्शनसे खण्डन करा कर भी अन्तमें अद्वैतवेदान्तकी प्रतिष्ठा की है। उस अन्तिम दर्शनका खण्डन किसी दर्शनसे नहीं कराया। जब कि नयचक्रगत अन्तिम मतका निराकरण सर्वप्रथम उपस्थित मतके द्वारा किया गया है और खण्डन-मण्डनका चक्र प्रवर्तित है। 'नयचक्र'के मतसे उपस्थित सभी मत सम्मिलित हों तो सम्यग्दर्शन या अनेकान्त होता है। जब कि 'सर्वदर्शनसंग्रह'के मतसे अन्तिम अद्वैतदर्शन ही सम्यक् है। सायण माधवाचार्यने क्रमशः जिन दर्शनोंका निराकरण किया है और अन्तमें अद्वैतवाद उपस्थित किया है—वे ये हैं—१. चार्वाकदर्शन, २. बौद्धदर्शन (चारों भेद), ३. दिगम्बर (आर्हतदर्शन), ४. रामानुज, ५. पूर्णप्रज्ञदर्शन, ६. नकुलीशपाशुपतदर्शन, ७. माहेश्वर (शैवदर्शन), ८. प्रत्यभिज्ञादर्शन, ९. रसेश्वर-

१. इसी ग्रन्थमें-से सर्वदर्शनसंग्रहमें 'बौद्धदर्शन'के श्लोक उद्धृत हैं—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ४६ (पूना)।

दर्शन, १०. औलूक्यदर्शन (वैशेषिक), ११. अक्षपाददर्शन (नैयायिक), १२. जैमिनिदर्शन (मीमांसा), १३. पाणिनिदर्शन, १४. सांख्यदर्शन, १५. पातंजलदर्शन, १६. शांकरदर्शन (वेदान्तशास्त्र)।

'प्रस्थानभेद'के लेखकने जिस उदारताका परिचय दिया है वह भी इस सर्वदर्शनसंग्रहमें नहीं। वह तो अद्वैतको ही अन्तिम सत्य मानता है। नयचक्रमें सर्वदर्शनोंके समूहको अनेकान्तवाद कहा है और प्रत्येक दर्शनको एकान्त कहा है। उसके अनुसार अद्वैत मत भी एक एकान्त ही ठहरता है अन्तिम सत्य नहीं। जब कि 'सर्वदर्शन संग्रह'के मतसे अद्वैत ही अन्तिम सत्य है। बाकी सब मिथ्या है। वस्तुतः नयचक्र और सर्वदर्शनसंग्रह इन दोनोंका एक ही ध्येय है और वह यह कि अपने-अपने दर्शनको सर्वोपरि सिद्ध करना।

माधवसरस्वती (? ई० १३५०) ने 'सर्वदर्शनकौमुदी' नामक ग्रन्थ लिखा है जो त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रन्थमालामें ई० १९३८ में प्रकाशित है। इस ग्रन्थकारने भी वैदिक-अवैदिक—इस प्रकारका दर्शनविभाग स्थिर किया है। जो वेदके प्रमाण माननेवालोंको वह शिष्ट मानता है और वेदके प्रमाणको स्वीकार नहीं करनेवाले बौद्धको अशिष्ट[1]। माधव सरस्वतीने वैदिक और अवैदिक ऐसे दो भेद दर्शनोंके किये हैं। वैदिक दर्शनोंमें इनके अनुसार तर्क, तन्त्र और सांख्य ये तीन दर्शन हैं। तर्कके दो भेद हैं—वैशेषिक और नैयायिक। तन्त्रका विभाजन इस प्रकार है—

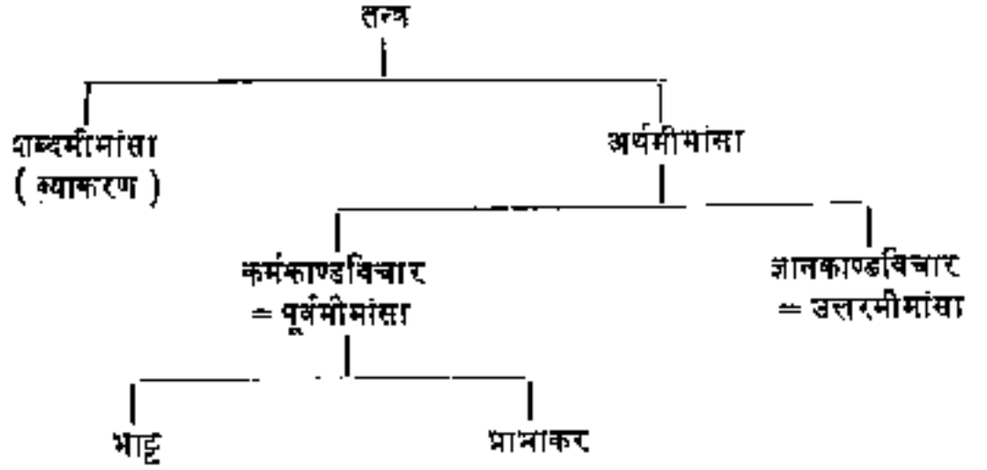

सांख्यदर्शनके दो भेदोंका निर्देश है—सेश्वरसांख्य = योगदर्शन और निरीश्वरसांख्य = प्रकृतिपुरुषके भेदका प्रतिपादक। इस प्रकार वैदिक दर्शनोंके छह भेद हैं—योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, नैयायिक, और वैशेषिक।

अवैदिकदर्शन के तीन भेद हैं—बौद्ध, चार्वाक और आर्हत। तथा बौद्धदर्शनके चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक[2]।

इस ग्रन्थकी विशेषता यह है कि वह इस क्रमसे दर्शनोंका निरूपण करता है—वैशेषिकदर्शनका सर्वप्रथम निरूपण है। किन्तु वैशेषिकोंके ही द्वारा विपर्ययके निरूपण प्रसंगमें ख्यातिवादकी चर्चा की गयी है—उसीमें सदसत्ख्यातिको माननेवाले जैनोंका दर्शन पूर्वपक्षमें निरूपित है। और वैशेषिकों द्वारा विपरीतख्यातिकी स्थापनाके लिए उसका निराकरण किया गया है। अतएव जैनदर्शनका निरूपण पृथक् करनेकी आवश्यकता लेखकने मानी नहीं है[3]।

वैशेषिकके अनन्तर नैयायिक दर्शनका निरूपण है (पृ० ६३) और क्रमशः मीमांसा, सांख्य और योगदर्शनका निरूपण है।

---

१. वेदप्रामाण्यमभ्युपगन्ता शिष्टः। तदनभ्युपगन्ता बौद्धोऽशिष्टः।—पृ० ३। २. सर्वदर्शनकौमुदी पृ० ४। ३. सर्वदर्शनकौमुदी पृ० ३४ और पृ० १०८। लेखकने जैनदर्शनका पूर्वपक्ष जो उपस्थित किया है वह अभ्रान्त नहीं है।

राजशेखरका 'षड्दर्शनसमुच्चय' आचार्य हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयका अनुकरण होते हुए भी सामग्रीकी दृष्टिसे विस्तृत है। इसमें तत्तत् दर्शनोंके आचारों और वेशभूषाका भी निरूपण है। इस ग्रन्थमें दर्शनोंका परिचय इस क्रमसे है—

१ जैन, २ सांख्य, ३ जैमिनीय, ४ योग, ५ वैशेषिक और ६ सौगत। योगदर्शनका परिचय, अष्टांग-योग, जो कि सर्वदर्शन साधारण आचार है, उसका परिचय देकर सम्पन्न किया है। तथा उक्त सभी दर्शन जीवको मानते हैं जब कि नास्तिक उसे भी नहीं मानते यह कहकर चार्वाकोंकी दलीलोंका संग्रह करके उस दर्शनका भी परिचय अन्तमें दे दिया है। ये राजशेखर वि० १४०५ में विद्यमान थे ऐसा उनके द्वारा रचित प्रबन्ध कोशकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है। यह षड्दर्शनसमुच्चय यशोविजय जैन ग्रन्थमालामें वाराणसीसे वीर सं० २४३८ में प्रकाशित है।

आचार्य मेरुतुंगकृत (ई० १४ वींका उत्तरार्ध) 'षड्दर्शननिर्णय' नामक ग्रन्थकी हस्तप्रति नं० १६६६ बाम्बे ब्रांच, रॉयल एसियाटिक सोसायटीमें विद्यमान है। उसकी फोटो कापी लालभाई द० विद्यामन्दिर, अहमदाबादमें है। उसकी प्रतिलिपि डॉ० नगीन शाहने की है। उसे पढ़नेसे ज्ञात होता है कि उसमें आचार्य मेरुतुंगने क्रमशः बौद्ध, मीमांसा (वेदान्तके साथ), सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक और जैनदर्शन—इन छह दर्शनों-सम्बन्धी मीमांसा की है। इस ग्रन्थमें तत्तत् दर्शन-सम्बन्धी खासकर देव, गुरु और धर्मके स्वरूपका निरूपण करके जैनमतानुसार उसकी समीक्षा की गयी है। और अन्तमें जैनसंमत देव-गुरु-धर्मका स्वरूप निरूपित करके वैसा ही स्वरूप महाभारत, पुराण, स्मृति आदिसे भी समर्थित होता है ऐसा दिखानेका प्रयत्न किया गया है। आ० मेरुतुंगकी यह रचना वि० १४४४ और वि० १४४९ के बीच हुई है ऐसा श्री देसाई कृत 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' (पृ० ४४२) से प्रतीत होता है।

मधुसूदन सरस्वती (ई० १५४०–१६४७) द्वारा रचित 'प्रस्थानभेद' भी सर्वदर्शनसंग्राहक ग्रन्थ कहा जा सकता है। उसमें सभी प्रधान शास्त्रोंका परिगणन किया है। तदनुसार वेदके उपांगोंमें पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्रका संग्रह किया गया है। और उनके मतानुसार वैशेषिक दर्शनका न्यायमें, वेदान्तका मीमांसामें तथा सांख्य और पातंजल, पाशुपत और वैष्णव आदिका धर्मशास्त्रमें समावेश है।[3] और इन सभीको उन्होंने 'आस्तिक' माना है।[4]

मधुसूदन सरस्वतीने नास्तिकोंके भी छह प्रस्थानोंका उल्लेख किया है—वे ये हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—ये चार सौगत प्रस्थान तथा चार्वाक और दिगम्बर[1]। मधुसूदनका कहना है कि शास्त्रोंमें इन प्रस्थानोंका समावेश उचित नहीं क्योंकि वेदबाह्य होनेसे पुरुषार्थमें परम्परासे भी म्लेच्छ आदि प्रस्थानोंकी तरह उनका कोई उपयोग नहीं है[2]। सारांश यह है कि उनके मतमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व और उत्तर मीमांसा—इन छह प्रसिद्ध वैदिक दर्शनोंके अलावा पाशुपत और वैष्णव = पांचरात्रोंका भी वैदिक आस्तिक दर्शनोंमें समावेश है। और नास्तिक अवैदिक दर्शनोंमें भी छह दर्शन उनको अभिप्रेत हैं।

वैदिकदर्शनोंके पारस्परिक विरोधका समाधान उन्होंने यह कहकर किया है कि ये सभी मुनि भ्रान्त तो हो नहीं सकते क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। किन्तु बाह्य विषयमें लगे हुए लोगोंको परमपुरुषार्थमें प्रविष्ट होना कठिन होता है अतएव नास्तिकोंका निराकरण करनेके लिए इन मुनियोंने प्रकारभेद किये हैं। लोगोंने इन मुनियोंका आशय समझा नहीं और कल्पना करने लगे कि वेदसे विरोधी अर्थमें भी इन मुनियोंका तात्पर्य है और उसीका अनुसरण करने लगे हैं[5]।

---

१. प्रस्थानभेद (पुस्तकालय स० स० मंडल, बरोडा; ई० १९३५) पृ० १। २. वही पृ० १। ३. पृ० ५। ४. पृ० ५। ५. प्रस्थानभेद पृ० ५७।

षड्दर्शनसमुच्चयकी सोमतिलककृत वृत्तिके अन्तमें 'लघुषड्दर्शनसमुच्चय'के नामसे अज्ञातकर्तृक एक कृति मुद्रित है उसके प्रारम्भमें—

जैनं नैयायिकं बौद्धं काणादं जैमनीयकम् । सांख्यं षड्दर्शनीयं [च] नास्तिकीयं तु सप्तमम् ॥

यह कारिका देकर क्रमशः उक्त दर्शनोंका परिचय अतिसंक्षेपमें दिया गया है। अन्तमें अन्य दर्शनोंको दुर्नय-कोटिमें रखकर जैनदर्शनको 'प्रमाण' बताया गया है। इससे सिद्ध है कि इसका कर्ता कोई जैन लेखक है।

आचार्य हरिभद्र

आचार्य हरिभद्र (वि० ७५७–८२७) के जीवन और लेखन के विषयमें पर्याप्त लिखा गया है। अतएव यहाँ उस विषयमें पुनरावृत्ति अनावश्यक है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिज्ञासु पूज्य पं० श्री सुखलालजी लिखित 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र'[२] देख लें।

आचार्य हरिभद्रके ग्रन्थोंकी सूचीको देखनेसे पता चलता है कि उन्होंने जैनागमकी अनेक टीकाएँ लिखीं, जैनागमोंके विविध विषयोंको लेकर अनेक प्रकरण ग्रन्थ लिखे, कथाग्रन्थ लिखे, दर्शन और योगके भी अनेक ग्रन्थ लिखे, ज्योतिष और स्तुतिग्रन्थ भी लिखे। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंमें उन्होंने लिखा है। यह कहा जा सकता है कि अपने कालमें जैनवाङ्मयके विविध क्षेत्रोंमें उन्होंने प्रदान ही नहीं किया किन्तु तत्कालकी जो भारतीय जैनेतर विद्यासमृद्धि थी उसमें-से भ्रमरकी तरह मधु संचय करके जैनसाहित्यकी श्रीवृद्धि की। आचार और दर्शनके जो मन्तव्य जैनधर्मके अनुकूल दिखाई पड़े उन्हें अपने ग्रन्थोंमें निबद्ध कर दिया।

उनके दो रूप दिखाई पड़ते हैं—एक वह रूप जो धूर्ताख्यान जैसे ग्रन्थोंके लेखकके रूपमें तथा आगमोंकी टीकाके लेखकके रूपमें है। इसमें एक कट्टर साम्प्रदायिक लेखकके रूपमें आचार्य हरिभद्र उपस्थित होते हैं। उनका दूसरा रूप वह है जो शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि दार्शनिक ग्रन्थोंमें और उनके योगविषयक अनेक ग्रन्थोंमें दिखाई पड़ता है। इनमें विरोधीके साथ समाधानकर्ताके रूपमें तथा विरोधीकी भी ग्राह्य बातोंके स्वीकर्ताके रूपमें आचार्य हरिभद्र उपस्थित होते हैं। उनका यह दूसरा रूप सम्भवतः विद्यापरिपाकका फल है। अतएव वह उनके जीवनकालकी उत्तरावधिमें ही सम्भव है। जैनधर्मके बाह्य आचार-विचारके समर्थक-के रूपमें उनका प्राथमिक रूप है जब कि तात्त्विकधर्मके समर्थकरूपमें उनका परिनिष्पन्नरूप है। अन्तर्मुख किसी भी व्यक्तिके जीवनका ऐसा होना स्वाभाविक है। सम्भव है कि उन्होंने केवल योगके ग्रन्थ ही नहीं लिखे, कुछ योगसाधना भी की होगी। उसीका परिणाम है कि जीवनमें कट्टर धार्मिकताका स्थान उदारताने लिया है।

आचार्य गुणरत्नसूरि

गुणरत्न नामके अनेक आचार्य हुए हैं किन्तु प्रस्तुतमें षड्दर्शनसमुच्चयकी टीकाके कर्ता गुणरत्न वे हैं जो आ० देवसुन्दरसूरिके शिष्यरूपसे अपनेको प्रस्तुत टीकाके अधिकारोंके अन्तमें दी गयी प्रशस्तिमें प्रख्यात करते हैं—पृ० ७०, १३९, १५९, ४०५, ४२९ और ४६२। देवसुन्दरका जन्म वि० १३९६, वि० १४०४ में दीक्षा और वि० १४२० में आचार्यपद है—मुनिसुन्दरकृत गुर्वावली श्लो० ३०१। गुर्वावलीमें देवसुन्दरकी प्रशंसाके अनेक पद्य हैं। इससे पता चलता है कि वे अपने कालके प्रभावक आचार्य हैं। देवसुन्दर सूरिके कई शिष्य थे जो सूरिपदसे विभूषित थे उनमें गुणरत्न एक हैं (—गुर्वावली श्लोक ३१८, ३२७, ३६४, ३७७, ३९१ इत्यादि)।

१. मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर, डभोई-द्वारा प्रकाशित। २. प्रकाशक, बम्बई विश्वविद्यालय, १९६१ (गुजराती), और 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र', प्रकाशक, राजस्थान प्राच्यप्रतिष्ठान, जोधपुर, ई० १९६३ (हिन्दी)।
३. देवसुन्दर सूरिके लिए देखो, सोमसौभाग्य सर्ग ५, तथा मुनिसुन्दरकृत गुर्वावली ३००–३२५।

मुनिसुन्दर सूरिने वि० १४६६ में गुर्वावली (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वीर सं० २४३७) को समाप्त किया है (श्लो० ४९३)—अतएव गुणरत्नके वे समकालीन कहे जा सकते हैं। क्योंकि गुणरत्नका आचार्यपद महोत्सव वि० १४४२ में हुआ और वि० १४६६ में ही उन्होंने क्रियारत्नसमुच्चय लिखा है। अतएव गुर्वावलीमें मुनिसुन्दरने गुणरत्नके विषयमें जो प्रशस्ति लिखी है वह समकालीन होनेसे उसका महत्त्व है—गुर्वावली श्लोक ३७७–३९०। मुनिसुन्दरने गुणरत्नकी प्रशंसामें जो कुछ लिखा है उससे ज्ञात होता है कि वे वादविद्यामें कुशल थे और वादमें उन्होंने अनेक प्रतिवादियोंको जीत लिया था उससे उनकी कीर्ति फैली हुई थी। अन्यके लिए कठिन ग्रन्थोंमें भी उनकी बुद्धिका सहज प्रवेश था। उनका चरित्र निर्मल था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि किसीके प्रति बाधक नहीं बनना या बैठते समय दीवालका सहारा (अवष्टम्भ) नहीं लेना; किसीके प्रति रोष नहीं करना और विकथा नहीं करनी। सर्वविद्यामें कुशल थे। उनसे थोड़ा भी पढ़कर शिष्य अन्योंको वशमें ले सकते थे। व्याकरण, साहित्य, आगम, ज्योतिष और तर्कमें तथा वादविद्यामें निपुण थे। स्वदर्शन हो या परदर्शन उनकी प्रतिभा सर्वत्र व्याप्त थी। उनमें ज्ञानके लिए उद्यम, नित्य अप्रमाद और स्मरणशक्ति अतुलनीय थे। उन्होंने तत्त्वार्थका दर्शन करानेवाली ज्ञाननेत्रके अंजनके लिए शलाकारूप षड्दर्शनसमुच्चयकी टीकाकी रचना की। व्याकरणसमुद्रका अवगाहन करके क्रियारत्नसमुच्चय-का विद्वज्जनोंको उपहार दिया। वे सरस्वतीके परमोपासक थे—इत्यादि।[1]

मुनिसुन्दरकी गुर्वावलीमें यह प्रशंसा अकारण नहीं है यह आ० गुणरत्नके ग्रन्थोंके अभ्यासी सहज ही में स्वीकार करेंगे। उनके व्याकरणके ज्ञानका प्रमाण क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थ है, दार्शनिक विद्याके विषयमें प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चयकी टीका मौजूद है। अनेक अवचूर्णि उनके आगमज्ञानकी साक्षी देती हैं। वादविद्यामें कुशल थे इसका प्रमाण अंचलमतनिराकरण और प्रस्तुत टीका देते हैं। अतएव मुनि-सुन्दरने कोई गलत बात कही हो ऐसा नहीं लगता।

आचार्य गुणरत्नका विहारक्षेत्र गुजरात-राजस्थान रहा है। राजस्थानमें तो उन्होंने जैनप्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा भी करवायी है ऐसा 'बीकानेर जैन लेखसंग्रह' से पता चलता है। बीकानेरके चिन्तामणिजीके मन्दिरमें दो प्रतिमाओंपर लेख हैं (न० ६४५ तथा ६५१) जिनसे पता चलता है कि वि० १४६९ में श्री आदिनाथ-के बिम्बोंकी प्रतिष्ठा आ० गुणरत्नने की थी। उन दोनों बिम्बोंको प्राग्वाट ज्ञातिके श्रेष्ठि लाल्हाके श्रेयार्थ उनके पुत्रादि परिवारने बनवाया था।

समय

आचार्य गुणरत्नके जन्मके विषयमें गुर्वावलीमें उल्लेख नहीं है किन्तु उनके आचार्यपदका महोत्सव कुलमण्डनके सूरिपदके महोत्सवके प्रसंगमें लखमसिंहने किया ऐसा स्पष्ट उल्लेख गुर्वावलीमें (३७४) है। और गुर्वावलीमें ही कुलमण्डनको वि० १४४२ में सूरिपद मिला ऐसा उल्लेख है—(श्लोक ३६८)। वि० १४४२ में गुणरत्नके सूरिपदका महोत्सव हुआ ऐसा उल्लेख षष्ठाशक वृत्तिकी वि० १४४२ में ही की गयी प्रतिलिपिकी प्रशस्तिमें है—जैनपुस्तकप्रशस्ति, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ई० १९४३, पृ० ४३। इससे सिद्ध होता है उनके सूरिपदका महोत्सव वि० १४४२ (ई० १३८५) में हुआ। उक्त जैनपुस्तक प्रशस्ति संग्रहमें उद्धृत एक प्रशस्तिमें (पृ० ४०) उनको देवसुन्दरसूरिके ज्ञानसागर आदि सूरिके साथ सूरिरूपमें बताया गया है। यह प्रशस्ति जैसा कि सम्पादक श्री आचार्य जिनविजयजीने वि० १४३६ में लिखित माना है तदनुसार यह मानना होगा कि गुरुने उनको वि० १४३६ के पूर्व सूरिपद दिया था किन्तु सूरिपदका महोत्सव कुलमण्डनके सूरिपदके महोत्सवके साथ वि० १४४२ में हुआ। अथवा ऐसा भी माना जा सकता

---

१. गुणरत्नके विषयमें इतः पूर्व जो लिखा गया है उसके लिए देखो, जैनपरंपरानो इतिहास भाग ३, पृ० ४३५; जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४६२–४६३।

है कि जिस प्रतिसे यह प्रशस्ति मुद्रित है वह प्रति वि० १४३६ में लिखी गयी प्रतिको आदर्शभूत मानकर प्रतिलिपिरूप है।

गुणरत्नको आचार्यपद वि० १४४२ में मिला इस तथ्यके आधारपर उनके जीवनका प्रारम्भिक समय और उनकी अन्तिम अवधिका विचार किया जाय तो उल्लेखोंके अनुसार वि० १४५७ में कल्पान्तर्वाच्य, वि० १४५९ में कर्मग्रन्थ अवचूरि और वि० १४६६ में क्रियारत्नसमुच्चयकी रचना की और १४६९ में बिकानेरमें प्रतिष्ठा की। इससे माना जा सकता है कि वे प्रायः वि० १४०० से १४७५ तक जीवित रहे होंगे। अतएव उनका समय प्रायः ई० १३४३ से ई० १४१८ माना जा सकता है। यह समय इस आधारपर स्थिर किया जा सकता है कि उनको जब आचार्यपद मिला तब वे ४२ वर्षकी उम्रके होंगे। यदि इस आयुमें हानि-वृद्धि किसी प्रमाणसे की जा सके तो उनका समय भी तदनुसार थोड़ा इधर-उधर हो सकता है।

आचार्य गुणरत्नके ग्रन्थ

आ० गुणरत्नने ये ग्रन्थ लिखे हैं—

(१) **कल्पान्तर्वाच्य**—आ० गुणरत्नने इसकी रचना सं० १४५७ में की है। अभीतक अमुद्रित है। इसमें प्रारम्भमें पर्युषणपर्वकी महिमाका निरूपण है। इसके बाद कल्पसूत्रके श्रवणकी महिमाका वर्णन है तथा कल्पश्रवणकी विधि तदनन्तर बतायी गयी है। इस प्रसंगमें कथाएँ भी दी गयी हैं। तदनन्तर कल्पसूत्रके जिनचरित आदि विषयोंकी चर्चा की गयी है।

(२) **क्रियारत्नसमुच्चय**—इस ग्रन्थको आचार्य हेमचन्द्रके शब्दानुशासनके आधारपर धातुओंका संकलन करके आचार्य गुणरत्नने निर्मित किया है। प्रशस्तिमें निर्दिष्ट है कि यह ग्रन्थ वि० १४६६ (ई० १४०९) में समाप्त किया गया था। इसमें सभी कालके धातुओंके रूप किस प्रकार होते हैं यह प्रयोगोंके उदाहरणोंके साथ दिखाया गया है। सर्वप्रथम कालोंके विभागका स्पष्टीकरण करके भ्वादिगणके क्रमसे गणोंके धातुओंके रूपोंको निर्दिष्ट किया गया है। तदनन्तर सौत्रधातु और नामधातुके रूप दिये गये हैं। अन्तमें प्रशस्तिमें गुरुपर्वक्रममें सुधर्मसे लेकर अपने गुरु आचार्य देवसुन्दरका काव्यमय परिचय दिया है। यह ग्रन्थ यशोविजय जैनग्रन्थमाला, काशीके दसवें पुष्पके रूपमें वीर सं० २४३४ (ई० ११०७) में मुद्रित हुआ है।

(३) **चतुःशरणादि प्रकीर्णकावचूरि**—चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, संस्तारक और भक्त-परिज्ञा—इन चार प्रकीर्णकोंकी अवचूरि जिसे विषमपदविवरण भी कहा गया है, आचार्य गुणरत्नने लिखी है। प्रतोंके विषयमें जिनरत्नकोषमें निर्देश है। किन्तु अभीतक यह अमुद्रित है।

(४) **कर्मग्रन्थ-अवचूरि**—देवेन्द्रसूरिकृत कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक—ये पाँच और चन्द्रर्षिमहत्तरकृत सप्ततिका—इन छह कर्मग्रन्थोंकी अवचूरि वि० १४५९ में आचार्य गुणरत्नने लिखी है। प्रशस्तिके लिए देखो, ला० द० विद्यामन्दिरगत पू० पुण्यविजयजीके संग्रहगत सं० ४५२३ की प्रति। अन्य प्रतियोंमें भी यह रचनाकाल उपलब्ध होता है। देखें जिनरत्नकोषगत उल्लेख। अभी यह अमुद्रित है।

(५) **क्षेत्रसमास-अवचूर्णि**—आचार्य सोमतिलकसूरिके पूर्व भी क्षेत्रसमास नामक प्रकरण जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादिने लिखे थे। अतएव आचार्य सोमतिलकके क्षेत्रसमासको आचार्य गुणरत्नने नव्यक्षेत्र-समासकी संज्ञा दी है और उसकी संक्षिप्त टीका अवचूर्णिके नामसे लिखी है। इसकी कई प्रतियाँ मिलती हैं (जिनरत्नकोष, पृष्ठ ९९ देखें) किन्तु अभीतक यह अप्रकाशित है।

ला० द० विद्यामन्दिरके पू० मुनिराज श्री पुण्यविजयजीके संग्रहकी सं० ३६६८ की प्रतिके अनुसार इसका प्रारम्भ और प्रशस्तिकी कारिकाएँ यहाँ दी जाती हैं। प्रारम्भ है—

"श्रीवीरजिनवरेन्द्रं सर्वैकान्ततमोरविम् । नत्वा नव्यबृहत्क्षेत्रसमासो ह्यवचूर्ण्यते ॥१॥
ऐदंयुगीनान् जनान् संक्षिप्तरुचीनपेक्ष्य भगवद्भिः । श्रीसोमतिलकसूरीश्वरैर्विबुधेऽयमतिमहार्थः ॥२॥
तत्रेदमादिसूत्रम्—सिरिनिलयं० स्पष्टम् ॥"

अन्तमें प्रशस्ति है—

"स्फूर्जद्गुणप्रकरवासितविष्टपानाम्, श्रीदेवसुन्दरमहत्तमसूरिराजाम् ।
शिष्योऽवचूर्णिमकरोद्गुणरत्नसूरिः संस्कारबोधविधये स्वपरार्थमेताम् ॥१॥
श्रीबृहत्क्षेत्रसमाससत्के त्रिलोक्य लघुबृहद्वृत्ती । श्रीज्ञानसागरसूरिकृतावचूर्णिर्विरचितेयं ॥२॥

इति पूज्याराध्यभट्टारकराजश्रीसोमतिलकसूरिविरचितस्य नव्यबृहत्क्षेत्रसमासस्यातिगभीरार्थस्य श्रीगुणरत्नसूरिकृतावचूर्णिः संपूर्णा ॥छ॥ सं० १४८० प्र० आषाढवदि ३ अनन्तर ४ गुरौ सर्वज्ञ ॐ श्री सीमंधरस्वामिने नमः ॥छ॥ श्री ॥छ॥

उक्त प्रशस्तिकी द्वितीय कारिका ला० द० संग्रहकी अन्य प्रतियोंमेंसे कुछमें उपलब्ध होती है और कुछमें नहीं। जैसे कि पू० पुण्यविजयजीके संग्रहगत नं० ५६४२ (सं० १६१२) और ८०८० में यह उपलब्ध नहीं होती। किन्तु नं० ४५६४ (सं० १५६५), ६८७२ (सं० १६४१), २२५४ और ५६८६ में वह उपलब्ध होती है। जिनमें उपलब्ध होती हैं उनमें पाठान्तर इस प्रकार है—'सूरिकृतावचूर्णि च रचि०'—नं० ४५६४, ६८७२, 'सूरिकृतावचूर्णि विरचितेयम्—५६८६, २२५४। इससे स्पष्ट होता है कि गुणरत्नने आचार्य ज्ञानसागरकी अवचूर्णि देखकर अपनी अवचूर्णिकी रचना की है। ऊपर दिया गया नं० ३६६८ का पाठ अशुद्ध है। इस पाठकी शुद्धि डॉ० वेलणकरने जिनरत्नकोषमें "ज्ञानसागरकृते" की है। किन्तु ऐसा करना जरूरी नहीं है। आचार्य देवसुन्दरसूरिके कई शिष्य आचार्य थे उनमें-से आचार्य ज्ञानसागर भी थे। उनका जन्म सं० १४०५, सं० १४१७ में दीक्षा, सं० १४४१ में आचार्यपद और सं० १४६० में स्वर्गवास हुआ (गुर्वावली श्लो० ३३५) और आचार्य गुणरत्नको आचार्यपद सं० १४४२ में मिला है।[1] स्वयं आचार्य गुणरत्नने क्रियारत्नसमुच्चयकी प्रशस्तिमें आचार्य ज्ञानसागरकी प्रशंसा भी की है। आचार्य ज्ञानसागर समर्थ आचार्य थे और गुणरत्नसे ज्येष्ठ थे। गुणरत्नको स्वप्नमें आकर उन्होंने शिष्टाशिष्टका विवेक दिखाया था तथा स्वरराजके रूपमें वे दिखे थे।—गुर्वावली ३४०। ऐसी स्थितिमें आचार्य ज्ञानसागरके लिए आचार्य गुणरत्न अवचूर्णिकी रचना करें यह सम्भव नहीं। स्वयं ज्ञानसागरसूरिने भी अवचूर्णि लिखी है[2] और उसकी हस्तप्रतियाँ भी उपलब्ध होती हैं (जिनरत्नकोश देखें) गुर्वावली (श्लोक ३६१) में तो स्पष्टरूपसे लिखा है कि उनकी बनायी हुई अवचूर्णियाँ दीपिकाकी तरह आज भी प्रकाश दे रही हैं।

(६) वासोलिकवितण्डाविडम्बनप्रकरण—अंचलगच्छके कुछ मतोंका निराकरण करनेके लिए आचार्य गुणरत्नने यह प्रकरण लिखा है। जैन मुनियोंके आचारकी कई बातें ऐसी हैं जिनका शास्त्राधार नहीं है तो क्या वे मानी जायें या नहीं—इस सामान्य प्रश्नका समाधान किया गया है कि जैनधर्मका जब लोप होनेका समय होगा तब केवल कुछ शास्त्रांश ही रह जायेंगे। यदि उस समयके लोग यह कहें कि उपलब्ध शास्त्रमें जो लिखा है उसे ही हम मानेंगे तो क्या यह उचित है? इसी प्रकार हमारे समक्ष भी विशाल शास्त्रराशिमें-से कुछ ही शास्त्र रह गये हैं तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक बात शास्त्रमें नहीं लिखी है अतएव अमान्य है। हमारे उपलब्ध शास्त्रमें न भी लिखी हो किन्तु कुछ तो परम्परासे आचारमें चली आयी हैं और कुछका समर्थन टीका आदि ग्रन्थोंसे होता भी है तो उन बातोंको शास्त्रसम्मत क्यों न मान ली जायें?—दलीलके इस क्रमके आधारपर यह प्रकरण लिखा गया है और इसे देखनेसे पता चलता

१. जैन परम्पराका इतिहास भाग ३, पृ० ४३२–४३६। २. वहीं पृ० ४३४ तथा ज्ञानसागरकी प्रशंसाके लिए देखें सोमसौभाग्य सर्ग ५, श्लो० ७–८। मुनिसुन्दरकृत गुर्वावली श्लोक ३२७ से।

है कि आचार्य गुणरत्न जैनआगम ग्रन्थोंसे ही नहीं किन्तु उनकी निर्युक्ति भाष्य आदि टीकाओंसे भी सुपरिचित थे।

इसका दूसरा नाम अंचलमतनिराकरण भी मिलता है—जिनरत्नकोष देखें।

(७) षड्दर्शनसमुच्चयकी तर्करहस्यदीपिका टीका—प्रस्तुत ग्रन्थमें मुद्रित यह टीका इतः पूर्व मुद्रित हो चुकी है।[1] इसमें पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने उसका हिन्दी अनुवाद किया है और आचार्य गुणरत्नने जिन आधार ग्रन्थोंसे प्रस्तुत टीका लिखी है इनका निर्देश तत्-तत् स्थानोंमें टिप्पणोंमें कर दिया है। यह प्रस्तुत संस्करणकी विशेषता है।

आचार्य हरिभद्रने ८७ कारिकाओंमें षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थको समाप्त किया था। किन्तु उसके प्रकरणोंका निर्देश नहीं किया था किन्तु आचार्य गुणरत्नने विषयविभागकी दृष्टिसे इसे छह अधिकारोंमें विभक्त कर दिया है। और विस्तृत टीका लिखी है।

जैनग्रन्थावलीमें गुणरत्नके नामसे १२५२ ग्रन्थप्रमाण षड्दर्शनसमुच्चयकी एक टीकाका उल्लेख है। किन्तु वह भ्रममूलक हो ऐसा लगता है। ला० द० विद्यामन्दिरके श्री शान्तिसागर संग्रहगत (नं० १३४) एक हस्तप्रतिमें जिसके अन्तमें ग्रन्थाग्र १२५२ लिखा है लेखकके रूपमें किसीका नाम लिखा नहीं है। उसका प्रारम्भ "सज्ज्ञानदर्पणतले विमले"से होता है। और लेखकने संक्षेपमें वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञा की है।—"व्यासं विहाय संक्षेपरुचिसत्त्वानुकम्पया। टीका विधीयते स्पष्टा षड्दर्शनसमुच्चये॥" यह टीका विद्यातिलक अपर नाम सोमतिलककी कृति है ऐसी स्पष्टता अन्यत्र की गयी है। अतएव उसे गुणरत्नकी कृति नहीं माना जा सकता। और न यही माना जा सकता कि गुणरत्नने कोई लघुटीका लिखी थी।

प्रस्तुत गुणरत्नकृत टीकाका ग्रन्थाग्र जैनग्रन्थावलीमें ४२५२ दिया है। किन्तु संवेगी उपाश्रयकी प्रति (नं० ३३५९) में ग्र० ४५०० है ऐसा निर्देश है।

आचार्य हरिभद्रने षड्दर्शनोंका मात्र परिचय दिया है। दर्शनोंकी गुणवत्ताके विषयमें अपना कोई अभिप्राय नहीं दिया। अन्तमें केवल यह कह दिया कि—

"अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः" ॥८७॥

किन्तु गुणरत्नने तो आचार्य हरिभद्रको भी जैनदर्शनकी श्रेष्ठता अभिप्रेत थी ऐसा तात्पर्य निकाला है, देखें—प्रथम कारिकागत 'सद्दर्शन' शब्दकी व्याख्या पृ० २ और पृ० ७, § १२।

षड्दर्शनसमुच्चयकी अन्य टीकाएँ

(१) सोमतिलकसूरि विरचित वृत्ति—ई० १९०५ में गोस्वामि श्री दामोदरलाल शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर यह वृत्ति चौखम्बा संस्कृतग्रन्थमालामें प्रकाशित हुई थी। किन्तु न मालूम क्यों उसे मणिभद्रकृत माना गया था। मुद्रित संस्करणमें "इति श्रीहरिभद्रसूरिकृतषड्दर्शनसमुच्चये मणिभद्रकृता लघुवृत्तिः समाप्ता"—ऐसा उल्लेख है। सम्पादकने एक प्रति जयपुरसे और अन्य प्रति बनारससे प्राप्त की थी। किन्तु जिनरत्नकोष और जैनग्रन्थावली आदि सूचीपत्रोंमें कहीं भी मणिभद्रकृत टीकाका उल्लेख नहीं है। यह भी देखा गया है कि ग्रन्थाग्र १२५२ वाली यह वृत्ति जिसका प्रारम्भ "सज्ज्ञानदर्शनतले"से होता है उसकी कई प्रतियाँ कर्ताके नामके उल्लेखसे शून्य हैं और कई प्रतियोंमें सोमतिलकका कर्ता रूपसे उल्लेख भी मिलता है। अतएव यही वृत्ति मणिभद्रकृत न होकर सोमतिलक सूरिकृत है और उसी नामके साथ मुक्ताबाई ज्ञान-मन्दिर, डभोईसे वि० सं० २००६ (ई० १९४९) में प्रकाशित भी है। अन्तमें प्रशस्ति भी मुद्रित है।

---

१. एशियाटिक सोसायटी, १९०५, सम्पादक, Luigi Suali; जैनआत्मानन्दसभा, भावनगर, विक्रम सं० १९७४, सं० श्री दानविजयजी।

प्रस्तुत संस्करणमें भी परिशिष्टरूपसे वह लघुवृत्ति मुद्रित की गयी है। वहाँ भी चौखम्बा संस्करण-का अनुसरण करके मणिभद्रकृत उसे पं० महेन्द्रकुमारजीने माना है। किन्तु उसमें संशोधन कर उसे सोमतिलक सूरिकृत समझना आवश्यक है।

प्रशस्तिसे मालूम होता है कि विद्यातिलक मुनिने अपनी स्मृतिके लिए यह विवृति बनायी है। इन्हीं विद्यातिलकका दूसरा नाम [1]सोमतिलकसूरि था; यह भी प्रशस्तिके अन्तिम वाक्यसे पता लगता है। यह भी प्रशस्तिसे प्रतीत होता है कि आदित्यवर्धनपुरमें उन्होंने इसकी रचना वि० सं० १३९२ (ई० १३३५) में की है। अतएव यह कृति गुणरत्नसे प्राचीन है। सोमतिलकसूरिका जन्म वि० १३५५, दीक्षा वि० १३६९, आचार्यपद वि० १३७३ और मृत्यु वि० १४२४ में है।—गुर्वावली २७३, २९१।

(२) वाचक उदयसागरकृत अवचूरि—ला० द० विद्यामन्दिरके नगरशेठके भण्डारगत नं० ८६९ की दो पत्रकी पंचपाठी प्रतिमें बीचमें मूल लिखकर चारों ओर यह अवचूरि लिखी गयी है—अन्तमें लिखा है—

"इति षड्दर्शनसमुच्चयस्य ससूत्रावचूरिः वा० उदयसागरेण स्वपठनार्थमलेखि महानादरेण"।

यह जैसा नामसे सूचित है अतिसंक्षिप्त टिप्पणरूप है।

प्रतिकी प्राचीनता देखते हुए यह उदयसागर अंचलगच्छके उत्तराध्ययनसूत्रकी दीपिकाके रचयिता उदयसागर[2] हों यह सम्भवित है।

इसमें मंगलके बिना ही सीधा टिप्पण शुरू किया गया है।

(३) ब्रह्मशान्तिदासकृत अवचूर्णि—ला० द० विद्यामन्दिरगत श्री देवसूरिसंग्रहकी नं० ९३२४ की हस्तप्रतिमें यह अवचूर्णि लिखी गयी है। प्रतिलिपि सं० १९६० में की गयी है। आठ पत्र हैं। प्रारम्भमें मंगल है—

"श्रीमद्वीरजिनं नत्वा हरिभद्रगुरुं तथा। किंचिदर्थाय्यते युक्त्या षड्दर्शनसमुच्चयः॥"

यह कृति वही हो सकती है जिसका निर्देश जैनग्रन्थावलीमें पत्र ६ वाली कोडायभण्डारगत अवचूरि रूपसे किया गया है।—जैनग्रन्थावली पृ० ७९।

इसकी दूसरी प्रति उसी संग्रहमें नं० ९२१३ पंचपाठी सं० १८८५ में लिखी गयी है। चार पत्र हैं। और प्रतिलिपि सूर्यपुरमें की गयी है। इसीकी एक अन्य प्रतिलिपि श्री पुण्यविजयजीके संग्रहगत है। नं० २८८ है। उसके अन्तमें "ब्रह्मशांतिदासाख्येन" ऐसा उल्लेख है। केवल ब्रह्म नामका या 'शान्तिदास'-का देसाईकृत जैन० सा० सं० इ० में उल्लेख मिलता है किन्तु 'ब्रह्मशान्तिदास'का उल्लेख मिलता नहीं। जिनरत्नकोषमें भी इस नामके कर्ताका षड्दर्शनका विवरण उपलब्ध है ऐसा निर्देश है। ये कभी सं० १८८५ के पहले हुए होंगे।

(४) वृद्धिविजयकृत विवरण—ला० द० विद्यामन्दिरके पू० मुनि श्री पुण्यविजयजीके संग्रहगत नं० ७५८२ की यह प्रति है। इसके चार पत्र हैं। सं० १७२० में लाभविजयके शिष्य वृद्धिविजयने यह विवरण लिखा है।

■

---

१. सोमतिलकसूरिके परिचयके लिए देखें गुर्वावली २७२–२९३। जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४३२। सोमसौभाग्य ३.५२–५४। जैनपरम्परानो इतिहास भा० ३, पृ० ४२६। २. देसाई, जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५१८। अन्य उदयसागरके लिए देखें वही, पृ० ६०२, ६६६, ६७५, ६७९।

श्रीहरिभद्रसूरिविरचितः

षड्दर्शनसमुच्चयः

[श्रीगुणरत्नसूरिकृततर्करहस्यदीपिकया श्रीसोमतिलकसूरिकृतलघुवृत्त्या च समन्वितः ।]

जयति विजितरागः केवलालोकशाली सुरपतिकृतसेवः श्रीमहावीरदेवः ।
यदसमसमयाब्धेश्चारुगाम्भीर्यभाजः सकलनयसमूहा बिन्दुभावं भजन्ते ॥१॥

श्रीवीरः स जिनः श्रिये भवतु यत्स्याद्वादवह्नानले भस्मीभूतकुतर्ककाष्ठनिकरे [1]तृण्यन्ति सर्वेऽप्यहो ।
संशीतिव्यवहारलुप्तिप्रतिकरानिष्ठाविरोधप्रमाबाधासंभवसंकरप्रभृतयो दोषाः परैः रोपिताः ॥२॥

वाग्देवी संविदे नः [2]स्यात्सदा या सर्वदेहिनाम् । चिन्तितार्थान् विपर्तीह कल्पवल्लीव सेविता ॥३॥
नत्वा निजगुरून् भक्त्या षड्दर्शनसमुच्चये । टीकां संक्षेपतः कुर्वे स्वान्योपकृतिहेतवे ॥४॥

§ १. इह हि जगति गरीयश्चित्तवतां महतां परोपकारसंपादनमेव सर्वोत्तमा स्वार्थसंपत्तिरिति मत्वा परोपकारैकप्रवृत्तिसारश्चतुर्दशशतसंख्यशास्त्रविरचनाजनितजगज्जन्तूपकारः श्रीजिन-

रागादि जीतनेके कारण जो वीतराग हैं, जिनको केवलज्ञानज्योति जगमगा रही है, जिनकी इन्द्रादि देव सेवा करते हैं, तथा जिनके अनुपम अतिगम्भीर जिनशासनरूप समुद्रके समग्र नयसमूह बिन्दुमात्र हैं अर्थात् जिस प्रकार समुद्र अनन्त जल-बिन्दुओंको अपनेमें समा लेनेवाला आधार है, उसी तरह जिनका अनेकान्तशासन-समुद्र भी सभी दर्शनोंको नयरूपसे अपनेमें समन्वित कर लेनेवाला है—वे महावीर देव जयवन्त हैं ॥१॥ जिनके समस्त कुतर्करूपी काष्ठराशिको भस्मसात् करनेवाले स्याद्वाद दावानलमें परवादियों-द्वारा दिये जानेवाले संशय, व्यवहारलोप, व्यतिकर, अनवस्था, विरोध, प्रमाबाध, असम्भव, संकर आदि दोष तिनकेके समान देखते-ही-देखते जल जाते हैं, वे तीर्थंकर श्री वीर हमारा कल्याण करें ॥२॥ जिसकी सम्यक् आराधना करनेसे जो कल्पलताके समान समस्त प्राणियोंके मनोरथ सदैव पूर्ण करती है वह श्रुतदेवता सरस्वती हमारे सम्यग्ज्ञानके लिए हो ॥३॥ मैं (गुणरत्न) अपने गुरुजनोंको नमस्कार करके अपने तथा अन्यके उपकारके लिए षड्दर्शनसमुच्चयकी संक्षेपसे टीका करता हूँ ॥४॥

§ १. इस संसारमें उदारचेता महापुरुषोंका परोपकार-सम्पादन ही सर्वोत्तम स्वार्थ-सम्पादन है, यह मानकर जिन्होंने परोपकारको ही प्रवृत्तिमय जीवनका एक-मात्र सार माना है, जिनने चौदह सौ

१. तृण्यन्ति प० १, २, भ० १, २ । २. स्तात् प० १, २, भ० १, २ ।

शासनप्रभावनाप्रभातविभावनभास्करो याकिनीमहत्तरावचनानवबोधलब्धबोधिबन्धुरो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः षड्दर्शनीवाच्यस्वरूपं जिज्ञासूनां तत्तदीयग्रन्थविस्तरावधारणशक्तिविकलानां सकलानां विनेयानामनुग्रहबिधित्सया स्वल्पग्रन्थं महार्थं सद्भूतनामान्वयं षड्दर्शनसमुच्चयं शास्त्रं प्रारभमाणः शास्त्रारम्भे मङ्गलाभिधेययोः साक्षादभिधानाय संबन्धप्रयोजनयोश्च संसूचनाय प्रथमं श्लोकमेनमाह—

सद्दर्शनं जिनं नत्वा वीरं स्याद्वाददेशकम् ।
सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः संक्षेपेण निगद्यते ॥१॥

§ २. सत् शश्वद्विद्यमानं छद्मस्थिकज्ञानापेक्षया प्रशस्तं वा दर्शनम् उपलब्धिर्ज्ञानं केवलाख्यं यस्य स सद्दर्शनः । अथवा सत् प्रशस्तं दर्शनं केवलदर्शनं तदव्यभिचारित्वात्केवलज्ञानं च यस्य स सद्दर्शनः सर्वज्ञः सर्वदर्शी चेत्यर्थः, तम् । अनेन विशेषणेन श्रीवर्धमानस्य भगवतो ज्ञानातिशयमाविरभीभवत् । अथवा सद् अर्चितं सकलनरासुरामरेन्द्रादिभिरभ्यर्चितं दर्शनं जैनदर्शनं यस्य स

शास्त्रोंकी रचना करके जगत्के प्राणियोंका महान् उपकार किया है, जो जिन-शासनकी प्रभावनारूपी प्रभातको प्रकट करनेवाले तेजस्वी सूर्य हैं, याकिनी महत्तराके वचनोंको नहीं समझ सकनेके निमित्तसे जिन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई थी, ऐसे श्री हरिभद्रसूरि, जिनमें षड्दर्शनके बड़े-बड़े ग्रन्थोंके समझनेकी तो शक्ति नहीं है पर षड्दर्शनके स्वरूपको समझना अवश्य चाहते हैं, उन सभी जिज्ञासु विनेयोंके अनुग्रहकी इच्छासे इस यथार्थ नामवाले, बहुअर्थगर्भित षड्दर्शनसमुच्चय नामके छोटे-से शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए उस शास्त्रके आरम्भमें मंगल और अभिधेयका साक्षात् शब्दोंद्वारा प्रतिपादन करनेके लिए तथा सम्बन्ध और प्रयोजनकी परम्परासे सूचना देनेके लिए प्रथम श्लोक कहते हैं—

सद्दर्शन स्याद्वाद देशक श्री वीर जिनको नमस्कार करके समस्त दर्शनोंके प्रतिपाद्य अर्थका संक्षेपसे कथन करता हूँ ॥१॥

§ २. **सद्दर्शन**—जिसका दर्शन अर्थात् उपलब्धि अर्थात् केवल नामक ज्ञान सत् अर्थात् सदा विद्यमान या हम लोगोंके ज्ञानकी अपेक्षा प्रशस्त है वह सद्दर्शन है । अथवा जिसका दर्शन अर्थात् केवल दर्शन और अवश्य तत्सहचारि होनेसे केवलज्ञान भी सत् अर्थात् प्रशस्त है वह सद्दर्शन सर्वदर्शी सर्वज्ञ । इस प्रकार 'सद्दर्शन' पदका केवलज्ञानी या सर्वदर्शी और सर्वज्ञ अर्थ करनेसे वर्धमान भगवान्के ज्ञानातिशयका सूचन होता है । अथवा, जिसका दर्शन अर्थात् जैनदर्शन समस्त नरेन्द्र, असुरेन्द्र और देवेन्द्र आदिसे सत् अर्थात् पूजित है, वह सद्दर्शन । इस तरह सद्दर्शन पदके इस अर्थसे

१. ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि—विप्र हरिभद्रकी यह प्रतिज्ञा थी कि 'मैं जिसके वचनोंका अर्थ नहीं समझ सकूँगा उसीका शिष्य हो जाऊँगा' । एक दिन उपाश्रयमें याकिनी महत्तरा नामकी साध्वी "चक्किदुगं हरि पणगं चक्कीणं केसवो चक्की केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य ॥" – अर्थात् चक्रवर्ती और नारायणोंकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है—दो चक्री, पाँच नारायण, पाँच चक्री, छठवाँ नारायण, आठवाँ चक्री, सातवाँ नारायण, नवाँ चक्री, आठवाँ नारायण, दसवाँ और ग्यारहवाँ चक्री, नवाँ नारायण और बारहवाँ चक्री । यह गाथा पढ़ रही थी । इस चक्कारबहुल गाथाका अर्थ जब हरिभद्रकी समझमें नहीं आया तब वे अपनी प्रतिज्ञानुसार याकिनी महत्तराके पास गये और उन्हें अपना गुरु मानकर उनसे इस गाथाका अर्थ पूछा । आर्या संघके नियमानुसार हरिभद्रको आचार्य जिनभटके पास ले गयी । विप्र हरिभद्र आचार्य जिनभटके पास जैनी दीक्षा लेकर हरिभद्रसूरि हुए ।

सद्दर्शनस्तम् । अनेन च सदीयदर्शनस्य त्रिभुवनपूज्यतामभिदधानः श्रीवर्धमानस्य त्रिभुवनविभोः सुतरां त्रिभुवनपूज्यतां वचनवतीति पूजातिशयं प्राचीकटत् ।

§ ३. तथा जयति रागद्वेषादिशत्रूनिति 'जिनस्तम्, अनेनापायापगमातिशयमुदबीभवत् ।

§ ४. तथा स्यात्—कथंचित् सर्वदर्शनसंमतसद्भूतवस्त्वंशानां मिथः सापेक्षतया वदनं स्याद्वाद[2]:, सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषाभिलाप्यानभिलाप्योभयात्मानेकान्त[3] इत्यर्थः । ननु कथं सर्वदर्शनानां परस्परविरुद्धभाविणामभीष्टा वस्त्वंशाः के सद्भूताः संभवेयुः येषां मिथः सापेक्षतया स्याद्वादः सत्प्रवादः स्यादिति चेत् , उच्यते– यद्यपि दर्शनानि निजनिजमतभेदेन परस्परं विरोधं भजन्ते तथापि तैरुच्यमानाः सन्ति तेऽपि वस्त्वंशा ये मिथः सापेक्षाः सन्तः समीचीनतामञ्चन्ति । तथा हि–सौगतैरनित्यत्वम्, सांख्यैर्नित्यत्वम्, नैयायिकैर्वैशेषिकैश्च परस्परविविक्ते[4] नित्यानित्यत्वे, सदसत्त्वे, सामान्यविशेषौ च, मीमांसकैः स्याच्छब्दवर्जं भिन्नाभिन्ने, नित्यानित्यत्वे, सदसदंशौ, सामान्यविशेषौ, शब्दस्य नित्यत्वं च, कैश्चित् कालस्वभावनियतिकर्मपुरुषादीनि[5] जगत्कारणानि,

---

जैनदर्शनकी जग-पूज्यताके द्वारा उसके प्ररूपक वर्धमान भगवान्‌की त्रिभुवन पूज्यताका स्पष्ट सूचन किया गया है । इससे भगवान्‌का पूजातिशय प्रकट हो जाता है ।

§ ३. जिन—जो राग-द्वेष आदि समस्त अन्तःशत्रुओंको जीत लेता है वह 'जिन' है । इस विशेषणसे वीर भगवान्‌का अपायापगम अपाय = दोषका, अपगम = निरसन नामक अतिशय प्रकट होता है ।[1]

§ ४. स्याद्वाददेशक—स्यात्—कथंचित् अर्थात् सभी दर्शनों-द्वारा माने गये वस्तुके सद्-भूत अंशोंका परस्पर सापेक्ष कथन करना स्याद्वाद है । अर्थात् सत्-असत् उभयरूप, नित्य-अनित्य उभयरूप, सामान्य-विशेष उभयरूप, वाच्य-अवाच्य उभयरूप अनेकान्त है । प्रश्न—जब सभी दर्शन परस्पर विरुद्ध कथन करनेवाले हैं तब उन परस्परविरोधी दर्शनोंके द्वारा कहे गये वस्तुके सद्भूत अंश कौन-से हैं, जिनका परस्पर सापेक्ष रूपसे समन्वयात्मक कथन करनेवाला स्याद्वाद सत्प्रवाद अर्थात् सच्चा मत समझा जाये ? उत्तर—यद्यपि सभी दर्शन अपने आपसी मतभेदके कारण परस्पर विरोधी हो रहे हैं पर एक बात तो सुनिश्चित है कि उन दर्शनोंके द्वारा अपने-अपने दृष्टिकोणोंके अनुसार कहे जानेवाले वस्तुके ऐसे भी अंश हैं जो परस्पर सापेक्ष बनकर समीचीन बन जाते हैं अर्थात् अविरोधी और सच्चे बन जाते हैं और ऐसे समन्वित वस्त्वंशोंका प्रतिपादक स्याद्वाद सद्वाद हो जाता है । उदाहरणार्थ—बौद्ध वस्तुको अनित्य तथा सांख्य उसे नित्य मानते हैं । नैयायिक और वैशेषिक नित्य-अनित्य, भाव-अभाव और सामान्य-विशेषको परस्पर भिन्न स्वीकार करते हैं । वे नित्यको नित्य ही तथा अनित्यको अनित्य ही मानते हैं। उनके मतमें सामान्य और विशेष जुदे-जुदे हैं । भावसे अभाव भी भिन्न है । मीमांसक वस्तुको भिन्नाभिन्नरूप नित्यानित्यरूप, सद्-असद्रूप और सामान्यविशेषरूप मानकर भी उसमें स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं करते और शब्दको सर्वथा नित्य ही मानते हैं । काल, स्वभाव, नियति, कर्म या पुरुष आदिको जगत्का कारण माननेवाले

---

१. पालिभाषायां तु जिनातेर्धातोः जिनातीति जिनः इति निदर्श्यते । २. तुलना—"स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः । सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥" —आप्तमी० श्लो० १०४ । "स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः, तस्य अनेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते ।" —स० सा० पृ० ८१ । स० श्लो० पृ० १३६ । न्यायकु० पृ० ३ । रत्न करा० ४।१२। है०म० सू० पृ० १ । स्या० म० का० ५ । ३. "सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः" — अष्टश०, अष्टस० पृ० १८३ । ४. -विविक्तनि-प० १,२, म० १ । ५. -दीति क० ।

शब्द-ब्रह्म-ज्ञानाद्वैतवादिभिश्च शब्द-ब्रह्म-ज्ञानाद्वैतानि चेत्याद्ययो ये ये वस्त्वंशाः परैरङ्गीक्रियन्ते, ते सर्वेऽपि सापेक्षाः सन्तः परमार्थसत्यतां प्रतिपद्यन्ते निरपेक्षास्त्वन्योन्येन निरस्यमाना नभोनलिनायन्त इत्यलं विस्तरेण। स्याद्वादस्य देशकः **सम्यग्वक्ता** स्याद्वाददेशकस्तम्। **अनेन च वचनातिशयमचकथत्।**

§ ५. तदेवं चत्वारोऽत्रातिशयाः[1] शास्त्रकृता साक्षादाचचक्षिरे। तेषां हेतु-हेतुमद्भाव एवं

भिन्न-भिन्न वादी हैं। शब्दाद्वैतवादी जगत्को शब्दमय मानता है तो ब्रह्माद्वैतवादी उसे ब्रह्ममय एवं विज्ञानाद्वैतवादी उसे क्षणिक ज्ञानक्षणरूप स्वीकार करते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न वादियों-द्वारा जिन-जिन वस्त्वंशोंका निरूपण किया जाता है, वे ही वस्त्वंश जब वस्तुस्थितिके आधारसे परस्पर सापेक्ष रूपमें समन्वित हो जाते हैं, तो वे ही परमसत्यरूप होकर अपने प्रतिपादक दर्शनको सद्दर्शन बना देते हैं। पर यदि इन वस्त्वंशोंका परस्पर समन्वय न किया जाये और उन्हें निरपेक्ष छोड़ दिया जाये तो ये वस्त्वंश परस्पर विरोधी होकर एक दूसरेका प्रतिक्षेप करके आकाशके फूलकी तरह असद्रूप हो जाते हैं। तात्पर्यार्थ यह है कि वस्तु परस्परसापेक्ष गुण-पर्यायरूप वस्त्वंशोंका एक आश्लेषित अखण्ड पिण्ड है। यदि उसके प्रत्येक अंश एक-दूसरेकी अपेक्षा रखना छोड़ दें तो वे सबके सब परस्परविरोधी होकर आकाशके फूलकी तरह असत् ही हो जायेंगे। जब कोई एक दर्शन अपने-द्वारा कहे गये वस्तुके अंशको ही पूर्ण वस्तु माननेका आग्रह करता है तब वह सहज ही दूसरे दर्शनका—जो पहले दर्शनकी तरह अपने द्वारा माने गये वस्त्वंशमें वस्तुकी पूर्णताका अभिमान कर रहा है, विरोधी हो जाता है। पर यदि हर एक दर्शन यह समझने लग जाये कि—'मेरे द्वारा कहा गया वस्तुका स्वरूप इस अपेक्षासे है, और दूसरे दर्शनके द्वारा कहा जानेवाला वस्तुका स्वरूप इस अपेक्षासे है' और इस तरह दूसरे दर्शनोंके सत्यांशका आदर करने लग जाये तो परस्पर सापेक्षताके कारण समन्वय हो जानेसे उनका वह विरोध मैत्रीका रूप धारण कर लेगा। वस्तुके अनेकान्त स्वरूप तक पहुँचनेका यही एकमात्र प्रशस्त मार्ग है। इस तरह अपने द्वारा माने गये एक-एक वस्त्वंशमें पूर्णताके मिथ्या अभिमानके कारण सभी दर्शन एक दूसरेका खण्डन करते हैं और परस्परविरोधी भासित होते हैं। पर जब उनके द्वारा माने गये वस्त्वंशोंकी वस्तुमें यथार्थ स्थिति होनेके कारण परस्पर सापेक्ष भावसे समन्वय किया जाता है तब वे ही परस्पर सापेक्ष वस्त्वंश समीचीन बन जाते हैं और ऐसे परस्पर सापेक्ष वस्त्वंशोंके प्रतिपादक दर्शन अनायास ही स्याद्वादके समर्थक हो जाते हैं। अतः अनेक धर्मोंका परस्पर सापेक्ष कथन करनेवाला स्याद्वाद ही सद्वाद है। स्याद्वादका देशक अर्थात् सम्यग्वक्ता स्याद्वाददेशक है। इससे वचनातिशयका कथन हुआ।

§ ५. इस तरह शास्त्रकारने श्लोकमें आये हुए 'सद्दर्शन, जिन और स्याद्वाददेशक' इन विशेषणोंसे भगवान्के ज्ञानातिशय आदि चारों अतिशयोंका साक्षात् प्रतिपादन किया है। इन

---

१. तुलना—"मूलातिशयाश्चत्वारः। तद्यथा—अपायापगमातिशयः, ज्ञानातिशयः, पूजातिशयः, वाग्अतिशयश्च।" —अनेकान्तज० स्व० पृ० ४। "यथाक्रमं भगवतो मूलातिशयाश्चत्वारः स्मृतिमुकुरभूमिकामानीयन्ते। तद्यथा—अपायापगमातिशयो'''एतेषां चातिशयानामित्थमुपन्यासे तथोत्पत्तिरेव निमित्तम्; तथाहि—नाविजितरागद्वेषो विश्ववस्तुज्ञाता भवति। न चाविश्ववस्तुज्ञः शक्रपूज्यः संपद्यते। न च शक्रपूजाविरहे भगवांस्तथा गिरः प्रयुङ्क्त इति।" —स्या० र० पृ० ४। स्या० म० का० १। काकछो० श्लो० १९७।

भाष्यः– यत एव निःशेषदोषशत्रुजेता तत एव सर्वज्ञः । यत एव सर्वज्ञस्तत एव सद्भूतार्थवादी । यत एव सद्भूतार्थवादी, तत एव त्रिभुवनाभ्यर्च्य इति ।

§ ६. एवमतिशयचतुष्टयीप्रवरं वीरं महावीर वर्तमानतीर्थाधिपतिं श्रीवर्धमानाभिधानं नत्वा मनसा तदतिशयचिन्तनेन, वाचा तदुच्चारणेन, कायेन भूमौ शिरोलगनेन च प्रणिधायेत्यर्थः ।

§ ७. एतेनादिमं[1] मङ्गलमभिहितो । मध्यमङ्गलं तु 'जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः' । [षड्द० श्लो० ४५] इत्यादिना जिनमतकीर्तनेन कीर्तयिष्यति । अन्त्यमङ्गलं पुनः 'अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः' [षड्द० श्लो० ८७] इत्यत्र सुबुद्धिशब्दसंशब्दनेन वक्ष्यति ।

§ ८. तस्य त्रिविधस्यापि[2] फलमिदम्—

अतिशयोंका परस्पर-कार्यकारणभाव इस प्रकार है—यतः भगवान् रागद्वेषादि समस्त अन्तःशत्रुओंको जीतकर जिन हुए हैं अतएव वे ज्ञानावरण रूप शत्रुका भी क्षय करनेके कारण सर्वज्ञ हैं । यतः वे सर्वज्ञ हैं अतएव वे यथार्थवादी हैं । तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष और अज्ञानसे ही वचनोंमें मिथ्यात्व आता है पर मिथ्यावादित्वके इन कारणोंमें-से एक भी कारण वीर भगवान्‌के नहीं है इसलिए वे सद्भूतार्थवादी हैं । यतः भगवान् सद्भूतार्थवादी हैं इसीलिए वे त्रिलोकपूज्य हैं ।

§ ६. इस तरह उक्त चारों अतिशयोंसे समन्वित, वर्तमान जिन-शासनके स्वामी, वर्धमान जिनका दूसरा नाम है ऐसे वीर भगवान्‌को नमस्कार करके अर्थात् मनमें उनके ज्ञानातिशय आदिका चिन्तन कर वचनसे गुणगान कर तथा कायसे भूमिपर मस्तक लगाकर प्रणाम करके शास्त्रकार षड्दर्शनका स्वरूप कहते हैं ।

§ ७. इस तरह प्रथम श्लोकमें आदिमंगल किया गया है । मध्यमंगल तो जैनमतका निरूपण करते समय "जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः"—अर्थात् जैनमतमें रागद्वेषादिसे रहित जिनेन्द्र देवता हैं—इस श्लोकांशके द्वारा किया जायेगा । इसी तरह अन्तिममंगल "अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः" अर्थात् बुद्धिशाली पाठकोंको इस ग्रन्थके अर्थ तथा तात्पर्यका विचार करना चाहिए—इस श्लोकार्धमें 'सुबुद्धि' शब्दका प्रयोग करके किया जायेगा ।

§ ८. इन तीनों मंगलोंका फल इस प्रकार है—"शास्त्रके आदिमें, मध्यमें तथा अन्तमें

---

१. दिमंग—प० १, २, म० १, २ । २. "तन्मङ्गलमादौ शास्त्रस्य क्रियते तथा मध्ये पर्यवसाने चेति । एककरणप्रयोजनमाह—प्रथमं शास्त्रार्थविघ्नपारगमनाय निर्दिष्टमिति गाथार्थः । तस्यैव शास्त्रार्थस्य प्रथममङ्गलकरणप्रसादादविघ्नेन परं पारमुपागतस्य सतः स्थैर्यार्थं मध्यमम्, निर्दिष्टमिति वर्तते । तथान्त्यमपि तस्यैव मध्यमङ्गलकरणात् तथाभूतस्य सतः अव्यवच्छित्तिनिमित्तम्, कस्येत्याह—शिष्यप्रशिष्यादिवंशस्य । निर्दिष्टमिति वर्तते, तात्पर्यमेव शास्त्रावगतिरिष्यते इति गाथार्थः ।—विशेषा० को० गा० १३-१४ । प्रज्ञा० मलय० प० १ । आ० मलय० प० ३ अ० । बृहत्कल्प० मलय० पृ० १ । तुलना—"पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति । मज्झिमए णिव्विघ्नं विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥"—ति० प० १।२९ । "मंगलं सुत्तस्स आदीए मज्झे अवसाणे च वत्तव्वं । उक्तं च—आदीवसाणमज्झे पण्णत्तं मंगलं जिणिंदेहिं । तो कयमंगलविणयो वि णमोसुत्तं पवक्खामि ।"—धवला पृ० १ । "उक्तं च—आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः । तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तद्विघ्नप्रसिद्धये ॥"—धवला पृ० ४१ । आप्त० पृ० ३ । शाकटायनव्या० ।

'तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स ।
पढमं सत्थस्साविग्घपारगमणाए निद्दिट्ठं ॥१॥
[1]तस्सेवाविग्घत्थं मज्झिमयं अंतिमं च तस्सेव ।
अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स ॥२॥'

[विशेषा० गा० १३-१४]

§ ९. 'वीरं नत्वा' इत्युक्तं तत्र क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासापेक्षत्वात् 'निगद्यते' इति क्रियापदमत्र संबन्धनीयम् । को निगद्यते । सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः । सर्वाणि मूलभेदापेक्षया समस्तानि यानि दर्शनानि बौद्धादीनि तैस्तेषां वा वाच्योऽभिधेयोऽर्थो देव-तत्त्व-प्रमाणादिलक्षणः [2]संक्षेपेण समासेन निगद्यतेऽभिधीयते । मयेत्यनुक्तमप्यत्रार्थाद् गम्यते ।

§ १०. एतेन साक्षादभिधेयमभ्यधात्, संबन्धप्रयोजने तु [3]सामर्थ्यादवसेये। सर्वदर्शनवक्तव्यदेव-तत्त्वाविज्ञानमुपेयम्, इदं शास्त्रं तस्योपायः, एवमुपायोपेयलक्षणः संबन्धः सूचितो द्रष्टव्यः । [4]प्रयोजनं तु द्वेधा कर्तुः श्रोतुश्च । द्वयमपि द्वेधा – अनन्तरं परंपरं च । कर्तुरनन्तरं प्रयोजनं सत्त्वानुग्रहः । श्रोतुरनन्तरं सर्वदर्शनाभिमतदेव-तत्त्व-प्रमाणाविज्ञानम् । द्वयोरपि परंपरं पुनर्हेयोपादेयदर्शनानि ज्ञात्वा हेयान्यपहाय, उपादेयं चोपादाय परंपरयानन्तसंतुष्ट्यात्मिका सिद्धिरिति ।

मंगल करना चाहिए । आदिमंगल निर्विघ्नरूपसे शास्त्रके पारगमनके लिए, मध्यमंगल शास्त्रकी स्थिरताके लिए तथा अन्तिम मंगल शिष्य प्रशिष्य-परिवारमें शास्त्रकी परम्परा स्थिर रखनेके लिए किया जाता है ॥१-२॥"

§ ९. श्लोकमें 'वीरं नत्वा' यह कहा है । व्याकरणशास्त्रके नियमके अनुसार जिस क्रियामें 'क्त्वा' प्रत्यय लगा रहता है वह क्रिया आगे होनेवाली किसी दूसरी क्रियाकी अपेक्षा रखती है । इसलिए यहाँ 'नत्वा' क्रियाका 'निगद्यते' क्रियासे सम्बन्ध कर लेना चाहिए । तब सीधा वाक्यार्थ इस प्रकार हो जाता है—'वीरको नमस्कार करके बौद्धदर्शन आदि सभी मूलदर्शनोंमें प्रतिपादित देव, तत्त्व और प्रमाण आदिका स्वरूप संक्षेपसे कहा जाता है । यद्यपि श्लोकमें 'निगद्यते' क्रियाका 'मया' यह कर्ता अनुक्त है, तो भी क्रियाकी सामर्थ्यसे उसका अध्याहार कर लेना चाहिए ।

§ १०. इस श्लोकमें आचार्यने समस्त दर्शनोंके कथन करनेकी प्रतिज्ञा करके ग्रन्थका अभिधेय समस्त-दर्शनके देवादि तत्त्व हैं, यह स्वयं ही बता दिया है । सम्बन्ध और प्रयोजन सामर्थ्यसे ज्ञात हो जाते हैं । यहाँ सभी दर्शनोंमें प्रतिपादित देवता तथा तत्त्व आदिका यथार्थ ज्ञान ही उपेय अर्थात् प्राप्तव्य है और यह ग्रन्थ उस ज्ञानका साधन होनेसे उपाय है । अतः उपायोपेय रूप सम्बन्ध सूचित हो जाता है । प्रयोजन दो प्रकारका है—एक ग्रन्थकारका तथा दूसरा श्रोताका । दोनों ही प्रयोजन साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं । इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारका साक्षात्प्रयोजन है—तत्त्वका परिज्ञान कराके प्राणियोंका उपकार करना । सभी दर्शनोंमें प्रतिपादित देव, तत्त्व तथा प्रमाण आदिके स्वरूपका यथार्थपरिज्ञान करना श्रोताका साक्षात् प्रयोजन है । दोनोंका परम्परा प्रयोजन है—दर्शनोंमें हेयोपादेयका विवेक प्राप्त करके हेयका परित्याग तथा

---

१. ब—भ० १, २ । २. तस्सेवा उ विज्जट्ठं भ० २ । ३. संक्षेपेन—प० १, २; भ० १ । ४. -र्थाक्षे—प० १, २, भ० १, २ । ५. तुलना—"प्रयोजनं द्वेधा कर्तुः श्रोतुश्च । पुनर्द्विविधम्—अनन्तरं सान्तरं च ।"—स्या०र० पृ० १० ।

§ ११. नन्वयं शास्त्रकारः सर्वदर्शनसंबन्धीनि शास्त्राणि सम्यक्परिशीलयैव परोपकाराय प्रस्तुतं शास्त्रं दृब्धवान्, तत्कथमनेनैवेहेदं नाभिदधे–'अमुकममुकं दर्शनं हेयम्, अमुकं चोपादेयम्' इति चेत्, उच्यते–इह[1] सर्वदर्शनान्यभिधेयतया प्रक्रान्तानि, तानि माध्यस्थ्येनैवाभिदधानोऽभीप्सितं नातिक्रामति । 'इदमिदं हेयम्, इदं चोपादेयम्' इति ब्रुवाणस्तु प्रत्युत सतां सर्वदर्शनानां चानादेयवचनो वचनीयतामश्नुते ।

§ १२. नन्वेवं तर्हि स्याच्चास्य न परोपकारार्थो प्रवृत्तिः । कुत एवं भाषसे । नन्वेष दर्शयामि– ये केचन मादृशाः श्रोतारः स्वयमल्पबुद्धित्वेन हेयोपादेयदर्शनानां विभागं न जानीयुस्तेषां सर्वदर्शनसतत्त्वं[2] निशम्य प्रत्युतैवं बुद्धिर्भवेत्–'सर्वदर्शनानि तावन्मिथो विरुद्धाभिधायीनि, तेषु च कतरत्परमार्थसदिति न परिच्छिद्यते । तत्किमेतैर्दर्शनैर्दुर्ज्ञानैः प्रयोजनम् । यदेव हि स्वस्मै रोचते तदेवानुष्ठेयम्' इति । एवंविधाश्चाविभागज्ञा अस्मिन्काले भूयांसोऽनुभूयन्ते । तदेवं शास्त्रकारस्य सुरेरुपकाराय प्रवृत्तस्य प्रत्युत प्रभूतानामपकारायापि प्रवृत्तिः प्रसभूव, ततश्च लाभमिच्छतो मूलहानिरजनिष्टेति चेत् । न, शास्त्रकारात्सर्वोपकारायैव प्रवृत्तात् कस्याप्यपकारासिद्धेः । विशेषणद्वारेण हेयोपादेयविभागस्यापि कतिपयसहृदयहृदयसंवेद्यस्य संसूचनात् । तथाहि–सद्दर्शनं जिनं नत्वा–

उपादेयका ग्रहण करके परम्परासे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप सिद्धिका प्राप्त करना ।

§ ११. शंका—जब शास्त्रकारने सभी दर्शनोंके ग्रन्थोंका अच्छी तरह आलोडन करके ही परोपकारके लिए इस शास्त्रको रचा है तब उन्होंने ही 'अमुक-अमुक दर्शन हेय है तथा अमुक-अमुक दर्शन उपादेय है' यह स्पष्टरूपसे क्यों नहीं कह दिया ? **समाधान**—इस ग्रन्थमें सभी दर्शनोंका समुच्चयरूपसे कथन करना ग्रन्थकारको इष्ट है । अतः वह पूर्ण मध्यस्थ भावसे उनका यथार्थ निरूपण करे यही उचित है । इसके विपरीत यदि वह अपनी इस मर्यादाका उल्लंघन कर 'ये दर्शन हेय हैं और यह उपादेय है' इस प्रकार उनकी हेयोपादेयतामें अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है तो तटस्थ सज्जन तथा अन्यदर्शनावलम्बी उसके वचनोंमें आदर तो करेंगे ही नहीं प्रत्युत शास्त्रकारकी निन्दा ही होगी ।

§ १२. शंका—यदि आचार्य दर्शनोंको हेयोपादेयताका विवेक नहीं बताते हैं तब तो उनकी यह शास्त्रप्रवृत्ति परोपकारके लिए नहीं हुई । **प्रश्न**—ऐसा कहनेका कारण क्या है ? **उत्तर**—यह मैं बताता हूँ । जो मुझ-जैसे मन्दबुद्धि श्रोता हैं वे बुद्धिकी मन्दताके कारण स्वयं तो 'ये दर्शन हेय हैं तथा ये उपादेय' इस प्रकार दर्शनोंमें हेयोपादेय विवेक कर ही नहीं सकते, अतएव वे समस्त दर्शनोंके स्वरूपको सुनकर स्वभावतः यही सोचेंगे कि 'जब सभी दर्शन परस्पर विरोधी कथन करनेवाले हैं, तथा इनमें 'कौन सत्य है और कौन असत्य' यह जानना कठिन है तब इन दर्शनोंको—जिनका समझना ही अत्यन्त कठिन है—जानकर ही हम क्या करेंगे ? जो अच्छा लगे सो करो । इस समय ऐसे दर्शनोंके विवेकको नहीं जाननेवाले ही बहुत हैं । इसलिए शास्त्रकार आचार्यकी परोपकारके लिए की गयी यह प्रवृत्ति विवेकविमुख बहुत लोगोंके अपकारके लिए ही सिद्ध हुई । अतः ग्रन्थकारका लाभके लिए किया गया यह व्यापार मूलका ही नाश करनेवाला सिद्ध हुआ । **समाधान**—सबके उपकारके लिए ही प्रवृत्ति करनेवाले शास्त्रकारसे किसी भी व्यक्तिका अपकार हो ही नहीं सकता । आचार्यने स्वयं 'सद्दर्शन' आदि विशेषणों-द्वारा दर्शनोंके हेयोपादेय विवेककी भी बड़ी कुशलतासे सूचना की है, जो कुछ सहृदय व्यक्ति ही समझ सकते हैं । वह इस

---

१. इह तु पर्व—आ० । २. मतत्त्वं क०, मु । मतत्त्वं प० १, २ ।

"सद्विद्यमाने सत्ये च प्रशस्तार्चितसाधुषु" [अनेकार्थ० १।१०] इत्यनेकार्थनाममालावचनात्, सत्सत्यं न पुनरसत्यं दर्शनं मतं यस्य तम्। जिनमिति विशेष्यम्। चतुर्विंशतेरपि जिनानामेकतरं(मं) रागादिशत्रुजयात्सान्वयनामानं जिनं वीतरागं नत्वा। एतेन पदद्वयेन चतुर्विंशतेरपि जिनानामन्योन्यं मतभेदो नास्तीति सूचितम्। तर्हि श्वेताम्बरदिगम्बराणां कथं मिथो मतभेद इति चेत्, उच्यते—मूलतोऽमीषां मिथो न भेदः किन्तु पाश्चात्त्य एवेति। कीदृशं जिनम्। अवीरम्। आः[1] स्वयंभूः, अः कृष्णः, उरीश्वरः। 'आ अ उ' इति स्वरत्रययोगे 'ओ'[2] इति सिद्धम्, तानीरयति तन्मतापासनेन प्रेरयतीत्यवि प्रत्ययेऽवीरम्, सृष्ट्यादिकर्तृब्रह्मकृष्णेश्वरदेवताभिमतमतानां निरासमित्यर्थः। तथा स्याद्वाददेशकम्। स्याद्वादं द्यन्ति छिन्दते "क्वचित्" [हैम० ५।१।१७१] डः इति डप्रत्यये स्याद्वाददाः तत्तदसद्भूतविरोधादिदूषणोद्घोषणैः स्याद्वादस्य छेदिनः[3] इत्यर्थः। तेषाम् ईं लक्ष्मीं महिमानं वा इयर्ति तत्तदीयमतापासनेन तनूकरोति यस्तत्स्याद्वाददेशम्। कै गै रै शब्दे। कै कायतीति "क्वचित्"

प्रकार है—आचार्यने 'सद्दर्शनं जिनं नत्वा' कहा है। सत् शब्दका प्रयोग अनेकार्थ नाममालाके वचनानुसार 'विद्यमान, सत्य, प्रशस्त, पूजित तथा साधु' इन अर्थोंमें होता है। अतः 'सद्दर्शन' पदका अर्थ होगा—सत् अर्थात् सत्य किन्तु असत्य नहीं, ऐसा जिसका दर्शन–मत है वह। अर्थात् 'सत्य मतवाला' होता है। श्लोकमें 'जिन' पद विशेष्य है। इसका एक वचन रूपसे निर्देश किया गया है। इससे यह सूचित होता है कि चौबीसों ही तीर्थंकर रागादि शत्रुओंको जीतनेके कारण सार्थक नामवाले वीतराग जिन हैं, अतः इनमें-से जिस किसी भी एक तीर्थंकर जिनका ग्रहण कर लेना चाहिए। 'सद्दर्शन और जिन' इन दो पदोंसे यह भी सूचित होता है कि चौबीसों ही तीर्थंकर सद्दर्शन अर्थात् समीचीन मतके प्रकाशक थे, उनके शासनमें परस्पर कोई भी मतभेद या विरोध नहीं है। **प्रश्न**—तब आज जो श्वेताम्बर और दिगम्बर रूपसे वीर शासनमें परस्पर मतभेद दिखाई देता है वह क्यों है? **उत्तर**—मूल दृष्टिसे इनमें कोई भेद नहीं है। वह तो पीछेका है। इस तरह इन दो पदोंसे जैन-दर्शनकी उपादेयता या सद्दर्शनताका सूचन कर ही दिया है। वे जिन कैसे हैं? 'अवीर' हैं। 'नत्वावीरम्' यहाँ 'नत्वा अवीरम्' ऐसा पदच्छेद करना चाहिए। **अवीर**का अर्थ होता है—'अवीर' का यहाँ आ + अ + उ + ईर इस प्रकार पदच्छेद किया गया है। आ = ब्रह्मा, अ = विष्णु, उ = ईश्वर अर्थात् महादेव। आ, अ तथा उ तीनों स्वर मिलकर सन्धिके नियमके अनुसार 'ओ' बन जाते हैं। जो इस 'ओ' को अर्थात् ब्रह्मा विष्णु और महेश्वरको ईरयति अर्थात् उनके मतका निराकरण कर प्रेरणा करता है—उन्हें खदेड़ देता है वह (ओ + ईर् + अ)अवीर है। अर्थात् सृष्टि-स्थिति-प्रलयके कर्ता ब्रह्मा-विष्णु-महादेवको माननेवाले दर्शनोंका निरास करनेवाला अवीर है। 'स्याद्वाददेशक' यहाँ स्याद्वादद + ई + श + क इस प्रकार पदच्छेद किया है। स्याद्वादको जो द्यन्ति अर्थात् छेदन करते हैं वे 'स्याद्वादद' अर्थात् संशयादि दूषणोंका उद्भावन कर स्याद्वादके छेदन करनेवाले कहे जाते हैं। यहाँ दो-अवखण्डने धातुसे 'क्वचित्' इस सूत्रसे ड प्रत्यय करनेपर 'द' रूप निष्पन्न होता है। इस स्याद्वादद अर्थात् स्याद्वादके विरोधियोंकी ई अर्थात् लक्ष्मी—महिमाको जो 'इयर्ति' अर्थात् उनके मतका खण्डन करके कृश करता है वह (स्याद्वादद + ई + श) स्याद्वाददेश है। 'कै गै रै' धातुएँ शब्दार्थक हैं। कै धातुसे 'क्वचित्' इसी सूत्रसे 'ड' प्रत्यय

---

१. आ स्व—आ० । अः कृष्णः आ स्वयंभूः उ—भ० २। "अकारो वासुदेवः स्यादाकारस्तु पितामहः।.... उकारः शंकरः प्रोक्तः....." —अनेकार्थध्वनि० श्लो० १, २। २. उरिति—आ०। ओरिति—क०। ३. "क्वचित्—उक्तादन्यत्रापि यथालक्षणं डः स्यात्" —हैम० लघु० ५।१।१७१। ४. —नः तेषाम्—आ०।

[हैम० ५।१।१७१] इति डः, कं वचनम्, स्याद्वादादेशं कं वचनं यस्य तम्। अनेन विशेषणेन प्रागुक्तानुक्तानामशेषाणां बौद्धादीनां संभवैतिह्याप्रमाणवादिचरकप्रमुखाणां च मतानामुच्छेदकारि वचनमित्यर्थः। 'जिनं नत्वा मया सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो निगद्यते' इत्युक्तं ग्रन्थकृता। अत्र च नमनक्रिया प्राक्कालसंबन्धिनी, क्त्वाप्रत्ययस्य प्राक्कालवाचकत्वात्, निगदनक्रिया तु वर्तमानजा। ते चैकेनैव ग्रन्थकृता क्रियमाणे नानुपपन्ने, अपरथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसंगात्। न चैवं भिन्नकालयोः क्रिययोरेककर्तृकता बौद्धमते संभवति, तेन क्षणिकवस्त्वभ्युपगमात्। ततः कश्चिदबौद्धमतस्य प्रस्तुतग्रन्थस्यादावुक्तत्वेनोपादेयतां मन्येत, तन्निवारणाय प्रागुक्तविशेषणसंगृहीतमपि बौद्धमतनिरसनं पुनरिह सूचितं द्रष्टव्यम्। एतेषां परदर्शनानां निरसनप्रकारो ग्रन्थान्तरादवसेयः। तदेवं जिनस्य विशेषणद्वारेण सत्यदर्शनतां सर्वपरदर्शनजेतृवचनतां चाभिदधता अखिलान्यदर्शनानां हेयता जैनदर्शनस्योपादेयता च सूचिता मन्तव्या। ततो नास्माद् ग्रन्थकारात् सत्यासत्यदर्शनविभा-

करनेपर 'क' शब्द सिद्ध होता है। जिसका 'क' अर्थात् वचन 'स्याद्वाददेश' है अर्थात् स्याद्वादविरोधियोंका खण्डन करनेवाला है वह स्याद्वाददेशक है। स्याद्वाददेशक विशेषणका भी अर्थ है जिसके वचन स्याद्वादमें विरोधादि असद्भूत दूषणोंका आरोप करनेवाले अन्य मतोंका खण्डन करनेवाले हैं वह। इस तरह 'स्याद्वाददेशक' इस विशेषणसे सूचित होता है कि भगवान्के वचन उक्त या अनुक्त सभी बौद्धादि दर्शनोंके तथा सम्भव और ऐतिह्यको प्रमाण माननेवाले चरक आदिके मतोंके उच्छेद करनेवाले हैं। अतः इससे जैनदर्शनके अतिरिक्त अन्यदर्शनोंमें हेयताका भी सूचन हो ही जाता है।

ग्रन्थकारने आद्यश्लोकमें 'जिनं नत्वा सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो निगद्यते' अर्थात् जिनदेवको नमस्कार कर सब दर्शनोंके वाच्यार्थका कथन करता हूँ, यह प्रतिज्ञा की है। इसका तात्पर्य है कि पहले नमस्कार करके इस समय ग्रन्थका कथन करता हूँ। क्त्वा प्रत्यय अतीतकालका वाचक होता है अतः यहाँ नमनक्रिया प्राक्कालीन है तथा ग्रन्थनिगदनक्रिया वर्तमानकालीन। (जैनमतमें आत्माको कथंचिन्नित्य स्वीकार किया है अतः) एक ही ग्रन्थकार प्राक्कालीन नमनक्रिया तथा उत्तरकालीन ग्रन्थनिगदनक्रियाका कर्ता हो सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। सारांश है कि यदि भिन्नकालीन दो क्रियाओंका कर्ता एक न हो अर्थात् पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें एक आत्माका अस्तित्व न माना जाय तो जगत्के समस्त व्यवहारोंका उच्छेद हो जायगा क्योंकि एक कर्ता जब भिन्नकालीन दो क्रियाओंको नहीं कर सकेगा और वह अनेक समय तक स्थिर ही नहीं रहेगा तब जगत्के देन-लेन, हिंसक-हिंस्य, गुरु-शिष्य आदि सभी प्रतीतिसिद्ध व्यवहारोंका लोप हो जायेगा। अतः आत्माको कथंचिन्नित्य माननेपर ही उसमें भिन्नकालीन दो क्रियाओंका कर्तृत्व बन सकता है। किन्तु बौद्धोंके मतमें भिन्नकालीन दो क्रियाओंका एक कर्ता नहीं बन सकता क्योंकि उन्होंने वस्तुको क्षणिक माना है। सारांश है कि 'यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः'—जो जहाँ और जब उत्पन्न हुआ है वह वहीं और उसी क्षणमें ही रहता है कालान्तर तथा देशान्तरमें नहीं पहुँच सकता। अतः ऐसे अनन्वित क्षणिकवादमें किसी भी पदार्थका भिन्नकालीन दो क्रियाओंके काल तक पहुँचना सम्भव ही नहीं है। यद्यपि स्याद्वाददेशक आदि विशेषणोंसे बौद्धमतका निरास हो जाता था फिर भी 'नत्वा सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः निगद्यते' इस प्रतिज्ञावाक्यसे व्यक्त होनेवाले व्यंग्यार्थसे बौद्धमतका पुनः निराकरण इसलिए किया है कि कोई यह न समझ ले कि इस ग्रन्थमें सर्वप्रथम बौद्धदर्शनका ही निरूपण है अतः बौद्धदर्शन ही उपादेय है। इन सभी परदर्शनोंका खण्डन अन्य जैनतर्कग्रन्थोंमें पर्याप्त विस्तारसे किया गया है अतः वह उन्हीं ग्रन्थोंसे देख लेना चाहिए।

इस तरह 'जिनदेव' के सद्दर्शन स्याद्वाददेशक आदि विशेषणों-द्वारा ग्रन्थकारने जैनदर्शनकी

१. —ता सू—आ०, क०।

मार्गविशारदानामप्यपकारः अथवा [illegible] इति, अदिग्धत्वादपि व्यक्षितत्वात् ।

§ १३. अत्रापरः कश्चिदाह– ननु येषां सत्यासत्यमतविभागाविर्भावके ग्रन्थकारवचसि सम्यगास्था न भविष्यति तेषां का वार्तेति । उच्यते—येषामास्था न भाविनी ते द्वेधा—एके रागद्वेषाभावेन मध्यस्थचेतसः, अन्ये पुना रागद्वेषाविकालुष्यकलुषितत्वाद् दुर्बोधचेतसः । ये दुर्बोधचेतसः तेषां सर्वज्ञेनापि सत्यासत्यविभागप्रतीतिः कर्तुं दुःशका किं पुनरपरेणेति तानवगणय्य मध्यस्थचेतस उद्दिश्य विशेषणावृत्त्या सत्यासत्यमतविभागज्ञानस्योपायं प्राह– सद्दर्शनमिति । वीरं कथंभूतम् । सद्दर्शनम्– सन्तः साधवो मध्यस्थचेतस इति यावत् । तेषां दर्शनं ज्ञानम् अर्थात्सत्यासत्यमतविभागज्ञानं यथावदाप्तत्वपरीक्षाक्षमत्वेन यस्माद्वीरात्स सद्दर्शनस्तम् । एतेन श्रीवीरस्य यथावदाप्तत्वादिस्वरूपमेव परीक्षणीयम् इति सूचितम् । अथवा, सतां साधूनां दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं यस्मात् स सद्दर्शनः । अथवा, सन्तो विद्यमाना जीवाजीवादयः पदार्थास्तेषां दर्शनं यथावदवलोकनं यस्माद्वीरात्स सद्दर्शनस्तम् । कुत एवंविधम् । यतः स्याद्वादवेशकं प्रागुक्तस्याद्वादभाषकम् । एवंविधमपि कुतः । इत्याह—यतो जिनं राग-द्वेषादिजयनशीलम् । जिनो हि वीतरागत्वादसत्यं न भाषते, तत्कारणा-

सत्यताका तथा समस्त परदर्शनोंपर विजय प्राप्त करनेवाले वचनका अभिधान करके यह सूचित किया है कि अन्य समस्त दर्शन हेय हैं तथा जैनदर्शन उपादेय है। इसलिए इस ग्रन्थकारसे उन अल्पबुद्धि श्रोताओंके भी अपकारकी सम्भावना नहीं की जा सकती जो दर्शनोंकी सत्यासत्यताका निर्णय करनेमें असमर्थ हैं।

§ १३. शंका—दर्शनोंमें सत्यासत्य विभाग करनेवाले इस ग्रन्थकारके वचनोंमें जिन श्रोताओंकी सम्यक् श्रद्धा न हो उनको सत्यासत्यका परिज्ञान कैसे होगा ?

समाधान—जो श्रद्धा नहीं करेंगे ऐसे श्रोता दो प्रकारके हो सकते हैं—(१) रागद्वेषादिजन्य दुराग्रहसे रहित मध्यस्थ चित्तवृत्तिवाले, (२) रागद्वेषादिसे कलुषित होनेके कारण दुर्बोध चित्तवाले। इनमें जो दुर्बोध चित्तवाले हैं उन्हें तो स्वयं सर्वज्ञ भी सत्यासत्य विभाग नहीं करा सकता दूसरोंकी तो बात ही क्या ? इसलिए ऐसे श्रोताओंकी उपेक्षा करके मध्यस्थ चित्तवृत्तिवाले जिज्ञासु श्रोताओंको लक्ष्यमें रखकर 'सद्दर्शन' आदि विशेषणोंकी पुनः आवृत्ति करके सभी दर्शनोंमें सत्यासत्य विवेक करनेका उपाय बताते हैं।

मूलमें वीरको सद्दर्शन कहा गया है।। 'सद्दर्शन' का अर्थ है—जिस भगवान् वीरके प्रसादसे सत् अर्थात् मध्यस्थ चित्तवृत्तिवाले साधु पुरुषोंको आप्तकी यथावत् परीक्षा करनेकी शक्ति होनेके कारण दर्शन-ज्ञान अर्थात् मतोंमें सत्यासत्यका विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सद्दर्शन वीर है। इस विशेषणसे यह सूचित होता है कि भगवान् वीरके आप्तत्व आदि स्वरूपकी ही यथावत् परीक्षा करनी चाहिए। अर्थात् चूंकि भगवान् वीर आप्तत्वकी कठिन परीक्षाको सह सकते हैं, वे उसमें खरे उतर सकते हैं अतः इन वीरके प्रसादसे अन्य साधुपुरुषोंको भी सत्यासत्य विवेक करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है। इसीलिए टीकाकार यहाँ भगवान् वीरके आप्तत्वकी परीक्षाकी सूचना दे रहे हैं। अथवा जिस वीरके प्रसादसे सत् अर्थात् साधुजनोंको दर्शन अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है वह सद्दर्शन वीर है। अथवा जिस वीरके प्रसादसे सत् अर्थात् विद्यमान जीवाजीवादि पदार्थोंका दर्शन अर्थात् यथार्थ अवलोकन होता है वह सद्दर्शन वीर हैं।

प्रश्न—वीर भगवान्की सद्दर्शनता कैसे जानी जाती है ?

उत्तर—चूंकि भगवान् वीर स्याद्वादके उपदेशक हैं इसीलिए वे सद्दर्शन हैं। और वे यतः राग-द्वेषादि शत्रुओंके जीतनेके कारण जिन हैं इसीलिए वे सत्य-स्याद्वादके उपदेशक हैं। जिन

१. संभवी तद्वि—प० १, २, म० १, २।

भावादिति भावः[1]। शेषश्लोकव्याख्यानं प्राग्वत् ।

§ १४. एवं चात्रैवमुक्तं भवति– ये हि श्रीवीरस्य यथावदाप्तत्वादिपरीक्षां विधास्यन्ते स्याद्वादं च तत्प्रणीतं मध्यस्थतया सम्यगवलोक्य पश्चात् परमतान्यप्यालोकिष्यन्ते[2] ते सत्यासत्यदर्शनविभागमपि स्वयमेवावभोत्स्यन्ते, किमस्मद्वचनस्यास्थाकरणाकरणेनेति। एतेन ग्रन्थकृता स्वस्य सर्वथात्रार्थे माध्यस्थ्यमेव दर्शितं द्रष्टव्यम्। सत्यासत्यदर्शनविभागपरिज्ञानोपायश्च हितबुद्धयात्राभिहितोऽवगन्तव्यः; पुरातनैरपीत्थमेव सत्यासत्यदर्शनविभागस्य करणात्। तदुक्तं पूज्यश्रीहरिभद्रसूरिभिरेव लोकतत्त्वनिर्णये—

"बन्धुर्न नः स भगवान् [3]रिपवोऽपि नान्ये,
साक्षान्न [4]दृष्टचर एकतमोऽपि[5] चैषाम्।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः ॥१॥"

[लोकतत्त्व० १।३२]

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥२॥"

[लोकतत्त्व० १।३८]

वीतराग होनेके कारण असत्य नहीं बोल सकते, क्योंकि असत्य बोलनेके कारण राग-द्वेष-मोह तथा अज्ञान होते हैं। और ये उनमें नहीं हैं। श्लोकके अन्य पदोंकी व्याख्या पहलेकी ही तरह यहाँ समझ लेनी चाहिए।

§ १४. इस व्याख्याका यह फलितार्थ हुआ कि जो तटस्थ जिज्ञासु वीरभगवान्के आप्तत्वकी यथावत् परीक्षा करके उनके द्वारा प्रणीत स्याद्वाद सिद्धान्तका मध्यस्थवृत्तिसे अच्छी तरह आलोडन करनेके बाद दूसरे दर्शनोंका अध्ययन करेंगे उन्हें दर्शनोंके सत्यासत्यविवेकका स्वयं ही अनुभव हो जायेगा, ऐसे जिज्ञासु श्रोताओंको हमारे (ग्रन्थकारके) वचनोंपर श्रद्धा या अश्रद्धा करनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इस तरह ग्रन्थकारने अपने वचनोंमें ही बलात् श्रद्धा करनेपर भार न देकर सर्वत्र अपनी परम मध्यस्थवृत्ति दिखायी है। यहाँ सत्यासत्य विभागज्ञानके उपायोंका प्रदर्शन तो मात्र परहितबुद्धिसे ही किया गया है, किसी दर्शनपर बलात् सत्यत्व या असत्यत्वके आरोप करनेका लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। पुरातन आचार्योंमें भी इसी तटस्थवृत्तिसे दर्शनोंमें सत्यासत्यविभाग करनेकी शैली रही है। पूज्य श्रीहरिभद्रसूरिने ही लोकतत्त्वनिर्णय ग्रन्थमें कहा है कि—"न तो भगवान् हमारे बन्धु ही हैं और न अन्य हरि-हरादिक शत्रु ही हैं। और न इन सबमें-से किसीको भी हमने प्रत्यक्ष ही देखा है। हाँ, इन सबके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंका श्रवण कर तथा इनके चरित्रका अच्छी तरह विचार अवश्य किया है। और इसी विचारके परिणाम स्वरूप हमारी गुणानुरागिणी बुद्धि, तथा गुणातिशयपर मोहित हृदय भगवान् महावीरकी शरणमें पहुँच गया है ॥ १ ॥ "हमारा वीरमें कोई पक्षपात-राग नहीं है और न कपिलादिकमें द्वेष ही। हमारी तो यह स्पष्ट नीति है कि—जिसके वचन युक्तियुक्त हों, तर्कशुद्ध हों उसीका स्वीकार करना चाहिए ॥ २ ॥"

---

१. तुलना—"आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥"—सांख्य० मा०वृ० पृ० १३। "रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥"—यश०उ०पृ० १७। आप्तस्व० श्लो० ३-४। २. —लं.कथिष्यन्ते आ०, क०। ३. 'अरयोऽपि'—लोकत०। ४. 'दृष्टतर एकतमोऽपि'—लोकत०। दृष्टतर प० १, २, भ० १, २। ५. एकतरोपि क०, प० १, २, भ० १।

§ १५. प्रभुश्रीहेमसूरिभिरप्युक्तं वीरस्तुतौ—

"न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ॥१॥"

[अयोगव्य० श्लो० २९ इति]

§ १६. नन्वत्र सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो वक्तुं प्रक्रान्तः, स च संख्यातिक्रान्तः, तत्कथं स्वल्पीयसानेन ग्रन्थेनाशास्त्रेण सोऽभिधातुं शक्यः, जैनान्यदर्शनानां परसमयापरनामधेयानामसंख्यातत्वात् । तदुक्तं सम्मतिसूत्रे श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण—

"जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया ।
जावइया नयवाया तावइया चेव परसमया ॥१॥"

[सन्मति० ३।४७]

§ १७. व्याख्या[1]—अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो य एकदेशोऽन्यदेशनिरपेक्षस्तस्य यदवधारणं सोऽपरिशुद्धो नयः । स एव च वचनमार्ग उच्यते । एवं चानन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुन एकदेशानामितरांशनिरपेक्षाणां यावन्तोऽवधारणप्रकाराः संभवन्ति तावन्तो नया अपरिशुद्धा भवन्ति । ते च वचनमार्गा इत्युच्यते । ततोऽयं गाथार्थः— सर्वस्मिन् वस्तुनि यावन्तो यावत्संख्या वचनपथा वचनानामन्योन्यैकदेशवाचकानां शब्दानां मार्गा अवधारणप्रकारा[2] हेतवो नया भवन्ति तावन्त एव भवन्ति नयवादाः, नयानां तत्तदेकदेशावधारणप्रकाराणां वादाः प्रतिपादकाः शब्दप्रकाराः । यावन्तो नयवादा एकैकांशावधारणवाचकशब्दप्रकाराः तावन्त एव परसमयाः परदर्शनानि भवन्ति, स्वेच्छा-

§ १५. प्रभु श्रीहेमचन्द्राचार्य भी वीरस्तुतिमें कहते हैं कि—"अहो वीर, मैंने श्रद्धाके कारण तुम्हारे साथ पक्षपात नहीं किया है और न कपिलादिमें द्वेषके कारण अरुचि ही की है। हम तो परीक्षाकी तुला लिये हैं। तुम्हारे आप्तत्वकी यथावत् परीक्षा करके ही हम तुम्हारी शरणको प्राप्त हुए हैं।"

§ १६. शंका—इस ग्रन्थमें सर्वदर्शनोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है परन्तु सर्वदर्शन तो असंख्यात हैं अतः इस छोटे-से ग्रन्थके द्वारा कैसे उनका वर्णन किया जा सकता है, क्योंकि जैनदर्शनसे भिन्न अन्य परसमय असंख्यात हैं ? इसी बातको सम्मतिसूत्रमें श्रीसिद्धसेन दिवाकरने भी बताया है—"जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं—परदर्शन हैं।"

§ १७. व्याख्या—वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। उसके किसी भी एक धर्मका अन्यधर्मोंकी अपेक्षा न करके 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार अवधारण करनेवाले जितने भी नय हैं वे सब अपरिशुद्ध नय हैं। अर्थात् दुर्नय हैं। इन्हीं अपरिशुद्ध नयोंको वचनमार्ग कहते हैं। वस्तुमें जितने वचनमार्ग अर्थात् एक-एक धर्मोंके निरपेक्ष भावसे अवधारण करनेके प्रकार सम्भावित हैं उतने ही नयवाद होते हैं। और जितने नयवाद अर्थात् एक-एक धर्मोंको अवधारण करनेवाले वचनोंके प्रकार हैं उतने ही परसमय अर्थात् परदर्शन हैं। क्योंकि अपनी इच्छासे कल्पित शाब्दिक विकल्पोंसे ही परसमयोंकी

१. [1]अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः एकदेशस्य यदन्यनिरपेक्षस्य अवधारणम् अपरिशुद्धो नयः, तावन्मात्रार्थस्य वाचकानां शब्दानां यावन्तो मार्गाः हेतवो नयाः तावन्त एव भवन्ति, स्वेच्छाप्रकल्पितविकल्पनिबन्धनत्वात् परसमयानां परिमितिर्न विद्यते । ननु यद्यपरिमिताः परसमयाः कथं सन्तिबन्धनभूतानां नयानां संख्यानियमः— "नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः" [तत्त्वार्थसू० १।३३] इति श्रूयते; न; स्थूलवस्तुच्छ्रुतेः, अवान्तरभेदेन तु तेषामपरिमितत्वमेव स्वकल्पनाशिल्पिघटितविकल्पानामनियमत्वात् तदुत्थप्रशाखानामपि तत्संख्यापरिमाणत्वात् ।"—सम्मति० टी० पृ० ६५१ ; शास्त्रवा० यशो० पृ० २७१ A. । तुलना—धवला० पृ० ८० । गो० कर्म० गा० ८९४ । २.—रा भव—क०, प० १, २, म० १ ।

प्रकल्पितविकल्पनिबन्धनत्वात्परसमयानाम्, विकल्पानां चासंख्यत्वात् । अयं भावः—यावन्तो जने तत्तत्वपरापरवस्त्वेकदेशानामवधारणप्रतिपादकाः शब्दप्रकारा भवेयुस्तावन्त एव परसमया भवन्ति । ततस्तेषामपरिमितत्वमेव, स्वकल्पनाशिल्पिघटितविकल्पानामनियतत्वात् तदुत्थप्रवादानामपि तत्संख्यापरिमाणत्वादिति । तदेवं गणनातिगाः परसमया भवन्ति ।

अथवा [1]सूत्रकृदाख्ये द्वितीयेऽङ्गे परप्रवादुकानां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि परिसंख्यायन्ते । तदर्थसंग्रहगाथेयम्—

"[2]असिइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।
अन्नाणि अ सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥१॥"

[सूत्रकृ० नि० गा० ११९]

§ १९. अस्या व्याख्या—अशीत्यधिकं शतम्, "किरियाणं ति" क्रियावादिनाम् । तत्र क्रियां जीवाद्यस्तित्वं वदन्तीत्येवंशीलाः क्रियावादिनः[3], मरीचिकुमारकपिलोलूकमाठरप्रभृतयः । ते

सृष्टि होती है तथा विकल्प असंख्य होते हैं । तात्पर्य यह है कि—लोकमें जितने एक-एक धर्मके अवधारण करनेवाले शब्द प्रयोग हो सकते हैं उतने ही परदर्शन होते हैं । चूंकि काल्पनिक विकल्प अपरिमित हैं अतः उनसे उत्पन्न होनेवाले प्रवाद भी उतने ही होते हैं । इस तरह परसमय अनगिनत होते हैं ।

§ १८. अथवा, सूत्रकृत[4] नामके दूसरे अंगमें परवादियोंके ३६३ प्रकारोंका इस गाथामें संग्रह किया है—"क्रियावादियोंके १८०, अक्रियावादियोंके ८४, अज्ञानवादियोंके ६४, तथा विनयवादियोंके ३२ प्रकार होते हैं ।"

§ १९. व्याख्या–क्रियावादियोंके १८० भेद हैं । क्रिया अर्थात् जीवादि पदार्थोंके अस्तित्वको

---

१. —कृताख्ये प० १, २, भ० १, २ । २. "चउविहा समोसरणा पण्णत्ता, तं जहा—किरियावादी, अकिरियावादी, अण्णाणिवादी, वेणइयवादी।"—भग० ३०।१। स्था० ४।४.३४५। सर्वार्थसि० ८।१ । —"अत्थि त्ति किरियवाइं वयंति नत्थि त्ति किरियवाइओ । अण्णाणिय अण्णाणं वेणइया विणयवायंति ।" सूत्र० नि० गा० ११८ । "असियसयं किरियाणं अकिरियाणं च होइ चुलसीती । अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा ।" सूत्र० नि० गा० ११९ । तुलना—"सूअगडे णं असीअस्स किरियावाइसयस्स चउरासीइए अकिरिआवाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं बत्तीसाए वेणइअवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं ।"—नन्दीसू० ४६ । "असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होई चुलसीई ।""—आचा० शी० १।१।१।३। "असियसय किरियवाई अकिरियाणं च होइ चुलसीदी । सत्तट्ठी अण्णाणी वेणेया होंति बत्तीसा ।" भावप्रा० गा० १३५ । "तथा च–असिदिसदं···"—सर्वार्थसि० ८।१। "असिदिसदं किरियाणं अकिरियाणं च आहु चुलसीदी । सत्तट्ठण्णाणीणं वेणयिकाणं तु बत्तीसं ॥"—गो० कर्म० गा० ८७६ । ३. तुलना—"कौत्कलं काण्डेविद्धि कौशिक-हरिश्मश्रु-मांछपिक-रोमश-हारीत-मुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम् ।"—राजवा० पृ० ५१ । "जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीतिक्रियावादिनः ।"—सूत्र०शी० १।१२ । 'क्रिया कर्त्रा विना न संभवति, सा चात्मसमवायिनीति वदन्ति तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः । अन्ये त्वाहु:-क्रियावादिनो ये नूनते क्रियाप्रधानं किं ज्ञानेन । अन्ये तु व्याख्यान्ति क्रियां जीवादिः पदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः ।"—भग० अभ० ३०।१। "क्रियां जीवाजीवादिरर्थोऽस्तीत्येवं रूपां वदन्तीति क्रियावादिनः आस्तिका इत्यर्थः ।" स्था०—अभ० ४।४।३४५ । "तत्र न कर्तारमन्तरेण क्रिया पुण्यबन्धादिलक्षणा संभवति तत एवं परिज्ञाय तां क्रियाम् आत्मसमवायिनीं वदन्ति तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः ।"—नन्दि०म० पृ० २१३ B । ४. प्रस्तुतमें सूत्रकृतकी नियुक्ति भी सूत्रकृतांगमें सन्निविष्ट मानकर विधान है ।

पुनरमुनोपायेनाशीत्यधिकशतसंख्या विज्ञेयाः। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरापुण्यपापमोक्षरूपान्नवपदार्थान् 'परिपाट्या पङ्क्तिकरणे विरचय्य जीवपदार्थस्याधः एवमेव[1] द्वयमुपलक्षणीयम्, तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः[2] कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः। ततश्चैवं विकल्पाः कर्तव्याः। तद्यथा 'अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः' इत्येको विकल्पः।

अस्य च विकल्पस्यायमर्थः[3]—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः

माननेवाले मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, माठर आदि क्रियावादी हैं। इनके १८० भेद इस प्रकार समझना चाहिए—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप तथा मोक्ष इन नव पदार्थोंको पट्टी आदिपर एक पंक्तिमें स्थापित करो। जीव पदार्थके नीचे स्वतः और परतः ये दो भेद स्थापित करके फिर एकके नीचे नित्य और अनित्यरूपसे भी भेद स्थापित करो। फिर हर एकके नीचे काल, ईश्वर, आत्मा, नियति तथा स्वभाव रूपसे पाँच-पाँच भेद स्थापित करना चाहिए। इस तरह एक जीव पदार्थके इस प्रकार विकल्प होंगे—जीव स्वतो नित्य रूप है कालादिसे—पाँच भेद, स्वतोऽनित्य रूप है कालादिसे—पाँच भेद, जीव परतो नित्य रूप है कालादिसे—पाँच भेद तथा परतोऽनित्यरूप कालादिसे—पाँच भेद मिलकर बीस भेद हुए। इस तरह नव पदार्थोंके २०×९=१८० भेद हो जाते हैं। इन विकल्पोंका अर्थ इस प्रकार है—पहला विकल्प 'अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः'—जीव स्वतः अपने स्वरूपसे विद्यमान है, नित्य है तथा कालके अधीन प्रवृत्ति करता है।

कालवादियोंके मतसे यह आत्मा स्वरूपसे विद्यमान है, नित्य है तथा कालाधीन होकर प्रवृत्ति

---

१. तुलना—"जीवादयो नव पदार्थाः परिपाट्या स्थाप्यन्ते, तदधः 'स्वतः परतः' इति भेदद्वयम्, ततोऽप्यधो नित्याऽनित्यभेदद्वयम्, ततोऽप्यधस्तत्परिपाट्या कालस्वभावनियतीश्वरात्मपदानि पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते। ततश्चैवं चारणिकाक्रमः; तद्यथा अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः, तथा अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालत एव। एवं परतोऽपि भङ्गकद्वयम्। सर्वेऽपि चत्वारः कालेन लब्धाः, एवं स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुर एव लभन्ते। तथा च पञ्चापि चतुष्का विंशतिर्भवन्ति। सापि जीवपदार्थेन लब्धा। एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते। ततश्च नव विंशतयो मीलिताः क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शतं भवन्तीति।"—सूत्र० शी० १।१२। आचा० शी० १।१।१।३ स्था० अभ० ४।४।३४४। नन्दी० मलय० सू० ४६। "अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य पयत्था। कालीसरप्पणियदिसहावेहिं य ते हि भंगा हु॥ प्रथमतः अस्तिपदं लिखेत्, तस्योपरि स्वतः परतः नित्यत्वेन अनित्यत्वेनेति चत्वारि पदानि लिखेत्, तेषामुपरि जीवः अजीवः पुण्यं पापम् आस्रवः संवरः निर्जरा बन्धः मोक्ष इति नव पदानि लिखेत्, तदुपरि काल ईश्वर आत्मा नियतिः स्वभाव इति पञ्च पदानि लिखेत्। तैः खल्वक्षसंचारक्रमेण भङ्गा उच्यन्ते; तद्यथा—स्वतः सन् जीवः कालेन अस्ति क्रियते। परतो जीवः कालेन अस्ति क्रियते। नित्यत्वेन जीवः कालेन अस्ति क्रियते। अनित्यत्वेन जीवः कालेन अस्ति क्रियते। तथा अजीवादिपदार्थं प्रति चत्वारश्चत्वारो भूत्वा कालेनैकेन सह षट्त्रिंशत्। एवमीश्वरादिपदैरपि षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत् भूत्वा अशीत्यग्रशतं क्रियावादभङ्गाः स्युः।"—गो० कर्म०, टी०, गा० ८७७। २. "किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ कालस्वभावौ नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्। संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥"—श्वेताश्व० १।२; ६।१ नारदपरि० ९।१। "कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।"—सन्मति० ३।५३। धर्मसं० गा० ५६६। ३. "तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव। नित्यः शाश्वतः न क्षणिकः पूर्वोत्तरकालयोरवस्थिततत्त्वात्। कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम्। उक्तं च—'कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।

कालवादिनो मते । कालवादिनश्च[1] नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव जगत्सर्वं मन्यन्ते । तथा च ते प्राहुः—न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रचारगर्भाधानवर्षादयो वर्तुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनवलीपलितागमादयो

करता है । कालवादी इस समस्त जगत्को कालकृत मानते हैं । उनका अभिप्राय है कि—कालके बिना चम्पा अशोक आम आदि वनस्पतियोंमें फूल तथा फलोंका लगना, कुहरेसे जगत्को धूमिल करनेवाला हिमपात, नक्षत्रोंका संचार, गर्भाधान, वर्षा आदि ऋतु विभागसे होना; बचपन,

---

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।' स चातीन्द्रियः युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्तयामाहोरात्रमासर्तु-अयन-संवत्सरयुगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्तातीतानागतवर्तमानसर्वद्धादिव्यवहाररूपः । द्वितीयविकल्पे तु कालादेव आत्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयं किम्त्वनित्योऽसौ इति विशेषोऽयं पूर्वविकल्पात् । तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते ? कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ? नन्वेतत् प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति । एवमेव चानात्मनः स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि आत्मबुद्धिः प्रवर्तते इति, अतो यदात्मनः स्वरूपं तत् परत एवावधार्यते न स्वत इति । चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः ।"—आचा० शी० १।१।१।४ । स्या० अम० ४।४।२४५ । "अस्य च विकल्पस्यायमर्थः—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः कालवादिनो मते । कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगत् मन्यन्ते । तथा च ते आहुः—न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनवलिपलितागमादयो वाऽवस्थाविशेषा घटन्ते, प्रतिनियतकालविभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात्, अन्यथा सर्वमव्यवस्था भवेत्, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । अपि च मुद्गपक्तिरपि····"—नन्दि० मलय० पृ० २१६ B. ।

१. "विधातृविहिते मार्गे न कश्चिदतिवर्तते । कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥ कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥ कालो विकुरुते भावान् सर्वाल्लोकेशुभाशुभान् । कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥ कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः । कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥ अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् । तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ॥" —महाभा० आदि० १।६७२-७६ । "कालः पचति भूतानि····यस्मिंस्तु पच्यते कालो यत्तं वेद स वेदवित् ।"—मैत्रा० ६।१५; उपनिषद्वाक्यकोष । "कालः कलयते लोकं कालः कलयते जगत् । कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥ कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नराः । कालो हि भगवान् देवः स साक्षात्परमेश्वरः ॥ सर्गपालनसंहर्ता स कालः सर्वतः समः । कालेन कल्प्यते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥ येनोत्पत्तिश्च आयेत येन वै कल्प्यते कला । सोऽन्तवच्च भवेत्कालो जगदुत्पत्तिकारकः ॥ यः कर्माणि प्रयश्येत प्रकर्षे वर्तमानके । सोऽपि प्रवर्त्तको ज्ञेयः कालः स्यात् प्रतिपालकः ॥ येन मृत्युवशं याति कृतं येन लयं व्रजेत् । संहर्ता सोऽपि विज्ञेयः कालः स्यात् कलनापरः ॥ कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । कालः स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ काले देवा विनश्यन्ति काले चासुरपन्नगाः । नरेन्द्राः सर्वजीवाश्च काले सर्वं विनश्यति ॥"हारीत सं० स्या० १ अ० ४ । "केचित् कालं कारणतया वर्णयन्ति—कालः सृजति भूतानि····" —सांख्य० माठर० पृ० ७६ । भाव्य० भू० पृ० ३८१ । चतुश्श० पृ० ३८ । श्लोकत० १।६१। सन्मति० टी० पृ० ७११ । "कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं । जागर्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥"—गो० कर्म० गा० ८०९ । २ —नक्षत्रगर्भा—क०, प० १, २, भ० १, २ ।

वावस्थाविशेषा घटन्ते, प्रतिनियतकालविभागत एव तेषामुपलभ्यमानत्वात् । अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत् । न चैतदृष्टमिष्टं वा । अपि च, मुद्गपक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके भवन्ती दृश्यते, किंतु कालक्रमेण । अन्यथा स्थालीन्धनादिसामग्रीसंपर्कसंभवे प्रथमसमयेऽपि तस्या भावो भवेत्, न च भवति, तस्माद्यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतमिति ।

§ २०. तथा चोक्तम्—

"न कालव्यतिरेकेण गर्भबालयुवादिकम् ।
अस्मिन्नुपलभ्यते लोके तदसौ कारणं किल ॥१॥
किंच कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता ॥२॥
कालाभावे च सर्वादि सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात् ॥३॥"

[शास्त्रवा० श्लो० १६५-६८]

"कालः पचति भूतानि कालः [1]संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥४॥

[महाभा०, हारीतसं०]

जवानी तथा मुंह आदिमें झुर्रियाँ तथा बालोंमें सफेदी लानेवाली वृद्धावस्था आदि अवस्थाओंका होना असम्भव हो जायेगा; क्योंकि ये सब कालके प्रतिनियत विभागसे ही सम्बन्ध रखती हैं। काल न हो तो यह सब अव्यवस्थित हो जायेगा। परन्तु इनकी अव्यवस्था न तो अनुभवमें ही आती है और न इष्ट ही है। मूँगकी दालका परिपाक भी कालक्रमसे ही होता है। यदि कालके बिना ही परिपाक हो जाय तो बटलोई ईंधन आदि सामग्रीके मिलते ही प्रथम क्षणमें ही दाल पक जानी चाहिए। पर ऐसा तो नहीं देखा जाता अर्थात् मूँगकी दालको पकानेके लिए १५-२० मिनिट-का समय तो अपेक्षित होता ही है। इसलिए यह नियम है कि जो-जो कृतक अर्थात् कार्य हैं वे सब कालकृत ही हैं। जिन वस्तुओंकी उत्पत्तिमें दूसरे कारणके व्यापारकी अपेक्षा होती है उन्हें कृतक कहते हैं।

§ २०. कहा भी है—"इस संसारमें गर्भाधान बाल्यकाल जवानी आदि जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह सब कालकी सहायतासे ही उत्पन्न होता है, कालके बिना नहीं। क्योंकि काल एक समर्थ कारण है ॥१॥ बटलोई इन्धन आदि पाककी सामग्री मिल जानेपर भी जबतक उसमें काल अपनी सहायता नहीं करता तबतक मूँगकी दालका परिपाक नहीं देखा जाता अतः यह मानना ही होगा कि मूँगकी दालका परिपाक कालने ही किया है ॥२॥

यदि दूसरोंके द्वारा माने गये हेतुके सद्भाव मात्रसे ही कार्य हो और कालको कारण न माना जाय तो गर्भाधान आदिकी कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी। अर्थात् यदि ऋतुकालकी कोई अपेक्षा नहीं है तो मात्र स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही गर्भाधान हो जाना चाहिए ॥३॥"

"काल पृथिवी आदि भूतोंके परिणमनमें सहायक होता है, काल ही प्रजाका संहार करता है अर्थात् उन्हें एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें ले जाता है। सदा जाग्रत् काल ही सुषुप्तिदशामें भी प्राणियोंकी रक्षा करता है। अतएव यह काल दुरतिक्रम है अर्थात् उसका निराकरण अशक्य है।"

---

१. –बालशुभादि—क०, प० १, २, म० १, २। २. संहरति प० १, २, म० १।

अत्र परेष्टहेतुसद्भावमात्राविति पराभिमतवनितापुरुषसंयोगादिरूपहेतुसद्भावमात्रादेव तद्भावादिति गर्भाधानसद्भावप्रसङ्गात् । तथा कालः पचति—परिपाकं नयति परिणतिं नयति भूतानि पृथिव्यादीनि । तथा कालः संहरते प्रजाः—पूर्वपर्यायात्प्रच्यवमानस्य पर्यायान्तरेण पक्वान् करोत्यपयति । तथा कालः सुप्तेषु जागर्ति—काल एव सुप्तं जनमापदो रक्षतीति भावः । तस्माद् हि स्फुटं दुरतिक्रमोऽप्याकर्तुमशक्यः काल इति ।

§ २१. [1]उक्तेनैव प्रकारेण द्वितीयोऽपि विकल्पो वक्तव्यः, नवरं कालवादिन इति वक्तव्ये ईश्वरवादिन इति वक्तव्यम् । तद्यथा—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः ईश्वरतः । ईश्वरवादिनश्च सर्वं जगदीश्वरकृतं मन्यन्ते । ईश्वरं च सहसिद्धज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यरूपचतुष्टयं प्राणिनां च स्वर्गापवर्गयोः प्रेरकमिति । तदुक्तम्—

"[2]ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥१॥"

इन श्लोकोंमें आये हुए कुछ विशिष्ट पदोंका अर्थ—

परेष्टहेतुसद्भावमात्रात् = दूसरोंको अभिमत स्त्री-पुरुष सम्भोग मात्रसे ।

तद्भावात् = गर्भाधान हो जाने से ।

कालः पचति = काल ही पृथिवी आदि भूतोंमें परिवर्तन कराता है ।

कालः संहरते प्रजाः = काल ही आत्माओंको एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें ले जाता है–उनमें परिणमन कराता है ।

कालः सुप्तेषु जागर्ति = काल ही सोते हुए प्राणीकी आपत्तियोंसे रक्षा करता है ।

कालो हि दुरतिक्रमः = अतः काल अलंघ्य शक्ति है उसे कोई नहीं टाल सकता ।

§ २१. जिस प्रकार पहला विकल्प कालवादियोंकी अपेक्षासे है उसी तरह 'अस्ति जीवः स्वतो नित्यः ईश्वरतः' अर्थात् जीव स्वतः विद्यमान है, नित्य है और ईश्वरके अधीन प्रवृत्ति करता है' यह दूसरा विकल्प ईश्वरवादियोंकी अपेक्षासे है। ईश्वरवादी इस जगत्को ईश्वरकृत मानते हैं । वह ईश्वर सहजसिद्ध ज्ञान वैराग्य धर्म और ऐश्वर्य इस चतुष्टयका धारक है तथा प्राणियोंको स्वर्ग और नरकमें भेजनेवाला है । कहा भी है—

"जगत्पति ईश्वरको अप्रतिहत ज्ञान, वैराग्य, धर्म तथा ऐश्वर्य रूप चतुष्टय सहज ही प्राप्त है ॥१॥

---

१. "उक्तेनैव प्रकारेण द्वितीयोऽपि विकल्पो वक्तव्यः, नवरं कालवादिन इति वक्तव्ये ईश्वरवादिन इति वक्तव्यम् । तद्यथा····"—नन्दि० मलय० पृ० २१४ A. । "तथाऽन्येऽभिदधते—समस्तमेतज्जीवादि ईश्वरात्प्रसूतम्····"—आचा० शी० १।१।१।४ । बृहद्द्र० ५।६६ । "अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च । सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि ॥"—गो० कर्म० गा० ८८७ । २. "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते····"—तैत्ति० ३।१।१ । "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् । संबाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥"—श्वेता० ३।३। "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।"—गीता १०।८। "यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।"—गीता १५।१७ । 'संज्ञा कर्म स्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्"—वैशे० २।१।१८ । "ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्"—न्यायसू० ४।१।१९। ३. श्लोकोऽयं निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृतः—शास्त्रवा० श्लो० १४५ । सूत्र० शी० पृ० २५६ । सन्मति० टी० पृ० ४५ । प्रमाणमी० पृ० १२ । नन्दि० मलय० पृ० २१४ ।

"[1]अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं [2]वा श्वभ्रमेव वा ॥२॥"
[महाभा० वन० ३०।२१] इत्यादि ।

§ २२. **तृतीयो विकल्प [3]आत्मवादिनाम् । आत्मवादिनो नाम** "[4]पुरुष एवेदं सर्वम्" [ऋग्वेद पुरुषसू०] **इत्यादि प्रतिपन्नाः ।**

§ २३. **चतुर्थो विकल्पो [5]नियतिवादिनाम् । ते ह्येवमाहुः—नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा । तथाहि—यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यकारणव्यवस्था, प्रतिनियतरूपव्यवस्था च न भवेत्, नियामकाभावात् । तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते । मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः । तथा चोक्तम्—**

अपने सुख-दुःख भोगके क्षेत्रको खोजनेमें स्वयं असमर्थ ये बिचारे अज्ञ जन्तु ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर ही सुख-दुःख भोगनेके लिए स्वर्ग तथा नरकमें जाते हैं ॥२॥"

§ २२. तीसरा विकल्प आत्मवादियोंकी अपेक्षासे है। आत्मवादी "इस समस्त जगत्को पुरुष रूप ही मानते हैं"। इनके मतसे जगत् पुरुष–ब्रह्मरूप है, अद्वैत है।

§ २३. चौथा विकल्प नियतिवादियोंकी दृष्टिसे है। नियतिवादियोंका अभिप्राय है कि—नियति नामका एक स्वतन्त्र तत्त्व है। इस नियतिसे ही सभी पदार्थ नियत रूपमें उत्पन्न होते हैं अनियत रूपमें नहीं। जो जिस समय जिससे उत्पन्न होता है वह उस समय उससे नियतरूपमें ही उत्पत्ति लाभ करता है। यदि नियत तत्त्व न हो तो संसारसे कार्यकारणकी व्यवस्था तथा पदार्थोंके अपने निश्चित स्वरूपकी व्यवस्था ही उठ जायगी। इस तरह जब कार्योंको नियत अवस्था ही इस नियतितत्त्वके अस्तित्वका सबसे बड़ा साधक प्रमाण विद्यमान है तब कौन प्रामाणिक इस नियतितत्त्वके अस्तित्वसे इन्कार कर सकता है। यदि प्रतीतिसिद्ध वस्तुका एक जगह लोप किया जाता है तो संसारसे प्रमाण मार्ग ही उठ जायेगा। कहा भी है—

---

१. अन्यो जन्तु—आ०, प० १, २; भ० १, २। २. 'स्वर्गं नरकमेव वा'—महाभा०। ३. "तथाऽन्ये ब्रुवते—न जीवादयः पदार्थाः कालादिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते किं तर्हि ? आत्मनः। कः पुनरयमात्मा ? आत्माद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूपः। उक्तं च एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥" तथा "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यादि।" —आचा० शी० १।१।१।४। बृहद्व० ९।६२। सन्मति० टी० पृ० ७१५। नन्दि० मलय० पृ० २१५ A। "वेदवादिनः पुनरित्थं कारणमाहुः—"पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यतः पुरुषः कारणमाहुः।" —सांख्य० माठर० पृ० ७५। "एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य। सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥"—गो० कर्म० गा० ८८१। ४. "पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्च भव्यम्। यदिदं वर्तमानं जगत् सर्वं तत् पुरुष एव। यच्च भूतमतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत्तदपि पुरुष एव। यथा अस्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैव अतीतानागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः।"—ऋग्वे० पुरुषसू० सायणभा०। श्वेताश्व० ३।१५। ५. तथाऽन्ये नियतित एवात्मनः स्वरूपमवधारयन्ति। का पुनरियं नियतिरिति ? उच्यते—पदार्थानामवश्यंतया यद्यथा भवने प्रयोजककर्त्री नियतिः। उक्तं च—'प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण''''इयं च मस्करिपरिव्राण्मतानुसारिणो प्राय इति।"—आचा० शी० १।१।१।४। स्था० अभ० ४।४।३४२। सन्मति० टी० पृ० ७०४। नन्दि० मलय० पृ० २१५ A। "न चेतं नियतिं लोके मुद्गपाक्तिरपीच्छति। तत्स्वभावादिभावेऽपि नात्मानियता यतः ॥ अन्यथाऽनियतत्वेन सर्वभावः प्रसज्यते। अन्योऽन्यात्मकतापत्तेः क्रियावैफल्यमेव च ॥"—शास्त्रा० हरि० १७१-७६। "जंतु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा। तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥ गो० कर्म० गा० ८८२।

"नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत् ।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः ॥१॥
यद्यदैव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा ।
नियतं जायते न्यायात् क एनां बाधितुं क्षमः ॥२॥"

[शास्त्रवा० श्लो० १७३, १७४]

§ २४. पञ्चमो विकल्पः स्वभाववादिनाम्[1] । स्वभाववादिनो ह्येवमाहुः–इह वस्तुनः स्वत एव परिणतिः स्वभावः सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते । तथाहि–मृदः कुम्भो भवति न पटादिः, तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न घटादिः । एतच्च प्रतिनियतं भवनं न तथास्वभावतामन्तरेण घटामटत्कुमाटीकते । तस्मात्सकलमिदं स्वभावकृतमवसेयम् । तथा चाहुः—

"चूंकि संसारके सभी पदार्थ अपने-अपने नियत स्वरूपसे उत्पन्न होते हैं अतः यह ज्ञान हो जाता है कि ये सब नियतिसे उत्पन्न हुए हैं। यह समस्त चराचर जगत् नियतितत्त्वसे गुँथा हुआ है उससे तादात्म्यको प्राप्त होकर नियतिमय हो रहा है ॥१॥

"जिसे जिस समय जिससे जिस रूपमें होना है वह उससे उसी समय उसी रूपमें उत्पन्न होता है। इस तरह अबाधित प्रमाणसे प्रसिद्ध इस नियतिके स्वरूपको कौन बाधा दे सकता है ? वह सर्वतः निर्बाध है" ॥२॥

§ २४. पाँचवाँ विकल्प स्वभाववादियोंकी अपेक्षासे है। स्वभाववादियोंका कथन है कि वस्तुओंका स्वतः ही परिणति करनेका स्वभाव है। सभी पदार्थ अपने परिणमनस्वभावके कारण ही उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ–मिट्टीसे घड़ा ही बनता है कपड़ा नहीं, सूतसे भी कपड़ा ही उत्पन्न होता है घड़ा नहीं। यह प्रतिनियत कार्यकारणभाव स्वभावके बिना नहीं बन सकता। इसलिए यह समस्त जगत् अपने स्वभावसे ही निष्पन्न है। कहा भी है—

१. "केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च । स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः ॥ यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव । संयुज्यते यज्जरयाऽतिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः ॥ यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्ध्नां निर्वर्तते गर्भगतस्य भावः । यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति सज्ञाः ॥ कः कण्टकानां·····"—बुद्धच० ९।५८-६१ । "अपरे स्वभावमाहुः—स्वभावः कारणमिति । तथाहि–येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन स नो वृत्तिं विधास्यति ॥" सांख्य० माठर० पृ० ७५ । "सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते । स्वभाववादिभिस्तैर्हि नाहुः स्वमपि कारणम् ॥ राजीवकेसरादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि । मयूरचन्द्रकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः ॥ यथैव कण्टकादीनां तैक्ष्ण्यादिकमहेतुकम् । कादाचित्कतया तद्वद् दुःखादीमामहेतुता ॥"—तत्त्वसं० का० ११०-११२ । बोधिचर्या० पं० पृ० ५५१ । "न स्वभावातिरेकेण गर्भबालशुभादिकम् यत्किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ॥ सर्वभावाः स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा । वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते कामचारपराङ्मुखाः ॥ न विनेह स्वभावेन मुद्गपक्तिरपीष्यते। तथा कालादिभावेऽपि नान्यथाभावस्य सा यतः ॥ अतत्स्वभावात्तद्भावेऽतिप्रसङ्गोऽनिवारितः । तुल्ये तत्र मृदः कुम्भो न पटादीत्ययुक्तिमत् ॥ शास्त्रवा० श्लो० १६९-१७२ । "अपरे पुनः स्वभावादेव संसारस्यवस्थामभ्युपयन्ति । कः पुनरयं स्वभावः ? स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः । उक्तं च–कः कण्टकानां प्रकरोति·····॥ स्वभावतः प्रवृत्तानां निवृत्तानां स्वभावतः । नाहं कर्तेति भूतानां यः पश्यति स पश्यति ॥ केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां कोऽलंकरोति रुचिराञ्जकुहान् मयूरान् । कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति को वा दधाति विनयं कुलजेषु पुंस्सु ॥"—आचा० शी० १।१।१।४ । सन्मति० टी० पृ० ७११ । नन्दि० मलय० पृ० २१४ A "को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं । विविहत्तं तु सहावो इदि सव्वं पि य सहावोत्ति ॥"—गो० कर्म० गा० ८८३ ।

"कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न 'कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥१॥"
[बुद्धच० ९।६२]

"बदर्याः कण्टकस्तीक्ष्ण ऋजुरेकश्च कुञ्चितः ।
फलं च वर्तुलं तस्या वद केन विनिर्मितम् ॥२॥"
[लोकतत्त्व० २।२२] इत्यादि ।

§ २५. **अपि च, आस्तामन्यत्कार्यजातमिह मुद्गपक्तिरपि न स्वभावमन्तरेण भवितुमर्हति । तथाहि-स्थालीन्धनकालादिसामग्रीसंभवेऽपि न [2]कंकटुकमुद्गानां पंक्तिरुपलभ्यते, तस्माद्यद्भावे भवति तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्कृतमिति स्वभावकृता मुद्गपक्तिरप्येष्टव्या । ततः सकलमेवेदं वस्तुजातं स्वभावहेतुकमवसेयमिति ।**

§ २६. **तदेवं[3] स्वतः इति पदेन लब्धाः पञ्च विकल्पाः । एवं च परतः[4] इत्यनेनापि पञ्च**

"यह सारा संसार स्वभावसे ही अपनी सारी प्रवृत्ति कर रहा है, इसमें किसीकी इच्छा या प्रयत्नका कोई हस्तक्षेप नहीं है । बताओ—काँटोंमें तीक्ष्णता-नुकीलापन किसने पैदा किया, किसने उन काँटोंको घिसकर पैना किया होगा ? हरिण तथा पक्षियोंके विचित्र स्वभाव किसने किये । पक्षियोंके अनेक रंगके पर उनकी मधुर कूजन, हिरणकी सुन्दर आँखें, उसका छलाँगें भरकर कूदना-फाँदना ये सब स्वभावसे ही हैं ॥१॥

विचार करके बताइए कि—बेरके अत्यन्त नुकीले कुछ सीधे और कुछ तिरछे काँटे किसने पैदा किये ? फिर उसका अत्यन्त स्वादु और गोल फल किसने बनाया ? तात्पर्य यह—सब स्वभावकी ही लीला है ॥२॥" इत्यादि ।

§ २५. अन्य कार्योंकी बात तो जाने दो, मूँगकी दालका पाक भी स्वभावके बिना नहीं हो सकता । बटलोई, ईंधन, समय आदि सभी सामग्री उपस्थित है, पर कुकड़ू-मूँगका पाक नहीं होता । इससे स्पष्ट मालूम होता है कि जिसमें पकनेका स्वभाव है वही पक सकता है अन्य नहीं । इस तरह स्वभावके साथ अन्वय-व्यतिरेक होनेसे समस्त कार्य स्वभावकृत ही समझना चाहिए । मूँगका पाक भी स्वभावकृत ही है ।

§ २६. इस तरह 'स्वतः' पदके काल नियति आदि पाँच विकल्प होते हैं । आत्मा 'परतः' पदके भी इसी तरह पाँच विकल्प होते हैं । आत्मा परतः—परसे व्यावृत्त है, अर्थात् आत्मा स्वरूपसे

---

१. "कामकारोऽस्ति' बुद्धच० । उद्धृतोऽयम्—लोकत० २।२१। आचा० शी० १।१।१।४ । सन्मति० टी० पृ० ७१२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ८३ A । २. कंकटुक-क०, म० २ । ३. "तत्र एवं स्वत इति पदेन लब्धाः पञ्च विकल्पाः । एवं परत इत्यनेनापि पञ्च लभ्यन्ते । परत इति–परेभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विद्यते खल्वयमात्मेत्यर्थः । एवं नित्यत्वापरित्यागेन दश विकल्पा लब्धाः एवमनित्यपदेनापि दश, सर्वे मिलिता विंशतिः । एते च जीवपदार्थेन लब्धाः । एवमजीवादिष्वष्टसु पदार्थेषु प्रत्येकं विंशतिविंशतिविकल्पा लभ्यन्ते, ततो विंशतिर्नवगुणिताः शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनां भवति ।"—नन्दि० मलय० पृ० २१४।१ । ४. "तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ? नन्वेतत् प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदः यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति । एवमेव च अनात्मनः स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि आत्मबुद्धिः प्रवर्तते इति, ततो यदात्मनः स्वरूपं तत् परत एवावधार्यते न स्वत इति ।"—आचा० शी० १।१।१।४ ।

लम्यन्ते । परत इति परेभ्यो व्यावृत्तेन रूपेणात्मा विद्यते । यतः प्रसिद्धमेतत्-सर्वपदार्थानां पर-पदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो यथा दीर्घत्वाद्यपेक्षया ह्रस्वत्वादिपरिच्छेदः, एवमात्मनि स्तम्भादीन्समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्तबुद्धिः[1] प्रवर्तते । अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्यते न स्वत इति । एवं नित्यत्वापरित्यागेन दश विकल्पा लब्धाः । एवमनित्यपदेनापि, सर्वेऽपि मिलिता विंशतिः । एते च जीवपदार्थेन लब्धाः । एवमजीवादिष्वष्टसु पदार्थेषु प्रत्येकं विंशतिविंशतिर्विकल्पा लभ्यन्ते । ततो विंशतिर्नवगुणिता शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनां भवति ।

§ २७. तथा न कस्यचित्प्रतिक्षणभवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः[2] आत्मास्तिनास्तित्ववादिन इत्यर्थः । ते च [3]कोक्कुल-काण्ठेविद्धिरोमकसुगतप्रभृतयः । तथा चाहुरेके—

"[4]क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया ।
भूतिर्यें(यें)षां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते ॥१॥"

है पररूपसे नहीं । यह तो प्रसिद्ध ही है कि सभी पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय परपदार्थकी व्यावृत्ति करके ही होता है । जैसे दीर्घत्वादि—लम्बाई आदिकी अपेक्षासे ह्रस्वत्वादि—छुटाई आदिका स्वरूप निश्चित होता है । उसी तरह सभी पदार्थोंके स्वरूपका निर्णय पररूपके निश्चयकी अपेक्षा रखता है । इसी तरह स्तम्भादि जड़ पदार्थोंकी समीक्षा करनेके अनन्तर ही आत्मामें स्तम्भादिसे भेद-बुद्धि होती है । अतः आत्माके स्वरूपका निश्चय परपदार्थके निरूपण करनेके बाद उससे व्यावृत्त बुद्धि होनेपर ही होता है । परपदार्थसे बिलकुल निरपेक्ष होकर किसी भी वस्तुका मात्र स्वतः ही निर्णय करना असम्भव है । इस तरह नित्य पदके 'स्वतः और परतः' इन दो भंगोंको काल आदि पाँचोंके साथ गुणा करनेपर दस विकल्प होते हैं । इसी तरह 'अनित्य' पदके भी दस भेद समझ लेने चाहिए । जिस प्रकार ये बीस विकल्प जीव पदार्थके होते हैं उसी तरह अजीव आदि अन्य आठ पदार्थोंके भी बीस-बीस ही विकल्प होते हैं । इस प्रकार बीस विकल्पोंको नव पदार्थोंसे गुणा करनेपर क्रियावादियोंके १८० भेद हो जाते हैं ।

§ २७. अक्रियावादी क्रिया अर्थात् अस्तित्वका सर्वथा उच्छेद करते हैं । उनका कहना है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं । किसी भी क्षणिक पदार्थकी दूसरे क्षणतक सत्ता नहीं रहती अतः उसमें क्रियाकी सम्भावना ही नहीं है । और इसीलिए आत्मा आदि नित्य पदार्थोंका अस्तित्व नहीं है । कोक्कुल काण्ठेवि द्विरोमक सुगत आदि प्रमुख अक्रियावादी हैं । इन्हींमें-से किसीने कहा भी है कि—

"सभी संस्कार क्षणिक हैं । अस्थिर पदार्थोंमें क्रिया कैसे हो सकती है ? अतः इन पदार्थों-

---

१. –रिक्ते बुद्धिः प० १, २, भ० १, २ । २. "तथा नास्त्येव जीवादिक पदार्थ इत्येवं वादिनः अक्रियावादिनः ।"—सूत्र० शी० १।१२ । आचा० शी० १।१।१।४ । "अक्रियां क्रियाया अभावम्, न हि कस्यचिदप्यनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति तद्भावे च अनवस्थितेरभावादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः । तथा चाहुरेके–'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा·····' इत्यादि । अन्ये त्वाहुः–अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किं क्रियया, चित्तशुद्धिरेव कार्या, ते च बौद्धा इति । अन्ये तु व्याख्यान्ति–अक्रियां जीवादि-पदार्थो नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते अक्रियावादिनः ।" —भग० अभ० ३०।१ । "—अक्रिया-वादिनो नास्तिका इत्यर्थः"—स्था० अभ० ४।४।३४५ । नन्दि० मलय० पृ० २१५A । ३. "मरीचि-कुमारकपिलोलूकगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाद्धलिमाठरमौद्गलायनादीनामक्रियावादद्दष्टीनां चतुरशीतिः ।"—राजवा० पृ० ५१ । ४. उद्धृतोऽयम्—"क्षणिकाः·····भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥" —बोधिचर्या० पं० पृ० १०६ । "तदेदमुक्तं भगवता–क्षणिकाः ···भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव·····" —तत्त्वसं० पं० पृ० ११ । "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव····"—नन्दि० मलय० पृ० २१५A भग० अभ० ३०।१ ।

§ २८. एतेषां चतुरशीतिर्भवति । सा चामुनोपायेन द्रष्टव्या–[1]पुण्यापुण्यवर्जितशेषजीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्यसप्तपदार्थसप्तकन्यासः, तस्य चाधः प्रत्येकं स्वपरविकल्पोपादानम्, असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तः, कालादीनां पञ्चानामधस्तात्षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते । इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिनस्ततः प्राग्यदृच्छा नोपन्यस्ता । तत एवं विकल्पाभिलापः–'नास्ति जीवः स्वतः कालतः' इत्येको विकल्पः । अयं भावः–इह पदार्थानां लक्षणतः सत्ता निश्चीयते कार्यतो वा । न चात्मनस्तादृगस्ति लक्षणं येन तत्सत्तां प्रतिपद्येमहि । नापि कार्यमणूनामिव महीध्रादि संभवति, अतो

की भूति अर्थात् उत्पत्ति या एक क्षण स्थायिनी सत्ता ही क्रिया है और इसी भूतिको ही कारण या कारक कहते हैं ।"

§ २८. इनके चौरासी भेद इस प्रकार होते हैं—पुण्य और पापको छोड़कर जीवादि सात पदार्थोंको स्व और पर इन दोसे तथा काल ईश्वर आत्मा नियति स्वभाव और यदृच्छा इन छहसे गुणा करनेपर चौरासी भेद हो जाते हैं । अक्रियावादी आत्मा आदि नित्य पदार्थोंका असत्त्व मानते हैं अतः इनमें नित्य और अनित्य ये दो विकल्प नहीं होते हैं । जितने यदृच्छावादी हैं वे सब अक्रियावादी हैं अतः क्रियावादियोंकी भेद गणनामें यदृच्छा विकल्पको नहीं गिनाया है । अक्रियावादियोंका प्रथम विकल्प 'नास्ति जीवः स्वतः कालतः' अर्थात् जीव स्वतः नहीं है कालकी दृष्टिसे' इस प्रकारका होता है । इसका तात्पर्य यह है कि—पदार्थोंकी सत्ताका निश्चय या तो लक्षण अर्थात् असाधारण स्वरूपसे होता है या फिर उसका कार्य देखकर । परन्तु आत्माका कोई भी ऐसा असाधारण लक्षण नहीं है जिससे उसकी सत्ता साधी जा सके । जगत्में पर्वत आदि स्थूल कार्योंको देखकर उनके उत्पादक सूक्ष्म परमाणुरूप जगत्में कारणोंका अनुमान किया जाता है; पर

---

१. "तेषामपि जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्याः सप्तपदार्थाः स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीति विकल्पा भवन्ति । तद्यथा–'नास्ति जीवः स्वतः कालतः, नास्ति जीवः परतः कालतः' इति कालेन द्वौ लब्धौ । एवं यदृच्छानियत्यादिष्वपि द्वौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं भवतः, सर्वेऽपि जीवपदार्थे द्वादश भवन्ति, एवमजीवादिषु प्रत्येकं द्वादश एते सप्तद्वादशकाः चतुरशीतिरिति ।"—आचा० शी० १।१।१।४ । सूत्र० शी० १।१२ । नन्दि० मलय० पृ० २१५A । स्या० अम० ४।१।६५ । "णत्थि सदो परदो वि य सत्त पयत्था य पुण्णपाऊणा । कालादियादिभंगा सत्तरि चदुपंति संजादा ॥ णत्थि य सत्तपदत्था णियदीदो कालदो तिपंतिभवा । चोद्दस इदि णत्थित्ते अकिरियाणं च चुलसीदी ॥"—गो० कर्म० गा० ७८४-८५ । २. "अयमत्रार्थः—नास्ति जीवः स्वतः कालत इति । इह पदार्थानां लक्षणेन सत्ता निश्चीयते कार्यतो वा । न चात्मनस्तादृगस्ति किंचिल्लक्षणं येन सत्तां प्रतिपद्येमहि । नापि कार्यमणूनामिव महीध्रादिसंभवति । यच्च लक्षणकार्याभ्यां नाभिगम्यते वस्तु तन्नास्त्येव वियदिन्दीवरवत्, तस्माद्नास्त्यात्मेति । द्वितीयविकल्पोऽपि-यच्च स्वतो नात्मानं बिभर्ति गगनारविन्दादिकं तत् परतोऽपि नास्त्येव । अथवा सर्वपदार्थानामेव परभागादर्शनात् सर्वविभागसूक्ष्मत्वाच्चोभयानुपलब्धेः सर्वानुपलब्धिबलो नास्तित्वमध्यवसीयते । उक्तं च–'यावद् दृश्यं परस्तावद्भागः स च न दृश्यते ।' इत्यादि । तथा यदृच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मनः । का पुनर्यदृच्छा ? अनभिसंधिपूर्विका अर्थप्राप्तिर्यदृच्छा । 'अतर्कितोपस्थितमेव ·····वृथाभिमानः ॥ सत्यं पिशाचाः स्म वने वसामो भेरिं करात्रैरपि न स्पृशामः । यदृच्छया सिद्धयति लोकयात्रा भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति ॥ यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकम्, न काकस्य बुद्धिरस्ति मयि तालं पतिष्यति नापि तालस्याभिप्रायः काकोपरि पतिष्यामि, अथ च तत्तथैव भवति । एवमन्यदपि अतर्कितोपनतमजाकृपाणीयमाकुरभेषजीयमन्धकवर्तकीयमित्यादि द्रष्टव्यम् । एवं जातिजरामरणादिकं लोके यादृच्छिकं काकतालीयादिकल्पमवसेयमिति ।"—अ०चा० शी० १।१।१।४ ।

नास्त्यात्मेति । एवमीश्वरादिवादिभिरपि यदृच्छापर्यन्तैर्विकल्पा वाच्याः । 'सर्वेऽपि मिलिताः षड्विकल्पाः । अमीषां च विकल्पानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः ।

§ २९. नवरं यदृच्छात इति यदृच्छावादिनां मते यदृच्छा ह्यनभिसंधिपूर्विकार्थप्राप्तिः । अथ के ते यदृच्छावादिनः ? उच्यते–इह[2] ये भावानां संतानापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावमिच्छन्ति किंतु यदृच्छया ते यदृच्छावादिनः । ते ह्येवमाहुः–न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात् । तथाहि–शालूकादपि जायते शालूको गोमयादपि जायते शालूकः । वह्नेरपि जायते वह्निररणिकाष्ठादपि । धूमादपि जायते धूमोऽग्नीन्धनसम्पर्कादपि । कन्दादपि जायते [3]कदली बीजादपि । वटादयो बीजादुपजायन्ते शाखैकदेशादपि । गोधूमबीजादपि जायन्ते गोधूमा वंशबीजादपि । ततो न प्रतिनियतः क्वचिदपि कार्यकारणभाव इति । यदृच्छातः क्वचित्किंचिद्भवतीति प्रतिपत्तव्यम् । न खल्वन्यथा वस्तुस्वभावं पश्यन्तोऽन्यथात्मानं प्रेक्षावन्तः परिक्लेशयन्ति । यदुक्तम्—

आत्माका कोई भी स्थूल कार्य हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे उसका अनुमान किया जाय । इस तरह प्रत्यक्ष और अनुमानका विषय न होनेके कारण आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता अतः आत्मा नहीं है । इसी तरह ईश्वर आदि यदृच्छा पर्यन्त विकल्पोंकी अपेक्षासे 'नास्ति'की मीमांसा कर लेनी चाहिए । इस काल आदि छहों विकल्पोंमें कालादि पाँचका अर्थ तो पहलेकी तरह ही समझना चाहिए ।

§ २९. 'यदृच्छा' विकल्पका अर्थ इस प्रकार है—यदृच्छावादियोंके मतानुसार यदृच्छाका अर्थ है–बिना संकल्पके ही अर्थकी प्राप्ति होना, या जिसका विचार ही नहीं किया उसकी अतर्कित उपस्थिति होना । यदृच्छावादी पदार्थोंमें सन्तानकी अपेक्षासे निश्चित कार्यकारणभाव नहीं मानते । उनका कहना है कि पदार्थोंमें कोई नियत कार्यकारणभाव नहीं है किन्तु यदृच्छासे अर्थात् जो कोई भी पदार्थ जिस किसीसे भी उत्पन्न हो जाता है । वे कहते हैं कि पदार्थोंके प्रतिनियत कार्यकारणभावका किसी भी प्रमाणसे ग्रहण नहीं होता, अतः प्रतिनियत कार्यकारणभाव काल्पनिक ही है प्रामाणिक नहीं है । देखो, कमलकन्दसे भी कमलकन्द उत्पन्न होता है और गोबरसे भी कमलकन्दकी उत्पत्ति देखी जाती है । एक जगह अग्निकी उत्पत्ति अग्निसे देखते हैं तो दूसरी जगह अरणिके मन्थनसे भी अग्निकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है । एक जगह अग्नि और ईंधनके सम्पर्कसे यदि धूमका उत्पाद होता है तो दूसरी जगह धूमसे भी धूमकी पैदाइश दृष्टिगोचर होती है । केला कन्दसे भी उत्पन्न होता है और बीजसे भी । बट आदि वृक्ष बीजसे भी उत्पन्न होते हैं और डाली काटकर उसकी कलम लगानेपर भी उनकी उत्पत्ति देखी जाती है । एक जगह गेहूँके बीजसे गेहूँका अंकुर निकलता है तो दूसरी जगह बाँसके बीजसे भी गेहूँका अंकुर लहलहाता हुआ निकल आता है । इस तरह ध्यानसे देखा जाये तो पदार्थोंमें कहीं भी निश्चित कार्यकारणभाव नहीं है । यदृच्छासे जो कोई जिस किसी भी पदार्थसे उत्पन्न हो जाता है । जब वस्तुओंका स्वरूप ही यादृच्छिक-अनियत है तब उसको प्रतिनियत कार्यकारणभावके शिकंजेमें क्यों कसा जाये ? कोई भी बुद्धिमान् क्यों इस अप्रामाणिक कार्यके सिद्ध करनेमें अपनी बुद्धिको क्लेश देगा ? कहा भी है—

---

१. सर्वे मिलिताः प० १, २, भ० १, २ । २. नन्दि० मलय० पृ० २५५A । ३. कन्दली—क०, प० १, २; भ० १, २ ।

"अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् ।
काकस्य तालेन यथाभिघातो न बुद्धिपूर्वोऽस्ति वृथाभिमानः ॥१॥"
[आचा० २।१।१।१४] इत्यादि ।

§ ३०. 'वृष्टमेव सर्वं जातिजरामरणादिकं लोके [१]काकतालीयाभमिति । तथा च स्वतः षड्विकल्पा लब्धास्तया नास्ति परतः कालत इत्येवमपि षड्विकल्पा लभ्यन्ते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश विकल्पा जीवपदेन लब्धाः । एवमजीवादिष्वपि षट्सु पदार्थेषु प्रत्येकं द्वादशद्वादश विकल्पा लभ्यन्ते । ततो द्वादशभिः सप्त गुणिताश्चतुरशीतिर्भवन्त्यक्रियावादिनां विकल्पाः ।

§ ३१. तथा कुत्सितं[३] ज्ञानमज्ञानं तद्येषामस्तीत्यज्ञानिकाः । "[४]अतोऽनेकस्वरात्" [हैम० ७।२] इति मत्वर्थीय इकप्रत्ययः । अथवाऽज्ञानेन चरन्तीत्यज्ञानिकाः, असंचिन्त्यकृतकर्मबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः "शाकल्यसात्यमुग्रिमौदपिप्पलादबादरायणजैमिनिवसुप्रभृतयः । ते ह्येवं

"जिस प्रकार 'काकतालीय' न्यायमें तालवृक्षसे गिरते हुए तालफलसे जुड़ते हुए कौवेकी टक्कर अकस्मात् बिना विचारे ही होती है, उसी तरह इस संसारमें सभी प्राणियोंको नाना प्रकारके सुख-दुःख अतर्कितोपस्थित-बिना विचारे ही अपने आप ही हो जाते हैं। सुख-दुःखकी उत्पत्तिमें किसीका भी बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं होता। अतः इस यादृच्छिक जगत्में 'अहं करोमि—मैं करता हूँ' यह अहंकार करना व्यर्थ है। कोई किसीका कुछ भी नहीं करता, सब यों ही होता रहता है।"

§ ३०. संसारी प्राणियोंकी उत्पत्ति बुढ़ापा तथा मरण आदि सभी काकतालीय न्यायसे अचानक—पूर्वसूचनाके बिना ही होते हैं, यह तो सबके अनुभवकी ही बात है। इस तरह 'स्वतः' की अपेक्षा छह भेद हुए। 'नास्ति परतः कालतः—परतः नहीं है कालकी अपेक्षासे' इस तरह 'परतः'की अपेक्षा भी छह भंग समझना चाहिए। जिस प्रकार जीवके ये १२ भेद 'स्वतः परतः'की अपेक्षा होते हैं उसी तरह अजीवादि छहके भी बारह-बारह विकल्प समझना चाहिए। इस प्रकार सातों जीवादि पदार्थोंका बारह विकल्पोंसे गुणा करनेपर (७×१२) अक्रियावादियोंके चौरासी भेद हो जाते हैं।

§ ३१. खोटे ज्ञानको अज्ञान कहते हैं, खोटे ज्ञानवाले अज्ञानिक–अज्ञानवादी हैं। अज्ञानशब्दसे 'अतोऽनेकस्वरात्' सूत्रसे मत्वर्थीय इक् प्रत्यय करनेपर अज्ञानिक शब्द सिद्ध होता है। अथवा अज्ञानपूर्वक जिनका आचरण-व्यवहार है उन्हें अज्ञानिक कहते हैं। इनका सिद्धान्त है कि—बिना विचारे अज्ञानपूर्वक किया गया कर्मबन्ध विफल हो जाता है, वह दारुण दुःख नहीं देता। इत्यादि शाकल्य, सात्यमुग्रि, मौद, पिप्पलाद, बादरायण, जैमिनि तथा वसु आदि प्रमुख अज्ञानवादी

---

१. दृष्ट-आ० । २. –तालीयाभ्यामिति क० ।—तालीयाभावितिप० १, २ । ३. "हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्"—सर्वार्थसि० ८।१ । "तथा न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन्ति ।"—सूत्र० शी० १।१२ । स्था० अभ० ७।५।५५४ । "कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तद्येषामस्ति ते अज्ञानिकाः ते च वादिनस्तेऽज्ञानिकवादिनः । ते चाज्ञानमेव श्रेयः, असञ्चिन्त्यकृतकर्मबन्धवैफल्यात्, तथा न ज्ञानं कस्यापि क्वचिदपि वस्तुन्यस्ति प्रमाणानामसंपूर्णवस्तुविषयत्वादित्यभ्युपगमवन्तः ।"—भग० अभ० ३०।१ । अथवा अज्ञानेन चरन्तीति अज्ञानिकाः असञ्चिन्त्यकृतबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः । तथाहि ते एवमाहुः—न ज्ञानं श्रेयः····"—नन्दि० मलय० पृ० २१५B । ४. ततोऽनेक—आ०, क०, प० १, २, भ० १ । ५. "शाकल्यवाल्कलकुथुमिसात्यमुद्गिनारायणकण्ठमाध्यन्दिनमौदपैप्पलादबादरायणाम्बष्ठकृदौडुलोमायनवसुजैमिन्यादीनामज्ञानकुदृष्टीनां सप्तषष्टिः।"—राजवा० पृ० ५१ ।

ब्रूते–न ज्ञानं श्रेयः, तस्मिन् सति विरुद्धप्ररूपणायां विवादयोगतश्चित्तकालुष्यादिभावतो दीर्घतरसंसारप्रवृत्तेः। यदा पुनरज्ञानमाश्रीयते तदा नाहंकारसंभवो नापि परस्मोपरि चित्तकालुष्यभावः, ततो न बन्धसंभवः। अपि च, यः संचिन्त्य क्रियते कर्मबन्धः, स दारुणविपाकोऽत्र एवावश्यं[1] वेद्यः, तस्य तीव्राध्यवसायतो निष्पन्नत्वात्। यस्तु मनोव्यापारमन्तरेण कायवाक्कर्मप्रवृत्तिमात्रतो विधीयते, न तत्र मनसोऽभिनिवेशस्ततो नासाववश्यं[2] वेद्यो नापि तस्य दारुणो विपाकः। केवलमतिशुष्कसुधापङ्कधवलितभित्तिगतरजोमल इव स[3] कर्मसंगः स्वत एव शुभाध्यवसायपवनविलोभितोऽपयाति। मनसोऽभिनिवेशाभावश्चाज्ञानात्युपगमे सुप[illegible]। तस्मादज्ञानमेव मुमुक्षुणा मुक्तिपथप्रवृत्तेनाभ्युपगन्तव्यं न ज्ञानमिति[4]।

§ ३२. अन्यच्च, भवेदुक्तो ज्ञानस्याभ्युपगमः, यदि ज्ञानस्य निश्चयः कर्तुं [5]पार्येत। यावता स एव न पार्यते[6]। तथाहि–सर्वेऽपि दर्शनिनः परस्परं भिन्नमेव ज्ञानं प्रतिपन्नाः, ततो न निश्चयः कर्तुं शक्यते 'किमिदं [7]सम्यगुतेदम्' इति। अथ यत्सकलवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिभगवद्वर्धमानोपदेशा-

---

रहे हैं। इनका कथन है कि ज्ञान कल्याणकारी नहीं है। यह ज्ञान ही तमाम वितण्डावादोंकीसृष्टि करता है। इस ज्ञानसे ही एक वादी दूसरेके विरुद्ध तत्त्व प्ररूपण करके विवादका अखाड़ा बनाता है। वादविवादसे चित्तमें कलुषता आदि दोष होते हैं और उससे दीर्घ संसारमें भ्रमण होता है। जब इस अनर्थमूल ज्ञानको छोड़कर अज्ञानका आश्रय लेते हैं तब 'मेरा यह सिद्धान्त है, मैं तुम्हारा खण्डन करूँगा' इत्यादि ज्ञानमूलक अहंकार कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकता। और अहंकार न होनेसे दूसरेके ऊपर कलुषता न हो सकेगी। इस तरह चित्तमें कालुष्यके न होनेसे कर्मबन्धकी कभी भी सम्भावना ही नहीं है। इसी तरह, जो कार्य विचार कर जान-बूझकर किये जाते हैं उनसे दारुण फल देनेवाला कर्मबन्ध होता है, और उस कर्मबन्धका कठोर फल अवश्य ही भुगतना पड़ता है। तीव्र अध्यवसायसे अर्थात् बुद्धिपूर्वक होनेवाले कषायावेशसे जो कर्मबन्ध होता है वह अकाटय होता है, उसका फल भोगना ही पड़ता है, इस कर्मकी गति टारे नाहिं टरै। किन्तु जो कर्म मनके अभिप्रायके बिना ही केवल वचन और कायकी प्रवृत्तिमात्रसे उपार्जित किये जाते हैं, उनमें चित्तका तीव्राभिनिवेश–अत्यन्त कषायवृत्ति न होनेसे उनका फल भी अवश्य ही नहीं भुगतना पड़ता, ये फल दिये बिना भी झड़ सकते हैं और यदि इसने फल भी दिया तो इनका दारुण फल नहीं होता अज्ञानपूर्वक होनेवाला कर्मबन्ध तो जिस दीवालपर पोता गया चूना खूब सूख गया है उस शुष्क भित्तिपरआयी हुई धूलके समान है, जो थोड़ी-सी भी शुभ-अध्यवसाय रूप हवाके चलनेसे अपने ही आप झड़ जाती है।' मनमें रागद्वेषादि रूप अभिनिवेश उत्पन्न न होने देनेका सबसे सरल उपाय है ज्ञानपूर्वक व्यापारको छोड़कर अज्ञानमें ही सन्तोष करना। क्योंकि जबतक ज्ञान रहेगा तबतक वह कुछ-न-कुछ रागद्वेषादिरूप उत्पात करता रहेगा, वह कभी शान्त रहनेवाला नहीं है। अतः मोक्षके अभिलाषी मोक्ष मार्गमें लगे हुए मुमुक्षुको अज्ञान ही साधक हो सकता है, ज्ञान नहीं।

§ ३२. दूसरी बात यह है कि ज्ञान तो तब उपादेय कहा जा सकता है जब ज्ञानके स्वरूपका ठीक-ठीक निश्चय हो जाये। पर संसारमें अनेकों मत-मतान्तर हैं और जब सभी अपने तत्त्वज्ञानको सच्चा कहते हैं तब 'कौन सच्चा है?' यही जानना सबसे कठिन कार्य क्या, असम्भव ही है। सभी दर्शनवाले जब अपनी-अपनी ढाई चावलकी खिचड़ी अलग-अलग पका रहे हैं, अपने-अपने सिद्धान्तोंमें सत्यताकी दुहाई देते हैं, तब 'यह सच्चा कि यह' यही विवेक करना कठिन हो रहा है। जैन लोग जब यह कहते हैं कि—'समस्त वस्तुओंका हस्तामलकवत् साक्षात्कार करनेवाले

१.–वश्यवेद्यः क०, प० १, २, म० १, २। २. –वश्यवे–म० २। ३. सकलसंगः म० २। ४. –मिति ष –भ० २। ५. पार्येते क०। ६. पार्येत आ०। ७. उत नेदमिति म० २।

वृपजायते[1] ज्ञानं तत् सम्यग्, नेतरत्, असर्वज्ञमूलत्वादिति चेत्; सत्यमेतत्; किं तु स एव सकल-वस्तुस्तोमसाक्षात्कारी, न तु सौगतादिसंमतः सुगतादिरिति कथं प्रतीयते, तद्ग्राहकप्रमाणाभावा-दिति तदवस्थः संशयः। ननु यस्य विबुधाः समागत्य देवाः पूजादिकं कृतवन्तः, स एव वर्धमानः सर्वज्ञः, न शेषाः सुगतादय इति चेत्; न; वर्धमानस्य चिरातीतत्वेनेदानीं तद्भावग्राहकप्रमाणा-भावात्। संप्रदायाबवसीयत इति चेत्। ननु सोऽपि संप्रदायो धूर्तपुरुषप्रवर्तितः, किं वा सत्यपुरुष-प्रवर्तित इति कथमवगन्तव्यम्, प्रमाणाभावात्। न चाप्रमाणकं वयं प्रतिपत्तुं क्षमाः। मा प्रापदति-प्रसङ्गः। अन्यच्च, मायाविनः स्वयमसर्वज्ञा अपि जगति स्वस्य सर्वज्ञभावं प्रख्यापयिषवस्तथा-विधेन्द्रजालवशाद्दर्शयन्ति देवानिन्द्रतः संचरतः स्वस्य पूजादिकं कुर्वतः ततो देवाऽऽगमदर्शनादपि कथं तस्य सर्वज्ञत्वनिश्चयः। तथा चाह जैन एव स्तुतिकारः समन्तभद्रः—

"देवाऽऽगम-नभोयान-चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥" [आप्तमी० १।१]

§ ३३. भवतु वा वर्धमानस्वामी सर्वज्ञः। तथापि 'तस्य सत्कोऽयमाचाराङ्गादिक उपदेशः

भगवान् वर्धमानके उपदेशसे होनेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, दूसरे मतोंका उपदेश तो असर्वज्ञोंने किया है, अतः उनके मतसे होनेवाला ज्ञान मिथ्या ज्ञान है।' तब मनमें सहज ही यह विकल्प आता है कि—'वर्धमान ही सर्वज्ञ थे, वे ही समस्त वस्तुओंका साक्षात्कार करते थे, बौद्धादि मतवालोंके देव सुगत, कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं थे' यह कैसे माना जाये ? वर्धमानकी सर्वज्ञता तथा सुगतादिकी असर्वज्ञताको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण ही जब नहीं मिलता तब यह सन्देह और भी पुष्ट हो जाता है कि—'कौन सर्वज्ञ थे–वर्धमान या सुगतादि ?'। 'स्वर्गसे देवता आकर वर्धमानकी पूजा करते थे उनके प्रातिहार्य थे इसलिए वर्धमान ही सर्वज्ञ थे, सुगतादि नहीं' यह तर्क तो बिलकुल लँगड़ा है; क्योंकि वर्धमानका निर्वाण हुए करीब २॥ हजार वर्ष बीत चुके हैं, 'उस समय देव आये थे या नहीं यही सन्दिग्ध है। देवोंकी बात जाने दीजिए 'वर्धमान हुए भी थे' इसीको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण आज नहीं मिलता।' 'यदि भगवान् वर्धमान न होते तो आजकल जो जैन सम्प्रदाय चल रहा है उसे किसने चलाया ? अतः इसी सम्प्रदाय प्रवर्तनके कारण उनका अस्तित्व और उनकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है' यह कहना भी असंगत है; क्योंकि–'यह सम्प्रदाय स्वयं वर्धमानने चलाया है या किसी धूर्तने ?' इसीका निश्चय करना, साधक प्रमाणका अभाव होनेसे कठिन है। बिना प्रमाणके तो हम एक भी बात स्वीकार नहीं कर सकते। इस तरह इस चर्चामें अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। संसारमें मायावी लोग स्वयं असर्वज्ञ रह-कर भी जगत्में अपनी सर्वज्ञताका ढिंढोरा पीटनेके लिए नाना प्रकारसे इन्द्रजाल करके देवोंका आकाशसे आना-जाना, उनके द्वारा अपनी पूजा कराना आदि चमत्कार दिखाते हैं। इसलिए देवोंके आनेसे या उनके द्वारा पूजित होने मात्रसे सर्वज्ञताका निश्चय कैसे किया जा सकता है ? तुम्हारे जैनमतके ही स्तुतिकार आचार्य समन्तभद्रने स्वयं ही कहा है कि "देवोंका आगमन, आकाशमें विहार करना तथा चँवर छत्र आदि विभूतियाँ मायावियोंमें भी देखी जाती हैं। इसलिए हे वीर ! तुम हम-जैसे परीक्षकोंपर अपनी महत्ता, इन देवागम-जैसी साधारण वस्तुओंसे नहीं जमा सकते। अर्थात् इन मायावी साधारण देवागम आदिसे तुम हमारे महान् पूज्य नहीं हो सकते ॥१॥"

§ ३३. अथवा, 'वर्धमान स्वामीको सर्वज्ञ मान भी लिया जाये तब भी यह जो आचारांग

---

१. –ते तत्त– म० २। २. –णकं प्रतिपत्तुं क्षमा वयं मा म० २।

न पुनः केनापि धूर्तेन स्वयं विरचय्य प्रवर्तितः' इति कथमवसेयम्, अतीन्द्रिये विषये प्रमाणाभावात् । भवतु वा तस्यैवायमुपदेशस्तथापि तस्यायमर्थो नान्य इति न शक्यं प्रत्येतुम् । नानार्था हि शब्दा लोके प्रवर्तन्ते, तथादर्शनात् । ततोऽन्यथाप्यर्थ[1]संभावनायां कथं विवक्षि[2]तार्थनियमनिश्चयः । छद्मस्थेन हि परचेतोवृत्तेरप्रत्यक्षत्वात् कथमिदं ज्ञायते–'एष सर्वज्ञस्याभिप्रायोऽनेन [3]नाभिप्रायेणायं शब्दः प्रयुक्तो नाभिप्रायान्तरेण' इति । तदेवं दीर्घतरसंसारकारणत्वात् सम्यग्निश्चयाभावाच्च न ज्ञानं श्रेयः, किं त्वज्ञानमेवेति स्थितम् ।

§ ३४. ते चाज्ञानिकाः सप्तषष्टिसंख्या अमुनोपायेन[4] प्रतिपत्तव्याः । इह जीवाजीवादीन् दार्थान् कस्मिंश्चित् पट्टकादौ व्यवस्थाप्य दशमं स्थानमुत्पत्तिः स्थाप्यते । तेषां च जीवादीनां नवानां प्रत्येकमधः

आदिमें महावीरके नामसे प्रचलित उपदेश निबद्ध हैं वे उपदेश महावीरने ही दिये थे या किसी धूर्तने स्वयं बनाकर उनके नामसे प्रचलित किये हैं ?' इसका निश्चय किस प्रकार किया जाये ? जो बात आँखोंके सामने नहीं है अतीन्द्रिय है उसको सिद्ध करनेवाला तो कोई प्रमाण ही नहीं मिलता । अथवा यह भी मान लिया जाये कि—भगवान् महावीरने ही इन आचारांग आदिका उपदेश किया था, फिर भी 'इन शब्दोंका यही अर्थ है दूसरा नहीं' इसका निश्चय कौन कैसे करेगा ? जगत्में एक ही शब्दके अनेक अर्थ देखे जाते हैं । इसलिए जो अर्थ आपको विवक्षित है उससे विपरीत अर्थ यदि उन्हीं शब्दोंका निकलता है तब अर्थका नियम कैसे होगा ? 'भगवान् वर्धमानके चित्तमें इन शब्दोंका यही अर्थ था' यह तो अल्पज्ञानी हमलोग जान ही नहीं सकते । अतः 'सर्वज्ञका यह अभिप्राय है, इसी अभिप्रायसे उनने इन शब्दोंका प्रयोग किया है, दूसरे अभिप्रायसे नहीं' यह जानना नितान्त असम्भव है। सारांश यह है कि यह ज्ञान ही अनेक झगड़ोंकी जड़ है । इसीसे (अहंकारपूर्वक राग-द्वेष होकर) अनन्त संसारकी वृद्धि होती है । और इसका सम्यग् निश्चय करना भी अत्यन्त कठिन है । इस अनर्थमूल ज्ञानसे कभी कल्याण नहीं हो सकता, अतः 'अज्ञान ही श्रेयःसाधक है' यही अन्तिम निष्कर्ष निकलता है ।

§ ३४. इन अज्ञानवादियोंके ६७ प्रकार इस तरह समझना चाहिए—किसी पट्टी आदिपर जीवादि नव पदार्थोंको एक पंक्तिमें लिखकर अन्तमें दशवें स्थानपर 'उत्पत्ति' नामका पद

---

१. –र्थभाव–भ० २ । २. –तार्थे निश्चयः क० । ३. वाभि–भ० २ । ४. "ते चामी–जीवादयो नव पदार्थाः उत्पत्तिश्च दशमी, 'सत् असद् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदवक्तव्यः' इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैः विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति । भावना चेयम्–सत् जीव इति को वेत्ति । किं वा तेन ज्ञातेन । असत् जीव इति को जानाति । किं वा तेन ज्ञातेन । इत्यादि । एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः । नवसप्तकाः त्रिषष्टिः । अमी चान्ये चत्वारः त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते; तद्यथा–सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति । किं वाऽनया ज्ञातया । एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को वेत्ति । किं वानया ज्ञातयेति ? शेषविकल्पत्रयमुत्पन्नोत्तरकालं पदार्थविषयापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम् । एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात् सप्तषष्टिर्भवन्ति ।"—आचा० शी० १।१।१।५ । नन्दि० मलय० पृ० २१०A । सूत्र० शी० १।१२ । स्था० अभ० ४।४।३४५ । "को जाणइ णवभावे सत्तमसत्तं दयं अवच्चमिदि । अवयणजुदसत्ततयं इदि भंगा होंति तेसट्ठी ॥ को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्धं खु दोण्णिपंतिभवा । चत्तारि होंति एवं अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी ॥—जीवादि नवपदार्थेषु एकैकस्य अस्त्यादिसप्तभङ्गेषु एकैकेन जीवोऽस्तीति को जानाति । जीवो नास्तीति को जानाति । इत्याद्यालापे कृते त्रिषष्टिर्भवन्ति । पुनः शुद्धपदार्थं इति लिखित्वा तदुपरि अस्ति नास्ति अस्तिनास्ति अवक्तव्य इति चतुष्कं लिखित्वा एतत्पङ्क्तिद्वयसंभवाः खलु भङ्गाः शुद्धपदार्थोऽस्तीति को जानीते । इत्यादयश्चत्वारो भवन्ति । एवं मिलित्वा अज्ञानवादाः सप्तषष्टिः ।" —गो० कर्म० डी० गा० ८८६–८७ ।

सप्त सत्त्वादयो न्यस्यन्ते। तद्यथा–सत्त्वम्, असत्त्वम्, सदसत्त्वम्, अवाच्यत्वम्, सदवाच्यत्वम्, असदवाच्यत्वम्, सदसदवाच्यत्वं चेति। तत्र सत्त्वं स्वरूपेण विद्यमानत्वम्। असत्त्वं पररूपेणाविद्यमानत्वम्। सदसत्त्वं स्वरूपपररूपाभ्यां विद्यमानाविद्यमानत्वम्।[1] →तत्र यद्यपि सर्वं वस्तु स्वपररूपाभ्यां सर्वदैव स्वभावत एव सदसत्, तथापि क्वचित्किंचित्कदाचिदुद्भूतं प्रमात्रा विवक्ष्यते, तत एवं त्रयो विकल्पा भवन्ति←। तथा तदेव सत्त्वमसत्त्वं च यदा युगपदेकेन शब्देन वक्तुमिष्यते तदा तद्वाचकः शब्दः कोऽपि न विद्यत इत्यवाच्यत्वम्।[2] →एते चत्वारो विकल्पाः सकलादेशा इति सकलवस्तुविषयत्वात्←।४। यदा त्वेको भागः सन्नपरश्चावाच्यो युगपद्विवक्ष्यते तदा सदवाच्यत्वम्। यदा त्वेको भागोऽसन्नपरश्चावाच्यस्तदाऽसदवाच्यत्वम्। यदा त्वेको भागः सन्नपरश्चासन्नपरतरश्चावाच्यस्तदा सदसदवाच्य[त्व]मिति। न चैतेभ्यः[3] सप्तभ्यो विकल्पेभ्योऽन्यो विकल्पः संभवति, सर्वस्यैतेष्वेवान्तर्भावात्। ततः सप्त विकल्पा उपन्यस्ताः। सप्त च विकल्पा नवभिर्गुणिता जातास्त्रिषष्टिः। उत्पत्तेश्चत्वार एवाद्या[4] विकल्पाः। तद्यथा–सत्त्वमसत्त्वं सदसत्त्वमवाच्यत्वं चेति। शेषविकल्पत्रयं तूत्पत्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्रासंभवीति नोक्तम्। एते चत्वारो विकल्पास्त्रिषष्टिभध्ये प्रक्षिप्यन्ते ततः सप्तषष्टिर्भवन्ति[5]। ततः[6] 'को जानाति जीवः सन्' इत्येको विकल्पः, न कश्चिदपि

लिखना चाहिए। जीवादि नव पदार्थोंके नीचे सत्त्व असत्त्व आदि सात भंग स्थापित करना चाहिए। वे सात भंग इस प्रकार हैं— १ सत्त्व, २ असत्त्व, ३ सदसत्त्व, ४ अवाच्यत्व, ५ सदवाच्यत्व, ६ असदवाच्यत्व, ७ सदसदवाच्यत्व। १. सत्त्व—वस्तु अपने स्वरूपसे है। २. असत्त्व—वस्तु पररूपसे नहीं है। ३. सदसत्त्व—वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा सत् तथा पररूपकी अपेक्षा असत् होनेसे क्रमशः दोनों अपेक्षाओंसे सदसदुभय रूप है। यद्यपि वस्तु स्वभावसे हमेशा ही सदसद्–उभयधर्मवाली है फिर भी जो अंश प्रयोग करनेवालेको विवक्षित होता है तथा उद्भूत होता है उसी अंशसे वस्तुका सत् असत् या क्रमशः विवक्षित सदसत् रूपसे व्यवहार हो जाता है। ४. अवाच्यत्व—जब सत्त्व और असत्त्व दोनों ही धर्मोंको एक साथ एक ही शब्दसे कहनेकी इच्छा होती है तब युगपत् दोनों धर्मोंको प्रधानरूपसे कहनेवाले शब्दका अभाव होनेसे वस्तु अवक्तव्य है। ये चार भंग सकलवस्तुको विषय करनेके कारण सकलादेश कहलाते हैं। ५. सदवाच्यत्व—जब एक अंश सद्रूपसे तथा दूसरा अवक्तव्यरूपसे विवक्षित होता है तब वस्तु सदवाच्य होती है। ६. असदवाच्य—जब एक भाग असद्रूपसे तथा दूसरा अवाच्यरूपसे विवक्षित होता है तब वस्तु असदवाच्यरूप होती है। ७. सदसदवाच्य—जब एक भाग सत् दूसरा असत् तथा तीसरा अवाच्यरूपसे विवक्षित होता है तब वस्तु सदसदवाच्यरूप होती है। इन सातों भंगोंको जीवादि नव पदार्थोंसे गुणा करनेपर (७×९) ६३ भंग होते हैं। दसवें यह 'उत्पत्ति'के सत् असत् उभय तथा अनुभय-अवाच्य ये चार ही विकल्प होते हैं। बाकीके तीन भंग तो उत्पत्तिके बाद जब पदार्थकी सत्ता हो जाती है तब उसके अवयवोंकी अपेक्षा बनते हैं। इस तरह उत्पत्तिके चार भंगोंको उक्त ६३ भंगोंमें

१.→←एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति क०, प० १, २, म० १। २.→←एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति क०, प० १, २, म० १। ३. -भ्योऽत्र सप्तभ्यो भ० २। ४. -द्या विकल्पास्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते ततः सप्तषष्टिर्भवन्ति। तत्र को जानाति जीवः सन्निति एको विकल्पो भण्यते। कोऽर्थः, जीवो वर्तत इति न कश्चिदपि जानाति भ० २। ५. भवति प० १, २, म० १, २। ६. "तत्र सन् जीव इति को वेत्ति' इत्यस्यायमर्थः—न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति यौऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते, न च तैर्ज्ञातैः किंचित्फलमस्ति। तथाहि—यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्त्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा, ततः कृतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति तस्मादज्ञानमेव श्रेयः। अपि च, तुल्येऽप्यपराधे अकामकरणे लोके स्वल्पो दोषः, लोकोत्तरेऽपि आकुट्टिकाभोगसहसाकारादिषु क्षुल्लकभिक्षुकस्यविरोपाध्यायसूरीणां यथाक्रममुत्तरोत्तरं प्रायश्चित्तमिति।"—आचा० शी० १।१।१।४। नन्दि० मलय० पृ० ११७ बी०।

जानाति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति भावः । ज्ञातेन वा किं तेन प्रयोजनम्, ज्ञानस्याभिनिवेशहेतुतया परलोकप्रतिपन्थित्वात् । एवमसदादयोऽपि विकल्पा भावनीयाः । 'उत्पत्तिरपि किं सतोऽसतः सदसतोऽवाच्यस्य वा' इति को जानाति, ज्ञातेन वा न किञ्चिदपि प्रयोजनमिति ।

§ ३५. तथा विनयेन चरन्तीति वैनयिकाः[1], [2]वसिष्ठपराशरवाल्मीकिव्यासेलापुत्रसत्यदत्तप्रभृतयः । एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा वेदितव्याः । ते च द्वात्रिंशत्संख्या अमुनोपायेन द्रष्टव्याः[3] । सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृरूपेष्वष्टसु स्थानेषु कायेन मनसा वाचा दानेन च देशकालोपपन्नेन विनयः कार्य इति चत्वारः कायादयः स्थाप्यन्ते । चत्वारश्चाष्टभिर्गुणिता जाता द्वात्रिंशत् । एवमेतानि त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि परदर्शनानां भवन्ति ।

मिलानेपर अज्ञानवादियोंके कुल ६७ भेद हो जाते हैं ।

अज्ञानवादी कहते हैं कि—कौन जानता है कि 'जीव सत् है' ? जीवकी सत्ता सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है अतः उसकी सत्ताको कोई सिद्ध नहीं कर सकता । अथवा जीवकी सत्ताका ज्ञान भी हो जाये तो उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत ज्ञान अहंकारमें कारण होनेसे परलोकका बिगाड़नेवाला ही है । इसी तरह 'जीवो नास्ति' इत्यादि विकल्पोंमें अज्ञानवादकी प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए । इसी तरह उत्पत्ति सत्की होती है, या असत्की, अथवा उभयात्मककी, या अवाच्यकी ? यह सब कौन जान सकता है ? इसके जाननेसे कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता । इसलिए इन सबके समझनेमें माथापच्ची करना व्यर्थ ही है । इत्यादि ।

§ ३५. विनयपूर्वक जिनका आचार-व्यवहार है वे वैनयिक कहलाते हैं । वसिष्ठ, पाराशर, वाल्मीकि, व्यास, इलापुत्र, सत्यदत्त आदि प्रमुख वैनयिक हुए हैं । इनका वेष, आचार तथा शास्त्र आदि कुछ भी निश्चित नहीं हैं, हर एक शास्त्र, वेष तथा आचार इन्हें इष्ट है । विनय करना ही इनका मुख्य कर्तव्य है । इनके बत्तीस भेद इस प्रकार समझना चाहिए—देवता, राजा, साधु, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता तथा पिता इन आठोंकी मन, वचन, काय तथा देश-कालानुसार दान देकर विनय की जाती है । अतः देवता आदि आठकी मन, वचन आदि चारसे गुणा करनेपर वैनयिकोंके बत्तीस भेद सिद्ध होते हैं । इस तरह क्रियावादी अक्रियावादी आदि सभीके कुल भेद ३६३ होते हैं । ये सभी परदर्शन हैं ।

---

१. "सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्" —सर्वार्थसि० ८१ । "तथा विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिताः"—सूत्र० शी० १।१२।२७ । "तथा वैनयिका विनयादेव केवलात् स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलषन्तः मिथ्यादृष्टयः···"—सूत्र० शी० १।१२ । "विनयेन चरति स वा प्रयोजन एषामिति वैनयिकाः, ते च ते वादिनश्चेति वैनयिकवादिनः, विनय एव वा वैनयिकं तदेव ये स्वर्गादिहेतुतया वदन्त्येवंशीलाश्च ते वैनयिकवादिनः विधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणाः····"—भग० अभ० ३०।१ । स्था० अभ० ४।४।३४५ । २. "वसिष्ठपाराशरजतुकर्णिवाल्मीकिरोमहर्षिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवेन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत् । एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते ।"—राजवा० पृ० ५१ । ३. "सुरनृपयतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृष्वष्टसु मनोवाक्कायप्रदानचतुर्विधविनयकरणात् । तथथा देवानां विनयं करोति मनसा वाचा कायेन तथा देशकालोपपन्नेन दानेनेत्येवमादि । एते च विनयादेव स्वर्गापवर्गमार्गमभ्युपयन्ति । नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकलक्षणो हि विनयः, सर्वत्र चैवंविधेन विनयेन देवादिषु उपतिष्ठमानः स्वर्गापवर्गभाग् भवति ।"—आचा० शी० १।१।१।४ । सूत्र० शी० १।१२ । स्था० अभ० ४।४।३४५ । नन्दि० मलय० पृ० २१७ वी० । "मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिवइणाणिजदिवुड्ढे । बाले मादुपिदुम्मि च कायव्वो चेदि अट्ठचक्क ॥—देवनृपतिज्ञातियतिवृद्धबालमातृपितृष्वष्टसु मनोवचनकायदानविनयाश्चत्वारः कर्तव्याश्चेति द्वात्रिंशद्वैनयिकवादाः स्युः ।" —गो० कर्म० टी० गा० ८८८ ।

§ ३६. अथवा लोकस्वरूपेऽप्यनेके वादिनोऽनेकधा विप्रवदन्ते । तद्यथा- 'केचिन्नारीश्वरजं जगन्निगदन्ति । परे सोमाग्निसंभवम् । वैशेषिका द्रव्यगुणादिषड्विकल्पम् । [2]केचित्काश्यपकृतम् । परे दक्षप्रजापतीयम् । केचिद्[3] ब्रह्मादित्रयैकमूर्तिसृष्टम् । वैष्णवा [4]विष्णुमयम् । [5]पौराणिका विष्णुनाभि[6]पद्मजब्रह्मजनितमातृजम् । [7]ते एव केचिदवर्णं ब्रह्मणा वर्णादिभिः सृष्टम् । केचित्कालकृतम् । [8]परे क्षित्याद्यष्टमूर्तीश्वरकृतम् । [9]अन्ये

§ ३६. अथवा, लोकके स्वरूपमें ही अनेकों वादी अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं। कोई इस जगत्की उत्पत्ति नारीश्वर अर्थात् महेश्वरसे मानते हैं। कोई सोमाग्नि—सोम और अग्निसे संसारकी सृष्टि कहते हैं। वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इस षट्पदार्थीरूप ही जगत् मानते हैं। कोई जगत्की उत्पत्ति काश्यप—ब्रह्मासे मानते हैं। कोई जगत्को दक्षप्रजापतिकृत कहते हैं। कोई ब्रह्मादि त्रिमूर्तिसे सृष्टिकी उत्पत्ति बताते हैं। वैष्णव विष्णुकृत कहते हैं। पौराणिक कहते हैं कि—विष्णुकी नाभिके कमलसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, ब्रह्माजी अदिति आदि जगन्माताओंकी सृष्टि करते हैं, इस जगन्माताओंसे इस जगत्की सृष्टि होती है। कोई 'वर्ण व्यवस्थासे रहित इस वर्णशून्य जगत्को ब्रह्माने चतुर्वर्णमय बनाया है' यह कहते हैं। कोई संसारको कालकृत

---

१. "नानो(रो)श्वरजं केचित् केचित् सोमाग्निसंभवं लोकम्। द्रव्यादिषड्विकल्पं जगदेतत् केचिदिच्छन्ति।" —श्लोकवा० १।१। २. "इच्छन्ति काश्यपीयं केचित्सर्वं जगन्मनुष्याद्यम्। दक्षप्रजापतीयं त्रैलोक्यं केचिदिच्छन्ति॥"—श्लोकवा० १।४५। ३. "केचित्प्राहुर्मूर्त्तित्रिधा गतैका हरिः शिवो ब्रह्मा। [illegible] कर्त्री त्रिधा ब्रह्मः॥ [illegible] केचिदिच्छन्ति केचित्कालकृतं जगत्। ईश्वरप्रेरितं केचित् केचिद् ब्रह्मविनिर्मितम्॥ अव्यक्तप्रभवं सर्वं त्रिदेवमिच्छन्ति कापिलाः। विज्ञप्तिमात्रं शून्यं च इति शाक्यस्य निश्चयः॥ पुरुषप्रभवं केचित् दैवात् केचित् प्रभावतः। अक्षरात् क्षरितं केचित् केचिदण्डोद्भवं जगत्॥ यादृच्छिकमिदं सर्वं केचिद् भूतविकारजम्। केचिच्चानेकरूपं तु बहुधा संप्रधाविताः॥" श्लोकवा० १।४३-५०। ४. "जले विष्णुः स्थले विष्णुराकाशे विष्णुमालिनि। विष्णुमालाकुले लोके नास्ति किंचिदवैष्णवम्॥ सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमाश्रित्य तिष्ठति॥"— श्लोकवा० १।५१-५२। ५. "तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजङ्गमे। नष्टामरनरे चैव प्रनष्टोरगराक्षसे॥ केवलं गह्वरीभूते महाभूतविवर्जिते। अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तपः॥ तत्र तस्य शयानस्य नाभौ पद्मं विनिर्गतम्। तरुणार्कमण्डलनिभं हृद्यं काञ्चनकर्णिकम्॥ तस्मिंश्च पद्मे भगवान् दण्डकमण्डलुयज्ञोपवीतमृगचर्मवस्त्रसंयुक्तः। ब्रह्मा तत्रोत्पन्नः तेन जगन्मातरः सृष्टाः॥ अदितिः सुरसंघानां दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम्। विनता विहंगमानां माता विश्वप्रकाराणाम्॥ कद्रूः सरीसृपाणां सुलसा माता तु नागजातीनाम्। सुरभिश्चतुष्पदानाम् इला पुनः सर्वबीजानाम्॥ प्रभवस्तासां विस्तरमुपागतः केचिदेवमिच्छन्ति।" —श्लोकवा० १।५४-६०। ६. पद्मजब्रह्मजनित (मातृज) म् आ०। —पद्मजं त एव ब्रह्मज भ० २। ७. "केचिदन्यवर्णं सृष्टं वर्णादिभिस्तेन। कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥" —श्लोकवा० १।६०-६१। ८. "प्रकृतीनां यथा राजा रक्षार्थमिह चोद्यतः। तथा विश्वस्य विश्वात्मा स जागर्ति महेश्वरः॥ अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव च॥ सूक्ष्मोऽचिन्त्यो विकरणगणः सर्ववित् सर्वकर्त्ता, योगाभ्यासादमलिनधिया योगिना ध्यानगम्यः। चन्द्रार्काग्निक्षितिजलमरुद्दीक्षिताकाशमूर्तिः। ध्येयो नित्यं शमसुखरतैरीश्वरः सिद्धिकामैः॥" —श्लोकवा० १।६२-६४। ९. "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥१२॥ अस्य प्रजापतेर्ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषो मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिविशिष्टः स बाहुकृतो

[1]ब्रह्मणो मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिजन्मकम् । [2]सांख्याः प्रकृतिप्रभवम् । शाक्याः विज्ञप्तिमात्रम् । अन्य एकजीवात्मकम् । केचिदनेकजीवात्मकम् । परे पुरातनकर्मकृतम् । अन्ये स्वभावजम् । [3]केचिदक्षरजातभूतोद्भूतम् । केचि[4]दण्डप्रभवम् । आश्रमी [5]त्वहेतुकम् । पूरणो[6] नियतिजनितम् । पराशरः [7]परिणामप्रभवम् । केचिद्यादृच्छिकम् । नैकवादिनोऽ[8]नेकस्वरूपम् । तुरुष्का गोस्वामि-

---

कहते हैं तो कोई उसे पृथिवी आदि अष्टमूर्तिवाले ईश्वरके द्वारा रचा हुआ कहते हैं। कोई ब्रह्माके मुख आदिसे ब्राह्मण क्षत्रियादिकी उत्पत्ति बताते हैं। सांख्य इस सृष्टिको प्रकृतिकृत मानते हैं। बौद्ध इस जगत्को क्षणिक विज्ञानरूप कहते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी जगत्को एक जीवरूप कहते हैं तो कोई वादी इसे अनेक जीवरूप भी कहते हैं। कोई इसे पूर्वकर्मोंसे निष्पन्न कहते हैं तो कोई स्वभावसे उत्पन्न बताते हैं। कोई अक्षरसे समुत्पन्न भूतों-द्वारा इस जगत्की उत्पत्ति बताते हैं। कोई इसे अण्डसे उत्पन्न हुआ बताते हैं। आश्रमी इसे अहेतुक कहते हैं। पूरण जगत्को नियतिजन्य मानते हैं। पराशर इसे परिणामजन्य कहते हैं। कोई इसे यादृच्छिक-अनियतहेतुज मानते हैं। इस तरह अनेकों वादी इसे अनेक स्वरूप बताते हैं। तुरुष्क गोस्वामी नामके दिव्य पुरुषसे जगत्की सृष्टि

बाहुत्वेन निष्पादितो बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्मध्यावयव तद्रूपो वैश्यः संपन्नः ऊरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तथाऽस्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत । इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां समस्तकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता ।" —ऋक्० पुरुषसू० । "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ लोकानां स च वृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः । ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥" —लोकत० १।४५-६० । "एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्योऽण्डेभ्यः पार्थिव-परमाणुसन्निवेशेभ्यो महदण्डमारभ्यते । तस्मिंश्चतुर्वदनकमलं सकललोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहित-मुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते । स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्माऽतिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्यसंपन्नः प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वा कर्मानुरूपज्ञानभोगायुषः सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरुपादसञ्चतुरो वर्णान् अन्यानि चोच्चावचानि सृष्ट्वा···" —प्रश० भा० पृ० १२ । १. ब्रह्मादिभ्यो म० २ । २. "इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः । प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥" सांख्यका० ५६ । ३. "विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात् । यथा तैमिरिकस्यासत्केशपाशादिदर्शनम् ॥"—विंशति० इको० १ । ४. अक्षरात् परतः कालस्तस्माद् व्यापक इष्यते । व्यापकादिप्रकृत्यन्तां तां हि सृष्टिं प्रचक्षते ॥ अक्षरांशस्ततो वायुस्तस्मात्तेजस्ततो जलम् । जलात् प्रसूता पृथ्वी भूतानामेष संभवः ॥" —लोकत० २।२३-२४ । ५. "नारायणपराव्यक्तादण्ड-मव्यक्तसंभवम् । अण्डस्यान्तस्त्वमी भेदाः सप्त द्वीपा च मेदिनी ॥ गर्भोदकं समुद्राश्च जरायुश्चापि पर्वताः । तस्मिन्नण्डे त्वमी लोकाः सप्त सप्त प्रतिष्ठिताः ॥ तत्रेहाद्यः स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मना ध्यात्वा तदण्डमकरोद् द्विधा ॥ ताभ्यां स शकलाभ्यां तु दिवं भूमिं च निर्ममे ।" —लोकत० २।२५-२७ । ६. "हेतुरहिता भवन्ति हि भावाः प्रतिसमयभाविनश्चित्राः । भावादृते न भाव्यं संभवरहितं खपुष्पमिव ॥"—लोकत० २।२८ । ७. प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥" —लोकत० २।३२ । ८. "प्रतिसमयं परिणामः प्रत्यात्मगतश्च सर्वभावानाम् । संभवति नेच्छयापि स्वेच्छा क्रमवर्तिनी यस्मात् ॥" —लोकत० २।३० । ९. "कारणानि विभिन्नानि कार्याणि च यतः पृथक् । तस्मात्त्रिष्वपि कालेषु नैव कर्मास्ति निश्चयः ॥" —लोकत० २।३५ ।

नामक[1]दिव्यपुरुषप्रभवम्। इत्यादयोऽनेके[2] वादिनो विप्रन्ते। एषां स्वरूपं लोकतत्त्वनिर्णयात् हारिभद्रादवसातव्यम्।

§ ३७. एवं सर्वगतादिजीवस्वरूपे ज्योतिश्चक्रादि[3]चारस्वरूपे च नेके विप्रतिपद्यन्ते। तथा बौद्धा-

---

मानते हैं। इत्यादि अनेकों वादी इस संसारके विषयमें अपने मतका अनेक तरहसे निरूपण करते हैं। इनका विशेष स्वरूप हरिभद्रसूरिकृत लोकतत्त्वनिर्णय ग्रन्थमें देखना चाहिए।

§ ३७. इसी प्रकार जीवके सर्वगतत्व आदि स्वरूपके विषयमें तथा ज्योतिश्चक्रके गमनादिक-

---

१. –नामकादि– क०। २. –नेकवादि– क०, प० १, २, म० १, २। ३. –दिवर– आ०। –त्रिवार– प० १, २, म० १। ४. एतेषां निकायानां वर्णनं विनयपिटकभूमिकायामित्थम्—"चुल्लवग्गके समथक्खन्धक (पृ० ५४९) से मालूम है कि—बुद्धनिर्वाणके १०० वर्ष बाद बौद्धभिक्षु दो निकायों (सम्प्रदायों)में विभक्त हो गये। प्राचीन बातोंके दृढ़ पक्षपाती स्थविर कहलाते थे और विनयविरुद्ध कुछ नयी बातोंके प्रचार करनेवाले महासांघिक। पालीकी कथावत्थुअट्ठकथा, दीपवंस, महावंस तथा कुछ और ग्रन्थोंके अनुसार बुद्धनिर्वाणके २२० वर्षों बाद सम्राट् अशोकके समय महासांघिकों और स्थविरोंमें फिर कितने ही छोटे-मोटे मतभेद होकर १८ निकाय हो गये। कथावत्थु-अट्ठकथाके अनुसार यह शाखाभेद इस प्रकार है—

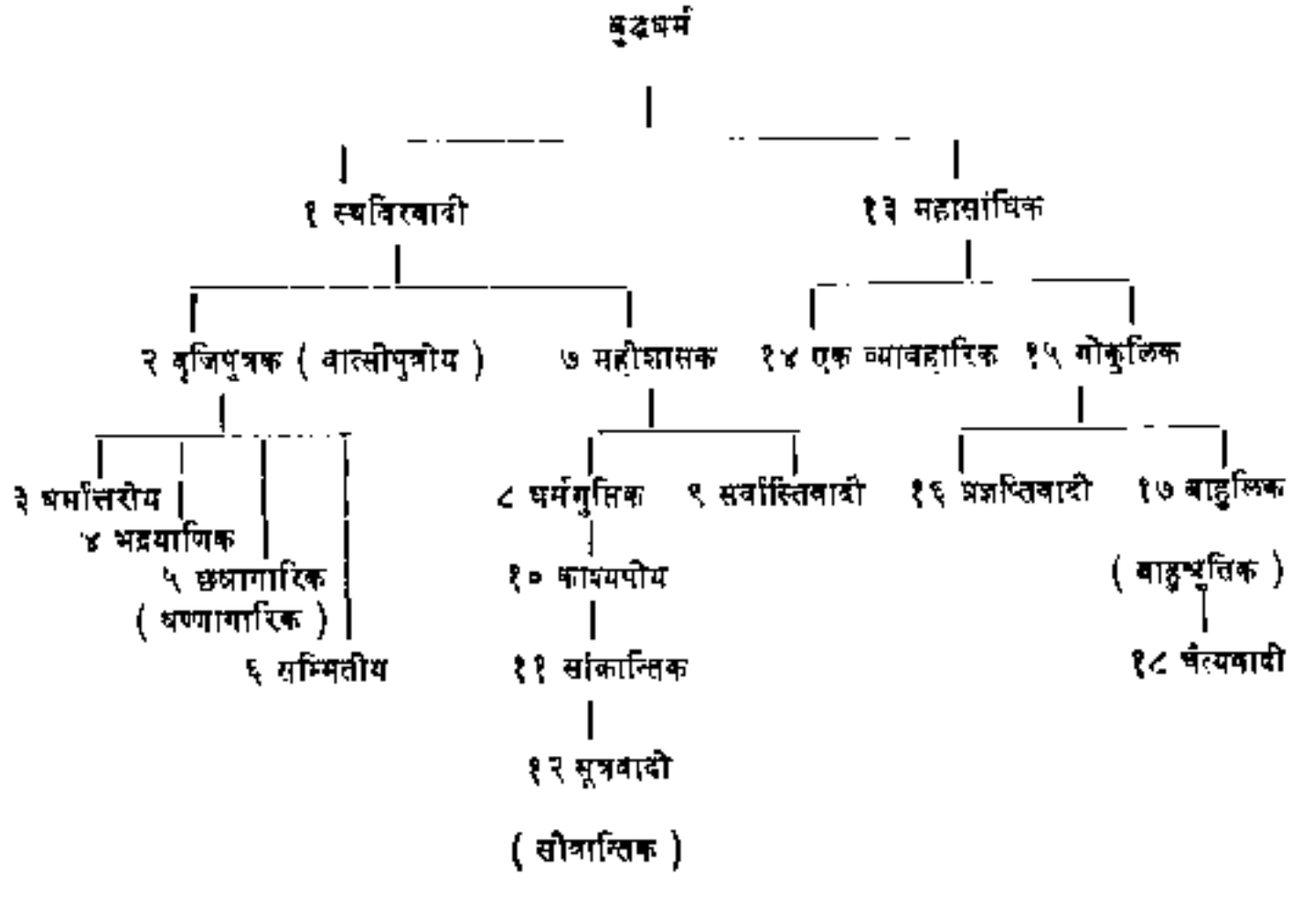

नामष्टादशनिकायभेदाः, 'वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकादिभेदा वा वर्तन्ते । जैमिनेश्च शिष्यकृता बहवो भेदाः ।

"ओंवेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः ।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किंचिदपि रेवणः[2] ॥१॥"

§ ३८. अपरेऽपि बहूदककुटीचरहंसपरमहंसभाट्टप्रभाकरादयोऽनेकेऽन्तर्भेदाः । सांख्यानां चरकादयो भेदाः । अन्येषामपि सर्वदर्शनानां देवतत्त्वप्रमाणमुक्तिप्रभृतिस्वरूपविषये तत्तदनेकशिष्यसंतानकृताः, तत्तद्ग्रन्थकारकृता वा मतभेदा बहवो विद्यन्ते ।

में अनेकों विवाद हैं । एक बौद्धदर्शनमें ही १८ प्रकारके निकाय तथा वैभाषिक सौत्रान्तिक योगाचार और माध्यमिक आदि भेद मौजूद हैं । जैमिनि दर्शनमें शिष्योंके व्याख्या भेदसे ही अनेकों भेद हो गये हैं । "ओंवेक कारिकाके अर्थको जानता है, प्रभाकर तन्त्र—सिद्धान्तके स्वरूपको समझता है, वामनको कारिका तथा तन्त्र दोनोंका ज्ञान है, पर रेवण एकको भी नहीं जानता ।" इत्यादि प्रवाद प्रसिद्ध ही है ।

§ ३८. इसी तरह और भी बहूदक, कुटीचर, हंस, परमहंस, भाट्ट, प्रभाकर आदि अनेकों अवान्तर भेद हैं । सांख्यदर्शनमें भी चरक आदि आचार्योंके अपने-अपने पृथक् सिद्धान्त हैं । प्रायः अन्य सभी दर्शनोंमें देव, तत्त्व, प्रमाण तथा मुक्ति आदिके स्वरूपमें अनेक शिष्योंके मतोंकी तथा विभिन्न ग्रन्थकारोंकी अनेक मत-परम्पराएँ विद्यमान हैं ।

चीनी भाषामें अनुवादित भदन्त वसुमित्र प्रणीत अष्टादशनिकाय ग्रन्थके अनुसार यह अठारह शाखाभेद इस प्रकार हैं—

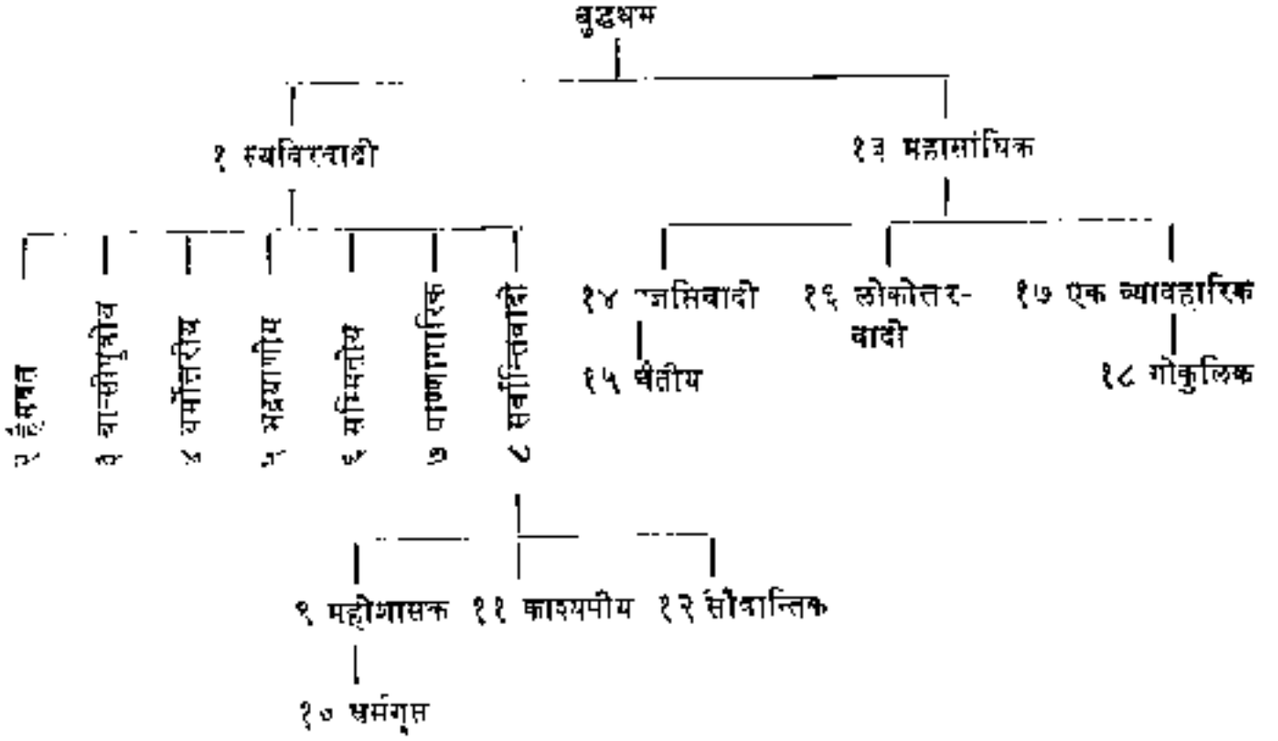

१. "ते च माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्व-बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते ।" —सर्वद० बौद्धद० । "चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥ अर्थौ ज्ञानान्वितौ वैभाषिकेण बहु मन्यते । सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष-ग्राह्यस्त्वर्थो न बहिर्मतः ॥ आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता । केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥" विवेकवि० ८।२७१-७३ । २. रेणयः भ० २ ।

§ ३९. तत्रैवमनेकानि दर्शनानि लोकेऽभिधीयन्ते। तानि च सर्वाणि देवतातत्त्वप्रमाणादिभेदेनात्राल्पीयसा प्रस्तुतग्रन्थेनापि धातुमशक्यानि, तत्कथमत्राचार्येण 'सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो निगद्यते' इत्येवं गदितुमशक्योऽर्थो वक्तुं प्रत्यज्ञायि। गगनाङ्गुलप्रमितिरिव पारावारोभयतटसिकताकणगणनमिवात्यन्तं दुःशक्योऽयमर्थः प्रारब्ध इति चेत्; सत्यमेतत्; यद्यवान्तरतद्भेदापेक्षया वक्तुमेषोऽर्थः प्रक्रान्तः स्यात्। यावता तु मूलभेदापेक्षयैव यानि सर्वाणि दर्शनानि तेषामेव वाच्योऽत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातोऽस्ति नोत्तरभेदापेक्षया, ततो न कश्चन दोषः। सर्वशब्दं च व्याचक्षाणैरस्माभिः पुराप्ययमर्थो दर्शित एव, परं विस्मरणशीलेन भवता विस्मारित इति ॥१॥ एतमेवार्थं ग्रन्थकारोऽपि साक्षादाह—

दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया।
देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥२॥

§ ४०. अत्र प्रस्तुतेऽस्मिन्शास्त्रे दर्शनानि षडेव मूलभेदव्यपेक्षया मूलभेदापेक्षया मनीषिभिर्मेधाविभिर्ज्ञातव्यानि, न पुनरवान्तरतद्भेदापेक्षयाधिकानि, परमार्थतस्तेषामेष्वेवान्तर्भावात्। षडेवेति सावधारणं पदम्। केन हेतुना मूलभेदानां षोढात्वमित्याशङ्क्याह–देवतातत्त्वभेदेन इति। देवा एव देवताः, स्वार्थेऽत्र तल्प्रत्ययः, तत्त्वानि प्रमाणैरुपपन्नाः परमार्थसन्तोऽर्थाः, द्वन्द्वे देवतातत्त्वानि, तेषां भेदेन पार्थक्येन। ततोऽयमत्रार्थः – देवतातत्त्वभेदेन यतो दर्शनानां षडेव मूलभेदा भवेयुस्ततः षडेवात्र दर्शनानि वक्ष्यन्ते, न पुनरुत्तरभेदापेक्षयाधिकानीति। एतेन प्राक्तनश्लोके सर्वशब्दग्रहणेऽपि षडेवात्र दर्शनानि वक्तुं प्रतिज्ञातानि सन्तीति ज्ञापितं द्रष्टव्यम् ॥२॥

---

§ ३९. शंका—इस तरह जब अनेकों दर्शन अपने भेद-प्रभेदोंके परिवारके साथ संसारमें प्रसिद्ध हैं। और उन सब अगणित दर्शनोंके देवता, तत्त्व तथा प्रमाणादिका वर्णन करना इस छोटे-से ग्रन्थमें कथमपि सम्भव नहीं है तब आचार्यने 'सर्वदर्शनोंका वाच्य अर्थ मेरे-द्वारा कहा जाता है' यह असम्भव प्रतिज्ञा क्यों की? इस प्रतिज्ञाका पूर्ण करना तो अंगुलोंसे आकाशको नापने तथा समुद्रके दोनों तटोंके रेतके कणोंको गिनती करनेके समान अत्यन्त कठिन ही नहीं, असम्भव ही है।

समाधान—आपकी शंका तो तब ठीक होती जब ग्रन्थकारने सब दर्शनोंके अवान्तर भेद-प्रभेदोंके कथन करनेकी प्रतिज्ञा की होती। पर ग्रन्थकारने स्वयं ही मूलभेदोंकी अपेक्षासे ही सर्वदर्शनोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उत्तर भेद-प्रभेदोंकी अपेक्षासे नहीं। इसलिए कोई दोष या अनुपपत्ति नहीं है। मूल दर्शनोंका वर्णन वे अपनी प्रतिज्ञानुसार करेंगे ही। हमने स्वयं ही सर्व शब्दका व्याख्यान करते समय यह बात अत्यन्त स्पष्ट कर ही दी थी। यह तो आपकी स्मरणशक्तिका दोष है जो उसे भुला दिया ॥१॥ ग्रन्थकार स्वयं भी इसी बातको कहते हैं—

चूँकि देवता और तत्त्वोंके भेदकी अपेक्षा मूलदर्शन छह ही हैं। अतः यही छह मूलदर्शन इस ग्रन्थमें विद्वज्जनों-द्वारा ज्ञातव्य हैं ॥२॥

§ ४०. प्रस्तुत ग्रन्थमें मूलभेदोंको दृष्टिसे छह ही दर्शन विवक्षित हैं। यद्यपि अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा दर्शनोंके अधिक भेद भी हो सकते हैं परन्तु परमार्थतः उनका इन्हीं छहों दर्शनोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। देवता तथा तत्त्वोंके वर्गीकरणकी अपेक्षासे मूलदर्शनोंकी संख्या छह ही है न तो पाँच और न सात ही। अतः विद्वज्जनोंको इस ग्रन्थमें छह ही मूलदर्शनोंका वर्णन मिलेगा, दर्शनोंके उत्तरोत्तर भेद-प्रभेदोंका नहीं। प्रथम श्लोकमें जो समस्त दर्शनोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है उसका अभिप्राय भी छह मूल दर्शनोंके कथनका ही है। यह बात इस विवरणसे सूचित हो जाती है ॥२॥

---

१. –धातुं शक्या म० २।

§ ४१. अथ षण्णां दर्शनानां नामान्याह—

बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा ।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानामसून्यहो ॥३॥

§ ४२. बुद्धाः सुगतास्ते च सप्त[1] भवन्ति—१ विपश्यी, २ शिखी, ३ विश्वभूः, ४ क्रकुच्छन्दः, ५ काञ्चनः, ६ काश्यपः, ७ शाक्यसिंहश्चेति । तेषामिदं दर्शनं बौद्धम् । [2]न्यायं न्यायतर्कमक्षपादर्षिप्रणीतं ग्रन्थं विवन्त्यधीयते वेति नैयायिकास्तेषामिदं दर्शनं नैयायिकम् । [3]संख्यां प्रकृतिप्रभृतितत्त्वपञ्चविंशतिरूपां विदन्त्यधीयते वा सांख्याः । यद्वा तालव्यादिरपि शाङ्ख्यध्वनिरस्तीति वृद्धाम्नायः । तत्र [4]शङ्खनामा कश्चिदाद्यः पुरुषविशेषस्तस्यापत्यं पौत्रादिरिति [5]गर्गादित्वात् यञ्प्रत्यये शाङ्ख्यास्तेषामिदं दर्शनं सांख्यं शाङ्ख्यं वा। जिना ऋषभावयश्चतुर्विंशतिरर्हन्तस्तेषामिदं दर्शनं जैनम्। एतेन चतुर्विंशतेरपि जिनानामेकमेव दर्शनमजनिष्ट, न पुनस्तेषां मिथो मतभेदः कोऽप्यासीदित्या-

---

§ ४१. अब उन छह मूल दर्शनोंके नाम कहते हैं—

अये शिष्यो, बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय ये छह मूल दर्शनोंके नाम हैं ॥३॥

§ ४२. बुद्ध—सुगत सात होते हैं—१ विपश्यी, २ शिखी, ३ विश्वभू, ४ क्रकुच्छन्द, ५ काञ्चन (कोणागमन), ६ काश्यप, ७ शाक्यसिंह। बुद्धोंके दर्शनको बौद्धदर्शन कहते हैं। जो न्याय–न्यायतर्क अर्थात् अक्षपाद ऋषिके द्वारा प्रणीत ग्रन्थको जानते अथवा अध्ययन करते हैं वे नैयायिक हैं। नैयायिकोंके दर्शनको नैयायिक ही कहते हैं। जो संख्या—प्रकृति आदि तत्त्वोंकी पचीस संख्याको जानते अथवा अध्ययन करते हैं वे सांख्य हैं। कहीं 'शांख्य' ऐसा तालव्य-शकारवाला पाठ भी वृद्धपरम्परासे सुना जाता है। शांख्य–शंखनामके आदि पुरुषकी सन्तान-दर-सन्तान–पुत्रपौत्रादि (गर्गादित्वात् यञ् प्रत्यय करनेपर) शांख्य कही जाती है। इनके दर्शनको शांख्य या सांख्य कहते हैं। ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीस अरहन्त-तीर्थंकरोंको जिन कहते हैं। 'जिन'के दर्शनको 'जैन' कहते हैं। इससे यह सूचित होता है कि—चौबीसों ही जिनोंका एक ही

---

१. दीघनिकायादिषु सप्त एव तथागताः स्मृताः। तथाहि—"सप्त तथागताः। तद्यथा—विपश्यी, शिखी, विश्वभूः, क्रकुच्छन्दः, कनकमुनिः, काश्यपः, शाक्यमुनिश्चेति।"—धर्मसं० पृ० २। दीघ० महापदानसुत्त, अट्ठानाटियसुत्त। "बुद्धाः स्युः सप्त ते त्वमी ॥ विपश्यी शिखी विश्वभूः क्रकुच्छन्दश्च काञ्चनः। काश्यपश्च सप्तमस्तु शाक्यसिंहोऽर्कबान्धवः ॥" अभिधान० २।१४९-५० । जातकादिषु अष्टाविंशतिर्बुद्धाः संसूचिताः, तथाहि—तण्हंकरो मेधंकरो अथोऽपि सरणंकरो । दीपंकरो च संबुद्धो कोण्डञ्ञो दिवदुत्तमो ॥ मंगलो च सुमनो च रेवतो सोभितो मुनी । अनोमदस्सी पदो नारदो पदुत्तरो ॥ सुमेधो च सुजातो च पियदस्सी महायसो । अत्थदस्सी धम्मदस्सी सिद्धत्थो लोकनायको ॥ तिस्सो फुस्सो च संबुद्धो विपस्सी सिखी विस्सभू । ककुसंधो कोणागमणो कस्सपो चापि नायको ॥ ऐते अट्ठेसुं संबुद्धा वीतरागा समाहिता । सतरंसीव उप्पन्ना महातमविनोदना ॥ जलिन्ता अग्गिखन्दाभ विज्जुता ते ससावका" आलक, निदानकथा, बुद्धवंसो पि० २० । २. "न्यायः पञ्चावयववाक्यादिः तं वेत्त्यधीते वा नैयायिकः ।' —अभिधान० ३।४२६ । ३. "पञ्चविंशतेस्तत्त्वानां संख्यानं संख्या, तदधिकृत्य कृतं शास्त्रं सांख्यं, तद्वेत्ति अधीते वा सांख्यः ।" अभिधान० ३।४२६ । "सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते ।" भारत्यपु० अ० ६ । "अस्य च सांख्यसंज्ञा सान्वया—संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते । तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥ इत्यादिभ्यः भारतादिवाक्येभ्यः । संख्या सम्यग्विवेकेन आत्मकथनमित्यर्थः ।"—सांख्यप्र० पृ० ५ । ४. संख–म० २ । ५. "गर्गादेर्यञ्" —हैम० ६।१।४२ ।

वेदितं भवति। 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा एव वैशेषिकं, विनयादिभ्य इति स्वार्थे ठक्कण्। तद्वैशेषिकं विदन्त्यधीयते वा, "तद्वेत्त्यधीते" [हैम० ६।२] इत्यणि वैशेषिकास्तेषामिदं वैशेषिकम्। जैमिनिराद्यः पुरुषविशेषस्तस्येदं मतं जैमिनीयं मीमांसकापरनामकम्। तथाशब्दश्चकारश्चात्र समुच्चयार्थौ। एवमन्यत्राप्यवसेयम्। अमूनि षडपि दर्शनानां नामानि। अहो इति शिष्यामन्त्रणे। आमन्त्रणं च शिष्याणां चित्तव्यासङ्गत्याजनेन शास्त्रश्रवणायाभिमुखीकरणार्थमत्रोपन्यस्तम् ॥३॥

§ ४३. अथ यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादादौ बौद्धमतमाचष्टे—

तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किल।
चतुर्णामार्यसत्यानां[1] दुःखादीनां प्ररूपकः ॥४॥

§ ४४. तत्रशब्दो निर्धारणार्थः, तावच्छब्दोऽवधारणे। तेषु दर्शनेष्वपराणि दर्शनानि तावत्तिष्ठन्तु, बौद्धमतमेव प्रथमं निर्धार्योच्यत इत्यर्थः। अत्र चादौ बौद्धदर्शनोपलक्षणार्थं मुग्धशिष्यानु-

---

दर्शन था और वह था जैनदर्शन। इनमें परस्पर कुछ भी मतभेद नहीं था। विशेष नित्यद्रव्यमें रहते हैं, तथा अन्त्य हैं। अन्त्य–जगत्के विनाश तथा प्रारम्भकालमें रहनेवाले परमाणु, मुक्त आत्मा तथा मुक्त आत्माओंके पृथक् मन 'अन्त्य' कहे जाते हैं। इनमें रहनेके कारण विशेषोंको अन्त्य कहते हैं। विशेषको ही (विनयादिभ्यः स्वार्थमें इकण् प्रत्यय करनेपर) वैशेषिक कहते हैं। इस वैशेषिक अर्थात् विशेष पदार्थको जो जानें अथवा अध्ययन करें (तद्वेत्त्यधीते : इस सूत्रसे अण् प्रत्यय करनेपर) उन्हें वैशेषिक कहते हैं। वैशेषिकोंके दर्शनको वैशेषिक कहते हैं। जैमिनि नामके आद्य आचार्य हुए हैं, उनके मतको जैमिनीय मत कहते हैं। इसे मीमांसक भी कहते हैं। श्लोकमें 'तथा' शब्द और 'च' शब्द समुच्चयार्थक हैं। 'अहो' शब्दका प्रयोग शिष्यके आमन्त्रणके लिए किया गया है। शिष्योंके चित्तको दूसरे विषयोंसे हटाकर शास्त्र सुननेकी ओर उपयुक्त करनेको आमन्त्रण किया गया है ॥३॥

§ ४३. 'जिस क्रमसे नाम निर्देश किया गया हो उसी क्रमसे उनका लक्षण और विवेचन करना चाहिए' इस नियमके अनुसार आदिमें निर्दिष्ट बौद्धमतका वर्णन करते हैं—

बौद्धमतमें दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंके उपदेश देनेवाले सुगत-देवता हैं ॥४॥

§ ४४. श्लोकमें निर्धारण अर्थमें 'तत्र' शब्दका और अवधारण अर्थमें 'तावत्' शब्दका प्रयोग किया है। अतः छहों दर्शनोंमें-से अन्य दर्शनोंकी विवक्षा नहीं करके केवल बौद्धदर्शन ही

---

१. "नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः ते प्रयोजनमस्य वैशेषिकं शास्त्रं तद् वेत्ति अधीते वा वैशेषिकाः।" —अभिधान० ३।५२६। "द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे। यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥" —सर्वद० सौ० पृ० २२०। २. "....यदिदं चतुन्नं अरियसच्चानं आविक्खना देसना पञ्ञापना पट्ठपना विवरणा विभजना उत्तानिकम्मं। कतमेसं चतुन्नं ? दुक्खस्स अरियसच्चस्स, दुक्खसमुदयस्स अरियसच्चस्स, दुक्खनिरोधस्स अरियसच्चस्स, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय अरियसच्चस्स।" —मज्झिम० सच्चविभंग०। संयु० ५।४२५-२६। विनय० महावग्ग। विसुद्धि० १६।१३। "चत्वार्यार्यसत्यानि। तद्यथा—दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति।" —धर्मसं० पृ० ५। "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा। निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः ॥" —अभिध० ६३। "बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयम्। दुःखक्षयो निःसरणात्मकोऽयं ज्ञानात्मकोऽयं प्रशमाय मार्गः ॥ इत्यार्यसत्यानि....." —सौन्दर० १६।७। प्रमाणवा० १।१४८।

प्रहाय बौद्धानां लिङ्गवेषाचारादिस्वरूपं प्रदर्श्यते । चमरो मौण्ड्यं कृत्तिः कमण्डलुश्च लिङ्गम् । [1]धातुरक्तमागुल्फं परिधानं वेषः । शौचक्रिया यष्ट्या ।

" मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥
[2]मणुण्णं भोयणं भुच्चा मणुण्णं सयणासणं ।
मणुण्णंसि अगारंसि मणुण्णं झायए मुणी ॥२॥"

§ ४५. भिक्षायां पात्रे पतितं सर्वं शुद्धमिति मन्वाना [3]मांसमपि भुञ्जते । मार्गे च जीवदयार्थं [4]प्रमृजन्तो व्रजन्ति । ब्रह्मचर्यादि स्वकीयक्रियायां च भृशं बृहतमा भवन्ति । इत्यादिराचारः । धर्मबुद्धसङ्घरूपं [5]रत्नत्रयम् । [6]तारादेवी शासने विघ्ननाशिनी । विपश्यादयः सप्त बुद्धाः कण्ठे रेखात्रयाङ्किताः सर्वज्ञा देवाः । "बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुः" [अभिधान० २।१४६] इत्यादीनि [7]तथा-

प्रथम विवक्षित है। मुख्य शिष्योंको इस बौद्धदर्शनका स्थूल परिचय करानेके लिए सबसे पहले बौद्धोंके लिंग—वेष और आचार आदिका स्वरूप बताया जाता है। चमर धारण करना, मुण्डन करना, चर्मका आसन और कमण्डलु ये बौद्धोंके लिंग हैं। धातुसे रंगा हुआ घुटने तकका वस्त्र इनका वेष है। शौच क्रिया लाठी अनेक प्रकारसे की जाती है।

"कोमल शय्या, प्रातः बिस्तरसे उठते ही दुग्ध आदिका पान, मध्याह्नमें भोजन, सायंकाल फिर शरबत, आधी रात्रिके समय दाख, और मिश्री, इस समस्त सुखोपभोगके बाद भी अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति। ये सब बातें शाक्यपुत्र बुद्धके ही अनुभवकी ॥१॥

"मनोज्ञ स्वादु भोजन करके मनोज्ञ—सुन्दर मकानमें मनोज्ञ—कोमल शय्या और मनोज्ञ आसनपर सोने और बैठनेसे मुनि मनोज्ञका ही ध्यान करेगा ॥२॥

§ ४५. बौद्ध भिक्षु 'भिक्षाके समय पात्रमें जो भी आ जाये वह सब शुद्ध है' ऐसा मानकर पात्रमें आये हुए मांसको भी खा लेते हैं। मार्गमें चलते समय जीवोंकी दयाके लिए देख-भालकर मार्जन करके गमन करते हैं। अपने ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंकी रक्षा तथा उनके पालनमें अत्यन्त दृढ़ होते हैं। इत्यादि इनका आचार है। धर्म, बुद्ध और संघ ये तीन रत्नत्रय हैं। तारादेवी इनकी

---

१. "केसमस्सुं ओहारित्वा"—विनय० महावग्ग। २. बौद्धमते काषायवस्त्रपरिधानं विहितम्, "कासावानि परिधापित्वा···"—विनय० महावग्ग। "काषायवासाः स बभौ···"—बुद्धच० १०।१५। "अनुजानामि भिक्खवे छ रजनानि-मूलरजनं खन्धरजनं तचरजनं पत्तरजनं पुप्फरजनं फलरजनं" विनय० महावग्ग ८।१३।२०। ३. उद्धृतोऽयम् —सूत्र० शी० १।४। ४. उद्धृतेयम् —सूत्र० शी० १।४। छाया—मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने। मनोज्ञे अगारे मनोज्ञं ध्यायेन्मुनिः ॥" ५. "अनुजानामि भिक्खवे, तिकोटिपरिसुद्धं मंसं अद्दिट्ठं असुतं अपरिसंकितं च।" —विनय० महावग्ग ६।१३।२५। मज्झिम० जीवकसु० १।१।५। ६. "भिक्खु अन्तरघरं पविट्ठो सीघं पटिक्कमो ओक्खित्तचक्खु युगमत्तदस्सावी संवुतो गच्छति, न हत्थिं ओलोकेन्तो, न अस्सं, न रथं, न पत्तिं, न इत्थिं, न पुरिसं ओलोकेन्तो, न उद्धं उल्लोकेन्तो, न अधो ओलोकेन्तो, न दिसाविदिसं पेक्खमानो गच्छति [महानिद्देस १७४]" —विसुद्धि० पृ० १३। "अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी। चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च नेत्रः ॥" बुद्धच० १०।१३। ७. —द्रि० क्रियायां च—भ० २। ८. "तत्र प्रथमं तावत् त्रीणि रत्नानि। तद्यथा बुद्धो धर्मः संघश्चेति।" —धर्मसं० पृ० १। ९. "····तारिण्यापच्छरण्ये···" इत्यादि तारास्तवनं खरतरास्तोत्रे द्रष्टव्यम्। १०. महाद्युतिर्वशी तथागतस्य बुद्ध-भगवान्-तथागत-अर्हन्-सम्यक्संबुद्ध-विद्याचरणसम्पन्नादीनि एकादशेति नामानि लिखितानि विद्यन्ते। "सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः···" —अमर० १।११। "बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुस्त्रिकालविज्जिनः। बोधिसत्त्वो महाबोधिरार्यः शास्ता तथागतः ॥" अभिधान० २।१४६।

मानि। तेषां प्रासादा वर्तुला बुद्धाण्डकसंज्ञाः। भिक्षुसौगतशाक्यशौद्धो[1]दनिसुगततथागतशून्यवादिनाभानो बौद्धाः। तेषां शौद्धोदनिधर्मोत्तरार्चटधर्मकीर्तिप्रज्ञाकरदिग्नागप्रमुखा ग्रन्थकारा गुरवः।

§ ४६. अथ प्रस्तुतश्लोकोऽग्रतो व्याख्यायते। बौद्धमते बौद्धदर्शने सुगतो बुद्धो देवता देवः। किलेत्याप्तप्रवादे। कीदृशः सः। चतुर्णामित्यादि। आराद् दूराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः, पृषोदरादित्वाद्रूपनिष्पत्तिः। सतां साधूनां पदार्थानां वा यथासंभवं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तु[2]स्वरूपचिन्तनेन च हितानि सत्यानि। अथवा सद्भ्यो हितानि सत्यानि। आर्याणां सत्यानि [3]आर्यसत्यानि तेषामार्यसत्यानामित्यर्थः। चतुर्णां दुःखादीनां दुःखसमुदयमार्गनिरोधलक्षणानां तत्त्वानां [4]प्ररूपको देशकः। तत्र [5]दुःखं फलभूताः पञ्चोपादानस्कन्धा विज्ञानादयो वक्ष्यमाणाः। त एव

शासनदेवता है, यह समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाली है। विपश्यी आदि सात बुद्धदेव हैं जो सर्वज्ञ हैं और उनके कण्ठमें तीन रेखाएँ होती हैं। सुगतको बुद्ध कहते हैं। धर्मधातु आदि बुद्धके ही पर्यायवाचक नाम हैं। इनके प्रासाद-स्तूप गोल होते हैं और उन्हें 'बुद्धाण्डक' कहते हैं। बौद्धोंको भिक्षु, सौगत, शाक्य, शौद्धोदनि, सुगत, तथागत तथा शून्यवादी आदि भी कहते हैं। इनके शौद्धोदनि धर्मोत्तर, अर्चट, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, दिग्नाग आदि प्रमुख ग्रन्थकार गुरु हुए हैं।

§ ४६. श्लोकार्थ—बौद्धमतमें बुद्ध ही देव हैं। 'किल' शब्दसे आप्त प्रवादकी सूचना है। ये दुःखादि चार आर्यसत्योंका उपदेश देते हैं। आर्य शब्द पृषोदरादिगणमें पठित होनेसे सिद्ध है। जो सभी हेयधर्मोंसे किनाराकशी कर गये हैं अर्थात् दूर हो गये हैं उन्हें आर्य कहते हैं। जिसके द्वारा साधुओंको मुक्तिकी प्राप्ति होती है अथवा जिसके द्वारा समस्त पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ चिन्तन होता है, या जो सत्पुरुषोंको हितकारक है वह सत्य है। आर्योंके चार सत्य होते हैं—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। बुद्ध इन्हीं चार आर्यसत्योंके आप्त उपदेष्टा हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच विपाकरूप उपादान स्कन्ध ही दुःख हैं। जिससे पंचस्कन्ध-

---

१. दनिसुततायां—प० १, २, भ० १, २, क०। २. वस्तुरूप—आ०, क०। ३. यस्मा एतेनानि बुद्धादयो अरिया पटिविज्झन्ति तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ति। यथाह—"चत्तारिमानि, भिक्खवे अरियसच्चानि। कतमानि···पे···इमानि खो, भिक्खवे चत्तारि अरियसच्चानि" [सं० ५।४२१-२६] अरिया इमानि पटिविज्झन्ति तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ति। अपि च, अरियस्स सच्चानी ति पि अरियसच्चानि। यथाह—"सदेवके भिक्खवे, लोके···पे···मनुस्या तथागतो अरियो, तस्मा अरियसच्चानीति वुच्चन्ती ति" [सं० ५।४३५] अथवा एतेसं अभिसम्बुद्धता अरियभावसिद्धितोऽपि अरियसच्चानि। यथाह—"इमेसं खो, भिक्खवे, चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अभिसम्बुद्धत्ता तथागतो अरहं सम्मासम्बुद्धो ति वुच्चती" ति [सं० ५।४३१] अपि च खो पन, अरियानि सच्चानीति पि अरियसच्चानि। अरियानी ति अवितथानि। अविसंवादकानीति अत्थो। यथाह—"इमानि खो भिक्खवे, चत्तारि अरियसच्चानि तथानि अविसथानि अनञ्ञथानि तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ती" ति [सं० ५।४३५] —विसुद्धि० १६।२०-२१। "बाधनत्थेन दुःखमिदं फलट्ठेन दुःखस्स हेतुः पभवात्थेनकोऽयम्। दुःखक्खयो निस्सरणत्थेनकोऽयं ताणत्थेनकोऽयं पसमाय मार्गः॥" सौन्दर० १६।४। ३. "आर्याणामेव सत्यत्वमिति कृत्वा आर्यसत्यमिति व्यवस्थाप्यते।" माध्यमिक वृ० पृ० ४७६। ४. निरूपकः—भ० २। ५. "इह हि पूर्वहेतुजनिता प्रतीत्यसमुत्पन्नाः पञ्चोपादानस्कन्धाः दुःखदुःखतया विपरिणामदुःखतया संस्कारदुःखतया च प्रतिकूलवर्तित्वाच्च पीडात्मकत्वेन दुःखमित्युच्यते।" —माध्यमिक० वृ० पृ० ४७१। "दु इति अयं सद्दो कुच्छितं दिस्सति। कुच्छितं हि पुत्तं दुपुत्तो ति वदन्ति। ख-सद्दो पन तुच्छे। तुच्छं हि आकासं खं ति वुच्चति। इदं च पठमं सच्चं कुच्छितं अनेकउपद्दवाधिट्ठानतो, तुच्छं बालजनपरिकप्पित-धुवसुभसुखसत्तभावविरहिततो, तस्मा कुच्छितत्ता तुच्छता च दुक्खं ति वुच्चति।" विसुद्धि० १६।११।

तृष्णासहाया हेतुभूताः समुदयः[1], समुदेति स्कन्धपञ्चकलक्षणं दुःखमस्मादिति व्युत्पत्तितः । निरोध-हेतुर्नैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्गः[2] । मार्गण् अन्वेषणे, मार्ग्यतेऽन्विष्यते[3] याच्यते निरोधार्थि-भिरिति चुरादिणिजन्तत्वेनाल्प्रत्ययः । निःक्लेशावस्था चित्तस्य निरोधः[4] । निरुध्यते रागद्वेषोपहत-चित्तलक्षणः संसारोऽनेनेति करणे घञि, मुक्तिरित्यर्थः ।

§ ४७. दुःखादीनामित्यत्रादिशब्दोऽनेकार्थोऽपि व्यवस्थार्थो मन्तव्यः । यदुक्तम्—

"सामीप्ये च व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा ।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत्[5] ॥१॥"

तत्रादिशब्दः सामीप्ये यथा ग्रामादौ घोष इति, व्यवस्थायां यथा ब्राह्मणादयो वर्णा इति, प्रकारे यथा आढ्या[6] देवदत्तादय इति देवदत्तसदृशा आढ्या[7] इत्यर्थः, अवयवे यथा स्तम्भादयो गृहा

रूप दुःख उत्पन्न होता है उसे समुदय कहते हैं । अतएव ये ही पाँच स्कन्ध तृष्णाके सहकारसे जब नवीन स्कन्धोंकी उत्पत्तिमें हेतु होते हैं तब समुदय कहलाते हैं । निरोध निर्वाणके इच्छुक मुमुक्षु जिसे ढूँढ़ते हैं, जिसकी याचना करते हैं वह मार्ग है । (अन्वेषणार्थक मार्गण धातुसे चुरादिगणीय णिच् प्रत्ययके बाद अल् प्रत्यय करनेपर मार्ग शब्द सिद्ध होता है) निरोधमें हेतुभूत नैरात्म्यादि भावना रूपसे परिणत चित्तविशेष ही मार्ग कहलाता है । ये नैरात्म्यादि भावनाएँ ही निर्वाणमें कारण होनेसे मार्ग कही जाती हैं । चित्तकी क्लेशरहित अवस्थाको निरोध—निर्वाण कहते हैं । राग-द्वेष आदिसे विकृत चित्तरूपी संसार जिससे नष्ट किया जाता है वह निरोध अर्थात् मुक्ति है । (करणार्थक घञ् प्रत्यय करनेपर निरोध शब्द सिद्ध होता है) ।

§ ४७. यद्यपि 'आदि' शब्दके अनेक अर्थ होते हैं फिर भी 'दुःखादीनाम्' यहाँ 'आदि' शब्दका व्यवस्थारूप अर्थ विवक्षित है । कहा भी है—

"विद्वज्जन समीपता, व्यवस्था, प्रकार और अवयव इन चार अर्थोंमें 'आदि' शब्दका प्रयोग मानते हैं ॥१॥" यथा, 'ग्रामादौ घोषः—गाँवके पास झोपड़ा है' इस वाक्यमें आदि शब्द समीपार्थक है । ब्राह्मणादयो वर्णाः—वर्णोंमें ब्राह्मण आदि अर्थात् प्रथम हैं' यहाँ आदि शब्दका व्यवस्था अर्थात् प्रथम अर्थ होता है । 'आढ्या देवदत्तादयः—देवदत्त जैसे धनवान् हैं' यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची है । 'स्तम्भादयो गृहाः—खम्भे आदि अवयव ही घर हैं' यहाँ आदि शब्द अवयव

---

१. "सं इति च अयं सद्दो, समागमो समेतेति आदिसु संयोगं दीपेति । उ इति अयं, उप्पन्नं उदितं ति आदिसु उप्पत्तिं । अयसद्दो कारणं दीपेति । इदञ्चापि दुतियसच्चं अक्खेसपञ्चयसमायोगे सति दुक्खस्सुप्पत्तिकारणं । इति दुक्खस्स संयोगे उप्पत्तिकारणत्ता दुक्खसमुदयं ति वुच्चति ।" —विसुद्धि० १७।१७ । "यतो हि हेतोर्दुःखं समुदेति समुत्पद्यते स हेतुः तृष्णाकर्मक्लेशलक्षणः समुदय इत्युच्यते ॥" माध्यमिकवृ० पृ० ४७६ । २. "चतुत्थसच्चं पन, यस्मा एतं दुक्खनिरोधं गच्छति आरम्मणवसेन तदभिमुखभूतत्ता पटिपदा च होति दुक्खनिरोधप्पत्तिया, तस्मा दुक्खनिरोधगामिनिपटिपदा ति वुच्चति ।" विसुद्धि० १६।१९ "दुःखनिरोधगामिनी आर्याष्टाङ्गमार्गानुगमा प्रतिपत् ..." माध्यमिकवृ० पृ० ४७७ । ३. वाच्यते भ० २ । ४. "ततियसच्चं पन, यस्मा नि-सद्दो अभावं, रोध-सद्दो च चारकं दीपेति, तस्मा अभावो एत्थ संसारचारकसङ्खातस्स दुक्खरोधस्स सब्बगतिमुञ्चता, समधिगते वा तस्मिं संसार-चारकसङ्खातस्स दुक्खरोधस्स अभावो होति तप्पटिपक्खत्ता ति पि दुक्खनिरोधं ति वुच्चति । दुक्खस्स वा अनुप्पादनिरोधपच्चयता दुक्खनिरोधं ति ।" —विसुद्धि० १६।१८ । "दुःखस्य च विगमोऽपुनरुत्पादो निरोध इत्युच्यते ।" —माध्यमिकवृ० पृ० ४७७ । ५. श्लोकोऽयं शब्दकल्पद्रुमकोशे आदिशब्द-निरूपणावसरे समुद्धृतः । ६. आढ्या इति देवदत्ता- आ० । ७. आढ्यादय इत्यर्थः भ० २ ।

इति । अत्र तु व्यवस्थार्थः संगच्छते । दुःखमादि [1]प्रथमं येषां तानि तथा तेषामिति बहुव्रीहिः ॥४॥

§ ४८. अथ दुःखतत्त्वं व्याचिख्यासुराह—

[2]दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
[3]विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥५॥

§ ४९. दुःखं दुःखतत्त्वं किमित्याह । संसरन्ति स्थानात्स्थानान्तरं[4] भवाद् भवान्तरं वा गच्छन्तीत्येवंशीलाः संसारिणः स्कन्धाः सचेतना अचेतना[5] वा परमाणुप्रचयविशेषाः । ते च स्कन्धाः वाक्यस्य साधारणत्वात्पञ्चैवाख्याताः, न त्वपरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीति । के ते स्कन्धाः । पञ्च प्रकीर्तिताः । इत्याह–विज्ञानम् इत्यादि । विज्ञानस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः, संस्कार-स्कन्धः, रूपस्कन्धश्च । एवशब्दः पूरणार्थे, चशब्दः समुच्चये । तत्र रूपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादि निर्विकल्पकं विज्ञानं विशिष्टज्ञानं [6]विज्ञानस्कन्धः । निर्विकल्पकं च ज्ञानमेवंरूपमवसेयम्—

"अस्ति [7]ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥१॥" [मी० श्लो० प्रत्य० ११२] इति ॥

अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । 'दुःखादीनाम्' यहां आदि शब्द व्यवस्थावाची है । अर्थात् चार आर्यसत्योंमें दुःख नामका आर्यसत्य प्रथम है ॥४॥

§ ४८. अब दुःखतत्त्वका स्वरूप कहते हैं—

संसारी स्कन्ध ही दुःख हैं । और विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ये पाँच स्कन्ध कहे गये हैं ॥५॥

§ ४९. सचेतन और अचेतन परमाणुओंके प्रचयको स्कन्ध कहते हैं । स्कन्ध पाँच ही होते हैं । इन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न कोई आत्मा नामका छठवाँ स्कन्ध नहीं है । अर्थात् नाम-रूपात्मक इन्हीं पाँच स्कन्धोंमें आत्माका व्यवहार होता है । यही पाँच स्कन्ध एक स्थानसे दूसरे स्थानको तथा एक भवसे भवान्तरको जाते हैं अतः संसरणधर्मा होनेसे संसारी हैं । इन्हीं संसारी पाँच-स्कन्धोंको दुःखसत्य कहते हैं । वे स्कन्ध पाँच हैं—विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और रूपस्कन्ध । श्लोकमें एव शब्द पादपूर्तिके लिए और च शब्द समुच्चयार्थक है ।

रूप रसादि विषयक निर्विकल्पक ज्ञानोंको विज्ञानस्कन्ध कहते हैं । वि अर्थात् विशिष्ट ज्ञान विज्ञानस्कन्ध है । निर्विकल्पक ज्ञानका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

"सबसे पहले निर्विकल्पक आलोचनाज्ञान होता है । यह मूक बच्चों आदिके विज्ञानकी तरह शुद्ध वस्तुसे उत्पन्न होता है ॥१॥"

---

१. प्रथानं भ० २ । २. "कतमञ्च भिक्खवे दुक्खं अरियसच्चं । जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोक-परिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धापि दुक्खा ।" —दीघ० महासतिपट्ठान० । [विभंग० ९१] विसुद्धि० १६।२१ । "एत्थ हि बाधनलक्खणं दुक्खसच्चं, सन्तापनरसं, पवत्तिपच्चुपट्ठानं ।" —विसुद्धि० १६।२३ । "सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खंधा दुक्खानि । —विसुद्धि० १६।२७ । "दुःखं संसारिणः स्कन्धाः" —प्रमाणवा० १।१४५ । ३. इतः प्रभृति अष्टमश्लोकान्तं यावत् सार्धं श्लोकत्रयं आदिपुराणे (५।४२-४५) विवेकविलासे (८।२६८-७०) च वर्तते । द्रष्टव्यम् —सर्वद० सं० पृ० ४६ । ४. स्तरंग-भ० २ । ५. —वाश्च पर-भ० २ । ६. "विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः ।" —अभिध० १।१६ । "विञ्ञेय्य विञ्ञाननलक्खणं सब्बं तं एकतो कत्वा विञ्ञाणक्खंधो वेदितब्बो ति हि वुत्तं ···"विजानाति विजानाती ति आवुसो तस्मा विञ्ञाणं ति वुच्चती" ति [म० १।२९२]" —विसुद्धि० १४।८ । ७. आलोचनं(न)ज्ञानं आ० ।

§ ५०. **सुखा दुःखा अदुःखसुखा[1] चेति वेदना [2]वेदनास्कन्धः । वेदना हि पूर्वकृतकर्मविपाकतो जायते । तथा च सुगतः कदाचिद्भिक्षामटाटचमानः कण्टकेन चरणे विद्धः प्राह—**

"इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥" इति ॥

§ ५१. **संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणात्मकः प्रत्ययः [3]संज्ञास्कन्धः । तत्र संज्ञा गौरित्यादिका[4] गोत्वादिकं च [5]तत्प्रवृत्तिनिमित्तम्, तयोरुद्ग्रहणा योजना, तदात्मकः प्रत्ययो नामजात्यादियोजनात्मकं सवि-[6]कल्पकं ज्ञानं संज्ञास्कन्ध इत्यर्थः ।**

§ ५२. **पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदायः [7]संस्कारस्कन्धः, यस्य संस्कारस्य प्रबोधात्पूर्वानुभूते विषये स्मरणादि समुत्पद्यते ।**

§ ५३. **पृथिवीधात्वादयो रूपादयश्च रूपस्कन्धः ।**

---

§ ५०. सुखरूप, दुःखरूप और असुखदुःखरूप—जिसे न सुखरूप ही कह सकते हैं और न दुःखरूप ही—वेदना—अनुभवको वेदनास्कन्ध कहते हैं । पूर्वकृत कर्मके परिपाकसे कर्मके फलकी सुखादिरूपमें वेदना होती है । एक बार जब स्वयं सुगत भिक्षाके लिए जा रहे थे तब उनके पैरमें एक काँटा गड़ गया । उस समय उन्होंने कहा था कि—

"हे भिक्षुओ, आजसे एकानबेवें कल्पमें मैंने शक्ति—छुरीसे एक पुरुषका वध किया था । उसी कर्मके विपाकसे आज मेरे पैरमें काँटा लगा है ।" इति ।

§ ५१. जिन प्रत्ययोंमें शब्दोंके प्रवृत्तिनिमित्तोंकी उद्ग्रहणा अर्थात् योजना हो जाती है उन सविकल्पक प्रत्ययोंको संज्ञास्कन्ध कहते हैं । गौ, अश्व इत्यादि संज्ञाएँ हैं । ये संज्ञाएँ वस्तुके सामान्यधर्मको निमित्त बनाकर व्यवहारमें आती हैं, जैसे गौ संज्ञा गोत्वरूपसामान्यधर्म जहाँ-जहाँ होगा वहाँ-वहाँ प्रवृत्त होगी । इसीलिए गोत्व आदि सामान्य गौ आदि संज्ञाओंके प्रवृत्तिनिमित्त कहे जाते हैं । गौ आदि संज्ञाओंका अपने प्रवृत्तिनिमित्तोंके साथ उद्ग्रहणा-योजना करनेवाला सविकल्पक प्रत्यय संज्ञास्कन्ध है । अर्थात् नाम जाति आदिकी योजना करके 'यह गौ है, यह अश्व है' इत्यादि व्यवहारका प्रयोजक सविकल्पकज्ञान संज्ञास्कन्ध कहलाता है ।

§ ५२. पुण्य पाप आदि धर्मोंके समुदायको संस्कारस्कन्ध कहते हैं । इसी संस्कारके प्रबोधसे पहले जाने गये पदार्थका स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि होते हैं ।

§ ५३. पृथिवी आदि धातुएँ तथा रूपादि विषय रूपस्कन्ध कहलाते हैं ।

---

१. वेति प० १, २, भ० २ । २. "वेदनाऽनुभवः"—अभिध० १।१४ । "यं किंचि वेदयितलक्खणं सब्बं तं एकतो कत्वा वेदनाक्खंधो वेदितब्बो ति ।"—विसुद्धि० १४।१२५ । ३. "संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका । निमित्तं नीलपीतवीर्घह्रस्वपुरुषस्त्रीसुमित्रशाताशातस्वभावाः, तेषाम् उद्ग्रहणं मनसि आरणमेव स्वरूपं संज्ञास्कन्धस्य ।" —अभिध०, टी० १।१४ । "यं किंचि संजाननलक्खणं सब्बं तं एकतो कत्वा सञ्ञाक्खंधो वेदितब्बो ति । एत्थापि संजाननलक्खणं नाम सञ्ञा च । यथाह—"संजानाति संजानातीति खो आवुसो तस्मा सञ्ञा ति वुच्चती" ति [म० १।२९३] —विसुद्धि० १४।१२९ । ४. तत्प्रतिपत्तिनि–क०, आ०, प० १, २, भ० १ । ५. –कल्पज्ञानं प० १, २, भ० १, २ । ६. "चतुर्भ्योऽन्ये संस्काराः संस्कारस्कन्धः" —अभिध० १।१५ । विसुद्धि० १४।१२१ । ७ "रूपं पञ्चेन्द्रियाण्यर्थाः पञ्चाऽविज्ञप्तिरेव च ।" अभिध० १।९ । "तत्थ यं किंचि सीतादीहि रूपनलक्खणं धम्मजातं सब्बं तं एकतो कत्वा रूपक्खंधो ति वेदितब्बं । तदेतं रूपनलक्खणेन एकविधं पि भूतोपादायभेदतो दुविधं । तत्थ भूतरूपं चतुब्बिधं—पथवीधातु आपोधातु तेजोधातु वायोधातू ति । उपादायरूपं चतुवीसविधं···" विसुद्धि० १४।३५-३६ ।

§ ५४. न चैतेभ्यो विज्ञानादिभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चनात्माख्यः[1] पदार्थः सुखदुःखेच्छाद्वेषज्ञानाधारभूतोऽध्यक्षेणावसीयते । नाप्यनुमानेन; तदव्यभिचारिलिङ्गप्रहणाभावात् । न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीति । ते च पञ्च स्कन्धाः क्षणमात्रावस्थायिन एव[2] वेदितव्याः, न पुनर्नित्याः, कियत्कालावस्थायिनो वा । एतच्च "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" [का० ७] इत्यत्र दर्शयिष्यते ॥५॥

§ ५५. दुःखतत्त्वं पञ्चभेदतयाभिधायाथ दुःखतत्त्वस्य कारणभूतं समुदयतत्त्वं व्याख्याति—

समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ।
आत्मात्मीयभावाख्यः समुदयः स उदाहृतः ॥६॥

§ ५६. यतो यस्मात्समुदयाल्लोके लोकमध्ये रागादीनां रागद्वेषादिदोषाणां गणः समवायः अखिल समस्तः समुदेति 'समुद्भवति । कीदृशो गण इत्याह—आत्मात्मीयभावाख्यः । आत्मा स्वम् आत्मीयः स्वकीयः तयोर्भावस्तत्त्वम् । आत्मात्मीयभावः 'अयमात्मा अयं चात्मीयः' इत्येवं संबन्ध

---

§ ५४. इन विज्ञान आदि स्कन्धोंसे भिन्न, सुख दुःख इच्छा द्वेष ज्ञानादिका आधारभूत आत्मा नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । और न स्कन्धोंसे भिन्न आत्माका प्रत्यक्षसे ही अनुभव होता है । ऐसे आत्माके साथ अविनाभाव रखनेवाला कोई निर्दोष लिंग भी नहीं है जिससे अनुमानके द्वारा आत्माकी सिद्धि की जाये । प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही अविसंवादी प्रमाण हैं । इनसे भिन्न कोई तीसरा प्रमाण नहीं है । ये पाँचों स्कन्ध क्षणिक हैं, एक क्षण तक ही ठहरते हैं और दूसरे क्षणमें विनष्ट हो जाते हैं । ये स्कन्ध न तो कूटस्थनित्य—सदा-एकरूपसे रहनेवाले ही हैं और न कालान्तर-स्थायी—दो चार क्षण तक ठहरनेवाले—ही हैं । ये तो एक ही क्षण तक ठहरते हैं और दूसरे क्षणमें समूल नष्ट हो जाते हैं । स्कन्धोंकी क्षणिकताका समर्थन 'क्षणिकाः सर्वे संस्काराः" [का० ७] इसमें किया जायेगा ॥५॥

§ ५५. इस प्रकार पंचस्कन्धरूप दुःखतत्त्वका वर्णन करके अब दुःखतत्त्वके कारणभूत समुदयतत्त्वका व्याख्यान करते हैं—

जिससे लोकमें 'मैं हूँ, यह मेरा है' इत्यादि अहंकार ममकाररूप समस्त रागादिभावोंका समूह उत्पन्न होता है उसे समुदय कहते हैं ॥६॥

§ ५६. जिससे लोकमें 'मैं हूँ, यह मेरा है, यह पर है, यह पराया है' इत्यादि रूपसे अपना जाल फैलानेवाले राग-द्वेषादि दोषसमूह उत्पन्न होते हैं वह समुदय है । अहंकार और ममकार-रूपसे होनेवाला आत्मभाव और आत्मीयभाव ही समुदय तत्त्व है । एक जगह अहंकार और

---

१. "यथा हि अंगसंभारा होति सद्दो रथो इति । एवं खंधेसु सन्तेसु होति सत्तोति सम्मुति ॥" —मिलिन्द० । "नन्वनित्येषु भावेषु कल्पना नाम जायते—यथोपवर्णितेन न्यायेन स्वरूपसिद्धस्य स्कन्धव्यतिरिक्तस्यात्मनः सर्वथाऽभावात् । नन्वनित्येषु रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानाख्येषु भावेषु आत्मेति कल्पना अभूतारोपणं क्रियते आत्मा सत्त्वो जीवो जन्तुरिति । यथाहि इन्धनमुपादायाग्निः एवं स्कन्धानुपादाय आत्मा प्रज्ञप्यते ।" —चतुःश० पृ० १०।१ । "नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम् । अन्तराभवसंतत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥" —अभिध० ३।१८ । बोधि० पं० पृ० ४७४ । "स एवं स्कन्धसमुदायलक्षणः प्रज्ञप्तिसन्····" —तत्त्वसं० पं० पृ० १३१ । २. एवावेदित-भ० २ । एवावेत प० १, २, भ० १ । ३. "कतमं च भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं ? यायं तण्हा पोनोभविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेय्यथीदं कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा ।" —म० नि० महाहत्थि० । विसुद्धि० १६।६१ । ४. उद्भवति प० १, २, भ० १२ ।

इत्यर्थः । उपलक्षणत्वात् 'अयं परोऽयं च परकीयः' इत्यादि संबन्धो द्रष्टव्यः । स एवाख्या नाम यस्य स आत्मात्मीयभावाख्यः । अयं भावः—आत्मात्मीयसंबन्धेन परपरकीयादिसंबन्धेन वा यतो रागद्वेषादयः समुद्भवन्ति सः समुदयो नाम तत्त्वं बौद्धमत उदाहृतः कथितः । अत्रोत्तरार्धे सप्तनवाक्षरपादद्वये छन्दोऽन्तरसद्भावाच्छन्दोभङ्गदोषो[1] न चिन्त्यः, आर्षत्वात्प्रस्तुतशास्त्रस्य[2] ॥६॥

§ ५७. अथ दुःखसमुदयतत्त्वयोः संसारप्रवृत्तिनिमित्तयोर्विपक्षभूते मार्गनिरोधतत्त्वे प्रपञ्चयन्नाह—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ।
स मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥७॥

§ ५८. परमनिकृष्टः कालः क्षणः, तत्र भवाः क्षणिकाः[3] क्षणमात्रावस्थितय[4] इत्यर्थः । सर्वे च ते संस्काराश्च पदार्थाः सर्वसंस्काराः क्षणविनश्वराः सर्वे पदार्था इत्यर्थः । तथा च बौद्धा अभिदधति—[5]स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यते । अविनश्वरस्वभावो वा । यद्यविनश्वरस्वभावः; तदा तद्बुद्धापिकायाः क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात्पदार्थस्यापि व्याप्य-

---

ममकार होनेसे अन्यत्र पर और परकीय बुद्धि अर्थात् ही उत्पन्न हो जाती है । तात्पर्य यह है कि 'मैं मेरा पर और पराया' इन रूपोंमें प्रकट होनेवाले आत्मभाव, आत्मीयभाव, परभाव और परकीयभावोंसे ही राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं । यही भाव बौद्धमतमें समुदय तत्त्व कहे जाते हैं ।

यद्यपि इस श्लोकके उत्तरार्धके एक पादमें सात तथा दूसरे पादमें नव अक्षर हैं फिर भी छन्दभंग नहीं है । क्योंकि यह शास्त्र ऋषिप्रणीत होनेसे आर्ष है । अतः इसके अनुसार सात और नव अक्षरवाले अन्य आर्षछन्दकी प्राचीन परम्परा थी यही मान लेना चाहिए ॥६॥

§ ५७. अब संसारकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत दुःख और समुदयतत्त्वके विपक्षी जो मार्ग और निरोधतत्त्व हैं, उनका व्याख्यान करते हैं—

संसारके सभी संस्कार क्षणिक हैं इस क्षणिक भावनाको मार्गतत्त्व और रागादि वासनाओंके नाशको निरोध अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥७॥

§ ५८. परमनिकृष्ट अर्थात् सबसे सूक्ष्म कालको क्षण कहते हैं । संसारके सभी संस्कार या पदार्थ एक क्षण तक ही रहते हैं और द्वितीय समयमें वे स्वतः नष्ट हो-जाते हैं अतएव क्षणिक हैं पदार्थोंको क्षणिक माननेके विषयमें बौद्धोंकी विचार सरणी इस प्रकार है—

बौद्ध—जगत्के सभी पदार्थ अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होते हैं । यह एक निर्विवाद वस्तु है । तो अब बताइए कि वे पदार्थ अपने कारणोंसे विनश्वर स्वभाव लेकर उत्पन्न होते हैं या

---

१. –दोषा न चिन्त्याः म० २ । २. त्वं शास्त्रस्य भ० २ । ३. "अयमेव अरियो अट्ठंगिको मग्गो दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा"""।"—सं० नि० । विसुद्धि० १६।९५ । ४. "कतमं च भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं ? यो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो ।" दीघ० महासति०—विसुद्धि० १६।६२ । ५. तत्रेदमुक्तं भगवता—"क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥"—तत्त्वसं० पं० पृ० ११ । बोधिच० प० पृ० ३७६ । तन्त्रवा० पृ० १२० । "उक्तं च–क्षणिकाः सर्वसंस्काराः विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः यदिदं त्रैधातुकम्" —पञ्जिका० टी० पृ० ७६१ । ६. "उत्पादानन्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः । तदुच्यते क्षणः सोऽस्ति यस्य तत्क्षणिकं मतम् ॥ तत्त्वसं० श्लो० ३८८ । ७. "तथाहि—भावः स्वहेतोरुत्पद्यमानः कदाचित्प्रकृत्या स्वयं नश्वरात्मैवोत्पद्यते, अनश्वरात्मा वा"""अथ अनश्वरात्मेति पक्षस्तदापि नाशहेतुरकिंचित्कर एव । तस्य केनचित्स्वभावान्यथाभावस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।" —तत्त्वसं० पृ० १४० ।

स्याभावः प्रसजति[1]। तथाहि—"[2]यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्" इति। स च नित्योऽर्थोऽर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण वा[3] प्रवर्तेत, यौगपद्येन वा। न तावत्क्रमेण; यतो [4]ह्येकस्या अर्थक्रियायाः करणकाले [5]तस्यापरार्थक्रियायाः करणस्वभावो विद्यते न वा। यदि विद्यते; कुतः क्रमेण करोति। अथ सहकार्यपेक्षया इति चेत्; तेन सहकारिणा तस्य नित्यस्य कश्चिदतिशयः क्रियते न वा।

अविनश्वर स्वभाव लेकर ? यदि पदार्थ अविनश्वर अर्थात् सदास्थायी नित्य स्वभाववाले हैं; तो नित्यपदार्थ क्रम तथा युगपत् दोनों ही प्रकारसे अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ होनेके कारण असत् ही सिद्ध होता है। क्योंकि जो अर्थक्रिया करता है वही परमार्थ रूपसे सत् है। अर्थक्रिया और और पदार्थकी सत्तामें व्याप्यव्यापकभाव है। अर्थक्रिया व्यापक है और पदार्थकी सत्ता व्याप्य है; अर्थक्रिया क्रमसे होती है या युगपत्। जब नित्यपदार्थमें क्रम और युगपत् दोनों ही प्रकारसे अर्थक्रिया नहीं बनती अर्थात् सत्त्वकी व्यापक अर्थक्रियाका अभाव है तो व्याप्यभूत सत्ताका अभाव होनेसे अविनश्वर स्वभावकाली वस्तुका भी अभाव हो जाता है।

वह इस प्रकार—जब नित्य पदार्थ कोई अर्थक्रिया करनेकी तैयारी करता है तब वह उन अर्थक्रियाओंको क्रमसे करता है या सभीको एक साथ ही कर देता है ? नित्य पदार्थ समर्थ-स्वभाववाला तथा अपरिवर्तनशील होता है। उसमें न तो कोई नूतन अतिशय या स्वभाव उत्पन्न हो सकता है और न उसके किसी विद्यमान स्वभावका विनाश ही हो सकता है। ऐसी स्थितिमें यदि नित्य पदार्थ अपने द्वारा होनेवाले कार्योंको क्रमसे करता है तब, जिस समय वह एक कार्यको करता है उस समय उसमें दूसरे तीसरे आदि समयोंमें होनेवाली अर्थक्रियाओंके करनेका स्वभाव है या नहीं ? यदि एक अर्थक्रियाके कालमें अन्य अर्थक्रियाओंके करनेका स्वभाव भी उसमें है; तब विवक्षित अर्थक्रियाकी तरह अन्य अर्थक्रियाएँ भी उसी समय उत्पन्न हो जानी चाहिए। इस तरह सभी अर्थक्रियाओंकी युगपद् उत्पत्ति होनेपर नित्यमें 'क्रमसे' कार्य करना कहाँ सिद्ध हुआ ?

नित्यवादी—नित्यमें यद्यपि सभी अर्थक्रियाओंके करनेके स्वभाव सदा विद्यमान रहते हैं; पर जिन-जिन कार्योंके उत्पादक अन्य सहकारि कारण जब-जब मिल जाते हैं नित्य उन्हें तब-तब उत्पन्न कर देता है। इस तरह सहकारिकारणोंके क्रमसे, नित्य पदार्थ भी क्रमसे अर्थक्रिया करता है। सहकारी कारण तो अनित्य हैं। अतः उनका सन्निधान क्रमसे ही हुआ करता है।

---

१. "यथा यत् सत् तत् क्षणिकमेव, अक्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणवस्तुत्वं हीयते।" हेतुबि० पृ० ५४। "यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि—स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियायोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात्। सर्वसामर्थ्योपाख्य विरहलक्षणं हि निरुपाख्यमिति॥...यत्र क्रमयौगपद्ययोगो न तस्य क्वचित्सामर्थ्यम्, अस्ति चाक्षणिके स इति प्रवर्तमानमसामर्थ्यमसल्लक्षणमाकर्षति। तेन य(त्स)त्कृतकं वा तदनित्यमेवेति सिध्यति। तावता साधनधर्ममात्रान्वयः साध्यधर्मस्य स्वभावहेतुलक्षणं सिद्धं भवति। —वादन्यायः पृ० ६–९। "क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रिया कृता। न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ते ततो मताः॥ कार्याणि हि विलम्बन्ते कारणासन्निधानतः। समर्थहेतुसद्भावे क्षेपस्तेषां हि किंकृतः॥ अथापि सन्ति नित्यस्य क्रमिणः सहकारिणः। यानपेक्ष्य करोत्येव कार्यग्रामं क्रमाश्रयम्॥ साध्वेतत्किंतु ते तस्य भवन्ति सहकारिणः। किं योग्यरूपहेतुत्वादेकार्थकरणेन वा॥ योग्यरूपस्य हेतुत्वे न भावस्तैः कृतो भवेत्। स चाशक्यक्रियो यस्मात्तत्स्वरूपं तदा स्थितम्॥ कृतौ वा तत्स्वरूपस्य नित्यतास्यावहीयते। विभिन्नोऽतिशयस्तस्माद्यद्यसौ कारकः कथम्॥" —तत्त्वसं० श्लो० ३९४–९९। २. "अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्। अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं; ते स्वसामान्यलक्षणे॥" —प्र० वा० २।३। "अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः।" —न्यायबि० सू० १।१५। ३. क्रमेण प्रव–आ०। ४. -कस्य अर्थ–क०। ५. -याः काले प० १, २, म० १, २। ६. अस्या-म०।

यदि क्रियते; तदा किं पूर्वस्वभावपरित्यागेन क्रियते, अपरित्यागेन वा। यदि परित्यागेन; [1]ततोऽतादवस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम्। अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन; ततस्तस्य नित्यस्य तत्कृतोपकाराभावात्किं सहकार्यपेक्षया कर्तव्यम्। अथाकिंचित्करोऽपि सहकारी तेन विशिष्टकार्यार्थमपेक्ष्यते; तदयुक्तम्; यतः—

"[2]अपेक्षेत परः कश्चिच्चेदि[3] कुर्वीत किंचन।
यदकिंचित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते ॥१॥" [प्र० वा० ३।२७९]

अथ तस्य प्रथमार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते; तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः। [4]अथासौ नित्योऽर्थो योगपद्येनार्थक्रियां कुर्यात्; तथा सति प्रथमक्षण एवाशेषार्थ-

---

क्षणिकवादी—अच्छा, यह बताओ कि—जब सहकारिकारण नित्यकी सहायता करते हैं, तब वे नित्यपदार्थमें कुछ सामर्थ्य या अतिशय भी उत्पन्न करते हैं या नहीं ? यदि वे नित्यमें कोई नया अतिशय उत्पन्न करते हैं; तब उस समय नित्यके सदा-स्थायी पूर्वस्वभावमें कुछ परिवर्तन भी होता है कि नहीं ? तात्पर्य यह कि जिस समय सहकारिकारण किसी नये अतिशय या सामर्थ्यको लेकर नित्यके सामने उपस्थित होते हैं उस समय नित्य पदार्थ उस सामर्थ्यको ग्रहण करते समय जो कि उनमें पहले नहीं थी, अपने पूर्व-स्वभाव अर्थात् असमर्थ स्वभावको छोड़ते हैं या नहीं यदि नित्यने सहकारियों-द्वारा लाये गये नये अतिशयको ग्रहण करते समय अपना पूर्व असमर्थ स्वभाव छोड़ दिया, जिसे छोड़े बिना नये स्वभावका ग्रहण करना सम्भव ही नहीं है; तब पूर्व स्वभावका परित्याग तथा नूतन स्वभावको ग्रहण करनेके कारण नित्यमें काफी परिवर्त्तन हो जायगा और यह परिवर्त्तन नित्यको सदा स्थायी नित्यरूपमें नहीं रहने देगा, अर्थात् उसे अनित्य बना देगा। यदि नित्य अपने पूर्वकालीन असमर्थ स्वभावको नहीं छोड़ता है, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ सहकारिकारणोंने नित्यका कुछ भी उपकार नहीं किया अर्थात् उसमें किसी भी नवीन अतिशयकी सृष्टि नहीं की। तब नित्यको ऐसे अकिंचित्कर अर्थात् कुछ भी उपकार नहीं करनेवाले—सहकारियोंकी अपेक्षा ही क्यों होगी ? जो थोड़ा-बहुत उपकार करता है, या जिससे किसी प्रयोजनकी सिद्धि होती है संसार उसीकी अपेक्षा करता है।

नित्यवादी—यद्यपि सहकारी कारण नित्य पदार्थमें कोई नवीन अतिशय उत्पन्न नहीं करते और न उसके किसी पूर्व स्वभावका विनाश ही करते हैं फिर भी नित्य पदार्थ विशिष्ट कार्यकी उत्पत्तिके निमित्त उन अकिंचित्कर सहकारियोंकी भी अपेक्षा करता है। उन सहकारियोंके साथ मिलकर नित्य विशिष्ट कार्यको उत्पन्न करता है।

क्षणिकवादी—आपका तर्क असंगत है, क्योंकि "पर पदार्थ यदि कुछ कार्य करे या किसी प्रयोजनको साधे तभी उसकी अपेक्षा की जा सकती है। जो अकिंचित्कर है, किसी भी मतलबका नहीं है उस भारभूत पदार्थकी, भला कोई क्यों अपेक्षा करेगा ? उलटे ऐसे निकम्मे पदार्थसे तो लोग बचना ही चाहेंगे।"

यदि नित्यपदार्थमें प्रथम अर्थक्रिया करते समय द्वितीयादि समयोंमें होनेवाले कार्योंके उत्पादनकी सामर्थ्य नहीं है, और द्वितीयादि समयोंमें जब उन कार्योंको उत्पन्न होना है तब वह सामर्थ्य आ जाती है; तो बताइए उसमें नित्यता कहाँ रही ? क्योंकि नित्यमें जो सामर्थ्य प्रथम

---

१. –भावस्य परि–आ०। २. ततोऽन्यदवस्थापत्ते–म० २। ३. "अपेक्षेत परः कार्यं यदि विद्येत किंचन। प्र० वा० ३।२७९। ४. कश्चित्कुर्वीत यदि किं–म० २। ५. "योगपद्यं च नैवेष्टं तत्कार्याणां क्षयेक्षणात्। निःशेषाणि च कार्याणि सकृत्कृत्वा निवर्त्तते। सामर्थ्यमिह सा चेदर्थः सिद्धोऽस्य क्षणभङ्गिता॥"—तत्त्वसं० ४१३–१४।

क्रियाणां करणाद् द्वितीयक्षणे तस्याकर्तृत्वं स्यात् । तथा च सैवानित्यतापत्तिः । अथ तस्य तत्स्वभावत्वात् ता एवार्थक्रिया भूयो भूयो द्वितीयादिक्षणेष्वपि कुर्यात्; तदसांप्रतम्; कृतस्य करणाभावादिति ।

किं च, द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थसार्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति तस्य तत्स्वभावत्वात्, [1]अतत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वप्राप्तिरिति । तदेवं नित्यस्य [2]क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति ।

§ ५९. अथ विनश्वरस्वभावः समुत्पद्यते; तथा च सति विघ्नाभावादायातमस्मदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वम् । तथा चोक्तम्—

समयमें नहीं थी वही द्वितीय समयमें उत्पन्न हो गयी है । किसी भी अविद्यमान स्वभावका उत्पन्न होना ही अनित्यता है । यदि नित्यपदार्थ समस्त अर्थक्रियाओंको युगपत्—एक ही साथ एक ही क्षणमें उत्पन्न करता है, तो प्रथम क्षणमें ही द्वितीयादि अनन्त क्षणोंमें होनेवाले कार्यसमूह उत्पन्न हो जायेंगे । ऐसी दशामें फिर वह नित्य पदार्थ द्वितीय समयमें क्या कार्य करेगा ? क्योंकि उसके द्वारा उत्पाद्य जितने कार्य थे वे तो पहले ही क्षणमें उत्पन्न हो चुके हैं । इस तरह जो नित्य प्रथम समयमें कर्ता था वही द्वितीयादि समयोंमें कर्तृत्वको छोड़कर अकर्ता बन जानेके कारण, अथवा जो प्रथम समयमें कर्ता होनेसे सत् था वही द्वितीयादि समयोंमें अर्थक्रिया न करनेके कारण असत् हो जानेसे नित्य नहीं रह सकता है । उसमें कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व रूपसे परिवर्तन होनेके कारण अनित्यता ही प्राप्त होती है ।

नित्यवादी—नित्यका अनेक कार्योंके उत्पन्न करनेका समर्थस्वभाव प्रतिक्षण जाग्रत रहता है । अतः द्वितीयादि समयोंमें भी उसी स्वभावकी मौजूदगी होनेसे वह उन्हीं-उन्हीं कार्योंको करता रहता है, खाली नहीं बैठता ।

क्षणिकवादी—आपका उक्त कथन तो बिलकुल अग्राह्य है, क्योंकि—जो कार्य प्रथम समयमें उत्पन्न हो ही चुके हैं, नित्य उनको द्वितीयादि समयोंमें दुबारा कैसे उत्पन्न करेगा ? एक बार जो वस्तु उत्पन्न हो चुकी है, उसकी दुबारा उत्पत्ति कैसी ? नित्य पदार्थमें जब समस्त कार्योंके उत्पन्न करनेमें कारणभूत समस्त स्वभाव एक ही साथ रहते हैं; तो द्वितीयादि क्षणोंमें होनेवाले सभी कार्य प्रथम ही क्षणमें उत्पन्न हो जाने चाहिए । यदि द्वितीयादि क्षणोंमें होनेवाले कार्योंको उत्पन्न करनेवाले स्वभाव प्रथमक्षणमें नहीं हैं और वे द्वितीयादि क्षणोंमें उत्पन्न होते हैं, तो अनित्यत्वका प्रसंग स्पष्ट ही है । इस प्रकार नित्य पदार्थ न तो क्रमसे ही अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत् ही । अतः 'स्वकारणोंसे पदार्थ अविनश्वर अर्थात् नित्य स्वभाववाला उत्पन्न होता है' यह पक्ष प्रमाणबाधित है ।

§ ५९. यदि स्वकारणोंसे पदार्थ क्षणिक स्वभाववाला अर्थात् विनाशशील ही उत्पन्न होता है, इस पक्षमें हमारे द्वारा माने गये क्षणिक सिद्धान्तका ही समर्थन होता है । पदार्थ जब स्वभावसे ही विनाशशील है तब उसके क्षणिक होनेमें बाधा ही क्या हो सकती है । इस तरह हमारा क्षणिक सिद्धान्त निर्बाधरूपसे सिद्ध हो जाता है । कहा भी है—

---

१. अथ तत्स्व—स० २ । २. "क्रमाक्रमाभावस्यार्थक्रियासामर्थ्याभावेन व्याप्तत्वात् । तथा हि न तावत् क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारोऽस्ति, येनार्थक्रियासंभावनायां क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिर्न स्यात् । तस्मादर्थक्रियामात्रानुबद्धतया तयोरन्यतरप्रकारस्य । उभयोरभावे चाभावादर्थक्रियामात्रस्येति ताभ्यां तस्य व्याप्तिसिद्धिः ।" —क्षणभ० सि० पृ० ५५ ।

"जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते ।
यो जातश्च न च ध्वस्तो नश्येत्पश्चात्स केन च[1] ॥१॥"

§ ६०. **नन्वनित्यत्वे सत्यपि यस्य घटादिकस्य यदैव मुद्गरादिसामग्रीसाकल्यं [2]तदैव तद्विनश्वरसाकल्पते न पुनः प्रतिक्षणम् । ततो [3]विनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमिति; तदेतदनुपासितगुरोर्वचः; यतो मुद्गरादिसंनिधाने सति योऽस्य घटादिकस्यान्त्यावस्थायां विनाशस्वभावः, स स्वभावस्तस्यैवोत्पत्तिसमये विद्यते, न वा । विद्यते [4]चेत्; आपतितं तर्हि तदुत्पत्तिसमनन्तरमेव विनश्वरत्वम् । अथ न विद्यते स स्वभाव उत्पत्तिसमये; तर्हि कथं पश्चात्स भवेत् । अथेदृश एव तस्य स्वभावो यदुत कियन्तमपि कालं स्थित्वा तेन विनष्टव्यमिति चेत्; तर्हि मुद्गरादिसंनिधानेऽप्येष एव तस्य स्वभावः स्यात्, ततो भूयोऽपि तेन तावत्कालं स्थेयम्,**

"पदार्थोंके विनाशका कारण उनकी जाति अर्थात् उत्पत्ति या स्वभाव ही है । अर्थात् पदार्थ स्वभावसे ऐसे ही उत्पन्न होते हैं कि उन्हें दूसरे क्षणमें नष्ट हो ही जाना चाहिए । जो पदार्थ उत्पन्न होकर भी अनन्तर ही नष्ट नहीं हुआ उसे पीछे कौन नष्ट कर सकेगा ? अर्थात् वह नित्य हो जायगा, उसका कभी भी नाश नहीं हो सकेगा ।"

§ ६०. **शंका**—पदार्थ अनित्य हैं यह तो समझमें आ जाता है, किन्तु घट आदि पदार्थोंके नाशक हेतु मुद्गर आदि जब मिल जायँ तभी उनका विनाश होता है, उन्हें प्रतिक्षण विनाशी मानना किसी भी तरह उचित नहीं मालूम होता । इसलिए विनाशक सामग्रीके मिलनेपर ही विनाशवाले अनित्य पदार्थोंको तब तक तो स्थिति माननी ही चाहिए जब तक कि उनके विनाशक कारण नहीं जुट जाते । अतः पदार्थ कालान्तरस्थायी—अनित्य–अर्थात् कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होनेवाले हैं, न कि प्रतिक्षण विनाशी ।

समाधान—यह शंका तो उस व्यक्तिकी मालूम होती है जिसने गुरुके पाससे ज्ञान प्राप्त नहीं किया । आप यह बताइए कि मुद्गर आदि विनाशक कारणोंके मिलनेपर घट आदिकी अन्तिम अवस्थामें जो विनश्वर स्वभाव प्रकट होता है वह स्वभाव उन घटादिकी उत्पत्तिके समय भी विद्यमान था या नहीं ? यदि था, तो उन घटादि पदार्थोंको अपने उस विनश्वर स्वभावके कारण—उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाना चाहिए । ऐसी अवस्थामें वे पदार्थ कालान्तरस्थायी न होकर क्षणिक ही सिद्ध होते हैं । यदि वह स्वभाव उत्पत्तिके समय नहीं था; तो पीछे वह कहाँसे आयगा ? क्योंकि स्वभाव तो वस्तुकी उत्पत्तिके समयसे ही होता है । यदि आप कहें कि 'उसका ऐसा ही एक विचित्र स्वभाव है जो उसे कुछ काल तक ठहर कर ही नष्ट होना चाहिए, उत्पत्तिके अनन्तर क्षणमें ही नहीं' सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि उसका कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होनेका स्वभाव है और स्वभावका सदा बने रहनेका नियम है तो मुद्गर आदि विनाशक कारणोंके मिलनेपर भी उसका वह 'कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होनेका स्वभाव' घटादिको और भी कुछ काल तक ठहरा देगा, तुरन्त नष्ट नहीं होने देगा । इस तरह जब भी मुद्गर आदि विनाशक कारण मिलेंगे तभी वह कुछ काल तक ठहर कर नष्ट होनेका स्वभाव बीचमें आकर पदार्थको और कुछ काल तक ठहरा देगा और इस तरह विनाशक हेतुओंका प्रहार बराबर निष्फल होता जायगा । तब आप घड़ेपर एक बार नो क्या सौ बार भी मुद्गरसे प्रहार किये जाइए पर घड़ा हर बार अपने कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होनेवाले स्वभावसे अपनी आत्मरक्षा करता जायगा और इस तरह घड़ा

१. वा–क०, ब:–ब० १, २, म० १, २ । उद्धृतोऽयम्—सिद्धिवि० टी० पृ० २५० । २. तदैव विन–म० २ । ३. विनाशकारणेऽपेक्षा–म० २ । ४. चेत्तर्हि तदुत्पत्तिसमयानन्तरमेव विन–म० २ ।

एवं च मुद्गराविघातशतपातेऽपि न विनाशो भवेत्, जातं कल्पान्तस्थायित्वं घटादेः, तथा च [1]जगद्व्यवहारव्यवस्थाविलोपपातकपङ्किलता, इत्यभ्युपेयमनिच्छतापि क्षणक्षयित्वं पदार्थानाम्। प्रयोगस्त्वेवम्—यद्विनश्वरस्वभावं तदुत्पत्तिसमयेऽपि तत्स्वरूपं यथा अन्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरूपम्, विनश्वरस्वभावं च रूपरसादिकमुदयत आरभ्येति स्वभावहेतुः। तदेवं विनाशहेतोरकिंचित्करत्वात् स्वहेतुत एव पदार्थानामन्तेऽनाभोगसंज्ञकैः क्षणिकत्वमवगन्तव्यमिति[2]।

§ ६१. ननु[3] यदि क्षणक्षयिणो भावाः, कथं तर्हि 'स एवायम्' इति ज्ञानम्। उच्यते—निरन्तरसदृशापरापरक्षणनिरीक्षणचैतन्योदयाविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणप्रलयकाल एव दीपकलिकायां दीपकलिकान्तरमिव तत्सदृशमपरं क्षणान्तरमुदयते, तेन समानाकारज्ञानपरंपरापरिचयचिरतरपरि-

---

कल्पान्तकाल तक स्थिर हो जायगा। इस प्रकार जब संसारका कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं हो सकेगा तब संसारके समस्त हिंस्याहिंसक मृत्यु आदि व्यवहारोंकी व्यवस्थाका लोप हो जायगा। और ऐसी कल्पना करनेवालेके मायेपर व्यवहारकी व्यवस्थाके विलोपकी गहरी पाप कालिमा लगेगी। अतः जगत्के व्यवहारके अनुसार पदार्थोंको क्षणिक मानना ही पड़ेगा आपका चित्त अपने पूर्वग्रहके कारण भले ही उसे न मानना चाहता हो पर पदार्थकी व्यवस्था तो लोक प्रतीतिसे होती है किसीकी इच्छा या अनिच्छासे नहीं। अतः जो अन्तमें विनश्वर स्वभाववाले हैं वे उत्पत्तिके समय भी विनश्वर स्वभाववाले ही रहते हैं जैसे कि अन्तमें नष्ट होनेवाले घड़ेका विनश्वर स्वरूप यदि अन्तमें रहता है तो उसे उत्पत्तिकालमें भी रहना चाहिए अन्यथा अन्तमें भी वह स्वभाव कहाँसे आयगा? उसी तरह चूँकि जगत्के समस्त रूप रस आदि भी अन्तमें विनश्वर हैं और इसीलिए वे उत्पत्तिके समयमें ही विनश्वर स्वभाववाले हैं। यह क्षणिकत्वको सिद्ध करनेवाले स्वभाव हेतुका प्रयोग है। इस तरह जब विनाशक कारण विनाशके प्रति अकिंचित्कर अर्थात् निकम्मे साबित हो जाते हैं तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि पदार्थ अपने कारणोंसे विनाशस्वभाववाले ही उत्पन्न होते हैं। इस तरह पदार्थ जब अपने कारणोंसे ही विनश्वर स्वभावको लेकर उत्पन्न हुए हैं तब उन्हें कौन स्थिर रख सकता है, वे तो अपने उस स्वभावके कारण दूसरे ही क्षणमें नियमसे नष्ट हो ही जायेंगे। यही पदार्थोंकी क्षणिकताका स्वभावमूलक विवेचन है।

§ ६१. **शंका**—यदि पदार्थ क्षणिक हैं अर्थात् प्रति समय नष्ट होकर नये-नये उत्पन्न होते हैं तो 'यह वही है' यह स्थिरतामूलक प्रत्यभिज्ञान कैसे होगा?

समाधान—'प्रत्यभिज्ञान होता है' यह तो ठीक है, पर जिस तरह सीपमें चाँदीका ज्ञान मिथ्या है, उसी तरह 'यह वही है' यह प्रत्यभिज्ञान भी सदृश क्षणोंमें एकत्वका मिथ्या भान करनेके कारण सत्य नहीं है। असल बात तो यह है कि—पदार्थ प्रतिक्षणमें विनष्ट हो रहे हैं और उनकी जगह नये-नये सदृश पदार्थ तुरन्त ही उत्पन्न हो रहे हैं। देखो दीपककी लौ प्रतिक्षण नष्ट होती है और द्वितीय क्षणमें उसकी जगह उस पूर्व दीपकलिकाके सदृश ही नूतन दीपकलिका

---

१. जगद्व्यवस्थालोपपातक-भ० २। २. -ति यदि भ० २। ३. "सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा, सदृशे हि तदेवेदमिति बुद्धिर्भ्रमजे।...अत्रापि सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो लूनपुनर्जातकेशनखादिवत्..."—प्र० वार्तिकाल० २।२०५। "तस्मात् सदृशापरभावनिबन्धन एवायं केशकदलीस्तम्बादिष्विव आकारसाम्यतामात्रापहृतहृदयानां भ्रान्त एव तत्त्वाध्यवसायो मन्तव्यः..." (पृ० ८६) सदृशापरभावग्रहकृतश्च अवगीदर्शनानामेकत्वविभ्रमो लूनपुनर्जातेष्विव नखकेशादिष्विति विशेष्यते (पृ० १२०)। सदृशापरभावनिबन्धनं चैकतया प्रत्यभिज्ञानं लूनपुनर्जातेष्विव केशनखादिषु इत्यत्र विरोधाभावादिति।" (पृ० १३६)—हेतुबि०, टी०। "तुल्येत्यादिना भदन्तशुभगुप्तस्य परिहारमाशङ्कते—तुल्यापरक्षणोत्पादाद्यया नित्यत्वविभ्रमः। अविच्छिन्नसजातीयग्रहे चेत्स्थूलविभ्रमः।" —तत्त्वसं० का० १९०२।

णामाभिरन्तरोदयाच्च पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्यवसायः प्रसभं प्रादुर्भवति । दृश्यते च यथा लूनपुनरुत्पन्नेषु [2]नखकेशकलापादिषु 'स एवायम्' इति प्रतीतिः तथेहापि किं न संभाव्यते सुजनेन । तस्मात्सिद्धमिदं यत्सत्तत्क्षणिकमिति । अत एव युक्तियुक्तमुक्तमेतत् 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इति ।

§ ६२. अथ प्रस्तुतं प्रस्तूयते—'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यत्र इतिशब्दात्प्रकारार्थात् नास्त्यात्मा कश्चन, किंतु ज्ञानक्षणसंतताना एव सन्तीत्यादिकमप्यत्र गृह्यते । ततोऽयमर्थः—क्षणिकाः सर्वे पदार्थाः, नास्त्यात्मेत्येवंप्रकारा, एवमीदृशी यका 'स्वार्थे कप्रत्यये, या वासना पूर्वज्ञानजनिता तदुत्तरज्ञाने शक्तिः क्षणपरम्पराप्राप्ता मानसी प्रतीतिरित्यर्थः, स मार्गो नामार्यसत्यम्, इह बौद्धमते विज्ञेयोऽवगन्तव्यः । सर्वपदार्थक्षणिकत्वनैरात्म्यादाकारश्चित्तविशेषो मार्ग इत्यर्थः । स च [4]निरोधस्य कारणं द्रष्टव्यः ।

निरन्तर उत्पन्न होती है यह बात बारीकीसे देखनेपर सहज ही अनुभवमें आ जाती है । पर साधारणतया लोग तो यही समझते हैं कि—'यह वही दीपक है' । ठीक इसी तरह पदार्थोंका अत्यन्त विनाश होनेपर भी उनकी जगह दूसरे नये सदृश पदार्थ निरन्तर उत्पन्न होनेके कारण तथा अनादि कालीन 'यह वही है' ऐसी अविद्या वासनाके कारण हमें सदृश क्षणोंमें भी 'यह वही है' ऐसा एकत्व भान बलात् होता है। इसका कारण है हमारी स्थूल दृष्टि। हम समान आकारवाले पदार्थोंमें निरन्तर चिरकालीन परिचयके कारण तथा उनके प्रतिक्षण होनेवाले निरन्तर सदृश परिणमनसे भ्रममें पड़ जाते हैं और मान बैठते हैं कि 'यह वही पदार्थ है', जबकि वह पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ समूल नष्ट हो चुका है और उसकी जगह ठीक वैसी ही शक्लवाला दूसरा नया ही प्रतिनिधि मौजूद है । दीपककी बात जाने दीजिए—बाल बनवाते समय हम बालोंको तथा नखोंको कटवाकर फेंक देते हैं, पर जब दूसरे वैसे ही बाल तथा नख उग आते हैं तब भी हमारी स्थूलबुद्धि 'ये वही बाल हैं, ये वही नख हैं' इस तरह पूर्व सदृश बालों और नखोंमें एकत्वका मिथ्या भान करने लगती है । इसलिए यह तो अनादिकालीन अविद्या तथा हमारी स्थूल दृष्टिका ही चमत्कार है जो हम सदृश पदार्थोंमें भी एकत्वका भान कर बैठते हैं। इसी तरह जगत्के सभी पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होकर अपने नये-नये सदृश रूपोंको धारण करते हैं परन्तु हम स्थूलबुद्धि अविद्या, वासना तथा पदार्थोंकी सदृश निरन्तर उत्पत्तिसे ठगे जाते हैं और उन्हें 'ये वही हैं' इस तरह एक मान लेते हैं । इस विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि जो भी संसारमें सत् है वह क्षणिक है । अतः 'सभी संस्कार क्षणिक हैं' यह युक्तियुक्त ही कहा गया है ।

§ ६२. अब प्रस्तुत श्लोकका व्याख्यान करते हैं—'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति' यहाँ इति शब्द प्रकारवाची है । अतः 'कोई आत्मा नामका स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है किन्तु पूर्वापर ज्ञानप्रवाह रूप सन्तानें ही हैं' इत्यादि प्रकारोंका संग्रह हो जाता है । इसलिए यह फलितार्थ हुआ कि—'सभी पदार्थ क्षणिक हैं', 'आत्मा नहीं है' इत्यादि प्रकारकी जो वासना है, उसे बौद्धमतके अनुसार मार्ग नामका आर्यसत्य कहते हैं । पूर्वज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले उत्तरज्ञानमें पूर्वज्ञानसे क्षण परम्परा-से जो शक्ति प्राप्त होती है उसे वासना या मानसी प्रतीति कहते हैं । तात्पर्य यह कि—सभी पदार्थ क्षणिक हैं तथा 'आत्मा नहीं है' इत्यादि क्षणिक, नैरात्म्यादि आकारवाला चित्त विशेष ही मार्ग है । यह मार्ग आर्यसत्य निरोधका कारण होता है ।

---

१. च लून—म० २ । २. नखकेशकलापादि—म० २ । ३. –द्या एवमाकारा एव यका म० २ । ४. विरोधस्य म० २ ।

§ ६३. अथ **चतुर्थमार्यसत्यमाह**—निरोधो निरोधनामकं तत्त्वं मोक्षोऽपवर्ग उच्यतेऽभिधीयते। चित्तस्य निःक्लेशावस्थारूपो निरोधो मुक्तिर्निगद्यत इत्यर्थः। एतानि दुःखादीन्यार्यसत्यानि चत्वारि क्षणानि ग्रन्थकृतात्रानन्तरमेवोक्तानि तानि सौत्रान्तिकमतेनैवेति विज्ञेयम् ॥७॥

§ ६४. **वैभाषिकादिभेदनिर्देशं विना सामान्यतो बौद्धमतेन तु द्वादशैव ये पदार्था भवन्ति तानपि संप्रति विवक्षुः श्लोकमेनमाह**—

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि[1] च ॥८॥

§ ६५. व्याख्या—पञ्चसंख्यानीन्द्रियाणि **श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनरूपाणि**। शब्दाद्याः **शब्दरूपरसगन्धस्पर्शा** पञ्च विषया इन्द्रियगोचराः। मानसं **चित्तं यस्य शब्दायतनमिति नामान्तरम्**। धर्माः **सुखदुःखादयस्तेषामायतनं गृहं शरीरमित्यर्थः**। एतान्यनन्तरोक्तानि द्वादशसंख्यान्यायतनान्यायतनसंज्ञानि तत्त्वानि, चः समुच्चये, न केवलं प्रागुक्तानि चत्वारि दुःखादीन्येव, [2]किन्त्वेतानि द्वादशायतनानि च भवन्ति। एतानि चायतनानि क्षणिकानि ज्ञातव्यानि। यतो बौद्धा अत्रैवमभिदधते। अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वं प्रागुक्तन्यायेनाक्षणिकान्निवर्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठते। तथा च सति

---

§ ६३. अब चौथे आर्यसत्य निरोधका वर्णन करते हैं। मोक्ष या अपवर्ग—(जिसके बाद पवर्गका कोई भी अक्षर न हो अर्थात् जिसमें पवर्गके अन्तिम अक्षर 'म'का प्रयोग हो ऐसे मोक्ष) को निरोधतत्त्व कहते हैं। अर्थात् अविद्यातृष्णा रूप क्लेशसे रहित चित्तकी निःक्लेश अवस्था निरोध—मुक्ति कही जाती है।

अभी जिन दुःखादि चार आर्यसत्योंका ग्रन्थकारने वर्णन किया है वह सौत्रान्तिकमतकी दृष्टिसे समझना चाहिए ॥७॥

§ ६४. वैभाषिक आदि भेदोंकी विवक्षा नहीं करके सामान्यसे बौद्धमतमें जो द्वादशायतन अर्थात् बारह पदार्थ प्रसिद्ध हैं उनके कहनेकी इच्छासे इस श्लोकको कहते हैं—

पाँच इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच विषय, चित्त और सुख-दुःखादि धर्मोंका आधार शरीर ये बारह आयतन हैं ॥८॥

§ ६५. श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा तथा स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियाँ, शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श ये पाँच उन इन्द्रियोंके विषय, मानस—चित्त, अर्थात् शब्दायतन, सुख-दुःख आदि धर्मोंका आयतन—गृह अर्थात् आधारभूत शरीर—ये बारह आयतन हैं। श्लोकमें 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। इससे यह मालूम होता है कि केवल पहले कहे गये चार आर्यसत्य ही नहीं हैं किन्तु ये बारह आयतन भी हैं। ये आयतन भी क्षणिक हैं। बौद्धोंका यह सिद्धान्त है कि—अर्थक्रिया रूप ही सत्त्व होता है, जो पदार्थ अर्थक्रिया करता है वही सत् कहा जाता है; पहले कही गयी युक्तियोंके अनुसार नित्यपदार्थ क्रम तथा युगपत् दोनों ही प्रकारसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता अतः अर्थक्रिया लक्षण सत्त्व नित्यपदार्थको छोड़कर क्षणिक अर्थमें ही आकर रहता है। ऐसी अवस्थामें यह अनुमान

---

१. "आयतनानीति द्वादशायतनानि—चक्खायतनं, रूपायतनं, सोतायतनं, सद्दायतनं, घानायतनं, गन्धायतनं, रसायतनं, कायायतनं, फोट्ठब्बायतनं, मनायतनं, धम्मायतनं ति।"—वि० म० पृ० ३३४।
२. —स्पर्शनानि म० २।

सुलभं क्षणिकत्वानुमानम्[1]—यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा प्रदीपकलिकादि । सन्ति च द्वादशायतनानीति । अनेन चानुमानेन द्वादशायतनव्यतिरिक्तस्यापरस्यार्थस्याभावात्, द्वादशस्वायतनेष्वेव क्षणिकत्वं व्यवस्थितं भवतीति ।

§ ६६. तदेवं सौत्रान्तिकमतेन चत्वारि दुःखादीनि तत्त्वानि, सामान्यतो बौद्धमतेन चायतनरूपाणि द्वादश तत्त्वानि प्रतिपाद्य, संप्रति प्रमाणस्य विशेषलक्षणमभिधानीयम्, तच्च सामान्यलक्षणाविनाभावीति प्रथमं प्रमाणस्य सामान्यलक्षणमुच्यते—"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" [प्र० वा० १.३] इति । अविसंवादकं ज्ञानं प्रमाणम् । अविसंवादकत्वं चार्थप्रापकत्वेन व्याप्तम्, अर्थाप्रापकस्याविसंवादित्वाभावात्[2] केशोण्डुकज्ञानवत् । अर्थप्रापकत्वं च प्रवर्तकत्वेन व्याप्तं, अप्रवर्तकस्यार्थाप्राप-

---

करना बिलकुल सहज है कि—जो-जो सत् होते हैं वे सब क्षणिक हैं जैसे कि दीपककी लौ । द्वादशायतन भी सत् हैं । इस अनुमानसे यह भी सिद्ध होता है कि—बारह आयतनसे अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है । अतः क्षणिकत्व बारह आयतनोंमें ही रहता है ।

§ ६६. इस प्रकार सौत्रान्तिक मतके अनुसार चार आर्यसत्योंका तथा सामान्य बौद्धमतकी दृष्टिसे बारह आयतनोंके स्वरूपका निरूपण किया है । अब प्रमाणके प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो भेदोंके लक्षण कहते हैं : प्रमाणके विशेषोंके लक्षण तो स्पष्ट रूपसे तभी कहे जा सकते हैं जब पहले प्रमाण कह दिया जाय । अतः पहले प्रमाण सामान्यका लक्षण कहते हैं—

"अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण कहते हैं ।" इससे अविसंवादक ज्ञान ही प्रमाणकी कोटिमें आता है । जो ज्ञान अर्थका प्रापक होता है वही ज्ञान अविसंवादी कहा जाता है । जिस ज्ञानके द्वारा अर्थकी प्राप्ति नहीं होती वह अविसंवादी नहीं हो सकता । जैसे केशोण्डुक ज्ञान । स्वच्छ आकाशमें धूपसे चल-फिरकर आनेके बाद बालों-जैसी या उण्डुक—मच्छरों-जैसी काली रेखाएँ तथा घन्वे मालूम होते हैं उन्हें केशोण्डुक ज्ञान कहते हैं। यह केशोण्डुक ज्ञान केश और उण्डुक—मच्छरका प्रतिभास कराके भी इनकी प्राप्ति नहीं कराता अतः प्रापक न होनेसे अविसंवादी भी नहीं है । इस तरह अविसंवादित्वका अर्थ प्रापकत्वके साथ व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव है । अर्थप्रापकत्व प्रवर्तकत्वके साथ अविनाभाव रखता है; क्योंकि जो ज्ञान प्रवर्तक ही नहीं है वह अर्थकी प्राप्ति भी नहीं कराता । इसी तरह प्रवर्तकत्व विषयोपदर्शकत्वसे अपना अविनाभावी सम्बन्ध रखता है । जो

---

१. "न चैवाक्षणिकस्य क्वचित् कदाचित् शक्तिरस्ति, क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रियाशक्तिविरहात् । इत्थं च यत् सत् तत् क्षणिकमेवेति व्याप्तिसिद्धिः । नैव प्रत्यक्षतः कार्यविरहाद्वा सर्वशक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते, किंतु तद्व्यापकविरहात् । तथा हि—क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोस्तयोरक्षणिकत्वे विरोधात् निवृत्तेस्तद्व्याप्तायाः कार्यक्रियाशक्तेरपि निवृत्तिरिति सर्वशक्तिविरहलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति, विरुद्धयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवतीति—'यत् सत् तत् क्षणिकमेव' इत्यन्वयव्यतिरेकरूपाया व्याप्तेः सिद्धिर्निश्चयो भवति ।"—हेतुबि० पृ० १४६ । २. "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं; अर्थक्रियास्थितिः । अविसंवादनं ।"—प्र० वा० १।३ । "अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् ।"—न्यायबि० टी० पृ० १० । ३. "लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादक उच्यते । तद्बोधज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम्, नान्यत् । तथा हि—न ह्यमदर्थं प्रापयति, अपि त्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव । न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् ।"—न्यायबि० टी० पृ० १७ । ४. "प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत् प्रापकम् । प्रापकत्वाच्च प्रमाणम् ॥"—न्यायबि० टी० पृ० २१ । ५. "यथा चिरकालीनाभ्यवनादिक्लिष्टस्य अस्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टः केशोण्डुकाख्यः कश्चिदवयवधर्मः परिस्फुटति । अथवा करसंमृदितलोचनरश्मिषु येषां केशपिण्डावस्था स केशोण्डुकः ।"—काश्यपी० युक्ति० पृ० ९९ ।

कत्वात् । तद्वदेव प्रवर्तकत्वमपि विषयोपदर्शकत्वेन व्यानशे । न हि ज्ञानं हस्ते गृहीत्वा पुरुषं प्रवर्तयति, स्वविषयं तूपदर्शयत्प्रवर्तकमुच्यते प्रापकं चेति । स्वविषयोपदर्शकत्वव्यतिरेकेण नान्यत्प्रापकत्वम् । तच्च शक्तिरूपम् । उक्तं च "प्रापणशक्तिः प्रामाण्यं तदेव च प्रापकत्वम्" [ ] इति । स्वविषयोपदर्शके च प्रत्यक्षानुमान एव, न ज्ञानान्तरम् । अतस्ते एव लक्षणार्हे, तयोश्च [1]द्वयोरप्यविसंवादकत्वमस्ति लक्षणम् । प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधकं वस्तु दृष्टतयावगतं सत्प्रदर्शितं भवति, अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गाव्यभिचारिसयाध्यवसितं सत्प्रदर्शितं भवतीत्यनयोः स्वविषयप्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् । यद्यपि च प्रत्यक्षस्य क्षणो ग्राह्यः, स च निरुसत्वात्र प्राप्यते, तथापि तत्संतानोऽध्यवसेयः प्रवृत्तौ प्राप्यत इति [2]संतानविषयं प्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम् । [3]अनु-

ज्ञान अपने विषयका यथार्थ उपदर्शन अर्थात् प्रतिभास या निश्चय कराता है वही प्रवृत्तिमें प्रयोजक होकर प्रवर्तक होता है और वही प्रापक भी कहा जाता है । ज्ञान ज्ञाताका हाथ पकड़कर तो उसे पदार्थ तक नहीं ले जा सकता । हाँ, वह तो इतना ही कर सकता है कि—प्रमाताको पदार्थका यथार्थ उपदर्शन करा दे । ज्ञानमें इसी विषयोपदर्शन रूप ही प्रवर्तकता तथा प्रापकता है । स्वविषयके उपदर्शनको छोड़कर दूसरी कोई भी प्रवर्तकता या प्रापकता ज्ञानमें नहीं बन सकती । यह प्रापकता शक्तिरूप है । कहा भी है—"प्रापण शक्तिको ही प्रामाण्य कहते हैं, और ज्ञानमें इस शक्तिका होना ही प्रापकत्व है ।" प्रत्यक्ष और अनुमान ही अपने विषयके यथार्थ उपदर्शक होते हैं, अन्य ज्ञान नहीं । इसीलिए प्रत्यक्ष और अनुमानका ही लक्षण किया जाना चाहिए । इन दोनोंका सामान्य लक्षण अविसंवादकत्व है । प्रत्यक्ष तो अर्थक्रिया साधक स्वलक्षण रूप वस्तुको साक्षात् विषय करके उसका उपदर्शन कराता है । पर अनुमान लिंगदर्शनकी विषयभूत स्वलक्षण वस्तुके साथ अविनाभाव रखनेवाली साध्य वस्तुका अध्यवसाय कराकर प्रदर्शन कराता है, तब अविसंवादी होता है । इस तरह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनोंमें स्वविषयोपदर्शनरूप प्रापकत्व है ।

[प्रश्न—जब पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे हैं अतएव प्रत्यक्षका जो अर्थक्षण ग्राह्य-विषय था वह तो प्रवृत्तिकाल तक ठहरता ही नहीं है जिससे वह उसकी प्राप्ति कराके अविसंवादक बन सके । प्रत्यक्षमें प्रापकता और प्रापकतामूलक प्रमाणता कैसे सिद्ध हो सकती है ?]

उत्तर—यद्यपि निर्विकल्पक प्रत्यक्षका साक्षात्-ग्राह्य विषयभूत पदार्थ क्षणवर्ती स्वलक्षण ही है और वह द्वितीय क्षणमें नष्ट हो जाता है पर उस पदार्थका जो सन्तान है वह अध्यवसेय—निश्चय विषय बनता है अर्थात् प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेवाला विकल्प ज्ञान उस पदार्थके सन्तानका अध्यवसाय अर्थात् निश्चय कराता है और वही सन्तान प्रवृत्तिके बाद प्राप्त होता है । अतः सन्तानके विषयमें प्रदर्शित अर्थकी प्रापकतारूप प्रामाण्य प्रत्यक्षका है । अतः प्रत्यक्षमें तत्क्षणवर्ती स्वलक्षण पदार्थकी दृष्टिसे प्रापकता न भी बने पर सन्तानकी दृष्टिसे तो बन ही जाती है । क्योंकि ग्राह्य और अध्यवसेयका एकत्वाध्यवसाय है ।

१. "तथा च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति । अनुमानं च लिङ्गसम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति । अतः एते नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके । तेन ते प्रमाणे । नान्यद्विज्ञानम् ।"—न्यायबि० टी० पृ० २१ । २. —यथदर्श—आ० । ३. "नोच्यते-यस्मिन्नेव काले परिच्छिद्यते तस्मिन्नेव काले प्रापयितव्यमिति । अन्यो हि दर्शनकालः, अन्यश्च प्राप्तिकालः । किन्तु यत्काले परिच्छिन्नं तदेव तेन प्रापणीयम् । अभेदाध्यवसायाच्च संतानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमिति ।"—न्यायबि० टी० पृ० २६ । ४. "द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य—ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति । अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः । प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः । अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन संतान एव । संतान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः । क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात् ।"—न्यायबि० टी० पृ० ७१ । "तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽन्यमेऽर्थेऽध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि ।"—न्यायबि० टी० पृ० ७१ ।

मानस्य तु लिङ्गदर्शनेन[1] विकल्प्यः स्वाकारो ग्राह्यो न बाह्योऽर्थः, प्राप्यस्तु बाह्यः स्वकाराभेदेनाध्यवसित इति । तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यम् । उक्तम्—"न ह्याभ्यामर्थं[2] परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते" [ ] इति[3] ।

§ ६७. प्राप्यमाणं च वस्तु नियतदेशकालाकारं प्राप्यत इति तथाभूतवस्तुप्रदर्शकयोः प्रत्यक्षानुमानयोरेव प्रामाण्यं न ज्ञानान्तरस्य । तेन पीतशङ्खादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात्प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवति, तेषां प्रदर्शितार्थाप्रापकत्वात् । यद्देशकालाकारं हि वस्तु तैः प्रदर्शितं, न [5]तत्तथा प्राप्यते, यच्च यथा प्राप्यते न [5]तैस्तत्तथा प्रदर्शितम्, देशादिभेदेन वस्तुभेदस्य [6]निश्चितत्वादिति न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता, ततो न प्रामाण्यमपि । नापि प्रमाणद्वयव्यतिरिक्तं शब्दादिकं प्रदर्शितार्थ-

[प्रश्न—अनुमानका विषय अग्नि सामान्य आदि हैं और सामान्य पदार्थ आपके मतसे अन्यापोहरूप है । अन्यापोहका तात्पर्य है विकल्प बुद्धिमें कल्पित या प्रतिबिम्बित अनुगत आकार । इस तरह अनुमानका विषय अन्ततः विकल्पबुद्धिमें प्रतिबिम्बित आकार ही होता है । अतः जब अनुमान बाह्य स्वलक्षणको विषय ही नहीं करता तब उसमें अर्थप्रापकत्वरूप अविसंवादित्व कैसे सिद्ध होता है ?]

उत्तर—अनुमानात्मक विकल्प लिङ्गदर्शनसे उत्पन्न होता है । अतः उस अनुमान विकल्पका ग्राह्य विषय विकल्प्य स्वाकार होता है, बाह्यार्थ नहीं । तात्पर्य यह है कि अनुमानविकल्पका आलम्बनीय विषय तो सामान्य पदार्थ अर्थात् विकल्पबुद्धिमें प्रतिबिम्बित स्वाकार होता है । किन्तु प्राप्य विषय तो बाह्य स्वलक्षण ही होता है । इस प्राप्य बाह्यस्वलक्षणका आलम्बनीभूत स्वाकारके साथ जिसे "मैंने जिसका अनुमान किया था उसे ही प्राप्त कर रहा हूँ" ऐसा एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करनेपर अर्थप्रापकता सिद्ध हो जाती है । अतः अनुमानमें भी प्राप्य विषयकी अपेक्षा स्वविषयोपदर्शनरूप प्रापकता और तन्मूलक प्रामाण्यका निश्चय हो जाता है । इसलिए अनुमान भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है । कहा भी है—"इन प्रत्यक्ष और अनुमानसे अर्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषकी अर्थक्रियामें कोई भी विसंवाद नहीं देखा जाता ।"

§ ६७. प्राप्त होनेवाली वस्तु नियत देश, काल तथा आकारमें ही प्राप्त होनी चाहिए । अर्थात् जिस देशमें जिस समय तथा जिस आकारमें वस्तुका प्रतिभास हुआ हो वह जब उसी देश, उसी समय तथा उसी आकारमें उपलब्ध हो तभी सच्ची अर्थप्रापकता कही जा सकती है । इस तरह यथार्थवस्तुके प्रदर्शक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही ज्ञान प्रमाण हैं अन्य ज्ञान नहीं । शुक्ल शंखमें 'यह पीला शंख है' इस प्रकारका मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं है; क्योंकि यह जिस आकारमें वस्तुका प्रतिभास कराता है उस आकारमें वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती । पीत शंखको ग्रहण करनेवाले ज्ञानने जिस देश, काल तथा आकारमें वस्तुका उपदर्शन कराया उस देश, काल तथा पीतादि आकारमें तो शंख मिला नहीं और जो शुक्ल शंख मिला उसका उस रूपमें प्रतिभास नहीं हुआ था । इस तरह देशादिभेदसे वस्तुभेद होनेके कारण उक्त पीतशंखज्ञानमें विसंवादकता ही है प्रामाण्य नहीं । इसी तरह इन प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंसे भिन्न शब्दजन्य आगमादिज्ञान भी प्रदर्शित अर्थके प्रापकत्वरूप प्रामाण्यके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि शब्द अनियत देश, काल तथा आकारवाली वस्तुका प्रतिपादन करता है, जबकि वस्तु किसी न किसी देश, काल या आकार

१. –र्थाने विक–प० १, २, म० १, २, क० । २. –मर्थे परि–म० २ । ३. उद्धृतमिदम्—तत्त्वोप० पृ० २९ । सन्मति० टी० पृ० ४६८ । न्यायवि० वि० प० पृ० २५६, ५३२ । सिद्धि वि० टी० पृ० २२ । अनेकान्तजय० प्र० पृ० १३५ । ४. ननु तथा म० २ । ५. तैस्तथा म० २ । ६. –त्वाच्च तेषां म० २ ।

प्रापकत्वेन प्रमाणम्, तत्प्रदर्शितस्य देशाद्यनियतस्यार्थस्यास्तत्त्वेन प्राप्तुमशक्तेः। तत्प्रदर्शितार्थस्यानियततत्वं च साक्षात्पारंपर्येण वा प्रतिपाद्यावेरर्थस्यानुपपत्तेः। ततः स्थितं प्रदर्शितार्थप्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्वं प्रामाण्यं द्वयोरेव।

§ ६८. प्रापणशक्तिश्च प्रमाणस्यार्थाविनाभावनिमित्तं[1] दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन[2] निश्चीयते। तथाहि—प्रत्यक्षं दर्शनापरनामकं यतोऽर्थादुत्पन्नं तद्दर्शकमात्मानं स्वानुरूपाध्यवसायोत्पादनान्निश्चिन्वदर्थाविनाभावित्वं प्रापणशक्तिनिमित्तं प्रामाण्यं स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते, न पुनर्ज्ञानान्तरं तन्निश्चायकमपेक्षतेऽर्थानुभूताविव। ततोऽविसंवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणं युक्तम् ॥८॥

§ ६९. अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षुः प्रथमं प्रमाणसंख्यां नियमयन्नाह—

में रहती है। अतः जैसी अनियतदेशादिवाली वस्तुका शब्द प्रतिपादन करता है वैसी वस्तु प्राप्त नहीं होती क्योंकि वह है ही नहीं तथा जैसी नियतदेशादिवाली प्राप्त होती है वैसी वस्तुका कथन करना शब्दकी सामर्थ्यके परेकी बात है। शब्दके द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु अनियतदेशादिमें न तो साक्षात् उपलब्ध होती है और न परम्परासे ही। तात्पर्य यह कि जब वस्तु अनियतदेशादिवाली है ही नहीं तब वैसी वस्तुका प्रतिपादक शब्द कैसे तो प्रापक होगा तथा किस प्रकार उसे प्रमाण कहेंगे? अतः यह सिद्ध हुआ कि—प्रदर्शित अर्थके प्राप्त करनेकी शक्तिको अविसंवादकता कहते हैं और ऐसी अविसंवादकतारूप प्रमाणता प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ज्ञानोंमें ही है।

§ ६८. प्रमाणकी प्रापणशक्तिका अर्थसे अविनाभाव है। उसका निश्चय निर्विकल्पक दर्शनके बाद होनेवाले विकल्प ज्ञानके द्वारा होता है। वह इस प्रकार—दर्शन नामक प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं क्योंकि अर्थसे उत्पन्न हुआ है, अर्थका दर्शक बनता है—इस बातका अपनेमें निश्चय अपने अनुरूप विकल्पकी उत्पत्तिके द्वारा कर लेता है और यही उसके प्रामाण्यका स्वतः निश्चय है क्योंकि किसी ज्ञानमें प्रापण शक्ति ही प्रामाण्यका निमित्त है और वह प्रापण शक्ति तब ही होती है जब ज्ञानका अर्थके साथ अविनाभाव हो अर्थात् वह अर्थसे साक्षात् या परम्परासे उत्पन्न हुआ हो। सारांश यह है कि—निर्विकल्पकदर्शन प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वलक्षणरूप परमार्थसत् अर्थसे उत्पन्न होता है। यह निर्विकल्प जिस अर्थसे उत्पन्न होता है, उत्तरकालमें उसीके अनुकूल विकल्पको भी पैदा करता है। नीलनिर्विकल्पकमें नील अर्थसे उत्पन्न होनेका नियम नीलनिर्विकल्पकसे उत्पन्न होनेवाले 'नीलमिदम्' इस अर्थानुसारी विकल्पके द्वारा किया जाता है। इस तरह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अपने अनन्तरभावी विकल्पके द्वारा अपनी अर्थाविनाभाविताका निश्चय करता है। यही अर्थाविनाभाविताका तथा तद्रूप प्रापणशक्तिका और तन्निमित्तक प्रमाणताका निश्चय कर लेता है। जिस तरह स्वलक्षणका अनुभव करनेके लिए निर्विकल्पकको अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है उसी तरह उसे अपनी प्रमाणताके निश्चयके लिए भी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती। इस तरह अविसंवादकत्व ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण हो सकता है॥८॥

§ ६९. अब प्रमाण विशेषके लक्षणोंका कथन करनेके पहले प्रमाणकी संख्याका नियमन करते हैं—

---

१. निमित्तदर्शं—आ०, क०। २. अधिकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्। निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः॥" —तत्त्वसं० श्लो० १३०६।

प्रमाणे इति च विज्ञेये सङ्ख्या सौगतदर्शने ।
प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा[1] यतः ॥९॥

§ ७०. व्याख्या—तथाशब्दः प्रागुक्ततत्त्वापेक्षया समुच्चये, चशब्दोऽवधारणे । ततोऽयमर्थः—सौगतदर्शने द्वे एव प्रमाणे विज्ञेये, न पुनरेकं त्रीणि चत्वारि पञ्च षड् वा प्रमाणानि । एतेन चार्वाक-सांख्यादिपरिकल्पितं प्रमाणसंख्यान्तरं बौद्धा न मन्यन्त इत्यावेदितं भवति । कौ ते द्वे प्रमाणे इत्याह प्रत्यक्षमनुमानं च[2] । कुतो द्वे एव प्रमाणे इत्याह—सम्यगविपरीतं विसंवादरहितमिति यावज्ज्ञानं यतो हेतोर्विधा । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद् द्विधैव न त्वेकधा त्रिधा वेति ।

§ ७१. अत्र केचिदाहुः—यथात्र द्विधेत्युक्ते हि द्विधैव न त्वेकधा त्रिधा वेत्येवमन्ययोग-व्यवच्छेदः, तथा चैत्रो धनुर्धर इत्यादिष्वपि चैत्रस्य धनुर्धरत्वमेव स्यान्न तु शौर्यौदार्यधैर्यादयः; तदयुक्तम्[3]; यतः सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेऽप्याशङ्कितस्यैव व्यवच्छेदः । परार्थं हि वाक्य-मभिधीयते । यदेव च परेण व्यामोहाद्याशङ्कितं तस्यैव व्यवच्छेदः । चैत्रो धनुर्धर इत्यादौ च चैत्रस्य धनुर्धरत्वायोग एव परैराशङ्कित इति तस्यैव व्यवच्छेदो नान्यधर्मस्य । इह चार्वाकसांख्यादय ऐक-

---

तथा बौद्धदर्शनमें दो प्रमाण होते हैं एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान । चूंकि सम्यग्ज्ञान दो ही प्रकारका है अतः प्रमाण भी दो ही हो सकते हैं अधिक नहीं ॥९॥

§ ७०. श्लोकमें 'तथा' शब्द पहले कहे गये तत्त्वोंके साथ समुच्चय करनेके लिए और 'च' शब्द अवधारणार्थक है । इससे यह अर्थ हुआ कि—सौगतदर्शनमें दो ही प्रमाण हैं, न तो एक और न तीन चार पांच अथवा छह ही । इससे सूचित हुआ कि बौद्धोंको चार्वाकके द्वारा निर्धारित प्रमाणकी प्रत्यक्ष रूप एक संख्या तथा सांख्य नैयायिक आदिके द्वारा मानी गयी प्रमाणकी प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान रूपसे तीन-चार आदि संख्याएँ इष्ट नहीं हैं । वे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान रूपसे ही उन्हें स्वीकृत हैं । चूंकि सम्यक् अविपरीत अर्थात् विसंवादरहित सच्चा ज्ञान दो ही प्रकारका है, अतः प्रमाण भी दो ही प्रकारके हो सकते हैं । 'सभी वाक्य सावधारण अर्थात् निश्चयात्मक होते हैं' इस न्यायके अनुसार प्रमाण दो ही हैं, न तो एक और न तीन ही ।

§ ७१. **शंका**—जिस प्रकार 'दो हैं' इसका अर्थ 'दो ही हैं किन्तु एक या तीन नहीं हैं' यह अन्ययोगव्यवच्छेदसे हुआ उसी प्रकार 'चैत्र धनुर्धर है' उसका भी अर्थ अन्ययोगव्यवच्छेदके कारण 'चैत्र धनुर्धर ही है उसमें शौर्य, औदार्य, धैर्यादि नहीं है' ऐसा ही होना चाहिए । अर्थात् संख्यावाचक दो विशेषणके साथ एवकार प्रयुक्त हुआ है । विशेषणके साथ प्रयुक्त होनेवाले एवकारका अयोगव्यवच्छेद अर्थ होता है । अयोग व्यवच्छेदका सीधा अर्थ है विवक्षित विशेषणके अयोग अर्थात् असम्बन्ध या अभावका व्यवच्छेद-निराकरण करना । इस तरह 'दो ही हैं' यह कहनेसे द्वित्वसंख्याके असम्बन्ध या अभावका निराकरण करके द्वित्वसंख्याके ही सद्भावका निश्चय करना उचित है परन्तु जिस प्रकार आप 'दो ही हैं' यहाँ अयोग व्यवच्छेद बोधक एवकारका अर्थ 'तीन या एक नहीं हैं' इस प्रकार अन्ययोगव्यवच्छेद (अन्य-भिन्न विशेषणोंके योग–सम्बन्धका व्यवच्छेद–निराकरण) मान लेते हैं उसी तरह 'चैत्र धनुर्धर ही है' इस अयोग-व्यवच्छेद बोधक एवकारका भी 'चैत्रमें धनुर्धरत्व ही है, अन्य शूरता औदार्य या धैर्य आदि गुण नहीं हैं' ऐसा अन्य गुणोंका निषेधरूप अर्थ प्राप्त होता है और इस तरह शूरता आदिका अभाव होनेपर तो धनुर्धरत्वका विधान भी निरर्थक ही हो जाता है ।

---

१. "प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम् । प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत् ॥"—प्र० समु० १।२ । "द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् । प्रत्यक्षमनुमानं चेति ॥"—न्यायवि० १।२, ३ । २. ते द्वे के प्र–आ०, क० । ३. तदुक्तम् सर्व–म० २ । ४. –दौ चैत्र–म० २ । –दौ वा चै–प० १ ।

ध्यमनेकधा च सम्यग्ज्ञानमाहुः, अतो नियतद्वैविध्यप्रदर्शनेनैकत्वबहुत्वे सम्यग्ज्ञानस्य प्रतिक्षिपति। एवं चायमेवकारो विशेषणेन विशेष्येण क्रियया च सह भाष्यमाणः क्रमेणायोगान्ययोगात्यन्तायोग-व्यवच्छेदकारित्वात् त्रिधा भवति यद्विनिश्चयः—

"अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः ॥१॥"

निपात एवकारः, व्यतिरेचको निवर्तकः—

"विशेषणविशेष्याभ्यां क्रियया यः सहोदितः।
विवक्षातोऽप्रयोगेऽपि तस्यार्थोऽयं प्रतीयते ॥२॥
व्यवच्छेदफलं वाक्यं यतश्चैत्रो धनुर्धरः।
पार्थो धनुर्धरो नीलं सरोजमिति वा यथा ॥३॥ [प्र० वा० ४।१९०-९२]

§ ७२. सम्यग्ज्ञानस्य च द्वैविध्यं प्रत्यक्षपरोक्षविषयद्वैविध्यादवसेयम्। यतोऽत्र प्रत्यक्षविष-

---

समाधान—आपकी शंका उचित नहीं है, क्योंकि—'सभी वाक्य सावधारण हैं' इससे जिनकी आशंका होती है इन्हींका व्यवच्छेद किया जाता है। वाक्यका प्रयोग दूसरेको समझानेके लिए किया जाता है, इसलिए दूसरा जिन भिन्न धर्मोंकी आशंका करता है उन्हींका व्यवच्छेद किया जाता है। 'चैत्रो धनुर्धरः' यहाँ चैत्रमें धनुर्धरत्वके अभावकी आशंका की गयी थी इसलिए धनुर्धरत्व-के अभावका ही व्यवच्छेद किया जायगा अन्य शौर्यादि धर्मोंका नहीं। 'दो ही हैं' यहाँ चार्वाक प्रमाणकी एक संख्या तथा सांख्यादि प्रमाणकी तीन आदि संख्याएँ मानते हैं, अतः नियत द्वित्वसंख्याके प्रदर्शनसे सम्यग्ज्ञानमें आशंकित एकत्व तथा त्रित्व आदि संख्याओंका व्यवच्छेद किया जाता है। इस तरह एवकार तीन प्रकारका होता है। जब यह विशेषणके साथ प्रयुक्त होता है तब अयोगव्यवच्छेदका बोध कराता है। (अयोगव्यवच्छेद-विशेषणके अयोग—असम्बन्ध या अभावका व्यवच्छेद करनेवाला जब यह विशेष्यके साथ प्रयुक्त होता है तब अन्ययोगव्यवच्छेदका बोध कराता है। (अन्ययोगव्यवच्छेद-प्रकृत विशेष्यसे अन्य विशेष्यमें विशेषणोंके योग—सम्बन्धका निराकरण करनेवाला। तथा जब यह एवकार क्रियाके साथ प्रयुक्त होता है तब अत्यन्तायोग-व्यवच्छेदका बोधक होता है। अत्यन्तायोगव्यवच्छेद—अत्यन्त अयोग--असम्बन्धका व्यवच्छेद अर्थात् निराकरण करनेवाला। विनिश्चय ग्रन्थमें भी कहा है—

"व्यतिरेचक अर्थात् व्यावृत्ति करनेवाला एवकार निपात, विशेषणके साथ प्रयुक्त होकर अयोगका, विशेष्यके साथ कहा हुआ अपरसे योग-अर्थात् अन्ययोगका, तथा क्रियाके साथ प्रयुक्त होकर अत्यन्तायोगका व्यवच्छेद करता है ॥१॥"

"यद्यपि वाक्योंमें एवकारका प्रयोग न भी किया जाय तो भी उसका उक्त अर्थ विवक्षासे ही अपने आप प्रतीत हो जाता है, क्योंकि सभी वाक्य व्यवच्छेद करानेवाले होते हैं। अयोग-व्यवच्छेद-जैसे 'चैत्र धनुर्धर ही है'। यहाँ चैत्रमें धनुर्धरत्वके अयोग—असम्बन्ध या अभावका व्यवच्छेद करके चैत्रमें धनुर्धरत्वके सद्भावका अवधारण किया गया है। अन्ययोगव्यवच्छेद-जैसे 'पार्थ ही धनुर्धर है' यहाँ पार्थ—अर्जुनमें अन्यव्यक्तिमें धनुर्धरत्वके योग—तादात्म्यादिसम्बन्धका व्यवच्छेद करके पार्थ ही में धनुर्धरत्वका तादात्म्य सम्बन्ध दिखाया गया है। अत्यन्तायोगव्यवच्छेद 'जैसे सरोज नील होता ही है' यहाँ सरोजमें नीलत्व धर्मके अत्यन्त अयोग अर्थात् असम्बन्धका व्यवच्छेद करके पूर्णरूपसे 'होता ही है' इस रूपसे होने रूप क्रियाका अवधारण किया गया है ॥३॥

§ ७२. यतः विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे दो ही प्रकारके हैं, इसलिए भी उन दो प्रकारके विषयोंको जाननेवाला सम्यग्ज्ञान दो ही प्रकारका हो सकता है। बौद्धके मतमें क्षणिक परमाणु-

यादन्यः सर्वोऽपि परोक्षो विषयः । ततो विषयद्वैविध्यात्तद्ग्राहके सम्यग्ज्ञाने अपि द्वे एव भवतो न न्यूनाधिके । तत्र यत् परोक्षार्थविषयं सम्यग्ज्ञानं तत् स्वसाध्येन धर्मिणा च संबद्धादन्यतः सकाशात्सामान्येनाकारेण परोक्षार्थस्य प्रतिपत्तिरूपम्, ततस्तदनुमानेऽन्तर्भूतमिति प्रत्यक्षानुमानलक्षणे द्वे एव प्रमाणे । तथाहि—न परोक्षोऽर्थः साक्षात्प्रमाणेन प्रतीयते, तस्यापरोक्षत्वप्रसक्तेः । विकल्पमात्रस्य च स्वतन्त्रस्य राज्यादिविकल्पवदप्रमाणत्वात्, परोक्षार्थाप्रतिबद्धस्यावश्यतया तदव्यभिचाराभावात् । न च स्वसाध्येन विना भूतोऽयं परोक्षार्थस्य गमकः, अतिप्रसक्तेः । धर्मिणा[1] चासंबद्धस्यापि गमकत्वे प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् स सर्वत्र प्रतिपत्तिहेतुर्भवेत् । ततो यत्किंचिदर्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रमाणं तदनुमानमेव, तस्यैवंलक्षणत्वात् । तथा च प्रयोगः—यत्प्रत्यक्षं प्रमाणं तदनुमानान्तर्भूतं यथा लिङ्गबलभाव्नि, अप्रत्यक्षप्रमाणं च शाब्दादिकं प्रमाणान्तरत्वेनाभ्युपगम्यमान-

---

रूप विशेष—स्वलक्षण तो प्रत्यक्षका विषय होता है तथा बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहात्मक सामान्य अनुमानका विषय होता है। इस तरह विषयकी द्विविधतासे प्रमाणके द्वैविध्यका अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष सामान्य पदार्थको तथा अनुमान स्वलक्षणरूप विशेष पदार्थको विषय नहीं कर सकता। प्रत्यक्षके विषयभूत अर्थसे भिन्न सभी अर्थ परोक्ष हैं। इस प्रकार विषयोंके दो प्रकार होनेसे उनका ग्राहक सम्यग्ज्ञान भी दो प्रकारका है। वह न तो एक प्रकारका है और न तीन प्रकारका। इनमें जो सम्यग्ज्ञान परोक्ष पदार्थको विषय करता है वह अनुमानमें अन्तर्भूत होता है। क्योंकि वह अपने साध्यभूत पदार्थसे अविनाभाव रखनेवाले तथा नियतधर्मीमें विद्यमान लिंगके द्वारा परोक्षार्थका सामान्य रूपसे अविशद ज्ञान करता है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं। वह इस प्रकार—परोक्ष पदार्थ प्रमाणके द्वारा साक्षात्—विशेषरूपसे तो प्रतीत होता ही नहीं है। यदि साक्षात् प्रतीत होने लगे तो वह परोक्ष ही नहीं रहेगा किन्तु प्रत्यक्ष कोटिमें आ जायगा। अनुमान एक विकल्प ज्ञान है। जो विकल्प ज्ञान निर्विकल्पसे उत्पन्न नहीं होकर मात्र वासनासे स्वतन्त्र भावसे उत्पन्न होता है वह तो प्रमाण ही नहीं है। जैसे मनमें 'मैं राजा हूँ' ऐसा विकल्पज्ञान किसी राज्य-जैसे पदार्थको साक्षात्कार करनेवाले प्रत्यक्षसे उत्पन्न न होकर अपने ही आप वासना-विशेषसे मनमें उद्भूत होता है अतः यह प्रमाण नहीं है। इसी तरह जो विकल्प परोक्ष अर्थके साथ अविनाभाव नहीं रखता वह विकल्प नियमसे अविसंवादी नहीं हो सकता। जो लिंगभूत अर्थ अपने साध्यके अभावमें भी हो जाता है उससे अपने साध्यका नियमपूर्वक ज्ञान नहीं हो सकता। असम्बद्ध लिंगसे अनुमान माननेपर तो चाहे जिस लिंगसे जिस किसी भी साध्यका अनुमान हो जाना चाहिए। इसी तरह नियत धर्मीके साथ सम्बन्ध नहीं रखनेवाले हेतुसे यदि साध्यका अनुमान हो तो महानसमें उपलब्ध होनेवाले धूमसे हिमालय पर्वतमें या सुमेरुपर्वतमें भी अग्निका अनुमान होना चाहिए; क्योंकि धर्मीसे असम्बद्ध हेतु की किसी खास धर्मीसे प्रत्यासत्ति—निकटता या किसी अविवक्षित धर्मीसे विप्रकर्ष—दूरी नहीं कही जा सकती। वह तो सभी धर्मियोंसे असम्बद्ध है अतः उसे जिस किसी भी धर्मीमें साध्यका अनुमान करा देना चाहिए। अतः अपने साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाले तथा नियतधर्मीमें विद्यमान लिंगसे होनेवाले जितने भी सम्यक् अविसंवादी विकल्प ज्ञान हैं वे सब अनुमान प्रमाणमें ही अन्तर्भूत हैं। क्योंकि 'अविनाभावी साधनसे नियतधर्मीमें साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं।' यही अनुमानका परिष्कृत लक्षण है। उपर्युक्त विवेचनके आधारसे हम ये निश्चित अनुमान बना सकते हैं—'(आगमादि अनुमानमें अन्तर्भूत है, क्योंकि वे अप्रत्यक्ष पदार्थको ही विषय करनेवाले प्रमाण हैं) जो अप्रत्यक्ष पदार्थको विषय करनेवाले प्रमाण हैं वे अनुमानमें ही अन्तर्भूत हैं जैसे कि लिंगदर्शनसे होनेवाला अनुमान

---

१. –णा वा सम्बन्धस्यापि म० २। –णा वा सम्बद्धस्यापि प० १, २।

मिति स्वभावहेतुः। यच्च यत्रान्तर्भूतं तस्य न ततो बहिर्भावः यथा प्रसिद्धान्तर्भावस्य क्वचित्कस्यापि, अन्तर्भूतं चेदं प्रत्यक्षादन्यत्प्रमाणमनुमानमिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, अन्तर्भावबहिर्भावयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया विरोधात्।

§ ७३. आह परः—भवतु परोक्षविषयस्य प्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावः, अर्थान्तरविषयस्य च शब्दादेस्तस्यान्तर्भावो[1] न युक्त इति चेत्; न; प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यामन्यस्य प्रमेयस्यार्थस्याभावात्, प्रमेयरहितस्य च प्रमाणस्य प्रामाण्यासम्भवात्, प्रमीयतेऽनेनार्थ इति प्रमाणमिति व्युत्पत्त्या सप्रमेयस्यैव तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। तथाहि—यदविद्यमानप्रमेयं न तत् प्रमाणं यथा केशोण्डुकादिविज्ञानम्, अविद्यमानप्रमेयं च प्रमाणद्वयातिरिक्तविषयतयाभ्युपगम्यमानं प्रमाणान्तरमिति कारणानुपलब्धिः, प्रमेयस्य साक्षात्पारम्पर्येण वा प्रमाणं प्रति कारणत्वात्। तदुक्तम्—"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं[3] कारणम्, नाकारणं विषयः" इति[4]।

रूप विकल्पज्ञान, सांख्य आदिके द्वारा माने गये शब्दादि भी अप्रत्यक्ष पदार्थको विषय करनेवाले प्रमाण हैं। (अतः अनुमानमें ही उनका अन्तर्भाव होना चाहिए)' यह स्वभाव हेतु है। '(आगमादि अनुमानसे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि वे उसीमें अन्तर्भूत हो जाते हैं) जिसका जिसमें अन्तर्भाव होता है वह उससे अतिरिक्त प्रमाण नहीं कहा जा सकता जैसे प्रत्यक्षमें अन्तर्भूत चाक्षुषप्रत्यक्ष, प्रत्यक्षसे भिन्न समस्त शाब्दादि प्रमाण भी चूँकि अनुमानमें ही अन्तर्भूत हैं (अतः अनुमानसे भिन्न प्रमाण नहीं हो सकते)।' यह स्वभावविरुद्धोपलब्धि है। अन्तर्भाव तथा बहिर्भावका परस्परपरिहारस्थिति (जहाँ अन्तर्भाव होगा वहाँ बहिर्भाव नहीं होगा तथा जहाँ बहिर्भाव होगा वहाँ अन्तर्भाव नहीं होगा) रूप विरोध है। यहाँ बहिर्भावका जो विरुद्ध स्वभाव अन्तर्भाव उपलब्ध होता है वह अपने विरोधी बहिर्भावका प्रतिषेध सिद्ध करता है। अतः यह हेतु स्वभावविरुद्धोपलब्धि रूप है।

§ ७३. शंका—यह तो उचित है कि परोक्षको विषय करनेवाले प्रमाणका अनुमानमें अन्तर्भाव हो, पर आगम आदि प्रमाण तो भिन्न प्रकारके ही पदार्थोंको विषय करते हैं अतः उनका भी अनुमानमें अन्तर्भाव करना किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता?

समाधान—यह शंका तो तब ठीक होती जब प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दोसे भिन्न कोई तीसरा प्रमेय होता, जिसको कि विषय करनेके कारण आगम आदिको स्वतन्त्र प्रमाण घोषित किया जाय। प्रमेयके बिना तो प्रमाणमें प्रमाणता ही नहीं आ सकती। 'जिसके द्वारा प्रमेय जाना जाता है वह प्रमाण है' यह प्रमाण शब्दकी व्युत्पत्ति भी उसके प्रमेयाविनाभावको बता रही है। अतः जिसका प्रमेय विद्यमान है वही प्रमाण हो सकता है। 'जिस ज्ञानका प्रमेय विद्यमान नहीं है वह प्रमाण नहीं हो सकता जैसे स्वच्छ आकाशमें होनेवाला केश तथा मच्छरके आकार वाला ज्ञान, चूँकि प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न आगम आदि प्रमाणोंके विषय भी अविद्यमान हैं (अतः वे प्रमाण नहीं हो सकते)' यह हेतु कारणानुपलब्धि रूप है। पदार्थ कहीं साक्षात् और कहीं परम्परासे प्रमाणमें कारण होता ही है। कहा भी है—"जिसका जिसके साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं है वह उसका कारण नहीं हो सकता तथा जो पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं है वह ज्ञानका विषय भी नहीं हो सकता।" इस तरह प्रमाणमें कारणभूत प्रमेयकी अनुपलब्धि होनेसे शब्द आदिमें प्रमाणताका निषेध कारणानुपलब्धि रूप हेतुसे किया गया है।

---

१. –भावोऽयुक्तः प० १, २, म० १, २। २. –तस्य च प्रामा–म० २। ३. कारणं विषयः म० २। ४. "अहेतुश्च विषयः कथम्"—प्र० वा० ३।४०६। "नाहेतुविषयः"—प्र० वार्तिकाल० ३।४०६। "न ह्यकारणं प्रतीतिविषयः"—हेतुबि० टी० पृ० ८०। "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः"। —न्यायकु० पृ० ६४०। सन्मति० टी० पृ० ५१०। सिद्धिवि० टी० पृ० १८८। प्र० मी० पृ० ३४।

§ ७४. प्रत्यक्षपरोक्षातिरिक्तं प्रमेयान्तरं नास्तीति चाध्यक्षेणैव प्रतिपाद्यते । अध्यक्षं हि पुरःस्थितार्थसामर्थ्यादुपजायमानं तदुगतात्मनियतप्रतिभासावभासितेव तस्यार्थस्य प्रत्यक्षव्यवहारकारणं भवति, तदन्यार्थात्मतां च तस्य व्यवच्छिन्दानमन्यत्परोक्षमर्थजातं सकलं राश्यन्तरत्वेन व्यवस्थापयत्तृतीयप्रकाराभावं च साधयति, अध्यक्षेणाप्रतीयमानस्य सकलस्यार्थजातस्याप्यत्वेन परोक्षतया व्यवस्थापनात् । अन्यथा तस्य तदन्यार्थरूपताऽव्यवच्छेदे स्वीयरूपतयापि परिच्छेदो न भवेदिति न किंचित्प्रत्यक्षेणावगतं भवेत् । प्रतिनियतस्वरूपता हि भावानां प्रमाणतो व्यवस्थिता । अन्यथा सर्वस्य सर्वथोपलम्भादिप्रसङ्गतः प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिर्भवेत् । प्रतिनियतस्वरूपता चेन्न प्रत्यक्षावगता किमन्यद्रूपं तेन तस्यावगतमिति पदार्थस्वरूपावभासिनाध्यक्षेण प्रमेयान्तराभावः प्रतिपादित एव ।

§ ७५. अनुमानतोऽपि तदभावः[1] प्रतीयत एव, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामितरप्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्थापनात्। प्रयोगश्चात्र—यत्र यत्प्रकारव्यवच्छेदेन[2] तदितरप्रकारव्यवस्था, न तत्र

§ ७४. 'प्रत्यक्ष और परोक्षसे भिन्न कोई तीसरा प्रमेय नहीं है' इसका साक्षी तो स्वयं प्रत्यक्ष ही है । प्रत्यक्ष सामने विद्यमान पदार्थकी सामर्थ्यसे उत्पन्न होता है और उस अर्थके आकारवाला होनेके कारण उसका प्रतिभास उसी पदार्थके स्वरूपमें ही केन्द्रित होकर उस अर्थमें प्रत्यक्ष व्यवहार करा देता है। जैसे कि घट पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष घटके आकारवाला होनेके कारण 'घटोऽयम्' इस रूपसे घट पदार्थके स्वरूपमें ही सीमाबद्ध होकर घट अर्थमें ही प्रत्यक्ष व्यवहार कराता है । घट प्रत्यक्ष केवल घट व्यवहार करके ही चुप नहीं बैठता किन्तु अपने विषयका अन्य समस्त घट भिन्न पदार्थोंसे व्यवच्छेद भी करता है । इस तरह प्रत्यक्ष अपने नियत विषयमें प्रत्यक्ष व्यवहार करानेके साथ ही साथ लगे हाथ अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति भी करता जाता है । ये अन्य पदार्थ ही जिनसे कि प्रत्यक्ष अपने प्रत्यक्षभूत अर्थकी व्यावृत्ति करता है परोक्ष राशिमें शामिल होते हैं । बस, पदार्थोंकी इन प्रत्यक्ष और परोक्ष दो राशियोंसे भिन्न कोई तीसरी राशि हो ही नहीं सकती; क्योंकि प्रत्यक्षके विषय नहीं होनेवाले यावत् प्रत्यक्षभिन्न पदार्थ परोक्षराशिमें अन्तर्भूत हैं । यदि प्रत्यक्ष अपने विषयभूत पदार्थका अन्य पर-पदार्थोंसे व्यवच्छेद न करे तो वह अपने विषयका प्रतिनियत रूपमें परिच्छेद ही न कर सकेगा । मतलब यह कि किसी भी पदार्थका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकेगा । प्रमाणके द्वारा तो पदार्थोंका प्रतिनियत स्वरूप ही व्यवस्थित होता है । प्रतिनियत स्वरूपकी व्यवस्था अन्य पररूपका व्यवच्छेद करनेके बाद स्वरूपका ग्रहण करके ही हो सकती है । यदि प्रमाण प्रतिनियत स्वरूपको व्यवस्था न करे तो सभी पदार्थ सब आकारोंमें उपलब्ध होने लगेंगे । ऐसी दशामें जगत्से 'यह जल है' 'यह अग्नि है', इत्यादि प्रतिनियत व्यवहारका ही लोप हो जायेगा । यदि प्रत्यक्ष पदार्थके प्रतिनियत स्वरूपको नहीं जानता है तब आखिर वह पदार्थके किस रूपको जानेगा ? इस तरह पदार्थके प्रतिनियत स्वरूपको जाननेवाला प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष और परोक्षसे अतिरिक्त अन्य प्रमेयके अभावको कह रहा है ।

§ ७५. अनुमानसे भी प्रत्यक्ष और परोक्षसे अतिरिक्त तृतीय प्रमेयान्तरका अभाव प्रतीत होता है । जो दो वस्तुएँ एक-दूसरेका अभाव करके व्यवस्थित होती हैं उनमें-से किसी एकका निषेध करनेसे दूसरेकी विधि अपने ही आप हो जाती है । जैसे नीलता अनीलताका व्यवच्छेद करके तथा अनीलता नीलताका निषेध करके अपना स्वरूप लाभ करती है, अतः जहाँ नीलताका निषेध होता है वहाँ अनीलताका विधान तथा जहाँ अनीलताका निषेध होता है वहाँ नीलताका

१. –व्यवस्थानात् म० २ । २. तुलना–"यत्र यत्प्रकार व्यवच्छेदेन यदितरप्रकारव्यवस्थानं न तत्र प्रकारान्तरसंभवः तद्यथा नीलप्रकारव्यवच्छेदेन अनीलप्रकारान्तरव्यवस्थायां पोते....."—हेतुबि० टी० पृ० १४८ । तत्त्वसं० पृ० ४३३–४४५ । ३. तदितरव्यवस्थानं तत्र म० २ ।

प्रकारान्तरसंभवः। तद्यथा पीतादौ नीलप्रकारव्यवच्छेदेनानीलप्रकारव्यवस्थायाम्। अस्ति च प्रत्यक्ष-परोक्षयोरन्यतरप्रकारव्यवच्छेदेनेतरप्रकारव्यवस्था व्यवच्छिद्यमानप्रकाराविषयीकृते सर्वस्मिन्प्रमेय इति विरुद्धोपलब्धिः, तदतत्प्रकारयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात्। अतः प्रमेयान्तराभावान्न प्रमाणान्तरभावः। उक्तं च—

"न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः।
तस्मात्प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥१॥" [प्र० वा० २।६३] इति ॥

अत्र शाब्दोपमानार्थापत्त्यभावादिप्रमाणान्तराणां निराकरणम् प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावनं वा यथा भवति, तथा प्रमाणसमुच्चयादिबौद्धग्रन्थेभ्यः संमत्यादिग्रन्थेभ्यो[2] वावगन्तव्यम्। ग्रन्थगौरवभयात्तु नोच्यते। ततः स्थितमेतत्—प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे इति ॥९॥

§ ७६. अथ प्रत्यक्षलक्षणमाह—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुध्यताम्।

सद्भाव अपने ही आप हो जाता है। अनुमानका प्रयोग इस प्रकार है—'जहाँ एक प्रकारका निषेध करके दूसरे प्रकारकी व्यवस्था होती है वहाँ उन दोसे भिन्न तृतीय प्रकारकी सम्भावना नहीं है, जैसे पीत आदिमें नीलत्वका व्यवच्छेद करके अनीलताका विधान होनेपर नीलता और अनीलतासे भिन्न किसी तृतीय प्रकारकी सम्भावना नहीं होती। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप प्रकार भी एक-दूसरेका व्यवच्छेद करके अपने स्वरूपकी व्यवस्था करते हैं अतः संसारके सभी प्रमेयोंमें या तो प्रत्यक्षताका व्यवच्छेद करके परोक्षता होगी अथवा परोक्षताका व्यवच्छेद करके प्रत्यक्षता फलित होगी, इन दोसे भिन्न किसी तीसरे प्रकारकी सम्भावना नहीं की जा सकती।' यह हेतु विरुद्धोपलब्धिरूप है। तत्प्रकार-प्रत्यक्ष और अतत्प्रकार परोक्ष एक-दूसरेका परिहार करके अपनी स्थिति रखते हैं। इस तरह जब तीसरा प्रमेय ही नहीं है तब तृतीय प्रमाणकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। कहा भी है—

"चूँकि प्रत्यक्ष और परोक्षसे भिन्न कोई तीसरा प्रमेय ही नहीं है अतः दो प्रमेय होनेसे दो ही प्रमाण माने जाते हैं।"

आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव आदि प्रमाणान्तरोंका निराकरण तथा इनका इन्हीं प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमें अन्तर्भाव करनेकी प्रणाली प्रमाणसमुच्चय आदि बौद्धग्रन्थोंसे सन्मतितर्क आदि जैन ग्रन्थोंसे जान लेनी चाहिए। ग्रन्थका कलेवर न बढ़े इसलिए इस संक्षिप्त ग्रन्थमें उन विस्तृत चर्चाओंको नहीं लिखते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि—प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं।

§ ७६. अब प्रत्यक्षके लक्षणका निरूपण करते हैं—

कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक तथा भ्रान्तिसे रहित अभ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।

---

१. –क्यं यथा म० २। २. द्रष्टव्यम्—सन्मति टी० पृ० ५७३–५९०। प्रमेयक० पृ० १८२–१९५। न्यायकुमु० पृ० ४८९–५१९। ३. "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥"—प्र० समु० १। ३। "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम् ॥" न्यायबि० १।४। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमभिलापिनी। प्रतीतिः कल्पना कस्मिंहेतुत्वाद्वास्तिका न तु।"—तत्त्वसं० श्लो० १२१४।

§ ७७. व्याख्या—तत्र तयोः प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये प्रत्यक्षं बुध्यतां ज्ञायताम् । तत्र प्रतिगतमक्षमिन्द्रियं प्रत्यक्षम् । कीदृशम् । कल्पनापोढम् । शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना[1] । कल्पना अपोढा अपेता यस्मात्तत् कल्पनापोढम् । ननु बहुव्रीहौ निष्ठान्तं पूर्वं निपतति, ततोऽपोढकल्पनमिति स्यात् । न; "वाहिताग्न्यादिषु" इति वावचनात्, आहिताग्न्यादेश्चाकृतिगणत्वाच्च पूर्वनिपातः । कल्पनया वापोढं रहितं कल्पनापोढम् नामजात्यादिकल्पनारहितमित्यर्थः । तत्र नामकल्पना यथा डित्थ इति । जातिकल्पना यथा गौरिति । आदिशब्दाद् गुणक्रियाद्रव्यपरिग्रहः । तत्र गुणकल्पना यथा शुक्ल इति । क्रियाकल्पना[2] यथा पाचक इति । द्रव्यकल्पना[3] यथा दण्डी भूस्थो वेति । आभिः कल्पनाभी रहितम्, शब्दरहितस्वलक्षणजन्मत्वात्प्रत्यक्षस्य । उक्तं च—"न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा, येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेरन्"[4] [ ] इत्यादि । एतेन

§ ७७. तत्र—उन प्रत्यक्ष और अनुमानमें-से प्रत्यक्षका निम्नलिखित लक्षण समझना चाहिए । जो अक्ष—इन्द्रियोंके प्रतिगत आश्रित हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । शब्दसंसर्गवाली प्रतीतिको कल्पना कहते हैं । जो ज्ञान कल्पनासे रहित है वह कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक होता है ।

शंका—बहुव्रीहि समासमें निष्ठा प्रत्ययान्त शब्दका पूर्वनिपात–पहले प्रयोग होता है इसलिए कल्पनापोढकी जगह अपोढ शब्दका जो कि निष्ठाप्रत्ययान्त है पूर्वनिपात होनेसे 'अपोढकल्पनं' कहना चाहिए ।

समाधान—वैसा नहीं भी होता है । क्योंकि "वा आहिताग्न्यादिषु" इस सूत्रमें 'वा' है । अतएव निष्ठान्तका पूर्वनिपात विकल्पसे होता है अतः 'कल्पनापोढं' को वैकल्पिक रूप मानना चाहिए । अथवा 'आहिताग्नि' आदि शब्दोंका आकृतिगण (शब्दोंकी आकृति-स्वरूपसे ही जिनका भान हो जाय) में पाठ होनेसे उनकी संख्या निश्चित है । असएव यहाँ पूर्वनिपात नहीं है । अथवा 'कल्पनापोढ' पदमें बहुव्रीहि समास न मानकर 'कल्पनासे अपोढ—रहित' ऐसा तृतीया तत्पुरुष समास कर लेना चाहिए । कल्पनापोढ–अर्थात् नाम-वाचकशब्द तथा जाति आदि वाच्यकी कल्पनासे रहित अथवा नाम जाति आदिके निमित्तसे होनेवाली कल्पनाओंसे रहित ज्ञानको कल्पनापोढ कहते हैं । कोई कल्पना नाम–इच्छानुसार की गयी संज्ञा—के अनुसार की जाती है, जैसे किसी व्यक्तिका नाम व्यवहारके लिए डित्थ रख लिया जाता है । जातिकी अपेक्षा की जानेवाली कल्पना जातिकल्पना कही जाती है, जैसे गोत्वजातिरूप निमित्तको लेकर की जानेवाली गौरूप कल्पना । आदि शब्दसे गुण, क्रिया तथा द्रव्यकी अपेक्षासे की जानेवाली कल्पनाओंका संग्रह कर लेना चाहिए, 'यह शुक्ल है' यह कल्पना शुक्ल गुणके निमित्तसे की जाती है । 'यह पाचक है' यह कल्पना पचनक्रियाकी अपेक्षासे होती है । दण्ड आदि द्रव्यके सम्बन्धसे 'यह दण्डवाला है, 'यह पृथिवीपर ठहरा है' इत्यादि कल्पनाएँ हुआ करती हैं । प्रत्यक्ष इन समस्त कल्पनाओंसे रहित होता है, तथा वह ऐसे स्वलक्षण रूप अर्थसे उत्पन्न होता है जो कि शब्दके संसर्गसे रहित है । अतः जब पदार्थमें ही शब्दसंसर्ग नहीं है तब उससे उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पकमें तो शब्दकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती । कहा भी है—

१. "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना ।।" —न्यायवि० १।५ । "अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह । नामजात्यादियोजना । यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ–उच्यते डित्थ इति । जातिशब्देषु नाम्ना गौरियमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति । अत्र संबन्ध विशिष्टस्येति केचित् । अन्ये त्वर्थशून्यैः शब्दैरेव विशिष्टोऽर्थ इति । —प्र० समु० वृ० पृ० १२ । २. –ना पा–भ० २ । ३. –ना द–भ० २ । ४. उद्धृतमिदम्—न्यायप्र० वृ० पृ० ३५ । अष्टस० पृ० ११८ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० १३२ । सिद्धिवि० टी० पृ० ९० ।

स्थिरस्थूलघटपटादिबाह्यवस्तुग्राहिणः सविकल्पकज्ञानस्य प्रत्यक्षतां निरस्यति। पुनः कीदृशं प्रत्यक्षम्। अभ्रान्तम्, "अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः" [ ] इति वचनात्। नासद्भूतवस्तुग्राहकं किं तु यथावत्परस्परविविक्तक्षणक्षयिपरमाणुलक्षणस्वलक्षणपरिच्छेदकम्। अनेन निर्विकल्पकानां[1] भ्रान्ततैमिरिकादिविज्ञानानां प्रत्यक्षतां प्रतिक्षिपति।

§ ७८. [2]इदं प्रत्यक्षं चतुर्धा[3]—इन्द्रियज्ञानं मानसं स्वसंवेदनं योगिज्ञानं च। तत्र चक्षुरादीन्द्रियपञ्चकाभ्यमेणोत्पन्नं बाह्यरूपादि[4]पञ्चविषयालम्बनं ज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम्[5]। स्वविषयानन्तर[6]विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन[7] जनितं मनोविज्ञानं मानसम्[8]। स्वविषयस्य घटादेरिन्द्रियज्ञानविषयस्यानन्तरो विषयो द्वितीयः क्षणः, तेन सहकारिणा सह मिलित्वेन्द्रियज्ञानेनोपादानेन समनन्तरप्रत्ययसंज्ञकेन यज्जनितं मनोविज्ञानं तन्मानसम्। समनन्तरप्रत्ययविशेषणेन

"न तो स्वलक्षणरूप अर्थमें ही शब्द हैं और न स्वलक्षण शब्दात्मक ही है जिससे स्वलक्षणरूप अर्थके प्रतिभासित होनेपर शब्दोंका अवश्य ही प्रतिभास हो।" इत्यादि। प्रत्यक्षके निर्विकल्पक विशेषणसे घट-पटादि बाह्य पदार्थोंको स्थिर तथा स्थूल रूपसे ग्रहण करनेवाले सविकल्पक ज्ञानकी प्रत्यक्षताका निरास हो जाता है। प्रत्यक्ष अभ्रान्त—भ्रान्तिसे रहित होता है। "अतस्मिन्—जो पदार्थ जैसा नहीं है उसमें तद्ग्रह—उस प्रकारके ज्ञानको भ्रान्ति कहते हैं" यह भ्रान्तिका लक्षण है। अतः प्रत्यक्ष असद्भूत अर्थको ग्रहण नहीं करता, किन्तु परस्पर भिन्न, क्षणिक परमाणुरूप स्वलक्षणोंका यथार्थ परिच्छेदक होता है। अभ्रान्त विशेषणसे तिमिर रोगियों आदिको होनेवाले भ्रान्त निर्विकल्पकज्ञानोंकी प्रत्यक्षताका निरास हो जाता है।

§ ७८. प्रत्यक्ष चार प्रकारका है—१ इन्द्रियप्रत्यक्ष, २ मानस, ३ स्वसंवेदन, और ४ योगि-विज्ञान। चक्षुरादि पाँच इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले रूपादि पाँच बाह्यपदार्थोंको विषय करनेवाले ज्ञानको इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस विषय क्षणसे इन्द्रियज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी विषयका द्वितीय क्षण जिसमें विषय रूपसे सहकारी कारण है तथा स्वयं इन्द्रिय प्रत्यक्ष जिसमें उपादान कारण होता है उस इन्द्रियप्रत्यक्षानन्तरभावी (अनुव्यवसायरूप) ज्ञानको मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। स्वविषय—इन्द्रिय ज्ञानके विषयभूत घटादि विषयके अनन्तर—द्वितीयक्षणरूप सहकारीकी सहायतासे इन्द्रियज्ञानरूप समनन्तरप्रत्यय—उपादानकारण जिस मनोविज्ञानको उत्पन्न करते हैं वह मानस-प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियज्ञानके विषयभूत अर्थका प्रथमक्षण तो

१. —रूपां भ० २। २. इदं च चतु —आ०, क०। ३. "तत् चतुर्विधम्।" —न्यायवि० १।७। ४. —विविध—भ० २। ५. "इन्द्रियज्ञानम्। ८। इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम्। इन्द्रियाश्रितं यत् तत् प्रत्यक्षम्।" —न्यायवि०, टी० १।८। ६. —नन्तरं वि—आ०, क०। ७ —प्रत्ययसंज्ञकेन आ०, क०। ८. "स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्। ९। स्व आत्मीयो विषय इन्द्रियज्ञानस्य तस्य अनन्तरः—न विद्यतेऽन्तरमस्येति। अन्तरं च व्यवधानं विशेषश्चोच्यते। ततश्चान्तरे प्रतिषिद्धे समानजातीयो द्वितीयक्षणभाव्युपादेयक्षण इन्द्रियविज्ञानविषयस्य गृह्यते। तथा च सति इन्द्रियज्ञानविषयक्षणादुत्तरक्षण एवसंतानान्तर्भूतो गृह्यते। स सहकारी यस्येन्द्रियज्ञानस्य तत् तथोक्तम्। द्विविधश्च सहकारी परस्परोपकारी एककार्यकारी च। इह च क्षणिके वस्तुन्यतिशयाधानाऽयोगादेककार्यकारित्वेन सहकारी गृह्यते। विषयविज्ञानाभ्यां हि मनोविज्ञानमेकं क्रियते यतस्तदनयोः परस्परसहकारित्वम्। ईदृशेनेन्द्रियविज्ञानेनालम्बनभूतेनापि योगिज्ञानं जन्यते। तन्निरासार्थं समनन्तरप्रत्ययग्रहणं कृतम्। समश्चासौ ज्ञानत्वेन अनन्तरश्चासौ अव्यवहितत्वेन, स चासौ प्रत्ययश्च हेतुत्वात् समनन्तरप्रत्ययः, तेन जनितम्। तदनेनैकसन्तानान्तर्भूतयोरेवेन्द्रियज्ञान-मनोविज्ञानयोर्जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति। ततो योगिज्ञानं परसंतानवर्ति निरस्तम्।" —न्यायवि० टी० १।९।

योगिज्ञानस्य मानसत्वप्रसङ्गो निरस्तः । समनन्तरप्रत्ययशब्दः स्वसंतानवर्तिन्युपादाने ज्ञाने रूढ्या प्रसिद्धः । ततो भिन्नसन्तानवर्तियोगिज्ञानमपेक्ष्य पृथग्जनचित्तानां समनन्तरव्यपदेशो नास्ति । सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्[1] । चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानम्, चित्ते भवाश्चैत्ता[2] वस्तुनो विशेषरूपग्राहकाः सुखदुःखोपेक्षालक्षणाः तेषामात्मा येन संवेद्यते तत् स्वसंवेदनमिति[3] । भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम् । भूतार्थः प्रमाणोपपन्नार्थः, भावना पुनः पुनश्चेतसि समारोपः । भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्ताज्जातं योगिज्ञानम्[4] ।

§ ७९. ननु यदि क्षणक्षयिणः परमाणव एव तात्त्विकास्तर्हि किंनिमित्तोऽयं [5]घटपटकट-

---

इन्द्रियज्ञानमें ही कारण होता है अतः मानसज्ञानकी उत्पत्तिमें उसी विषयका द्वितीय क्षण ही सहकारी हो सकता है । 'इन्द्रियज्ञानरूप समनन्तर प्रत्ययसे उत्पन्न होता है' इस विशेषणसे योगिज्ञानमें मानस प्रत्यक्षत्वका प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि योगिज्ञानमें इन्द्रियप्रत्यक्ष उपादान कारण नहीं होता (वह तो भावनाप्रकर्षमें उत्पन्न होता है) । समनन्तरप्रत्यय शब्दका प्रयोग अपनी ही सन्तानमें होनेवाले उपादानभूत पूर्वक्षणमें रूढिसे होता है अतः हम लोगोंके ज्ञानका साक्षात्कार करनेवाले योगिज्ञानमें, हमारे ज्ञान भिन्नसन्तानवर्ती होनेके कारण समनन्तर प्रत्यय—उपादान कारण नहीं होते, हमारे ज्ञान तो योगिज्ञानमें विषय-विधया कारण होते हैं, अतः वे योगिज्ञानके प्रति आलम्बन प्रत्यय ही हो सकते हैं । चित्त अर्थात् केवल वस्तुको विषय करनेवाला ज्ञान तथा चैत्त अर्थात् वस्तुके विशेषोंको ग्रहण करनेवाला ज्ञान सुख-दुःख-उपेक्षारूप ज्ञान । समग्र चित्त और चैत्तके स्वरूपका संवेदन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है । चित्त अर्थात् वस्तु मात्रको ग्रहण करनेवाले ज्ञान, चित्तमें होनेवाले चैत्त अर्थात् वस्तुके विशेष रूपको ग्रहण करनेवाले सुख-दुःख तथा उपेक्षात्मक ज्ञान, इन दोनोंके स्वरूपका संवेदन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है । भूतार्थ-वास्तविक क्षणिक निरात्मक आदि अर्थोंकी प्रकृष्ट भावनासे योगिप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है । भूतार्थ—प्रमाणसिद्ध पदार्थोंकी भावना—चित्तमें बार-बार विचार जब प्रकृष्ट होता है तब उससे योगिज्ञानकी समुत्पत्ति होती है ।

§ ७९. **शंका**—यदि क्षणिक परमाणु रूप अर्थ ही तात्त्विक है तब घट, पट, चटाई, गाड़ी, लाठी आदि स्थूल अर्थोंका प्रतिभास कैसे होता है ?

समाधान—वस्तुतः घट-पटादि स्थूल पदार्थ हैं ही नहीं । यह तो हमारी अनादिकालीन मिथ्यावासनाका ही विचित्र परिपाक हो रहा है जो हम लोगोंको किसी वास्तविक आलम्बनके

---

१. "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम् । १० । सर्वचित्तेत्यादि । चित्तम् अर्थमात्रग्राहि । चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः । सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्तचैत्ताः । सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात् स्वसंविदिताः, अन्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम् । नास्ति सा काचित् चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात् । येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् ।" —न्यायबि०, टी० १।१० । २. वस्तुविशेष—आ०, क० । ३. –दनं भूता–प० १, २, म० १, २ । ४. "भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।११। भूतः सद्भूतोऽर्थः । प्रमाणेन दृष्टश्च सद्भूतः । यथा चत्वार्यार्यसत्यानि । भूतस्य भावना पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनम् । भावनायाः प्रकर्षो भाव्यमानार्थाभासस्य ज्ञानस्य स्फुटाभत्वारम्भः । प्रकर्षस्य पर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वमीषदसंपूर्णं भवति । यावद्धि स्फुटाभत्वमपरिपूर्णं तावत् तस्य प्रकर्षगमनम् । संपूर्णं तु यदा तदा नास्ति प्रकर्षगतिः । ततः संपूर्णावस्थायाः प्राक्तन्यवस्था स्फुटाभत्वप्रकर्षपर्यन्त उच्यते । तस्मात् पर्यन्ताद् यज्ज्ञानं भाव्यमानस्यार्थस्य संनिहितस्येव स्फुटाकारग्राहिज्ञानं योगिनः प्रत्यक्षम् ।" न्यायबि०, टी० १।११ । ५. –पटशकट– क० । –पटकटलकुटा–म० ।

शकटलकुटादिस्थूलार्थप्रतिभास इति चेत्; [1]निरालम्बन एवायमनादिविचित्रवासनाप्रवर्तितस्थूलार्थावभासो निर्विषयत्वाद्वाकाशकेशवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति । यदुक्तम्—

"बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे[2] प्रवर्तते[3] ॥ १ ॥" इति ।

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्धेर्योऽस्ति[4] तया नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥ २ ॥"[5] [प्र० वा० २।३२७] इति च ।

§ ८०. ननु प्रत्यक्षेण क्षणक्षयिपरमाणुस्वरूपं स्वलक्षणं कथं संवेद्यत इति चेत् । उच्यते-प्रत्यक्षं हि वर्तमानमेव सन्निहितं वस्तुनो रूपं प्रत्येति, न पुनर्भावि भूतं तत्, असन्निहितत्वात्तस्य । तर्हि प्रत्यक्षानन्तरं नीलरूपतानिर्णयवत्क्षणक्षयनिर्णयः कुतो नोत्पद्यत इति चेत् । उच्यते—[6]तदेव स्मृतिः पूर्वदेशकालवशासंबन्धितां वस्तुनोऽध्यवस्यन्ती क्षणक्षयनिर्णयमुत्पद्यमानं निवारयति ।

बिना ही नाना प्रकारके स्थूल पदार्थोंका प्रतिभास होता है । जिस प्रकार स्वच्छ आकाशमें केशका प्रतिभास होता है अथवा स्वप्नमें नाना प्रकारके अर्थोंका विचित्र प्रतिभास होता है उसी प्रकार ये घट-पटादि स्थूल प्रतिभास निरालम्बन निर्विषय तथा मिथ्या हैं । कहा भी है—

"बाल अर्थात् मिथ्या वासनासे कलुषित अज्ञानी लोग जिस-जिस स्थिर, स्थूल आदि रूपसे पदार्थोंकी कल्पना करते हैं वस्तुतः अर्थ उस रूपसे किसी भी तरह बाह्यमें अपनी सत्ता नहीं रखता । सत्य तो यह है कि हमारी मिथ्यावासनाके कारण चित्त ही उन-उन अर्थोंके आकारसे प्रतिभासित होता है ॥१॥ तथा,

"बुद्धिके द्वारा अनुभाव्य – अनुभव करने योग्य कोई ग्राह्य पदार्थ नहीं है और न बुद्धिको ग्रहण करनेवाला अन्य कोई ग्राहक अनुभव ही है । अतः यह बुद्धि ग्राह्य-ग्राहक भावसे रहित होकर स्वयं ही प्रकाशमान होती है ॥२॥"

§ ८०. **शंका**—प्रत्यक्षके द्वारा क्षणिक परमाणुरूप स्वलक्षणका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान—प्रत्यक्ष वस्तुके सन्निहित—सामने उपस्थित तथा वर्तमान रूपको ही जानता है । वह वस्तुके अतीत तथा भविष्यत् रूपको नहीं जान सकता; क्योंकि ये स्वरूप न तो सन्निहित ही हैं और न वर्तमान ही । पदार्थके शुद्ध वर्तमान रूपका प्रतिभास ही उसकी क्षणिकताका प्रतिभास है ।

शंका—यदि प्रत्यक्षसे क्षणिकताका ज्ञान हो जाता है तब जिस प्रकार नील प्रत्यक्षसे नीलरूपताका निर्णय करनेवाला 'नीलमिदम्' यह विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरह प्रत्यक्षके बाद ही उसकी क्षणिकताका निश्चय करनेवाला 'क्षणिकमिदम्' यह विकल्प क्यों नहीं उत्पन्न होता ?

---

१. "तस्मादनादिवासनाभूतानुमानपरम्पराप्रवृत्तमनुमानमाश्रित्य बहिरर्थकल्पनायां ग्राह्यग्राहकसंवेदनकल्पनाप्रवृत्तेः ग्राह्यादिकल्पना, परमार्थतः संवेदनमेवाविभागमिति स्थितम् ।" —प्र० वार्तिकाल० पृ० ३९८ । युक्त्योपपन्ना हि सती प्रकल्प्य ग्रहासनामर्थनिराक्रियेयम् । तथापि बाह्याभिनिवेश एव जगद् ग्रहग्रस्तमिदं सकलम् ॥ तस्माद्विभक्त आकारः सकलो वासनाबलात् । बहिरर्थस्वरहितस्ततोऽनालम्बना मतिः ॥ अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः । तथा ह्येदमेवानालम्बनत्वं यदात्माकारवेदनत्वम् । —प्र० वार्त्तिकाल० पृ० ६५९ । २. –मर्थो भावः प्र० भ० २ । ३ –र्तते ॥१॥ नान्यो–आ० । ४. तस्य भ० २ । ५. 'नान्योनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः । तस्यापि तुल्यधीत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥" —प्र० वा० २।३२७ । ६. तदेवं स्मृ–आ० ।

अत एव सौगतैरिदमभिधीयते—दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात्, कुत श्चिद्भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणं किन्तु प्रत्युताप्रमाणम्, विपरीता[1]ध्यवसायाक्रान्तत्वात्, क्षणिकत्वेऽपि न तत् प्रमाणम् अनुरूपाध्यवसायाजननात् । नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात्प्रमाणमिति । ततो युक्तमुक्तं निर्विकल्पकमभ्रान्तं च प्रत्यक्षमिति ।

§ ८१. अत्र "[2]अभ्रान्तम्' इति विशेषणग्रहणादनुमाने च तदग्रहणादनुमानं भ्रान्तमित्यावेदयति । तथाहि—भ्रान्तमनुमानम्, सामान्यप्रतिभासित्वात्, सामान्यस्य[3] च बहिःस्वलक्षणे व्यतिरेकाव्यतिरेकविकल्पाभ्यामप्रक्रियमाणतयाऽयोगात्, सामान्यस्य स्वलक्षणरूपतयानुमानेन विकल्प्यमानात्[4] : तत्रिविक्तस्वलक्षणे तद्ग्रहस्य स्वलक्षणतया[5] परिच्छेदस्य भ्रान्तिलक्षणत्वात् । प्रामाण्यं पुनः प्रणालिकया बहिःस्वलक्षणबलायातत्वादनुमानस्य । तथाहि—नार्थं विना तादात्म्यतदुत्पत्तिरूपसंबन्धप्रतिबद्धलिङ्गसद्भावः[6], न तद्विना तद्विषयं ज्ञानम्, न तज्ज्ञानमन्तरेण प्रागवधारितसंबन्धस्मरणम्, तदस्मरणे नानुमानमित्यर्थाव्यभिचारित्वाद् भ्रान्तमपि प्रमाणमिति संगीयते[7] ।

समाधान—निर्विकल्पक दर्शनके द्वारा जिस समय पदार्थके क्षणिकत्वका अनुभव होता है ठीक उसी समय उस पदार्थकी पूर्वदेश सम्बन्धिता, पूर्वकाल सम्बन्धिता तथा पूर्वदशाका स्मरण होता है और उससे यह मालूम होने लगता है कि—'यह वही पदार्थ है जो उस देशमें था, यह वही पदार्थ है जो पहले भी मौजूद था, यह वही पदार्थ है जो उस अवस्थामें था' इत्यादि । यही स्थिरताका स्मरण 'क्षणिकमिदम्' इस विकल्पज्ञानको नहीं होने देता । इसीलिए बौद्ध कहते हैं कि—निर्विकल्पक दर्शनके द्वारा तो क्षणिक और अक्षणिक उभय साधारण वस्तुमात्रका ग्रहण होता है, अतएव बादमें किसी विभ्रम निमित्तसे वस्तुमें अक्षणिकत्वका आरोप हो जाय तब भी निर्विकल्पको अक्षणिक अंशमें प्रमाण नहीं माना जा सकता, बल्कि विपरीत अध्यवसायसे युक्त होनेके कारण वह अक्षणिक अंशमें अप्रमाण ही है । क्षणिक अंशमें भी वह प्रमाण नहीं है; क्योंकि उसने 'क्षणिकमिदम्' इस प्रकारके अनुकूल विकल्पको उत्पन्न नहीं किया । वह तो केवल नीलांशमें 'यह नील है' इस प्रकारके अनुकूल विकल्पको उत्पन्न करनेके कारण प्रमाण है । इसलिए ठीक ही कहा है कि अभ्रान्त निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

§ ८१. प्रत्यक्षके लक्षणमें 'अभ्रान्त' विशेषणका ग्रहण किया गया है तथा अनुमानके लक्षणमें ऐसा कोई विशेषण नहीं है, इसलिए सूचित होता है कि—अनुमान भ्रान्त है । वह इस प्रकार—अनुमान भ्रान्त है क्योंकि वह सामान्य पदार्थको विषय करता है । सामान्य पदार्थ तो 'वह स्वलक्षणरूप व्यक्तियोंसे भिन्न है या अभिन्न' इत्यादि विकल्पोंसे खण्डित हो जानेके कारण सिद्ध नहीं होता परन्तु अनुमान उस मिथ्या सामान्यको ही स्वलक्षण रूपसे ग्रहण करता है । इसलिए अतस्मिन्—जो स्वलक्षण नहीं है ऐसे सामान्यमें तद्ग्रह—स्वलक्षण रूपसे परिच्छेद करना ही तो अनुमानको भ्रान्तता है । यद्यपि अनुमान उक्तरूपसे भ्रान्त है फिर भी वह परम्परासे बाह्य स्वलक्षणके बलसे उत्पन्न होता है अतएव प्रमाण है । वह इस प्रकार—यदि स्वलक्षणरूप धूमादि अर्थ न हों तब तादात्म्य या तदुत्पत्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाले लिंगकी ही सम्भावना नहीं है । जब लिंग ही नहीं है तब लिंगज्ञान कैसे होगा ? लिंगज्ञानके अभावमें पहले निश्चित की गयी

१. –तानेसाया–प० १, २, भ० १, २ । २. "तथा अभ्रान्तग्रहणेनाप्यनुमाने निर्वर्तिते कल्पनापोढग्रहणं विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम् । भ्रान्तं हि अनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात् । प्रत्यक्षं तु बाह्ये रूपे न विपर्यस्तम् ।" —न्यायबि० टी० पृ० ४७ । ३. –स्य हि बहिः भ० २ । ४. "तथाऽनुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि । स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतः, ततः स्वलक्षणमवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य । अनर्थस्तु ग्राह्यः ।" न्यायबि० टी० पृ० ७१ । ५. –या वा परि–भ० २ । ६. –त्वाद्यानत्वाद–भ० २ । ७. –ग्यलिङ्ग–भ० २ ।

तदुक्तम्—"अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि संबंधतः प्रमा" [ ] इति[2]। अमुमेवार्थं दृष्टान्तपूर्वकं [वि]निश्चये धर्मकीर्तिरकीर्तयत्। यथा—

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ १ ॥
यथा तथाऽप्यथार्थत्वेऽप्यनु[3]मानतदाभयोः।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥" [प्र० वा० २।५७।५८] इति ॥

§ ८२. [4]अथानुमानलक्षणमाह[5]—

त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिज्ञानं त्वनुमानसंज्ञितम् ॥१०॥

"त्रिरूपाल्लिङ्गतः" इत्यादि। त्रीणि रूपाणि पक्षधर्मत्वादीनि वक्ष्यमाणानि यस्य तत् त्रिरूपं त्रिस्वभावमित्यर्थः। तस्मात्त्रिरूपाल्लिङ्गाद्धेतोः सम्यगवगतालिङ्गिनः परोक्षस्य वस्तुनो यज्ज्ञानं तदनुमानसंज्ञितं प्रमाणम्। अनु पश्चाल्लिङ्गग्रहणादनन्तरं परोक्षस्य वस्तुनो मानं ज्ञानमनुमानमिति ह्यनुमानशब्दस्यार्थः। अत्र श्लोके चरमपादस्य नवाक्षरत्वेऽप्यार्षत्वान्न दोषः। इदमत्र तत्त्वम्—यथा जने छत्रादिलिङ्गैर्दृष्टैर्लिङ्गी राजा निश्चीयते, तथा त्रिरूपेण लिङ्गेन

व्याप्तिके स्मरणकी भी सम्भावना नहीं है और जब व्याप्तिका ही स्मरण न होगा तब अनुमानकी उत्पत्ति कहाँसे होगी ? इस तरह अनुमान यद्यपि भ्रान्त है फिर भी उसमें परम्परासे अर्थके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रमाणता स्वीकार कर ली जाती है। कहा भी है—

"अनुमान अतस्मिन् अर्थात् जो स्वलक्षण रूप नहीं है उस मिथ्या सामान्यमें तद्ग्रह अर्थात् स्वलक्षणात्मकताको ग्रहण करनेके कारण यद्यपि भ्रान्त है फिर भी पदार्थके साथ परम्परा सम्बन्ध होनेके कारण प्रमाण है।" इसी बातको धर्मकीर्तिने विनिश्चय ग्रन्थमें दृष्टान्त देकर इस प्रकार समझाया है—"जैसे मणिकी प्रभामें होनेवाला मणिज्ञान तथा दीपककी प्रभामें होनेवाला मणिज्ञान ये दोनों ही ज्ञान आलम्बनकी दृष्टिसे भ्रान्त हैं फिर भी उक्त दोनों ज्ञानोंसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोंकी अर्थ-क्रियामें विशेषता होती ही है। अर्थात् मणिप्रभामें मणिबुद्धिवालेको मणिकी प्राप्ति हो जाती है पर प्रदीपप्रभामें मणिबुद्धि करनेवालेको मणि नहीं मिलती। उसी तरह अनुमान और अनुमानाभास यद्यपि दोनों मिथ्या हैं फिर भी अनुमानसे प्रवृत्ति करनेपर अर्थक्रिया हो जाती है अतः उसमें प्रमाणता है अनुमानाभासमें नहीं ॥२॥"

§ ८२. अब अनुमानका लक्षण कहते हैं—

पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन तीन रूपवाले लिंगसे होनेवाला साध्यका ज्ञान अनुमान कहलाता है ॥१०॥

पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व तथा विपक्ष व्यावृत्ति इन तीन स्वभाववाले लिंगके यथार्थज्ञानसे परोक्ष साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। लिंग जब अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है तभी साध्यका ज्ञान करा सकता है। 'अनु अर्थात् लिंग-ज्ञानके पश्चात् परोक्ष वस्तुका मान अर्थात् ज्ञान, अनुमान कहलाता है' यह अनुमान शब्दका अर्थ है। यद्यपि इस श्लोकके चौथे पादमें नव अक्षर हैं, पर यह श्लोक ऋषिप्रणीत होनेसे शुद्ध ही है, उसमें कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार किसी मनुष्यके ऊपर लगे हुए छत्र, चँवर आदि चिह्नोंसे 'यह राजा है' यह निश्चय होता

---

१. –संबन्धतः म० २। २. "भ्रान्तिरपि च वस्तुसंबन्धेन प्रमाणमेव"—प्र० वार्तिकाल० ३।१७५। "तदाह न्यायवादी-भ्रान्तिरपि संबन्धतः प्रमा।" —न्यायवि० धर्मो० पृ० ७८। उद्धृतमिदम्—"भ्रान्तिरपि अर्थसंबन्धतः प्रमा" —तत्त्वोप० पृ० ३०। सन्मति० टी० पृ० ४८१। सिद्धिवि० टी० पृ० ८२। ३. –मानं तदा तयोः क०, आ०। ४. तथानुमान–आ०, क०। ५. "तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।" —न्यायवि० २।३।

धूमादिना क्वचिदुपलब्धेन परोक्षः पदार्थो लिङ्गी वह्न्यादिस्तत्र सन्[1] विज्ञायते । इदं च लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानमभिधीयते ।

§ ८३. तच्च द्वेधा[2]—स्वार्थं परार्थं च । यदा च त्रिरूपाल्लिङ्गात् स्वयं लिङ्गिनं साध्यं प्रतिपद्यते, तदा स्वार्थमनुमानम् । यदा तु परं प्रति साध्यस्य प्रतिपत्तये त्रिरूपहेत्वभिधानं तदा परार्थमनुमानमिति । 'लिङ्गिज्ञानं तु' इति, अत्र तुशब्दो विशेषणार्थं इदं विशिनष्टि ।

§ ८४. अत्र यत्त्रिरूपं लिङ्गं लिङ्गिनो गमकमुक्तं तल्लिङ्गमनुपलब्धिस्वभावकार्यभेदात्त्रिधैव[3] भवतीति । तत्रानुपलब्धिश्चतुर्धा वर्ण्यते मूलभेदापेक्षया । तद्यथा—विरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, स्वभावानुपलब्धिश्च[4] । तत्र विरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः । विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शो धूमात् । कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात् । स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः । शेषास्तु सप्तान्यानुपलब्धयो धर्मबिन्दु(न्यायबिन्दु)प्रभृतिशास्त्रप्रतिपादिता[5] एष्वेव चतुर्षु भेदेष्वन्तर्भवन्तीति

है उसी तरह त्रिरूपवाले धूमादि लिंगोंके द्वारा परोक्ष अग्नि आदि पदार्थोंकी सत्ताका ज्ञान हो जाता है । यही लिंगसे होनेवाला लिंगि—साध्यका ज्ञान अनुमान कहलाता है ।

§ ८३. वह अनुमान दो प्रकारका होता है—१ स्वार्थ और २ परार्थ । त्रिरूपलिंगको देखकर स्वयं लिंगि अर्थात् साध्यका ज्ञान करना स्वार्थानुमान है । जब परको साध्यका ज्ञान करानेके लिए त्रिरूप हेतुका कथन किया जाता है तब उस हेतुसे परको होनेवाला साध्यका ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है । श्लोकमें आया हुआ 'तु' शब्द लिंगके भेदोंको सूचित करता है ।

§ ८४. श्लोकमें जिस त्रिरूपवाले लिंगको साध्यका गमक कहा गया है वह लिंग तीन प्रकारका है—१ अनुपलब्धि हेतु, २ स्वभाव हेतु तथा ३ कार्यहेतु । अनुपलब्धि मूलभेदोंकी अपेक्षासे चार प्रकार की है—१ विरुद्धोपलब्धि, २ विरुद्धकार्योपलब्धि, ३ कारणानुपलब्धि तथा ४ स्वभावानुपलब्धि । विरुद्धोपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्शकी विरोधी अग्नि मौजूद है । विरुद्धकार्योपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्शके विरोधी अग्निका कार्य धूम उपलब्ध हो रहा है । कारणानुपलब्धि—यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि यहाँ धूमका कारण अग्नि नहीं पायी जाती । स्वभावानुपलब्धि—यहाँ धूम नहीं है क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होनेपर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है, अथवा दृश्य होकर भी वह उपलब्ध नहीं हो रहा है । उपलब्धि लक्षण प्राप्तका अर्थ है—धूमकी उपलब्धिको यावत् सामग्रीका समवधान होना । अनुपलब्धिके शेष सात

१. सद्विज्ञा-अ० २, क० । २. "अनुमानं द्विधा । स्वार्थं परार्थं च ।" —न्यायवि० १।१, २ । ३. "त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि । अनुपलब्धि स्वभावः कार्यं चेति ।" —न्यायवि० २।१०, ११ । ४. -श्च । विद्-आ०, क०, प० १, २, अ० १ । ५. "सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ।३०। स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।३१। कार्यानुपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावादिति ।३२। व्यापकानुपलब्धिर्यथा—नात्र शिंशपा, वृक्षाभावादिति ।३३। स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति ।३४। विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति ।३५। विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशः, हेत्वन्तरापेक्षणादिति ।३६। कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति, वह्नेरिति ।३७। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति ।३८। कारणानुपलब्धिर्यथा—नात्र धूमो वह्न्यभावादिति ।३९। कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नास्य रोमहर्षादिविशेषाः, सन्निहितदहनविशेषत्वादिति ।४०। कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशः धूमादिति ।४१। इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति ।४२।" —न्यायवि० सू० ३०—४२ ।

प्रतिभेदरूपत्वान्नात्र पृथगभिहिताः। [1]स्वभावहेतुर्यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्। [2]कार्यहेतुर्यथा-अग्निरत्र धूमात्।

§ ८५. एषु चानुपलब्ध्यादिषु त्रिषु हेतुषु [3]तादात्म्यतदुत्पत्तिसंबन्धबलादविनाभावो विद्यते, आद्यान्त्ययोरनुपलब्ध्योः स्वभावहेतोश्च तादात्म्याभावात्, मध्ययोरनुपलब्ध्योः कार्यहेतोश्च तदुत्पत्तिसद्भावात्। अविनाभावश्च तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव व्याप्तः। तादात्म्यतदुत्पत्ती चानुपलब्धिस्वभावकार्येष्वेव विद्येते नान्यत्र। ततस्तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्ध[4]विकलानामनुपलब्धिस्वभावकार्यव्यतिरिक्तानामर्थानां सर्वेषां हेत्वाभासतैव प्रत्येतव्या। तेन संयोग्यादिकां[5] वैशेषिकादिकल्पिता हेतवो न भवन्ति, व्यभिचारस्य संभवात्।

§ ८६. कारणात्कार्यानुमानं तु व्यभिचारित्वेनैव नाभ्युपगम्यते। यदपि रसतः समानसमयस्य रूपादेरनुमानं सौगतैरभ्युपगतं[6], यदपि समग्रेण हेतुना कार्योत्पादानुमानं च, तेऽपि

भेदोंका, जिनका वर्णन धर्मबिन्दु(न्यायबिन्दु) आदि ग्रन्थोंमें है, इन्हीं चार मूलभेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः उन प्रतिभेदोंका यहाँ पृथक् निरूपण नहीं किया है। स्वभाव-हेतु—यह वृक्ष है, शिंशपा होनेसे। कार्यहेतु—यहाँ अग्नि है क्योंकि धूमका सद्भाव है।

§ ८५. इन अनुपलब्धि आदि तीनों प्रकारके हेतुओंमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धके द्वारा अविनाभावका निश्चय होता है। विरुद्धोपलब्धि, स्वभावानुपलब्धि तथा स्वभावहेतुमें तादात्म्य सम्बन्ध है तथा मध्यकी विरुद्धकार्योपलब्धि और कारणानुपलब्धि एवं कार्यहेतुमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध है। अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे ही व्याप्त है। तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध चूँकि अनुपलब्धि, कार्य और स्वभाव हेतुओंमें ही पाये जाते हैं अतः ये तीन ही लिंग हैं। जिनमें तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं हैं उन सभी कार्य, स्वभाव तथा अनुपलब्धि रूप तीन हेतुओंसे भिन्न अर्थोंको हेत्वाभास समझना चाहिए। अतः वैशेषिकादिकके द्वारा माने गये संयोगी आदि लिंग हेतु नहीं हैं, वे हेत्वाभास ही हैं; क्योंकि उनमें व्यभिचार देखा जाता है।

§ ८६. बौद्ध कारणसे कार्यका अनुमान तो व्यभिचारी होनेसे नहीं मानते। कारणके होनेपर भी कार्य नहीं देखा जाता। बौद्ध लोग जो रसको चखकर तत्समानकालीन रूपका

---

१. "स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः। यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति।"—न्याय० वि० सू० १५, १६। २. "कार्यं यथा वह्निरत्र धूमादिति।"—न्यायवि० सू० १७। ३. "स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य ।२१। वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च ।२२। अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ।२३। ते च तादात्म्य-तदुत्पत्ती स्वभाव-कार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः" ।२४।—न्यायवि० सू० २१-२४। ४. —न्धविकलानां भ० २। ५. "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।"—वैशे० सू० ९। ११। "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च।"—न्याय सू० १।१।५। "तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं वीतमवीतं च। तत्र अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्। व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्। तत्र अवीतं शेषवत्। वीतं द्वेधा पूर्ववत्, सामान्यतो दृष्टञ्च···।"—सांख्यतत्त्वकौ० पृ० १०। ६. "यस्तहि समग्रेण हेतुना कार्योत्पादोऽनुमीयते स कथं त्रिविधे हेतावन्तर्भवति? हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते। अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः ॥९॥ असावपि यथासंनिहितात् नान्यमर्थमपेक्षत इति तन्मात्रानुबन्धी स्वभावः भावस्य। तत्र हि केवलं समस्तात् कारणात् कार्योत्पत्तिसम्भवोऽनुमीयते। समग्राणां कार्योत्पादनयोग्यतानुमानात्। योग्यता च सामग्रीमात्रानुबन्धिनी स्वभावभूतैवानुमीयते। किं पुनः कारणसामग्र्याः कार्यमेव नानुमीयते। सामग्रीफलशक्तीनां परिणामानुबन्धिनि। अनैकान्तिकता कार्ये प्रतिबन्धस्य संभवात् ॥१०॥ न हि समग्राण्येव कारणद्रव्याणि

स्वभावानुमानतयाभ्युपेते[1] । तथाहि—ईदृशरूपान्तरोत्पादसमर्थः प्राक्तनो रूपक्षणः, ईदृशरसजनकत्वात्, पूर्वोपलब्धरूपवदिति रूपान्तरोत्पादरूपसामर्थ्यानुमानम् । योग्येयं प्रतिबन्धकविकला बीजादिसामग्री स्वकार्योत्पादने, समग्रत्वात्, पूर्वदृष्टबीजादिसामग्रीवदिति योग्यतानुमानम् । अतः स्वभावहेतुप्रभवे एवैते, न पुनः कारणात् कार्यानुमाने–इति ॥१०॥

§ ८७. अथानुपलब्ध्यादिभेदेन त्रिविधस्यापि लिङ्गस्य यानि त्रीणि रूपाणि भवन्ति तान्येवाह—

रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता ।
विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि[2] विभाव्यताम् ॥११॥

§ ८८. व्याख्या—साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, तस्य धर्मः पक्षधर्मः, तद्भावः पक्षधर्मत्वम् । [3]पक्षशब्देन चात्र केवलो धर्म्येवाभिधीयते, अवयवे समुदायोपचारात् । यदि पुनर्मुख्य एव साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षो गृह्येत तदानुमानं व्यर्थमेव स्यात्, साध्यस्यापि धर्मिवत्सिद्धत्वात् । ततश्च

अनुमान तथा समग्रहेतुसे कार्योत्पादका अनुमान मानते हैं; वे दोनों अनुमान स्वभाव हेतुज अनुमानमें ही शामिल हो जाते हैं, यथा—पूर्व रूपक्षण ऐसे रूपान्तरको उत्पन्न करनेमें समर्थ है, क्योंकि उसने ऐसा रस उत्पन्न किया है, जैसे कि पहले उपलब्ध रूप । इस तरह पूर्वरूपमें रूपान्तरके उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यका अनुमान स्वभाव हेतुसे ही किया गया है । यह प्रतिबन्धकोंसे शून्य बीजादि सामग्री अपना कार्य निष्पन्न करनेकी योग्यतासे युक्त है, क्योंकि वह समग्र है, जैसे कि पहले देखी गयी बीजादि सामग्री अपने कार्यको उत्पन्न करती थी । इस तरह यहाँ भी स्वभाव हेतुसे ही योग्यताका अनुमान किया गया है । इस तरह उक्त अनुमानोंको स्वभाव हेतुज ही मानना चाहिए, इनको कारणसे होनेवाले कार्यानुमान रूप नहीं कह सकते ॥१०॥

§ ८७. अब अनुपलब्धि आदिके भेदसे तीन प्रकारके हेतुओंके जो तीन रूप होते हैं उनका वर्णन करते हैं—

हेतुके पक्षधर्मत्व, अर्थात् पक्षमें रहना, सपक्षमें विद्यमान होना तथा विपक्षसे व्यावृत्ति ये तीन रूप समझना चाहिए ॥११॥

§ ८८. साध्यधर्मसे युक्त धर्मीको पक्ष कहते हैं, पक्षके धर्मको पक्षधर्म कहते हैं, अर्थात् हेतुका पक्षमें रहना । पक्षशब्द यद्यपि साध्यधर्मसे युक्त धर्मीमें रूढ़ है फिर भी यहाँ पक्ष शब्दसे केवल धर्मीका ही ग्रहण करना चाहिए । यहाँ अवयवभूत शुद्धधर्मीमें समुदायवाची पक्षका उपचार करके पक्ष शब्दसे शुद्धधर्मीका कथन किया गया है । यदि साध्यधर्मसे विशिष्टधर्मी ही मुख्यरूपसे पक्षशब्दके द्वारा विवक्षित किया जाय तब अनुमान ही व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि पक्षके ग्रहण करते समय धर्मीको

स्वकार्यं जनयन्ति । सामग्रीजन्मनां शक्तीनां परिणामापेक्षत्वात् कार्योत्पादस्य । अन्यान्तरे च प्रतिबन्धसंभवात् न कार्यानुमानम् । ··· या तर्हीयं अकार्यकारणभूतेनान्येन रसादिमा रूपादिगतिः, सा कथं ? नैष दोषः । सापि—एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः । हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥११॥ तत्र हेतुरेव तथाभूतोऽनुमीयते ।····· शक्तिप्रवृत्ता न विना रसाः सैवान्यकारणम् । इत्यतीतैककालानां गतिस्तत् कार्यलिङ्गजा ॥१२॥ प्रवृत्तशक्तिरूपोपादानकारणसहकारिप्रत्ययो हि रसं जनयति । इन्धनविकारविशेषोपादानहेतुसहकारिप्रत्ययाग्निधूमजननतुल्यवत् ।" —प्र० वा० स्व० १।९ – १२ । १. –माभ्युपेयते भ० २ । २. "त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।"—न्यायबि० २।५ । ३. "पक्षो धर्मी, अवयवे समुदायोपचारात् ।" —हेतुबि० पृ० ५२ ।

पक्षधर्मत्वं[1] पक्षे धर्मिणि हेतोः सद्भावः। स[2] च प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते। तत्र प्रत्यक्षतः कस्मिंश्चित्प्रदेशे [3]धूमस्य दर्शनम्। अनुमानतश्च शब्दे कृतकत्वस्य निश्चयः। इदमेकं रूपम्। तथा समानः पक्षः सपक्षः[4], तस्मिन्सपक्षे दृष्टान्ते विद्यमानता हेतोरस्तित्वं सामान्येन भाव इत्यर्थः। इदं द्वितीयं रूपम्, अस्य च 'अन्वयः' इति [5]द्वितीयमभिधानम्[6]। तथा विरुद्धः पक्षो विपक्षः साध्य-साधनरहितः, तस्मिन्विपक्षे नास्तिता हेतोरेकान्तेनासत्त्वम्। इदं तृतीयं रूपम्, अस्य च 'व्यतिरेकः' इति द्वितीयमभिधानम्। एतानि पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणानि हेतोर्लिङ्गस्य त्रीणि रूपाणि। एवं शब्दस्य [7]तत्त्रिरूपार्थत्वाविति विभाव्यतां हृदयेन सम्यगवगम्यताम्।

§ ८९. तत्र हेतोर्यदि पक्षधर्मत्वं रूपं न स्यात् तदा महानसादौ दृष्टो धूमोऽन्यत्र पर्वतादौ वह्निं गमयेत्, न चैवं गमयति, ततः पक्षधर्मत्वं रूपम्। तथा यदि सपक्षसत्त्वं रूपं न स्यात् तदा साध्यसाधनयोरगृहीतप्रतिबन्धस्यापि पुंसो धूमो दृष्टमात्रो धनञ्जयं ज्ञापयेत्, न चैवं ज्ञापयति, अतः सपक्षसत्त्वं रूपम्। तथा यदि विपक्षासत्त्वं रूपं न स्यात् तदा धूमः साध्यरहिते विपक्षे जलादावपि वह्निमनुमापयेत्[8], न चैवमनुमापयति, तेन विपक्षासत्त्वं रूपम्। अथवा 'अनित्यः शब्दः, काकस्य कार्ष्ण्यात्' अत्र न पक्षधर्मः। 'अनित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्' अत्र सपक्षविपक्षा-

तरह धर्म साध्य भी सिद्ध ही हो जायेगा। अतः पक्षधर्मत्वका अर्थ है—पक्षमें अर्थात् धर्मीमें हेतुका सद्भाव होना। हेतुकी पक्षधर्मताका ज्ञान कहीं तो प्रत्यक्षसे और कहीं अनुमानसे-होता है। प्रत्यक्षसे ही किसी प्रदेशमें, जहाँ अग्नि सिद्ध करना इष्ट होता है, धूमका दर्शन होकर पक्षधर्मताका ग्रहण हो जाता है। अनित्यत्व सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त कृतकत्व हेतुका शब्दरूप पक्षमें रहना अनुमानके द्वारा जाना जाता है। यह हेतुका पहला रूप है। तथा पक्षके समान धर्मवाले धर्मीको सपक्ष कहते हैं। उस सपक्ष अर्थात् दृष्टान्तधर्मीमें हेतुकी सामान्य रूपसे मौजूदगीको सपक्षसत्त्व कहते हैं। यह हेतुका द्वितीयरूप है। इसका दूसरा नाम 'अन्वय' है। तथा, पक्षसे विपरीत धर्मवाले धर्मीको, जिसमें साध्य और साधन दोनोंका ही सद्भाव नहीं है, विपक्ष कहते हैं। इस विपक्षमें हेतुका सर्वथा नहीं रहना विपक्षनास्तिता कहलाती है। यह हेतुका तीसरा रूप है। इसको 'व्यतिरेक' भी कहते हैं। पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व ये तीन हेतुके स्वरूप हैं। एवं शब्द इतिशब्दके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। विभाव्यताम् अर्थात् सम्यक् रूपसे हृदयमें समझना चाहिए।

§ ८९. यदि पक्षधर्मत्व हेतुका स्वरूप न माना जायेगा; तो रसोईघर आदिमें देखे गये धूमसे पर्वतमें भी अग्निका अनुमान होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है। इसलिए नियतधर्मीमें ही साध्यके अनुमानकी व्यवस्थाके लिए पक्षधर्मत्वको हेतुका स्वरूप अवश्य मानना चाहिए। इसी तरह यदि सपक्षसत्त्व हेतुका स्वरूप न हो; तब जिस आदमीने साध्य और साधनके अविनाभाव रूप सम्बन्धको ग्रहण नहीं किया है उसे पहली बार ही धूंआके देखते ही अग्निका अनुमान हो जाना चाहिए। पर जिस पुरुषने व्याप्तिको नहीं जाना है, उसे धूम अग्निका अनुमान नहीं कराता। इसलिए सपक्षसत्त्वको भी हेतुका स्वरूप मानना चाहिए। यदि विपक्षासत्त्वको हेतुका स्वरूप न माना जाय; तब धूमहेतुको साध्यसे शून्य अर्थात् विपक्षभूत जलादिमें भी अग्निका अनुमान करा देना चाहिए। पर धूम कभी भी जलाशय आदि विपक्षमें अग्निका अनुमापक नहीं होता। अतः विपक्षासत्त्व भी हेतुका स्वरूप है। अथवा,

१. पक्षधर्मिणि भ० २। २. "तत्र पक्षधर्मस्य साध्यधर्मिणि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रसिद्धिः। यथा प्रदेशे धूमस्य शब्दे वा कृतकत्वस्य।" —हेतुवि० पृ० ५३। ३. धूमदर्शनं भ० २। ४. "साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः।—न्यायवि० २।७। ५. द्वितीयं नाम प० १, २, भ० २। ६. "न सपक्षोऽसपक्षः। ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति। —न्यायवि० २।८५। ११. –मनुमानयेत् भ० २।

भावादेव न सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वे । 'अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वात्, पटवत् लोहलेख्यं; वज्रं पार्थिवत्वात्, द्रुमाविवत् ; सलोमा मण्डूकः, उत्प्लुत्योत्प्लुत्यगमनात्, हरिणवत् ; निर्लोमा वा हरिणः, उत्प्लुत्योत्प्लुत्यगमनात्, मण्डूकवत्'—एवमनित्यत्वादिसाध्यविपर्ययेऽपि हेतूनां वर्तनान्न विपक्षासत्त्वम् । तत एतानि त्रीणि समुदितानि रूपाणि यस्य हेतोर्भवन्ति स एव हेतुः स्वसाध्यस्य गमको भवति नापरः ।

§ ९०. [1]नन्वेवं लक्षणा हेतवः कति भवन्तीति चेत् । ननूक्तं पुरापि एतल्लक्षणा अनुपलब्धिस्वभावकार्याख्यास्त्रय[2] एव हेतव इति । एषामुदाहरणानि प्रागेवोपदर्शितानि, तथापि पुनः स्वभावहेतुरुदाह्रियते[3], सर्वं क्षणिकमिति पक्षः, सत्त्वादिति हेतुः, अयं हेतुः सर्वस्मिन्वर्तत[4] इति पक्षधर्मत्वम्, यत्सत्तत्क्षणिकं यथा विद्युदादीति सपक्षसत्त्वम्, यत्क्षणिकं न भवति, तत्सदपि न भवति यथा खपुष्पम् । अत्र क्षणिकविपक्षे नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियालक्षणस्य सत्त्व-

---

शब्द अनित्य है क्योंकि कौआ काला है । इस हेतुमें पक्षधर्मता नहीं है । शब्द अनित्य है क्योंकि वह श्रावण-श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा जाना जाता है । यहाँ सपक्ष और विपक्षका अभाव ही है अतः सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व ये दो रूप नहीं हैं । 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे कि पट । वज्र लोहेके द्वारा काटा जा सकता है क्योंकि वह पार्थिव है जैसे कि वृक्ष । मेंढकके लोम होते हैं क्योंकि वह हरिणकी तरह उचक-उचककर चलता है । हरिणके लोम नहीं होते क्योंकि वह मण्डूककी तरह उचक-उचककर चलता है ।' इत्यादि हेतु अनित्यत्व आदि साध्यके अभावमें भी रहते हैं अतः इनमें विपक्षासत्त्व नहीं है । अतः पक्षधर्मत्व आदि तीनों रूप समुदित अर्थात् एक साथ मिलकर ही हेतुके स्वरूप होते हैं । जिसमें ये तीनों रूप एक साथ पाये जाते हैं वही हेतु अपने साध्यका गमक होता है और वही सद्धेतु है, अन्य नहीं ।

§ ९०. **शंका**—तीन रूपवाले हेतु कितने प्रकारके होते हैं ?

समाधान—यद्यपि हम यह पहले भी बता चुके हैं कि—तीन रूपवाले हेतु अनुपलब्धि कार्य तथा स्वभावके भेदसे तीन प्रकारके हैं । इनके उदाहरण भी पहले ही कहे जा चुके हैं । स्वभाव हेतुका वर्णन पुनः करते हैं—'सभी पदार्थ क्षणिक हैं' इस पक्षमें 'सत् होनेसे' इस हेतुका प्रयोग किया जाता है । यह सत्त्व हेतु पक्षभूत सभी पदार्थोंमें पाया जाता है अतः इसमें पक्षधर्मत्व बन जाता है । 'जो-जो सत् होते हैं वे क्षणिक होते हैं जैसे कि बिजली आदि' यह उसके सपक्षसत्त्वका कथन हुआ । 'जो क्षणिक नहीं वे सत् भी नहीं हैं जैसे कि आकाशका फूल' । यहाँ क्षणिकके विपक्षभूत नित्यपदार्थमें क्रम तथा यौगपद्य दोनों ही रूपसे अर्थ क्रिया नहीं बनती, अतः अर्थक्रिया-लक्षण-

---

१. नन्वेतल्ल आ० । २. "एष एव पक्षधर्मोऽन्वयव्यतिरेकवान् इति तदर्शनेन व्याप्तः त्रिलक्षण एव त्रिविध एव हेतुर्गमकः, स्वसाध्यधर्माभिचारात् ।" —हेतुबि० पृ० ६८ । "एतल्लक्षणो हेतुस्त्रिप्रकार एव । स्वभावः, कार्यम्, अनुपलब्धिश्चेति । यथा अनित्ये कस्मिंश्चित् साध्ये सत्त्वमिति । अग्निमति प्रदेशे धूम इति । अभावे च उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिरिति ।" —हेतुबि० पृ० ५४ । ३. "तस्य द्विधा प्रयोगः । साधर्म्येण एकः, वैधर्म्येणापरः । यथा—यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम् । यथा घटादयः । संश्च शब्दः, तथा क्षणिकत्वाभावे सत्त्वाभावः ।"—हेतुबि० पृ० ५५ । तस्य समर्थनं साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्मिणि भावसाधनं । यथा—यद्य(?त्स)त्कृतकं वा तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिः सत्कृतको वा शब्द इति । अत्रापि न कश्चित्क्रमनियम इष्टार्थसिद्धेरुभयत्राविशेषात् । धर्मिणि प्राक्सत्त्वं प्रसाध्य पश्चादपि व्याप्तिः प्रसाध्यते एव । यथा सत् शब्दः कृतको वा यश्चैवं स सर्वोऽनित्यः यथा घटादिरिति । अत्र व्याप्तिसाधनं विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम् । यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाप्रयोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् ।" —वादन्याय पृ० ५–८ । ४. –स्मिन् प्रव० भ० २ ।

स्यानुपपत्तितो नित्यात्सत्त्वस्य व्यावृत्तिरिति विपक्षासत्त्वम्, सच्च सर्वमित्युपनयः, सत्त्वात्सर्वं क्षणिकमिति निगमनम्। एवमन्यहेतुष्वपि ज्ञेयम्। यद्यपि व्याप्त्युपेतं पक्षधर्मतोपसंहाररूपं सौगतैरनुमानमाम्नायि, तथापि मन्दमतीन् व्युत्पादयितुं पञ्चावयवानुमानदर्शनमप्यदुष्टमिति। अयमत्र श्लोकद्वयस्य तात्पर्यार्थः पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणरूपत्रयोपलक्षितानि त्रीण्येव लिङ्गानि अनुपलब्धिः, स्वभावः, कार्यं चेति।

§ ९१. 'अत्रानुक्तोऽपि[1] विशेषः कश्चन लिख्यते। [2]तत्र प्रमाणादभिन्नमर्थाधिगम एव प्रमाणस्य फलम्। तर्कप्रत्यभिज्ञयोरप्रामाण्यम्। परस्परविनिर्लुठितक्षणक्षयिपरमाणुलक्षणानि स्वलक्षणानि[4] प्रमाणगोचरस्तात्त्विकः। [5]वासनारूपं [6]कर्म। सुखदुःखे धर्माधर्मात्मके। पर्याया एव सन्ति, न द्रव्यम्। वस्तुनि केवलं स्वसत्त्वमेव न पुनः परासत्त्वमिति सामान्येन बौद्धमतम्।

§ ९२. अथवा वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिक-भेदाच्चतुर्धा बौद्धा भवन्ति। तत्रार्यसमितीयापरनामकवैभाषिकमतमदः—चतुःक्षणिकं वस्तु। जातिरेनयति। स्थितिः पोषं-

---

वाले सत्त्व हेतुकी नित्य पदार्थसे व्यावृत्ति हो जाती है। यही इसके विपक्षासत्त्व रूपका विवेचन है। 'चूंकि सभी पदार्थ सत् हैं' यह उपनय वाक्य है। 'इसलिए सत् होनेसे सभी क्षणिक हैं' यह निगमन है। इसी तरह अन्य हेतुओंमें भी त्रिरूपता घटा लेनी चाहिए। बौद्ध यद्यपि व्याप्तिसे युक्त पक्षधर्मताका उपसंहार (उपनय वाक्य रूप) ही अनुमान मानते हैं फिर भी मन्दबुद्धियोंको समझानेके लिए यहाँ पाँच अवयववाले अनुमान वाक्यका प्रयोग किया है, अतः कोई दोष नहीं है। इस तरह उक्त दो श्लोकोंका यह तात्पर्य हुआ कि पक्षधर्म, अन्वय तथा व्यतिरेक रूप तीन लक्षणवाले हेतु, अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्यके भेदसे तीन प्रकारके हैं।

§ ९१. अब मूल ग्रन्थकारके द्वारा नहीं कही गयी कुछ विशेष बातोंका वर्णन करते हैं—अर्थाधिगम ही प्रमाणका फल है। यह प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न है। तर्क और प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं हैं। स्वलक्षण परस्पर अत्यन्त भिन्न क्षणिक परमाणुरूप होते हैं। वे ही प्रमाणका तात्त्विक विषय हैं। कर्म वासना रूप है। सुख-दुःख धर्म और अधर्म रूप हैं। पर्याय ही तत्त्व है, द्रव्य नहीं। वस्तुमें केवल स्वरूपसत्त्व ही है परकी अपेक्षा नास्तित्व—परासत्त्व नहीं है। यह सामान्यसे बौद्धमतका निरूपण है।

§ ९२. अथवा वैभाषिक, सौत्रान्तिक योगाचार और माध्यमिक ये चार प्रकारके बौद्ध हैं। वैभाषिकोंको आर्यसमितीय भी कहते हैं। उनका मत इस प्रकार है—वस्तु चतुःक्षणिक—चार क्षण पर्यन्त है—जन्म उसे उत्पन्न करता है, स्थिति उसका स्थापन करती है, जरा उसे जीर्ण करती है तथा विनाश उसका नाश कर देता है। आत्मा भी इसी प्रकार चतुःक्षणिक है। आत्माका दूसरा

---

१. –पि कश्चन विशेषः लि–भ० २। २. तत्र द्वादशैव पदार्था आयतनसंज्ञयोच्यन्ते। तद्यथा पञ्चेन्द्रियाणि पञ्च शब्दादयो मनो धर्मगतं च। धर्मास्तु सुखादयो विज्ञेयाः। अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणस्य लक्षणं प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे प्रमाणाद–भ० २। ३. "तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम्। अर्थप्रतीतिरूपत्वात्।" —न्यायवि० १।१७, १८। "स्वसंवित्तिः फलञ्चास्य तद्रूपार्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥" प्रमाणसमु० १।१०। "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्वसंवित्तिर्वा प्रमाणं तु साकल्यं योग्यतापि वा॥१३४३॥" तत्त्वसं० । ४. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्।"—न्यायवि० १।१३। ५. "वासनापूर्वविज्ञानकृतिका शक्तिरुच्यते।.....॥ वासनेति हि पूर्वविज्ञानजनितां शक्तिमामनन्ति वासनास्वरूपविदः।" प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१६। ६. कर्म पर्याया क०, प० १, २। कर्म सुखदुःखे धर्मात्मके पर्याया भ० २। ७. –नामवै–भ० २।

पयति । जरा जर्जरयति । विनाशो विध्वंसयति । तथात्वादि तथाविध एव, पुद्गलश्चासावभिधीयते । [1]निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनस्तत्रार्थे प्रमाणमिति ।

§ ९३. सौत्रान्तिकमतं पुनरिदम्—रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः सर्वशरीरिणामेते पञ्च स्कन्धा[2] विद्यन्ते, न पुनरात्मा । त एव हि परलोकगामिनः । तथा च तत्सिद्धान्तः"—पञ्चेमानि भिक्षवः "संज्ञामात्रं प्रतिज्ञामात्रं संवृतिमात्रं व्यवहारमात्रम् । कतमानि पञ्च । अतीतोऽध्वा, अनागतोऽध्वा, सहेतुको विनाशः, आकाशम्, पुद्गल इति । अत्र पुद्गलशब्देन परपरिकल्पितो नित्यत्वव्यापकत्वादिधर्मक आत्मेति । बाह्योऽर्थो नित्यमप्रत्यक्ष एव, ज्ञानाकारान्यथानुपपत्त्या तु सन्नवगम्यते । साकारो बोधः प्रमाणम्[3] । तथा क्षणिकाः सर्वसंस्काराः । स्वलक्षणं परमार्थः[4] । यदाहुस्तद्वादिनः—"प्रतिक्षणं विशरारवो रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवो ज्ञानं चेत्येव तत्त्वम्" [ ] इति । [5]अन्यापोहः शब्दार्थः । तदुत्पत्तितदाकारताभ्यामर्थपरिच्छेदः ।

नाम 'पुद्गल' है । अर्थके समानकालमें रहनेवाली एक सामग्रीसे ही उत्पन्न होनेवाला निराकार ज्ञान प्रमाण है । (जिस प्रकार पूर्व-अर्थक्षणसे उत्तर-अर्थक्षण उत्पन्न होता है उसी तरह उससे ज्ञान भी उत्पन्न होता है। पूर्व-अर्थक्षण उत्तर-अर्थक्षणमें उपादान कारण होता है और ज्ञानमें निमित्त कारण।)

§ ९३. सौत्रान्तिकोंका सिद्धान्त है कि—सभी प्राणियोंके रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा तथा संस्कार ये पाँच स्कन्ध होते हैं, किन्तु आत्मा नहीं । ये ही स्कन्ध परलोक जाते हैं । उनका यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि—"हे भिक्षुओ, ये पाँच वस्तुएँ संज्ञामात्र हैं, प्रतिज्ञामात्र हैं, संवृति-कल्पना-मात्र हैं, व्यवहार मात्र हैं । कौन-सी पाँच वस्तुएँ ? अतीत अध्वा-काल, अनागत अध्वा, सहेतुक विनाश, आकाश तथा पुद्गल—आत्मा । यहाँ पुद्गल शब्द नैयायिक आदिके द्वारा माने गये नित्य-व्यापक आत्माके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । बाह्य अर्थ सदा अप्रत्यक्ष रहता है । उसकी सत्ताका ज्ञान तो ज्ञानमें प्रतिबिम्बित आकारसे ही किया जाता है । साकारज्ञान प्रमाण है । सभी संस्कार क्षणिक हैं—अत्यन्त विनश्वर हैं । स्वलक्षण ही वास्तविक अर्थ है । प्रतिक्षण विनष्ट होनेवाले

---

१. "निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनः तत्रार्थे प्रमाणम् इति वैभाषिकोक्तम् ।" —सन्मति० टी० पृ० ४५९ । २. –सामग्र्यसूत्रार्थे भ० २ । ३. "खन्धा ति पञ्च खन्धा–रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, सङ्खारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो ति ।" वि० मग्ग० १४।३३ । ४. पञ्चेमानि भिक्षवः सं-मात्रं प्रतिज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं संवृतिमात्रं यदुतातीतोऽध्वानागतोऽध्वाकाशं निर्वाणं पुद्गलश्चेति।" —माध्य० वृ० पृ० ३८९ । ५. संज्ञामात्रं संवृ– भ० १, प० १ । ६. –न्यानुत्पन्नमवग–भ० २ । ७. "तस्मात् प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ।" प्र०वा० २।३०६ । "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् । २० । अर्थेन सह यत् सारूप्यं सादृश्यम् अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणम् । इह यस्माद्विषयाद् विज्ञानमुदेति तद्विषयसदृशं तद् भवति । यथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम् । तच्च सारूप्यं सादृश्यम् आकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते ।" —न्यायबि०, टी० पृ० ८१ । "प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ।" —तत्त्व-सं० श्लो० १३४४ । ८. "तदेव परमार्थसत् । तदेव परमार्थसदिति । परमोऽर्थोऽकृत्रिमत्वेनारोपितं रूपम् । तेनास्तीति परमार्थसत् । य एवार्थः संनिधानासंनिधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसत् स एव । स च प्रत्यक्षस्य विषयो यतः, तस्मात् तदेव स्वलक्षणम् ।" —न्यायबि०, टी० पृ० ७१। "अर्थक्रियासमर्थं यत् तत्र परमार्थसत् । अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं, ते स्वसामान्यलक्षणे ॥" —प्र० वा० २।३ । ९. "विकल्पयोनिविम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते । ततोऽन्यापोहनिष्ठत्वादुक्तान्यापोहकल्पना: ।" —प्र०वा० २।१५४। "ननु कोऽयमपोहो नाम ? यथा व्यवसायं बाह्य एव घटादिरर्थोऽपोह इत्यभिधीयते अपोह्यतेऽस्मादन्यद्विजातीयमिति कृत्वा । यथा प्रतिभासं बुद्ध्याकारोऽपोहः अपोह्यते पृथक्क्रियतेऽस्मिन् बुद्ध्याकारे विजातीयमिति कृत्वा । यथातत्त्वं निवृत्तिमात्रं प्रसज्यरूपोऽपोह अपोहनमपोहः इति कृत्वा ।" —तर्कभा० मो० पृ० २६ ।

[1]नैरात्म्यभावनातो ज्ञानसंतानोच्छेदो मोक्ष इति ।

§ ९४. योगाचारमतं त्विदम्[2]—[3]विज्ञानमात्रमिदं भुवनम् । नास्ति बाह्योऽर्थः । ज्ञानाद्वैतस्यैव तात्त्विकत्वात् । अनेके ज्ञानसंतानाः । साकारं बोधः प्रमाणम् । वासनापरिपाकतो नीलपीतादिप्रतिभासाः । [4]आलयविज्ञानं हि सर्ववासनाधारभूतम् । आलयविज्ञानविशुद्धिरेवापवर्ग इति ।

§ ९५. माध्यमिकदर्शने तु—[5]शून्यमिदम् । [6]स्वप्नोपमः प्रमाणप्रमेययोः प्रविभागः । "मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेः तदर्थं शेषभावना" [प्र० वा० १।२५६] इति । केचित्तु माध्यमिकाः

रूप रस गन्ध तथा स्पर्शके परमाणु एवं ज्ञान ये ही तत्त्व हैं । शब्दका वाच्य विधिरूप न होकर अन्यापोहात्मक है । ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होकर तथा पदार्थके आकारको धारण करके अर्थका परिच्छेद करता है । नैरात्म्य भावनासे ज्ञानकी सन्तानका सर्वथा उच्छेद होना मोक्ष है ।

§ ९४. योगाचारका मत इस प्रकार है—यह संसार केवल विज्ञान रूप ही है । बाह्य अचेतन अर्थकी सत्ता नहीं है, क्योंकि ज्ञानाद्वैत ही एक मात्र सत् है, तात्त्विक है । ज्ञानसन्तान अनेक हैं । साकारज्ञान प्रमाण है । अनादि कालीन विचित्र वासनाओंके परिपाकसे ही ज्ञानमें नील पीत आदि अनेक आकारोंका प्रतिभास होता है । आलयविज्ञान—अहंरूपसे भासमान ज्ञान ही सभी वासनाओंका आधार होता है । इस आलय विज्ञानकी विशुद्धि ही को मोक्ष कहते हैं ।

§ ९५. माध्यमिकका मत इस प्रकार है—यह जगत् शून्य है, प्रमाण और प्रमेयका विभाग स्वप्नकी तरह ही है । "शून्यतादर्शनसे ही मुक्ति होती है, अन्य समस्त क्षणिकत्वादि भावनाएँ शून्यताके पोषणके लिए ही हैं । कुछ माध्यमिक ज्ञानको स्वाकार मानते हैं । कोई बाह्य पदार्थ

---

१. "मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थाः शेषभावनाः ।"—प्र० वा० १।२५५। "सर्वैव सद्विरुद्धार्थतत्त्वाकारानुरोधिनी । हन्ति सानुचरां तृष्णां सम्यग्दृष्टिः सुभाविता ॥१.२१३॥ तत्र सत्यचतुष्टय एव सम्यग्दृष्टिर्नैरात्म्यदृष्टिः, तद्विरुद्धार्थतत्त्वाकारानुरोधिनी तेषां स्थिरसुखाद्याकाराणामविद्यारोपितानां विरुद्धोऽर्थस्तस्य तत्त्वानि भूता आकारा अनित्या सुखादयः षोडशाकारास्ताननुरोद्धुं शीलं यस्याः सा तथा सुभाविता । सादरनिरन्तरदीर्घकालाभ्यासप्राप्तवैशद्या हन्ति तृष्णां जन्महेतुं सानुचरां मात्सर्यादिपरिवारां ।" —प्र० वा०, मनो० १. २७३ । २. —दं भुवनं विज्ञानमात्रं । नास्ति बा—भ० २ । ३. "अनादिवासनासङ्गविचेयीकृतचेतसाम् । विविधः प्रतिभासोऽयमेकत्र स्वप्नवद्विनाम् ।" —प्र० वार्त्तिकालं० पृ० २९७ । ४. "तरङ्गा इव धर्मेयंद्वत् पवनप्रत्ययोदिताः । नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते ॥५६॥ आलयोदस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः । चित्तैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते ॥५७॥"—लंकावतार पृ० २७१ । "तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानम् । नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम् । यदुक्तम्—तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भुवेदहमास्पदम् । तत्स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ।" —सर्वद० सं० पृ० ३७ । ५. "तथता भूतकोटिश्चानिमित्तः परमार्थिकः । धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः ॥"—मध्यान्तवि० सू० टी० पृ० ४१ । ६. "यथा मायादयः स्वभावेन अनुत्पन्ना अविद्यमाना मायादिशब्दवाच्या मायादिविज्ञानगम्याश्च लोकस्य । एवमेतेऽपि लोकप्रसिद्धिमात्रेण उत्पादादयः स्वभावेन अविद्यमाना अपि भगवता तथाविधविनेयजनानुग्रहचिकीर्षुणा निर्दिष्टा इति । अत एवोक्तम् (समाधिराजसूत्रे) 'यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव ।' स्वभावशून्या तु निमित्तभावना । तथोपमान् जानय सर्वधर्मान् ।" माध्यमिकवृ० संस्कृत० पृ० १७७। "यदुक्तं भगवता मायोपमा धर्मा यावत् निर्वाणोपमा इति ।" महायानसूत्रालं० पृ० ६२ । "एतदुक्तं भगवता—अनुत्पन्नाः सर्वभावा मायोपमाश्च इति ।"—लंकावतार सू० द्वि० भा० पृ० १११ । "यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा । तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥" माध्यमिकवृ० संस्कृत० ३४ ।

[1]स्वस्थं ज्ञानमाहुः । तदुक्तम्[2]—

"अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते,
प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तुविसरः[3] सौत्रान्तिकैराश्रितः ।
यौगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा,
मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वस्थां परां संविदम् ॥ १ ॥" [ ] इति ।

ज्ञानपारमिताद्या [4]दश ग्रन्थाः । [5]तर्कभाषा हेतुबिन्दुस्तट्टीकार्चटतर्कनाम्नी प्रमाणवार्तिकं तत्त्वसंग्रहो न्यायबिन्दुः कमलशीलो न्यायप्रवेशकश्चेत्यादयस्तद्ग्रन्था इति ।

§ ९६. एवं बौद्धमतमभिधाय तदेव [6]संक्षिप्सुरुत्तरं चाभिसन्धित्सुराह—

बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य संक्षेपोऽयं निवेदितः ।

§ ९७. बौद्धराद्धान्तस्य सौगतसिद्धान्तस्य यद्वाच्यं तस्य संक्षेपोऽयमनन्तरोक्तो निवेदितोऽभिहितः ।

[7]इति श्रीतपागगनभोऽङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिक्रमकमलोपजीविशिष्यश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकाभिधानायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां बौद्धमतप्रकटनो नाम प्रथमोऽधिकारः ।

आलम्बन नहीं होता वह निरालम्बन ही है । कहा भी है—"मतिमान् वैभाषिक ज्ञान और अर्थको स्वीकार करते हैं । सौत्रान्तिक बाह्यवस्तुके इस विस्तारको प्रत्यक्ष नहीं मानते । योगाचार साकार बुद्धिको ही परमतत्त्व स्वीकार करते हैं । परन्तु कृतार्थबुद्धि माध्यमिक स्वाकार ज्ञान—निरालम्बन ज्ञानको ही परमतत्त्व मानते हैं ॥१॥" बौद्धोंके ज्ञान पारमिता आदि दश ग्रन्थ हैं । तर्कभाषा, हेतुबिन्दु, अर्चटकृत हेतुबिन्दुकी अर्चटतर्क नामकी टीका, प्रमाणवार्तिक, तत्त्वसंग्रह, न्यायबिन्दु, कमलशील—कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह पंजिका आदि, और न्यायप्रवेश इत्यादि भी बौद्धोंके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं ।

§ ९६. इस तरह बौद्धमतका कथन करके उसका उपसंहार करनेके लिए तथा अग्रिम प्रकरणका प्रारम्भ करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

यह बौद्ध सिद्धान्तका संक्षिप्त वर्णन किया गया है ।

§ ९७. बौद्धराद्धान्त-सौगतोंके सिद्धान्तका जो वक्तव्य है उसे संक्षेपरूपसे इस प्रकरणमें उपस्थित किया है ।

इति तपागच्छरूपी आकाशमें सूर्यकी तरह प्रतापी श्री देवसुन्दर सूरिके चरण कमलोंके उपासक शिष्य श्री गुणरत्नसूरि द्वारा विरचित षड्दर्शनसमुच्चयकी तर्करहस्य दीपिका नामकी टीकामें बौद्धमतको प्रकट करनेवाला प्रथम अधिकार सम्पूर्ण हुआ ।

---

१. स्वच्छं प० १, २, म० १, २ । २. "विवेकविलासे बौद्धमतमित्थंमन्यधापि—चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः । अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते । सौत्रान्तिकैस्तु प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥ आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता । केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥ रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसंभवा । चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥" —सर्वद० सं० पृ० ४६ । ३. – विस्तरः क०, आ० । ४. 'दश पारमिता' ग्रन्थरूपेण न सन्ति । तास्तु इत्थम्—दान-शील-नैष्क्रम्य-प्रज्ञा-वीर्य-क्षान्ति-सत्य-अधिष्ठान-मैत्री-उपेक्षाः ।—बुद्धवंस । अभिधर्मकोशे षट् पारमिताः । अभि० को० ४ । ५. तर्कभाषा मोक्षाकरगुप्तकृता । हेतुबिन्दुः धर्मकीर्तिविरचितः । प्रमाणवार्तिकं धर्मकीर्तिकृतम् । तत्त्वसंग्रहः शान्तरक्षितविरचितः । कमलशीलकृता तत्त्वसंग्रहपञ्जिका । न्यायबिन्दुः धर्मकीर्तिकृतः । न्यायप्रवेशः दिङ्नागविरचितः । ६. –क्षिप्सुराह म० २ । ७. इति तर्करहस्यदीपिकायां गुणरत्नसूरिविरचितायां बौद्धमतस्वरूपप्रकटनो नाम प्रथमोऽधिकारः । ॐ नमः पार्श्वाय । निरेनसं चेतसि सत्यनीतये निरीतिशीलाचलसंस्थितं सदा । अनन्तकीर्त्याश्लिष्टरीतिराजितं नृनिर्जरेन्द्रालिहितं जिनं यजे । –म० २ ।

अर्हम्

अथ द्वितीयोऽधिकारः

नैयायिकमतस्येतः कथ्यमानो निशम्यताम् ॥१२॥

§ १. नैयायिकमतस्य शैवशासनस्य संक्षेप इत ऊर्ध्वं कथ्यमानो निशम्यतां श्रूयताम् ॥

[1]अथादौ नैयायिकानां यौगापराभिधानानां लिङ्गादिवपुष्किरुच्यते[2] । ते च दण्डधराः, प्रौढकौपीनपरिधानाः, कम्बलिकाप्रावृताः, जटाधारिणः, भस्मोद्धूलनपराः, यज्ञोपवीतिनः, अलाधारपात्रकराः, नीरसाहाराः, प्रायो वनवासिनो दोर्मूले, तुम्बकं बिभ्राणाः, कन्दमूलफलाशिनः, आतिथ्यकर्मनिरताः, सस्त्रीकाः, निस्त्रीकाश्च । निस्त्रीकास्तेषूत्तमाः । ते च पञ्चाग्निसाधनपराः, करे जटादौ च प्राणलिङ्गधराश्चापि भवन्ति । उत्तमां संयमावस्थां प्राप्तास्तु नग्ना भ्रमन्ति । [3]एते प्रातर्दन्तपाषाविशौचं विधाय शिवं ध्यायन्तो भस्मनाङ्गं त्रिस्त्रिः स्पृशन्ति । यजमानो वन्दमानः कृताञ्जलिर्वक्ति 'ओं नमः शिवाय' इति । गुरुस्तथैव 'शिवाय नमः' इति प्रतिवक्ति । ते च संसत्सेवं ब्रुवन्ति—

"शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं सेवित्वा योऽपि मुञ्चति ।
दासो दासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति ॥ १ ॥"

§ २. तेषामीश्वरो देवः सर्वज्ञः सृष्टिसंहारादिकृत् । तस्य चाष्टावशावतारा अमी—नकुली

आगे नैयायिक-शैव मतका संक्षेपसे वर्णन करेंगे उसे सुनो ।

§ १. नैयायिक-शैवमतका संक्षेपसे वर्णन आगे किया जायेगा उसे सुनिए । सर्वप्रथम नैयायिकोंके जिन्हें यौग भी कहते हैं, लिंग वेष आदि कहते हैं । ये हाथमें दण्डको धारण करते हैं, मोटा कौपीन-लंगोटी लगाते हैं, कम्बल ओढ़ते हैं, जटा रखते हैं, शरीरमें राख लपेटते हैं, यज्ञोपवीत—जनेऊ पहिनते हैं, हाथमें कमण्डलु रखते हैं, नीरस भोजन करते हैं, प्रायः वनमें पेड़के नीचे निवास करते हैं, तुम्बक—तूमड़ी रखते हैं । कन्दमूल तथा फलोंका भक्षण करते हैं तथा अतिथिसत्कारमें तत्पर रहते हैं । ये स्त्रीके साथ भी रहते हैं तथा स्त्रीके बिना भी रहते हैं । इनमें जो स्त्रीके बिना रहते हैं वे उत्तम समझे जाते हैं । ये पंचाग्नितप तपते हैं । हाथमें तथा जटा आदिमें प्राणलिंग धारण करते हैं । जब ये उत्तमसंयमको धारण करते हैं तब ये नग्न रहकर विहार करते हैं । ये प्रातःकाल दन्तधावन तथा शौचादि क्रिया करके शिवका ध्यान करते हैं । तीन बार शरीरको भस्म लगाते हैं । इनके यजमान—भक्त हाथ जोड़कर इन्हें नमस्कार करते समय 'ॐ नमः शिवाय' कहते हैं । गुरु भी उत्तरमें 'शिवाय नमः' कहते हैं । वे अपनी सभामें इस प्रकार उपदेश देते हैं—

"शैव दीक्षाको बारह वर्ष तक धारण करके जो छोड़ भी देता है वह चाहे दासी हो या दास अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त करता है ॥१॥"

§ २. ये ईश्वरको देव मानते हैं । वह सर्वज्ञ है तथा जगत्की सृष्टि तथा प्रलय करनेमें

---

१. अथादौ यौगापराभिधानानां नैयायिकानां लि– प० १, २, भ० १ नैयायिकानां यौगा इति नामान्तरम्, आदौ तेषां लि– भ० २ । २. –ते द– भ० २ । ३. एते दन्तधा– भ० १, २ । एते धा–प० २ ।

१, [1]शोष्यकौशिकः २, गार्ग्यः ३, [2]मैत्र्यः ४, [3]अकौरुषः ५, ईशानः ६, पारगार्ग्यः ७, कपिलाण्डः ८, मनुष्यकः ९, कुशिकः १०, अत्रिः ११, पिङ्गलः १२, पुष्यकः १३, बृहदार्यः १४, अगस्तिः १५, संतानः १६, राशीकरः १७, विद्यागुरुश्च १८ । एते तेषां तीर्थेशाः पूजनीयाः । एतेषां पूजाप्रणिधान-विधिस्तु तदागमाद्वेदितव्यः[4] ।

§ ३. तेषां सर्वतीर्थेषु भरटा एव पूजकाः । देवानां[5] नमस्कारो न सन्मुखैः कार्यः । तेषु ये निर्विकारास्ते स्वमीमांसागतमिदं पद्यं दर्शयन्ति—

"न स्वर्धुनी न फणिनो न कपालदाम, नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म ।
यत्रान्यदेव च न किंचिदुपास्महे तद्रूपं पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य ॥ १ ॥
स एव योगिनां सेव्यो ह्यर्वाचीनस्तु भोगभाक् ।
स ध्यायमानो राज्यादिसुखलुब्धैर्निषेव्यते ॥ २ ॥"

उक्तं च तैः स्वयोगशास्त्रे—

"वीतरागं स्मरन् योगी वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतस्तस्य सरागत्वं तु निश्चितम् ॥ ३ ॥
येन येन हि भावेन युज्यते [6]यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ ४ ॥" इति ।

§ ४. एतत्सर्वं लिङ्गवेषदेवादिस्वरूपं वैशेषिकमतेऽप्यविसदृशम् । यतो नैयायिकवैशेषि-काणां हि मिथः प्रमाणतत्त्वानां संख्याभेदे सत्यप्यन्योन्यं तत्त्वानामन्तर्भावेनेऽल्पीयानेव भेदो

समर्थ है । ये ईश्वरके अठारह अवतार हैं—१ नकुली, २ शोष्यकौशिक, ३ गार्ग्य, ४ मैत्र्य, ५ अकौरुष, ६ ईशान, ७ परम गार्ग्य, ८ कपिलाण्ड, ९ मनुष्यक, १० कुशिक, ११ अत्रि, १२ पिङ्गल, १३ पुष्यक, १४ बृहदार्य, १५ अगस्ति, १६ सन्तान, १७ राशीकर तथा १८ विद्यागुरु । ये अठारह तीर्थेश पूजनीय हैं । इनके पूजा तथा ध्यान आदिकी विधि उन्हींके आगमोंसे समझ लेनी चाहिए ।

§ ३. इनके सब तीर्थोंमें भरट पूजा करनेवाले होते हैं । ये देवोंको सामनेसे नमस्कार नहीं करते । इनमें जो निर्विकार हैं वे अपनी मीमांसाका यह पद्य प्रायः कहा करते हैं—"हमलोग तो प्राचीन मुनियोंके द्वारा ध्याये गये ईश्वरके उस निर्विकार स्वरूपकी उपासना करते हैं जिसमें न तो स्वर्गगंगा है, न सर्प हैं, न मुण्डमाला है, न चन्द्रमाकी कला है, न आधे शरीरमें पार्वती ही हैं, न जटाएँ हैं, न भस्म ही लिपटी है तथा इसी प्रकारकी अन्य कोई भी उपाधियाँ नहीं हैं । ऐसा ही निरुपाधि निर्विकार ईश्वर हमलोगोंका उपास्य है ॥१॥ ईश्वरका निर्गुण निर्विकार रूप ही योगियोंके द्वारा सेव्य—ध्येय है । आजकल ईश्वरका जो रूप पूजा जाता है वह तो भोगीरूप है । और राज्य आदि ऐहिक सुखोंके लोलुपी ही ऐसे रूपकी उपासना करते हैं ॥२॥" उन्होंने अपने योगशास्त्र में भी कहा है—"वीतरागका स्मरण—ध्यान करनेवाला योगी वीतरागताको प्राप्त कर लेता है और सरागके ध्यान करनेवालेकी सरागता निश्चित है ॥३॥ तात्पर्य यह कि—मनरूप यन्त्रको चलानेवाला आत्मा जिस-जिस भावसे युक्त होकर जैसे ध्येयका ध्यान करता है वह स्वयं तन्मय हो जाता है । देखो, स्फटिक मणिको जिस-जिस प्रकारकी उपाधियाँ मिलती हैं उसका रंग उन्हींके अनुसार नानाप्रकारका हो जाता है ॥४॥"

§ ४. नैयायिकोंकी तरह वैशेषिक मतमें भी लिंग वेष आदि प्रायः इसी प्रकारके हैं । यद्यपि नैयायिकों और वैशेषिकोंकी प्रमाण या तत्त्वोंकी संख्यामें भेद है फिर भी जब एकके तत्त्वोंका

---

१. शोषिकौशि–भ० २ । २. मैत्री क० । मैत्रः प० १, २, भ० १, २ । ३. अकौरुकः भ० २ । ४. -मादवेतव्यः भ० २ । ५. वानाञ्च नम– भ० २ । ६. यत्रश्च–भ० २ ।

जायते, तेनैतेषां प्रायो मततुल्यता। उभयेऽप्येते तपस्विनोऽभिधीयन्ते। ते च शैवादिभेदेन चतुर्धा भवन्ति। तदुक्तम्—

"आधारभस्मकौपीन[1]जटायज्ञोपवीतिनः।
स्वस्वाचारादिभेदेन चतुर्धा स्युस्तपस्विनः॥ १॥
शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा।
तुर्याः कालमुखा मुख्या भेदा एते तपस्विनाम्॥ २॥"

§ ५. तेषामन्तर्भेदा भरट[2]भक्त[2]लैंङ्गिक[2]तापसादयो भवन्ति। भरटादीनां व्रतग्रहणे ब्राह्मणादिवर्णनियमो नास्ति। यस्य तु शिवे भक्तिः स व्रती भरटादिर्भवेत्। परं शास्त्रेषु नैयायिकाः सदा शिवभक्तत्वाच्छैवा इत्युच्यन्ते, वैशेषिकास्तु पाशुपता इति। तेन नैयायिकशासनं शैवमाख्यायते, वैशेषिकदर्शनं च पाशुपतमिति। इदं मया यथाश्रुतं यथादृष्टं चात्राभिहितं। तत्तद्विशेषस्तु तदन्येभ्यो[3] विज्ञेयः॥१२॥

§ ६. अथ पूर्वप्रतिज्ञातं नैयायिकमतसंक्षेपमेवाह—

अक्ष(आक्ष)पादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः।
विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः[4]॥१३॥

§ ७. व्याख्या—अक्षपादेनार्षेण गुरुणा यतः प्रणीतं नैयायिकमतस्य मूलसूत्रं तेन नैयायिका आक्षपादा अभिधीयन्ते, तन्मतं चाक्षपादमतमिति। तस्मिन्नाक्षपादमते शिवो महेश्वरः, सृष्टिश्चराचरस्य जगतो निर्माणम्, संहारस्तद्विनाशः, द्वन्द्वे सृष्टिसंहारौ, [5]तावसावचिन्त्यशक्तिमाहात्म्येन

दूसरेके तत्त्वोंमें अन्तर्भाव कर लिया जाता है तब उनमें प्रायः बहुत कम मतभेद रहता है। इसलिए प्रायः इनके मत तुल्य ही हैं। ये दोनों ही तपस्वी कहे जाते हैं। इनके शैव आदि चार भेद हैं। कहा भी है—"आधार रहनेके स्थान, आसन आदि, भस्म, कौपीन, जटा तथा यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले ये तपस्वी अपने-अपने आचारके भेदसे चार प्रकारके हैं—१ शैव, २ पाशुपत, ३ महाव्रतधर तथा ४ कालमुख। तपस्वियोंके ये चारे ही मुख्य भेद हैं।"

§ ५. इनके अवान्तर भेद तो भरट, भक्त, लैंगिक तथा तापस आदि अनेक हैं। इन भरट आदिके व्रत नियम धारण करनेके लिए ब्राह्मण आदि होनेकी आवश्यकता नहीं है। जिस किसी भी व्यक्तिको शिवमें भक्ति हो वह व्रत धारण करके भरट आदि हो सकता है। नैयायिक लोग सदा शिवकी भक्ति करते हैं अतः शास्त्रोंमें इन्हें शैव कहा जाता है, तथा वैशेषिकोंको पाशुपत कहते हैं। यही कारण है कि नैयायिकोंका दर्शन 'शैव' कहा जाता है तथा वैशेषिकोंका दर्शन पाशुपत। यह सब वर्णन मैंने जैसा कुछ देखा तथा परम्परासे सुना, उसीके आधारसे किया है। इनका विशेष वर्णन तो इनके ग्रन्थोंसे ही जानना चाहिए।

§ ६. अब जैसा कि पहले कहा था—नैयायिकके मतका संक्षेपसे वर्णन करते हैं—

आक्षपाद—नैयायिक मतमें जगत्की सृष्टि तथा संहारको करनेवाला, व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ तथा नित्यज्ञानशाली शिव देवता हैं॥१३॥

§ ७. अक्षपाद नामके आर्ष गुरुने नैयायिक मतके मूलसूत्र—न्यायसूत्रकी रचना की है इसलिए नैयायिक आक्षपाद कहलाते हैं, और नैयायिक मत भी आक्षपादमत कहा जाता है। इस आक्षपाद मतमें शिव—महेश्वर ही आराध्य देव हैं। महेश्वर सृष्टि—चर अचररूप जगत्का निर्माण तथा उसका संहार अर्थात् विनाश करनेवाले हैं। महेश्वरकी शक्तिका माहात्म्य अचिन्त्य है। उससे वे जगत्की

---

१. कूर्पासा जटा भ० २। २. भक्तरलै-प० १, २। ३. —न्यो ज्ञेयः भ० २। ४. समाश्रितः भ० २।
५. सौ चाचिन्त्य-भ० २। तौ सौ वा चिन्त्य प० १, ३, भ० १।

करोतीति सृष्टिसंहारकृत् । केवलायाः सृष्टेः करणे [1]निरन्तरोत्पाद्यमानोऽसंख्यः प्राणिगणो भुवनत्रयेऽपि न मायाविति सृष्टिवत्संहारस्यापि करणम् । अत्र [2]प्रयोगमेवं शैवा व्याहरन्ते—भूभूधरसुधाकरदिनकरमकराकरादिकं बुद्धिमत्पूर्वकम्, कार्यत्वात्, यत्कार्यं तत्तद् बुद्धिमत्पूर्वकं यथा घटः, कार्यं चेदम्, तस्माद् बुद्धिमत्पूर्वकम् । यश्चास्य बुद्धिमान्स्रष्टा स ईश्वर एवेत्यन्वयः । व्यतिरेके गगनम् । न चायमसिद्धो हेतुः, भूभूधरादीनां [3]स्वस्वकारणकलापजन्यत्वेनावयवितया[4] वा कार्यत्वस्य जगति [5]सुप्रसिद्धत्वात् । नापि विरुद्धोऽनैकान्तिको वा; विपक्षादत्यन्तं व्यावृत्तत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः, प्रत्यक्षागमाबाध्यमानसाध्यधर्मधर्मिविषये हेतोः प्रवर्तनात् । नापि प्रकरणसमः; तत्प्रतिपन्थिपदार्थस्वरूपसमर्थनप्रथितप्रत्यनुमानोदयाभावात् ।

सृष्टि और संहार करते हैं । यदि केवल सृष्टि-ही-सृष्टि हो, तो निरन्तर उत्पन्न होते रहनेवाले असंख्य प्राणी तीनों लोकोंमें भी नहीं समायेंगे । इसलिए सृष्टिकी तरह संहार भी आवश्यक है अतः महेश्वर इस संहार-लीलाको भी करते हैं । शैव लोग जगत्को महेश्वरकर्तृक सिद्ध करनेके लिए अनुमानका प्रयोग इस प्रकार करते हैं—पृथिवी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, तथा समुद्र आदि सभी बुद्धिमान्के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं, क्योंकि ये कार्य हैं, जो जो कार्य होते हैं वे किसी न किसी बुद्धिमान्के द्वारा ही किये जाते हैं जैसे कि घड़ा, चूंकि यह जगत् भी कार्य है, अतः इसे भी किसी बुद्धिमान्के द्वारा ही निर्मित होना चाहिए । जो इस जगत्का रचयिता बुद्धिमान् है वही तो ईश्वर है । जो बुद्धिमान्के द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये वे कार्य भी नहीं हैं जैसे कि आकाश । यह व्यतिरेक दृष्टान्त है । यह कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि पृथिवी, पर्वत आदि सभी पदार्थ अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण तथा अवयविरूप होनेके कारण कार्यरूप हैं । यह बात जगत्प्रसिद्ध है । यह कार्यत्व हेतु विरुद्ध या अनैकान्तिक भी नहीं है; क्योंकि जिन्हें बुद्धिमानोंने उत्पन्न नहीं किया ऐसे आकाश आदि विपक्षभूत पदार्थोंमें बिलकुल नहीं पाया जाता है । यह हेतु कालात्ययापदिष्ट—बाधित भी नहीं है; क्योंकि इस हेतुके विषय—साध्यमें प्रत्यक्ष तथा आगमसे कोई भी बाधा नहीं आती । यह हेतु प्रकरणसम भी नहीं है; क्योंकि जगत्को अबुद्धिमत्पूर्वक सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रत्यनुमान-विरोधी अनुमान नहीं है । जिस हेतुके साध्यसे विपरीत अर्थको सिद्ध करनेवाले प्रसिद्ध प्रत्यनुमानका सद्भाव होता है वह हेतु प्रकरणसम कहलाता है ।

---

१. –न्तरोत्पद्यमान–प० १, २, भ० १, २ । २. "सिद्धे च कार्यत्वे कर्तृपूर्वकत्वं साध्यते । तथा च विवादास्पदं बोधाधारकारणम् कार्यत्वाद्, यद् यद् कार्यं तत्तद् बोधाधारकारणम् यथा घटादि, तथा चेदं कार्यं तस्मात् बोधाधारकारणमिति ।"—प्रश० व्यो० पृ० ३०२ । "सामान्यतो दृष्टं तु लिङ्गमीश्वरसत्तायामिदं ब्रूमहे पृथिव्यादि कार्यं यस्मि तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमिति साध्यो धर्मः कार्यत्वाद् घटादिवत् ।"—न्यायम० प्रमा० पृ० १७८ । "महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्···सावयवत्वात् ।"—प्रशस्त० कन्द० पृ० ५७ । वैशे० उप० पृ० ६२ । "कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥"—न्यायकुसु० ५।१ । "तथाहि विवादाध्यासितमुपलब्धिमत्कारणपूर्वकं अभूत्वाभावित्वाद्वस्त्रादिवदिति सामान्यतोदृष्टेनलक्षणेन निराकर्तुमशक्यत्वात्तत्सामान्यसिद्धौ पारिशेष्यात्कार्यत्वाच्च कर्तृविशेषसिद्धिश्चित्रादिकार्यविशेषात्कर्तृविशेषसिद्धिवत् ।"—न्यायसा० पृ० ३६ । "तत्राविद्धकर्णोपन्यस्तम् ईश्वरसाधने प्रमाणद्वयमाह—यत्स्वारम्भकेत्यादि । यत्स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशेषवत् । बुद्धिमद्धेतुगम्यं तत्तद्यथा कलशादिकम ।"—तत्त्वसं० श्लो० ४७ । ३. स्वकारण–भ० २ । ४. –या का–भ० २ । ५. –ति प्रसि–भ० २ ।

§ ८. अथ निर्वृतात्मवदशरीरत्वादेव न संभवति सृष्टिसंहारकर्तेश्वर इति प्रत्यनुमानोदाहृतकथं न प्रकरणसम इति चेत्; उच्यते—अत्र त्वदीयानुमाने साध्यमान ईश्वरो धर्मी त्वया प्रतीतः, अप्रतीतो वाभिप्रेयते ? अप्रतीतश्चेत्; तदा त्वत्परिकल्पितहेतोराश्रयासिद्धिदोषः प्रसज्येत । प्रतीतश्चेत्; तर्हि येन प्रमाणेन प्रतीतस्तेनैव स्वयमुद्भावितनिजतनुरपि किमिति नाभ्युपेयत इति कथमशरीरत्वम् । ततो न प्रकरणसमदोषता हेतोः । अतः साधूक्तं 'सृष्टिसंहारकृच्छिवः' इति ।

§ ९. तथा विभुराकाशवत्सर्वजगद्व्यापकः । नियतैकस्थानवर्तित्वे ह्यनियतप्रदेशवर्तिनां पदार्थानां प्रतिनियतयथावन्निर्माणानुपपत्तेः । न ह्येकस्थानस्थितः कुम्भकारोऽपि दूरतरघटादिघटनायां व्याप्रियते, तस्माद्विभुः ।

§ १०. तथा नित्यैकसर्वज्ञः[1] । नित्यश्चासावेकश्च नित्यैकः स चासौ सर्वज्ञश्चेति विशेषणत्रयसमासः । तत्र नित्योऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः कूटस्थः । ईश्वरस्य ह्यनित्यत्वे पराधीनोत्पत्तिसव्यपेक्षया कृतकत्वप्राप्तिः । स्वोत्पत्तावपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक उच्यते । कृतकश्चेत्

§ ८. शंका—'ईश्वर सृष्टि तथा संहारका कर्ता नहीं है क्योंकि वह अशरीरी है जैसे कि मुक्तजीव' यह प्रत्यनुमान मौजूद है अतः कार्यत्व हेतु प्रकरणसम क्यों नहीं होता है ?

समाधान—आपने इस प्रत्यनुमानमें ईश्वरको धर्मी बनाया है । इस धर्मीरूप ईश्वरको आप जानते हैं या नहीं ? यदि नहीं जानते; तब आश्रय—पक्षको असिद्धि होनेसे हेतु आश्रयासिद्ध हो जायेगा । यदि जानते हैं; तब जिस प्रमाणसे आपने धर्मीरूप ईश्वरको जाना है उसी प्रमाणसे जिसने अपना शरीर स्वयं बनाया है ऐसे ईश्वरको क्यों नहीं मान लेते ? तब वह अशरीर कैसे सिद्ध होगा ? अतः कार्यत्व हेतुमें प्रकरणसम दोष नहीं है इसलिए ठीक ही कहा है कि शिव सृष्टि तथा संहारके विधाता हैं ।

§ ९. ईश्वर आकाशकी तरह समस्त जगत्में व्यापक है । यदि ईश्वरको किसी नियत स्थानमें रहनेवाला माना जाय; तब विभिन्न देशवर्ती पदार्थोंका अपने निश्चित स्वरूपमें यथावत् निर्माण नहीं हो सकेगा । देखो, एक स्थानमें रहनेवाला कुम्हार अति दूर देशमें घड़ेको उत्पन्न तो नहीं कर सकता । अतः समस्त जगत्में पदार्थोंकी प्रतिनियत रूपमें उत्पत्ति ही ईश्वरको व्यापक सिद्ध कर देती है; क्योंकि जहाँ ही ईश्वर न होगा वहीं कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी ।

§ १०. ईश्वर नित्य है, एक है तथा सर्वज्ञ है । 'नित्यैकसर्वज्ञः' पदमें नित्य, एक और सर्वज्ञ इन तीन विशेषणोंका समास है । नित्य—ईश्वरके किसी पूर्व स्वभावका विनाश तथा नवीन स्वभाव का उत्पाद नहीं होता । किन्तु वह सदा एक रूपमें स्थिर रहनेवाला है, अपरिवर्तनशील है । अतएव वह कूटस्थनित्य है, ईश्वरको अनित्य माना जाय; तो ईश्वर अपनी उत्पत्तिमें भी अन्य

१. "दोषाधारेऽधिष्ठातरि साध्ये न साध्यविकलत्वम् । सापि विरुद्धत्वम् । न च कार्यत्वं बुद्धिमन्तमधिष्ठातारं व्यभिचरतीत्यव्यभिचारोपलम्भसामर्थ्यादुपलभ्यमानं पक्षे क्षित्यादिसंपादनसमर्थमेवाधिष्ठातारं साधयतीति ।-न च क्षित्याद्युपादानोपकरणानभिज्ञः क्षित्यादिसंपादनसमर्थ इति परमाण्वादिविषयज्ञानं तत्कर्तुर्लभ्यते ।"—प्रश० व्यो० पृ० ३०२ । "तथाहि तनुभुवनाद्यभिज्ञः कर्ता नानित्यासर्वविषयबुद्धिमान् तत्कर्तुस्तदुपादानाद्यनभिज्ञत्वप्रसङ्गात् । न ह्येवंविधस्तदुपादानाद्यभिज्ञो दृष्टः यथाऽस्मदादिः तदुपादानाद्यभिज्ञश्चायं तस्मात्तथेति ।"—न्यायवा० ता० पृ० ६०४ । "यत् तदीश्वरस्य ऐश्वर्यं किं तन्नित्यमनित्यमिति ?···नित्यम् इति ब्रूमः···अथास्य बुद्धिनित्यत्वे किं प्रमाणमिति ? अस्त्विदमेव बुद्धिमत्कारणाधिष्ठिताः परमाणवः प्रवर्तन्त इति ।"—न्यायवा० पृ० ४६४ । "तस्य हि ज्ञानक्रियाशक्ती नित्ये इति ऐश्वर्यं नित्यम् ।"—न्यायवा० ता० टी० पृ० ५१७ । "न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः । दृष्टा हि रूपादीनां गुणानाम् आश्रयभेदेन द्रव्ये गतिः तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यति ।" —प्रशस्त० कन्द० पृ० ५५ । व्यो० पृ० ३०५ ।

जगत्कर्ता स्यात्, तदा तस्याप्यपरेण कर्त्रा भाव्यम्, अनित्यत्वादेव । अपरस्यापि च कर्तुरन्येन कर्त्रा भवनीयमित्यनवस्थानदी दुस्तरा स्यात् । तस्मान्नित्य एवाभ्युपगमनीयः ।

§ ११. नित्योऽपि स एकोऽद्वितीयो मन्तव्यः । बहूनां हि जगत्कर्तृत्वस्वीकारे परस्परं पृथक् पृथगन्त्यान्यविसदृशमतिव्याप्तत्वेनैकैकपदार्थस्य विसदृशनिर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति युक्तम् 'एकः' इति विशेषणम् ।

§ १२. [1]एकोऽपि स सर्वज्ञः सर्वपदार्थानां सामस्त्येन ज्ञाता । सर्वज्ञत्वाभावे हि विधित्सितपदार्थोपयोगिजगत्प्रसृमरविप्रकीर्णपरमाणुकणप्रचयसम्यक्सामग्रीमीलनाक्षमतया यथातथ्येन पदार्थानां निर्माणं दुर्घटं भवेत् । सर्वज्ञत्वे पुनः सकलप्राणिनां[2] संमीलितसमुचितकारणकलापानु[3]रूप्येण कार्यं वस्तु निर्मिमाणः स्वार्जितपुण्यपापानुमानेन(नुसारेण) च स्वर्गनरकयोः सुखदुःखोपभोगं दधानः सर्वथौचितीं नातिवर्तते । तथा चोक्तं सद्भूक्तैः[4]—

"'ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥"

कारणोंकी अपेक्षा करेगा, इसलिए वह कृतक हो जायेगा । 'अपनी उत्पत्तिमें परके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ कृतक माना जाता है । यदि ईश्वर स्वयं कृतक होकर भी जगत्कर्ता है तब ईश्वरको बनानेवाला भी अन्य कर्ता होना चाहिए । वह ईश्वरका कर्ता भी अनित्य होगा; अतः उसका भी अन्य कर्ता मानना होगा । इस तरह नये-नये कर्ताओंकी कल्पनारूपी अनवस्था नदीको पार करना कठिन हो जायेगा । अतः ईश्वरको नित्य मानना ही उचित है ।

§ ११. नित्य मानकर भी उसे एक अद्वितीय मानना चाहिए । यदि अनेक ईश्वर माने जायें; तो अनेकों स्वतन्त्र विचारवाले ईश्वरोंमें एक ही पदार्थके अमुक स्वरूपमें उत्पन्न करनेके विषयमें मतभेद होनेपर पदार्थका उत्पन्न होना ही कठिन हो जायेगा और यदि उत्पन्न भी हुआ तो विसदृश आकारवाला उत्पन्न होगा । अर्थात् एक ईश्वर चाहेगा कि आदमीकी नाक आँखके नीचे बनायी जाय तो दूसरेकी इच्छा होगी कि नहीं, नाकको सिरके पीछे बनाना चाहिए, तो तीसरा क्यों चुप बैठेगा, वह भी अपनी इच्छानुसार नाकको गलेके नीचे बनाना चाहेगा । इसलिए इस बहुनायकत्वमें बड़ी अव्यवस्था होनेकी सम्भावना है अतः एक ही ईश्वर मानना उचित है ।

§ १२. एक मानकर भी उसे सर्वज्ञ अवश्य ही मानना चाहिए । सभी पदार्थोंकी सभी दशाओंका साक्षात्कार करना ही ईश्वरकी सर्वज्ञता है । यदि ईश्वर सर्वज्ञ न हो; तब उसे उत्पन्न किये जानेवाले कार्योंकी रचनामें उपयोगी होनेवाले जगत्के कोने-कोनेमें फैले हुए विचित्र परमाणु-कणोंका सम्यक् परिज्ञान न होनेसे उन्हें जोड़कर पदार्थोंका यथावत् निर्माण करना अत्यन्त कठिन हो जायेगा । सर्वज्ञ होनेपर तो वह सभी प्राणियोंके उपभोगके लायक कार्योंकी सामग्रीको बराबर जुटा लेगा और उनके पुण्य-पापके अनुसार साक्षात्कार करके सुख-दुःखरूप फल भोगनेके लिए उन्हें स्वर्ग और नरक आदिमें भी भेज सकेगा । इस तरह ईश्वर सर्वज्ञ होनेसे उचितका उल्लंघन नहीं करता । किन्हीं ईश्वर-भक्तोंने कहा भी है—

"उस जगत्पति ईश्वरके अव्याहत—सर्वव्यापी ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा धर्म— ये ज्ञानादि चतुष्टय सह-सिद्ध अर्थात् एक साथ रहनेवाले या जबसे ईश्वर है तभीसे उसके साथ रहनेवाले

१. एकोऽपि सर्व-आ०, क० । एकोऽपि स सर्वपदा-भ० २ । २. पुनः संमो-भ० २ । ३. -नुरूपेण भ० २ । ४. तुलना—"इतिहासपुराणेषु ब्रह्मादिर्योऽपि सर्ववित् । ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं चेति कीर्तितम् ।"—तत्त्वसं० इष्टो० ३१९५ । उद्धृतोऽयम्—शास्त्रवा० ३।२ । प्र० मी० पृ० १२ ।

"[1]अजो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ २ ॥" [महाभा० वनप० ३०।२८]

§ १३. अथवा नित्यैकसर्वज्ञ इत्येकमेव विशेषणं व्याख्येयम् । नित्यः सदैकोऽद्वितीयः सर्वज्ञो नित्यैकसर्वज्ञः । एतेनानादिसर्वज्ञमीश्वरमेकं विहायान्यः कोऽपि सर्वज्ञः कदापि न भवति । यत ईश्वरादन्येषां योगिनां ज्ञानान्यपरं सर्वमतीन्द्रियमर्थं जानानान्यपि स्वात्मानं न जानते, ततस्ते कथं सर्वज्ञाः स्युरित्यावेदितं भवति ।

§ १४. तथा नित्यबुद्धिसमाश्रयो नित्याया बुद्धेर्ज्ञानस्य स्थानम्, क्षणिकबुद्धिमतो हि पराधीनकार्यापेक्षणेन मुख्यकर्तृत्वाभावादनीश्वरत्वप्रसङ्गकारीति । ईदृशविशेषणविशिष्टो नैयायिकमते शिवो देवः ॥ १३ ॥

अथ तन्मते तत्त्वानि विवरिषुः प्रथमं तेषां संख्यां नामानि च समाख्याति—

तत्त्वानि[2] षोडशात्रामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा ।
प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् ॥१४॥
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवास्तर्कनिर्णयौ ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च ॥१५॥
जातयो निग्रहस्थानान्येषामेवं प्ररूपणा ।
[3]अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम् ॥१६॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

अनादि सिद्ध हैं, सहज हैं ॥१॥ यह बिचारा अज तथा अनीश्वर—असमर्थ संसारीजन्तु अपने सुख-दुःख भोगनेके लिए ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग तथा नरक जाता है । ईश्वर कर्मके अनुसार संसारियोंको स्वर्ग तथा नरकमें भेजता है ॥२॥"

§ १३. अथवा 'नित्य, एक तथा सर्वज्ञ' इन तीनोंको पृथक् तीन विशेषण न मानकर 'नित्यैकसर्वज्ञ' ऐसा एक समूचा विशेषण मानना चाहिए । इसका अर्थ है कि ईश्वर सदैव एक अद्वितीय सर्वज्ञ रहा है, दूसरा कोई नित्य सर्वज्ञ नहीं है । इस अनादि सर्वज्ञ एक ईश्वरको छोड़कर कोई भी कभी भी सर्वज्ञ नहीं हुआ । ईश्वरके अतिरिक्त अन्य योगी यद्यपि संसारके समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानते हैं पर वे अपने स्वरूपको नहीं जानते, उनका ज्ञान अस्वसंवेदी है, अतः ऐसे अनात्मज्ञ योगी सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं ?

§ १४. ईश्वरकी बुद्धि नित्य है, शाश्वत है । यदि ईश्वरकी बुद्धि क्षणिक हो; तो उस बुद्धिकी उत्पत्तिमें भी अन्य कारणोंकी आवश्यकता होगी, अतः क्षणिक बुद्धिवाला ईश्वर स्वयं पराधीन हो जायेगा और इस तरह वह मुख्यरूपसे कर्ता न बन सकनेके कारण अनीश्वर हो जायेगा । इस तरह नैयायिकोंके भगवान् शिव जगत्कर्तृत्वादि विशेषणोंसे युक्त हैं ॥१३॥

अब नैयायिकोंके तत्त्वोंके वर्णन करनेकी इच्छासे, सर्वप्रथम उनके नाम तथा उनकी संख्याका कथन करते हैं—

नैयायिकोंके मतमें प्रमाण आदि सोलह तत्त्व हैं—१ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वा-

१. अन्यो जन्तु—प० १, २, भ० १, २ । २. "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः ।"—न्यायसू० १।१।१ । ३. "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम् ।"—न्यायभा० २।१।११ । न्यायवा० पृ० ५ । "उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि ।"—न्यायभा० १।१।३ । "तदेव ज्ञानमज्ञानं वा उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्···।" —न्यायवा० ता० टी० पृ० २२ ।

§ १४. व्याख्या—अमुत्रास्मिन्प्रक्रान्ते नैयायिकमते प्रमाणादीनि प्रमाणप्रमेयप्रभृतीनि षोडश तत्त्वानि भवन्ति । तद्यथेत्युपदर्शने । 'प्रमाणं च' इत्यादि । तत्र प्रमितिरूपज्ञानविशेषो येन जन्यते तज्ज्ञानस्य जनकं कारणं प्रमाणम् । प्रमीयते ज्ञानं जन्यतेऽनेनेति प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः । ज्ञानस्य च जनकं द्विविधम्—अचेतनं ज्ञानं च । तत्राचेतनमिन्द्रियतदर्थसन्निकर्षप्रदीपलिङ्गशब्दादिकं ज्ञानस्य कारणत्वात्प्रमाणम् । ज्ञानं च ज्ञानान्तरजन्मनि यद्व्यापृियते तदपि ज्ञानजनकत्वात्प्रमाणम् । ज्ञानस्याजनकं तु प्रमाणस्य फलं भवेन्न पुनः प्रमाणम् १ । [1]प्रमेयं प्रमाणजन्यज्ञानेन ग्राह्यं वस्तु २ । दोलायमाना प्रतीतिः संशयः[2] । चकारास्त्रयोऽपि प्रमाणादीनामन्योन्यापेक्षया समुच्चयार्थाः ३ । [3]प्रयोजनमभीष्टं साधनीयं फलम् ४ । दृष्टान्तो वादिप्रतिवादिसम्मतं निदर्शनम् ५ । अपिः समुच्चये । अथशब्द आनन्तर्ये । [4]सिद्धान्तः [5]सर्वदर्शनसम्मतशास्त्रप्रभृतिः ६ । [6]अवयवाः पक्षादयोऽनुमानस्याङ्गानि ७ । संदेहादूर्ध्वमन्वयधर्मचिन्तनं तर्कः[7], स्थाणुरत्राधुना संभवतीति ८ ।

भास, १४ छल, १५ जाति तथा १६ निग्रह स्थान । इनकी व्याख्या इस प्रकार है—पदार्थकी उपलब्धिमें जो साधकतम हेतु होता है उसे प्रमाण कहते हैं । वह चार प्रकारका है ॥१४, १५, १६॥ इन तीन श्लोकोंका एक साथ अन्वय होनेसे इन्हें विशेषक कहते हैं ।

§ १४. इस प्रस्तुत नैयायिक दर्शनमें प्रमाण प्रमेय आदि सोलह तत्त्व होते हैं । उनके नाम श्लोकमें बता दिये हैं । जिसके द्वारा प्रमिति-उपलब्धि या ज्ञान उत्पन्न किया जाता है उस ज्ञानके जनक कारणको प्रमाण कहते हैं । 'प्रमीयते—ज्ञान उत्पन्न किया जाता है येन-जिसके द्वारा उसे प्रमाण कहते हैं ।' यह प्रमाण शब्दकी व्युत्पत्ति है । ज्ञानके उत्पादक कारण दो प्रकारके हैं—एक तो अचेतन पदार्थ, तथा दूसरा ज्ञान । इन्द्रियोंका पदार्थके साथ सन्निकर्ष-सम्बन्ध, दीपक, हेतु तथा शब्द आदि अचेतन पदार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होनेसे प्रमाण हैं । जो ज्ञान किसी ज्ञानान्तरकी उत्पत्तिमें व्यापार करता है वह ज्ञानका उत्पादक होनेसे प्रमाण भी है । पर, जो ज्ञान किसी ज्ञानान्तरको उत्पन्न नहीं करता वह प्रमाण नहीं है केवल फलरूप ही है । २. प्रमेय—प्रमाणसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका विषयभूत पदार्थ प्रमेय कहलाता है । ३. संशय—अनेक कोटियोंमें अर्थात् विषयोंमें दोलायमान—झूलनेवाली चलित प्रतीतिका नाम संशय है । श्लोकमें आये हुए तीन 'च' शब्द प्रमाण प्रमेय और संशयका परस्पर समुच्चय दिखानेके लिए हैं । ४. प्रयोजन—जो हमारा साध्य है, जिसे हम सिद्ध करना चाहते हैं उस इष्ट फलको प्रयोजन कहते हैं । ५. दृष्टान्त—जिसे वादी और प्रतिवादी निर्विवाद रूपसे स्वीकार करते हों ऐसे निदर्शन—उदाहरणको दृष्टान्त कहते हैं । मूल श्लोकमें 'अपि' शब्द समुच्चयार्थक है । 'अथ' शब्द आनन्तर्य इसके बाद अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । ६. सिद्धान्त—सभी दर्शनवालोंको स्वीकृत अपने-अपने शास्त्र आदि सिद्धान्त कहे जाते हैं । ७. अवयव—अनुमानके अंगभूत पक्ष आदि अवयव हैं । ८. तर्क—सन्देहके बाद होनेवाले विधिरूप सम्भावनाप्रत्ययको तर्क कहते हैं । जैसे इस समय यहाँ स्थाणुकी ही सम्भावना है । तर्कमें

---

१. "प्रमाणविषयोऽर्थः प्रमेयम् ।"—न्यायक० पृ० ४ । २. "विशेषस्मृतिहेतोर्धर्मस्य ग्रहणाद् विशेषस्मृतेश्च जायमानः किं स्विद् इति विमर्शः संशयः ।"—न्यायक० पृ० ८ । ३. "यमर्थमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ।"—न्यायक० पृ० ८ । ४. "वादिप्रतिवादिनोः साध्यसाधनधर्माधिकरणत्वेन तद्रहितत्वेन वा प्रसिद्धोऽर्थो दृष्टान्तः ।"—न्यायक० पृ० ८ । ५. "अयमेवमिति प्रमाणमूलाभ्युपगमः विषयीकृतः सामान्यविशेषवानर्थः सिद्धान्तः ।"—न्यायक० पृ० ९ । ६. –दर्शनशास्त्रसम्मतप्र–क०, प० १, २, भ० १, २ । ७. "साधनीयस्यार्थस्य यावता वाक्येन परस्मै प्रतिपादनं क्रियते तस्य पञ्च भागाः प्रतिज्ञादयोऽवयवाः ।"—न्यायक० पृ० ९ । ८. "अविज्ञाततत्त्वे धर्मिणि एकतरपक्षानुकूलार्थदर्शनेन, तस्मिन् संभावनाप्रत्ययरूप ऊहस्तर्क उच्यते ।' —न्यायक० पृ० १३ ।

स्थाणुरेवायमित्यवधारणं निर्णयः[1]। द्वन्द्वे तर्कनिर्णयौ ९। गुरुणा समं तत्त्वनिर्णयार्थं वदनं वादः[2] १०। परेण समं जिगीषया जल्पनं जल्पः[3] ११। अपरामृष्टवस्तुतत्त्वं मौखर्यमात्रं वितण्डा[4] १२। हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः[5] न सम्यग्धेतव इत्यर्थः १३। परवचनविघातार्थं-विकल्पोत्पादनानि छलानि[6] १४। जातयोऽसम्यग्दूषणानि[7] १५। यैरुक्तैर्वक्ता निगृह्यते तानि निग्रहस्थानानि[8] १६। इति। एषामनन्तरोक्तानां प्रमाणादीनामेवमित्थं प्ररूपणा स्वरूप-प्रदर्शना भवति।

§ १५. तत्रादौ प्रमाणस्य प्ररूपणां चिकीर्षुः प्रथमतस्तस्य सामान्यलक्षणं संख्यां च प्राह—'अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणम्'। अर्थस्य प्राह्यस्य बाह्यस्य स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादेः, आन्तरस्य च ज्ञानसुखादेरुपलब्धिर्ज्ञानमर्थोपलब्धिः। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायादव्याभिचारिण्य-व्यपदेश्या व्यवसायात्मिका चार्थोपलब्धिर्ग्राह्या, न तूपलब्धिमात्रम्। तस्या यो हेतुः कारणं स प्रमाणं स्याद्भवेत्। अर्थोपलब्धिस्तु प्रमाणस्य फलम्। अयमत्र भावः—अव्यभिचारादिविशेषणविशि-

---

पदार्थके पाये जानेवाले सद्भूतधर्म—अन्वयधर्मकी ओर ज्ञानका झुकाव होता है। ९. निर्णय—तर्क-के द्वारा सम्भावित पदार्थके यथार्थ निश्चयको निर्णय कहते हैं। जैसे यह स्थाणु ही है। तर्क और निर्णय पूर्वोत्तरकाल भावी हैं अतः इनका द्वन्द्व समास किया गया है। १०. वाद—तत्त्वनिर्णयके लिए गुरुके साथ चर्चा करनेको वाद कहते हैं। ११. जल्प—प्रतिवादीको पराजित करनेकी इच्छासे शास्त्रार्थ करनेको जल्प कहते हैं। १२. वितण्डा—अपने पक्षका स्थापन नहीं करके, वस्तुतत्त्वका स्पर्श किये बिना ही यद्वा-तद्वा बकवाद करनेको वितण्डा कहते हैं। १३. हेत्वाभास—हेतुके यथार्थ लक्षणसे शून्य पर हेतुकी तरह प्रतिभासित होनेवाले मिथ्याहेतु हेत्वाभास हैं। १४. छल—दूसरेके वचनका खण्डन करनेके लिए शब्दके अर्थमें अनेक विकल्प करना छल कहलाता है। १५. जाति—मिथ्या दूषणोंको जाति कहते हैं। १६. निग्रहस्थान—जिनके कहनेपर वक्ताका पराजय हो जाता है उन्हें निग्रहस्थान कहते हैं। इन प्रमाण आदि पदार्थोंकी विशेष प्ररूपणा—स्वरूप व्याख्या इस प्रकार है—

§ १५. सर्वप्रथम प्रमाणके स्वरूपके वर्णन करनेकी इच्छासे उसके सामान्य लक्षणको तथा उसकी संख्याको कहते हैं—ज्ञान—अर्थोपलब्धिका साधन प्रमाण है। बाह्य विषय स्तम्भ, घड़ा, कमल आदि तथा अन्तरङ्ग ज्ञान, सुख आदि अर्थोंकी उपलब्धि अर्थात् प्रतीति अर्थोपलब्धि है। 'व्याख्यानसे विशेषार्थकी प्रतिपत्ति होती है' इस न्यायके अनुसार यहाँ अव्यभिचारिणी—निर्दोष, अव्यपदेश्या—शब्दके द्वारा जिसका यह 'रूप है, यह रस है' ऐसा कथन न हो, तथा व्यवसायात्मिका—निश्चयात्मिका अर्थोपलब्धि ग्रहण करनी चाहिए, सामान्य उपलब्धि नहीं। ऐसी निर्दोष उप-लब्धिका जो कारण होता है वही प्रमाण है। अर्थोपलब्धि तो प्रमाणका फल है। तात्पर्य यह कि

---

१. "पक्षप्रतिपक्षविषयसाधनोपालम्भपरीक्षया तदन्यतरपक्षावधारणं निर्णयः।" —न्यायक० पृ० १३। २. "वादो नाम धीतरागयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहपूर्वकः प्रमाणतर्कपूर्वकसाधनोपालम्भप्रयोगे क्रियमाणे एकपक्षनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः।"—न्यायक० पृ० १३। ३. "स एव पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो विजिगीषया प्रयुक्तः छलजातिनिग्रहस्थानप्रयोगबहुलो जल्पः।"—न्यायक० पृ० १३। ४. "स्वपक्षसाधनोपन्यासहीनो जल्प एव वितण्डा भवति।"—न्यायक० पृ० १३। ५. "अहेतवो हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः।" न्यायक० पृ० १४। ६. तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्।" —न्यायक० पृ० १६। ७. "सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा प्रयुक्ते सति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे तु प्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिरित्युच्यते।"—न्यायक० पृ० १७। ८. "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।"—न्यायक० पृ० २१।

ह्यर्थोपलब्धिजनिका सामग्री[1] तदेकदेशो वा चक्षुःप्रदीपज्ञानादिर्बोधरूपोऽबोधरूपो वा साधकतमत्वात्प्रमाणम् । तज्जनकत्वं च तस्य प्रामाण्यम् । [2]तज्जन्या त्वर्थोपलब्धिः फलमिति । इन्द्रियजत्वलिङ्गजत्वादिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिर्व्यपदेश्यतः स्यात्, तदेव प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य विशेषलक्षणं वक्ष्यते । केवलमत्राव्यपदेश्यमिति विशेषणं न शाब्दे सम्बन्धनीयं तस्य शब्दजन्यत्वेन व्यपदेश्यत्वात् । अथ प्रमाणस्य भेदानाह—'तच्चतुर्विधम्' तत्प्रमाणं चतुर्विधं चतुर्भेदम् ॥१४-१६॥

§ १६. अथ तच्चातुर्विध्यमेवाह—

प्रत्यक्षमनुमानं चोपमानं शाब्दिकं तथा ।
तत्रेन्द्रियार्थसंपर्कोत्पन्नमव्यभिचारि च ॥१७॥
व्यवसायात्मकं ज्ञानं व्यपदेशविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षमनुमानं तु [3]तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत् ॥१८॥
पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतस्तथा ।
तत्रार्थं [4]कारणात्कार्यानुमानमिह गीयते ॥१९॥

§ १७. व्याख्या—प्रत्यक्षमध्यक्षं, अनुमानं लैङ्गिकं, चकारः समुच्चयार्थः, उपमानमुपमितिः, तथाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वाच्छाब्दिकं च शब्दे भवं शाब्दिकमागम इत्यर्थः । अथ प्रत्यक्षस्य

अव्यभिचार आदि विशेषणोंसे युक्त अर्थोपलब्धिको उत्पन्न करनेवाली पूर्ण सामग्री, अथवा सामग्रीके एक-एक भाग चक्षु दीपक, ज्ञान आदि, चाहे ये ज्ञान रूप हों या अचेतन, यदि अर्थोपलब्धिमें साधकतम—कारण होते, हैं तो प्रमाण हैं । अर्थोपलब्धिकी जनकता ही प्रमाणता है । उस सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाली अर्थोपलब्धि फल है । यही अर्थोपलब्धि जब इन्द्रियों-द्वारा उत्पन्न होती है तब प्रत्यक्ष कहलाती है और जब लिंगसे उत्पन्न होती है तब अनुमान कही जाती है । इसी तरह विशेष प्रमाणोंके लक्षण आगे कहेंगे । केवल शाब्दप्रमाणका लक्षण करते समय 'अव्यपदेश्य' विशेषणका सम्बन्ध अर्थोपलब्धिमें नहीं करना चाहिए, क्योंकि शाब्द—आगमज्ञान तो शब्दजन्य होनेसे व्यपदेश्य ही है । वह प्रमाण चार प्रकारका है ॥१४–१६॥

§ १६. अब प्रमाणके चार प्रकारोंका वर्णन करते हैं—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शाब्दिक—आगम] ये चार प्रकारके प्रमाण हैं । इनमें इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेवाले, अव्यभिचारि—संशय विपर्यय आदि बोधोंसे रहित, व्यवसायात्मक—निश्चयात्मक तथा व्यपदेश—'यह रूप है, यह रस है' इत्यादि शब्दप्रयोगसे रहित ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । प्रत्यक्षपूर्वक उत्पन्न होनेवाला अनुमान ज्ञान पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है । इनमें कारणसे कार्यके अनुमानको पूर्ववत् कहते हैं ॥१७-१९॥

§ १७. श्लोकमें 'च' और 'तथा' शब्द समुच्चयार्थक हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान—लैङ्गिक उपमान—उपमिति तथा शब्दसे होनेवाला शाब्दिक—ये चार प्रमाण हैं । उन प्रमाणोंमें सर्वप्रथम

---

१. "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् । बोधाबोधस्वभावो हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम् ।" —न्यायमं० पृ० १२ । २. तज्जन्यार्थोप-आ०, क० । तज्जन्यान्वयोप-भ० २ । ३. "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।"—न्यायसू० १।१।३ । ४. "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च ।"—न्यायसू० १।१।५ । ५. "पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति ।"—न्यायभा० १।१।५ ।

लक्षणं लक्षयति । 'तत्रेन्द्रियार्थ' इत्यादि । तत्रेति तेषु प्रमाणेषु प्रथमं प्रत्यक्षमुच्यते । अत्रास्यैव-मक्षपादप्रणीतं सूत्रम्—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" इति [न्यायसू० १।१।४] इन्द्रियं चक्षुरादिमनःपर्यन्तम्, तस्यार्थः परिच्छेद्य इन्द्रियार्थ इन्द्रियविषयभूतोऽर्थो रूपादिः, "रूपादयस्तदर्थाः" [ ] इति वचनात् । तेन सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिरिन्द्रियस्य प्राप्तिः संबन्ध इति यावत् । स च षोढा[1] इन्द्रियेण सार्धं द्रव्यस्य संयोग एव १ । रूपादिगुणानां संयुक्तसमवाय एव द्रव्ये समवेतत्वात् २ । रूपत्वादिषु गुणसमवेतेषु संयुक्तसमवेतसमवाय एव ३ । शब्दे समवाय एकाकाशस्य श्रोत्रत्वेन व्यवस्थितत्वात्, शब्दस्य च तद्गुणत्वेन तत्र समवेतत्वात् ४ । शब्दत्वे समवेतसमवाय एव शब्दे समवेतत्वात् ५ । समवायाभावयोर्विशेषणविशेष्यभाव एव[2] उक्तलक्षणसन्निधर्षसंबन्धसंबद्धेषु वस्तुषु समवायघटादि

प्रत्यक्षका लक्षण करते हैं । अक्षपादने स्वयं न्यायसूत्रमें कहा है कि "इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष है ।" इन्द्रिय शब्दसे चक्षु, श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियोंका तथा मनका ग्रहण करना चाहिए । अर्थ—उन इन्द्रियोंका विषयभूत अर्थ रूपादि । "रूपादि इन्द्रियोंके विषय हैं" ऐसा शास्त्रका वचन है । अर्थके साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष—प्राप्ति, समीपता, अर्थात् सम्बन्ध । यह सन्निकर्ष छह प्रकारका है—१. संयोग—चक्षुरादि इन्द्रियोंका द्रव्यके साथ संयोग सन्निकर्ष होता है, अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय तेजो-द्रव्य रूप है, रसनेन्द्रिय जलद्रव्यरूप, घ्राणेन्द्रिय पार्थिव तथा स्पर्शनेन्द्रिय वायुद्रव्यरूप है । इन द्रव्यरूप इन्द्रियोंका द्रव्यके साथ संयोग सम्बन्ध होता है । २. संयुक्तसमवाय—द्रव्यमें रहनेवाले रूपादिगुणोंके साथ संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है । क्योंकि चक्षुसे संयुक्त द्रव्यमें रूपादिगुण सम-वेत हैं—समवाय सम्बन्धसे रहते हैं । ३. संयुक्तसमवेतसमवाय—रूपादिमें समवायसे रहनेवाले रूपत्वादि के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है । अर्थात् चक्षुसंयुक्त द्रव्यमें रूपादि समवेत हैं तथा उनमें रूपत्वादिका समवाय पाया जाता है । ४. समवाय—श्रोत्रके द्वारा शब्दका साक्षात्कार करनेमें समवाय सन्निकर्ष होता है । कर्णशष्कुलीमें रहनेवाले आकाशद्रव्यको श्रोत्र कहते हैं । शब्द आकाशका गुण है । अतः श्रोत्र अर्थात् आकाशद्रव्यका शब्द नामक गुणसे समवाय सम्बन्ध होता है । ५. समवेतसमवाय—शब्दत्वके साथ श्रोत्रका समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है । आकाश-में समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले शब्दमें शब्दत्वका समवाय होता है । ६. विशेषण-विशेष्यभाव—समवाय और अभावका प्रत्यक्ष करनेके लिए विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होता है । ऊपर कहे गये पाँच प्रकारके सम्बन्ध जिन पदार्थोंमें पाये जाते हैं उनसे समवाय तथा घटादि दृश्य पदार्थोंके अभावका विवक्षानुसार विशेषणरूपसे या विशेष्यरूपसे सम्बन्ध रहता है । जैसे 'तन्तु पटसमवाय-

---

१. "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।" न्यायसू० १।१।१४ । २. "सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते । संयुक्तः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायो, विशेष-णविशेष्यभावश्चेति । तत्र चक्षुरिन्द्रियं, रूपवान् घटादिरर्थः । तेन सन्निकर्षः संयोगस्तयोर्द्रव्यस्वभावत्वात् । अद्रव्येण च तद्गतरूपादिना संयुक्तसमवायः । यस्माच्चक्षुषा संयुक्ते द्रव्ये रूपादि वर्तत इति । वृत्तिस्तु समवायः । रूपादिवृत्तिना सामान्येन संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः । एवं घ्राणादिषु गन्धवदा-दिद्रव्येण संयोगः । तत्समवेतेषु गन्धादिषु संयुक्तसमवायः तद्गतेषु च सामान्यादिषु संयुक्तसमवेतसम-वायः । शब्दे समवायः । तद्गतेषु च सामान्येषु समवेतसमवायात् । समवाये चाभावे च विशेषण-विशेष्यभावादिति ।"—न्यायवा० पृ० ३१ । न्यायम० पृ० ६८ । प्रश० व्यो० प्र० १९५ । न्यायमा० पृ० २, ३ । ३. शब्दस्य गुण—प० १, २, भ० १ । शब्दस्य तद्गुण—आ०, क० ।

वृत्तभावयोर्विशेषणत्वं विशेष्यत्वं वा[1] भवतीत्यर्थः । तद्यथा—तन्तवः पटसमवायवन्तः तन्तुषु पटसमवाय इति । घटशून्यं भूतलमिह भूतले घटो नास्तीति ६ षोढा सन्निकर्षः ।

§ १८. अथ निकर्षग्रहणमेवास्तु सं-ग्रहणं व्यर्थम्, न; सं-शब्दग्रहणस्य सन्निकर्षषट्क-प्रतिपादनार्थत्वात् । एतावेव सन्निकर्षषट्कं ज्ञानोत्पादे समर्थं कारणम्, न संयुक्तसंयोगादिकमिति 'सं'ग्रहणाल्लभ्यते ।

§ १९. इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् । उत्पत्तिग्रहणं कारकत्वज्ञापकार्थम् । अयमत्राय भावः—इन्द्रियं हि नैकट्यादर्थेन सह संबध्यते, इन्द्रियार्थसंबन्धाच्च ज्ञानमुत्पद्यते । यदुक्तम्—

"[2]आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण, स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रः ।
योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति, यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥ १ ॥"

[ ]

§ २०. ज्ञानग्रहणं सुखादिनिवृत्त्यर्थं सुखादीनामज्ञानरूपत्वात् । सुखादयो ह्याह्लादादि-स्वभावा ग्राह्यतयानुभूयन्ते, ज्ञानं त्वर्थावगमस्वभावं ग्राहकतयानुभूयत इति ज्ञानसुखाद्योर्भेदो-ऽप्यक्षसिद्ध एव ।

वाले हैं', यहाँ समवायको विशेषण रूपसे तथा 'तन्तुमें पटका समवाय है' यहाँ समवायको विशेष्य-रूपसे प्रतीति होती है । इसी तरह 'भूतल घटसे रहित है' यहाँ अभाव विशेषणरूपसे तथा 'इस भूतलमें घट नहीं है' यहाँ अभाव विशेष्यरूपसे अनुभवमें आता है । इस प्रकार छह प्रकारका सन्निकर्ष है ।

§ १८. शंका—'सन्निकर्ष'के स्थानमें निकर्ष ही कहना चाहिए 'सम्' उपसर्गका ग्रहण करना व्यर्थ है; क्योंकि निकर्ष ग्रहण करनेसे भी सम्बन्धका बोध तो हो ही जाता है ?

समाधान—'सम्' शब्दका ग्रहण छह प्रकारके ही सन्निकर्षका प्रतिपादन करनेके लिए है । ये ही छह सन्निकर्ष ज्ञानकी उत्पत्तिमें समर्थ कारण हैं, संयुक्तसंयोग आदि नहीं । यही 'सम्'के ग्रहण करनेसे सूचित होता है ।

§ १९. "इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेवाले" यहाँ उत्पत्तिका ग्रहण कारक पक्षकी सूचना देता है । तात्पर्य यह कि इन्द्रियाँ निकटताके कारण पदार्थके साथ सम्बद्ध होती हैं, फिर इन्द्रिय और अर्थका सम्बन्ध होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है । कहा भी है "आत्मा मनसे सम्बद्ध होता है, मन इन्द्रियोंसे तथा इन्द्रियाँ अपने विषयभूत पदार्थोंसे । यह सम्बन्ध परम्परा बहुत ही शीघ्र होती है, इसीका नाम सम्बन्ध या सन्निकर्ष है । मनके लिए कोई भी वस्तु अगम्य नहीं है । जहाँ मन जाता है वहीं आत्मा भी पहुँच जाता है ॥१॥"

§ २०. ज्ञान शब्दका ग्रहण सुखादिमें प्रत्यक्षरूपताका निराकरण करनेके लिए किया गया है, क्योंकि सुखादिक अज्ञानस्वरूप हैं । ज्ञान तो पदार्थका अवगम अर्थात् बोध कराता है, वह अर्थ-का ग्राहक होता है, जबकि आह्लादरूप सुखादि ग्राह्य होते हैं । यह ज्ञान और सुखादिका भेद तो प्रत्यक्षसे ही अनुभवमें आता है ।

---

१. –व्यत्वं भव–आ०, क०, प० २ । "आत्मा मनसा युज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति ।" न्यायमा० १।१।४ । २. तुलना—आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति ।"—न्यायम० पृ० ७० । ३. "अथ ज्ञानग्रहणं किमर्थम् ? सुखादिव्यवच्छेदार्थम् ।"—न्यायवा० पृ० १६ । "अथ वा सुखादिव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानपदोपादानम् ।"—न्यायम० प्रमा० पृ० ७० ।

§ २१. [1]अव्यपदेश्यं नामकल्पनारहितं नामकल्पनायां हि शाब्दं स्यात्। अव्यपदेश्यपद-ग्रहणाभावे हि व्यपदेशः शब्दस्तेनेन्द्रियार्थसंनिकर्षेण चोभाभ्यां यदुत्पादितं ज्ञानं तदप्यध्यक्षफलं स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यपदोपादानम्। इदमत्र तत्त्वम्—चक्षुर्गोशब्दयोर्व्यापारे सति 'अयं गौः' इति विशिष्टकाले यज्ज्ञानमुपजायमानमुपलभ्यते, [2]तच्छब्देन्द्रियोभयजन्यत्वेऽपि प्रभूतविषयत्वेन [3]शब्दस्य प्राधान्याच्छाब्दमिष्यते, न पुनरध्यक्षमिति।

§ २२. इन्द्रियजन्यस्य[4] मरुमरीचिकासूदकज्ञानस्य, शुक्तिशकले कलधौतबोधादेश्च निवृत्त्यर्थमव्यभिचारिपदोपादानम्[5]। यदतस्मिंस्तदित्युत्पद्यते तद्व्यभिचारि ज्ञानम्, तद्व्यवच्छेदेन तस्मिंस्तदिति ज्ञानमव्यभिचारि।

§ २३. व्यवसीयतेऽनेनेति व्यवसायो विशेष उच्यते। विशेषजनितं व्यवसायात्मकम्। अथवा व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकम्[6]। एतेन संशयज्ञानमनेकपदार्थालम्बनत्वादनिश्चयात्मक-

§ २१. अव्यपदेश्य—शब्दकी कल्पनासे रहित। 'यदि प्रत्यक्ष ज्ञानमें शब्दकल्पना हो जाये तब तो वह भी शाब्द ही हो जायेगा। यदि अव्यपदेश्य पद न हो तब व्याख्या—शब्द तथा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष दोनोंसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षका फल है' यह अर्थ फलित होगा, इसकी निवृत्तिके लिए अव्यपदेश्य पदका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि चक्षुरिन्द्रिय तथा गोशब्दका युगपत् व्यापार होनेपर 'यह गौ है' यह विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञानमें यद्यपि आँखका गौके साथ सन्निकर्ष होना तथा गौ शब्दका सुनना दोनों ही कारण हो रहे हैं फिर भी शब्दको मुख्यता होनेके कारण अथवा शब्दके व्यापारका अधिक भाग होनेसे इस ज्ञानको शाब्द ही मानते हैं प्रत्यक्ष नहीं। शब्दकी प्रधानताका कारण है 'यह गौ है' इस ज्ञानकी उत्पत्तिमें अधिक हाथ बटाना, इसमें मुख्यरूपसे भाग लेना तथा अधिक विषयका होना।

§ २२. मरुस्थलकी रेतमें जलका ज्ञान तथा सीपमें चाँदीका ज्ञान विपरीत है, व्यभिचारी है, अतः ऐसे ज्ञानोंकी निवृत्तिके लिए अव्यभिचारी पदका ग्रहण किया है। जो पदार्थ जिस रूप नहीं है उसमें उस रूपका ज्ञान होना विपर्यय है। इस विपर्ययका व्यवच्छेद करके जो पदार्थ जिस रूप है उसका उसी रूपमें ज्ञान करनेवाला अव्यभिचारी कहलाता है।

§ २३. वि—विशेष रूपसे अवसाय निश्चय किया जाये जिसके द्वारा, उसे व्यवसाय अर्थात् विशेष कहते हैं। विशेषजनित ज्ञान व्यवसायात्मक कहलाता है। अथवा व्यवसायात्मकका सीधा अर्थ है निश्चयात्मक। इस विशेषणसे अनेक पदार्थोंमें चलितरूपसे झूलनेवाले अनिश्चयात्मक

---

१. "तत्र वृद्धनैयायिकास्तावदाचक्षते, व्यपदिश्यते इति व्यपदेश्यं शब्दकर्मतामापन्नं ज्ञानमुच्यते यदिन्द्रियार्थसंनिकर्षादुत्पन्नं सदिदमयमामधेयेन व्यपदिश्यते रूपज्ञानं रसज्ञानमिति तद्व्यपदेश्यं ज्ञानं प्रत्यक्षफलं मा भूदित्यव्यपदेश्यग्रहणम्।" —न्यायम० प्रमा० पृ० ७३। "यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थ-संप्रत्ययोऽर्थसंप्रत्ययाच्च व्यवहारः तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमर्थज्ञानं—रूपमिति जानाते रस इति जानीते नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते अत आह—अव्यपदेश्यमिति।" —न्यायम० १।१।४। २. तच्छब्दोभयजन्यान्वयिप्रभूतविषय—भ० २। ३. शाब्दस्य भ० २। ४. —स्य मरीचिपूदक—प० १, २, भ० १, २। ५. "आप्ते मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा संनिकृष्यन्ते तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् उदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते इत्यत आह—अव्यभिचारीति। यद् अतस्मिन् तदिति तद् व्यभिचारि। यत्तु तस्मिन् तदिति तद् अव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति।" —न्यायम० १।१।४। ६. "दूरात्चक्षुषा ह्यर्थं पश्यन् नावधारयति—धूम इति वा रेणुरिति वा तदेतद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यते इत्यत आह—व्यवसायात्मकमिति।" —न्यायम० १।१।४।

स्वाच्च प्रत्यक्षफलं न भवतीति ज्ञापितम् ।

§ २४. नन्वेवमपि ज्ञानपदमनर्थकमव्यपदेश्यादिविशेषणार्थाभ्यां ज्ञानस्य लब्धत्वात्, न; धर्मिप्रतिपादनार्थत्वादस्य, ज्ञानपदोपात्तो हि धर्मीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादिभिर्विशेष्यते । अन्यथा धर्म्यभावे [1]काव्यभिचारादीन् धर्मांस्तत्पदानि प्रतिपादयेयुः ।

§ २५. केचित्पुनरेवं व्याचक्षते—अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकमिति पदद्वयेन [2]निर्विकल्पकसविकल्पकभेदेन प्रत्यक्षस्य द्वैविध्यमाह, शेषाणि तु ज्ञानविशेषणानीति ।

§ २६. अत्र च सूत्रे फलस्वरूपसामग्रीविशेषणपक्षास्त्रयः संभवन्ति[3] । तेषु स्वरूपविशेषणपक्षो न युक्तः । यथोक्तविशेषणं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति हि तत्रार्थः स्यात् । तथा चाकारकस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रसक्तिः, न चाकारकस्य प्रत्यक्षत्वं युक्तम् असाधकतमत्वात्साधकतमस्यैव च प्रमाणत्वात् ।

संशयज्ञानकी व्यावृत्ति सूचित की गयी है । ऐसा अनिश्चयात्मक संशयज्ञान प्रत्यक्षका फल नहीं हो सकता ।

§ २४. **शंका**—जब अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक इन दो विशेषणोंसे ही ज्ञानका बोध हो जाता है तब ज्ञान पदका ग्रहण करना व्यर्थ ही है ?

समाधान—ज्ञानपदका ग्रहण धर्मीका प्रतिपादन करनेके लिए है । ज्ञानरूप धर्मी हो तो इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणोंवाला होगा । यदि धर्मी ही न हो तब ये अव्यभिचार आदि धर्म कहाँ रहेंगे ? अतः अव्यभिचारि आदि पदोंके द्वारा जिसमें अव्यभिचार आदि धर्मोंका कथन किया जाता है उस आधारभूत ज्ञानका कथन करना उचित ही है ।

§ २५. कोई व्याख्याकार अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक पदोंसे क्रमशः प्रत्यक्षके निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दो प्रकारोंका प्रतिपादन हुआ है ऐसा कहते हैं । बाकी अव्यभिचारि आदि पदोंको ज्ञानके विशेषण ही मानते हैं ।

§ २६. इस सूत्रमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणोंके विषयमें फलविशेषण, स्वरूपविशेषण तथा सामग्रीविशेषण रूपसे तीन पक्ष सम्भव हैं । इनमें स्वरूपविशेषण पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि स्वरूपविशेषण पक्षमें 'उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह अर्थ होता है । इस स्वरूपविशेषण पक्षमें प्रमाणताकी प्रयोजक साधकतम रूपसे कारकता द्योतित नहीं होती, अतः इस पक्षमें अकारक ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो सकेगा । परन्तु अकारकको प्रत्यक्ष मानना उचित

---

१. कानि व्यभिचारादीन् धर्मा–म० २ । २. –कल्पकसविकल्पभे–प०, १, २, ३ म० १ । –कल्पसविकल्पभे–म० २ । ३. "अत्र चोदयन्ति–इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणैः स्वरूपं वा विशिष्यते सामग्री वा फलं वा, तत्र स्वरूपविशेषणपक्षे यदेवंस्वरूपं ज्ञानं तत्प्रत्यक्षमिति तस्स्वरूपस्य विशेषितत्वात्फलविशेषणानुपादानाच्च लक्षणमव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यामुपहतं स्यात् ।...नापि सामग्रीविशेषणपक्षः तत्र होन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमिति इन्द्रियार्थसंनिकर्षोपपन्नं सामग्र्यमिति व्याख्यातव्यम्, अव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानमिति च तज्जनकत्वादुपचारेण तथा साकल्यं वर्णनीयमिति विक्लिष्टकल्पना, फलविशेषणपक्षोऽपि न संगच्छते, ज्ञानप्रत्यक्षयोः फलकरणवाचिनोः सामानाधिकरण्यप्रसङ्गात्, प्रमाणलक्षणप्रस्तावात्प्रत्यक्षं प्रमाणमुच्यते तच्च करणमिति वर्णितम्, ज्ञानं तु तदुपजनितं फलमिति कथमेकाधिकरण्यं तस्मात्पक्षत्रयस्याप्ययुक्तियुक्तत्वात्पक्षान्तरस्याप्यसंभवादयुक्तं सूत्रमिति । अत्रोच्यते, स्वरूपसामग्रीविशेषणपक्षौ तावद्ययोक्तदोषोपहतत्वान्नाभ्युपगम्येते, फलविशेषणपक्षमेव संमन्यामहे, तत्र च यदेंयधिकरण्यं चोदितं तत्रतः शब्दाध्याहारेण परिहरिष्यामः, यत एवं यद्विशेषणविशिष्टं ज्ञानाख्यं फलं भवति तत्प्रत्यक्षमिति सूत्रार्थः, इत्थं च न क्वचिदव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा न काचित् क्लिष्टकल्पना यतः शब्दाध्याहारमात्रेण निरवद्यलक्षणोपवर्णनसमर्थसूत्रपदसंगतिसंभवात् ।"—न्यायम० प्रमा० पृ० ६१ ।

तुलासुवर्णादीनां प्रदीपादीनां संनिकर्षेन्द्रियादीनां [1]चाबोधरूपाणामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गश्च । इष्यते चैषां सूत्रकृता प्रत्यक्षत्वम् । तत्र स्वरूपविशेषणपक्षो युक्तः ।

§ २७ नापि सामग्रीविशेषणपक्षः, सामग्रीविशेषणपक्षे ह्येवं सूत्रार्थः स्यात्—प्रमातृप्रमेय-चक्षुरादीन्द्रियालोकादिका ज्ञानजनिका सामग्री इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणविशिष्टज्ञान-जननात् उपचारेणेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणविशिष्टा सती प्रत्यक्षमिति । एवं च सामग्र्याः सूत्रोपात्तविशेषणयोगित्वं तथाविधफलजनकत्वादुपचारेणैव भवति, न तु स्वत इति । न तु युक्तस्सत्पक्षोऽपि ।

§ २८. फलविशेषणपक्षस्तु युक्तिसङ्गतः । अत्र पक्षे 'यतः' इत्यध्याहार्यम् । ततोऽयमर्थः[2]—इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणं ज्ञानं यत इन्द्रियार्थसंनिकर्षादेर्भवति, स इन्द्रियार्थसंनि-कर्षादिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । ज्ञानं च[3] प्रत्यक्षप्रमाणफलम् । यदा तु ततोऽपि ज्ञानाद्धानोपादानादि-बुद्धय उत्पद्यन्ते, तदा हानादिबुद्ध्यपेक्षया ज्ञानं प्रमाणं हानादिबुद्धयस्तु फलम् । "यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा हानादिबुद्धयः फलम् ।" [न्यायभा० १।१।३] इति वचनात् । यथा [4]चानुभवज्ञान-संस्कारजायाः स्मृतेस्तथा चायमित्थेतज्ज्ञानमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वात्प्रत्यक्षफलम् । तत्स्मृतेस्तु

नहीं है, क्योंकि प्रमाके प्रति साधकतम कारकको ही प्रमाण कहते हैं। जो अकारक है वह साधकतम हो ही नहीं सकता। स्वरूपविशेषण पक्षमें ज्ञान ही प्रमाण होता है अत तौलनेमें साधकतमभूत तराजू तथा सोनेके बाँट आदि, दीपक आदि और सन्निकर्ष तथा इन्द्रिय आदि अज्ञानरूप होनेसे प्रत्यक्षप्रमाण नहीं हो सकेंगे। पर, सूत्रकारने इन्हें साधकतम होनेसे प्रमाण माना है। अत. स्वरूपविशेषण पक्ष किसी भी तरह युक्त नहीं है।

§ २७. इसी तरह सामग्रीविशेषण पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामग्रीविशेषण पक्षमें सूत्र-का यह अर्थ होता है—'प्रमाता, प्रमेय, चक्षुरादि इन्द्रियाँ तथा प्रकाश आदि ज्ञानोत्पादक सामग्री प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है। चूँकि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणोंसे विशिष्ट ज्ञानको उत्पन्न करती है अतः इसमें भी उपचारसे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणोंका अन्वय हो जाता है. यह भी उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट होकर प्रमाण है। इस तरह सूत्रमें कहे गये विशेषणोंका साक्षात् सम्बन्ध सामग्रीमें नहीं हुआ, किन्तु उक्त विशेषण विशिष्ट ज्ञानको उत्पन्न करनेके कारण उपचारसे ही सामग्रीमें उक्त विशेषणोंका सम्बन्ध हुआ स्वतः नहीं। अतः उपचाररूप प्रमाणता लानेवाला यह पक्ष भी उचित नहीं है।

§ २८. हाँ, फलविशेषण पक्ष निर्दोष तथा युक्तिसंगत है। इस पक्षमें 'यतः—जिससे' शब्दका अध्याहार करना चाहिए। तब यह अर्थ होगा कि—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणवाला ज्ञान यतः—जिस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदिसे होता है वह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि प्रत्यक्ष प्रमाण है। ज्ञान सो प्रत्यक्ष प्रमाणका फल है। हाँ, जब उस ज्ञानसे भी उत्तरकालमें हानोपादानादि बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं तब हानोपादानबुद्धि की अपेक्षा ज्ञान प्रमाण होता है तथा हानादिबुद्धियाँ फल। "जब ज्ञानको प्रमाणता होती है तब हानादिबुद्धियाँ फलरूप होंगी।" यह पुरातन आचार्योंका कथन है। इसी तरह अनुभवज्ञानसे संस्कार होता है, तथा संस्कारसे होनेवाली स्मृति

---

१. -वा बोध-प० १, २, भ० २। २. "यदा संनिकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानो-पादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।..."—न्यायभा० १।१।३। "तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपलोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्...प्रमितिः द्रव्यादिविषयं ज्ञानम्...अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसंनिकर्षादिवितथव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्...प्रमितिः गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति।"—प्रश० भा० पृ० १८७। —न्यायवा० पृ० २९। "प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते। तस्य प्रमाणभावे तु फलहानादि-बुद्धयः ॥"—न्यायम० प्रमा० पृ० ६२। ३. तु भ० १, २, क०। ४. -ज्ञातसंश-भ० २।

प्रत्यक्षता । सुखदुःखसंबन्धस्मृतेस्त्विन्द्रियार्थसंनिकर्षसहकारित्वात्तया चायमिति सादृश्यज्ञानजनकत्वेनाप्रत्यक्षप्रमाणता । सादृश्यज्ञानस्य च सुखसाधनोऽयमित्यानुमानिकफलजनकत्वेनानुमानप्रमाणता । न च [1]सुखसाधनत्वशक्तिज्ञानमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजं शक्तेरसंनिहितत्वात् । आत्मनो मनइन्द्रियेण संनिकर्षे सुखादिज्ञानं फलम् । मनइन्द्रियस्य तत्संनिकर्षस्य च प्रत्यक्षप्रमाणता । एवमन्यत्रापि यथार्हं प्रमाणफलविभागोऽवगन्तव्य इति ।

§ २९. एतदेवेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नसूत्रं ग्रन्थकारः पद्यबन्धानुलोम्येनेत्थमाह । 'इन्द्रियार्थसंपर्कोत्पन्नम्' [2] इत्यादि । अत्र संपर्कः संबन्धः । 'अव्यभिचारि च' इत्यत्र चकारो विशेषणसमुच्चयार्थः । अव्यभिचारिकमिति पाठे त्वव्यभिचार्येवाव्यभिचारिकं स्वार्थे [3] कप्रत्ययः । व्यपदेशो नामकल्पना । अत्रापि व्याख्यायां 'यतः' इत्यध्याहार्यम् । भावार्थः सर्वोऽपि प्राग्वदेवेति ।

§ ३०. अथ प्रत्यक्षतत्फलयोरभेदविवक्षया प्रत्यक्षस्य भेदा उच्यन्ते । प्रत्यक्षं द्वेधा, अयोगिप्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षं च । यदस्मदादीनामिन्द्रियार्थसंनिकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते तदयोगिप्रत्यक्षम् । तदपि द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पं च । तत्र वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकं यथा प्रथमाक्षसंनिपातजं ज्ञानम् । [4]संज्ञासंज्ञिसंबन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकं यथा देवदत्तोऽयं दण्डीत्यादि ।

'यह उसके समान है' इस इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यभिज्ञान रूप प्रत्यक्षज्ञानको उत्पन्न करती है । यहाँ प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणका फल है तथा स्मृति साधकतम होनेसे प्रत्यक्षप्रमाणरूप है । किन्तु सुखदुःख सम्बन्ध की स्मृति इन्द्रियार्थसन्निकर्षकी सहायतासे 'उसी तरह यह है' इस सादृश्यज्ञानको उत्पन्न करती है अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाणरूप है । सादृश्यज्ञान तो 'उसी तरह यह भी सुख साधन है' इस अनुमानरूप फलको उत्पन्न करनेके कारण अनुमान प्रमाणरूप है । क्योंकि सुखसाधनत्वरूप शक्तिका ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षसे नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति अतीन्द्रिय होनेसे सन्निहित नहीं है । आत्माका मनरूप इन्द्रियसे सन्निकर्ष होनेपर सुखादिका ज्ञान होता है । यहाँ सुखादिज्ञान फलरूप है तथा मनरूप इन्द्रिय एवं आत्मा और मनका सन्निकर्ष प्रत्यक्षप्रमाणरूप होते हैं । इसी तरह सर्वत्र साधकतम अंशमें प्रमाणरूपता तथा कार्यरूपी अंशमें फलरूपताका विचारकर प्रमाण-फलविभाग समझ लेना चाहिए ।

§ २९. ग्रन्थकारने इसी 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' सूत्रको पद्यरूपमें परिवर्तित करनेकी इच्छासे 'सन्निकर्ष' की जगह 'सम्पर्क' शब्दका प्रयोग किया है । सम्पर्कका अर्थ है सम्बन्ध, अर्थात् सन्निकर्ष । अव्यभिचारि पदके आगे आया हुआ 'च' शब्द अन्य विशेषणोंका समुच्चय करता है । 'अव्यभिचारिकम्' इस पाठमें अव्यभिचारीको ही अव्यभिचारिक (स्वार्थमें क प्रत्यय करनेपर) कहते हैं । व्यपदेश—शब्दकल्पना । इस व्याख्यामें भी 'यतः' शब्दका अध्याहार कर लेना चाहिए । शेष भावार्थ पूर्वोक्त प्रकारसे ही समझ लेना चाहिए ।

§ ३०. 'प्रत्यक्ष' शब्दका प्रयोग प्रमाण तथा फल दोनोंमें ही होता है । अतः प्रत्यक्ष प्रमाण तथा उसके प्रत्यक्ष फलमें अभेद विवक्षा करके प्रत्यक्षके भेद कहते हैं । प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१ अयोगिप्रत्यक्ष तथा २ योगिप्रत्यक्ष । हमलोगोंको जो इन्द्रियार्थसन्निकर्षसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह अयोगिप्रत्यक्ष है । यह निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूपसे दो प्रकारका है । वस्तुके स्वरूपमात्र का अवभास करानेवाला ज्ञान निर्विकल्पक है । यह इन्द्रियसन्निकर्ष होते ही सबसे पहले उत्पन्न होता है । वाचक-संज्ञा तथा वाच्य-संज्ञाके सम्बन्धका उल्लेख करके होनेवाले शब्द संसृष्ट ज्ञानके निमित्तको सविकल्पक कहते हैं, जैसे यह देवदत्त है, यह दण्डी है इत्यादि ।

१. –धनत्व–भ० २ । २. इति । अत्र भ० २ । ३. क प्र–भ० २ । ४. –क्षरस–भ० २ । ५. संज्ञानं संज्ञि–भ० २ ।

§ ३१. "योगिप्रत्यक्षं[1] तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। तद्द्विविधं युक्तानां प्रत्यक्षं वियुक्तानां च।[2] तत्र समाध्यैकाग्र्यवतां योगजधर्मेश्वरादिसहकृतादात्मान्तःकरणसंयोगादेव बाह्यार्थसंयोगनिरपेक्षं[3] यदशेषार्थग्रहणं तद्युक्तानां प्रत्यक्षम्। एतच्च निर्विकल्पकमेव भवति, विकल्पतः समाध्यैकाग्र्यानुपपत्तेः। इदं चोत्कृष्टयोगिन एव विज्ञेयं योगिमात्रस्य तदसंभवात्। असमाध्यवस्थायां योगिनामात्ममनोबाह्येन्द्रियरूपाद्याश्रयचतुष्कसंयोगाद्रूपादीनाम् आत्ममनःश्रोत्रत्रयसंयोगाच्छब्दस्य, आत्ममनोद्वयसंयोगात्सुखादीनां च यद्ग्रहणं तद्वियुक्तानां प्रत्यक्षम्। तच्च निर्विकल्पकं सविकल्पकं च प्रतिपत्तव्यम्।" विस्तरार्थिना तु न्यायसारटीका विलोकनीयेति।

§ ३२. अथानुमानलक्षणमाह 'अनुमानं तु तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत्पूर्ववच्छेषवच्चैव' इत्यादि। अत्र चैवशब्दौ पूर्ववदादीनामर्थबाहुल्यसूचकौ। तथाशब्दश्चकारार्थः समुच्चये। शेषं तु सूत्रव्याख्यायैव[4] व्याख्यास्यते। सूत्रं त्विदम्—"तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं, पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च" [; इति। यूके व्याख्यानि:[5] —अत्रैकस्य पूर्वकशब्दस्य सामान्यश्रुत्या लुप्तनिर्देशो द्रष्टव्यः।[6]

---

§ ३१. योगिप्रत्यक्ष दूरदेशवर्ती अतीतानागतकालवर्ती तथा सूक्ष्मस्वभाववाले यावत् अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानता है। योगिप्रत्यक्ष स्वामीके भेदसे दो प्रकारका है। १ युक्त-योगिप्रत्यक्ष, २ वियुक्त-योगिप्रत्यक्ष। समाधिसे जिनका चित्त परम एकाग्रताको प्राप्त हुआ है उन युक्त योगियोंको, योगजधर्म तथा ईश्वरादि जिसमें सहकारी हैं ऐसे आत्मा तथा अन्तःकरणके संयोगमात्रसे जो सम्पूर्णपदार्थोंका यथावत् परिज्ञान होता है वह युक्त-योगिप्रत्यक्ष है। इसमें बाह्य अर्थोंके सन्निकर्षकी आवश्यकता नहीं है। यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होता है, क्योंकि समाधिकी एकाग्रतामें विकल्पको सम्भावना ही नहीं है, विकल्प होते ही समाधिकी एकाग्रता टूट जाती है।। यह प्रत्यक्ष उत्कृष्ट योगियोंको ही होता है, सभी योगियोंको इसके होनेका नियम नहीं है। समाधिसे रहित अवस्थामें वियुक्त समाधिशून्य योगियोंको, आत्मा, मन, बाह्य इन्द्रियाँ तथा रूपादि पदार्थ इन चारके सन्निकर्षसे रूपादिका, आत्मा मन और श्रोत्र इन तीनके सन्निकर्षसे शब्दका तथा आत्मा और मन दो के संयोगसे सुखादिका जो ज्ञान होता है वह वियुक्त-योगिप्रत्यक्ष कहलाता है। यह निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों प्रकारका होता है। इनका विशेष विवरण न्यायसारटीकामें देखना चाहिए।

§ ३२. 'अनुमानं तु तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत्। पूर्ववच्छेषवच्चैव' इत्यादि श्लोकांशमें अनुमानका स्वरूप कहा गया है। श्लोकमें आये हुए 'च' और 'एव' शब्द पूर्ववत् आदि पदोंकी अनेक व्याख्याओंकी सूचना देते हैं। 'तथा' शब्द चकारके स्थानमें प्रयुक्त हुआ है। यह समुच्चयार्थक है। श्लोककी शेष व्याख्या 'पूर्ववत्' आदि न्यायसूत्रकी निम्नलिखित व्याख्यासे ही गतार्थ हो जाती है। "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च" यह न्यायदर्शनका अनुमानसूत्र है। कोई व्याख्याकार 'तत्पूर्वक'में एक पूर्वकशब्दका लुप्तनिर्देश मानते हैं। उनका तात्पर्य है कि 'तत्पूर्वक'में दो पूर्वकशब्द थे उनमें-से समानश्रुति होनेके कारण व्याकरणके नियमके अनुसार एक पूर्वकशब्दका लोप हो गया है और एक पूर्वक शब्द शेष बचा है। अतः अर्थ करते समय 'तत्पूर्वक

---

१. "योगिप्रत्यक्षं तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। तद्द्विविधम्। युक्तावस्थायामयुक्तावस्थायां चेति। तत्र युक्तावस्थायामात्मान्तःकरणसंयोगादेव धर्मादिसहितादशेषार्थग्राहकम्। वियुक्तावस्थायां चतुष्टयसन्निकर्षाद्ग्रहणम्। यथासंभवनं योजनीयम्। अत्रैवार्थेऽप्यन्तर्भूतं प्रकृष्टधर्मजत्वविशेषादिति। तच्च द्विविधं सविकल्पकं निर्विकल्पकं चेति। तत्र संज्ञादिसंबन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकम्। यथा देवदत्तोऽयं दण्डीत्यादि। वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकं यथा प्रथमाक्षसंनिपातजं ज्ञानम्। युक्तावस्थायां योगिज्ञानं चेति।" –न्यायसा० १ पृ० ३। २. योगधर्म–आ०, क०, प० २। ३. यदि शेषार्थसंयोगनिरपेक्षं यदशे–भ० २। ४. –एवकारोऽर्थस–म० २। ५. सूत्रं व्याख्यास्य–क०। ६. –ख्यातं भावि सूत्रं म० २।

तत्पूर्वकमित्यत्र तच्छब्देन प्रत्यक्षं प्रमाणमभिसंबध्यते । तत्पूर्वकं प्रत्यक्षफलं लिङ्गज्ञानमित्यर्थः । तत्पूर्वकपूर्वकं लिङ्गिज्ञानम् । अयमत्र भावः—प्रत्यक्षाद्धूमाविज्ञानमुत्पद्यते, धूमादिज्ञानाच्च वह्न्यादिविज्ञानमिति । इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वव्यभिचारित्वादीनि च ज्ञानादिविशेषणानि प्रत्यक्षसूत्रादत्रापि संबन्धनीयानि । एषां च व्यवच्छेद्यानि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं परिभाव्यानि ।

§ ३३. तथा द्वितीयलिङ्गदर्शनपूर्विकाया [1]अविनाभावसंबन्धस्मृतेस्तत्पूर्वकपूर्वकत्वात्तज्ज[2]नकस्यानुमानत्वनिबन्धनस्यार्थस्यार्थोपलब्धिग्रहणं कार्यं, स्मृतेस्तस्यार्थं विनापि भावात् । ततोऽयमर्थः । [अर्थोपलब्धिरूपमव्यभिचारितमव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं ज्ञानं तत्पूर्वकपूर्वकं यतो लिङ्गादेः समुपजायते तदनुमानमिति ।] तथा ते द्वे प्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिसंबन्धदर्शनं [3]लिङ्गदर्शनं च पूर्वं यस्य तत्तत्पूर्वकमिति विग्रहविशेषाश्रयणादनुमानस्याध्यक्षफलद्वयपूर्वकत्वं ज्ञापितं द्रष्टव्यम् । तथा

पूर्वक' यही दृष्टिमें रखना चाहिए । 'तत्पूर्वक'में 'तत्' शब्दसे प्रत्यक्ष प्रमाण अभिप्रेत है अतएव तत्पूर्वक शब्दसे प्रत्यक्षफलज्ञान अर्थात् लिंगज्ञानका बोध होता है । अतः तत्पूर्वक अर्थात् लिंगज्ञान जिसका पूर्व अर्थात् कारण है ऐसे लिंगज्ञानको तत्पूर्वक अर्थात् अनुमिति कहते हैं । तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षसे धूमादि लिंगका ज्ञान होता है और धूमादिलिंगज्ञानसे अग्नि आदि लिंगी अर्थात् साध्यका ज्ञान होता है । इस अनुमानके लक्षणमें 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' विशेषणके सिवाय प्रत्यक्षके लक्षणमें प्रयुक्त अन्य सभी विशेषणोंकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए । और उन विशेषणोंसे विपर्यय आदि ज्ञानोंकी व्यावृत्ति भी यहाँ कर लेनी चाहिए ।

§ ३३. द्वितीयलिंगदर्शन अर्थात् लिंगके दूसरे बार होनेवाले प्रत्यक्षसे अविनाभाव सम्बन्धकी स्मृति भी होती है, अतः यह स्मृति भी तत्पूर्वक कही जा सकती है अतः इस स्मृतिको उत्पन्न करनेवाले द्वितीयलिंगदर्शनमें भी अनुमानप्रमाणताका प्रसंग होता है अतः इसके वारणके लिए अनुमानके लक्षणमें 'अर्थोपलब्धि'का अध्याहार कर लेना चाहिए । स्मृति तो अर्थके बिना भी हो जाती है अतः वह अर्थोपलब्धिरूप नहीं है अतः इसको उत्पन्न करनेवाला द्वितीयलिंगदर्शन अनुमानप्रमाण नहीं कहा जा सकता । इसका सार यह है कि अव्यभिचारी अव्यपदेश्य व्यवसायात्मक तत्पूर्वकपूर्वक ज्ञानरूप अर्थात् (प्रत्यक्ष प्रमाणसे होनेवाले लिंगदर्शनसे उत्पन्न लिंगिज्ञानरूप अर्थोपलब्धि जिस लिंग आदिसे उत्पन्न होती है उसे अनुमान कहते हैं । इस तरह दो प्रत्यक्ष अर्थात् लिंगलिंगिसम्बन्धदर्शन और लिंगदर्शन जिसके कारण हैं वह तत्पूर्वक ज्ञान अर्थात् अनुमान

१. –भाविस–भ० २ । २. लिङ्गिदर्शनं आ० । ३. अथेदानी सूत्रमनुसरामः, तत्पूर्वकमित्यादि, अनुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः तत्पूर्वकमिति लक्षणम्, तदिति सर्वनाम्ना प्रक्रान्तं प्रत्यक्षमवभृश्यते सत् पूर्वं कारणं यस्य तत्तत्पूर्वकम्, एतावदुच्यमाने निर्णयोपमानादौ तत्पूर्वके प्रसङ्गो न व्यावर्तते इति तद्व्यावृत्तये द्विवचनान्तेन विग्रहः प्रदर्शयितव्यः, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्येति यदेकमविनाभावग्राहि प्रत्यक्षं व्याख्यातं यच्च द्वितीयं लिङ्गदर्शनं ते द्वे प्रत्यक्षे अनुमानस्यैव कारणं नोपमानादेः, तत्र प्रतिबन्धग्राहि प्रत्यक्षं स्मरणद्वारेण तत्कारणं लिङ्गदर्शनं तु स्वत एव ।"—न्यायम० प्रमा० पृ० ५१२ । "तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसंबध्यते, लिङ्गलिङ्गिनोः संबद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गिस्मृतिरभिसंबध्यते । स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते ।"—न्यायमा० १।१।५ । "तानि ते सत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम् । यदा तानीति विग्रहः तदा समस्तप्रमाणाभिसंबन्धात् सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य गणितं भवति । पारम्पर्येण पुनस्तत् प्रत्यक्ष एव व्यवतिष्ठते इति तत्पूर्वकत्वमुक्तं भवति । यद्यपि विवेकात् ते पूर्वं यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति । ते च द्वे प्रत्यक्षे । लिङ्गलिङ्गिसंबन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षं, लिङ्गदर्शनं द्वितीयम् । बुभुत्सायतो द्वितीयालिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्युत्तरकालं स्मृतिः स्मृत्यनन्तरं च पुनर्लिङ्गदर्शनमयं धूम इति । तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं परामर्शरूपमनुमानं भवति ।"—न्यायवा० पृ० ४३ ।

तानि प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणानि पूर्वं यस्य ततत्पूर्वकमिति विग्रहविशेषाश्रयणेन सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमप्यनुमानस्य लभ्यते। न च तेषां पूर्वशब्दश्रुतावप्रस्तावेन प्रकारश्रं इति प्रेयम्। यतः साक्षादप्रकृतत्वेऽपि प्रत्यक्षसूत्रे व्यवच्छेद्यत्वेन प्रकृतत्वादिति। अस्यां व्याख्यायां[1] नाव्याप्त्यादिदोषः कश्चनापि।

§ ३४. ये तु पूर्वशब्दस्यैकस्य लुप्तस्य निर्देशं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां प्रत्यक्षफलेऽनुमानत्वप्रसक्तिः, तत्फलस्य प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वकत्वात्। अयाकारकस्याप्रमाणत्वात्[2] कारकत्वं लभ्यते, ततोऽयमर्थः—अव्यभिचारिताव्यपदेश्यव्यवसायात्मकार्थोपलब्धिजनकं[3] सेवाध्यक्षफलं लिङ्गज्ञानमनुमानमिति चेत्; उच्यते—एवमपि विशिष्टज्ञानमेवानुमानं प्रसज्यते। न च ज्ञानस्यैवानुमानत्वम्, "स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि" [न्यायभा० १।१।१६] इति वचनात् सर्वस्य बोधाबोधरूपस्य विशिष्टफलजनकस्यानुमानत्वादित्य-

---

है। ऐसा द्विवचनान्त तत् शब्दसे विशेष विग्रह करनेसे सूचित होता है कि अनुमान प्रत्यक्षप्रमाणके फलरूप दो प्रत्यक्षज्ञानोंसे उत्पन्न होता है। इसी तरह वे प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण जिसके पूर्वमें हैं उस तत्पूर्वकज्ञानको अनुमान कहते हैं। ऐसे बहुवचनान्त तत् शब्दसे विग्रह करनेसे यह ज्ञात हो जाता है कि—अनुमानमें प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण कारण होते हैं।

शंका—प्रत्यक्षसे अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंका तो पहले प्रकरण नहीं आया है इसलिए बहुवचनान्त तत् शब्दके विग्रहमें उनका ग्रहण कैसे किया जा सकता है?

समाधान—यद्यपि अन्य प्रमाणोंका साक्षात् प्रकरण नहीं है फिर भी प्रत्यक्षके लक्षण सूत्रमें उन अन्य प्रमाणोंकी व्यावृत्ति तो की ही गयी है। अतः व्यवच्छेद्य रूपमें उनका प्रकरण था ही। अतः तत् शब्दसे उनका ग्रहण किया जा सकता है।

इस तरह पूर्व शब्दका लुप्त निर्देश मानकर की जानेवाली अनुमान की यह व्याख्या अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि सभी दोषोंसे रहित है। उसमें कोई दोष नहीं है।

§ ३४. जो व्याख्याकार एक पूर्वशब्दके लोपका निर्देश नहीं मानते, उनके मतमें प्रत्यक्षके फलमें भी अनुमानत्वका प्रसंग होता है; क्योंकि प्रत्यक्षका फल भी प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्वक तो होता ही है, अतः तत्पूर्वक होनेसे वह भी अनुमान रूप हो जायगा।

शंका—प्रमाके प्रति साधकतम कारकको प्रमाण कहते हैं, इसलिए अकारक प्रमाण नहीं बन सकता। अतएव प्रत्यक्ष फलमें, जो कि अकारक है, अनुमानत्वका प्रसंग नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि जो प्रत्यक्षप्रमाणका फलभूत लिंगज्ञान अव्यभिचरित अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मकरूप अर्थोपलब्धिको उत्पन्न करता है वही अनुमान प्रमाण रूप हो सकता है, अन्य नहीं।

समाधान—आपकी इस व्याख्याके अनुसार तो विशिष्ट ज्ञान ही अनुमानरूप हो सकता है। पर मात्र ज्ञान ही तो अनुमानरूप नहीं होता, शास्त्रमें तो अज्ञानात्मक पदार्थोंको भी लिंगिज्ञानमें साधकतम होनेसे अनुमानरूप कहा है। न्यायसूत्रमें ही कहा है कि—"स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्नज्ञान, ऊह, सुखादिका प्रत्यक्ष, तथा इच्छा आदि मनके लिंग हैं।" इसमें स्मृति आदि ज्ञानोंकी तरह इच्छा आदि अज्ञानात्मक पदार्थोंको भी लिंग-अनुमान माना ही है। सूत्रकारका तो यह अभिप्राय है कि—लिंगिज्ञानरूप विशिष्टफलको उत्पन्न

---

१. -व्याख्यादि -म० २। २. -त्वात् साधकतमस्य का०-प्र०। -माणत्वात् असाधकतमस्य का-प० १, २। म० १ प्रतौ तु 'अकारकस्य' इति पदस्य टिप्पणीस्थले 'असाधकतमस्य' इति लिखितम्, तेन ज्ञायते यत् 'साधकतमस्य, असाधकतमस्य' वेति पदं टिप्पणीगतमेव मूले प्रक्षिप्तम्। ३. -जनकमध्यक्ष-म० २।

[1]व्याप्तिलक्षणदोषः । अतोऽर्थोपलब्धिरव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टा तत्पूर्वकपूर्विका यतस्तदनुमानमित्येव [2]व्याख्यानं युक्तिमत् ।

§ ३५. नन्वत्रापि त्रिविधग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; अनुमानविभागार्थत्वात् । पूर्ववदादिग्रहणं च स्वभावादिविषयप्रतिषेधेन पूर्ववदादिविषयज्ञापनार्थम् । पूर्ववदाख्येव त्रिविधविभागेन विवक्षितं न स्वभावादिकमिति प्रथमं व्याख्यानम् ।

§ ३६. अपरे त्वेवं सूत्रं व्याचक्षते[3]—तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमिति त्रिभेदमनुमानम् । के पुनर्भेदा इत्याह—पूर्ववदित्यादि । पूर्वशब्देनान्वयो व्यपदिश्यते, व्यतिरेकात्प्रागवसीयमानत्वात् पूर्वोऽन्वयः, स एवास्ति यस्य तत्पूर्ववत्केवलान्वय्यनुमानम् ॥१॥ शेषो व्यतिरेकः, स एवास्ति यस्य तच्छेषवत् केवलव्यतिरेकि च ॥२॥ सामान्येनान्वयव्यतिरेकयोः साधनाङ्गयोर्यदृष्टं तत्सामान्यतोदृष्टमन्वयव्यतिरेकि चेति ॥३॥

करनेवाले पदार्थको अनुमान कहना चाहिए, चाहे वह पदार्थ ज्ञानरूप हो अथवा अज्ञानरूप । इस तरह उक्त व्याख्यामें अव्याप्ति दोष आता है । अतः अव्यभिचरित आदि विशेषणोंसे विशिष्ट तत्पूर्वकपूर्विका अर्थोपलब्धि जिससे भी उत्पन्न हो वह अनुमान है । यह ज्ञानरूप भी हो सकता है तथा अज्ञानरूप भी ।' यही व्याख्या युक्तिसंगत है ।

§ ३५. शंका—जब सूत्रमें 'पूर्ववत्' आदि तीन नाम गिना ही दिये हैं तब फिर त्रिविधपदका प्रयोग किसलिए है ? वह तो निरर्थक ही मालूम होता है ?

समाधान—त्रिविध पद अनुमानके भेदोंका सूचक होनेसे सार्थक है । 'पूर्ववत्' आदिका ग्रहण तो इसलिए है कि—वे तीन प्रकार 'पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट' रूपसे ही हो सकते हैं, स्वभाव, कार्य आदि रूप से नहीं । यह प्रथम व्याख्यान हुआ ।

§ ३६. कोई इस प्रकार व्याख्यान करते हैं कि—प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकारका अनुमान होता है । वे भेद इस प्रकार हैं । पूर्ववत्-पूर्व-अन्वय । व्यतिरेकके पहले अन्वयका ही ज्ञान होता है अतः पूर्व शब्दसे अन्वयका ग्रहण होता है । जिस अनुमानमें केवल अन्वयव्याप्ति मिलती है उसे पूर्ववत् अर्थात् केवलान्वयी अनुमान कहते हैं । शेष-व्यतिरेक, जिस अनुमानकी केवल व्यतिरेक व्याप्ति मिलती है वह शेषवत् अर्थात् केवलव्यतिरेकी अनुमान है । सामान्यरूपसे अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही व्याप्तियाँ जिसमें मिलती हों वह सामान्यतोदृष्ट अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान है ।

१. -व्याप्तिलक्ष—आ० । २. " उभयथाऽपि न दोषः कारणावगमे तावदिन्द्रियादिकरणपूर्वकं तत्फलं लिङ्गदर्शनं यत् तदेव परोक्षार्थप्रतिपत्तौ करणमनुमानमिति न द्विःपूर्वकशब्दस्य पाठ उपयुज्यते, फलेऽप्यवमृश्यमाने प्रत्यक्षफललिङ्गदर्शनपूर्वकं यदविनाभावस्मरणं तदनुमानं करणमेव ततः परोक्षार्थप्रतिपत्तेः, यदुक्तं प्रसुप्तकारणजन्या स्मृतिरनुमानमिति स्पष्टमेव सामानाधिकरण्यम्, फले वा अनुमानशब्दं वर्णयिष्यामः अनुमितिरनुमानमिति, यतः शब्दं वा अभ्याहरिष्यामः प्रत्यक्षफलपूर्वकं परोक्षार्थप्रतिपत्तिरूपं फलं यतो भवति तदनुमानमिति, अत्र हि प्रथमं लिङ्गदर्शनं ततः प्रतिबन्धस्मरणं ततः केषांचिन्मते परामर्शज्ञानं ततः साध्यार्थप्रतीतिस्ततः लक्षणावसरवर्णितेन क्रमेण हेयादिज्ञानमितीयति प्रतीतिकलापे यथोपपत्तिकार्यकारणभावो वक्तव्य इत्येवं तत्पूर्वकादेव केवलमनुमानलक्षणमिति गुरवो वर्णयाञ्चक्रुः।"—न्यायम० प्रमा० पृ० ११५ । ३. "त्रिविधमिति । अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति । तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषत्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वाद् घटवदिति । अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनो यथा सर्वानित्यत्ववादिनामनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति । अस्य हि विपक्षो नास्ति । व्यतिरेकी विवक्षिततव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः । यथा नेदं जीवच्छरीरं विरात्मकं अप्रमाणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति ।"—न्यायवा० पृ ४६ ।

§ ३७. अथवा[1] त्रिविधमिति त्रिरूपम्। कानि त्रीणि रूपाणीत्याह पूर्ववदित्यादि। [2]पूर्वमुपादीयमानत्वात्पूर्वः पक्षः सोऽस्यास्तीति पूर्ववत्पक्षधर्मत्वम्। शेष उपयुक्तादन्यत्वात्सधर्म्यदृष्टान्तः सोऽस्त्यत्रेति शेषवत्सपक्षे सत्त्वम्। सामान्यतोदृष्टमिति [3]विपक्षे मनागपि यन्न दृष्टं विपक्षे सर्वत्रासत्त्वं तृतीयं रूपम्। चशब्दात्प्रत्यक्षागमाविरुद्धत्वासत्प्रतिपक्षत्वरूपद्वयं च। एवं च पञ्चरूपलिङ्गालम्बनं यत्तत्पूर्वकं तदन्वयव्यतिरेक्यनुमानम्। विपक्षासत्त्वसपक्षसत्त्वयोरन्यतररूपस्यानभिसंबन्धात्तु चतूरूपलिङ्गालम्बनं केवलान्वयि केवलव्यतिरेकि चानुमानम्। तत्र 'अनित्यः शब्दः, कार्यत्वात्, घटादिवदाकाशादिवच्च' इत्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः ॥१॥ 'अदृष्टादीनि कस्यचित्प्रत्यक्षाणि, प्रमेयत्वात्, करतलादिवत्' इत्यत्र कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे साध्येऽप्रत्यक्षस्य कस्यापि वस्तुनो विपक्षस्याभावादेव केवलान्वयी ॥२॥ सर्ववित्कर्तृपूर्वकं सर्वं कार्यम्, कादाचित्कत्वात्, यत्तत्सर्ववित्कर्तृपूर्वकं न भवति तन्न कादाचित्कं यथाकाशादि। अत्र सर्वस्य कार्यस्य पक्षीकृतत्वादेव सपक्षा-

---

§ ३७. अथवा, त्रिविध—त्रिरूप। हेतुके तीन रूप होते हैं। पूर्ववत्—सर्वप्रथम पक्षका प्रयोग किया जाता है अतः पक्षको पूर्वशब्दसे कहते हैं। पक्षमें रहनेवाले हेतुको पूर्ववत् अर्थात् पक्षधर्मवाला कहते हैं। शेष-पक्षसे भिन्न सदृश धर्मी सपक्ष, अर्थात् अन्वयदृष्टान्त है। जिस हेतुका शेष-अन्वयदृष्टान्त मिलता हो तद् शेषवत् अर्थात् सपक्षसत्त्ववाला है। 'सामान्यतोदृष्ट' में अकारका प्रश्लेष करके 'सामान्यतोऽदृष्ट' हो जाता है। जो हेतु किसी भी विपक्षमें किसी भी तरह नहीं रहता वह सामान्यतोऽदृष्टविपक्षासत्त्व रूपवाला है। 'च' शब्दसे अबाधितविषयत्व अर्थात् प्रत्यक्ष और आगमसे हेतुका बाधित न होना, तथा असत्प्रतिपक्षत्व अर्थात् साध्यके अभावको सिद्ध करनेवाले विपरीत अनुमानका न होना, इन दो रूपोंका भी ग्रहण हो जाता है। इस तरह पाँच रूपवाले लिंगसे प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला अन्वयव्यतिरेकी अनुमान होता है। केवलान्वयी हेतुमें विपक्षका अभाव होनेसे विपक्षासत्त्व रूप नहीं पाया जाता तथा केवलव्यतिरेकीमें सपक्षका अभाव होनेसे सपक्षसत्त्वरूप नहीं मिलता, इसलिए ये दोनों अनुमान-हेतु चार-चार रूपवाले होते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कार्य है, जो जो कार्य होते हैं वे वे अनित्य होते हैं जैसे कि घट, जो अनित्य नहीं हैं वे कार्य भी नहीं हैं जैसे कि आकाश। यह अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान है। अदृष्ट-पुण्यपाप आदि किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे प्रमेय हैं, जो प्रमेय होते हैं वे किसीके प्रत्यक्ष होते हैं जैसे हाथकी हथेली। इस अनुमानमें अदृष्ट आदि सभी पदार्थोंको किसी सर्वज्ञ व्यक्तिके प्रत्यक्षज्ञानका विषय सिद्ध करना प्रस्तुत है। संसारमें सर्वज्ञके अप्रत्यक्ष तो कोई वस्तु है ही नहीं जिसे विपक्ष कह सके, इस तरह विपक्षका अभाव होनेसे इस हेतुमें विपक्षासत्त्व रूप नहीं पाया जाता, इसीलिए यह हेतु केवलान्वयी है। समस्तकार्य सर्वज्ञके द्वारा उत्पन्न किये गये हैं क्योंकि वे

---

१. अथवा त्रिविधमिति। पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति। पूर्वं साध्यं तद् व्याप्त्या यस्यास्तीति तत् पूर्ववत्। साध्यतज्जातीयः शेषः तद्यस्यास्तीति तत् शेषवत्। पूर्ववन्नाम साध्यव्यापकंगे यदिति समानेऽस्ति। सामान्यतश्चादृष्टम्। चशब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पञ्चलक्षणमनुमानमिति।"—न्यायवा० पृ० ४६। २. "अथाहुः बादादिकथान्तरेऽपि पूर्वमुपादीयमानत्वात्पक्षः पूर्वशब्देनोच्यते सोऽस्यास्त्याश्रयत्वेनेति पूर्ववल्लिङ्गमित्येवमनेन पदेन पक्षधर्मत्वमुक्तं भवति, पक्षे उपयुक्ते सति शेषः सपक्षो भवति सोऽस्यास्त्याश्रयत्वेनेति शेषवत्, एवमनेन सपक्षे वृत्तिरुक्ता भवति, सामान्यतोदृष्टमित्यनेन विपक्षाद्व्यावृत्तं लिङ्गमुच्यते, कथम्, अकारप्रश्लेषात् सामान्यतोऽदृष्टमिति तिष्ठतु तावद्विशेषः सामान्यतोऽपि न दृष्टम्, क्वेति पक्षसपक्षयोर्वृत्तेरुक्तत्वात्यरिशेषाद्विपक्षे सामान्यतोऽपि न दृष्टमित्यवतिष्ठते इत्थं त्रिरूपं लिङ्गमेभिः शब्दैरुक्तं भवति, तदालम्बनं ज्ञानमनुमानम्।"—न्यायम० प्रभा, पृ० ११५। ३. 'विपक्षे मनागपि यत्र दृष्टम्' इति नास्ति—आ०।

भावात्केवलव्यतिरेकी । प्रसङ्गद्वारेण वा केवलव्यतिरेकी । यथा नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्-प्राणादिमत्त्वप्रसङ्गाल्लोष्टवदिति प्रसङ्गः । प्रयोगस्त्वित्थम्– इदं जीवच्छरीरं सात्मकम्, प्राणादिमत्त्वात्, यन्नात्मकं तन्न प्राणादिमद्यथा लोष्टमिति प्रसङ्गपूर्वकः केवलव्यतिरेकीति ॥३॥

§ ३८. एवमनुमानस्य भेदान् स्वरूपं च व्याख्याय विषयस्य त्रैविध्यप्रतिपादनायेदमाहुः– अथवा तत्पूर्वकमनुमानं त्रिविधं त्रिप्रकारम् । के पुनस्त्रयः प्रकारा इत्याह पूर्ववदित्यादि[1], पूर्वं कारणं विद्यते यत्रानुमाने तत्पूर्ववत्, यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा विशिष्टमेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति । अत्र कारणशब्देन कारणधर्म उन्नतत्वादिर्ग्राह्यः । प्रयोगस्त्वेवम्, अमी मेघा वृष्ट्युत्पादकाः, गम्भीरगर्जितत्वेऽचि(त्वे चि)रप्रभावत्वे च [2]सत्यत्युन्नतत्वात्, य एवं ते वृष्ट्युत्पादका यथा वृष्ट्युत्पादकपूर्वमेघाः, तथा चामी, तस्मात्तथा ।

§ ३९. ननून्नतत्वादिधर्मयुक्तानामपि मेघानां वृष्ट्यजनकत्वदर्शनात् कथमैकान्तिकं कारणात्कार्यानुमानमिति चेत् । न, विशिष्टस्योन्नतत्वादेर्धर्मस्य गमकत्वेन विवक्षितत्वात् । न च तस्य

कादाचित्क—कभी-कभी नियत समयमें होने हैं, अनित्य हैं, जो सर्वज्ञकर्तृके द्वारा उत्पन्न नहीं किया गया वह कादाचित्क—अनित्य भी नहीं है जैसे कि आकाश आदि । यहाँ समस्त कार्योंको पक्ष किया है, इसलिए संसारमें सपक्षसे बहिर्भूत कोई कार्य ही नहीं बचा जिसे सपक्ष मानकर सपक्षसत्त्व रूपकी सिद्धि की जा सके । अतः यह हेतु केवलव्यतिरेक व्याप्ति मिलनेके कारण केवलव्यतिरेकी है । अनिष्टका प्रसंग देकर भी केवलव्यतिरेकी हेतुका प्रयोग किया जाता है । जैसे—यह जीवित शरीर आत्मशून्य नहीं है अन्यथा इसमें पत्थर आदिकी तरह प्राणादिके अभावका प्रसंग होगा । इसके प्रयोगका प्रकार यह है—यह जीवित शरीर सात्मक–आत्मासे युक्त है, क्योंकि इसमें प्राण आदि पाये जाते हैं, जो सात्मक नहीं है वह प्राणादिवाला भी नहीं है जैसे कि पत्थर । यह प्रसंगपूर्वक केवलव्यतिरेकी हेतुका उदाहरण है ।

§ ३८. इस तरह अनुमान सूत्रकी भेद तथा स्वरूपकी दृष्टिसे व्याख्या करके अब विषयदृष्टिसे उसके तीन विषयोंका निर्देश करनेके लिए तीसरी व्याख्या करते हैं । अथवा, तत्पूर्वक अनुमान तीन प्रकारका है । पूर्ववत् आदि तीन प्रकार हैं । पूर्ववत्—जिस अनुमानमें पूर्व–कारण मौजूद हो वह पूर्ववत् है अर्थात् जहाँ कारणसे कार्यका अनुमान किया जाता है वह पूर्ववत् अनुमान है । जैसे विशिष्ट—काले और घने मेघोंका उदय हो अर्थात् विशिष्ट मेघोदय देखकर भविष्यत् कालमें पानी बरसनेका अनुमान । यहाँ कारण शब्दसे कारणके उन्नतत्व आदि धर्मोंका ग्रहण करना चाहिए । इसका प्रयोग इस प्रकार है—ये मेघ वृष्टि अवश्य करेंगे, क्योंकि ये खूब घड़घड़ाकर गम्भीर गर्जना कर रहे हैं, बहुत काल तक स्थिर रहनेवाले हैं, जल्दी ही हवामें उड़नेवाले नहीं हैं । तथा उन्नत–खूब सघन हैं, काले हैं । जो मेघ उक्त विशिष्टता रखते हैं वे अवश्य ही बरसते हैं जैसे कि पहले देखे गये बरसनेवाले मेघ, ये मेघ भी तो उसी प्रकारके हैं, इसलिए ये भी अवश्य ही बरसेंगे ।

§ ३९. **शंका**—आपके द्वारा कहे गये उन्नतत्व आदि धर्मवाले भी बहुत-से मेघ केवल गरजकर ही रह जाते हैं, बरसते तो नहीं हैं, इसलिए कारणसे कार्यका अनुमान ऐकान्तिक-सत्य कैसे कहा जा सकता है ? व्यभिचारी भी हो सकता है ।

समाधान—यहाँ बरसनेवाले मेघोंमें रहनेवाले उन्नतत्व आदि विशिष्ट धर्मोंकी विवक्षा है ।

---

१. "पूर्ववच्चाग्र यत्र कारणेन कार्यमुपनीयत इति भाष्यम् ।.....। कथं पुनरस्य प्रयोगः । वृष्टिमन्त एते मेघाः गम्भीरध्वानवत्त्वे सति बहुलबलाकावत्त्वे सति अचिरप्रभावत्त्वे सति उन्नतिमत्त्वात् वृष्टिमन्मेघवदिति ।"—न्यायवा० पृ० ४६, ४७ । २. – तत्त्वे चिरप्रभा– भ० २ । ३. सत्युन्नत – क० ।

विशेषो नासर्वज्ञेन निश्चेतुं पार्यत इति वक्तुं शक्यम्; सर्वानुमानोच्छेदप्रसक्तेः। तथाहि—मशकादिव्यावृत्तधूमादीनामपि स्वसाध्याव्यभिचारित्वमसर्ववित्त्वा न निश्चेतुं शक्यमिति वक्तुं शक्यत एव। अथ "सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" इति न्याया[1]दधूमादेर्गमकत्वम्, तत्तर्ह्यत्रापि समानम्। यो हि भविष्यद्वृष्टयव्यभिचारिणमुन्नतत्वादिविशेषमवगन्तुं समर्थः स एव [2]तस्मात्तामनुमिनोति, नागृहीतविशेषः। तदुक्तम्,—" [3]अनुमातुरयमपराधो नानुमानस्य"इति।

§ ४०. शेषः [4]कार्यं तदस्यास्ति तल्लेषवत्[5], यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, यथा नदीपूरदर्शनाद्वृष्टिः। अत्र कार्यशब्देन कार्यधर्मो लिङ्गमवगन्तव्यम्। प्रयोगस्त्वित्थम्,—उपरिवृष्टिमद्देशसंबन्धिनी नदी, शीघ्रतरस्रोतस्त्वे फलफेनसमूहकाष्ठादिवहनत्वे च सति पूर्णत्वात्, तदन्यनदीवत्।

दिखावटी हवामें काफूर होनेवाले मेघोंके उन्नतत्व धर्म तो व्यभिचारी होंगे ही। 'बरसनेवाले मेघोंके उन्नतत्व आदि विशिष्ट धर्मोंको हम लोग जान ही न सकते हों' यह बात तो नहीं है। यदि हम लोग इतना भी विवेक न कर सकें कि 'कौन-से मेघ बरसनेवाले हैं तथा कौन-से केवल गरजनेवाले' तब तो संसारके सभी अनुमानोंका उच्छेद हो जायगा। क्योंकि यह भी तो कहा जा सकता है कि—'आले मच्छर आदिसे धूमका भेद जान भी लिया जाय, पर वह धूम सदा अपने साध्यका व्यभिचारी होगा यह जानना असर्वज्ञोंके सामर्थ्यकी बात नहीं है' लिहाजा धूमसे अग्निका अनुमान करना भी कठिन हो जायगा। "अच्छी तरह देखा एवं विचारा गया कार्य कारणका व्यभिचारी नहीं हो सकता" इस न्यायके अनुसार धूम हेतुको यदि सत्य माना जाता है तो यह न्याय कारण हेतुमें भी अच्छी तरह लगाया जा सकता है। कि जो व्यक्ति बरसनेवाले मेघोंके अव्यभिचारी उन्नतत्व आदि विशेष धर्मोंका विवेक अच्छी तरह कर सकता है वह अवश्य ही विशिष्ट मेघोदयसे भविष्यद् वृष्टिका अनुमान करेगा। अभी भी साधारण किसान बादलोंका रंग-ढंग देखकर पानी बरसनेका अव्यभिचारी अनुमान करते ही हैं। हाँ, जो मन्द बुद्धि केवल गरजनेवाले तथा बरसनेवाले मेघोंके धर्मोंमें विवेक नहीं कर सकता उसे कारणसे कार्यके अनुमान करनेकी अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए। इसी विषयको शास्त्रमें भी कहा है कि—"यह तो अनुमान करनेवालेकी बुद्धिका दोष है, इसमें अनुमानका कोई दोष नहीं है।"

§ ४०. शेष अर्थात् कार्य। कार्यसे कारणके अनुमानको शेषवत् अनुमान कहते हैं। जैसे नदीकी बाढ़ देखकर ऊपरी देशोंमें हुई वृष्टिका अनुमान करना। यहाँ कार्य शब्दसे कार्यके धर्मभूत हेतुका ग्रहण करना चाहिए। इसका प्रयोग इस प्रकार है—इस नदीके ऊपरी प्रदेश में वृष्टि हुई है, क्योंकि इसका प्रवाह बहुत तेज है, फल फेन तथा किनारेकी लकड़ी आदिको बहानेवाला तथा पूर्ण है, जैसे कि अन्य बाढ़वाली नदी।

---

१. तुलना—"यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत् स्तुतं प्रस्तुतम्।"—अष्ट० का०, अष्टसह० पृ० ७२। प्रमेयरत्नमा० ३।१०।। सर्वो० सा० पृ० ४९। सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति।"—न्यायकुमु० पृ० ६०५। २. तस्मात्तमनु—आ०, क०। सन्मति० टी० पृ० २६६। ३. "प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येति।"—अष्टश० अष्टस० पृ० ७२ न्यायकुमु० पृ० ७३। स्या० रत्ना० पृ० ६६९। "प्रमातुरपराधोऽयं विशेषं यो न पश्यति। नानुमानस्य दोषोऽस्ति प्रमेयाव्यभिचारिणः॥"—स्याद्वादम० प्रमा० पृ० ११८। ४. शेषं का—आ०, क०, ५. "शेषवत्—तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्णोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते—भूता वृष्टिरिति।"—न्यायम० १। १५। "उपरि वृष्टिमद्देशसंबन्धिनी नदी स्रोतःशीघ्रत्वे सति पूर्णफलकाष्ठादिवहनत्वे सति पूर्णत्वात् पूर्णवृष्टिमन्नदीवदिति। न्यायवा० पृ० ४७।

§ ४१. [1]सामान्यतोदृष्टं [2]नाम अकार्यकारणभूतेनाविनाभाविना लिङ्गेन यत्र लिङ्गिनोऽवगमः, यथा बलाकया सलिलस्येति । प्रयोगस्त्वयम्—बलाकाजहद्वृत्तिः प्रदेशो जलवान्बलाकावत्त्वात्, संप्रतिपन्नदेशवत् । यथा वान्यवृक्षोपरिदृष्टस्यादित्यस्यान्यपर्वतोपरिदर्शनेन गतेरवगमः । प्रयोगः पुनः—रवेरन्यत्र दर्शनं गत्यविनाभूतं, अन्यत्र दर्शनत्वात्, देवदत्तादेरन्यत्र दर्शनवत् । अत्र यथा देवदत्तादेरन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनं व्रज्यापूर्वं, तथादित्यस्यापीति, अन्यत्र दर्शनं च[4] न गतेः कार्यं संयोगादेर्गतिकार्यत्वात् ।

§ ४२. अन्ये त्वेवं वर्णयन्ति । [5]समानकालस्य स्पर्शस्य रूपादकार्यकारणभूतात्प्रतिपत्तिः सामान्यतोदृष्टानुमानप्रभवा । अत्र प्रयोगः, ईदृशस्पर्शमिदं वस्त्रमेवंविधरूपत्वात्, तदन्यतादृशवस्त्रवत् । एकं चूतं फलितं दृष्ट्वा पुष्पिता जगति चूता इति प्रतिपत्तिर्वा । प्रयोगस्तु, पुष्पिता जगति चूताश्चूतत्वात्, दृष्टचूतवदित्यादि ।

§ ४१. सामान्यतोदृष्ट—कार्य और कारणसे भिन्न ऐसे किसी भी अविनाभावी साधनसे साध्यका ज्ञान करना सामान्यतोदृष्ट है; जैसे बगुलाको देखकर जलका अनुमान करना । प्रयोग—जिसमें बगुला सदा रहते हैं ऐसा यह प्रदेश जलवाला है, क्योंकि यहाँ बगुला पाये जाते हैं, जैसे कोई बगुलावाला जलाशय । अथवा किसी वृक्षके ऊपर दिखाई देनेवाले सूर्यको कालान्तरमें पर्वत आदिपर देखकर उसकी गतिका अनुमान करना भी सामान्यतोदृष्ट है । प्रयोग—समीपवर्ती वृक्षपर दिखाई देनेवाले सूर्यका थोड़ी ही देरमें दूरवर्ती पर्वतपर दिखाई देना गतिका अविनाभावी है अर्थात् वह गतिके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वह एक जगह देखी गयी वस्तुका अन्यत्र दर्शन है, जैसे एक जगह देखे गये देवदत्तका अन्यत्र दिखाई देना । जैसे एक जगह देखे गये देवदत्तका दूसरे स्थानमें दिखाई देना गमनपूर्वक है उसी तरह सूर्यका भी । यह 'अन्यत्र दिखाई देना' हेतु गतिका कार्य नहीं है; क्योंकि गतिके कार्य तो संयोग आदि होते हैं ।

§ ४२. कोई व्याख्याकार कहते हैं कि रूप देखकर तत्समानकालवर्ती स्पर्शका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है । यहाँ रूप न तो स्पर्शका कार्य ही है और न कारण ही । प्रयोग—इस वस्त्रका अमुक स्पर्श होना चाहिए, क्योंकि इसमें अमुक रूप पाया जाता है, उस प्रकारके रूप-स्पर्श वाले अन्य वस्त्रकी तरह । अथवा—एक आमके वृक्षको फलोंसे लदा हुआ देखकर 'जगत्के सब आम्र वृक्षोंमें फूल-बौर आ गये हैं' यह अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है । प्रयोग—जगत्के सब आमोंके वृक्षोंमें बौर आ गये हैं क्योंकि वे आमके वृक्ष हैं जैसे कि सामने दिखाई देनेवाला बौरवाला आमका वृक्ष ।

---

१. "सामान्यतोदृष्टं नाम अकार्यकारणभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषेण विशेष्यमाणो धर्मी गम्यते तत् सामान्यतोदृष्टं यथा बलाकया सलिलानुमानम् । कथं पुनर्बलाकया सलिलानुमानम् ? यावानस्य देशो बलाकयाजहद्वृत्तित्वेन प्रसिद्धो भवति तावन्तमन्तर्भाव्य वृक्षादिकमर्थं पक्षीकृत्य बलाकावत्त्वेन साधयति ।" —न्यायवा० पृ० ५० । २. नाम कार्यं आ० । ३. "सामान्यतोदृष्टम्—व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र दर्शनमिति तथा चादित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाप्यादित्यस्य व्रज्येति ।··· सामान्यतोदृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः संबन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्याद् अप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते यथेच्छादिभिरात्मा । इच्छादयो गुणा गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः तद् यदेषां स्थानं स आत्मेति ।" न्यायम० १।१।५ । ४. च गतेः क०, भ० २ । ५. "सामान्यतोदृष्टं तु यदकार्यकारणभूतान्लिङ्गात्तादृशस्यैव लिङ्गिनोऽनुमानं यथा कपित्थादौ रूपेण रसानुमानम्, रूपरसयोः समवायिकारणमेकं कपित्थादि द्रव्यं न तु तयोरन्योन्यं कार्यकारणभावः ।" न्यायम० प्रमा० पृ० १९ ।

§ ४३. अथवा[1] पूर्वेण व्याप्तिग्राहकप्रत्यक्षेण तुल्यं वर्तत इति पूर्ववत् संबन्धग्राहकप्रत्यक्षेण विषयतुल्यत्वात्कर्त्रभिप्रेतपरिच्छेदक्रियाया अपि तुल्यतामनुमाने समस्तीति क्रियातुल्यत्वे[2] वतेः प्रयोगः सिद्धः, तेन पूर्वप्रतिपत्त्या तुल्या प्रतिपत्तिर्यतो भवति, तत्पूर्ववदनुमानम्। इच्छादयः परतन्त्रा गुणत्वात् रूपादिवदिति।

§ ४४. शेषवन्नाम परिशेषः,[3] स च प्रसक्तानां प्रतिषेधेऽन्यत्र प्रसङ्गासंभवाच्छिष्यमाणस्य संप्रत्ययः, यथा गुणत्वादिच्छादीनां परतन्त्रत्वे सिद्धे शरीरादिषु [illegible] प्रतिषेधे[4] : शरीरविशेषगुणा इच्छादयो न भवन्ति, तद्गुणानां रूपादीनां स्वपरात्मप्रत्यक्षत्वेनेच्छादीनां च स्वात्मप्रत्यक्षत्वेन वैधर्म्यात्। नापीन्द्रियाणां विषयाणां वा गुणा उपहतेष्वप्यनुस्मरणदर्शनात्। न चान्यस्य प्रसक्तिरस्ति, अतः परिशेषादात्मसिद्धिः। प्रयोगश्चात्र, योऽसौ परः स आत्मशब्दवाच्यः, इच्छाद्याधारत्वात्। ये त्वात्मशब्दवाच्या न भवन्ति, त इच्छाद्याधारा अपि न भवन्ति, यथा शरीरावयवः। अत्र प्रत्यक्षेणागृहीतान्वयं केवलव्यतिरेकबलादात्मनः प्रमा शेषवतः[5] फलम्।

---

§ ४३. अथवा, पूर्ववत्—पूर्व अर्थात् प्राक्कालीन व्याप्तिको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षके तुल्य विषयवाला अनुमान। अविनाभाव रूप सम्बन्धको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षके तुल्य ही इसका विषय होता है अतः परिच्छित्ति भी प्रायः उसके तुल्य ही होती है। पूर्ववत्में वति प्रत्यय क्रियाकी तुल्यताके अर्थमें किया गया है। इसलिए जैसे पहले सम्बन्धग्राहि प्रत्यक्षने प्रतिपत्ति की, ठीक उसी तरहकी प्रतिपत्ति जिससे हो उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। उदाहरणार्थ—इच्छा आदि परतन्त्र अर्थात् किसी द्रव्यके आश्रित रहते हैं क्योंकि वे गुण हैं जैसे कि रूपादि।

§ ४४. शेषवत्—परिशेषानुमान। प्रसक्त अर्थात् जिनमें प्रकृत पदार्थके रहनेकी आशंका हो सकती है उन पदार्थोंका निषेध करनेपर, जब अन्य किसी अनिष्ट अर्थकी संभावना न रहे, तब शेष बचे हुए इष्ट पदार्थकी प्रतिपत्ति करना परिशेषानुमान है। जैसे गुणत्व हेतुसे इच्छा आदिमें परतन्त्रत्वकी सिद्धि होनेपर शरीर विषय और इन्द्रियोंमें भी इच्छाके रहनेका प्रसंग आया कि—'इच्छा आदि शरीर आदिके आश्रित भी हो सकते हैं' तब इन प्रसक्त पदार्थोंका निषेध करके अनिष्ट अर्थकी संभावना नहीं रहनेपर परिशेष रूपसे इष्ट-आत्मामें ही इच्छा आदिको आश्रित सिद्ध करना परिशेषानुमानका कार्य है। प्रसक्त प्रतिषेध इस प्रकार किया जाता है—इच्छा आदि शरीरके विशेष गुण नहीं हो सकते, क्योंकि शरीरके विशेष गुण रूपादि स्व तथा पर सर्वसाधारणके प्रत्यक्ष होते हैं, पर इच्छा आदि तो जिस आत्माके हैं उसीके ही प्रत्यक्ष होते हैं अन्य आत्माके प्रत्यक्ष नहीं होते। इच्छादि इन्द्रिय तथा विषयके गुण भी नहीं हैं, क्योंकि अमुक इन्द्रियोंका तथा विषयोंका नाश हो जानेपर भी स्मरण आदि गुणोंका सद्भाव देखा जाता है। यदि ज्ञान इच्छादि इन्द्रियों तथा विषयोंके गुण होते, तब गुणीके नाश होनेपर अनुस्मरण आदि गुणोंकी प्रतीति कदापि नहीं हो सकती थी। इनके अतिरिक्त अन्य किसी अनिष्ट अर्थकी संभावना नहीं है अतः परिशेष अर्थात् शेष बचे हुए इष्ट आत्माको ही उन गुणोंके आधार रूपमें सिद्धि हो जाती है। प्रयोग—परतन्त्रमें जो पर है वह आत्मशब्दवाच्य—आत्मा ही है क्योंकि वही इच्छा आदिका आधार हो सकता है। जो आत्मशब्दवाच्य आत्मा नहीं है वह इच्छा आदिका आधार भी नहीं हो सकता जैसे कि शरीर आदि। यहाँ प्रत्यक्षसे अन्वय व्याप्ति गृहीत नहीं है, अतः केवल-व्यतिरेक दृष्टान्तके आधारसे आत्माका ज्ञान शेषवदनुमानका फल है।

---

१. पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाग्निरिति। न्यायसा० १।१।५। २. तुल्यत्ववतः अ०, क०। ३. "शेषवत् नाम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे संप्रत्ययः।"—न्यायसा० १।१।५। ४. वत्फलं भ० २।

§ ४५. यत्र धर्मी साधनधर्मश्च प्रत्यक्षः साध्यधर्मश्च सर्वदा[1] प्रत्यक्षः साध्यते तत्सामान्यतोदृष्टम्[2]। यथेच्छादयः परतन्त्रा गुणत्वाद्रूपवत्। उपलब्धिर्वा करणसाध्या क्रियात्वाच्छिदिक्रियावत्। असाधारणकारणपूर्वकं जगद्वैचित्र्यं चित्रत्वाच्चित्रादिवैचित्र्यवदित्यादि सामान्यतोदृष्टस्यानेकमुदाहरणं मन्तव्यम्।

§ ४६. ननु साध्यधर्मस्य सर्वथाप्रत्यक्षत्वेन साध्येन हेतोः कथं व्याप्तिग्रहणमिति चेत्, उच्यते। धर्मिण इच्छादेः प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वं गुणत्वकार्यत्वादेरपि साधनस्य तद्धर्मत्वं प्रतिपन्नमेव। पारतन्त्र्येण च स्वसाध्येन तस्य व्याप्तिरध्यक्षतो रूपादिष्ववगतैव। साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्तिरपि प्रमाणान्तरादेवावगता।

§ ४७. नन्वेवं[3] पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टानां परस्परतः को विशेषः। उच्यते। इच्छादेः पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपत्तौ गुणत्वं कार्यत्वं वा पूर्ववत्, सर्वेषामन्यतरबाधया विशिष्टाश्रयत्वेन बाधकेन प्रमाणेनावसीयमानं शेषवतः फलम्, तस्य साध्यधर्मस्य धर्म्यन्तरे प्रत्यक्षस्यापि तत्र धर्मिणि सर्वथाप्रत्यक्षत्वं सामान्यतोदृष्टोपदेशनिबन्धनम्। अतस्त्रयाणामेकमेवोदाहरणम्।

§ ४५. जहाँ धर्मी और हेतु तो प्रत्यक्ष हों तथा साध्यधर्म सदा अप्रत्यक्ष रहता हो वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है। जैसे—इच्छा आदि परतन्त्र हैं क्योंकि वे गुण हैं जैसे कि रूप उपलब्धि रूप क्रिया करणके द्वारा होती है क्योंकि वह क्रिया है जैसे कि बसूलेसे होनेवाली छेदन क्रिया। संसारकी विचित्रता किसी असाधारण कारण—(अदृष्ट) से होती है क्योंकि वह विचित्रता है जैसे अनेक रंग आदिसे होनेवाली चित्रकी विविधरूपता इत्यादि अनेकों उदाहरण सामान्यतोदृष्ट अनुमानके स्वयं समझ लेना चाहिए।

§ ४६. शंका—सामान्यतोदृष्ट अनुमानमें यदि साध्यधर्म सर्वदा अप्रत्यक्ष है तो उसको साधनके साथ व्याप्तिका ग्रहण कैसे होगा ? सम्बन्धका बोध तो दोनों सम्बन्धियोंके प्रत्यक्ष होने पर ही हो सकता है।

उत्तर—इच्छादि धर्मी तो 'अहमिच्छावान्' इस मानस प्रत्यक्षसे सिद्ध ही है, इसी तरह उसमें रहनेवाले गुणत्व या कार्यत्व रूप साधन धर्मोंका भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है। उन साधनोंकी पारतन्त्र्य रूप साध्यके साथ व्याप्ति भी रूपादिमें प्रत्यक्षसे देखते ही हैं कि—रूपादि गुण भी है और घट आदिके आश्रित भी हैं। इसी तरह परतन्त्रत्व रूप साध्यकी व्यावृत्ति होने पर गुणत्व रूप साधन की व्यावृत्ति भी दूसरे प्रमाणोंसे जान ही ली जाती है।

§ ४७. प्रश्न—यदि गुणोंको परतन्त्र सिद्ध करनेमें पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीनों अनुमानोंका प्रयोग होता है, तब इनमें परस्पर क्या भेद है ?

उत्तर—इच्छादिमें केवल परतन्त्रता सिद्ध करनेमें प्रयुक्त गुणत्व या कार्यत्व हेतु पूर्ववत् हैं। ये ही जब बाधक प्रमाणोंके द्वारा अन्य आश्रयोंका निषेध करके किसी आत्मारूप विशिष्ट आश्रयमें इच्छादिकी वृत्ति सिद्ध करते हैं तब परिशेषानुमान रूप हो जाते हैं। और चूँकि परतन्त्रत्व रूप साध्य धर्म दूसरे धर्मी सपक्षभूत घटादिमें तो प्रत्यक्ष है पर धर्मीमें सदा अप्रत्यक्ष रहता है इसलिए इसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान भी कह सकते हैं। इसीलिए इन तीनोंका एक ही उदाहरण दिया गया है।

१. सदा प्र–भ० २। २. "सामान्यतोदृष्टं तु नित्यपरोक्षे धर्मिणि व्याप्तिग्रहणादनुमानम्। यथेच्छादिना कार्येणात्मानुमानं वक्ष्यते।"—न्यायक० पृ० ३। "सामान्यतोदृष्टस्य नित्यपरोक्षानुमेयैकविषयत्वात्।"—न्यायम० प्रमा० पृ० १२१। ३. एकत्राप्युदाहरणे त्रैविध्यमभिधातुं शक्यते, यथा इच्छादिः कार्यमाश्रितं कार्यत्वाद् घटवद् इत्याश्रयमात्रे साध्ये पूर्ववदनुमानम्, प्रसक्तशरीरेन्द्रियाद्याश्रयप्रतिषेधेन विशिष्टाश्रयकल्पने तदेव परिशेषानुमानम्, अनुमेयस्य नित्यपरोक्षत्वात् तदेव सामान्यतोदृष्टं च।"—न्यायम० प्रमा० पृ० १२१।

§ ४८. तदेवं कारणादिभेदैर्विधास्त्रिप्रकारं लिङ्गं प्रमितिं जनयत्पूर्वकं सदनुमानमिति द्वितीयं व्याख्यानम्। अथ व्याख्यानद्वये प्रथमव्याख्यानमेव बहूनामध्ययनप्रभृतीनामभिमतम्। तत्र च पूर्ववदादीनां व्याख्या द्वितीयव्याख्याने[1] या चतुःप्रकाराभिहिता सैव[2] द्रष्टव्येति। अथ शास्त्रकार एव बालानामसंमोहार्थं शेषव्याख्याप्रकारानुपेक्ष्यानुमानस्य त्रिविधस्य विषयज्ञापनाय पूर्ववदादीनि पदानि व्याख्यानयन्नाह 'तत्राद्यम्' इत्यादि। तत्र [तेषु पूर्ववदादिष्वाद्यं पूर्ववदनुमानं किमित्याह—कारणाल्लिङ्गात्कार्यस्य लिङ्गिनोऽनुमानं ज्ञानं कार्यानुमानम्, इहानुमानप्रस्तावे, गीयते प्रोच्यते। कारणात्कार्यमनुमानमिहोदितमिति पाठो वा। तत्रास्तीति-शब्दाध्याहारे कारणात्कार्यमस्तीत्यनुमानम्। कारणात्कार्यमस्तीति ज्ञानमिहानुमानप्रस्तावे उदितं प्रोक्तम्। पाठद्वयेऽप्यत्र यल्लिङ्गिज्ञानमनुमानशब्देनोक्तं, तद्द्वितीयव्याख्यानकारिणां मतेन, न तु प्रथमव्याख्यानकर्तृमतेन। प्रथमव्याख्याकारिमतेन हि ज्ञानस्य हेतुरेवानुमानशब्दवाच्यः स्यात्। एवं शेषवत्यपि ज्ञेयम्। यत्र कारणात्स्वज्ञानविशिष्टात्कार्यस्य ज्ञानं भवति, तत्पूर्ववदनुमानम्। अत्र ह्यर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति वचनात्कार्यज्ञानमनुमानस्य फलं, तद्धेतुस्त्वनुमानं प्रमाणम्। तेनात्र कारणं वा तज्ज्ञानं वा कार्यकारणप्रतिबन्धस्मरणं वा [3]कार्यं ज्ञापयत्पूर्ववदनुमानमिति ॥१७–१८–१९॥

§ ४९. तस्योदाहरणमाह। यथा—

---

§ ४८. इस प्रकार कारण आदिके भेदसे तीन प्रकारका लिंग प्रत्यक्ष होकर लिंगि-विषयक प्रमिति को उत्पन्न करता है अतः वह अनुमान है। यह दूसरा व्याख्यान हुआ। इन दो व्याख्याओं में पहली व्याख्या ही बहुत-से अध्ययन आदि आचार्योंको मान्य है। द्वितीय व्याख्यानमें पूर्ववत् आदिकी जो चार व्याख्याएँ की हैं वे सभीको अभिमत हैं। इन अनेक व्याख्या भेदोंके जालमें शिष्यकी बुद्धि न उलझ जाय, वह भटक न जाय इसलिए ग्रन्थकार स्वयं अन्य व्याख्याओंकी उपेक्षा करके त्रिविध हेतुओंका विषय बतानेके लिए पूर्ववत् आदि पदोंका व्याख्यान करते हैं—उन पूर्ववत् आदि हेतुओंमें पहला पूर्ववत् अनुमान है। कारण रूप हेतुसे कार्य रूप साध्यके अनुमान अर्थात् ज्ञानको इस प्रकरणमें पूर्ववद् अनुमान अर्थात् कार्यानुमान (कार्यका अनुमान) कहते हैं। 'कारणात् कार्यमनुमानमिहोदितम्' ऐसा भी पाठ देखा जाता है। इस पाठमें 'अस्ति' शब्दका अध्याहार करके कारणसे 'कार्य है' ऐसा अनुमान-ज्ञान करना इस प्रकरणमें पूर्ववत् अनुमान कहा गया है। यह अर्थ होता है। दोनों ही पाठोंमें जो लिंग-ज्ञानको अनुमान शब्दसे कहा गया है वह 'पूर्ववत्' सूत्रके द्वितीय व्याख्याकारके मतसे है, प्रथम व्याख्याकारके मतसे नहीं। प्रथम व्याख्याकारके मतसे तो उक्त साध्यका ज्ञान 'यतः' जिससे होता है वह हेतु ही अनुमान शब्दका वाच्य होता है। इसी तरह शेषवत् आदिकी व्याख्यामें भी दो पक्ष समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि जहाँ स्वज्ञानविशिष्ट कारणसे अर्थात् ज्ञायमान कारणसे कार्यका ज्ञान होता है वह पूर्ववत् अनुमान है। यहाँ "अर्थोपलब्धिके कारणको प्रमाण कहते हैं" ऐसा शास्त्रकारोंका कथन होनेसे कार्यज्ञान तो अनुमानका फल हुआ है तथा यह कार्यज्ञान जिस हेतुसे होता है वह हेतु अनुमान प्रमाण रूप है। इसलिए कारण या कारणका ज्ञान अथवा कार्य-कारण रूप सम्बन्धका स्मरण सभी कार्यका अनुमान-ज्ञान करानेके कारण पूर्ववत् अनुमान हैं ॥१७-१९॥

§ ४९. इस पूर्ववत् अनुमानका उदाहरण कहते हैं। जैसे—

---

१. ने चतुः भ० २। २. सेव आ०, क०। ३. कार्यज्ञानं यत् भ०।

रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः[1] ॥ २० ॥

व्याख्या—'यथेति' निदर्शनदर्शनार्थः । रोलम्बा भ्रमराः, गवला अरण्यजातमहिषाः, व्याला वृष्टगजाः सर्पाश्च, तमालास्तापिच्छवृक्षाः । तद्वन्मलिनाः श्यामलास्त्विषः कान्तयो येषां ते तथा । एतेन मेघानां कान्तिमत्ता वचनेनानिर्वचनीया काप्यतिशयश्यामता व्यज्यते, 'एवंप्रायाः' एवंशब्द इवंप्रकारवचनः । प्रायशब्दो बाहुल्यवाचकः । तत एवमिवं प्रकाराणां प्रायो बाहुल्यं येषु त एवंप्राया इवंप्रकारबाहुल्या इत्यर्थः । एतेन गम्भीरगर्जि[2]तत्वा(त्व)चिरप्रभावत्त्वादिप्रकाराणां बाहुल्यं मेघेषु सत्सूचितम् । उक्तविशेषणविशिष्टा मेघा इह [3]जने वृष्टिं न व्यभिचरन्ति, वृष्टिकरा एव भवन्तीत्यर्थः । प्रयोगस्तु सूत्रव्याख्यावसरोक्त एवात्रापि वक्तव्यः ॥ २० ॥

§ ५०. अथ शेषवद्व्याख्यामाह ।

कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम् ।
तथाविधनदीपूराद्[2]वो वृष्टो यथोपरि ॥ २१ ॥

§ ५१. व्याख्या—कार्यात्लिङ्गात्कारणस्य लिङ्गिनोऽनुमानं ज्ञानं यत्, चकारः प्रागुक्तपूर्ववदपेक्षया समुच्चये, तच्छेषवन्मतम् । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यत्र कार्यात्कारणज्ञानं भवति, तच्छेषवद-

---

भ्रमर, भैंसा, सर्प या मदोन्मत्त जंगली हाथी अथवा तमालवृक्षकी तरह गहरी श्याम कान्तिवाले तथा और भी इसी प्रकारके मेघ वृष्टिके व्यभिचारी नहीं होते, ऐसे मेघोंसे अवश्य ही वृष्टि होती है अतः इस प्रकारके मेघोंको देखकर भावी वृष्टिका अनुमान होता ही है ॥२०॥

यथा शब्द उदाहरणके अर्थमें आया है। रोलम्ब–भौंरा, गवल–जंगली भैंसे, व्याल–मत्तहाथी अथवा कृष्णसर्प, तमाल–तापिच्छके पेड़, इन सबके समान मलिन-श्याम कान्तिवाले मेघ वृष्टिके व्यभिचारी नहीं होते, वे अवश्य ही बरसते हैं। यहाँ मेघोंकी कान्तिका कथन होनेसे मालूम होता है कि मेघोंमें कोई ऐसा अनिर्वचनीय विचित्र अतिशय कालापन होता है जो देखा तो जा सकता है, कहा नहीं जा सकता। एवं प्रायः शब्दसे सूचित होता है कि मेघोंमें मात्र विचित्र श्यामलता ही वृष्टिका अनुमान नहीं कराती, किन्तु और भी इसी प्रकारके अनेक धर्म देखे जाते हैं जो कि वृष्टिके अव्यभिचारी होते हैं। जैसे गम्भीर घड़-घड़ाकर गरजना, हवा आने पर भी उड़ नहीं जाना और चिरकाल तक मँडराते रहना, इत्यादि। इस तरह अनेकों वृष्टिके अविनाभावी विशेषणोंसे विशिष्ट मेघ नियमसे बरसनेवाले होते हैं इसलिए इनसे भावी वृष्टिका निर्दुष्ट अनुमान होता ही है। इस अनुमानके प्रयोगका ढंग 'पूर्ववत्' सूत्रकी व्याख्यामें कहा जा चुका है ॥२०॥

§ ५०. अब शेषवद् अनुमानकी व्याख्या करते हैं—

कार्यसे कारणके अनुमानको शेषवत् कहते हैं। जैसे नदीके विशिष्ट पूरको देखकर नदीके ऊपरी भागमें हुई वृष्टिका अनुमान करना ॥२१॥

§ ५१. कार्यरूप लिंगसे कारणरूप लिंगी—साध्यका जो अनुमान होता है वह शेषवत् है। चकार पूर्ववत्की अपेक्षा समुच्चयके लिए है। तात्पर्य यह कि—जहाँ कार्यसे कारणका ज्ञान किया

---

१. तुलना—"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः । रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ॥ त्वङ्नखडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः । वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैव प्रायः पयोमुचः ॥"—न्यायम० प्रमा० पृ० ११७ । "आवर्तवर्तनाशालिविशालकन्दुकोदकः । कल्लोलविकटास्फालस्फुरत्फेनच्छटाञ्चितः ॥ बहुदृबहलशैवालघनशाद्वलसंकुलः । नदीपूरविशेषोऽपि शक्येत न निवेदितुम् ॥"—न्यायम० प्रमा० पृ० ११८ । २. –तत्वात् चिर– भ० २ । ३. जनेषु वृ– भ० २ ।

नुमानम्। अत्रापि प्राग्वत्कारणज्ञानस्य हेतुः कार्यं कार्यदर्शनं तत्संबन्धस्मरणं चानुमानशब्देन प्रतिपत्तव्यम्। यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः प्रथममत्र योज्यः। तथाविधः शीघ्रतरस्रोतस्त्वफलफेनादिवहनत्वोभयतटव्यापित्वधर्मविशिष्टो यो नदीपूरस्तस्मादिलङ्गादुपरिदेशे देवो मेघो वृष्ट इति ज्ञानम्। अत्र प्रयोगः प्राग्वत् ॥२१॥

यच्च सामान्यतोदृष्टं तदेवं गतिपूर्विका।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा ॥२२॥

§ ५२. व्याख्या—चः पुनरर्थे, यत्पुनः कार्यकारणभावादन्यत्र सामान्यतोऽविनाभावबलेन वृष्टं लिङ्गं सामान्यतोवृष्टं, तदेवम्। कथमित्याह—यथा पुंस्येकस्माद्देशाद्देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका तथा सूर्येऽपि सा देशान्तरप्राप्तिस्तया गतिपूर्विका। अत्र देशान्तरप्राप्तिशब्देन देशान्तरदर्शनं ज्ञेयम्। अन्यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिकार्यत्वेन शेषवतोऽनुमानादस्य भेदो न स्यात्। यद्यपि गगने संचरतः सूर्यस्य नेत्रावलोकप्रसराभावेन गतिर्नोपलभ्यते, तथाप्युदयाच्चलात्कालान्तरेऽस्ताचलचूलिकादौ तद्दर्शनं गतिं गमयति। प्रयोगः पुनः पूर्वमुक्त एव।

§ ५३. अथवा देशान्तरप्राप्तेर्गतिकार्यत्वं लोको न प्रत्येतीति इदमुदाहरणं कार्यकारणभावाविवक्षयात्रोपन्यस्तम् [४]एतत्प्रयोगस्त्वेवम्, सूर्यस्य देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तित्वाद्देवदत्तदेशान्तरप्राप्तिवत् ॥२२॥

जाय वह शेषवदनुमान है। यहाँ भी पहलेकी तरह कारणभूत साध्यके ज्ञानमें हेतु होनेवाले कार्य, कार्यका ज्ञान तथा कार्यकारणभाव रूप सम्बन्धका स्मरण सभी अनुमान प्रमाण रूप होते हैं। 'यथा' शब्द उदाहरणार्थक है। वैसा शीघ्रतर प्रवाह वाला, फल फेन आदिको बहानेवाला, दोनों तटोंके अन्त तक डट कर फैला हुआ जो नदीपूर है उससे ऊपरी भागमें हुई वृष्टिका ज्ञान-अनुमान होता ही है। प्रयोगका प्रकार पहले कहा जा चुका है ॥२१॥

और जो सामान्यतोदृष्ट है वह इस प्रकार है—किसी पुरुषका गमनपूर्वक देशान्तरमें पहुँचना देखकर सूर्यमें भी देशान्तर प्राप्तिसे गतिका अनुमान करना ॥२२॥

§ ५२. 'च'शब्द पुनः शब्दके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। जो लिंग कार्यकारणभावके बिना सामान्य रूपसे अविनाभावके बल पर ही अनुमापक होता है वह सामान्यतोदृष्ट है। उदाहरणार्थ—किसी पुरुषका एक देशसे दूसरे देशमें पहुँचना गमन करने पर ही होता है। इस तरह देशान्तरप्राप्तिका गमन पूर्वकत्वके साथ सामान्यसे अविनाभाव ग्रहण करके सूर्यमें देशान्तरप्राप्तिसे गतिका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। देशान्तरप्राप्तिका अर्थ है देशान्तरमें उस वस्तुका देखा जाना। यदि देशान्तर संयोग हो देशान्तरप्राप्तिका अर्थ हो; तब यह संयोग तो गमन क्रियाका कार्य है अतः शेषवदनुमानमें ही यह अन्तर्भूत हो जायगा, अतः देशान्तर प्राप्तिका अर्थ 'देशान्तरमें उस वस्तुका दिखाई देना' ही करना चाहिए। यद्यपि सूर्यके प्रखर ताप एवं तेज पुंज किरण जालके कारण नेत्र चकचौंधया जाते हैं और इसलिए उसका आकाश गमन नेत्रोंसे नहीं दिखाई देता फिर भी प्रातःकाल उदयाचलपर दिखनेवाले सूर्यको सायंकाल अस्ताचलपर देखनेसे उसकी गतिका परिज्ञान सहज ही हो जाता है। इस अनुमानके प्रयोगकी सरणि पहले बतायी जा चुकी है।

§ ५३. अथवा—'देशान्तरप्राप्ति गमन क्रियाका कार्य है' इस कार्य कारण भावको साधारण व्यवहारी जन नहीं समझ पाते हैं अतः कार्यकारणभावकी अविवक्षामें इस उदाहरणको सामान्यतोदृष्ट अनुमान मानना चाहिए। प्रयोग—सूर्यका एक देशसे दूसरे देशमें पहुँचना गतिपूर्वक होता है, क्योंकि वह देशान्तरप्राप्ति है जैसे देवदत्तका एक देशसे गति करके दूसरे देशमें पहुँचना ॥२२॥

---

१. विधशीघ्र—आ०, क०। तथाविधाः शी - भ० २। २. —सिर्गति— भ० २। ३. प्रत्येतीदमु— भ० २। ४. प्रयो—आ०, क०।

§ ५४. उपमानलक्षणमाह—

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
[1]उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥२३॥

§ ५५. व्याख्या—[2]"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इति सूत्रम् । अत्र यत इत्यध्याहार्यम्[3], ततश्च प्रसिद्धेन वस्तुना गवा यत्साधर्म्यं समानधर्मत्वं तस्मात्प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयगतस्य साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसंबन्धस्य साधनं प्रतिपत्तिर्यतः साधर्म्यज्ञानाद्भवति तदुपमानं समाख्यातम् । साधर्म्यस्य [4]च प्रसिद्धिरागमपूर्विका[5] । तत आगमसंसूचनायाह[6]—यथा गौस्तथा गवय इति । गवयोऽरण्यगवयः । तथाहि भाष्यः—कश्चित्प्रभुणा गवयानयनाय प्रेषितस्तद्धर्मज्ञानानस्तमेवाप्राक्षीत् कीदृग्गवय इति, स प्रोचे यादृग्गौस्तादृग्गवय इति । ततः सोऽरण्ये परिभ्रमन् समानधर्मं यदा पश्यति, तदा तस्य तद्वाक्यार्थस्मृतिसहायेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् गोसदृशोऽयमिति यत्साधर्म्यज्ञानमुत्पद्यते, तत्प्रत्यक्षफलं, तदेवाव्यभिचार्यादिविशेषणमयं स गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिं जनयदुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिस्तूपमानस्य फलम् । न पुनरागः

---

§ ५४. उपमानका लक्षण कहते हैं—

प्रसिद्ध वस्तुके साधर्म्य-सादृश्यसे अप्रसिद्धकी सिद्धि करना उपमान प्रमाण है । जैसे गौके समान गवय होता है ॥२३॥

§ ५५. "प्रसिद्ध अर्थके सादृश्यसे साध्यकी सिद्धि उपमान है" यह न्यायदर्शनका उपमान सूत्र है । यहाँ भी 'यतः' पदका अध्याहार करना चाहिए । अतएव प्रसिद्ध वस्तु गौके साधर्म्य-सादृश्यसे गवयमें रहनेवाले अप्रसिद्ध संज्ञा संज्ञिसम्बन्ध (गवयशब्दका वाच्य यही गोसदृश पदार्थ है) का साधन-प्रतिपत्ति यतः जिस सादृश्यज्ञानसे होता है उस सादृश्यज्ञानको उपमान प्रमाण कहते हैं । सादृश्यका ज्ञान तो आगमसे होता है । अतएव उसी आगम वाक्यकी सूचनाके लिए 'जैसी गौ है वैसा ही गवय अर्थात् जंगली रोज होता है' यह कहा है । तात्पर्य यह कि—किसी स्वामीने अपने सेवकसे कहा कि—'जाओ, गवय ले आओ' । बिचारा नौकर गवयको जानता ही नहीं था अतः उसने अपने स्वामीसे ही पूछा कि—'गवय कैसा होता है ?' स्वामीने उसे बता दिया कि—'जैसी गौ होती है ठीक वैसा ही गवय होता है' । नौकर स्वामीकी बतायी हुई गवयकी पहचानको याद करके जंगल गया । घूमते-घूमते वह एक जगह गौके समान आकारवाले प्राणीको देखता है । उसी समय उसे स्वामीके द्वारा बतायी हुई 'जैसी गौ वैसा ही गवय' पहचानका स्मरण हो आता है । उस स्मरणकी सहायतासे इन्द्रियार्थ सन्निकर्षके द्वारा 'यह गौके सदृश है ऐसा सादृश्यज्ञान उत्पन्न होता है । यह सादृश्यज्ञान प्रत्यक्षका फल है । यही अव्यभिचारी व्यवसायात्मक आदि विशेषणवाला सादृश्यज्ञान जब 'यही वह गवयशब्दका वाच्य प्राणी है' इस संज्ञासंज्ञि-सम्बन्धकी प्रतिपत्तिको उत्पन्न करता है तब उपमानप्रमाण कहलाता है । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धकी

---

१. "यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतः तमर्थं प्रतिपद्यते इति, समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह । यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्मसमर्थम् इन्द्रियार्थसंनिकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञिसंबन्धं प्रतिपद्यते इति ।"—न्यायभा० १।१।६ । २. प्रसिद्धवस्तुसा– भ० २ । ३. "अत्रापि यत इत्यध्याहार्यम् ।" न्यायवा० ता० टी० पृ० १९६ । ४. –स्य प्रति– क०, भ० २ । ५. "प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृशः पिण्ड इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिहेतुः ।"—न्यायभा० ता० टी० पृ० १९७ । ६. –नाय प्राह प० १,२, भ० १,२ । ७. तमर्थमजा– भ० २ ।

मिकी सा, शब्दस्य तज्जनकस्य तदानीमभावात् । गवयपिण्डविषये च हेयादिज्ञानं यदुत्पद्यते तदिन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्वात्प्रत्यक्षफलम् ॥२३॥

§ ५६. अथ तुर्यं शाब्दमाह—

शाब्द[1]मासोपदेशस्तु [2]मानमेवं चतुर्विधम् ।
प्रमेयं त्वात्मदेहाद्यं बुद्धीन्द्रियसुखादि च ॥२४॥

§ ५७. व्याख्या—शब्दजनितं शाब्दमागम इत्यर्थः । तुर्भिन्नक्रमे, शाब्दं तु प्रमाणमासोपदेशः । [3]आप्त एकान्तेन सत्यवादी हितश्च, तस्योपदेशो वचनमासोपदेशः । तज्जनितं तु ज्ञानं शाब्दस्य फलम् । मानं प्रमाणमेवमुक्तविधिना चतुर्विधम् ।

§ ५८. तदेवं प्रथमं प्रमाणतत्त्वं व्याख्याय संप्रति द्वितीयं प्रमेयतत्त्वं व्याख्यातुमाह—"प्रमेयं त्वात्मदेहाद्यम्" प्रमेयं तु प्रमाणफलस्य[4] ग्राह्यं पुनरात्मदेहाद्यम्, आत्मा जीवः, देहो वपुः, तावादौ यस्य तदात्मदेहाद्यम् । बुद्धीन्द्रियसुखादि च प्रमेयम् । बुद्धिर्ज्ञानं, इन्द्रियं चक्षुरादि-मनःपर्यन्तं, सुखं सातं तान्या[5]दिर्यस्य तदबुद्धीन्द्रियसुखादि । चकार आत्मदेहाद्यपेक्षया समुच्चये । [6]अत्र विशेषणद्वय आद्यशब्देनादिशब्देन च शेषाणामपि सप्तानां प्रमेयानां (पदं) संग्रहो द्रष्टव्यः । तथा च नैयायिकसूत्रम्[7]—[8]आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्ग-

---

प्रतिपत्ति तो उपमानका फल है । यह प्रतिपत्ति आगमजन्य नहीं कही जा सकती, क्योंकि उस समय इस प्रतिपत्तिको उत्पन्न करनेवाला कोई शब्द नहीं है । गवय प्राणीमें जो हेय उपादेय आदि बुद्धि होती है वह तो इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षज होनेसे प्रत्यक्षका फल है ॥२३॥

§ ५६. अब चौथे शाब्द—आगम प्रमाणका वर्णन करते हैं—

आप्तके उपदेशको शाब्द—आगम प्रमाण कहते हैं । इस तरह प्रमाण चार प्रकारका होता है । आत्मा, शरीर आदि तथा बुद्धि, इन्द्रिय, सुखादि प्रमेय हैं ॥२४॥

§ ५७. शब्दसे उत्पन्न होनेवाला शाब्द-आगम है । तु शब्द भिन्नक्रमवाला है—अर्थात् इसका जिस शब्दके साथ प्रयोग है उससे अतिरिक्तके साथ अन्वय है । अतएव शाब्द प्रमाण तो आप्तोपदेश रूप है—ऐसा अर्थ होगा । जो एकान्तसे सर्वथा सत्यवादी तथा हितकारी है वह आप्त है । आप्त के वचनको आप्तोपदेश कहते हैं । इस आप्तोपदेश रूप वचनसे होनेवाला ज्ञान आगमका फल है । इस प्रकार प्रमाण चार भेदवाला है ।

§ ५८. इस तरह प्रमाणतत्त्वका व्याख्यान करके अब द्वितीय प्रमेय तत्त्वका वर्णन करते हैं—प्रमाणके फलस्वरूप ज्ञानके ग्राह्य-विषयको प्रमेय कहते हैं। वे प्रमेय आत्म, देह आदि हैं। आत्मा-जीव और देह-शरीर जिनको आदिमें हैं, वह तथा बुद्धि, ज्ञान, चक्षु आदि मन पर्यन्त छह इन्द्रियाँ तथा सुख-साता रूप अनुभव, इत्यादि प्रमेय हैं । 'च' शब्द समुच्चयार्थक है । श्लोकमें आद्य तथा आदि इन दोका विशेषणोंमें प्रयोग है । इनसे मन आदि शेष सात प्रमेयोंका संग्रह हो जाता है । न्याय-सूत्रमें कहा भी है—"आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव-परलोक,

---

१. "आप्तोपदेशः शब्दः ।"—न्यायसू० १।१।७। २. –मानमेव चतु– भ० २ । ३. "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा ।"—न्यायभा० १।१।७ । ४. –फलं ग्राह्यं आ० क० । ५. तान्यादीनि यस्य आ० । ६. –ये आद्यशब्देन च शेषाणामपि प्रमेयानां सप्तानां संग्रहो द्रष्टव्यः—भ० २ । ७. सूत्रं तच्च आत्म–१,२, भ० १, २ । ८. आत्मशरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।" —न्यायसू० १।१।९ ।

भेदेन द्वादशविधं तदिति प्रमेयम् ।" [न्यायसू० १।१।९] [1]तत्र शरीरादिदुःखपर्यन्तं हेयम्, अपवर्ग उपादेयः, आत्मा तु कथंचिद्धेयः कथंचिदुपादेयः सुखदुःखादि[2] भोक्तृतया हेयः तद्भुक्ततयोपादेय इति। तत्रेच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानादीनामाश्रय आत्मा[3] । तच्चेतनत्वकर्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मैरात्मा प्रतीयते १। तद्भोगायतनं शरीरम् २। [4] "पञ्चेन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि ३। [5]पञ्चार्था रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः। [6]तत्र गन्धरसरूपस्पर्शाश्चत्वारः पृथिवीगुणाः, रूपरसस्पर्शास्त्रयोऽपां गुणाः, रूपस्पर्शौ तेजसो गुणौ, एकः स्पर्शो वायोर्गुणः, शब्द आकाशस्य गुण इति ४।" बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थः, सा क्षणिका, भोगस्वभावत्वाच्च संसारकारणमिति हेया ५। इन्द्रियार्थसंनिकर्षे सत्यपि [7]युगपज्ज्ञानानुत्पादाद्यदान्तरसुखादिविषयोपलब्धेश्च बाह्यगन्धादिविषयोपलब्धिकरणसाध्यत्वाद्यदान्तरं करणं[8] मनोऽनुमीयते, तत्सर्वविषयं तच्चाणु वेगवद्वायुसंचारि नित्यं

फल, दुःख तथा मोक्ष ये बारह प्रमेय हैं।" इनमें शरीरसे लेकर दुःख पर्यन्त दश प्रमेय हेय—त्याज्य हैं। अपवर्ग (जिसके बाद पवर्ग—प फ आदिका कोई अक्षर नहीं हो अर्थात् पवर्गका अन्तिम ही अक्षर-'म' जिसमें प्रयुक्त होता हो ऐसे मोक्षको अपवर्ग कहते हैं।) उपादेय है। आत्मा तो अवस्था विशेषमें हेय भी होता है तथा उपादेय भी। जब आत्मा सुख, दुःख आदिका भोक्ता होता है तब वह हेय है। और जब सुख, दुःख भोगसे रहित होकर निरुपाधि हो जाता है तब उपादेय है। आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञानादि गुणोंका आश्रय होता है। चेतनत्व, कर्तृत्व, सर्वगतत्व आदि धर्मोंसे आत्माकी प्रतीति होती है। (आत्मा सर्वगत है अतः जिन नियत प्रदेशोंमें आत्माको सुख, दुःखका उपभोग होता है उन नियत प्रदेशोंका अवच्छेदक तथा) आत्माके भोगका आयतन शरीर होता है। घ्राण—नाक, रसना—जीभ, चक्षु, त्वक्—स्पर्शन तथा श्रोत्र ये पाँच भोगके साधनभूत इन्द्रियाँ हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द ये पाँच इन्द्रियोंके विषय रूप अर्थ हैं। पृथिवीमें गन्ध, रूप, रस तथा स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं। जलमें रूप, रस तथा स्पर्श ये तीन, तेज—अग्निमें रूप और स्पर्श ये दो तथा वायुमें केवल स्पर्श गुण ही पाया जाता है। शब्द आकाशका गुण है। बुद्धि-उपलब्धि ज्ञान ये सब एकार्थक हैं। बुद्धि क्षणिक होती है। भोगरूप होनेसे संसारका कारण है अतः हेय है। मन सभी पदार्थोंको विषय करनेवाला है, अणुरूप है, वेगवाला होनेसे बहुत शीघ्र संचार करनेवाला है तथा नित्य है। सभी

---

१. "तत्र देहादिदुःखान्तं हेयमेव व्यवस्थितम् । उपादेयोऽपवर्गस्तु द्विधावस्थितिरात्मनः ॥ सुखदुःखादिभोक्तृत्वस्वभावो हेय एव सः । उपादेयस्तु भोगादिव्यवहारपराङ्मुखः ॥" —न्यायम० प्रमे० पृ० २। २. –भोक्तृतया आ० । ३. "तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभवी ।"—न्यायभा० १। १।९। "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति । —न्यायसू० १।१।१०। ४. "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ।"—न्यायसू० १।१।११। "तस्य भोगायतनं शरीरम् ।"—न्यायभा० १।१।९। ५. "घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।" —न्यायसू० १।१।१२। "भोगसाधनानि इन्द्रियाणि ।"—न्यायभा० १।१।९। ६. "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।"—न्यायसू० १।१।१४। "भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः ।"—न्यायभा० १।१।१। ७. "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥" "आसेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥"—न्यायसू० ३।१।६१,६२। 'चतुर्गुणा पृथिवी' 'त्रिगुणा आपः' 'द्विगुणं तेजः' 'एकगुणो वायुः' इति, नियमश्चोपपद्यते ।"—न्यायभा० ३।१।६५। ८. "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।"—न्यायसू० १।१।१५। "भोगो बुद्धिः ।"—न्यायभा० १।१।९। न्यायक० पृ० ७। ९ "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।" न्यायसू० १।१।१६। १०. "सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः ।"—न्यायभा० १।१।९।

च[1] ६। वाङ्मनःकायव्यापारः शुभाशुभफलः प्रवृत्तिः[2] ७। रागद्वेषमोहास्त्रयो दोषाः[3], ईर्ष्यादीनामेतेष्वेवान्तर्भावः, तत्कृतश्चैष संसारः ८। वेहेन्द्रियादिसंघातस्य प्राक्तनस्य त्यागेन संघातान्तरग्रहणं प्रेत्यभावः[4], एष एव संसारः ९। [5]प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं, तत्साधनं तु गौणम् १०। पीडासंतापस्वभावजं दुःखम्, [6]फलग्रहणेनाक्षिप्तमपीदं सुखस्यापि दुःखाविनाभावित्वात् दुःखत्वभावनार्थमुपदिश्यते ॥११॥ आत्यन्तिको दुःखवियोगोऽपवर्गः,[7] सर्वगुणविमुक्तस्यात्मनः

पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष होने पर भी युगपत् समस्त रूपादि ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होती है अतः ज्ञात होता है कि जिस इन्द्रियसे मनका संयोग है उसी इन्द्रियके द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है अन्यसे नहीं। इस तरह युगपत् ज्ञानोंकी अनुत्पत्तिसे मनका सद्भाव सिद्ध होता है। तथा जैसे गन्धादि बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धि करण रूप इन्द्रियोंके बिना नहीं हो सकती उसी प्रकार अन्तरंग सुखादि विषयोंकी उपलब्धिके लिए भी एक करण साधकतमकरण नितान्त अपेक्षणीय है यह करण मन ही हो सकता है। इस प्रकारसे मनका अनुमान किया जाता है। शुभ और अशुभ फलको उत्पन्न करनेवाले वचन मन तथा कायके व्यापार को प्रवृत्ति कहते हैं। राग द्वेष तथा मोह ये तीन दोष हैं। ईर्ष्या आदिका इसी त्रिपुटीमें अन्तर्भाव हो जाता है। इन्हीं दोषोंके द्वारा यह संसार होता है। इस जन्ममें ग्रहण किये गये देह इन्द्रिय आदिके संघातका त्यागकर नवीन देहादि का ग्रहण करना प्रेत्यभाव (प्रेत्य—मरकर, भाव—उत्पत्ति) होना है। जन्मसे जन्मान्तरकी परम्परा ही संसार है। प्रवृत्ति और दोषसे उत्पन्न हुए सुख और दुःख मुख्य फल हैं तथा सुख-दुःखके साधनभूत पदार्थ गौण फल हैं। पीड़ा तथा सन्ताप स्वभावसे उत्पन्न होनेवाला दुःख है। यद्यपि 'फल'के कहनेसे दुःखका कथन हो जाता है फिर भी संसारको दुःखरूप दिखाने के लिए तथा सांसारिक किंचित् सुखलवको दुःखाविनाभावी होनेसे दुःखरूप समझानेके लिए 'दुःख'का पृथक् ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि संसारको दुःखरूप देखने की भावना होनेपर ही संसारमें हेय बुद्धि हो सकती है। दुःखके अत्यन्त नाशको अपवर्ग कहते हैं। अर्थात् आत्यन्तिक नाश होने पर मौजूद दुःखोंके अभावके साथ ही साथ भविष्यमें दुःखोंकी उत्पत्ति न होना भी विवक्षित है। अपवर्ग अवस्थामें आत्मा अपने बुद्धि आदि सभी विशेष गुणोंसे शून्य होकर शुद्ध आत्मत्वरूपमें स्थित हो जाता है। इस संसारमें सुख और दुःखको पृथक् कर त्याग करना असम्भव है अतः दुःख छोड़नेकी इच्छासे

---

१. "इन्द्रियार्थसंनिकर्षे सत्यपि युगपज्ज्ञानानुत्पादात्''''तच्चाणु वेगवदाशुसंचारि नित्यम्''''।"—न्यायक० पृ० ७। २. "प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारभ्य इति।"—न्यायसू० १।१।१७। न्यायक० पृ० ७। "प्रवर्तनालक्षणा दोषाः।"—न्यायसू० १।१।१८। ३. "रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा सुखं दुःखं वा लभते। तथा द्विष्टस्तथा मूढ इति, रागद्वेषमोहा इत्युच्यमानो बहूनोक्तं भवति।" न्यायभा० १।१।१८। न्यायक० पृ० ७। ४. "पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।"—न्यायसू० १।१।१९ उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः, उत्पन्नस्य = संबद्धस्य, संबन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः, पुनरुत्पत्तिः = पुनर्देहादिभिः, संबन्धः,'''। प्रेत्यभावः = मृत्वा पुनर्जन्म, सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धोऽस्यासोज्ञानादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति।"—न्यायभा० १।१।१९। न्यायक० पृ० ७। ५. "प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्।"—न्यायसू० १।१।२०। "प्रवृत्तिदोषजनकं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलम्। तत्साधनं तु गौणम्।"—न्यायक० पृ० ७। ६. "बाधनालक्षणं दुःखम्।"—न्यायसू० १।१।२१। ७. "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।"—न्यायसू० १।१।२२। "जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणम् अपवर्ग इति।" न्यायभा० १।१।१९। "आत्यन्तिको दुःखवियोगोऽपवर्गः सर्वगुणविमुक्तस्यात्मनः स्वरूपावस्थानम्। सुखदुःखयोर्विवेकहानस्याशक्यता। दुःखं जिहासुः सुखमपि जह्यात्। तस्मात्परमपुरुषार्थोऽपवर्गः। स च तत्त्वज्ञानादवाप्यते।"—न्यायक० पृ० ८।

स्वरूपेणावस्थानम् । सुखदुःखयोर्विवेकेन हानस्याशक्यत्वात् दुःखं जिहासुः सुखमपि जह्यात् । यस्माज्जन्मजरामरणप्रबन्धोच्छेदरूपः परमः पुरुषार्थोऽपवर्गः, स च तत्त्वज्ञानादवाप्यते १२ ॥२४॥

§ ५९. संशयप्रयोजनयोः स्वरूपं प्राह—

किमेतदिति संदिग्धः प्रत्ययः संशयो मतः ।
प्रवर्तते तदर्थित्वात्तत्तु साध्यं प्रयोजनम् ॥२५॥

§ ६०. व्याख्या—अयं किंशब्दोऽस्ति क्षेपे 'किंसखा योऽभिद्रुह्यति' अस्ति प्रश्ने 'किं ते प्रियं' अस्ति निवारणे 'किं ते रुदितेन' अस्त्यपलापे 'किं तेऽहं धारयामि' अस्त्यनुनये 'किं[3] तेऽहं प्रियं करोमि' अस्त्यवज्ञाने 'कस्त्वामुल्लापयते' अस्ति वितर्के 'किमिदं दूरे दृश्यते,' इह तु वितर्के दूरावलोकनेन पदार्थसामान्यमवबुध्यमानस्तद्विशेषं संदिहानो वितर्कयति, एतत् प्रत्यक्षमूर्ध्वस्थितं वस्तु किं [4]तर्के स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । यः संदिग्धोऽनेककोटिपरामर्शी प्रत्ययो विमर्शः, स संशयो मतः संमत इति ।

§ ६१. अथ प्रयोजनम्, यदर्थित्वाद्यस्य[5] फलस्यार्थित्वमभिलाषुकत्वे यदर्थित्वं, तस्मात्प्रवर्तते [6]तत्तदोयसाधनेषु यत्नं कुरुते तत्त्व तत्पुनः साध्यं कर्तव्यतयेष्टं तत्प्रयोजनं फलं यस्य साऽऽकाङ्क्षा कृत्येषु

दुःखमिश्रित सुखको भी छोड़ना ही पड़ता है। जैसे विष छोड़नेकी इच्छासे विषमिश्रित अन्नको भी छोड़ना ही पड़ता है। जन्म, जरा तथा मरण की अविच्छिन्न परम्परा का नाम ही संसार है और इस संसारका उच्छेद करना परमपुरुषार्थ है, यही अपवर्ग है। इस अपवर्गकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है ॥ २४ ॥

§ ५९. अब संशय और प्रयोजनका स्वरूप कहते हैं—

'यह क्या है' इस प्रकारके सन्दिग्ध प्रत्ययको संशय कहते हैं। जिसकी प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रवृत्ति करता है उस साध्य अर्थको प्रयोजन कहते हैं ॥ २५ ॥

§ ६०. किं शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। यथा, किं शब्द अधिक्षेप—तिरस्कार अर्थमें प्रयुक्त होता है—'वह क्या मित्र है जो द्रोह करता है ?'। प्रश्न अर्थमें प्रयुक्त होनेवाला किं शब्द, जैसे 'आपको क्या प्रिय है ?' निवारण—रोकने रूप अर्थमें भी किं शब्दका प्रयोग देखा जाता है, जैसे 'तुम्हारे रोनेसे क्या लाभ है ? अर्थात् मत रोओ।' कहीं अपलाप अर्थमें भी किं शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे 'क्या मैं तेरा देनदार हूँ ?' अनुनयार्थक भी किं शब्द होता है, जैसे 'मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' अवज्ञानार्थक भी किं शब्द है, जैसे 'कौन तुझे बुलाता है ?' वितर्क अर्थमें भी किं शब्दका प्रयोग होता है—'यह दूर क्या दिखाई देता है ?' प्रस्तुत प्रकरणमें किं शब्द वितर्कार्थक है। दूरसे पदार्थ सामान्यको देखकर विशेषांशका प्रत्यक्ष न होनेके कारण सन्देहसे वितर्क करता है कि—'यह जो सामने ऊँची वस्तु दिखाई देती है वह स्थाणु-ठूँठ है अथवा पुरुष ?' तात्पर्य यह कि—अनेक कोटियोंमें झूलनेवाले चलित प्रतिपत्ति रूप सन्दिग्ध प्रत्ययको संशय कहते हैं। वि अर्थात् विरुद्ध कोटियोंमें झूलनेवाले, मर्श अर्थात् ज्ञानको विमर्श-संशय कहते हैं।

§ ६१. जिस फलको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे उसकी प्राप्तिके कारणोंको जुटानेके लिए यत्न किया जाता है वह कर्त्तव्य रूपसे इष्ट साध्य वस्तु प्रयोजन फल कहलाती है। जिसकी वांछा-

---

१. "विशेषस्मृतिहेतोर्धर्मस्य ग्रहणाद् विशेषस्मृतेश्च जायमानः किंस्वित् इति विमर्शः संशयः।"—न्यायक० पृ० ८। २. "यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्।" न्यायसू० १।१।२४। ३. तेऽहं करो – प० १, २, भ० १, २। ४. वितर्के प० १, २, भ० १, २। ५. – स्य सकलस्या – भ० २। ६. यत्तदो– भ० २।

प्रवर्तते तत्प्रयोजनमित्यर्थः। प्रयोजनमूलत्वाच्च प्रमाणोपन्यासप्रवृत्तेः प्रमेयान्तर्भूतमपि प्रयोजनं पृथगुपदिश्यते ॥२५॥

§ ६२. अथ दृष्टान्तसिद्धान्तौ व्याचिख्यासुराह—

'दृष्टान्तस्तु भवेदेष विवादविषयो न यः।
'सिद्धान्तस्तु चतुर्भेदः' सर्वतन्त्रादिभेदतः ॥२६॥

§ ६३. व्याख्या—दृष्टोऽन्तो निश्चयोऽत्रेति दृष्टान्तः, दृष्टान्तः पुनरेषोऽयं भवेत्। एष क इत्याह—य उपन्यस्तः सन् विवादविषयो वादिप्रतिवादिनोर्मिथो विरुद्धो वादो विवादः, तस्य विषयो गोचरो न भवति, वादिप्रतिवादिनोरुभयोः संमत एवानुमानादौ दृष्टान्त उपन्यस्तव्य इत्यर्थः। पञ्चस्ववयवेषु वक्ष्यमाणोऽपि दृष्टान्तः साध्यसाधनधर्मयोः प्रतिबन्धग्रहणस्थानमिति पृथगिहोपदिश्यते। तावदेव ह्यन्वयव्यतिरेकयुक्तोऽयं स्खलति, यावन्न[4] स्पष्टदृष्टान्तावष्टम्भः। उक्तं च—"तावदेव चलत्यर्थो[5] मन्तुर्विषयमागतः। [6]यावन्नोत्तम्भनेनैव दृष्टान्तेनाव[7]-लम्ब्यते ॥१॥"

§ ६४.' सिद्धान्तस्तु' सिद्धान्तः पुनश्चतुर्भेदो भवेत्। कुत इत्याह—सर्वतन्त्रादिभेदतः सर्वतन्त्रा-दिभेदेन। प्रथमः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, आदिशब्दात्प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगम[8]-

---

से करणीय अर्थमें प्रवृत्ति की जाती है उसका नाम प्रयोजन है। यद्यपि इसका प्रमेयमें अन्तर्भाव हो जाता है फिर भी प्रमाण आदिका कथन तथा प्रवृत्ति प्रयोजन मूलक होती है अतः प्रमेयसे इसका पृथक् निर्देश किया गया है॥ २५॥

§ ६२. अब दृष्टान्त और सिद्धान्तका स्वरूप कहते हैं—

जिसमें किसीको विवाद न हो ऐसा सबकी सम्प्रतिपत्तिका विषयभूत अर्थ दृष्टान्त होता है। सर्वतन्त्र आदिके भेदसे सिद्धान्त चार प्रकारका है॥ २६॥

§ ६३. दृष्ट अर्थात् देखा गया है अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ उसे दृष्टान्त कहते हैं। जिसके कहनेपर वादी तथा प्रतिवादी किसीको भी विवाद अर्थात् विरुद्धवाद न हो, जो दोनोंको समान-रूपसे सम्मत हो वह प्रसिद्ध निर्विवाद पदार्थ दृष्टान्त है। अनुमान आदिमें ऐसे ही दृष्टान्तका कथन करना चाहिए। यद्यपि आगे कहे जानेवाले पंचावयवोंमें दृष्टान्त अन्तर्भूत है फिर भी दृष्टान्त साध्य और साधनके प्रतिबन्ध—अविनाभाव सम्बन्धके ग्रहण करनेका स्थान है इसलिए उसका पृथक् निर्देश किया गया है। अन्वय व्याप्ति या व्यतिरेक व्याप्तिमें तभी तक शंका रहती है जब-तक कि स्पष्ट रूपसे प्रसिद्ध दृष्टान्तका उपन्यास नहीं किया जाता। कहा भी है—

"विचारककी बुद्धिमें आया हुआ पदार्थ तभी तक चलायमान—सन्दिग्ध रहता है जब तक उसे दृष्टान्तरूपी साधनेवाले स्तम्भका सहारा नहीं मिलता।"

§ ६४. 'यह ऐसा ही है' इस रूपसे निश्चित अर्थको सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त सर्वतन्त्र आदिके भेदसे चार प्रकारका माना जाता है। १. सर्वतन्त्र सिद्धान्त, २. प्रतितन्त्र सिद्धान्त, ३. अधिकरण सिद्धान्त, ४. अभ्युपगम सिद्धान्त। तन्त्रका अर्थ शास्त्र है। अपने शास्त्रमें माने गये

---

१. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।" न्यायसू० १।१।२५। २. "अयमेवमिति प्रमाणमूलाभ्युपगमः विषयीकृतः सामान्यविशेषयानर्थः सिद्धान्तः।"—न्यायक० पृ० ९। ३. "सर्व-तन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्।"—न्यायसू० १।१।२७। ४. —न्तास्य दृष्टा-न्तोऽवष्ट—भ० २। ५. —त्यर्थमन्तर्विष—भ० २। ६. यावन्नोत्तम्भनेनैव भ० २। ७. —वलंबति—भ० २। ८. — पगतस्त्व भ० २।

सिद्धान्तश्च वेदितव्यः । इह तन्त्रशब्देन शास्त्रं विज्ञेयम्[1] । तत्र[2] सर्वतन्त्राविरुद्धः स्वतन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः सर्वेषां शास्त्राणां संप्रतिपत्तिविषयः, यथा प्रमाणानि प्रमेयसाधनानि,घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादयस्तदर्थाः, प्रमाणेन प्रमेयस्य परिच्छेद इत्यादि । [3]समानतन्त्रप्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः,यथा भौतिकानीन्द्रियाणि [4]कौणानां [5]काणादानां च, अभौतिकानि सांख्यानाम् । तथा सांख्यानां[6] सर्वं सदेवोत्पद्यते न पुनरसत्, नैयायिकादीनां सर्वमसदेवोत्पद्यते सामग्रीवशात्, जैनानां तु सदसदुत्पद्यत इत्यादि । यस्य[7] सिद्धावन्यस्य [8]प्रक्रियमाणस्य प्रतिज्ञार्थस्य प्रसङ्गेनाधिकस्य सिद्धिः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः,[9] यथा कार्यत्वादेः क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणसामान्यसिद्धावन्यस्य तत्कारणसमर्थस्य नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नाधारस्य तत्कारणस्य सिद्धिरिति । प्रौढवादिभिः[9]

ऐसे अर्थ, जो सभी दर्शनोंके शास्त्रोंमें साधारण रूपसे स्वीकृत हों वे सर्वतन्त्र सिद्धान्त हैं। तात्पर्य यह कि जिनके माननेमें किसीको भी विवाद न हो, जैसे प्रमाणोंसे प्रमेयकी सिद्धि होती है, प्राण आदि इन्द्रियाँ हैं; गन्ध आदि इन्द्रियोंके अर्थ हैं, प्रमाणसे प्रमेयका परिच्छेद होता है। इत्यादि। जो पदार्थ समान-शास्त्रोंमें स्वीकृत हो तथा परशास्त्रोंमें असिद्ध हो उसे प्रतितन्त्र सिद्धान्त अर्थात् अपने-अपने शास्त्रमें स्वीकृत पदार्थ कहते हैं। जैसे 'इन्द्रियाँ पृथिव्यादि भूतोंसे उत्पन्न हैं, भौतिक हैं' यह नैयायिक तथा वैशेषिकोंका सिद्धान्त है। 'इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं किन्तु आहंकारिक हैं' यह सांख्योंका सिद्धान्त है। सांख्योंका सिद्धान्त है कि—कारणमें कार्यका सद्भाव रहता है अतः कारणमें सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। नैयायिकादि कारणमें कार्यका सद्भाव नहीं मानते। इनके मतसे सामग्री मिलनेपर कारणमें असत् कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैन लोग कारणमें कार्यको द्रव्यरूपसे सत् तथा पर्यायरूपसे असत् मानते हैं। इनके मतसे कारणमें कथंचित् सदसत् कार्यकी उत्पत्ति होती है। इत्यादि तत्तत् शास्त्रोंके अपने-अपने सिद्धान्त प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहे जाते हैं। जिस एक सिद्धान्तकी सिद्धि होनेपर प्रसंगसे तत्सम्बन्धी अन्य पदार्थोंकी सिद्धि हो जाय उसे अधिकरण-सिद्धान्त—अन्य सिद्धान्तोंकी सिद्धिका आधारभूत सिद्धान्त कहते हैं। जैसे कार्यत्व हेतुसे पृथिवी आदिको सामान्य रूपसे ईश्वरकर्तृक सिद्ध होने पर उस ईश्वरमें नित्य ज्ञान नित्य इच्छा तथा नित्य प्रयत्नकी सिद्धि होना अधिकरण सिद्धान्त है। क्योंकि ईश्वरमें नित्यज्ञान आदि माने विना पृथिव्यादि कार्योंके उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य ही सिद्ध नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि जिस मूल सिद्धान्तके सिद्ध होने पर तदविनाभावी अन्य छोटे-मोटे अनेक सिद्धान्त फलित हो जाते हैं—अपने हो आप सिद्ध घोषित हो जाते हैं—उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं। प्रौढ़वादी अपनी बुद्धि

---

१. – यं सर्व – भ० २। २. "सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। ॥२८॥ यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि। गन्धादय इन्द्रियार्थाः। पृथिव्यादीनि भूतानि। प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति।" —न्यायमा० १।१।२८। ३. "समानतन्त्रासिद्धः परतन्त्रसिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः। ॥२९॥ यथा – नाऽसत आत्मलाभः। न सत आत्महानम्। निरतिशयाश्चेतनाः। देहेन्द्रियमनस्सु विषयेषु तत्कारणे च विशेष इति सांख्यानाम्। पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः। कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च। स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः। असदुत्पद्यते उत्पन्नं विरुध्यते इति योगानाम्॥"—न्यायमा० १।१।२९। ४. कणादीनां च, प० १, २। काणादानां च भ० १, २। ५. – नां सदेव प० १, २। ६. सिद्धान्तस्य प्र – आ०। ७. प्रतिक्रिय – भ० २। ८. "यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः। ॥३०॥ यस्यार्थस्य सिद्धावन्योऽर्थो अनुषज्यन्ते = न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यति तेऽर्था यदधिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः यथा—देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिभिः, अन्यानुषङ्गिणोऽर्थाः—इन्द्रियनानात्वं नियतविषयाणीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि। गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणम्। अनियतविषयाश्चेतना इति, पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति। न तैर्विना सोऽर्थः संभवतीति॥"—न्यायमा० १।१।३०। ९. स्वध्यति – भ० २।

स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया यत्किञ्चिदस्तत्त्वपरीक्षितमभ्युपगम्य विशेषः परीक्ष्यते, सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः,[1] यथास्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽनित्यो वेति शब्दस्य द्रव्यत्वमनिष्टमभ्युपगम्य नित्यानित्यत्वविशेषः परीक्ष्यते एवं चतुर्विधः सिद्धान्तः ॥२६॥

§ ६५. अवयवावितत्त्वत्रयस्वरूपं प्ररूपयति ।

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयो निगमस्तथा ।
अवयवाः पञ्च तर्कः संदेहोपरमे भवेत् ॥ २७ ॥
यथा काकादिसंपातात्स्थाणुना भाव्यमत्र हि ।
ऊर्ध्वं संदेहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः ॥२८॥ युग्मम् ॥

§ ६६. व्याख्या—[2]अवयवाः पञ्च, के पञ्चेत्याह प्रतिज्ञा हेतुर्दृष्टान्त उपनयो निगमशब्देन निगमनं चेति । तत्र प्रतिज्ञा[3] पक्षः धर्मधर्मिवचनं, कृशानुमानयं सानुमानित्यादि । [4]हेतुः साधनं [5]लिङ्गवचनं, धूमवत्त्वादित्यादि । [6]दृष्टान्त उदाहरणाभिधानं, तद्द्विविधं, [7]अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन च[8] । अन्वयमुखेन यथा, यो यो धूमवान्, स स कृशानुमान्, यथा महानसमित्यादि । व्यति-

का अतिशय-चमत्कार दिखानेकी इच्छासे जिस किसी पदार्थकी परीक्षा किये बिना ही तुष्यतु दुर्जन न्यायसे स्वीकारके विशेषांशकी परीक्षा करते हैं उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं । जैसे—'अच्छा शब्द द्रव्य ही सही, पर वह नित्य है कि अनित्य ?' इस तरह शब्दमें द्रव्यत्वको, जो कि उसे इष्ट नहीं है, परीक्षाके बिना ही स्वीकार करके वह शब्दके नित्यत्व और अनित्यत्व रूप विशेषांशोंकी परीक्षामें प्रवृत्त होता है । इस तरह सिद्धान्त चार प्रकारका होता है ॥ २६ ॥

§ ६५. अब अवयव तर्क तथा निर्णय इन तीन तत्त्वोंका निरूपण करते हैं—

प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव हैं । सन्देहका नाश होने पर तर्क होता है । जैसे कौआ आदिका सन्निधान देखकर 'इसे स्थाणु—ठूँठ होना चाहिए' यह भवितव्यता प्रत्यय है । सन्देह तथा तर्कके अनन्तर जो निश्चय होता है उसे निर्णय कहते हैं ॥२७-२८॥ युग्म ।

§ ६६. प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगम—निगमन ये पाँच अवयव हैं । प्रतिज्ञा-पक्ष, धर्म और धर्मीके समुदायके कथनको प्रतिज्ञा कहते हैं, जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है' । हेतु-साधन, लिंगके वचनका नाम हेतु है, जैसे 'धूमवाला होनेसे या धूम होनेसे । उदाहरण रूप कथनको दृष्टान्त कहते हैं । उदाहरणका कथन अन्वय रूपसे तथा व्यतिरेक रूपसे दो प्रकारका होता है । जो जो धूमवाला है वह वह अग्निवाला है जैसे रसोई घर' यह अन्वयमुख कथन है । 'जो अग्नि-

---

१. "अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः । ३१ । यत्र किंचिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते—अस्तु द्रव्यं शब्दः स तु नित्यो अथानित्यः । इति द्रव्यस्य सतो नित्यतानित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः, स्वबुद्ध्यतिशयविख्यापयिषया परबुद्धयवज्ञानाय प्रवर्तते इति ॥" —न्यायभा० १।१।३१ । २. तत्त्वत्रयं प्र – क० । तत्त्वत्रयरूपं प्र० – प० १, २, भ० १, २ । ३. "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमानान्यवयवाः ।"—न्यायसू० १।१।३२ । ४. "साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ।" —न्यायसू० १।१।३३ । "तत्र साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणो निर्देशः प्रतिज्ञा । यथा नित्यः शब्द इति । एष एव पक्ष उच्यते ।" न्यायक० पृ० ९ । ५. "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ।"—न्यायसू० १।१।३४ । "लिङ्गवचनं हेतुः ।"—न्यायक० पृ० १० । ६. लिङ्गं वह्निर्धूम – भ० २ । ७. "साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ।"—न्यायसू० १।१।३६ । "दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् । दृष्टान्तो द्विविधः । ८. साधर्म्येण वैधर्म्येण च ।"—न्यायक० पृ० ११ । ९. च यथा भ० २ ।

रेकमुखेन यथा, यो यः कृशानुमान्न भवति, स स धूमवान्न भवति, यथा जलमित्यादि । [2]उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनम्, धूमवांश्चायमित्यादि । [3]निगमनं हेतूपदेशेन साध्यधर्मोपसंहरणम्, धूमवत्त्वात्कृशानुमानित्यादि ।

§ ६७. अथ तर्कतत्त्वम् । 'तर्कः सन्देहोपरमे भवेत्' । सम्यग्वस्तुस्वरूपानवबोधे किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संदेहः संशयस्तस्योपरमे ऽपगमे [4]तर्कोऽन्वयधर्मान्वेषणरूपो भवेत् । कथमित्याह—'यथा काकादीत्यादि' यथेत्युपदर्शने काकादिसंपातात् वायसप्रभृतिपक्षिसंपतनादुपलक्षणत्वान्निश्चलत्ववल्मीकारोहणादिस्थाणुधर्मेभ्यश्चात्रारण्यप्रदेशे स्थाणुना कीलकेन भाव्यं भवितव्यम् । हिशब्दोऽत्र निश्चयोत्प्रेक्षणार्थः । संभवति हि अस्मिन् मानवस्यासंभवात्स्थाणुधर्माणामेव दर्शनाच्च स्थाणुरेवात्र घटत इति । तदुक्तम्—"आरण्यमेतत्सविलास्तमागतो न चाधुना संभवतीह मानवः । ध्रुवं तदेतेन खगादिभाजा, भाव्यं स्मरारातिसमाननाम्ना ॥१॥" [5]इत्येष तर्कः ।

§ ६८. अथ निर्णयतत्त्वमाह—'ऊर्ध्वमित्यादि' पूर्वोक्तस्वरूपाभ्यां संदेहतर्काभ्यामूर्ध्वमनन्तरं यः प्रत्ययः स्थाणुरेवायं पुरुष एव वेति प्रतीतिः स निर्णयो [6]निश्चयो मतोऽभीष्टः । यत्-

---

वाला नहीं है वह धूमवाला भी नहीं है जैसे जल' यह व्यतिरेकात्मक कथन है । हेतुका उपसंहार करनेवाले वचन उपनय कहलाते हैं, जैसे 'यह भी धूमवाला है ।' हेतुका कथन करनेके अनन्तर साध्य धर्मके उपसंहार—दुहरानेको निगमन कहते हैं, जैसे 'चूँकि यह भी धूमवाला है अतः अग्निवाला है ।'

§ ६७. वस्तुके यथार्थ स्वरूपका बोध न होनेसे 'यह स्थाणु—ठूंठ है अथवा पुरुष ?' यह सन्देह होता है । जब यह सन्देह बहुत कुछ शान्त हो जाता है तब ठूंठमें रहनेवाले अन्वयरूप धर्मोंको खोजनेवाले संभावनात्मक तर्कका उदय होता है । जैसे—उसपर कौए आदिको बैठा देखकर अर्थात् कौआ चिड़िया आदि पक्षियोंका उसपर बैठना, उसके आस-पास उड़ना, उसका निश्चल—बिना हिले-डुले जैसेका तैसा स्थिर रहना, उसपर लताओंका लिपटना इत्यादि स्थाणुगत धर्मोंको देखकर 'इस जंगलमें ऐसा ठूंठ ही हो सकता है, इसे ठूंठ अवश्य ही होना चाहिए' ऐसा भवितव्यता प्रत्ययरूप तर्क होता है । 'हि' शब्द निश्चयकी ओर झुकनेका संकेत करता है—'इसे अवश्य ही, स्थाणु होना चाहिए' । इस समय इस निर्जन वनमें मनुष्यकी सम्भावना तो है ही नहीं, तथा स्थाणुके धर्म ही इसमें पाये जाते हैं अतः यह स्थाणु ही हो सकता है, यहाँ स्थाणुकी सम्भावना ही अधिक है । कहा भी है—

"यह डरावना जंगल है, सूर्य भी इस समय अस्ताचल पर पहुँच चुका है, अन्धेरा हो चला है, इसलिए यहाँ इस समय मनुष्यकी सम्भावना तो है नहीं । फिर, इसके ऊपर पक्षी आकर निःशंक भावसे बैठे हुए चहक रहे हैं, अतः अवश्य ही इसे स्थाणु—ठूंठ होना चाहिए । यह अवश्य ही स्मरारि कामदेवको भस्म करानेवाले शंकरके समान नामवाला पर्यायवाची स्थाणु है । स्थाणु शंकरका पर्यायवाची है ॥ १ ॥"

§ ६ . पूर्वोक्त सन्देह तथा तर्कके अनन्तर 'यह स्थाणु ही है' अथवा 'यह पुरुष ही है' ऐसा जो एककोटिक निश्चय होता है उस अवधारणात्मक प्रत्ययको निर्णय कहते हैं । कहीं-कहीं यत्

---

१. "उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥" —न्यायसू० १।१।३८ । २. "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥"—न्यायसू० १।१।३९ । ३. "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।"—न्यायसू० १।१।४० । "अविज्ञाततत्त्वे धर्मिणि एकतरपक्षानुकूलार्थदर्शनेन तस्मिन् संभावनाप्रत्ययरूप ऊहस्तर्क उच्यते । यथा वाहकेकिप्रदेशे ऊर्ध्वत्वदर्शनात् पुरुषेणानेन भवितव्यमिति संभावनाप्रत्ययः ।"—न्यायक० पृ० १३ । ४. सप्रतिपक्षितं – भ० २ । ५. इत्येवं तर्कः भ० २ । ६. तर्कमाह भ० २ । ७. "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥"—न्यायसू० १।१।४१ ।

वाक्यसंबन्धावनुक्तावपि क्वचन गम्येते, तेनात्र तौ व्याख्यातौ । एवमन्यत्रापि मन्तव्यम् ॥२७-२८॥

§ ६९. अथ वादतत्त्वमाह—

आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् ।
या कथाभ्यासहेतुः स्यादसौ वादः [1]इहोच्यते ॥ २९ ॥

§ ७०. व्याख्या—वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः [2]कथा, सा द्विविधा, वीतराग-कथा विजिगीषुकथा च । यत्र वीतरागेण गुरुणा सह शिष्यस्तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति, साधनं स्वपक्षे, उपालम्भश्च परपक्षेऽनुमानस्य दूषणं, सा वीतरागकथा वादसंज्ञयैवोच्यते । वादं प्रतिपक्षस्थापनाहीनमपि कुर्यात् । प्रश्नद्वारेणैव यत्र विजिगीषुर्जिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामो जयपराजयार्थं प्रवर्त्तते, वीतरागो वा परानुग्रहार्थं ज्ञानाङ्कुरसंरक्षणार्थं च प्रवर्तते, सा चतुरङ्गा वादिप्रतिवादिसभापतिप्राश्निकाङ्गा विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासंज्ञोक्ता[3] । तथा चोक्तम्—"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं [4]कण्टकशाखावरणवत् ।" [न्यायसू०

और तत् सर्वनामका यद्यपि कथन नहीं होता फिर भी उनका प्रकरणसे अन्वय हो जाता है । इसी-लिए यहाँ यत् और तत् का अनुगम करके व्याख्यान किया गया है ॥ २८-२८ ॥

§ ६९. अब वाद तत्त्वका कथन करते हैं—

शास्त्रार्थका अभ्यास करनेके लिए अथवा तत्त्वका अभ्यास करनेके लिए गुरु और शिष्य पक्ष प्रतिपक्ष लेकर जो कथा चर्चा वार्ता करते हैं उसे वाद कहते हैं ॥ २९ ॥

§ ७०. वादी तथा प्रतिवादीके द्वारा जिसमें पक्ष और प्रतिपक्षका ग्रहण किया जाय उसे कथा कहते हैं । कथा दो प्रकारकी है—१ वीतराग कथा, २ विजिगीषु कथा । जब वीतराग अर्थात् जय-पराजयकी इच्छा न रखनेवाले गुरुके साथ तत्त्व-निर्णयके लिए शिष्य अपने पक्षका साधन तथा प्रतिपक्षका उपालम्भ—खण्डन करता है तब वह वचनव्यापार वीतराग कथा कहलाता है । इस वीतराग कथाका ही नाम वाद है । इस वादमें प्रतिपक्षका स्थापन कोई आवश्यक नहीं है । एक ही पक्षमें शंका-समाधान करके तत्त्व-निर्णय किया जा सकता है । जहाँ एक जिगीषु-जयकी इच्छा रखनेवाला—दूसरे विजिगीषु—विशेषरूपसे सवागुनी जीतनेकी इच्छा रखनेवालेके साथ कोई शर्त लगाकर अर्थलाभके लिए अथवा ख्यातिकी इच्छासे जय-पराजयके लिए शास्त्रार्थ करता है, वह विजिगीषु कथा है । एक वीतराग व्यक्ति भी किसी वैतण्डिकके साथ तत्त्व-ज्ञानरूपी अंकुर के संरक्षणके लिए तथा परोपकारार्थ विजिगीषु कथामें प्रवृत्त होता है । इस विजिगीषु कथा में वादी, प्रतिवादी, सभापति तथा प्राश्निक ये चार अंग होते हैं । अतः यह चतुरंगवादके नामसे ख्यात है । इसी विजिगीषु कथाको जल्प और वितण्डा भी कहते हैं । कहा भी है—

"जैसे कि छोटे अंकुरोंकी रक्षाके लिए काँटोंकी बारी लगायी जाती है, उसी तरह तत्त्वज्ञान-की सम्यक् प्रकारसे रक्षा करनेके लिए जल्प और वितण्डा नामक कथाएँ होती हैं ।" यथोक्तोपपन्न-

१. "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥" —न्यायसू० १।२।१ । २. "वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा । सा द्विविधा । वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति । यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञयोच्यते । तं प्रतिपक्षहीनमपि वा कुर्यात् प्रयोजनाभिसन्धेन । यथा शिष्यो गुरुणा सह प्रश्नद्वारेणैवेति ।"—न्यायसा० पृ० १५ । ३. "विजिगीषुर्विजिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामो जयपराजयार्थं प्रवर्त्तते सा विजिगीषुकथा । वीतरागो वा परानुग्रहार्थं ज्ञानाङ्कु-रसंरक्षणार्थं च प्रवर्त्तते सा चतुरङ्गा । वादिप्रतिवादिसभापतिप्राश्निकाङ्गा । विजिगीषुकथा जल्पवितण्डा-संज्ञोक्ता ।"—न्यायसा० पृ० १६ । ४. 'कण्टकशाखापरिचरणवत् इति प्रत्यन्तरे' – आ० टि० । कण्टकशाखापरिचरणवत् क०, प० १, २, भ० १, २ ।

४।२।५०] इति । "यथोक्तलक्षणोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।" [न्यायसू० १।२।२, ३] इति । **वादजल्पवितण्डानां व्यक्तिः ।**

§ ७१. अथ प्रकृतं प्रस्तुमः आचार्योऽध्यापको गुरुः, शिष्योऽध्येता विनेयः; तयोराचार्यशिष्ययोः 'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्' पक्षः पूर्वपक्षः प्रतिज्ञादिसंग्रहः, प्रतिपक्ष उत्तरपक्षः पूर्वपक्षप्रतिपन्थी पक्ष इत्यर्थः, तयोः परिग्रहात्स्वीकारात् अभ्यासस्य हेतुरभ्यासकारणम् या कथा प्रामाणिकी वार्ता असौ कथा वाद उदाहृतः कीर्तितः । आचार्यः पूर्वपक्षं स्वीकृत्याचष्टे शिष्यश्चोत्तरपक्षमुररीकृत्य पूर्वपक्षं [illegible] निग्रहकलक्षणजयपराजयच्छलजात्याद्यनपेक्षतयाभ्यासार्थं यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः, स वादो विज्ञेयः ॥ २९ ॥

§ ७२. अथ जल्पवितण्डे विवृणोति—

विजिगीषुकथा[1] या तु छलजात्यादिदूषणा ।
स जल्पः[2] सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षवर्जिता ॥३०॥

वादके लक्षणमें कहे गये 'प्रमाण और तर्कसे साधन और दूषण होता है, सिद्धान्तसे अविरुद्ध, पंचावयवसे युक्त, तथा पक्ष और प्रतिपक्षका जिसमें परिग्रह किया जाता है' इन विशेषणोंसे जो सहित हो, तथा जिसमें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुपायोंसे भी स्वपक्षसाधन तथा परपक्ष दूषण किया जाता हो उसे जल्प कहते हैं। जिस जल्पमें प्रतिपक्ष—(प्रतिवादीके पक्षकी अपेक्षा वादीका पक्ष प्रतिपक्ष—) अर्थात् अपने पक्षका स्थापन न करके केवल प्रतिवादीका खण्डन ही खण्डन किया जाता है, उस जल्पको वितण्डा कहते हैं। यह वाद, जल्प तथा वितण्डाका स्पष्ट स्वरूप है।

§ ७१. अब प्रकृत श्लोकका व्याख्यान करते हैं—आचार्य-अध्यापक गुरु, शिष्य-अध्ययन करनेवाला विनीत विद्यार्थी. ये दोनों जब पक्ष अर्थात् पूर्वपक्ष जिसमें अपने सिद्धान्तके स्थापनकी प्रतिज्ञा आदि होती है, और प्रतिपक्ष अर्थात् उत्तरपक्ष, पूर्वपक्षका खण्डन करनेवाला पक्ष, को स्वीकार करके अभ्यास करनेके लिए जो कथा–प्रामाणिक चर्चा करते हैं, वह कथा वाद कही जाती है। आचार्य किसी पूर्वपक्षको लेकर उसका स्थापन करता है, शिष्य उत्तरपक्ष लेकर अपनी तर्क शक्तिको बढ़ानेके लिए अपनी समझके अनुसार उसका खण्डन करता है। इस तरह गुरु और शिष्य पक्ष और प्रतिपक्ष रूपसे अभ्यास करनेके लिए जो गोष्ठी–तत्त्व चर्चा करते हैं वह वाद है। इस तत्त्वचर्चामें जय-पराजयकी व्यवस्था देनेवाले सभापतिको, येन केन प्रकारेण जय-पराजय प्राप्तिके उपायभूत छल जाति आदि असत्प्रयोगोंकी तथा जय और पराजयकी कोई अपेक्षा नहीं होती है। यह तो गुरु-शिष्यकी तत्त्वज्ञानगोष्ठी है।

§ ७२. अब जल्प और वितण्डाका व्याख्यान करते हैं—

जिसमें छल जाति आदिसे परपक्षमें दूषण दिये जाते हों वह विजिगीषुकथा जल्प है। जिस जल्पमें वादी अपना पक्ष स्थापित न कर केवल परपक्षमें दूषण ही दूषण देता है वह वितण्डा है ॥३०॥

---

१. –कथायां तु छलजात्यादिदूषणाभ्यासः स प्र० २ । २. "स एव पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो विजिगीषया प्रयुक्तः छलजातिनिग्रहस्थानप्रयोगबहुलो जल्पः । स्वपक्षसाधनोपन्यासहीनो जल्प एव वितण्डा भवति ।" —न्यायभा० पृ० १३ ।

§ ७३. व्याख्या—या तु या पुनर्विजिगीषुकथा विजयाभिलाषिण्यौ वादिप्रतिवादिभ्यां प्रारब्धा प्रमाणगोष्ठी, कथंभूता, छलानि जातयश्च वक्ष्यमाणलक्षणानि, आदिशब्दान्निग्रहस्थानादिपरिग्रहः, एतैः कृत्वा दूषणं परोपन्यस्तपक्षादेर्दोषोत्पादनं यस्यां सा छलजात्यादिदूषणा, स विजिगीषु-कथारूपो जल्पः। 'उदाहृत' इति पूर्वश्लोकात्संबन्धनीयम्।

§ ७४. ननु छलजात्यादिभिः परपक्षादेर्दूषणोत्पादनं सतां कर्तुं न युक्तमिति चेत्, न। सन्मार्ग-प्रतिपत्तिनिमित्तं तस्याप्यनुज्ञातत्वात्[1]। अनुज्ञातं हि स्वपक्षस्थापनेन सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्ततया छलजात्याद्युपन्यासैरपि परप्रयोगस्य दूषणोत्पादनम्। तथा चोक्तम्—

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलवावाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोप मण्डिताः ॥१॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्ग तत्प्रतारितः।
[3]मार्गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥२॥" [न्यायम० प्रमा० पृ० ११]

इति। संकटे प्रस्तावे च सति छलादिभिरपि स्वपक्षस्थापनमनुमतम्। [4]परविजये हि धर्मध्वंसाविवोषसंभवः, तस्माद्वरं छलादिभिरपि जयः।

---

§ ७३. जो कथा विजयके अभिलाषी वादी तथा प्रतिवादी द्वारा प्रारम्भ की जाती है, तथा जिसमें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुपायोंसे प्रतिपक्षमें दूषणोंका उद्भावन किया जाता हो वह प्रमाण गोष्ठी जल्प कही जाती है इस श्लोकमें 'उदाहृतः' क्रियाका पूर्व श्लोकमें अनुवर्तन कर लेना चाहिए।

§ ७४. शंका—सभ्य सत्पुरुषोंको छल, जाति तथा निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरोंसे परपक्षमें दूषण देना तो किसी भी तरह उचित नहीं मालूम होता।

उत्तर—आपका कहना ठीक है, परन्तु सन्मार्गकी प्रतिपत्ति या रक्षा करनेके लिए छल आदिका भी अपवाद रूपसे आश्रय करना ही पड़ता है। स्वपक्षके स्थापनके द्वारा सन्मार्गकी प्रति-पत्तिके लिए छल, जाति आदिका प्रयोग करके भी परपक्षका खण्डन करनेकी शास्त्रकारोंने अनुज्ञा दी है। कहा भी है—

"दुरभिप्रायसे सीखे गये छोटे-मोटे कुतर्कोंके बलपर अत्यन्त बकवाद करनेवाले, अथवा दुःशिक्षित होनेके कारण कुतर्कजालकी कल्पना करके जो अत्यन्त बकवास करते हैं, तथा जो वितण्डा-निरर्थक वाग्जालके द्वारा परपक्षको फटाटोपसे धूर्ततापूर्वक खण्डन करनेमें कुशल हैं, क्या ऐसे वाचाल कुवादी 'शठे शाठ्यम्' वाली नीतिके बिना भी जीते जा सकते हैं? इनके जीतनेके लिए तो छलादि उपायोंका आलम्बन करना ही पड़ेगा। यदि इन वाचाट कुवादियोंसे सन्मार्गकी रक्षा न की जायगी; तब लोकमें धर्मकी हँसी होगी। जनता तो गतानुगतिक होती है उसमें विवेक कम होता है, वह तो प्रवादका ही अनुसरण करती है। अतः 'मूढ़ जनता कुवादियोंकी वाचालतासे बहककर कुमार्गपर न जावे' इसी सन्मार्ग रक्षणके उद्देश्यसे दयालु मुनिने छल आदि उपायोंका भी उपदेश दिया है ॥१–२॥ इस तरह संकटके समय तथा प्रतिवादीके द्वारा शास्त्रार्थका प्रस्ताव उप-स्थित किये जाने पर छल आदिके द्वारा भी परपक्षका खण्डन कर स्वपक्ष स्थापनको अनुमति है। यदि प्रतिवादी अपनी वाचाटताके कारण जीत जाता है, तब धर्मका नाश एवं सन्मार्गका अपवाद आदि अवश्यंभावी हैं अतः यह उचित है कि छल आदिसे भी प्रतिवादीको जीतकर धर्मको अपवाद से बचाकर सन्मार्गकी संरक्षा की जाय।

---

१. "मुमुक्षुरपि क्वचित्प्रसङ्गे तदुपयोगात्।"—न्यायम० प्रमे० पृ० १५१। २. –पण्डिताः भ० २। ३. मार्गादि आ०, क०। ४. च प्रतिछलादि भ० २। ५. हि न धर्म–आ०, क०, प० १, २, भ० १।

§ ७५. 'सा वितण्डा त्वित्यादि' तुशब्दोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमश्च । सा तु सैव विजिगीषुकथैव प्रतिपक्षविवर्जिता वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिपन्थी प्रतिवाद्युपन्यासः प्रतिपक्षस्तेन विवर्जिता रहिता प्रतिपक्षसाधनहीनेत्यर्थः वितण्डोदाहृता । [1]वैतण्डिको हि स्वाभ्युपगतपक्षमस्थापयन् यत्किंचिद्वादेन परोक्तमेव दूषयतीत्यर्थः ॥३०॥

§ ७६. अथ हेत्वाभासादितत्त्वत्रयस्वरूपं प्रकटयति—

[2]हेत्वाभासा असिद्धाद्याश्छलं क्रूपो नवोदकः ।
जातयो दूषणाभासाः पक्षादिर्दूष्यते न यैः ॥३१॥

§ ७७.—असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पञ्च हेत्वाभासाः । तत्र पक्षधर्मत्वं यस्य नास्ति, सोऽसिद्धः[3], अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति १ । विपक्षे सन्सपक्षे चासन् विरुद्धः,[4] नित्यः शब्दः कार्यत्वादिति २ । पक्षादित्रयवृत्तिरनैकान्तिकः[5] अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वा-

§ ७५. तु शब्द निश्चयार्थक है । यह तुशब्द भिन्न क्रमवाला है । अतः प्रतिपक्षसे रहित वह जल्प ही वितण्डा कहलाता है । वादीके द्वारा स्थापित पक्षकी अपेक्षा प्रतिवादीका पक्ष प्रतिपक्ष कहलाता है । वितण्डामें प्रतिवादी प्रतिपक्षका अर्थात् अपने पक्षका स्थापन नहीं करता, वह तो वैतण्डिक बनकर जिस किसी भी तरह वादीका मुँह बन्द करनेमें, मात्र उसके पक्षका खण्डन ही खण्डन करनेमें झुका रहता है । तात्पर्य यह कि अपने पक्षका स्थापन न करके मात्र परपक्ष खण्डनको वितण्डा कहते हैं ॥ ३० ॥

§ ७६. अब हेत्वाभास छल और जातिका स्वरूप कहते हैं—

असिद्ध आदि हेत्वाभास हैं । 'इस कुएंमें नवोदक है' यहाँ नूतन जलके अभिप्रायसे प्रयुक्त नवोदक शब्दका 'नव प्रकारका जल' अर्थ करना छल है । जैसे जातियाँ दूषणाभास हैं, इनके द्वारा पक्ष आदिका वस्तुतः खण्डन नहीं होता । ३१ ॥

§ ७७. असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट तथा प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास अर्थात् हेतुके लक्षणसे रहित होकर हेतुकी तरह भासमान होनेवाले हैं । जिस हेतुमें पक्षधर्मत्व न पाया जाय अर्थात् जो हेतु पक्षमें न रहे वह असिद्ध है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह चाक्षुष–चक्षुरिन्द्रियके द्वारा दिखाई देता है । शब्द श्रोत्रग्राह्य होता है अतः चाक्षुषत्व हेतु शब्दरूप पक्षमें न रहनेके कारण असिद्ध है । जो हेतु सपक्षमें तो न रहता हो और विपक्षमें रहता हो वह विरुद्ध है । जैसे शब्द नित्य है क्योंकि वह कार्य है । कार्यत्व हेतु अनित्यरूप विपक्षमें तो रहता है पर किसी भी नित्य सपक्षमें नहीं । पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष तीनोंमें रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक है ।

१. –धनाहीना– प० १, २, भ० १, २, क० । २. "तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति । परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्तते इति ।"—न्यायमा० १।२।३ । ३. "सव्यभिचारविरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-कालातीता हेत्वाभासाः ।"—न्यायसू० १।२।४ । "अहेतवो हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः । हेतोः पञ्च लक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि । तेषामेकैकापाये पञ्च हेत्वाभासा भवन्ति । असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः ।"—न्यायक० पृ० १४ । न्यायसा० पृ० ७ । ४ "तत्र पक्षधर्मत्वं यस्य नास्ति सोऽसिद्धः । यथानित्यः शब्दः चाक्षुषत्वादिति ।" —न्यायक० पृ० १४ । "तत्रानिश्चितपक्षावृत्तिरसिद्धः ।"—न्यायसा० पृ० ७ । ५. "पक्षविपक्षयोरेव वर्त्तमानो हेतुर्विरुद्धः ।" —न्यायसा० पृ० ७। "सपक्षे सत्त्वं यस्य नास्ति विपक्षे च वृत्तिरस्ति स साध्यविपर्यसाधनत्वाद् विरुद्धो भवति । यथा अश्वोऽयं विषाणित्वादिति ।"—न्यायक० पृ० १४ । ६. –त्वात् प–भ० २ । ७. "पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः ।—"न्यायसा० पृ० ७ । "विपक्षादपरिच्युतः पक्षसपक्षयोर्वर्तमानो हेतुः सव्यभिचारित्वादनैकान्तिको भवति ।"—न्यायक० पृ० १४ ।

दिति ३। हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमयस्तमतीत्यापदिष्टः प्रयुक्तः प्रत्यक्षागमविरुद्धे पक्षे अर्थसमयः [1]इत्यर्थः, हेतुः कालात्ययापदिष्टः,[1] अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात्, ब्राह्मणेन सुरा पेया [2]द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवदिति ४। स्वपक्षसिद्धाविव परपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः[3], प्रकरणे पक्षे प्रतिपक्षे च तुल्य इत्यर्थः। अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्, सपक्षवदित्येकेनोक्ते द्वितीयः प्राह यद्येनेन प्रकारेणानित्यत्वं साध्यते, तर्हि नित्यतासिद्धिरप्यस्तु, यथा नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् सपक्षवदिति, अथवानित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटवत्, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेराकाशवदिति। न चैतेष्वन्यतरदपि साधनं बलीयो यद्वितरस्य बाधकमुच्यते। निग्रहस्थानान्तर्गता अप्यमी हेत्वाभासा [4]न्यायप्रविवेकं [5]कुर्वन्तो वादे वस्तुशुद्धिं विदधतीति [6]पृथगेवोच्यन्ते।

§ ७८. "छलं कूपो नवोदकः" इति। परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतकल्पनया वचनविघात-

---

जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है। प्रमेयत्व हेतु नित्य या अनित्य सभी पदार्थोंमें रहता है। हेतुके प्रयोगका समय अनुकूल तो वह है जब वह हेतु प्रत्यक्ष और आगमके द्वारा अबाधित पक्षमें प्रयुक्त हो। पर जब वह हेतु प्रत्यक्ष और आगमके द्वारा अबाधित पक्षमें प्रयुक्त होता है तब वह अपने कालके बीत जानेपर प्रयुक्त होनेसे कालात्ययापदिष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष और आगमसे बाधित पक्षमें प्रयुक्त होनेवाला हेतु कालात्ययापदिष्ट है। जैसे 'अग्नि ठण्डी है क्योंकि वह कृतक अर्थात् कार्य है' यहाँ कृतकत्व हेतु प्रत्यक्षबाधित पक्षमें प्रयुक्त हुआ है। तथा 'ब्राह्मणको मदिरा पीनी चाहिए' 'क्योंकि वह पतला द्रव्य है जैसे कि दूध' यह हेतु आगमबाधित पक्षमें प्रयुक्त हुआ है अतः दोनों कालात्ययापदिष्ट हैं। स्वपक्षसिद्धिकी तरह परपक्षकी सिद्धिमें (स्वपक्षका अभाव सिद्ध करनेमें) भी समान बलवाले त्रिरूप हेतुकी उपस्थिति होनेपर प्रथमहेतु प्रकरणसम-समान प्रक्रियावाला हो जाता है। प्रकरण अर्थात् पक्ष और प्रतिपक्ष दोनोंमें सम अर्थात् तुल्य बलवाला हेतु। जैसे, एकवादीने 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह अनित्यपक्ष और अनित्यसपक्षमें-से किसी एकमें शामिल है जैसे कि सपक्ष।' इस हेतुका प्रयोग किया। तब प्रतिवादीसे न रहा गया। वह बोल ही उठा कि—यदि इस प्रणालीसे तुम शब्दको अनित्य सिद्ध करते हो तब ठीक इसी तरह शब्दमें नित्यताकी भी सिद्धि होनी चाहिए। यथा 'शब्द नित्य है' क्योंकि वह नित्य पक्ष तथा अनित्य ही सपक्ष, दोमें से किसी एक रूप है, जैसे कि सपक्ष।' अथवा, एक वादीने कहा कि—'शब्द नित्य है क्योंकि उसमें नित्यत्व धर्म नहीं पाया जाता जैसे कि घटमें।' तब प्रतिवादी कहता है कि—'शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें अनित्यत्व धर्म नहीं पाया जाता जैसे कि आकाशमें' इस तरह समान बलवाले प्रतिपक्षी हेतुके मिलनेपर पहला हेतु प्रकरणसम हो जाता है। इन दोनों हेतुओंमें कोई एक साधन दूसरेसे बलवान् नहीं है जिससे वह दूसरेका बाधक हो सके। यद्यपि हेत्वाभास निग्रहस्थानोंमें अन्तर्भूत हैं फिर भी इनके द्वारा वादमें न्यायका विवेक होकर वस्तु शुद्धि होती है, अतः इनका पृथक् निरूपण किया गया है।

§ ७८. 'इस कुँएमें नवोदक अर्थात् नया जल है' यह छल है। यहाँ नवोदक शब्द नये पानीके अभिप्रायसे कहा गया है, परन्तु उसका नौ प्रकारके जल यह अर्थ करना छल है। वादीके

---

१. "प्रत्यक्षागमविरुद्धः कालात्ययापदिष्टः। अबाधितपरपक्षपरिग्रही हेतुप्रयोगकालः तमतीत्यासानुपदिष्ट इति। अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात् घटवदिति प्रत्यक्षविरुद्धः। ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इत्यागमविरुद्धः।"—न्यायक० पृ० १५। "प्रमाणबाधिते पक्षे वर्त्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः।" न्यायसा० पृ० ७। २. द्रवत्वात् म० २। ३. "स्वपक्षपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः।" न्यायसा० पृ० ७, न्यायक० पृ० १५। ४. न्यायविवेकं आ०, क०। ५. कुर्वतो क०। कुर्वन्ति वादे भ० २। ६. पृथगत्रोच्य—प० १, २, भ० १, २।

छलम्[1]। तत्त्रिविधं[2] वाक्छलं सामान्यछलमुपचारच्छलं च। परोक्तेऽर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। यथा नव्यः कम्बलोऽस्येत्यभिप्रायेण नवकम्बलो माणवक इत्युक्ते छलवाद्याह, कुतोऽस्य नवसंख्याः कम्बला इति ॥१॥

§ ७९. संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम्[4]। यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसंगे कश्चिदुवति संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति। तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वमारोप्य निराकुर्वन्नभिधुक्ते[5]। व्रात्येनानैकान्तिकमेतत्, यदि हि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद्भवति, तदा व्रात्येऽपि सा भवेत्। व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति ॥२॥

द्वारा कहे गये वचनोंमें अपनी कपोलकल्पनासे दूसरा अर्थ कल्पित करके उसके वचनका खण्डन करना छल है। छल तीन प्रकारका है—१ वाक् छल, २ सामान्य छल, ३ उपचार छल। दूसरेके द्वारा कहे गये वचनोंका अर्थ बदलकर भिन्न अर्थकी कल्पना करना वाक्छल है। जैसे 'यह लड़का नव कम्बल लिये है' यहाँ छलवादी, 'नूतन' अर्थमें प्रयोग किये 'नव' शब्दका जान-बूझकर 'नवीन' अर्थकी अपेक्षाकर 'नौ' अर्थ करके कहता है कि—'इसके नौ ९ कम्बल कहाँ हैं?' इस तरह अनेकार्थक शब्दोंका मनमाना अर्थ बदलना वाक्छल है।

§ ७९. सम्भावना मात्रसे कही गयी बातमें आये हुए सामान्यधर्मको अविनाभावी हेतु मानकर उसका निषेध करना सामान्य छल है। सामान्य धर्म अतिप्रसङ्गी अर्थात् विवक्षित विशेष धर्मके अभावमें भी रहनेवाला होता है। यथा, 'अहो! यह ब्राह्मण विद्या और आचरणसे सम्पन्न है' इस तरह विद्या और चारित्रकी बहुलता देखकर सम्भावना मात्रसे ब्राह्मणकी स्तुतिके प्रसंगमें उक्त वाक्य कहा गया है। इसमें वाक्य तो ब्राह्मणत्व जातिसे विशिष्ट व्यक्तिमें विद्या और आचरणकी मात्र सम्भावना की गयी है, ब्राह्मणत्व रूप सामान्य धर्मको विद्या और आचरणके सद्भावमें हेतु नहीं बताया है। परन्तु छलवादी ब्राह्मणत्वरूप अति सामान्य अर्थात् विवक्षित विद्यादि युक्तत्वरूप विशेषके अभावमें रहनेवाले सामान्यको अविनाभावी हेतु मानकर उक्त वाक्यका इस प्रकार खण्डन करता है—'देखो' व्रात्य (-जिस द्विजका संस्कार नहीं हुआ ऐसा असंस्कृत ब्राह्मण–) भी जातिसे ब्राह्मण तो है पर उसमें न तो विद्या ही है और न चारित्र ही। यदि ब्राह्मणमें विद्याचरण सम्पत्ति होती है तो व्रात्यमें भी होनी चाहिए, व्रात्य भी आखिर ब्राह्मण तो है ही।

---

१. "वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्।" —न्यायसू० १।२।१०। "तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्।" —न्यायकलि० पृ० १६। २. तत्त्रिविधम्—वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलं चेति।"—न्यायसू० १।२।१२। ३. "अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। नवकम्बलोऽस्य माणवक इति प्रयोगः। अत्र नवः कम्बलोऽस्य इति वक्तुरभिप्रायः, विग्रहे तु विशेषो न समासे। तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यार्थं नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता इति कल्पयति। कल्पयित्वा च असंभवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बला इति।"—न्यायभा० १।२।१२। ४. "संभवतोऽर्थस्य अतिसामान्ययोगात् असंभूतार्थकल्पना-सामान्यछलम् ॥१३॥ अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इत्युक्ते कश्चिदाह—संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति, अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या असंभूतार्थविकल्पनया क्रियते यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत् संभवति व्रात्येऽपि संभवेत्, व्रात्योऽपि ब्राह्मणः सोऽयस्तु विद्याचरणसंपन्न इति।" —न्यायभा० १।२।१३। ५. –भिसंयुक्ते म० २।

§ ८०. औपचारिके प्रयोगे मुख्यार्थकल्पनया प्रतिषेध उपचारच्छलम्[1]। यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते छलवाद्याह, मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति, न मञ्चास्तेषामचेतनत्वादिति ॥३॥ अथ ग्रन्थकृच्छलं व्याचिख्यासुराद्यस्य वाक्छलस्योदाहरणमाह, 'कूपो नवोदक' इति अत्र नूतनार्थनव-शब्दस्य प्रयोगे कृते छलवादी दूषयति। कुत एक एव कूपो नवसंख्योदक इति। अनेन शेषछलद्वयो-दाहरणे अपि सूचिते द्रष्टव्ये[2] इति।

§ ८१. "जातय" इत्यादि, दूषणाभासा जातयः। [3]अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः। यैः पक्षादिः पक्षहेत्वादिर्न दूष्यत आभासमात्रत्वाच्च दूषयितुं शक्यते, केवलं सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे[4] वा वादिना प्रयुक्ते [5]झटिति [6]तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः। सा च चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन। यथा—साधर्म्य-वैधर्म्य-उत्कर्ष-अपकर्ष-वर्ण्य-अवर्ण्य-विकल्प-साध्य-प्राप्ति-अप्राप्ति-प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्त-अनुत्पत्ति-संशय-प्रकरणहेतु[7]-अर्थापत्ति-अविशेष-उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धि-नित्य-अनित्य कार्यसमाः[8]।

---

§ ८०. किसी वाक्यका उपचारसे अर्थात् लक्षणा या व्यंजनासे प्रयोग करनेपर उसका अर्थ बदलकर, मुख्य अर्थकी कल्पना करके खण्डन करना उपचार छल है। जैसे 'मंच चिल्ला रहे हैं' इस लाक्षणिक प्रयोगमें मुख्य अर्थकी कल्पना करके छलवादी कहता है कि 'मंचपर बैठे हुए पुरुष चिल्ला रहे है, न कि अचेतन मंच।' ग्रन्थकारने छलकी व्याख्या करनेकी इच्छासे आदिके वाक्-छलका ही उदाहरण श्लोकमें दिया है—'कुएँमें नव जल है' यहाँ 'नूतन—ताजा' अर्थमें 'नव' शब्द-का प्रयोग किया गया है, पर छलवादी नव शब्दका '९ नौ' अर्थ कल्पना करके कहता है कि—'एक तो कुआँ है, उसमें नौ प्रकारका जल कहाँसे आयेगा?' ग्रन्थकारने इसीसे शेष छलोंके उदाहरणकी भी सूचना दे ही दी है।

§ ८१. जातियाँ दूषणाभास हैं। ये वास्तविक दूषण न होकर दूषण-जैसी प्रतिभासित होती हैं। इनके द्वारा पक्ष हेतु आदिमें कोई वास्तविक दूषण उद्भावित नहीं किया जाता, हाँ, इनके प्रयोगसे दोषका आभास-जैसा होने लगता है। वादीने किसी सम्यक्हेतु या हेत्वाभासका प्रयोग किया, उसमें तुरन्त ही किसी वास्तविक दोषका भान न होनेपर शीघ्रतासे कुछ हेतु-जैसा मालूम होनेवाला खण्डन कर देना जाति है। यह जाति साधर्म्य वैधर्म्य आदि खण्डनके प्रकारोंकी अपेक्षासे चौबीस प्रकारकी है। साधर्म्यसमा, २ वैधर्म्यसमा, ३ उत्कर्षसमा, ४ अपकर्षसमा, ५ वर्ण्यसमा, ६ अवर्ण्यसमा, ७ विकल्पसमा, ८ साध्यसमा, ९ प्राप्तिसमा, १० अप्राप्तिसमा, ११ प्रसंगसमा, १२ प्रतिदृष्टान्तसमा, १३ अनुत्पत्तिसमा, १४ संशयसमा, १५ प्रकरणसमा, १६ अहेतुसमा, १७ अर्थापत्तिसमा, १८ अविशेषसमा, १९ उपपत्तिसमा, २० उपलब्धिसमा, २१ अनुपलब्धिसमा, २२ नित्यसमा, २३ अनित्यसमा, २४ कार्यसमा।

---

१. "धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्।" —न्यायसू० १।१।१७। "औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारच्छलम्। मञ्चाः क्रोशन्तीति इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते मञ्चाः कथमचेतनाः क्रोशन्ति। मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति।"—न्यायक० पृ० १६। २. "तदत्र छलत्रयेऽपि वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यपरीक्षणमेव समाधानं वेदितव्यमिति।"—प्र०मी० पृ०। ३. "प्रयुक्ते हेतौ समीकरणाभिप्रायेण प्रसङ्गो जातिः।"—न्यायसा० पृ० १७। "सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे तु प्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिरित्युच्यते।"—न्यायक० पृ० १७। "अभूतदोषोद्भावनामि दूषणाभासा जात्युत्तराणि।"—प्र०मी० २।१।२९। ४. –से वादिना भ० २। ५. झटिति भ० २। ६. तद्दोषतत्त्वाप्र–आ०, क०। ७. –णहे–आ०। ८. –समा आ०, क०।

§ ८२. तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा[1] जातिर्भवति । अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम् । यद्यनित्यघटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः इष्यते, तर्हि नित्याकाशसाधर्म्यादमूर्तत्वा[2]न्नित्यं प्राप्नोतीति १ ।

§ ८३. वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवदित्यत्रैव प्रयोगे[3] वैधर्म्येणोक्ते प्रत्यवस्थानम् । नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, अनित्यं हि मूर्तं दृष्टं, यथा 'घटा-[4]दीति । यदि हि नित्याकाशवैधर्म्यात्कृतकत्वादनित्य इष्यते, तर्हि घटाद्यनित्यवैधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्यः[5] प्राप्नोति, विशेषाभावादिति २ ।

§ ८४. उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे[6] जाती भवतः । तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तसाधर्म्यं किंचित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत्कृतत्वाद-नित्यः शब्दस्तर्हि घटवदेव मूर्तोऽपि भवेत् । न चेत् मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति ३ । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्टः, एवं शब्दोऽपि भवतु ।

---

§ ८२. साधर्म्यसे हेतुका उपसंहार करनेपर साधर्म्य अर्थात् अन्य दृष्टान्तकी समानता दिखाकर खण्डन करना साधर्म्यसमा जाति है । यथा, 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है—कृत्रिम है जैसे कि घड़ा' इस तरह साधर्म्यदृष्टान्त देकर हेतुका उपसंहार करनेपर इसका खण्डन करनेके लिए यह कहना कि—'यदि कृतकत्वरूप धर्मकी दृष्टिसे घड़े और शब्दमें समानता होनेके कारण घड़ेके समान शब्द अनित्य है तो अमूर्तत्व धर्मकी अपेक्षा आकाश और शब्दमें भी समानता है, इसलिए आकाशकी तरह शब्दको भी नित्य मानना चाहिए ।' साधर्म्यसमा जाति है ।

§ ८३. वैधर्म्य-व्यतिरेकधर्मके द्वारा हेतुका उपसंहार करनेपर अन्यदृष्टान्तका वैधर्म्य दिखलाकर ही खण्डन करना वैधर्म्यसमा जाति है । जैसे 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृत्रिम है जैसे घट' इसी प्रयोगका 'जो अनित्य नहीं है वह कृत्रिम भी नहीं जैसे आकाश' इस प्रकार वैधर्म्यदृष्टान्त देकर उपसंहार करनेपर प्रतिवादीका यह कहना कि—'नित्य आकाशसे कृत्रिमत्वरूप विलक्षणता होनेके कारण शब्द अनित्य है तो घटादि अनित्य पदार्थोंसे भी जो कि मूर्त हैं, अमूर्तत्वरूप विल-क्षणता शब्दमें पायी जाती है अतः शब्दको नित्य होना चाहिए । क्योंकि आकाशकी विलक्षणता तथा घड़ेकी विलक्षणतामें साधकत्वरूपसे कोई विशेषता नहीं है या तो दोनों साधक हों या दोनों ही असाधक ।' वैधर्म्यसमा जाति है ।

§ ८४. दृष्टान्त की समानता से उसी के किसी अप्रकृतधर्मका साध्य में उत्कर्ष-सद्भावका प्रसंग देकर खण्डन करना उत्कर्षसमा जाति है तथा दृष्टान्तकी समानतासे साध्यके किसी धर्मका अपकर्ष-अभाव दिखलाकर खण्डन करना अपकर्षसमा जाति है । 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह घड़े की तरह कृत्रिम है' इसी प्रयोग में दृष्टान्तकी समानतासे किसी अप्रकृतधर्मका साध्यमें आपादन करनेवाला प्रतिवादी उत्कर्षसमा जातिका प्रयोग करनेवाला होता है । वह कहता है कि—'यदि घड़े की तरह कृत्रिम होनेसे शब्द अनित्य है तो शब्दको घड़े की तरह मूर्तीक भी होना चाहिए । यदि मूर्तीक नहीं है तो घड़े की तरह अनित्य भी न हो ।' इस तरह शब्द में मूर्तत्वरूप धर्मान्तर-का उत्कर्ष दिखा कर खण्डन करने की चेष्टा की गयी है । अपकर्षसमा—'कृत्रिम घड़ा अश्रावण

---

१. "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ।"—न्यायसू० ५।१।२ । "साधर्म्येण समवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति ।" न्यायक० पृ० १७ । २. खान्नित्यत्वं प्रा–आ० । ३. –गे वैधर्म्येणैव भ० २ । ४. घटादीनि भ० १,२ आ० । ५. –त्यत्वं प्रा–आ० । ६. "उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः ।"—न्यायक० पृ० १७ ।

नो चेत् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वमपकर्षति ४।

§ ८५. वर्ण्याविर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्याविर्ण्यसमे जाती[1] भवतः। व्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यस्तावेतौ वर्ण्याविर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन्वर्ण्याविर्ण्यसमे जाती प्रयुञ्जते। यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न[2] तादृक् घटधर्मो, यादृक् च घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति। साध्यधर्मो दृष्टान्तधर्मश्च हि तुल्यौ कर्तव्यौ। अत्र तु विपर्यासः। यतो यादृग् घटधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृक् शब्दधर्मः। घटस्य तूत्पाद्यं कुम्भकारादिकर्म्यं कृतकत्वं; शब्दस्य हि तालोष्ठादिव्यापारजमिति ५-६।

§ ८६. धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः[3]। यथा कृतकं किंचिन्मृदु दृष्टं तूलशय्यादि, किंचित्तु कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किंचिदनित्यं भविष्यति घटादिकं, किंचिच्च नित्यं शब्दादीति ७।

अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं होता, अतः घड़ेकी तरह शब्दको भी अश्रावण ही होना चाहिए। यदि शब्द घड़ेकी तरह अश्रावण नहीं होता तो घड़ेकी तरह अनित्य भी न हो।' इस तरह शब्दके श्रावणत्वधर्मका अपकर्ष अर्थात् अभाव दिखाकर खण्डन करना अपकर्षसमा जाति है।

§ ८५. दृष्टान्त और साध्यमें समानता होनी चाहिए, अतः यदि साध्य वर्ण्य अर्थात् कथन करनेके योग्य—सिद्ध करनेके योग्य असिद्ध है तो दृष्टान्तको भी असिद्ध होना चाहिए इस तरह 'वर्ण्य'का प्रसंग देकर खण्डन करना वर्ण्यसमा जाति है। यदि दृष्टान्त अवर्ण्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य नहीं है स्वयं प्रसिद्ध है तो साध्यको भी स्वयंसिद्ध होना चाहिए, इस तरह 'अवर्ण्य'का प्रसंग देकर खण्डन करना अवर्ण्यसमा जाति है। व्यापनीय अर्थात् जिसका कथन करना है, जिसे सिद्ध करना है उसे वर्ण्य कहते हैं। जो सिद्ध करनेके योग्य न होकर स्वयंसिद्ध है वह अवर्ण्य है। साध्यधर्म वर्ण्य-असिद्ध होता है तथा दृष्टान्तधर्म अवर्ण्य-प्रसिद्ध। साध्यमें अवर्ण्यत्व अर्थात् प्रसिद्धत्व का तथा दृष्टान्तमें वर्ण्यत्व अर्थात् असिद्धत्वका प्रसंग देना वर्ण्यसमा-अवर्ण्यसमा जातियाँ हैं। प्रतिवादी कहता है कि—'शब्दमें जैसे असिद्ध कृतकत्वादि धर्म हैं वैसे घड़ेमें नहीं हैं तथा घड़ेमें जैसे प्रसिद्ध कृतकत्वादि धर्म हैं वैसे शब्दमें नहीं पाये जाते। साध्यधर्म और दृष्टान्तधर्ममें तो पूरी पूरी समानता होनी चाहिए। पर यहाँ तो उलटा ही देखा जा रहा है; 'क्योंकि जैसे प्रसिद्ध कृतकत्वादिधर्म घड़ेमें हैं वैसे शब्दमें नहीं पाये जाते। घड़ेको कुम्हार उत्पन्न करता है अतः घड़ेमें कुम्हारसे उत्पन्न होनारूप कृतकत्व है जो कि प्रसिद्ध है पर शब्द तो तालु ओठ आदिके व्यापारसे उत्पन्न होता है, अतः उसमें तालवादि व्यापारजन्यत्वरूप विलक्षण ही कृतकता है जो कि असिद्ध है।'

§ ८६. दूसरे धर्मोंके विकल्प उठाकर खण्डन करना विकल्पसमा जाति है। जैसे—कोई कृत्रिम वस्तु नरम देखी जाती है जैसे रूईकी शय्या आदि, कोई कुल्हाड़ी आदिकी तरह कठिन भी देखी जाती है, उसी तरह कोई कृत्रिम वस्तु अनित्य हो जैसे घड़ा आदि तथा कोई नित्य भी हो जाय जैसे कि शब्द आदि। इस प्रकार कृतकवस्तुमें मृदु कठिन आदि विकल्पोंको उठाकर साध्यमें विपरीतधर्म दिखाना विकल्पसमा जाति है।

---

१. "वर्ण्याविर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्याविर्ण्यसमे जाती भवतः। व्यापनीयो वर्ण्यः साध्यधर्मः। तद्विपर्ययादवर्ण्यः सिद्धो दृष्टान्तधर्मः। तावेतौ वर्ण्याविर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्याविर्ण्यसमे जाती प्रयुञ्जते।"—न्यायक० पृ० १८। २. तादृक् च घट—आ०, क०। ३. "धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः"।—न्यायक० पृ० १८।

§ ८७. साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा[1] जातिः । यदि यथा घटस्तथा शब्दः [2]प्राप्तं तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति, शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तः स्यात् । न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात्सुतरां न दृष्टान्त इति ८ ।

§ ८८. प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती[3] । यदेतत्कृतकत्वं साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साध्यं साधयत्यप्राप्य वा । प्राप्य चेत्[4], तर्हि द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति न सदसतोरिति । द्वयोश्च सत्त्वात्किं कस्य साध्यं साधनं वा । अप्राप्य तु साधनत्वमयुक्तमतिप्रसंगादिति ९–१० ।

§ ८९. प्रसंगापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसंगसमा[5] जातिः । यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं, तदा कृतकत्वे किं साधनं, तत्साधनेऽपि किं साधनमिति ११ ।

§ ९०. प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा[6] जातिः । अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीय-

---

§ ८७. दृष्टान्तमें साध्यकी असिद्धत्वादि रूप समानताका प्रसंग देकर खण्डन करना साध्यसमा जाति है । यथा 'जैसा घड़ा है वैसा ही शब्द है' तो उसका अर्थ यह भी हुआ कि 'जैसा शब्द है वैसा घड़ा है' क्योंकि समानता तो दुतरफा ही होनी चाहिए । चूंकि शब्द अभी साध्य—असिद्ध है इसलिए घड़ेको भी साध्य होना चाहिए । और जब घड़ा साध्य—असिद्ध हो गया तब वह दृष्टान्त नहीं रह सकेगा, क्योंकि दृष्टान्त तो प्रसिद्ध होता है, जो स्वयं साध्य—असिद्ध है वह दूसरे साध्यको सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त नहीं बन सकता । यदि वह साध्य के समान असिद्ध नहीं है, अर्थात् साध्यकी समानता उसमें नहीं पायी जाती, तब ऐसा विलक्षण पदार्थ अन्वय दृष्टान्त कैसे हो सकता है ? अन्वय दृष्टान्त तो साध्यके समानधर्मवाला ही होता है ।

§ ८८. प्राप्ति और अप्राप्तिका प्रश्न उठाकर खण्डन करना प्राप्ति-अप्राप्तिसमा जातियां हैं । जैसे—यह कृतकत्वसाधन अपने अनित्यत्वरूप साध्यको प्राप्त करके उससे सम्बन्ध स्थापित करके उसकी सिद्धि करता है, अथवा बिना प्राप्त किये ही ? यदि सम्बन्ध रखकर साध्यकी सिद्धि करता है; तो प्राप्ति अर्थात् सम्बन्ध तो दो विद्यमान-सिद्ध पदार्थोंमें ही होता है, एक मौजूद तथा दूसरा गैरमौजूद हो तो उनमें सम्बन्ध नहीं हो सकता । इसलिए जब हेतु और साध्य दोनों ही सत्—विद्यमान—सिद्ध हैं तब कौन किसका साधन तथा कौन किसका साध्य होगा ? एक साधन तथा दूसरा साध्य क्यों होगा ! या तो दोनों ही साध्य होंगे या दोनों ही साधन । यदि हेतु साध्यको प्राप्त किये बिना ही उसकी सिद्धि करे, तो धूमहेतुको जलरूप साध्यकी भी सिद्धि करनी चाहिए । इस तरह इस पक्षमें अतिप्रसंग दोष होता है ।

§ ८९. दृष्टान्तमें भी साधनकी आवश्यकताका प्रसंग देकर खण्डन करना प्रसंगसमा जाति है । जैसे—यदि अनित्य साध्यकी सिद्धिके लिए कृतकत्व रूप साधन का प्रयोग किया गया है तो कृतकत्वकी सिद्धिके लिए कौन-सा साधन होगा ? उस साधनकी सिद्धिके लिए भी अन्य साधनका प्रयोग होना चाहिए ।

§ ९०. प्रतिदृष्टान्त अर्थात् साध्यका अभाव सिद्ध करनेवाले दृष्टान्तका प्रसंग देकर खण्डन करना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है । यथा, 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न करनेपर उत्पन्न होता

---

१. "साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिर्भवति ।"—न्यायक० पृ० १८ । २. प्राप्तस्तर्हि आ०, क० । ३. "प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती भवतः ।"—न्यायक० पृ० १८ । ४. चेत् द्वयोर्वि—प० १,२, भ० १,२ । ५. "प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिर्भवति ।"—न्यायक० पृ० १८ । ६. "प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः ।"—न्यायक० पृ० १८ ।

कत्वात्, घटवदित्युक्ते नास्तित्वाह । यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्टः, एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टं, कूपखननप्रयत्नानन्तरं तदुपलम्भादिति । नैवं भेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनं भङ्ग्यन्तरेण प्रत्यवस्थानात् १२ ।

§ ९१. अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा[2] जातिः । अनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते । तदेवं हेत्वाभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति १३ ।

§ ९२. साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुदाहारि सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा[3] जातिर्भवति । किं घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाशसाधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्य इति १४ ।

§ ९३. द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा च[4] जातिः प्रकरणसमा[5] भवति । तत्रैवानित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति । उद्भावनप्रकारभेदमात्रेण च जातिनानात्वं द्रष्टव्यम् १५ ।

है जैसे कि घड़ा' यह कहनेपर जातिवादी कहता है कि—'प्रयत्न करनेपर तो पदार्थकी उत्पत्ति भी होती है तथा अभिव्यक्ति भी, अतः यद्यपि घड़ा प्रयत्नानन्तरीयक अर्थात् प्रयत्नका अविनाभावी होकर अनित्य देखा गया है फिर भी नित्य आकाशरूप प्रतिदृष्टान्त मौजूद है । कुआँ खोदनेपर गड्ढेमें आकाश निकल आता है, अतः जिस तरह प्रयत्नानन्तरीयक होनेपर भी आकाश नित्य है उसी प्रकार शब्दको भी नित्य होना चाहिए ।' यद्यपि यह जाति प्रयत्नानन्तरीयक हेतुमें व्यभिचार दिखानेके कारण अनैकान्तिक हेत्वाभास सरीखी मालूम होती है; परन्तु अनैकान्तिक हेत्वाभासमें जहाँ केवल हेतुकी मात्र विपक्षवृत्ति दिखाई जाती है, तब इसमें व्यभिचारके स्थानको प्रतिदृष्टान्तके रूपमें उपस्थित करके पक्षमें साध्याभावका प्रसंग दिया जाता है । इस तरह परिपाटीमें भेद होनेसे यह अनैकान्तिक हेत्वाभास रूप नहीं है ।

§ ९१. धर्मीके उत्पत्तिके पहले कारणोंका अभाव दिखाकर खण्डन करना अनुत्पत्तिसमा जाति है । जैसे—यदि शब्द नामक धर्मी अनुत्पन्न है तो कृतकत्व हेतु कहाँ रहेगा ? अर्थात् आश्रयासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा । जब हेतु ही नहीं रहा तब साध्यकी सिद्धि कैसे होगी ? यदि उत्पत्तिके पहले भी शब्द उत्पन्न अर्थात् विद्यमान है तो वह नित्य हो जायेगा ।

§ ९२. पूर्वोक्त साधर्म्यसमा या वैधर्म्यसमा जाति जब साध्यमें सन्देह उत्पन्न करनेके लिए प्रयुक्त होती है तब वही संशयसमा जाति कही जाती है । जैसे 'घटके कृतकत्वरूप साधर्म्यसे शब्द अनित्य है, अथवा आकाशके अमूर्तत्वरूप साधर्म्यसे नित्य ? अथवा 'घटके कृतकत्वरूप साधर्म्यसे शब्दको अनित्य माना जाय अथवा घटके ही अमूर्तत्वरूप विलक्षणधर्मसे नित्य ?'

§ ९३. पूर्वोक्त साधर्म्यसमा या वैधर्म्यसमा जाति जब दूसरे विरुद्धपक्षको खड़ा करनेकी दृष्टिसे प्रयुक्त होती है तब वही प्रकरणसमा कही जाती है । जैसे—'शब्द अनित्य है क्योंकि वह घड़ेकी तरह कृत्रिम है' इसी प्रयोगमें 'शब्द नित्य है क्योंकि वह श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा सुना जाता है जैसे शब्दत्व' यह कहकर शब्द नित्यत्व नामका एक दूसरा ही पक्ष खड़ा कर देना प्रकरणसमा जाति है । इन जातियोंमें कहनेके ढंगकी विचित्रताके कारण ही परस्पर भेद है ।

---

१. न चैतदेवं—भ० २ । २. "अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिर्भवति ।" —न्यायक० पृ० १९ । ३. "साधर्म्यवैधर्म्यसमा जातिर्या पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपक्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति ।"—न्यायक० पृ० १९ । ४. वा भ० २ । ५. "द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा जातिः प्रकरणसमा भवति ।"—न्यायक० पृ० १९ ।

§ ९४. त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः [1]प्रत्यवस्थानहेतुसमा [2]जातिः । हेतुः साधनं तत्साध्यात्पूर्वं पश्चात्सह वा भवेत् । यदि पूर्वमसति साध्ये तत्कस्य साधनम् । अथ पश्चात्साधनं तर्हि पूर्वं साध्यं तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन । अथ युगपत्साध्यसाधने तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति १६ ।

§ ९५. [3]अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा [4]जातिः । यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वाद्-नित्यः शब्दोऽर्थादापद्यते, तदा नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति । अस्ति चास्य निष्क्रियेनाकाशादिना साधर्म्यममूर्तत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति १७ ।

§ ९६. अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा [5]जातिः । यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृत-कत्वमिष्यते, तर्हि समान[6]धर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति १८ ।

§ ९७. उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा [7]जातिः । कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वं, तर्ह्यमूर्तत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवतीति पक्षद्वयोपपत्त्यानध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षित-मित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् १९ ।

---

§ ९४. तीनों कालोंमें हेतुकी असिद्धि बतला कर खण्डन करना अहेतुसमा जाति है । जैसे हेतु साध्यके पहले रहता है, या पीछे रहता है, या साथ रहता है ? साध्यके पहले तो हो नहीं सकता; क्योंकि जब साध्य ही नहीं है तब वह साधन किसका होगा ? यदि पीछे रहता है; तो जब साध्य पहले ही रह गया अर्थात् सिद्ध हो गया तब साधनकी आवश्यकता ही क्यों होगी ? साधन कालमें साध्य ही नहीं रहा तब किसकी सिद्धि की जायगी ? यदि साध्य और साधन सहभावी हैं; तब उनमें गायके दाहिने-बायें सींगोंकी तरह परस्पर साध्यसाधन भाव नहीं हो सकता । उस समय 'कौन साधन है तथा कौन साध्य ?' यह सन्देह भी हो सकता है ।

§ ९५. अर्थापत्तिसे शब्दोंका दूसरा अर्थ फलित करके खण्डन करना अर्थापत्तिसमा जाति है । जैसे—यदि अनित्य घटादि पदार्थके कृतकत्वरूप साधर्म्यसे शब्द अनित्य होता है तो इसका यह मतलब अर्थात् ही निकल आता है कि 'वह नित्य पदार्थके साधर्म्यसे नित्य भी होगा, शब्दमें नित्य आकाशका अमूर्तत्वरूप साधर्म्य भी पाया जाता है अतः उसे नित्य होना चाहिए ।' इन जातियोंमें परस्पर प्रायः कहनेकी शैलीका ही भेद है ।

§ ९६. दृष्टान्त और पक्षमें अविशेषता अर्थात् समानता देखकर किसी अन्य धर्मसे सभी पदार्थोंमें-से अविशेषता बतलाकर खण्डन करना अविशेषसमा जाति है । जैसे—यदि शब्द और घटमें कृतकत्वरूप एक धर्मकी दृष्टिसे अविशेषता है तो सत्त्वरूप एक धर्मकी दृष्टिसे सभी पदार्थोंमें अविशेषता अर्थात् समानता होनी चाहिए और इस तरह सभी पदार्थोंको अनित्य होना चाहिए ।

§ ९७. साध्य तथा साध्याभाव दोनोंकी उपपत्ति—युक्ति दिखाकर खण्डन करना उपपत्तिसमा जाति है । जैसे—यदि कृतकत्वरूप युक्तिसे शब्दमें अनित्यता सिद्ध होती है तो अमूर्तत्वकी उप-पत्तिसे नित्यता क्यों नहीं सिद्ध होती ? इस तरह दोनों पक्षोंकी युक्तियाँ दिखाई जानेसे शब्दके किसी भी धर्मका निश्चय नहीं हो सकेगा । यह भी एक कहनेका ही ढंग है ।

---

१. –स्थानं हेतु—आ०, क०, प० १,२, भ० १ । २. "त्रैकाल्यानुपपत्त्या प्रत्यवस्थानमहेतुसमा जातिर्भवति ।"—न्यायक० पृ० १९ । ३. अर्थोपपत्त्या भ० २ । ४. "अर्थापत्त्या प्रत्यवस्था नाम अर्थापत्तिसमा जातिर्भवति ।" —न्यायक० पृ० १९ । ५. "अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिर्भवति ।"—न्यायक० पृ० १९ । ६. –धर्मयोरविशेषे भ० २ । ७. "उपपत्त्या प्रत्यवस्थान-मुपपत्तिसमा जातिर्भवति ।" —न्यायक० पृ० १९ ।

§ ९८. उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा[1] जातिः। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते प्रत्यवतिष्ठते। न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम्। साधनं हि तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते। उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनापि विद्युदादावनित्यत्वं, शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये सर्वेवेति २०।

§ ९९. अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा[2] जातिः। तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हेतावुपन्यस्ते सदाह जातिवादी। न [3]प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासौ, आवरणयोगात्तु नोपलभ्यते। आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येवोच्चारणात्प्राक्शब्द इति चेत् न। अत्र हि यानुपलब्धिः सा स्वात्मनि वर्तते न वा। वर्तते चेत्तदा यत्रावरणेऽनुपलब्धिर्वर्तते, तस्यावरणस्य यथानुपलम्भस्तथावरणानुपलब्धेरप्यनुपलम्भः स्यात्। आवरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावो भवेत्। तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति। ततश्च मृदन्तरित[4]मूलकीलादिववावरणोपलब्धिकृतमेव

---

§ ९८. निर्दिष्ट साधनके अभावमें साध्यकी उपलब्धि बताकर खण्डन करना उपलब्धिसमा जाति है। जैसे—'शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्नानन्तरीयक-प्रयत्नका अविनाभावी है, प्रयत्नके बाद उत्पन्न होता है' इस हेतुका जातिवादी इस प्रकार खण्डन करता है कि—'प्रयत्नानन्तरीयकत्व अनित्यत्वका साधक नहीं हो सकता। साधन तो उसे कहते हैं जिसके बिना साध्य न हो सके। पर बिजली आदिमें प्रयत्नानन्तरीयकत्वके अभावमें भी अनित्यत्व देखा जाता है। इसी तरह भीषण आँधी आनेपर टूटनेवाली वृक्षोंकी शाखाओं आदिको चरमराहट भी प्रयत्नके बिना ही देखी जाती है और वह अनित्य है।

§ ९९. अनुपलब्धिकी भी अनुपलब्धि दिखाकर खण्डन करना अनुपलब्धिसमा जाति है। जैसे—'शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होनेसे अनित्य है' इस अनुमानका प्रयोग करनेपर जातिवादी कहता है कि—'प्रयत्नानन्तरीयक होनेसे शब्दको कार्य नहीं कह सकते, उच्चारणरूप प्रयत्नसे तो शब्दकी अभिव्यक्ति होती है। उच्चारणके पहले भी शब्द विद्यमान है, आवरणके कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती।' अनुमानवादी—यदि आवरणके कारण उच्चारणके पहले शब्दकी उपलब्धि नहीं होती तो कमसे कम आवरणकी तो उपलब्धि अवश्य होनी चाहिए। जैसे यदि कपड़ेसे ढँकी हुई चीज नहीं दिखती तो कपड़ा तो जरूर ही दीखता है। चूँकि शब्दका आवरण भी उपलब्ध नहीं होता और शब्द भी उपलब्ध नहीं होता अतः उच्चारणके पहले शब्द है ही नहीं, और इसीलिए उसकी उच्चारणसे उत्पत्ति माननी चाहिए। जातिवादी—आप जिस तरह आवरणकी अनुपलब्धिसे आवरणका अभाव सिद्ध करते हैं उसी तरह आवरणकी अनुपलब्धि भी कहाँ उपलब्ध होती है? अर्थात् वह भी तो अनुपलब्ध ही है अतः आवरणानुपलब्धिकी अनुपलब्धि होनेसे आवरणानुपलब्धिका अभाव होकर आवरणका सद्भाव ही सिद्ध होता है। और आवरणका सद्भाव होनेसे उच्चारणके पहले शब्दका सद्भाव सिद्ध हो ही जाता है। हम जो आवरणानुपलब्धिकी अनुपलब्धि कह रहे हैं तथा आप जो आवरणकी अनुपलब्धि कह रहे हैं ये अनुपलब्धियाँ स्वरूपसत् हैं; या नहीं? यदि हैं; तो जिस प्रकार आवरण विषयक अनुपलब्धिके स्वरूपसत् होनेसे आप आवरणका अभाव सिद्ध करते हो उसी तरह आवरणानुपलब्धिविषयक अनुपलब्धि भी स्वरूपसत् होकर आवरणानुपलब्धिका अभाव सिद्ध करेगी। इस तरह आवरणानुपलब्धिका अभाव होनेपर आवरणोपलब्धिका सद्भाव ही हो जाता है। अतः जैसे मिट्टीसे

---

१. "उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० २०। २. "अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० २०। ३. प्रयत्नानन्तरीयकः कार्यः आ० क०। ४. मूलकली कादि आ०।

शब्दस्य प्रागुच्चारणावग्रहणम् । अथानुपलब्धिः स्वात्मनि न वर्तते चेत्, तर्ह्यनुपलब्धिः स्वरूपेणापि नास्ति । तथाप्यनुपलब्धेरभाव उपलब्धिरूपस्ततोऽपि शब्दस्य प्रागुच्चारणादप्यस्तित्वं स्यादिति । द्वेधापि प्रयत्नकार्यत्वाभावान्नित्यः शब्द इति २१ ।

§ १००. साध्यधर्मनित्यानित्यविकल्पेन शब्दस्य नित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिः । अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति । येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति । यद्यनित्या तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यतायां अपायान्नित्यः शब्दः । अथानित्यता नित्यैव तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्य एव स्यात्, तस्यानित्यत्वे तद्धर्मस्य नित्यत्वायोगात् । इत्युभयथापि नित्यः शब्द इति २२ ।

§ १०१. एवं सर्वभावानामनित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा[2] जातिः । घटसाधर्म्यमनित्यत्वेन शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तदा घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यं[3]मिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात् । अथ पदार्थान्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वं तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति, अनित्यत्वमात्रोपपादनपूर्वकविशेषोद्भावनाद्विशेषसमातो भिन्नेयं जातिः २३ ।

ढँकी हुई वृक्षकी जड़ या जमीनमें गड़ी हुई कील आदिकी मिट्टीरूप आवरणके कारण अनुपलब्धि है उसी तरह उच्चारणसे पहले शब्दकी भी आवरणके कारण ही अनुपलब्धि है । यदि अनुपलब्धि स्वरूपसत् नहीं है अर्थात् अनुपलब्धि नहीं है; तो आवरणकी अनुपलब्धि न होनेसे आवरणकी उपलब्धि ही फलित होती है । तब भी उच्चारणसे पहले शब्दका अस्तित्व ही सिद्ध होता है । इस तरह दोनों ही प्रकारसे शब्द प्रयत्नका कार्य नहीं हो सकता अतः उसे नित्य ही मानना चाहिए ।

§ १००. साध्यमें नित्य अनित्य विकल्प करके उसमें नित्यत्वका आपादन करना नित्यसमा जाति है । जैसे—'शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञामें जातिवादी विकल्प करता है कि—'आपने जो यह शब्दकी अनित्यता कही है वह अनित्य है या नित्य ? यदि अनित्यता अनित्य है; तब यह अवश्य ही नष्ट होगी, अतः अनित्यताके नष्ट होनेपर तो शब्द नित्य ही हो जायगा । यदि अनित्यता नित्य है; शब्दमें सदा रहती है; तब धर्मके नित्य होनेसे उसके आश्रयभूत शब्दको भी नित्य ही होना चाहिए; क्योंकि धर्म निराश्रय रह ही नहीं सकता अतः नित्य धर्मका आश्रय भी नित्य ही होना चाहिए । यदि आश्रयभूत शब्द अनित्य है; तो उसमें रहनेवाला अनित्यत्वधर्म नित्य कैसे हो सकता है ? इस तरह दोनों ही विकल्पोंमें शब्दमें नित्यता ही सिद्ध होती है ।

§ १०१. एक पदार्थको अनित्यता देखकर सभी पदार्थोंमें अनित्यताकी सिद्धि करके दूषण देना अनित्यसमा जाति है । जैसे—'यदि शब्दमें अनित्यत्व रूपसे घटकी सदृशता पायी जाती है इसलिए वह अनित्य है तब घटके साथ सभी पदार्थोंकी भी तो किसी न किसी रूपमें (सद्रूपमें) समानता है ही इसलिए सभी पदार्थोंमें घड़ेकी तरह अनित्यता होनी चाहिए । यदि अन्य सब पदार्थोंमें घटकी सद्रूपसे समानता होनेपर भी अनित्यता नहीं मानते तब शब्दमें भी अनित्यता नहीं माननी चाहिए । अविशेषसमा जातिमें तो जिस किसी भी धर्मकी अपेक्षासे सब पदार्थोंमें समानताका प्रसंग दिया जाता है परन्तु अनित्यसमा जातिमें केवल अनित्यरूप विशेष धर्मसे ही सब पदार्थोंमें समानता दिखाई जाती है ।

---

१. "साध्यधर्मनित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिर्भवति ।" —न्यायक० पृ० २० ।

२. "सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिर्भवति ।" —न्यायक० पृ० २१ ।

३. —मित्येतेषाम —अ० २ ।

§ १०२. प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा[1] जातिः। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह। प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टम्। किञ्चिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादिकम्। किञ्चिच्च सदेवावरणव्युदासादिनाभिव्यज्यते यथा[2] भूवन्तरितमूलकीलकादि गर्भगतपुत्रादि वा। एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेव शब्दः प्रयत्नेन व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति। संशयापादनप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते २८।

§ १०३. तदेव[3]मुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽप्यसंकीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदा एते प्रदर्शिताः।

§ १०४. प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनां पक्षधर्मत्वाद्यनुमानलक्षणपरीक्षालक्षणमेव। न ह्यविप्लुतलक्षणे हेतावेवंप्रायाः पांशुपाताः प्रभवन्ति। कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च दृष्टकृतप्रतिबन्धात् नावरणाविकृतं शब्दानुपलम्भनमपि त्वनित्यत्वकृतमेव। [4]जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यम्, न तु प्रतीपं जात्युत्तरैरेव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्यप्रसंगादिति ॥३१॥

§ १०२. प्रयत्नके उत्पत्ति अभिव्यक्ति आदि अनेक कार्योंको दिखाकर खण्डन करना कार्यसमा जाति है। जैसे 'शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होनेसे अनित्य है' इस अनुमानका प्रयोग करनेपर जातिवादी कहता है कि 'प्रयत्न दो प्रकारका होता है। एक प्रयत्न असत् पदार्थको उत्पन्न करता है जैसे घड़ेको उत्पन्न करनेवाला कुम्हारका प्रयत्न। दूसरे प्रयत्नसे विद्यमान पदार्थका आवरण हटाकर अभिव्यक्ति प्रकटता की जाती है जैसे जमीन खोदकर जड़ या गड़ी हुई कीलका प्रकट किया जाना, अथवा गर्भगत पुत्रादिका प्रकट होना। इसी प्रकार जब प्रयत्नके अनेक कार्य होते हैं तब सन्देह हो सकता है कि 'यह शब्द उच्चारणादि प्रयत्नसे उत्पन्न होता है या प्रकट होता है?' संशय उत्पन्न करनेके प्रकारमें भेद होनेसे यह संशयसमा जातिसे भिन्न है।

§ १०३. यद्यपि उद्भावनके प्रकारों तथा विषयोंमें भेद होनेसे जातियोंके अनन्त भेद हो सकते हैं फिर भी असंकीर्ण अर्थात् परस्परमें अन्तर्भूत नहीं होनेवाले उदाहरणोंकी अपेक्षासे जातियोंके ये चौबीस भेद दिखाये गये हैं।

§ १०४. इन सब जातियोंका समाधान इस प्रकार करना चाहिए—जब मूल अनुमान हेतु में पक्षधर्मत्व आदि पंचरूप विद्यमान हैं तब अन्य किसी साधर्म्य या वैधर्म्य दृष्टान्तके उपस्थित करने मात्रसे उसकी व्याप्तिका खण्डन नहीं किया जा सकता। सच्चे अविनाभावी हेतुको आँखोंमें इस तरहकी जाति प्रयोगरूपी धूल नहीं झोंकी जा सकती। जब कृतकत्व या प्रयत्नानन्तरीयकत्वका कार्यत्वके साथ निर्दोष दृढ़ सम्बन्ध मौजूद है तब शब्दकी उच्चारणसे पहले अनुपलब्धि आवरणके कारण नहीं है किन्तु शब्दका अभाव ही उसमें कारण है। अतः शब्द अनित्य ही है। जब प्रतिवादी जातिका प्रयोग करे तब उसका खण्डन सम्यक् उत्तर देकर ही करना चाहिए। यदि जातिवादीका खण्डन जात्युत्तरसे ही किया जावे; तब तो मिथ्यादूषणोंकी परम्परा होनेसे शास्त्रार्थ तो भाँड़ोंका तमाशा जैसा हो जायगा। और इस तरह बड़ी गड़बड़ उत्पन्न हो जायगी। अतः जातिवादीका खण्डन सम्यक् सयुक्तिक उत्तरसे ही करना चाहिए ॥३१॥

१. "प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० २१। २. यथा मूलकीलादि भ० २। ३. तदेवोद्भा—भ० २। "तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽपि असङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदाः प्रदर्शिताः। प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनां पक्षधर्मत्वाद्यनुमानलक्षणे हेतावेवम्प्रायाः पांशुपाता भवन्ति।"—न्यायक० पृ० २१। ४. "जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरं वक्तव्यम्। प्रतिपज्जात्युत्तरैर्नैव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्यप्रसङ्गादिति।" —न्यायक० पृ० २१। ५. –यमसमंजसस्यप्र—भ० २।

वा प्रतिपद्यमान इति विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिभेदाच्च द्वाविंशतिनिग्रहस्थानानि भवन्ति। तद्यथा—प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासः हेत्वन्तरम् अर्थान्तरं निरर्थकम् अविज्ञातार्थम् अपार्थकम् अप्राप्तकालं न्यूनम् अधिकं पुनरुक्तम् अननुभाषणम् अज्ञानम् अप्रतिभा विक्षेपः मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगः अपसिद्धान्तः हेत्वाभासाश्च। अत्रोप्यननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिप्रकाराः, शेषाश्च विप्रतिपत्तिभेदाः।

§ १०८. तत्र हेतावनैकान्तिकोक्ते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद्घटवदिति साधनं वादी ब्रुवन् परेण सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकोक्ते यद्येवं ब्रूयात्सामान्यवद्घटोऽपि नित्यो भवत्विति स एवं ब्रुवाणः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात्। शब्दोऽपि नित्य एव स्यात्। ततः प्रतिज्ञाहान्या पराजीयते १।

§ १०९. प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तस्मिन्नेव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रति-

---

की प्रक्रियाको ही न समझें, अथवा समझे भी तो विपरीत समझे अर्थात् साधनको साधनाभास और दूषणको दूषणाभास समझें। तात्पर्य यह कि विरुद्ध समझ तथा असमझ रूप विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिके ही शाखा-प्रशाखा रूप बाईस निग्रहस्थान हो जाते हैं—१ प्रतिज्ञाहानि, २ प्रतिज्ञान्तर, ३ प्रतिज्ञाविरोध, ४ प्रतिज्ञासंन्यास, ५ हेत्वन्तर, ६ अर्थान्तर, ७ निरर्थक, ८ अविज्ञातार्थ, ९ अपार्थक, १० अप्राप्तकाल, ११ न्यून, १२ अधिक, १३ पुनरुक्त, १४ अननुभाषण, १५ अज्ञान, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेप, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षण, २० निरनुयोज्यानुयोग, २१ अपसिद्धान्त, २२ हेत्वाभास। इनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, और पर्यनुयोज्योपेक्षण ये पाँच अप्रतिपत्तिमूलक हैं तथा शेष निग्रहस्थान विप्रतिपत्तिके प्रकार हैं।

§ १०८. प्रतिवादीके द्वारा हेतुको व्यभिचारी बताये जाने पर अविरोधी दृष्टान्त या पक्षके धर्मको अपने दृष्टान्त या पक्षमें स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानि नामका निग्रहस्थान है। जैसे—वादीने कहा 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है' प्रतिवादीने "'येनेन्द्रियेण यदर्थो गृह्यते तेन तन्निष्ठा जातिस्तद्भावश्च गृह्यते'—जिस इन्द्रियसे जो पदार्थ गृहीत होता है उसी इन्द्रियसे उसमें रहनेवाली जाति तथा उसके भावका भी ज्ञान हो जाता है" इस नियमके अनुसार घटत्वनामक नित्य जातिको ऐन्द्रियक मानकर वादीके हेतुमें व्यभिचार दिखाया कि—'घटत्व सामान्य ऐन्द्रियक—इन्द्रियका विषय होकर भी नित्य है' इस प्रकार हेतुमें अनैकान्तिक दोष आनेपर वादी यदि अपनी हार न मानकर सभामें कहे कि—'अच्छा घड़ा भी नित्य हो जाय' वादीने इस प्रकार प्रतिदृष्टान्तरूप नित्यत्व घटत्वके धर्मको स्वदृष्टान्त घड़ेमें स्वीकार करके अपनी 'शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञाको ही तोड़ दिया। क्योंकि दृष्टान्तमें नित्यता मान लेनेसे शब्दमें भी नित्यता माननी ही पड़ेगी। इस प्रकार प्रतिज्ञाको तोड़ देनेसे वादी पराजित हो जाता है।

§ १०९. प्रतिज्ञाके खण्डित होनेपर उस प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए उसी धर्मीमें अन्य धर्मको

---

१. —भासर्वज्ञ प० १, २, भ० १, २। २ "प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि।" —न्यायसू० ५।२।१। ३. "तत्र अननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिनिग्रहस्थानं शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति।" —न्यायभा० ५।२।२०। ४. "प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः॥" —न्यायसू० ५।२।२।

शान्तरं [1]नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे [2]नोद्विते यदि [3]ब्रूयाद्युक्तं यत्सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति । सोऽयमनित्यः शब्द इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति प्रतिजानानः प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति २ ।

§ ११०. प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः [4]प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानं भवति । गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । यदि हि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं न तर्हि रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः । अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति । तदयं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात्पराजीयते ३ ।

§ १११. पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो [5]नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात्क एवमाह अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञासंन्यासात्पराजितो भवति ४ ।

§ ११२. अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं [6] नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्यस्य व्यभिचारेण दूषिते जातिमत्त्वे सतीत्यादि विशेषणमुपादानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति ५ ।

साध्य बनाकर एक नयी ही प्रतिज्ञा करना प्रतिज्ञान्तर नामका निग्रहस्थान है । जैसे—'शब्द अनित्य है क्योंकि वह इन्द्रिय ग्राह्य है' इस पक्षको पहले की तरह घटत्व सामान्यसे व्यभिचार दिखाकर खण्डित किये जाने पर यदि वादी कहे कि भले ही सामान्य ऐन्द्रियक होनेके कारण नित्य हो पर वह तो सर्वगत है, किन्तु शब्द तो घड़ेके समान असर्वगत होनेसे अनित्य ही होगा' इस प्रकार यह वादी अपनी पहली अनित्यत्व प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिए एक नयी ही 'शब्द असर्वगत है' यह प्रतिज्ञा करता है । पर इस नयी प्रतिज्ञासे न तो पूर्वोक्त व्यभिचारका परिहार ही हो पाता है और न पूर्व प्रतिज्ञाकी सिद्धि ही होती है । प्रतिज्ञासे प्रतिज्ञाकी सिद्धि नहीं होती, प्रतिज्ञा की सिद्धिके लिए तो अविनाभावी हेतुका प्रयोग करना चाहिए । इस तरह प्रतिज्ञान्तर करनेवाले वादीकी पराजय होती है ।

§ ११० प्रतिज्ञा और हेतुका विरोध होना प्रतिज्ञाविरोध है । जैसे—'गुण द्रव्यसे भिन्न है क्योंकि वह द्रव्यसे जुदा नहीं मालूम होता' इस तरह गुण यदि द्रव्यसे जुदा नहीं मालूम होता तब द्रव्य और गुणमें भिन्नता कैसे हो सकती है ? इससे तो अभिन्नता ही सिद्ध होती है । इस तरह प्रतिज्ञाके विरोधी हेतुको उपस्थित करनेके कारण वादी पराजित होता है ।

§ १११. प्रतिवादीके द्वारा पक्षका खण्डन किये जानेपर दूषणोंका परिहार कर अपने पक्षके उद्धारकी आशा न रहने पर प्रतिज्ञाका ही लोप कर देना प्रतिज्ञासंन्यास नामका निग्रहस्थान है । जैसे—'शब्द ऐन्द्रियक होनेसे अनित्य है' इसी प्रतिज्ञामें पहले की तरह घटत्वसामान्यसे व्यभिचार दिये जानेपर व्यभिचारका परिहार करनेमें अपनेको असमर्थ पाकर यदि वादी कहे कि 'मैंने शब्दको अनित्य कब कहा है' तो उसकी प्रतिज्ञाका संन्यास लोप करनेके कारण पराजय हो जायगी ।

---

१. "प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥"—न्यायसू० ।२।३ । २. –चारेण नो—भ० २ । ३. ब्रूयादयुक्तं यत्सा—प० १, २, १ । ब्रूयादयुक्तं यस्मात्सा—भ० २ । ४. –न्द्रियं नित्यं भ० २ । ५ "प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥"—न्यायसू० ५।२।४ । ६. "पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥" न्यायसू० ५।२।२ । ७. अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥"—न्यायसू० ५।२।६ ।

§ ११३. प्रकृतादर्थादन्योऽर्थोऽर्थान्तरं[1] तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं[2] नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति हेतुः। हेतुरिति च हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्। पदं च नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदाच्चतुर्विधमिति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणः प्रकृतानुपयोगितार्थान्तरेण निगृह्यत इति ६।

§ ११४. अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं[3] नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्वात् घझढधभवत्वित्येतदपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय भवति साध्यानुपयोगाद्वा ७।

§ ११५. यत्साधनवाक्यं दूषणं वा किंचित्त्रिरभिहितमपि पर्षत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते, तत् विलष्टशब्दमप्रसिद्धप्रयोगमतिह्रस्वोच्चारितमित्येवंप्रकारमविज्ञातार्थं[4] नाम निग्रहस्थानं भवति। असामर्थ्यसंवरणप्रकारो ह्ययमिति निगृह्यते ८।

---

§ ११२. पूर्व हेतुके खण्डित हो जानेपर दोषका कारण करनेके लिए उसमें कोई विशेषण जोड़ देना हेत्वन्तर[1] नामका निग्रहस्थान है। जैसे 'शब्द ऐन्द्रियक होनेसे अनित्य है' इसी प्रयोगमें सामान्यसे व्यभिचार आनेपर दोष परिहारके लिए 'जातिमत्त्वे सति—सामान्यवाला होनेपर' इस विशेषणको जोड़ देना हेत्वन्तर नामका निग्रहस्थान है। 'जातिमत्त्वे सति' विशेषण देनेसे घटत्व-सामान्यके व्यभिचारका वारण हो जाता है क्योंकि सामान्य स्वयं सामान्यवाला नहीं होता।

§ ११३. प्रकृत विषयसे सम्बन्ध न रखनेवाली साध्यसिद्धिमें अनुपयोगी अण्ड-बण्ड असम्बद्ध बातें करना अर्थान्तर नामका निग्रहस्थान है। जैसे 'शब्द कृत्रिम होनेसे अनित्य है', हेतु हिधातुसे कृदन्तमें तु प्रत्यय करने पर सिद्ध होनेवाला पद है। पद नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपातके भेदसे चार प्रकारका है। और फिर नाम आदिका व्याख्यान शुरू कर दिया जाता है' इस तरह साध्यसिद्धिमें अनुपयोगी बातें करनेवाले का अर्थान्तर होनेसे निग्रह-पराजय होता है।

§ ११४. अर्थरहित मात्र वर्णोंका उच्चारण करने लगना निरर्थक नामका निग्रहस्थान है। जैसे 'शब्द अनित्य है क्योंकि क च ट त प का ग ज ड द ब है जैसे झ भ ढ ध भ।' यहाँ यह विचारना चाहिए कि—'यह वर्णोच्चारण साध्यकी सिद्धिमें अनुपयोगी होनेसे निग्रहस्थान है अथवा बिलकुल अर्थशून्य होनेसे? वर्णोच्चारण सर्वथा अर्थशून्यता तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बच्चोंको रटानेके लिए वर्णोच्चारणका अर्थ 'अनुकरण करके ठीक उसी तरह बोलना' हो सकता है। साध्यसिद्धिमें अनुपयोगी होनेसे तो इसका अर्थान्तर नामके निग्रहस्थानमें अन्तर्भाव हो जाना चाहिए।' इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि—अर्थान्तर निग्रहस्थानमें प्रकृतानुपयोगी कुछ भी पद, वाक्य या श्लोक कहे जा सकते हैं, पर निरर्थकमें केवल अर्थशून्य वर्णोच्चारण ही विवक्षित है।

§ ११५. ऐसे साधन या दूषण वाक्यका प्रयोग करना, जिसे तीन बार उच्चारण करनेपर न तो प्रतिवादी ही समझे और न सभामें उपस्थित सभापति आदि ही, वह अविज्ञानार्थ नामका निग्रहस्थान है। अपनी असामर्थ्यको ढँकनेके लिए अत्यन्त विलष्ट शब्दोंका उच्चारण, अप्रसिद्ध-पदोंका प्रयोग, बहुत धीरे कहना आदि अनेकों प्रकार अविज्ञातार्थमें ही अन्तर्भूत हैं।

---

१. —दर्थादर्थान्तरं सदनौ—प० १, २, भ० १, २। २. "प्रकृतान्नार्थादप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम्॥" —न्यायसू० ५।२।७। ३. "वर्णक्रमनिर्देशवद् निरर्थकम्॥"—न्यायसू० ५।२।८। ४. परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम्॥"—न्यायसू० ५।२।९।

§ ११६. पूर्वापरासंगतपदसमूहप्रयोगावप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं[1] नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा दश वाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्ड इत्यादि ९।

§ ११७. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लंघ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं[2] नाम निग्रहस्थानं भवति स्वप्रतिपत्तिवत्परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमानक्रमस्यापगमात्[3] १०।

§ ११८. पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं प्रयुञ्जानस्य न्यूनं[4] नाम निग्रहस्थानं भवति। प्रतिज्ञादीनां पञ्चानामपि परप्रतिपत्तिजन्मन्युपयोगादिति ११।

§ ११९. एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं[5] नाम निग्रहस्थानं भवति,[6] निष्प्रयोजनाभिधानात् १२।

§ १२०. शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं[7] नाम निग्रहस्थानं भवति, अन्यत्रानुवादात्। शब्दपुनरुक्तं नाम, यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते, यथानित्यः शब्दोऽनित्यः शब्द इति। अर्थपुनरुक्तं तु, यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोच्चार्यते पुनश्च पर्यायान्तरेणोच्यते, यथानित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति। अनुवादे तु गौनरुक्त्यं न दोषो, यथा हेतूपदेशेन प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति १३।

---

§ ११६. जिनका कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है ऐसे असंगत पदोंका प्रयोग करनेके कारण वाक्यार्थको अप्रतिष्ठित सम्बन्धशून्य कर देना अपार्थक नामका निग्रहस्थान है। जैसे 'दस अनार, छह पुये, कुण्ड, बकरेका चमड़ा, मांसका पिण्ड आदि'।

§ ११७. प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन इन पाँच अवयवोंका क्रमरहित (बेसिलसिले) प्रयोग करना अप्राप्तकाल नामका निग्रहस्थान है। अनुमानमें प्रतिज्ञादिका क्रम (सिलसिला) बिगड़ जानेपर न तो उनसे अपनी ही समझमें कुछ आ सकता है और न उनसे दूसरा ही कुछ समझ सकता है अर्थात् उनसे न तो स्वार्थानुमान ही हो सकेगा और न परार्थानुमान ही।

§ ११८. अनुमानमें प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवोंके प्रयोगका नियम है, पर यदि किसी भी अवयवसे हीन अनुमानका प्रयोग किया जाय तो न्यून नामका निग्रह स्थान होता है। क्योंकि प्रतिज्ञादि पाँचों ही अवयव परका ज्ञान करानेमें समानरूपसे उपयोगी होते हैं।

§ ११९. एक ही हेतु और उदाहरणसे साध्यकी सिद्धि हो जाती है, फिर भी दो या अधिक हेतु और उदाहरणोंका प्रयोग करना अधिक नामका निग्रहस्थान है। प्रयोजनके बिना ही यदि इस तरह हेतु और उदाहरणोंके कहनेका सिलसिला जारी रखा जाय तब तो निष्प्रयोजन वाद बढ़ जायगा।

§ १२०. अनुवादके सिवाय शब्द और अर्थका पुनः दुबारा कथन करना पुनरुक्त निग्रहस्थान है। उसी शब्दका बार-बार उच्चारण करना शब्द पुनरुक्त है। जैसे 'शब्द अनित्य है, शब्द अनित्य है।' आदि। जहाँ अर्थ तो वही हो पर उसका भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दों-द्वारा दुबारा कथन करना अर्थपुनरुक्त है। जैसे, पहले कहना कि 'शब्द अनित्य है', फिर कहना कि 'ध्वनि विनाशी है'। अनुवादमें पुनरुक्तिको दोष नहीं मानते; क्योंकि अनुवादका अर्थ ही है कि अनु—पश्चात् फिरसे वाद—कहना। जैसे हेतुका दुबारा कथन करके प्रतिज्ञाका दुबारा कहना निगमन है। निगमनमें प्रतिज्ञाका अनुवाद—पुनः कथन ही तो होता है।

---

१. "पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम् ॥"—न्यायसू० ५।२।१०। २. "अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥"—न्यायसू० ५।२।११। ३. —स्यानुपपत्तेः भ० २। ४. "हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥"—न्यायसू० ५।२।१२। ५. "हेतूदाहरणाधिक्यमधिकम् ॥"—न्यायसू० ५।२।१३। ६. नि.प्रयो—प० १, २, भ० १, २। ७. "शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥"—न्यायसू० ५।२।१४। "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥"—न्यायसू० ५।२।१५।

§ १२१. **पर्षदा विदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं, तदननुभाषणं[1] नाम प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं भवति। अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं दूषणमभिदध्यात् १४।**

§ १२२. **पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं, तदज्ञानं[2] नाम निग्रहस्थानं भवति, अविदितोत्तरविषयो हि किमुत्तरं ब्रूयात्, न चाननुभाषणमेवेदं ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् १५।**

§ १२३. **परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा[3] नाम निग्रहस्थानं भवति १६।**

§ १२४. **कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपो[4] नाम निग्रहस्थानं भवति, सिसाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्ति, इदं मे करणीयं परिहीयते पीनसेन कण्ठ उपरुद्ध इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते १७।**

§ १२५. **स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा[5] नाम निग्रहस्थानं भवति। चौरो भवान्पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते भवानपि चौरः पुरुषत्वादिति प्रतिब्रुवन्नात्मनः परापादितं चौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते १८।**

---

§ १२१. वादीके जिस कथनको परिषद्ने समझ लिया और वादीने जिसका तीन बार उच्चारण भी किया, फिर भी यदि प्रतिवादी उसका अनुवाद न कर सके तो उसे अननुभाषण नामका निग्रहस्थान होता है। प्रतिवादी जब वादीके वाक्यका अनुवाद-उच्चारण ही नहीं कर सकता तब खण्डन किसका करेगा?

§ १२२. वादीके जिस वाक्यका अर्थ परिषद्ने अच्छी तरह समझ लिया है पर यदि प्रतिवादी उसे न समझ पाये तो उसे अज्ञान नामका निग्रहस्थान होता है। जब उसने प्रश्नको ही नहीं समझा तब वह उत्तर क्या देगा? यह अननुभाषणमें अन्तर्भूत नहीं होता, क्योंकि वस्तुका ज्ञान होनेपर शब्दोंके द्वारा उच्चारण करनेकी असामर्थ्य रह सकती है। अननुभाषणमें मात्र पुनः शब्दानुवाद न कर सकने की विवक्षा है और अज्ञानमें उसके अर्थको न समझ सकने की।

§ १२३. वादीके पक्षको समझ भी लिया, उसका अनुवाद-पुनः उच्चारण भी अच्छी तरह कर दिया, पर उसका उत्तर न सूझना अप्रतिभा नामका निग्रहस्थान है।

§ १२४ अपने पक्षको गिरता हुआ समझकर अन्य आवश्यक कार्योंको करनेका बहाना लेकर शास्त्रार्थको समाप्त करना, प्रकृत बातको उड़ा देना विक्षेप नामका निग्रहस्थान है। अपने पक्षका सिद्ध करना असम्भव जानकर शास्त्रार्थको समाप्त करनेके लिए यदि यह कहा जाय कि—'मेरा आवश्यक कार्य पड़ा हुआ है, उसे करके उत्तर दूँगा, पीनससे मेरा गला रुँध रहा है' आदि, तो उसको विक्षेप नामक निग्रहस्थान होता है।

§ १२५. अपने पक्षमें दिये गये दोषका उद्धार—खण्डन न करके, उस दोषको मानकर फिर परपक्षमें भी उसी दोषको बतलाना मतानुज्ञा नामका निग्रहस्थान है। जैसे—'आप चोर हैं क्योंकि आप पुरुष हैं जैसे कोई प्रसिद्ध चोर पुरुष', यह कहने पर अपने ऊपर किये गये चोरत्वके आरोपका खण्डन नहीं करके यह कहना कि 'इस तरह तो आप भी पुरुष हैं अतः आप भी चोर हैं' मतानुज्ञा है। क्योंकि ऐसा कहनेसे वादीने अपनेको चोर तो मान ही लिया।

---

१. "विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥" —न्यायसू० ५।२।१६।
२. "अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥" —न्यायसू० ५।२।१७। ३. "उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥" —न्यायसू० ५।२।१८। ४. "कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥"—न्यायसू० ५।२।१९।
५. "स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥" —न्यायसू० ५।२।२०।

§ १२६. निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं[1] नाम निग्रहस्थानं भवति, पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीय इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसीति वचनीयः, तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते १९ ।

§ १२७. अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगो[2] नाम निग्रहस्थानं भवति, उपपन्नवादिनमप्रमाद्यन्तमनिग्रहार्हमपि निगृहीतोऽसीति यो ब्रूयात्, स एवमसद्भूतदोषोद्भावनया निगृह्यते २० ।

§ १२८. सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तो[3] नाम निग्रहस्थानं भवति, यः प्रथमं किंचित्सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते तत्र च साधयितुमिष्टार्थसाधनाय वा परोपालम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते, [4]सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते, यथा मीमांसामभ्युपगम्य कश्चिदग्निहोत्रं स्वर्गसाधनमित्याह कथं पुनरग्निहोत्रक्रिया ध्वस्ता सती स्वर्गस्य साधिका भवतीत्यनुयुक्तः प्राह अनया क्रिययाराधितो महेश्वरः फलं ददाति राजादिवदिति, तस्य मीमांसानभिमतेश्वरस्वीकारादपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानं भवति २१ ।

---

§ १२६. जिसका निग्रह हो गया है फिर भी सभामें उसके निग्रहस्थानकी घोषणा न करना पर्यनुयोज्योपेक्षण है । पर्यनुयोज्य—अर्थात् निग्रह प्राप्तवादी या वादीको 'तुम्हें यह निग्रहस्थान हो गया है अतः तुम पराजित हो' इस कथनकी उपेक्षा करके जो चुप रह जाता है उसे पर्यनुयोज्योपेक्षण नामका निग्रहस्थान होता है ।

§ १२७. जिसका निग्रह नहीं हुआ उसे निग्रहस्थान कहकर पराजित बताना निरनुयोज्यानुयोग है । किसी सयुक्तिक निरूपण करनेवाले सावधान सद्वादीसे जो किसी भी तरह पराजय-निग्रह के योग्य नहीं है, 'तुम पराजित हो' यह कहना निरनुयोज्यानुयोग नामका निग्रहस्थान है । ऐसा कहनेवाला स्वयं ही असद्भूत दोषको कहनेके कारण पराजित होता है ।

§ १२८. स्वीकृत सिद्धान्तके विरुद्ध कथन करके यद्वा-तद्वा अनियमितरूपसे शास्त्रार्थ करना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान है । जो वादी पहले किसी सिद्धान्तको स्वीकार करके शास्त्रार्थ शुरू करता है, पीछे अपने पक्षकी सिद्धिके अभिप्रायसे या परपक्षमें दूषण देनेके विचारसे स्वीकृत सिद्धान्तके विरुद्ध बोल जाता है वह अपसिद्धान्त निग्रहस्थानके द्वारा पराजित हो जाता है । जैसे—कोई वादी मीमांसासिद्धान्तको स्वीकार कर अग्निहोत्र यज्ञको स्वर्गका साधन सिद्ध करता है । जब उससे प्रश्न किया गया कि 'अग्निहोत्र यज्ञ तो एक क्रिया है, वह तो कुछ देरमें नष्ट हो जाता है अतः वह कालान्तरभावी स्वर्गका साधन अर्थात् अव्यवहित कारण कैसे हो सकता है ?' तब वह इस दूषणका परिहार करनेके लिए मीमांसकके अकर्तृक सिद्धान्तके विरुद्ध भी उत्तर देता है कि—'इस क्रियासे महेश्वरकी आराधना होती है और ईश्वर इसके फल स्वरूप स्वर्गमें पहुँचा देता है, जैसे कि, राजा अपने वेतनवाह सेवकको सेवाका फल देता है ।' इस तरह इसने मीमांसाके विरुद्ध ईश्वरकर्तृत्वका प्रतिपादन किया अतः अपसिद्धान्त निग्रहस्थानसे इसका पराजय हो जायगा ।

---

१. "निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥" —न्यायसू० ५।२।२१ । २. "अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥" —न्यायसू० ५।२।२२ । ३. "सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥"—न्यायसू० ५।२।२३ । ४. सोऽप्यपसि—भ० २ ।

§ १२९. हेत्वाभासाश्च[1] यथोक्ता [2]असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम्[3] २२। इति भेदान्तरानन्त्येऽपि निग्रहस्थानानां द्वाविंशतिर्मूलभेदा निवेदिता इति।

§ १३०. तदेवं[4] छलजातिनिग्रहस्थानस्वरूपभेदाभिज्ञः स्ववाक्ये तानि वर्जयन्परप्रयुक्तानि समादधच्चथाभिमतसाध्यसिद्धिं लभत इति॥

* [5]जातिनिग्रहस्थानानां संग्रहश्लोका यथा—

[6]साधर्म्यमथ वैधर्म्यमुत्कर्षश्चापकर्षकः।
वर्ण्यावर्ण्यविकल्पाश्च साध्यप्राप्त्यनवस्थयः॥१॥
प्रसङ्ग प्रतिदृष्टान्तोऽनुत्पत्तिः संशयस्तथा।
ततः प्रकरणाहेतू अर्थापत्त्यविशेषकौ॥२॥
उपपत्तिश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी तथा क्रमात्।
नित्यानित्ये कार्यसमा जातयः समुदीरिताः[7]॥३॥
प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधाश्च तदन्तरम्।
हेत्वर्थान्तरनिरर्थकाविज्ञातार्थमपार्थकम्॥४॥
अप्राप्तकालयुग् न्यूनमधिकं पुनरुक्तयुक्।
स्वाज्ञानुभाषणाज्ञानाप्रतिभाविक्षेपसंज्ञकम्॥५॥
मतानुज्ञापरिनिरनुयोज्यो[8] भवतस्ततः।
उपेक्षणानुयोगौ चापसिद्धान्तापसाधने॥६॥[9] [10]* इति
जातिनिग्रहस्थानसंग्रहश्लोकाः।*

---

§ १२९. पूर्वोक्त असिद्ध विरुद्ध आदि हेत्वाभास निग्रहस्थान हैं। इस तरह अनन्त अवान्तर भेद होनेपर भी निग्रहस्थानोंके बाईस मूलभेदोंका वर्णन किया।

§ १३०. इस प्रकार छल जाति और निग्रहस्थानोंके स्वरूपको यथावत् जाननेवाला स्ववाक्यमें इनके प्रयोगसे परहेज रखता है तथा दूसरेके द्वारा प्रयुक्त छलादिका उचित समाधान करके अपने पक्षकी सिद्धि कर जयलाभ करता है।

जाति तथा निग्रहस्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा और कार्यसमा, ये चौबीस जातियाँ हैं।

प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास, प्रतिज्ञाविरोध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञानार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, परिनिरनुयोज्य, उपेक्षणानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास ये बाईस निग्रहस्थान हैं।

---

१. "हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः॥"—न्यायसू० ५।२।२४। २. असिद्धादयो भ० २। ३. "ते इमे हेत्वाभासा न्यायप्रविवेकं कुर्वन्तो वस्तुशुद्धिं विदधतीति पृथगुच्यन्ते। अत एव निग्रहस्थानान्तर्गतानामप्येषां पृथगुपदेशः।"—न्यायक० पृ० १६। ४. "तदेवं छलजातिनिग्रहस्थानस्वरूपाभिज्ञाः स्ववाक्ये तानि वर्जयन् परप्रयुक्तानि च समादधन् यथाभिमतसाध्यसिद्धिं लभते।"—न्यायक० पृ० २७। ५. * एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०, क०। ६. –र्म्यवै—भ० २। ७. –ताः इति जातिसंग्रहश्लोकाः प्रति—भ० २, प० १, २। ८. –न्तरमपार्थं च निरर्थाविज्ञातार्थकम् भ० २। ९. पर्यनुयो—भ० २। १०. इति निग्र—भ० २, प० १, २।

§ १३१. अत्रानुक्तमपि किंचिल्लिख्यते । अर्थोपलब्धिहेतुः[1] प्रमाणम् । एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यं[2] ज्ञानम्, प्रमाणाद्भिन्नं फलं, पूर्वं प्रमाणमुत्तरं तु फलम्[3] । स्मृतेरप्रामाण्यम्[4], परस्परविभक्तौ सामान्यविशेषौ नित्यानित्यत्वे सदसदंशौ च, प्रमाणस्य विषयः पारमार्थिकः, तमश्छाये अद्रव्ये, आकाशगुणः[5] शब्दोऽपौद्गलिकः, संकेतवशादेव शब्दादर्थप्रतीतिर्न पुनस्तत्प्रतिपादन

§ १३१. कारिकामें नहीं कही गयी कुछ विशेष बातें भी कहते हैं—अर्थोपलब्धिमें जो साधकतम कारण होता है उसे प्रमाण कहते हैं । उसी आत्माके द्वितीयज्ञान (अनुव्यवसाय) के द्वारा जिसका परिज्ञान होता है ऐसा प्रथमज्ञान प्रमाणका फल है । फलज्ञान प्रमाणसे भिन्न होता है । पूर्व-साधकतम कारणको प्रमाण तथा उत्तर-कार्यको फल कहते हैं । स्मृतिज्ञान अनुभवके द्वारा गृहीत अर्थको ही ग्रहण करनेके कारण अप्रमाण है । स्मृति पूर्वानुभवके परतन्त्र है । सामान्य और सामान्याश्रय द्रव्य गुण कर्मरूप विशेष परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं । नित्य द्रव्य तथा अनित्यद्रव्य पृथक्-पृथक् हैं । भाव तथा अभाव दोनों पृथक् पदार्थ हैं । ये ही सब प्रमाणके विषय हैं । तम और छाया द्रव्यरूप न होकर तेजोऽभाव रूप हैं । शब्द आकाशका गुण है, पौद्गलिक नहीं है । संकेतके

१. "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम् ।"—न्यायभा० २।१।११ । २. "ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत् ।"—प्रश० व्यो० पृ० ५२२ । "विधादाध्यासिताः प्रत्ययान्तरेणैव वेद्याः प्रत्ययत्वात् । एवं प्रमेयत्वगुणत्वसत्त्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्वहेतवः प्रयोक्तव्याः ।" —विधिवि० न्यायकणि० पृ० २९० । "करणं हि प्रमाणमुच्यते प्रमीयतेऽनेन इति । न च क्रियैव क्वचित् करणं भवति, क्रियायां साध्यायां कारकं किमपि करणमुच्यते यथा दात्रेण चैत्रः शालिस्तम्बं लुनाति इति कर्तृकर्मकरणानि क्रियातो भिन्नान्युपलभ्यन्ते तथेहापि चक्षुषा घटं पश्यतीति दर्शनक्रियातः पृथग्भाव एव तेषां युक्तो न दर्शनं करणमेव इति । प्रमा प्रमाणमिति तु फले प्रमाणशब्दस्य साधुत्वाख्यानमात्रम् कृति करणमिनिवत्..... तेन चक्षुरादेः ज्ञानक्रियामुपजनयतः करणत्वं ज्ञानस्य फलत्वमेवेति युक्तः तथाव्यपदेशः;....."—न्यायमं० पृ० ७० । स्वातिरिक्तेत्यादिना शंकरस्वामी प्रमाणयति—स्वातिरिक्तक्रियाकारि प्रमाणं कारकत्वतः वास्यादिवत्....॥१३५३॥"—तत्त्वसं० । ३. "यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं प्रमाणम् तदा द्रव्यादिविषयं विशिष्टं ज्ञानं प्रमितिः इत्यर्थः । यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानमपि प्रमारूपमर्थप्रतीतिरूपत्वात् तदा तदुत्पत्तावविभक्तालोचनमात्रं प्रत्यक्षम्....विशेषज्ञानं हि विशेषणज्ञानस्य फलम् विशेषणज्ञानं न ज्ञानान्तरफलम्....यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं फलं तदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रमाणम्, यदा विशेष्यज्ञानं फलं तदा सामान्यविशेषालोचनं प्रमाणम् इत्युक्तं तावत् । सम्प्रति ज्ञानादिबुद्धीनां फलत्वे विशेष्यज्ञानं प्रमाणमित्याह....."—प्रश० कन्दली पृ० १५९ । मीमांसाश्लो० सू० ४ श्लो० ७२–७६ । ४. "कथं तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेदः ? अननुभवत्वेनैव....न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति पृथगनुपदेशात् ।"—न्यायकुसु० ४।१ । ५. "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ।"—वैशे० सू० ५।२।१९ । "उद्भूतरूपवद्द्रव्यसंसर्गाभावस्तमः ।"—वैशे० उप० ५।२।२० । "किं पुरुषवच्छायापि गच्छति आहोस्वित् आवारकद्रव्ये संसर्पति आवरणसन्तानादसन्निधिरन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति । सर्वतो खलु द्रव्येण यस्तेजोभाग आवियते तस्य तस्यासंनिधिरेवावच्छिन्नो गृह्यते इति ।"—न्यायभा० ३।१।८ । "भासामभावरूपत्वात् छायायाः ।" —प्रश० व्यो० पृ० ४६ । "तस्मादभाव एव छाया न तु सतीति सिद्धम् ।"—न्यायवा० ता० टी० पृ० ३४२ । प्रश० किर० पृ० १९ । ६. "शब्दोऽम्बरगुणः ।"—प्रश० भा०, व्यो० पृ० ६२५ ।

सामर्थ्यात्, धर्मधर्मिणोर्भेदः, [1]सामान्यमनेकवृत्ति, [2]आत्मविशेषगुणलक्षणं कर्म, शरीरविषयेन्द्रियबुद्धि-सुखदुःखाना[3]मुच्छेदादात्मसंस्थानं मुक्तिरिति[4] न्यायसारे[5] पुनरेवं 'नित्यसंवेद्यमानेन सुखेन विशिष्टात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्ष' इति ॥

§ १३२. एषां तर्कग्रन्था न्यायसूत्र-भाष्य-न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका-तात्पर्यपरिशुद्धि-न्याया-लंकारवृत्तयः । क्रमेणाक्षपादवात्स्यायनोद्योतकरवाचस्पतिश्रीउदयनश्रीकण्ठाभयतिलकोपाध्याय-विरचिताः ५४००० [6]प्रमिताः । भासर्वज्ञप्रणीते न्यायसारेऽष्टादश टीकाः ॥ तासु मुख्या टीका न्यायभूषणाख्या तेनैव रचिता न्यायकलिका जयन्तरचिता, न्यायकुसुमाञ्जलितर्कश्च ॥३२॥

§ १३३. अथ तन्मतमुपसंहरन्नुत्तरं च मतमुपक्षिपन्नाह[7]।

नैयायिकमतस्यैष समासः कथितोऽञ्जसा ।
सांख्याभिमतभावानामिदानीमयमुच्यते ॥३३॥

कारण ही शब्दोंसे अर्थकी प्रतीति होती है, शब्दोंमें स्वाभाविक वाचक शक्ति नहीं है। धर्म और धर्मीमें अत्यन्त भेद है। सामान्य नित्य और एक होकर अनेक विशेषोंमें रहता है। कर्म-पुण्य-पाप आत्माके विशेषगुणरूप हैं। शरीर, विषय, इन्द्रिय, बुद्धि, सुख, दुःख आदिका उच्छेद करके आत्मस्वरूपमें स्थिति होना मुक्ति है। न्यायसारमें तो आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति करके नित्य अनुभवमें आनेवाले विशिष्ट सुखकी प्राप्तिको भी मुक्ति माना है।

§ १३२. इनके अक्षपादकृत, वात्स्यायनकृत, उद्योतकरकृत, न्यायसूत्र, न्यायभाष्य, न्याय-वार्तिक, वाचस्पतिकृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, उदयनकृत तात्पर्यपरिशुद्धि तथा श्रीकण्ठ अभयतिल-कोपाध्याय विरचित न्यायालङ्कार-वृत्ति आदि प्रमुख तर्कग्रन्थ हैं। इनका प्रमाण ५४००० श्लोक प्रमाण है। भासर्वज्ञकृत न्यायसारकी अठारह टीकाएँ हैं। इनमें न्यायभूषण नामकी टीका सर्वप्रमुख है। जयन्त विरचित न्यायकलिका तथा न्यायकुसुमांजलितर्क भी न्यायशास्त्रके खास ग्रन्थ हैं।

§ १३३. अब न्यायमतका उपसंहार करके आगे सांख्यमतके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा करते हैं—

इस प्रकार नैयायिक मतका संक्षेपसे वास्तविक निरूपण किया है। अब सांख्यके द्वारा माने गये पदार्थोंका विवेचन करते हैं ॥३३॥

---

१. "स्वविषयसर्वगतसभिन्नात्मकमनेकवृत्ति·····"—प्रश० भा०, व्यो० पृ० ६७। २. "धर्मः पुण्य-गुणः।"—प्रश० भा०, व्यो० पृ० ६३७। ३. –मुच्छेदात्मसं—प० १, २, भ० २। ४. "तदा-नीमात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः।"—प्रश० व्यो० पृ० ६३८। "यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिद्यन्ते वासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःखस्यावृत्तिर्नविकल्पते ॥ ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते ? स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥"—न्यायम० पृ० ५०८। "समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव।"—प्रश० कन्द० पृ० १८७। "निःश्रेयसं पुनर्दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी।"—प्रश० किर० पृ० ६। ५. "कुतो मुक्तस्य सुखोपभोग इति चेत्। आगमात्। उक्तं हि—'सुखमा-त्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। तं च मोक्षं विजानीयान् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ तथा, आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिलप्यते। विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति।·····तत्सिद्धमेतत् नित्यसंवेद्यम्। अनेन सुखेन विशिष्टा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्ष इति।"—न्यायसा० पृ० ४०, ४१। ६. 'प्रमिताः' नास्ति आ०, का०, प० १, २, भ० २। ७. –मुपसंहरन्नाह भ० २।

§ १३४. व्याख्या—एषोऽनन्तरोदितो नैयायिकमतस्य समासः संक्षेपः कथित उक्तोऽङ्गसा [1]आग् सांख्याभिमतभावानां संख्याः कापिलास्तेषामभिमता अभीष्टा भावा ये पञ्चविंशतितत्त्वावयः पदार्थास्तेषामयं समास इदानीमुच्यते ॥

[2]इति श्रीतपोगगन०क्लगणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपादपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकाभिधानायां षड्दर्शनसमुच्चयवृत्तौ नैयायिकमतस्वरूप-प्रकटनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ॥

---

§ १३४ यह पहले कहा गया नैयायिक मतका वास्तविक विवेचन है। अब कापिलोंके पच्चीस तत्त्व एवं उनके मतके अन्य पदार्थोंका निरूपण किया जाता है।

इति तपोगगन-रूपी आकाशके सूर्य श्री देवसुन्दर सूरिके चरणकमलोंके परम उपासक श्री गुणरत्नसूरिके द्वारा रची गयी यह षड्दर्शन समुच्चयकी तर्करहस्यदीपिका नामकी टीकामें नैयायिकमतके स्वरूपको प्रकट करनेवाला द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

---

१. प्राग् का० । २. इति तर्करहस्यदीपिकायां गुणरत्नसूरिविरचितायां नैयायिकमतस्वरूपप्रकटनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ॥२॥ इह कलुषकराले दुःषमानामकाले निजनिजगुणगुर्वाम्नायमास्ते प्रचारः । तदपि जिनपतेर्यः पूरस्कारकारी भवभयहृतिहेतोः स्वस्ति तस्मै ततोऽस्मिन् । ॐ नमः पार्श्वाय त्रिजगज्जीवराजीवजीवातवे स्वयं अथ सांख्य भ० २ ।

ॐ

अथ तृतीयोऽधिकारः

§ १. अथादौ सांख्यमतप्रपन्नानां परिज्ञानाय लिङ्गादिकं निगद्यते। त्रिदण्डा एकदण्डा वा कौपीनवसना धातुरक्ताम्बराः शिखावन्तो जटिनः क्षुरमुण्डा मृगचर्मासना द्विजगृहाशनाः पञ्च[1]ग्रासीपरा वा द्वादशाक्षरजापिनः परिव्राजकाश्रयः। [2]तद्भक्ता वन्दमाना ॐ नमो नारायणायेति वदन्ति, ते तु नारायणाय नम इति प्राहुः। तेषां च महाभारते बीटेति ख्याता दारवी मुखवस्त्रिका मुखनिःश्वासनिरोधिका भूतानां दयानिमित्तं भवति। यदाहुस्ते "घ्राणादितोऽनुयातेन श्वासेनैकेन जन्तवः। हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिनाम् ॥१॥"

§ २. ते च जलजीवदयार्थं स्वयं गलनकं धारयन्ति, भक्तानां चोपदिशन्ति। "षट्त्रिंशदङ्गुलायामं विंशत्यङ्गुलविस्तृतम्। दृढं गलनकं कुर्याद्भूयो जीवान्विशोधयेद् ॥१॥ त्रिभिस्तैः भिष्टतोयेन पूतराः क्षारसंभवाः। क्षारतोयेन तु[3] परे न कुर्यात्संकरं ततः ॥२॥ लूतास्यतन्तुगलिते ये बिन्दौ सन्ति जन्तवः। सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते नैव मान्ति त्रिविष्टपे ॥३॥" इति गलनकविचारो मीमांसायाम्।

---

§ १. अब सांख्य मतका परिज्ञान करनेके लिए सांख्योंके लिंग वेष आदिका निरूपण करते हैं। सांख्योंके परिव्राजक तीन दण्डोंके धारक या एक दण्डके धारी होते हैं। लँगोटी मात्रके पहननेवाले या गेरुसे रंगे हुए लाल वस्त्रोंको पहननेवाले होते हैं। सिरपर शिखा-चोटी रखनेवाले या जटाधारी होते हैं। छुरासे भी सिर मुड़ानेवाले होते हैं। मृगचर्मका आसन रखनेवाले, द्विजोंके घर भोजन करनेवाले, पाँच ग्रास प्रमाण आहार करनेवाले, तथा द्वादशाक्षर मन्त्रको जपनेवाले होते हैं। भक्तलोग इन परिव्राजकोंकी वन्दना करते समय 'ओं नमो नारायणाय' कहते हैं। परिव्राजक 'नमो नारायणाय' कहकर आशीर्वाद देते हैं। ये दयालु परिव्राजक मुखकी उष्ण श्वाससे जीवोंकी रक्षा करनेके लिए एक दारवी-लकड़ीकी मुखवस्त्रिका रखते हैं। महाभारतमें इस मुखवस्त्रिकाको 'बीटा' कहा है। वे लोग कहते हैं कि—"हे ब्रह्मन्, एक ह्रस्व अक्षरको उच्चारण करनेके समय भी नाक आदिसे निकली हुई एक श्वाससे ही सैकड़ों जन्तुओं की हिंसा होती है।"

§ २. वे जलमें रहनेवाले जीवोंकी दया पालनेके लिए स्वयं पानी छाननेका गलना-छन्ना रखते हैं तथा अपने भक्तोंको भी पानी छाननेका उपदेश देते हैं। कहा भी है—"छत्तीस अंगुल लम्बा, बाईस अंगुल चौड़ा दृढ़-मोटे गाढ़ेके गलने-छलेसे पानी छानना चाहिए। छाननेके बाद भी जीवोंकी दयाकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए।" मीठे कुँएके जलसे खारे कुँएके तथा खारे कुँएके जलसे मीठे कुँएके जलजीव मर जाते हैं अतः मीठे कुँएके पानीमें खारे कुँएका पानी तथा खारे कुँएके पानीमें मीठे कुँएका पानी नहीं मिलाना चाहिए ॥२॥ मकड़ीके मुँहसे निकले हुए सूक्ष्म तारबिन्दुके समान अत्यन्त सूक्ष्म जलकणमें इतने सूक्ष्मजीव रहते हैं कि यदि वे भौंरेके समान स्थूल हो जायें तो वे तीनों लोकोंमें भी नहीं समा सकते ॥" इस तरहके विचारसे पानी छाननेका विधान किया गया है।

---

१. –ग्रासीपरा भ० २। २. तद्भक्ता ॐ नमो नारायणायेति वदन्ति वन्दमानाः ते तु भ० १, २, प० १, २। ३. तु (चा) परे आ०।

§ ३. सांख्याः केचिदीश्वरदेवाः, अपरे च निरीश्वराः । ये च निरीश्वरास्तेषां नारायणो देवः । तेषामाचार्या विष्णुप्रतिष्ठाकारकाश्चैतन्यप्रभृतिशब्दैरभिधीयन्ते । तेषां मतवक्तारः कपिलासुरिपञ्चशिखभार्गवोलूकाद्यः, ततः सांख्याः कापिला इत्यादिनामभिरभिधीयन्ते । तथा कपिलस्य परमर्षिरिति द्वितीयं नाम, तेन तेषां पारमर्षा इत्यपि नाम ज्ञातव्यम् ।

§ ४. वाराणस्यां तेषां प्राचुर्यम् । [1]बहवो मासोपवासिका ब्राह्मणा अर्चिर्मार्गविरुद्धधूममार्गानुगामिनः । सांख्यास्त्वर्चिर्मार्गानुगाः । तत एव ब्राह्मणा वेदप्रिया यज्ञमार्गानुगाः । सांख्यास्तु हिंसाद्यवेदविरता अध्यात्मवादिनः । ते च स्वमतस्य महिमानमेवमामनन्ति । तदुक्तं माठरवृत्तौ[2]-

"हस पिब लल खाद मोद नित्यं भुङ्क्ष्व च भोगान् यथाभिकामम् ।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥१॥"

शास्त्रान्तरेऽप्युक्तम्[3]—

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
शिखी मुण्डो जटी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥२"॥३३॥

§ ५. अथ शास्त्रकारः सांख्यमतमुपदर्शयति ।

§ ३. कुछ सांख्य तो ईश्वरको देव मानते हैं तथा कुछ निरीश्वरवादी हैं । जो निरीश्वर हैं उनके नारायण ही देवता हैं । इनके आचार्य विष्णु प्रतिष्ठाकारक चैतन्य आदि शब्दोंसे पुकारे जाते हैं । कपिल आसुरि पञ्चशिख भार्गव तथा उलूक आदि सांख्यमतके प्रख्यात वक्ता हैं । इसीलिए ये सांख्य तथा कपिल आदि शब्दोंसे व्यवहृत होते हैं । कपिलका 'परमर्षि' भी नाम है, अतः ये पारमर्ष भी कहे जाते हैं ।

§ ५. सांख्य लोग वनारसमें प्रचुरतासे रहते हैं । बहुत-से मासोपवासी साधु एक-एक माहका उपवास करनेवाले हैं । ब्राह्मण लोग अर्चिमार्गसे विरुद्ध धूममार्गके अनुयायी होते हैं । सांख्यलोग अर्चिमार्गका ही अनुसरण करते हैं । इसीलिए ब्राह्मण वेदानुयायी तथा याज्ञिक अनुष्ठान करनेवाले होते हैं । सांख्य वैदिकी हिंसासे विरक्त रहकर आध्यात्मिक साधना करते हैं । ये लोग अपने मतकी महिमाका इस प्रकार वर्णन करते हैं । माठरवृत्तिमें कहा है कि—"खूब हँसो, मजेसे पीओ, लाड़ आनन्द करो, खूब खाओ, खुशीसे मौज करो, हमेशा रोज-ब-रोज इच्छानुसार भोगोंको भोगो । इस तरह जो लिखितमें आवे बेखटके करो, इतना सब करके भी यदि तुम कपिलमतको अच्छी तरह समझ लोगे तो विश्वास रखो कि तुम्हारी मुक्ति समीप है । तुम शीघ्र ही कपिल मतके परिज्ञानमात्रसे सबकुछ मजामौज करते हुए भी मुक्त हो जाओगे ॥१॥ दूसरे शास्त्रोंमें भी कहा है "सांख्यके पच्चीस तत्त्वोंको यथावत् जाननेवाला चाहे जिस आश्रममें रहे, वह चाहे शिखा रखे, मुंड मुड़ावे या जटा धारण करे उसकी मुक्ति निश्चित है । सांख्य तत्त्वोंका ज्ञाता बिना शकके मोक्षलाभ करता है ॥२॥"

§ ५. अब शास्त्रकार सांख्यमतका निरूपण करते हैं—

१. पंचशंख भ० २ । २. बाह्या मा—भ० १, २, प० १, २ । ३. "हस पिब लल मोद नित्यं विषयानुपभुङ्क्ष्व कुरु च मा शङ्काम् । यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यं च ॥" —सां० का० माठर० पृ० ५३ । ४. –उद्धृतोऽयम्—सां० का० माठर० पृ० ३८ । शास्त्रवा० टी० ३।३७ । तत्त्वसं० प० पृ० १७ । "तथा च उक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्-पञ्चविंशतितत्त्वज्ञः....."।"—तत्त्वसाधा० पृ० ६१ । सन्मति० टी० पृ० २८२ । न्यायाद० टी० पृ० १४ । बस० सू० पृ० १२४ ।

सांख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः ।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ॥३४॥

§ ६. व्याख्या—केचित्सांख्या निर्गत ईश्वरो येभ्यस्ते निरीश्वराः, केवलाध्यात्मैकमानिनः, केचिदीश्वरदेवताः—ईश्वरो देवता येषां ते तथा। तेषां सर्वेषामपि निरीश्वराणां सेश्वराणां चोभयेषामपि तत्त्वानां पञ्चविंशतिः स्यात्। सांख्यमते किल दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदुपघातहेतुस्तत्त्वजिज्ञासोत्पद्यते। आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम्। अत्राध्यात्मिकं द्विविधम्, शारीरं मानसं च। तत्र वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तं यद्दुःखमारभानं देहमधिकृत्य ज्वरातीसारादि संपद्यते तच्छारीरम्, मानसं च कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम्। सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा—आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिसृपसरीसृपस्थावरनिमित्तम्, आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम्। अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामभेदेन बुद्धिवर्तिनाभिहतस्य प्राणिनस्तत्त्वानां जिज्ञासा भवति दुःखविघाताय। तत्त्वानि[3] च पञ्चविंशतिर्भवन्ति ॥३४॥

सांख्य दो प्रकारके हैं एक तो निरीश्वर अर्थात् ईश्वरको नहीं माननेवाले तथा दूसरे ईश्वरको देवता माननेवाले। ये सभी सांख्य (प्रकृति आदि) पच्चीस तत्त्वोंको स्वीकार करते हैं ॥३४॥

§ ६. कुछ सांख्य ईश्वरको नहीं मानकर केवल अध्यात्मवादी हैं। कुछ सांख्य ईश्वरको ही देवता मानते हैं। सभी सेश्वरसांख्य तथा निरीश्वरसांख्य साधारणरूपसे पच्चीस तत्त्वोंको स्वीकार करते हैं। सांख्यमतमें कहा है कि—पुरुष जब तीन प्रकारके दुःखोंसे अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है, वह दुःखोंके आघातसे तिलमिला उठता है तब उसे स्वभावतः दुःखोंके दूर करनेके उपायभूत तत्त्वोंके शरणकी इच्छा होती है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ये तीन प्रकारके दुःख हैं। आध्यात्मिक दुःखमें-से कुछ शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं तथा कुछ मनसे। वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंकी विषमतासे देहमें ज्वर, अतीसार आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन व्याधियोंसे आत्माको जो दुःख—बेचैनी होती है वह मानस—आध्यात्मिक दुःख है। ये दोनों दुःख भीतरी कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण आध्यात्मिक कहे जाते हैं। अर्थात् वात-पित्तादिकी विषमता तथा मनके काम-क्रोधादि विकार बाहरसे दिखाई नहीं देते, भीतर ही भीतर उत्पन्न हो जाते हैं अतः ये आध्यात्मिक दुःख हैं। बाह्यकारणोंसे होनेवाला दुःख आधिभौतिक तथा आधिदैविकके भेदसे दो प्रकारका है। मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, सर्प तथा वृक्षादि स्थावर—स्थितिशील प्राणियोंके निमित्तसे होनेवाला दुःख आधिभौतिक है। यक्ष राक्षस तथा भूतादिके आवेशसे होनेवाला दुःख आधिदैविक कहलाता है। ये तीनों दुःख रजोगुणके परिणाम हैं। बुद्धिमें होनेवाले इन दुःखोंसे जब प्राणी अच्छी तरह सताया जाता है वह इनके आघात को सहते-सहते घबड़ा जाता है तब उसे दुःखविघातके कारण भूत तत्त्वोंकी जिज्ञासा होती है। तत्त्व पच्चीस होते हैं।

१. "दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।"—सां० का०। —किं पुनस्तद्दुःखत्रयम्? तदाह—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकम्। तत्र प्रथमं द्विविधं शारीरं मानसं च। तत्र शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां देहधातूनां वैषम्यात् यद् दुःखमात्मानं देहमधिकृत्य ज्वरातीसारादि प्रवर्तते। मानसं प्रियविषयोगादप्रियसंयोगाच्च द्विविधम्। एतदाध्यात्मिकं दुःखमभिहितम्। आधिभौतिकं तु भूतान्यधिकृत्य यत्प्रवर्तते मानुषपशुपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविकं तु दिवमधिकृत्य वत्प्रवर्तते शीतोष्णवातवर्षादिकम्। एवमेतैस्त्रिभिर्दुःखैरभिहतस्यासुरिसगोत्रस्य ब्राह्मणस्य जिज्ञासा समुत्पन्ना।" —सां० का० माठर० पृ० ३। २. तत्त्वजिज्ञा—भ० २। ३. –नि पंच भ० २।

§ ७. अथ तत्त्वपञ्चविंशतिमेव विवक्षुरादौ सत्त्वादिगुणस्वरूपमाह ।

सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद्गुणत्रयम्[1] ।
प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गं क्रमेण तत् ॥३५॥

§ ८. [2]तावच्छब्द प्रक्रमे तच्चैवं ज्ञातव्यं (व्यः) । तेषु पञ्चविंशतौ[3] तत्त्वेषु सत्त्वं सुखलक्षणम्, रजो दुःखलक्षणम्, तमश्च मोहलक्षणमित्येवं प्रथमं तावद्गुणत्रयं[4] ज्ञेयम् । तत्र गुणत्रयस्य कानि लिङ्गानीत्याह—'प्रसाद' इत्यादि । तत्सत्त्वादिगुणत्रयं क्रमेण प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गम्[5] । प्रसादः—प्रसन्नता, तापः—संतापः, दैन्यं—दीनवचनादिहेतुर्विषण्णता, द्वन्द्वे प्रसादतापदैन्यानि, तानि आदिः प्रकारो येषां कार्याणां तानि प्रसादतापदैन्यादीनि, प्रसादतापदैन्यादीनि कार्याणि लिङ्गं—गमकं—चिह्नं यस्य तत्प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गम् । अयं भावः । प्रसादबुद्धिपाटवलाघवप्रसवानभिष्वङ्गाद्वेषप्रीत्यादयः कार्यं सत्त्वस्य लिङ्गम् । तापशोषभेदचलचित्ततास्तम्भोद्वेगाः कार्यं रजसो लिङ्गम् । दैन्यमोहमरणसादनबीभत्साज्ञानागौरवादीनि कार्यं तमसो लिङ्गम् । एभिः

---

§ ७. इन पच्चीस तत्त्वोंके कहनेकी इच्छासे सर्वप्रथम सत्त्व आदि गुणोंका स्वरूप कहते हैं—

सत्त्व रज और तम ये तीन गुण हैं । प्रसाद ताप तथा दीनता आदि कार्योंसे उनका क्रमशः अनुमान होता है ॥३५॥

§ ८. श्लोकमें 'तावत्' शब्द प्रक्रमार्थक है । वह इस प्रकारका है—उन पच्चीस तत्त्वोंमें सर्वप्रथम सुखलक्षणवाला सत्त्व, दुःखात्मक रज, तथा मोहस्वरूप तम इन तीन गुणोंका स्वरूप समझ लेना चाहिए । ये सत्त्वादि तीनों गुणोंका क्रमशः प्रसन्नता, ताप तथा दीनता आदि कार्यों द्वारा अनुमान होता है । प्रसाद—प्रसन्नता खुशदिलीपन, ताप—सन्ताप, जलन, दाह, दैन्य—दीनताके वचन कहनेसे होनेवाली चेहरेकी विषण्णता, विषाद, आदि नानाप्रकारके कार्य हो सत्त्व आदि गुणोंके लिङ्ग अर्थात् पहचान करानेवाले चिह्न होते हैं । तात्पर्य यह कि प्रसन्नता, बुद्धिकी पटुता—चतुराई, लाघव—निरभिमानता—चित्तमें घमंड न होनेसे हलकापन, प्रसव—उत्पन्न, अनभिष्वंग—अनासक्ति, द्वेषरहितता, प्रीति आदि कार्य सत्त्वगुणके चिह्न हैं—अर्थात् इनसे सत्त्वगुणकी पहचान होती है । ताप—जलन, शोष—दाहके कारण हृदय तथा शरीरका सूख जाना, भेद—कूटबुद्धि, चित्तकी चंचलता, स्तम्भ—किसीकी सम्पत्ति देखकर भौंचक्का हो जाना, उद्वेग-रोग आदि रजोगुणके कार्य हैं अर्थात् इनसे रजोगुणका अनुमान होता है । दैन्य—दीनता, मोह—मूढता, अज्ञान, मरण, सादन—दूसरेको बाधा पहुँचाना, बीभत्स—भयानकता डरावनापन, अज्ञान—मूर्खता या विपरीतज्ञान, अगौरव—स्वाभिमानशून्य होना आदि तमोगुणके कार्य हैं । अर्थात् इनके द्वारा तमोगुणका परिचय होता है । इन कार्योंसे सत्त्वादिगुणोंका अनुमान किया जाता है । जैसे—संसारमें जो सुखी होता है वह आर्जव—सरलता, मार्दव—निरभिमानवृत्ति कोमलचित्तता, सत्य, शौच—निर्लोभवृत्ति या साफ-सुथरा

---

१. "सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरु वरणकमेव तमः……॥"—सां० का० १३ । "त्रैगुण्यम् ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः भावे ष्यञ् । त्रयाणां गुण्यम् । प्रसादो लाघवं सङ्गः प्रसङ्गात् प्रीतिरार्जवम् ॥ तुष्टिस्तितिक्षा सत्त्वस्य रूपं साक्षात् सुखावहम् । शोकस्तम्भद्वेषतापखेदभोगाभिमानिता ॥ रजोरूपाण्यनेकानि बहुदुःखप्रदानि वै । तमो नामाच्छादनादि बीभत्सावरणादि च ॥ दैन्यगौरवनिद्रादिप्रभावालस्यलक्षणम् । मोहात्मकमनन्तं तदेवं त्रैगुण्यमीरितम् । सत्त्वं प्रकाशकं विद्याद्रजो विद्यात् प्रवर्तकम् ॥ विनाशकं तमो विद्यात् त्रैगुण्यं योग उच्यते ।"—सांख्यसं० पृ० १४ । भागवपु० १४।१-८ । २. तावच्छब्दः अवधारणे (प्रक्रमे) आ० । तावच्छब्दोऽत्रक्रमे भ० २ । ३. –तितत्त्वेषु भ० २ । ४. त्रयमेव ज्ञेयम् आ० । ५. "प्रकाशशीलं सत्त्वं, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तम इति ।"—योगद० व्यासभा० २।१८ ।

कार्यैः सत्त्वादीनि ज्ञायन्ते । तथाहि—लोके[1] यः कश्चित्सुखमुपलभते स आर्जवमार्दवसत्यशौचह्री-बुद्धिक्षमानुकम्पाप्रसादादिस्थानं भवति, तत्सत्त्वम् । यः कश्चिद्दुःखमुपलभते, स तदा द्वेषद्रोह-मत्सरनिन्दावञ्चनबन्धनतापादिस्थानं भवति, तद्रजः । यः कंचित्कदापि मोहं लभते, सोऽज्ञानम-नालस्याभयदैन्याकर्मण्यतानास्तिक्यविषादोन्मादस्वप्नादिस्थानं भवति, तत्तम इति ।

§ ९. सत्त्वादिभिश्च परस्परोपकारिभिस्त्रिभिरपि गुणैः सर्वं जगद्व्याप्तं विद्यते, परमूर्ध्व-लोके प्रायो देवेषु सत्त्वस्य बहुलता, अधोलोके तिर्यक्षु नारकेषु च तमोबहुलता[3], मध्यलोके मनुष्येषु रजोबहुलता, यद्दुःखप्राया मनुष्या भवन्ति । तदुक्तम्

"ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥१॥ [सांख्यका० ५४]

अत्र ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त इति ब्रह्मादिपिशाचान्तोऽष्टविधः सर्ग इति ॥३५॥

पवित्र रहना, लोकलाज, बुद्धि—हेयोपादेय विवेक, क्षमा, अनुकम्पा—दूसरेको दुःखी देखकर हृदयका कँप जाना—दयालुता, और प्रसन्नता आदिका स्थान होता है । यही तो सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुण-प्रधान पुरुषकी पहचान है । लोकमें जो दुःखी होता है उसके मनमें सदा द्वेष, वैर, मत्सर—ईर्षा, निन्दा, ठगना, दूसरेको बन्धन-झगड़ेमें फँसाना, दूसरेके अभ्युदयमें जलना आदि विकार उत्पन्न होते रहते हैं । इन्हीं सब बातोंसे रजोगुणप्रधान राजस पुरुषका परिचय मिलता है । जो व्यक्ति मोही—अज्ञानी होता है वह अज्ञान, घमण्ड, आलस्य, भय, दीनता, अकर्मण्यता, नास्तिकता, धर्म-कर्मसे विमुख होना, विषाद, उन्माद, भीषण स्वप्न आना, आदि तामस भावोंका आधार होता है । तामस पुरुष इन्हीं कारणोंसे पहचाना जाता है ।

§ ९. एक दूसरेका उपकार करनेवाले परस्पर साक्षेप इन सत्त्वादि तीन गुणोंसे समस्त जगत् व्याप्त है । परन्तु इतनी विशेषता है कि कहीं सत्त्वगुणकी प्रधानता है तो कहीं रजोगुणकी तथा कहीं तमोगुणकी । एककी प्रधानतामें दूसरे गुण गौणरूपसे रहते हैं यही इनकी परस्परोप-कारिता है । ऊर्ध्वलोकमें देवोंमें प्रायः सत्त्वगुणकी बहुलता रहती है । अधोलोकमें तिर्यंच, तथा नारकी जीवोंमें तमोगुणकी प्रचुरता पायी जाती है । मध्यलोकमें मनुष्योंमें रजोगुणकी प्रधानता देखी जाती है । इसीसे मनुष्य प्रायः दुःखी ही अधिक होते हैं । कहा भी है—"ब्रह्मसे लेकर स्तम्ब—स्थावर पर्यन्त यह समस्त सृष्टि ऊर्ध्वलोकमें उत्कृष्ट चैतन्य देवोंमें सत्त्वगुण प्रधान, मूल—अधो-लोकमें अपकृष्ट चैतन्य वाले पशु आदिमें तमोबहुल, तथा मध्यलोकमें मध्यम चैतन्ययुक्त मनुष्यादि में रजःप्रधान है । ब्रह्मसे स्तम्ब—स्थावर पर्यन्त समस्त सृष्टिमें ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा पैशाच यह आठ प्रकारकी दैवी सृष्टि है ।

---

१. यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीतिं लभते तत्र आर्जवमार्दवसत्यशौचह्रीबुद्धिक्षमानुकम्पाज्ञानादि च । तत्सत्त्वं प्रत्येतव्यम् । अप्रीत्यात्मकं रजः । कस्मात् । दुःखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित्कदाचित् क्वचित् अप्रीति-मुपलभते तत्र द्वेषद्रोहमत्सरनिन्दास्तम्भोत्कण्ठानिकृतिवञ्चनाबन्धवधच्छेदनानि च । तद्रज. प्रत्येतव्यम् । विषादात्मकं तमः । कस्मात् । मोहलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित् मोहमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयदैन्याकर्मण्यतानास्तिक्यविषादस्वप्नादि च तत्तमः प्रत्येतव्यम् ।"—सां० का० माठर० पृ० २१ । सांख्यसं० पृ० ११ । २. –च भी ब्रु—म० २ । ३. –ता नरेषु रजो आ०, क०, ए० १, २, म० १ ।

एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः[1] किलोच्यते ।
प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या नित्यस्वरूपिका ॥३६॥

§ १०. व्याख्या—एतेषां—सत्त्वादिगुणानां या समा—तुल्यप्रमाणा अवस्था—अवस्थानं, सा सत्त्वादीनां समावस्थैव प्रकृतिरुच्यते । किलेति पूर्ववार्तायाम् । सत्त्वरजस्तमसां गुणानां क्वचिद्देवादौ कस्यचिदाधिक्येऽपि मिथः प्रमाणापेक्षया त्रयाणामपि समानावस्था प्रकृतिः कीर्त्यत इत्यर्थः । प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या । सा च प्रकृतिः प्रधानमव्यक्तं चोच्यते नामान्तराभ्याम् । नित्यम्—अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं स्वरूपं यस्याः सा नित्यस्वरूपिकाविचलितस्वरूपेत्यर्थः । अत एव सावयवा[2] साधारण्यशब्दास्पर्शरसरूपगन्धाव्यया चोच्यते ।

मौलिक्यसांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् पृथक् प्रधानं वदन्ति, उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रतिपन्नाः ॥३६॥

§ ११. प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिर्जायते । अतः सृष्टिक्रममेवाह ।

ततः[3] संजायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते ।
अहंकारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः ॥३७॥

इन गुणोंकी साम्यावस्थाका ही नाम प्रकृतितत्त्व है । इसे प्रधान तथा अव्यक्त शब्दसे भी कहते हैं । प्रकृति नित्य है ॥३६॥

§ १०. इन सत्त्वादि गुणोंकी सम-न्यूनाधिकतासे रहित तुल्य स्थिति ही प्रकृति कही जाती है । 'किल' शब्द पहले कही हुई बातको ओर संकेत करता है । यद्यपि देव आदिमें सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंमें-से किसी एक गुणकी अधिकता अर्थात् प्रधानता बतायी है फिर भी प्रमाण अर्थात् मिकदारकी अपेक्षा जब ये तीनों गुण परस्पर समान अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब उनकी वह साम्यावस्था प्रकृति कही जाती है । प्रधान और अव्यक्त शब्द प्रकृतिके पर्यायवाची हैं । यह नित्य है । इसके किसी रूपका नाश नहीं होता, इसमें कोई नया स्वभाव उत्पन्न नहीं होता, इसीलिए यह स्थिर एकरूप कूटस्थ नित्य है । नित्यस्वरूपका सीधा अर्थ है अविचलितस्वरूप । नित्य होनेके कारण ही यह निरवयव है, साधारण है, शब्दशून्य है, स्पर्शरहित है, रस, गन्ध तथा रूपसे भी शून्य है । बिलकुल अव्यय—अविनाशिनी है ।

मूल सांख्य तो हरएक आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रधानको भी जुदा-जुदा मानते हैं । इनके मतसे अनन्त पुरुषोंकी तरह प्रधान-प्रकृति भी अनन्त हैं । पर उत्तरकालीन सांख्य सभी आत्माओंसे सम्बन्ध रखनेवाला एक नित्य ही प्रधान मानते हैं ॥३६॥

§ ११. प्रकृति और आत्माके संयोगसे ही सृष्टि उत्पन्न होती है, अतः सृष्टिक्रमका निरूपण करते हैं—

---

१. "प्रधानं प्रकृतिः अव्यक्तमव्याकृतं चेत्यनर्थान्तरम् ।"—सांख्यसू० वि० पृ० १०५ । "सा च साम्यावस्थयोपलक्षितसत्त्वादित्रयरूपा ।"—सांख्यसं० पृ० २ । "प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था ।"—सांख्यतत्त्वकौ० का० ३ । तत्त्वमी० पृ० १८५ । सांख्यसं० पृ० १४ । सां० तत्त्वप्र० १५३ । २. साधारणा शब्दा म० २ । ३. "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥" "प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते । ब्रह्म अव्यक्तं बहुधानकं मायेति पर्यायाः । तस्याः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते प्रथमः कश्चित् । महान्, बुद्धिः, मतिः, प्रज्ञा, संवित्तिः, ख्यातिः, चितिः, स्मृतिरासुरी हरिः, हरः हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः । ततोऽहंकारः । तस्मान्महतोऽहंकार उत्पद्यते । तस्य इमे पर्यायाः वैकृतस्तैजसो भूतादिरभिमानोऽस्मिता इति ।"—सां० का० माठर० पृ० ३६ ।

§ १२. व्याख्या—ततः प्रकृतेर्बुद्धिः संजायत उत्पद्यते। सा च गवादौ पुरो दृश्यमाने गौरेवायं नाश्वः, स्थाणुरेवायं न पुरुष इति निश्चयात्मकाध्यवसायरूपा महानिति यका प्रोच्यते महदाख्यया चाभिधीयते। बुद्धेश्च तस्या अष्टौ रूपाणि[1]। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि, अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानीति। ततोऽपि—बुद्धेरप्यहंकारः स्यात्—उत्पद्यते। स च—'अहं सुभगः, अहं दर्शनीयः' इत्याद्यभिमानरूपः। तस्मात्—अहङ्कारात्षोडशको गण[2] उत्पद्यते। षोडशसंख्यामानमस्य षोडशको गणः—समुदायः ॥३७॥

§ १३. अथ षोडशसंख्यं गणं श्लोकद्वयेनाह—

[3]स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम्।
पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्यत्र तथा कर्मेन्द्रियाणि च ॥३८॥
पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि मनस्तथा।
अन्यानि पञ्च रूपादितन्मात्राणीति षोडश ॥३९॥ युग्मम् ॥

§ १४. व्याख्या—स्पर्शनं—त्वक्, रसनं—जिह्वा, घ्राणं नासिका, चक्षुः—लोचनं, श्रोत्रं च श्रवणं पञ्चमम्—एतानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्यत्र—षोडशके गणे भवन्ति। स्वं स्वं विषयं बुध्यन्त इति कृत्वेन्द्रियाण्येव बुद्धीन्द्रियाणि प्रोच्यन्ते। तथाहि—स्पर्शनं स्पर्शविषयं बुध्यते, एवं रसनं रसं, घ्राणं गन्धं, चक्षू रूपं, श्रोत्रं च शब्दमिति। तथाशब्दः पञ्चेतिपदस्यानुकर्षणार्थः। पञ्चसंख्यानि

इस प्रकृतिसे महान्—बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धिसे अहंकार तथा अहंकारसे सोलह-गणोंकी उत्पत्ति होती है ॥३७॥

§ १२. इस प्रकृतिसे बुद्धि उत्पन्न होती है। सामने दीखनेवाली गौमें 'यह गौ ही है घोड़ा नहीं है' ठूंठमें 'यह ठूंठ ही है पुरुष नहीं है' इस प्रकारके पदार्थोंका निश्चय करनेवाली बुद्धि ही महान् कही जाती है। 'महान्' यह बुद्धिका ही पर्यायवाची नाम है। इस बुद्धिके आठ रूप होते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक रूप हैं तथा अधर्म, अज्ञान, विषयाभिलाष और अनैश्वर्य ये चार तामस रूप हैं। इस बुद्धि-महत्तत्त्वसे 'मैं सुन्दर हूँ, मुझे लोग बड़े चावसे देखते हैं—मैं दर्शनीय हूँ' इत्यादि अभिमान रूप अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे सोलहगण सोलह पदार्थोंका समुदाय उत्पन्न होता है ॥३७॥

§ १३. इन सोलह गणोंका दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये बुद्धीन्द्रियाँ, मलस्थान, मूत्रस्थान, वचनके उच्चारण करनेके स्थान, हाथ और पैर ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्राएँ ये सब मिलकर सोलह गण हैं ॥ ३८-३९॥

§ १४. सोलह गणमें स्पर्शन-त्वचा सारा शरीर, रसन—जीभ, घ्राण—नाक, चक्षु—नेत्र, श्रोत्र—कान, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा अपने अपने स्पर्श आदि विषयोंका बोध होता है अतः इन्हें बुद्धीन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। जैसे—स्पर्शनेन्द्रियसे स्पर्शका, रसनेन्द्रियसे रसका, नाकसे गन्धका, नेत्रसे रूपका तथा कानसे शब्दका परिज्ञान होता है। 'तथा' शब्द 'पंच'

१. "अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् सात्त्विकमेतद्रूपं साभसगम्याद्विपर्यस्तम् ॥"—सां० का० २३। २. "अभिमानोऽहंकारस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥"—सां० का० २४। ३. "बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुरसननासिकाख्यानि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ उभयात्मकमत्र मनः संकल्पनामिन्द्रियं च साधर्म्यात्। गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं ग्राह्यभेदाच्च।"—सां० का० २६।२७।

कर्मकारणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि च । कानि तानीत्याह—पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि । तत्र पायुर्गुदं, उपस्थः—स्त्रीपुंश्चिह्नद्वयं, वचश्चेहोच्यतेऽनेनेति वचः, उरःकण्ठाविस्थानाष्टेतया वचनमुच्चारयति, पाणी पादौ च प्रसिद्धौ, एतैर्मलोत्सर्गसंभोगवचनादानचलनादीनि कर्माणि विधत्तीति कर्मेन्द्रियाण्युच्यन्ते । तथाशब्दः समुच्चये । एकादशं मनश्च, मनो हि बुद्धीन्द्रियमध्ये बुद्धीन्द्रियं भवति, कर्मेन्द्रियमध्ये कर्मेन्द्रियम्, तच्च तत्स्वार्थमन्तरेणापि संकल्पवृत्ति । तद्यथा—कश्चिद्बटुः शृणोति "ग्रामान्तरे भोजनमस्ति" इति, तत्र तस्य संकल्पः स्यात् "तत्र यास्यामि तत्र वाहं किं गुडदधिरूपं भोजनं लप्स्य उतस्विद्दधि किं वा किमपि न" इत्येवंरूपं मन इति । तथाहंकारावन्यान्यपराणि रूपादि[1]तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि पञ्चोत्पद्यन्ते । तत्र रूपतन्मात्रं शुक्लकृष्णादिरूपविशेषः, रसतन्मात्रं तिक्तादिरसविशेषः, गन्धतन्मात्रं सुरभ्यादिगन्धविशेषः, शब्दतन्मात्रं मधुरादिशब्दविशेषः, स्पर्शतन्मात्रं मृदुकठिनादिस्पर्शविशेषः, इति षोडश । अयं षोडशको गण इत्यर्थः ॥३८–३९॥

§ १५. अथ तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतान्युत्पद्यन्त इत्याह—

[2]रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद्भूमिः स्वरान्नभः ।
स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ॥४०॥

§ १६. व्याख्या—रूपतन्मात्रात्सूक्ष्मसंज्ञात्तेजोऽग्निरुत्पद्यते, रसतन्मात्रादापो जलानि जायन्ते,

---

पदके आकर्षणके लिए है । ज्ञानेन्द्रियोंकी तरह कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं । पायु—गुदा, उपस्थ—स्त्री और पुरुषके चिह्न अर्थात् योनि और लिङ्ग, वचन अर्थात् जिनके द्वारा वचनोंका उच्चारण होता है ऐसे हृदय कण्ठ आदि आठ स्थान पाणि—हाथ और पाद—पैर ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । इनसे मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग और संभोग, वचन, वस्तुओंका रखना उठाना, तथा चलना आदि क्रियाएँ होती हैं इसीलिए इन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं । 'तथा' शब्द समुच्चयार्थक है । ग्यारहवाँ मन है । मन बुद्धीन्द्रियोंके साथ बुद्धीन्द्रियरूप तथा कर्मेन्द्रियोंके साथ कर्मेन्द्रिय रूप हो जाता है । यह मन वास्तविक अर्थकी स्थितिके बिना भी मात्र संकल्पात्मक होता है । जैसे—किसी बटुक—ब्राह्मण शिष्यने सुना कि—'आज दूसरे गाँवमें भोजनके लिए निमन्त्रण आया है' वह विचारता है कि—उस गाँवमें जायगे, तो वहाँ गुड और दही दोनों मिलेंगे, या केवल दही, अथवा दही और गुड़ दोनों ही न मिलेंगे' ऐसे संकल्प भी मन कहलाता है । अहंकारसे रूपादि पाँच सूक्ष्म संज्ञक तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं । सफेद काला आदि रूप विशेषको रूपतन्मात्रा कहते हैं, तीखा मीठा आदि रसको रस तन्मात्रा, सुगन्ध तथा दुर्गन्धको गन्धतन्मात्रा, मधुर आदि शब्दोंको शब्दतन्मात्रा तथा कोमल कठिन आदि स्पर्शोंको स्पर्शतन्मात्रा कहते हैं । इस तरह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पाँच तन्मात्राएँ ये सोलहगण कहलाते हैं ॥३८-३९॥

§ १५. तन्मात्राओंसे पाँच भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—

रूपसे अग्नि, रससे जल, गन्धसे पृथिवी, शब्दसे आकाश तथा स्पर्शसे वायु, इस प्रकार पाँच तन्मात्राओंसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥४०॥

§ १६. सूक्ष्म संज्ञक रूप तन्मात्रासे अग्नि उत्पन्न होती है । रस तन्मात्रासे जलका आविर्भाव

---

१. –ष्टतयी वचन—आ०, क० । २. –ण्यपि तत्मा—प० १, २, भ० १, २, क० । ३. "तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात्पृथिवी इत्यादिक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथ्वीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः ।" —सां० का० माठर० पृ० ३० ।

गन्धतन्मात्रात्पृथिवी समुत्पद्यते, स्वराच्छब्दतन्मात्रादाकाशमुद्भवति, तथा स्पर्शतन्मात्राद्वायुः प्रादुर्भवति, एवं च पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यो भूतपञ्चकं भवतीति ॥४०॥

एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं सांख्यमते प्रधानम् ।
[1]अन्यस्त्वकर्ता विगुणश्च भोक्ता तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः ॥४१॥

§ १७. व्याख्या—एवममुनोक्तप्रकारेण सांख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानम् । प्रकृतिर्महानहंकारश्चेति त्रयं पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनश्चैकं, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च भूतानि चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि रूपं स्वरूपं यस्य तच्चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं प्रकृतिर्निवेदितम् । तथा चोक्तम् "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥" [सांख्यका० २२] इति ।

§ १८. अत्र प्रकृतिर्न विकारः, अनुत्पन्नत्वात् । बुद्ध्याद्यश्च सप्त परेषां कारणतया प्रकृतयः, कार्यतया च[2] विकृतय उच्यन्ते । षोडशकश्च गणो विकृतिरेव कार्यत्वात् । पुरुषस्तु न प्रकृतिर्न विकृतिः, अनुत्पादकत्वादनुत्पन्नत्वाच्च । तथा चेश्वरकृष्णः सांख्यसप्ततौ—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥१॥ [सांख्यका० ३] इति ।

§ १९. तथा महदादयः प्रकृतेर्विकारास्ते च व्यक्ताः सन्तः पुनरव्यक्ता अपि भवन्तीति

होता है । गन्धतन्मात्रासे पृथिवीकी समुत्पत्ति होती है । स्वरशब्दतन्मात्रासे आकाशका प्रादुर्भाव होता है । स्पर्शतन्मात्रासे वायुका जन्म होता है । इस प्रकार पाँच सूक्ष्म संज्ञक-तन्मात्राओंसे पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥४०॥

इस प्रकार सांख्यमतमें चौबीसतत्त्व रूप प्रधान नामके मूलतत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया गया है । प्रधानसे भिन्न पुरुषतत्त्व है । यह अकर्ता, निर्गुण, भोक्ता तथा नित्य चेतन है ॥४१॥

§ १७. इस तरह सांख्यमतमें प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वरूपमें परिणत होनेवाला प्रधान तत्त्व है । स्वयं प्रकृति, महान् और अहंकार ये तीन, पाँच बुद्धीन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पाँच तन्मात्राएँ तथा पाँच भूत ये चौबीस तत्त्व हैं, जिन रूपोंमें प्रधान अपना विस्तार दिखाता है । कहा भी है—"प्रकृतिसे महान्, महान्से अहंकार, अहंकारसे सोलहगण तथा सोलहगणके अन्तर्गत पाँच तन्मात्राओंसे पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ।"

§ १८. इनमें प्रकृति किसीका विकार अर्थात् कार्य नहीं है; क्योंकि वह किसीसे उत्पन्न नहीं होती । महान् अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ ये सात कार्योंके उत्पादक होनेसे प्रकृति अर्थात् कारणरूप हैं तथा कारणोंसे उत्पन्न कार्यरूप होनेसे विकृति भी है । सोलह गण मात्र विकृति-रूप ही हैं क्योंकि वे कार्य हैं । पुरुष तो न किसीको उत्पन्न करता है और न किसीसे उत्पन्न ही होता है अतः वह न प्रकृति—कारण है और न विकृति—कार्यरूप ही है । ईश्वरकृष्णने सांख्यसप्ततिमें कहा है—"मूलप्रकृति अविकृति अर्थात् अकार्य है, किसीसे उत्पन्न नहीं होती । महान् आदि सात कार्यरूप होनेसे विकृति हैं तथा उत्पादक होनेसे प्रकृतिरूप भी हैं । सोलह गण मात्र विकाररूप ही हैं । पर पुरुष न प्रकृति—कारण ही है और न विकृति—कार्यरूप ही ।" इति ।

§ १९. महान् आदि व्यक्त होकर भी अव्यक्त हो जाते हैं । इस तरह अपने स्वरूपसे च्युत

---

१. "तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ —सां० का० १९ । २. –या वि—म० १ ।

[1]स्वरूपाद्भ्रश्यत्यनित्यत्वात् । प्रकृतिस्त्वविकृता नित्याभ्युपगम्यते । ततो न कदाचिदपि सा[2] स्वस्वरूपाद्भ्रश्यति । तथा च महदादिकस्य प्रकृतेश्च [3]स्वरूपं सांख्यैरित्थमूचे ।

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं, व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥" [सांख्यका० २०] इति ।

§ २०. तत्र हेतुमत्कारणवन्महदादिकम्, अनित्यमित्युत्पत्तिधर्मकत्वाद्बुद्ध्यादेः,[4] अव्यापीति प्रतिनियतं न सर्वगं, सक्रियमिति सह क्रियाभिरध्यवसायादिभिर्वर्तत इति सक्रियं—सव्यापारं संचरणक्रियावदिति यावत्, अनेकमिति त्रयोविंशतिभेदात्मकं, आश्रितमित्यात्मोपकारकत्वेन प्रधानमवलम्ब्य स्थितं, लिङ्गमिति यद्यस्मादुत्पन्नं तत्तस्मिन्नेव [5]लयं क्षयं गच्छतीति लिङ्गम् । तत्र भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि मनश्चाहंकारे, स च बुद्धौ, सा चाव्यक्ते, तच्चानुत्पाद्यत्वान्न क्वचित्प्रलीयते । सावयवमिति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात्, परतन्त्रमिति कारणाधत्तत्वादित्येवंरूपं व्यक्तं महदादिकम् । अव्यक्तं तु प्रकृत्याख्यम्, एतद्विपरीतमिति । तत्र विपरीतता सुधीभिरूह्यैव । नवरं प्रधानं दिवि भुव्यन्तरिक्षे च सर्वत्र व्यापितया वर्तत इति व्यापित्वं तस्य, तथाव्यक्तस्य व्यापकत्वेन संचरणरूपायाः क्रियाया अभावान्निष्क्रियत्वं च द्रष्टव्यमिति दिङ्मात्रमिदं दर्शितम् । विशेषव्याख्यानं तु सांख्यसप्ततिप्रभृतेस्तच्छास्त्रादवसेयमिति ।

होनेके कारण ये अनित्य हैं । प्रकृति तो कभी भी विकार—कार्यरूप नहीं होती, प्रकृति तो सदा प्रकृति अर्थात् कारण ही बनी रहती है अतः यह नित्य है । वह कभी भी अपने प्रकृति स्वरूपसे च्युत नहीं होती । महदादिक व्यक्त तथा प्रकृतिका स्वरूप सांख्योंने इस प्रकार कहा है—"व्यक्त-कार्य हेतुमत्—सकारण, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, आश्रित-कारणाश्रित, लिङ्ग-कारणमें लीन होनेवाला, सावयव तथा परतन्त्र होता है । अव्यक्त कारण इससे विपरीत होता है ।"

§ २०. महदादि व्यक्त सकारण हैं कारणोंसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके कारण ही अनित्य हैं, अव्यापि—प्रतिनियत देशवर्ती हैं, सर्वगत नहीं हैं, सक्रिय—अध्यवसाय आदि क्रियाओंको करनेके कारण सव्यापार हैं, संचरण आदि क्रियाएँ करते हैं । तेईस भेदरूप होनेसे अनेक हैं, आश्रित होनेसे निमित्त होनेके कारण आत्माके उपकारक होनेसे प्रधानरूप कारणके आधीन हैं । लिङ्ग—जो जिससे उत्पन्न होता है वह प्रलयकालमें उसीमें लीन हो जाता है अतः ये लयं गच्छति—कारण में लीन होनेके कारण लिंग रूप हैं । लयका क्रम इस प्रकार है—महाभूत अपने कारणरूप तन्मात्राओंमें लीन होते हैं । तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ और मन ये सोलहगण अपने कारण अहंकारमें लीन हो जाते हैं । अहंकार महान्—बुद्धिमें तथा बुद्धि अव्यक्त—प्रकृतिमें लीन हो जाती है । प्रकृति स्वयं किसीसे उत्पन्न नहीं हुई अतः उसका कहीं भी लय नहीं होता । व्यक्त सावयव—शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि अवयवोंसे युक्त होता है, परतन्त्र कारणोंके आधीन रहता है । महदादि व्यक्त—पूर्वोक्त हेतुमत्त्व आदि धर्मोंवाला है । अव्यक्त—प्रकृति ठीक इससे उलटी है, वह किसीसे उत्पन्न नहीं होती है, नित्य है, व्यापी है, निष्क्रिय है, एक है, अनाश्रित है, किसीमें लीन नहीं होनेसे अलिंग है, निरवयव है, तथा स्वतन्त्र है । प्रधान स्वर्ग आकाश पृथिवी आदि सभी स्थानोंमें व्यापीरूपसे रहता है इसलिए वह सर्वगत अव्यक्त—प्रधान सर्वव्यापी होनेसे उसमें कोई संचरण आदि क्रियाएँ भी नहीं हो सकतीं इसीलिए वह निष्क्रिय है । यहाँ तो इनका संक्षिप्त स्वरूप ही दिखाया गया मात्र दिशासूचन किया है । इनका विशेष व्याख्यान तो सांख्यसप्तति आदि सांख्यशास्त्रोंसे जान लेना चाहिए ।

१. –लि स्वस्वरू— आ० । २. सा स्वरूपा—मा० २, प० २ । ३. –तेः स्वस्व—भ० २ । ४. –द् बुद्ध्यादिवत् अव्या—भ० २ । ५. विलयं भ० २ ।

§ २१. अथ पञ्चविंशतितमं पुरुषतत्त्वमाह—"अन्यस्त्वेकर्ता" इत्यादि । प्रकृतेश्चतुर्विंशति-तत्त्वरूपाया अन्यस्तु पृथग्भूतः, पुनरकर्ता त्रिगुणो भोक्ता नित्यचिदभ्युपेतश्च पुमान्पुरुषस्तत्त्वम् । तत्रात्मा विषयसुखादिकं तत्कारणं पुण्यादिकर्म च न करोतीत्यकर्ता, आत्मनस्तृणमात्रकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थत्वात् । कर्त्री तु प्रकृतिरेव, तस्याः प्रवृत्तिस्वभावत्वात् । तथा त्रिगुणः सत्त्वा[1]दिगुणरहितः, सत्त्वादीनां प्रकृतिधर्मत्वाद्वात्मनश्च तद्भावात् ।

§ २२. तथा भोक्ता अनुभविता । भोक्तापि साक्षान्न भोक्ता, किं तु प्रकृतिविकारभूतायां चेतनमुखदर्पणाकारायां बुद्धौ संक्रान्तानां सुखदुःखादीनां पुरुषः स्वात्मनि निर्मले प्रतिबिम्बोदय-त्वेन भोक्ता व्यपदिश्यते, "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इति वचनात्[2] ।

§ २१. अब पचीसवें पुरुषतत्त्वका निरूपण करते हैं—पुरुष—आत्मा प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न है, अकर्ता है, निर्गुण है, भोक्ता है तथा नित्य चैतन्यशाली है । आत्मा विषय सुख आदिको तथा इनके कारण पुण्य आदि कर्मोंको नहीं करता इसलिए वह अकर्ता है । आत्मामें एक तिनकेको भी टेढ़ा करनेकी सामर्थ्य नहीं है । करने-धरनेवाली तो प्रकृति है । क्योंकि प्रकृतिका ही प्रवृत्ति करना यह स्वभाव है । पुरुष सत्त्वादिगुणोंसे सर्वथा रहित है । क्योंकि सत्त्वादि तो प्रकृति-के धर्म हैं वे आत्माके धर्म नहीं हो सकते ।

§ २२. आत्मा भोक्ता—भोगनेवाला है, वह अनुभव करता है । किन्तु विषयोंको साक्षात् नहीं भोगता किन्तु प्रकृतिके विकाररूप बुद्धिदर्पणमें सुख-दुःखादि विषय प्रतिबिम्बित होते हैं । यह बुद्धि-दर्पण दूसरेका पारदर्शी दर्पण है इसमें दोनों ओर प्रतिबिम्ब झलकता है । अतः बुद्धिदर्पणमें प्रति-बिम्बित सुख-दुःखादिकी छाया अत्यन्त निर्मल पुरुषमें पड़ती है । पुरुषके स्वच्छ स्वरूपमें बुद्धि-प्रतिबिम्बित सुख-दुःखादिकी छाया पड़ना ही पुरुषका भोग है और ऐसे ही भोगके कारण पुरुष भोक्ता कहा जाता है । "बुद्धिके द्वारा अध्यवसित अर्थोंका पुरुष अनुभव करता है" यह पुरातन आचार्योंका कथन है । जैसे जपाकुसुम आदि रंगीली वस्तुके सन्निधानसे स्वच्छ स्फटिक भी लाल आदि रंगवाला कहा जाता है ठीक उसी तरह प्रकृतिके संसर्गके कारण स्वच्छ पुरुषमें भी सुख-दुःखादिके भोक्तृत्वका व्यपदेश हो जाता है । वादमहार्णवका भी मत है कि—बुद्धिरूपी दर्पणमें

१. –कर्तीति प्र—भ० २ । २ –दिग्रहि—भ० २ । ३. "सत्ते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुण-विशेषाः । कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥""बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति मनश्च संकल्प्य अहंकारस्य अहंकारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायाम् । सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः । सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥ बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तदूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति""॥" सांख्यका० ॥३६, ३७॥ "इन्द्रियप्रणालि-कया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेरर्थाकारा वृत्तिर्जायते""। स्मृतिरपि—"तस्मिन्दिचद्दर्पणे स्फारे गगनाभा वस्तुदृष्टयः । इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥"—सांख्यप्र० भा० २।८७ । "बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिपतितमवेदितृत्वं पुंसः तथा च दृशिच्छायापन्ना बुद्धया संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थ ।"—योगसू० तत्त्ववैशा० २।२० । "भोगोभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सख्यां भोगः कल्प्यते ।"—योगसू० व्यासभा० २।१८ । "यच्च तत्रैव विन्ध्यवासिनो भाष्यम्—भोक्तृभोग्यशक्त्यो""।—न्यायवि० वि० प्र० पृ० २३१ । "अयमेव च तस्य भोगो यत्तत्र छायासंक्रमणसामर्थ्यम् इति च तत्रिबन्धनकारस्य ।"—न्यायवि० वि० प्र० पृ० २३४ । "तस्मिन्दिचद्दर्पणे स्फारे गगनाभाः वस्तुदृष्टयः । इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥ यथा संक्रान्यते रक्तः केवलस्फटिको जनैः । रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्पुरुषचेतनम्—इत्यादिस्मृतिरर्थतोऽपीति ।"—यो० वा० पृ० २२ । ४. उद्धृतमिदम्—त० श्लो० पृ० ५० । प्रमेयक० पृ० । न्यायकु० पृ० १९० । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २३५ । स्या० रत्ना० पृ० २३३ ।

यथा जपाकुसुमादिसंनिधानवशात्स्फटिके रक्ततादि व्यपदिश्यते, तथा 'प्रकृत्युपधानवशात्सुख-दुःखाद्यात्मकानामर्थानां पुरुषस्य भोजकत्वं युक्तमेव व्यपदिश्यते ।

वार्षगण्योऽप्याह—"बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वं पुरुषस्य, न त्वात्मनो विकारापत्तिः ।" [ ] इति

तथा चासुरिः—

"विविक्ते दृग्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य स्मृतः ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥१॥"

व(वि)न्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

"पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सांनिध्यादुपाधिः(धेः)स्फटिकं यथा ॥२॥" इति ।

§ २३. तथा नित्या या चिच्चेतना तत्राभ्युपेतः, एतेन पुरुषस्य चैतन्यमेव स्वरूपं, न तु ज्ञानं, ज्ञानस्य बुद्धिधर्मत्वादित्यावेदितं द्रष्टव्यम् । केवलमात्मा स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते, सुखदुःखादयश्च विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति, बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा, ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः 'प्रतिबिम्बते, ततः सुख्यहं दुःख्यहं ज्ञाताहमित्युपचर्यते । आह च पतञ्जलिः[4]—

'शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते" [योगभा० २।२०] इति ।

आये हुए पदार्थोंके प्रतिबिम्बका स्वच्छपुरुषरूपी द्वितीय दर्पणमें प्रतिफलित होना—झलकना ही सुख-दुःखादिका भोग है तथा उस प्रतिबिम्बका पड़ना ही पुरुषका भोक्तृत्व है । इस प्रतिबिम्बप्रतिफलनरूप भोगको छोड़कर आत्मामें कोई दूसरे प्रकारका भोक्तृत्व नहीं है । आत्मामें किसी भी तरह इसके कारण विकार नहीं होता ।" आसुरि आचार्यने भी कहा है कि—"जिस प्रकार स्वच्छ जलमें चन्द्रमाके प्रतिबिम्बका उदय होता है उसी तरह बुद्धिसे भिन्न चैतन्यका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब पड़ना ही भोग है । चन्द्रका प्रतिबिम्ब जैसे जलका ही विकार है चन्द्रमाका नहीं है उसी प्रकार बुद्धिमें पड़ा हुआ पुरुषका प्रतिबिम्ब भी बुद्धिका ही विकार है आत्माका नहीं । यही आत्मा का भोग है ।"

विन्ध्यवासीने तो भोगका स्वरूप इस प्रकार बताया है—"पुरुष तो स्वरूपसे सर्वथा अविकारी है, परन्तु अचेतन मन संसर्गके कारण पुरुषके स्वच्छस्वरूपमें प्रतिफलित होकर उसे अपने आकारवाला बना देता है । जैसे कि—जपाकुसुम आदि उपाधियाँ स्वच्छस्फटिकको अपने समान लाल नीला या पीला बना देती हैं ।"

§ २३. नित्य चेतनत्व ही पुरुषका यथार्थ स्वरूप है । इस विशेषणसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि—चैतन्य ही पुरुषका स्वरूप है, ज्ञान नहीं । ज्ञान तो बुद्धिका धर्म है । हाँ, आत्मा अपनेसे सर्वथा भिन्नकी भी बुद्धिको अभिन्न अवश्य मान बैठता है । सुख-दुःख आदि विषय इन्द्रियोंके द्वारा बुद्धि तक आते हैं, बुद्धि उभयतः पारदर्शी दर्पणके समान है । अतः उसमें जिस प्रकार एक ओर सुख-दुःखादिका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी तरह उसमें दूसरी ओर पुरुषके चैतन्यका भी प्रतिबिम्ब पड़ता है । बस, बुद्धिरूपी माध्यममें चैतन्य और विषयका युगपत् प्रतिबिम्ब पड़नेसे ही पुरुष अपनेको 'मैं ज्ञाता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' आदि मानने लगता है । पतंजलिने भी कहा है कि—"पुरुष तो सर्वतः शुद्ध है, वह बौद्ध—बुद्धि सम्बन्धी प्रत्यय अर्थात् ज्ञानवृत्तिको देखता है । उस बुद्धि सम्बन्धी

---

१. प्रकृतिपधा—म० २ । २. न ह्यात्म—म० २ । ३. प्रतिबिम्बति—म० २ । ४. "शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि—तदात्मक एव प्रत्यवभासते ।" —यो० भा० २।२० ।

"बुद्धिश्चाचेतनापि चिच्छक्तिसंनिधानाच्चेतनावतीवावभासते" इति ।

§ २४. **पुमानित्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, तेनात्माऽनेकोऽभ्युपगन्तव्यः, जन्ममरणकरणानां नियमदर्शनाद्धर्मादिप्रवृत्तिनानात्वाच्च । ते च[1] सर्वेऽप्यात्मनः सर्वगता नित्याश्चावसेयाः । उक्तं च--**

"अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥१॥" इति ॥४१॥

§ २५. **तत्त्वान्युपसंहरन्नाह—**

पञ्चविंशतितत्त्वानि संख्ययैवं भवन्ति च ।
प्रधाननरयोश्चात्र वृत्तिः पङ्ग्वन्धयोरिव ॥४२॥

§ २६. **व्याख्या—चकारो भिन्नक्रमः, एवं च संख्यया पञ्चविंशतितत्त्वानि भवन्ति । ननु प्रकृतिपुरुषावुभावपि सर्वगतौ मिथःसंयुक्तौ कथं वर्त्तेते इत्याशङ्क्याह—'प्रधानेत्यादि' । प्रधान-पुरुषयोश्चात्र विश्वे पङ्ग्वन्धयोरिव वृत्तिर्वर्तनम् । यथा कश्चिदन्धः सार्थेन समं पाटलिपुत्रनगरं प्रस्थितः, स सार्थश्चौरैरभिहतः । अन्धस्तत्रैव रहित इतश्चेतश्च धावन् वनान्तरपङ्गुना दृष्टोऽभिहितश्च 'भो भो अन्ध मा भैषीः, अहं पङ्गुर्गमनाविक्रियाविकलत्वेनाक्रियश्चक्षुर्भ्यां सर्वं पश्यन्नस्मि,**

प्रत्ययको देखनेके कारण ही वह अतदात्मक अर्थात् ज्ञातृत्वादि धर्मोंसे शून्य होकर भी तदात्मक अर्थात् बुद्धयात्मक ज्ञाता आदि रूपसे प्रतिभासित होने लगता है ।" बुद्धि स्वयं अचेतन है, परन्तु पुरुषकी चैतन्यशक्तिका सन्निधान होनेसे चेतनावाली मालूम होने लगती है ।"

§ २४. श्लोकमें 'पुमान्' इस एकवचनका प्रयोग पुरुषत्व जातिकी अपेक्षासे है । व्यक्तिरूप-से तो पुरुष अनेक हैं । एक पुरुष उत्पन्न होता है उसी समय दूसरा मरता है, हरएककी बुद्धि आदि जुदी जुदी हैं, एक सुखी है तो दूसरा दुःखी देखा जाता है, इत्यादि प्रतिनियत पुण्य-पाप आदि की व्यवस्थासे स्पष्ट मालूम होता है कि पुरुष अनेक हैं, एक नहीं । ये सभी आत्मा सर्वगत तथा नित्य हैं । कहा भी है—"सांख्य दर्शनमें आत्मा अमूर्त है, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण तथा सूक्ष्म है ।" इति ॥४१॥

§ २५. अब तत्त्वनिरूपणका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार गिनती करनेपर कुल पचीस तत्त्व होते हैं । प्रधान और पुरुष दोनोंका सम्बन्ध तो अन्धे और लंगड़े जैसा है ॥४२॥

चकार भिन्नक्रम है । अतः 'एवं' के बाद उसका अन्वय होता है । इस तरह संख्यासे अर्थात् गिनती करनेपर पचीस तत्त्व होते हैं ।

शंका—प्रकृति और पुरुष दोनों ही सर्वगत हैं अतः वे परस्पर संयुक्त होकर किस ढंगसे रहते हैं ?

समाधान—इस विश्वमें प्रधान और पुरुषका संयोग तो अन्धे और लँगड़ेके समान है । जैसे—एक अन्धा सार्थ-व्यापारी यात्रीके साथ पाटलिपुत्र—पटनेकी ओर रवाना हुआ । मार्ग बीहड़ था । लुटेरोंने सार्थको मार डाला । विचारा अन्धा अपने साथीके वियोगसे तथा मार्ग नहीं सूझनेके कारण विकल हो उस भयानक जंगलमें इधर-उधर भटकने लगा । वहीं एक लंगड़ा दृष्टि सम्पन्न होकर भी चलनेकी शक्ति न होनेके कारण पड़ा हुआ था । उसने उस भटकते हुए अन्धे-को देखकर कहा—हे भाई अन्धे, मत डरो, मैं कहता हूँ सो सुनो, मैं लंगड़ा हूँ सब कुछ देखता हूँ

---

१. ते सर्वे—म० २ । २. "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥"—सांख्य का० २१ ।

स्वं तु गमनादिक्रियावान्न 'पश्यसि'। ततो अन्धेनोचे—'शबिरमिदम्, अहं भवन्तं स्कन्धे करिष्यामि, एवमावयोर्वर्तनमस्तु' इति। ततोऽन्धेन पङ्गुर्द्रष्टृत्वगुणेन स्वं स्कन्धमधिरोपितो नगरं प्राप्य नाटकादिकं पश्यन् गीतादिकं चेन्द्रियविषयमन्यमप्युपलभ्यमानो यथा मोदते, तथा पङ्गुकल्पः शुद्धचैतन्यस्वरूपः पुरुषोऽप्यन्धकल्पां जडां प्रकृतिं सक्रियामाश्रितो बुद्ध्यध्यवसितं शब्दादिकं स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं चेतयमानो मोदते, मोदमानश्च प्रकृतिं सुखस्वभावां मोहान्मन्यमानः संसारमधिवसति ॥४२॥

§ २७. तर्हि तस्य कथं मुक्तिः स्यादित्याह—

प्रकृतिवियोगो मोक्षः पुरुषस्य ह्येतदन्तरज्ञानात् ।
मानत्रितयं चात्र प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दम् ॥ ४३ ॥

§ २८. व्याख्या—**ह्येति** पृच्छकानामामन्त्रणे, एतयोः प्रकृतिपुरुषयोर्यदन्तरं विवेकस्तस्य ज्ञानात्पुरुषस्य यः प्रकृतेर्वियोगो भवति, स मोक्षः। तथाहि—

"शुद्धचैतन्यरूपोऽयं पुरुषः परमार्थतः ।
प्रकृत्यन्तरमज्ञात्वा मोहात्संसारमाश्रितः ॥ १ ॥"

ततः प्रकृतेः सुखदुःखमोहस्वभावाया यावन्न विवेकेन ग्रहणं तावन्न मोक्षः, प्रकृतेर्विवेकदर्शने तु प्रवृत्तेरुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति। मोक्षश्च बन्धविच्छेदाद्भवति,

पर चलनेकी ताकत न होनेसे पड़ा हूँ, तुम चल तो सकते हो पर देख नहीं पाते' यह सुनते ही अन्धा खुशीके मारे उछल पड़ा और बोला—'अरे, बड़ा अच्छा हुआ, मैं अपने कन्धेपर तुम्हें बैठा लेता हूँ, बस हम तुम दोनोंका काम चल जायगा।' इस तरह अन्धेने लँगड़ेको द्रष्टा होनेके कारण अपने कन्धेपर बिठाया और अन्धा उसे देश-देशमें घुमाने लगा। लँगड़ा नगरमें पहुँचा। वहाँ वह नाटक देखकर, गाना सुनकर तथा अन्य इन्द्रियोंके विषयोंका यथेष्ट अनुभवन कर जिस प्रकार खुश होता है कि इसी तरह क्रियाशक्तिसे विकल-अकर्ता शुद्ध चैतन्य स्वरूपी यह लँगड़ा पुरुष अन्धेके समान सक्रिय सब कुछ करने-धरनेवाली जड़ प्रकृतिके कन्धेपर चढ़कर अर्थात् प्रकृतिका संसर्ग पाकर बुद्धिके द्वारा अध्यवसित शब्दादि विषयोंको, जो अपने स्वच्छ स्वरूपमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, अनुभव करता हुआ खुश हो रहा है। और इस खुशीमें वह अज्ञानके कारण प्रकृतिको ही सुखरूप मान बैठता है और इसीलिए उस अन्धी प्रकृतिके कन्धेपर चढ़ा हुआ संसार-परिभ्रमण करता रहता है। जैसे कि लँगड़ा अन्धे पुरुषके संसर्गको सुखरूप मान उसे कभी भी नहीं छोड़ना चाहता उसी तरह पुरुष भी प्रकृतिसंसर्ग को ही सब कुछ मानकर मोहके कारण उसे छोड़ना नहीं चाहता और संसारमें रहता है ॥ ४२ ॥

§ २७. तब पुरुष की मुक्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर देते हैं—

प्रकृतिके वियोगका नाम मोक्ष है। यह प्रकृति तथा पुरुष में भेद विज्ञान रूप तत्त्वज्ञानसे होता है। सांख्यमतमें प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ये तीन प्रमाण हैं ॥ ४३ ॥

§ २८. 'ह्येत' शब्द पूछनेवालेका ध्यान खींचनेके लिए है। प्रकृति और पुरुष में भेदज्ञान होनेसे जो प्रकृतिका वियोग होता है वही मोक्ष है। जैसे—"यह पुरुष वस्तुतः शुद्ध चैतन्य रूप है।

---

१. पश्यसि म० १, म० २, प० १, प० २।

बन्धश्च प्राकृतिकवैकारिक[1]दाक्षिणभेदात् त्रिविधः[2]। तथाहि—प्रकृतावात्मज्ञानाद[3] ये प्रकृतिमुपासते, तेषां प्राकृतिको बन्धः। ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते, तेषां वैकारिकः। इष्टापूर्ते दाक्षिणः, पुरुष[4]तत्त्वानभिज्ञो ह्येष्टापूर्तकारी कामोपहतमना[5] बध्यत इति।

"इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो वेदभिनन्दन्ति मूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेनानुभूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१॥" [मुण्डक० १।२।१०] इति। बन्धाच्च प्रेत्यसंसरणरूपः संसारः प्रवर्तते।

§ २९. सांख्यमते च पुरुषस्य प्रकृतिविकृत्यनात्मकस्य न बन्धमोक्षसंसारः, किं तु प्रकृतेरेव। तथा च कापिलाः—

"तस्मान्न बध्यते नैव मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते[6] मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥१॥" [सांख्य का० ६२।] इति।

प्रकृतिसे अपने स्वरूपको भिन्न न समझनेके कारण मोहसे संसरण—संसारमें परिभ्रमण करता रहता है।" इसलिए सुख-दुःख मोहस्वरूप वाली प्रकृतिको जब तक आत्मासे भिन्न नहीं समझा जाता तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकृतिको आत्मासे भिन्न रूपमें देखने पर तो प्रकृतिकी प्रवृत्ति अपने आप रुक जाती है और प्रकृतिका व्यापार रुक जाने पर पुरुषका अपने शुद्धचैतन्य स्वरूपमें स्थित हो जाना ही मोक्ष है। मोक्ष बन्धन के तोड़ने पर होता है। बन्धन तीन प्रकार का है—१. प्राकृतिक, २. वैकारिक ३. दाक्षिण। प्रकृतिको आत्मा मानकर जो प्रकृतिकी उपासना करते हैं, उसे ही अपना सर्वस्व समझते हैं उन मूढ़ प्रकृतिदर्शियोंको प्राकृतिक बन्ध होता है। जो विकार अर्थात् पृथिव्यादि भूत, इन्द्रियाँ, अहंकार तथा बुद्धिको पुरुष समझकर इन विकारोंकी ही उपासना करते हैं उन व्यक्तियोंको वैकारिक बन्ध होता है। श्रुतिविहित यज्ञादिको तथा स्मृति प्रतिपादित बावड़ी कुआँ आदि बनवानेको ही उत्कृष्ट कर्तव्य मानना दाक्षिण बन्ध है। पुरुष तत्त्वको नहीं समझकर आत्मज्ञानके बिना स्वर्ग आदि सांसारिक कामनाओं से श्रुतिविहित यज्ञ दान आदि कर्म करनेसे तथा स्मार्त कुआँ बनवाने आदिसे दाक्षिणबन्ध होता है। कहा भी है—"जो मूढ़ जन इष्टापूर्त-श्रुति प्रतिपादित यज्ञ आदि इष्ट, तथा स्मृति विहित कुआँ बावड़ी आदि बनाने रूप पूर्त कर्मको ही वरिष्ठ—सर्वश्रेष्ठ मान कर अन्य किसी भी शुभकर्म या ध्यान आदिको कल्याणकारी नहीं समझते वे पहिले यज्ञादिके फलसे स्वर्गमें उत्पन्न होकर भी अन्तमें इसी मनुष्य लोक में अथवा इससे भी हीन तिर्यग्लोक आदिमें जन्म लेते हैं।"

बन्धसे परलोकमें जन्म लेना आदि संसारका जन्म मरण चक्र चलने लगता है।

§ २९. सांख्य मत में पुरुष न तो प्रकृति—कारण रूप है और न कार्यरूप ही अतः उसको न बन्ध होता है न मोक्ष और न संसार ही। ये सब बन्ध आदि तो प्रकृतिको ही होते हैं। कापिलों-ने कहा है—"चूंकि पुरुष साक्षी आदि स्वरूप वाला है अतः न तो पुरुषको बन्ध होता है न वह

---

१. दाक्षिणकमे—म० १। २. "स च बन्धस्त्रिविधः प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दाक्षिणबन्धश्च। तत्र प्रकृतिबन्धो नाम अष्टासु (प्रकृतिबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेषु) प्रकृतिषु परत्वेनाभिमानः। वैकारिकबन्धो नाम ब्रह्मा(बुद्ध्या)दिस्थानेषु श्रेयोबुद्धिः। दाक्षिणबन्धो नाम गवादिदानेज्यानिमित्तः।" —सां० माठरवृ० पृ० ६१। "प्रकृतिलयः प्रकृतिबन्ध इत्युच्यते, यज्ञादिभिः दाक्षिणबन्ध इत्युच्यते, ऐश्वर्यादिनिमित्तो भोगो वैकारिक इत्युच्यते।" —सां० माठरवृ० पृ० ६३। योगसू० तत्त्ववैशा० १।२४१। सांख्यसं० पृ० २४। स्या० मं० पृ० १९१। "प्रकृतिबन्धः प्रकृतिलयः परत्वेनाभिमन्यतः। संन्यासिनामिन्द्रियेषु लयो वैकारिकोऽपरः॥ गृहिणां दक्षिणाबन्धो वदान्यत्वाभिमानिनाम्। इत्येषस्त्रिविधो बन्धस्त्रिविधो मोक्ष उच्यते॥" —सांख्यसं० पृ० २४। ३. —नाद्यैः प्र—म० २। ४. —तत्त्वाभि—म० २। ५. बाध्यते—म० २। ६. —तेऽपि च यतो हि नाना—म० २।

नवरमसौ बन्धमोक्षसंसारः पुरुषे उपचर्यन्ते।[1] यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात्, तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात्पुरुषे संबन्ध इति ॥

§ ३०. अत्र प्रमाणस्य सामान्यलक्षणमुच्यते—'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्' इति । अयोत्तरार्धे मानत्रितयं च–प्रमाणत्रितयं च, अत्र—सांख्यमते । किं तदित्याह—प्रत्यक्षं–प्रतीतं, लैङ्गं–अनुमानं, शाब्दं–आगमः चकारोऽत्रापि संबन्धनीयः । तत्र प्रत्यक्षलक्षणमाख्यायते–'श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्' इति । 'श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी' इति । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, तेषां वृत्तिर्वर्तनं परिणाम इति यावत्, इन्द्रियाण्येव विषयाकारपरिणतानि प्रत्यक्षमिति हि तेषां सिद्धान्तः[2] । अविकल्पिका नामजात्यादिकल्पनारहिता शाक्यमताध्यक्षवद्व्याख्येयेति ।

§ ३१. ईश्वरकृष्णस्तु[4] 'प्रतिनियताध्यवसायः श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षम्' इति प्राह ।[5]

मुक्त होता है और न उसे संसार ही होता है। यह सब स्वांग तो बहुरूपिणी प्रकृति ही भरा करती है। वही बँधती है, छूटती है तथा संसारमें परिभ्रमण करती है॥" इतना अवश्य है कि प्रकृतिमें होनेवाले ये बन्धादि पुरुषमें उपचरित होते हैं। जैसे सैनिकोंका जय या पराजय स्वामी का ही जय और पराजय माना जाता है क्योंकि जय-पराजयके फलस्वरूप धनादिकी प्राप्ति आदि राजाको ही होती है उसी तरह भोग और अपवर्ग दोनों ही यद्यपि प्रकृति गत हैं परन्तु विवेक अर्थात् भेदज्ञान न होने से भोक्ता पुरुषके कहे जाते हैं और इसीलिए पुरुषमें संसारी तथा मुक्त ये व्यपदेश होते हैं।

§ ३०. अब सांख्यों की प्रमाणचर्चा प्रारम्भ करते हैं। अर्थोपलब्धिमें जो साधकतम कारण होता है उसे प्रमाण कहते हैं। श्लोकके उत्तरार्धमें सांख्योंके तीन प्रमाणोंका निर्देश किया है। १ प्रत्यक्ष, २ लैङ्ग—लिङ्गसे होने वाला अनुमान, ३ आगम। निर्विकल्पक श्रोत्रादिकी वृत्तिको प्रत्यक्ष कहते हैं। श्रोत्र, स्पर्शन, आँखें, जीभ तथा नाक ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्ति-परिणमन व्यापार को श्रोत्रादिवृत्ति कहते हैं। सांख्य विषयाकार परिणत इन्द्रियोंको ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। नाम-जाति आदिकी कल्पनासे रहित वृत्ति निर्विकल्पक है। इस निर्विकल्पकका व्याख्यान बौद्ध-दर्शनमें किये गये प्रत्यक्षके व्याख्यानकी तरह समझ लेना चाहिए।

§ ३१. ईश्वरकृष्णने प्रत्यक्षका लक्षण इस प्रकार किया है–"प्रत्येक विषयके प्रति इन्द्रियोंके अध्यवसाय व्यापारको दृष्ट–प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।"

---

१. "सावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति । यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः । स्वामिनि व्यपदिश्येते स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते ।"—यो० भा० २।१८ । २. "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।" —योगसू० व्यासभा० पृ० २७ । "कापिलास्तु श्रोत्रादिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वमिच्छन्ति ।....."—प्रमाणसमु० पृ० ६४ । न्यायवा० पृ० ४३ । "वार्षगण्यस्यापि लक्षणमकृतमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति ।" —न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५ । न्यायमं० पृ० १०० । तत्त्वोप० ६१ । ३. –क्षमतिबद्व्याख्येयेति ईश्व–म० १, प० १, प० २ । –क्षमिति बद्व्याख्येयेति ईश्व– म० २ । ४. प्रतिविम्बकताध्यव–म० २ । ५. "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्"—सांख्यका० ५।

§ ३२. अनुमानस्य त्विदं लक्षणम्[1]—पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति त्रिविधमनुमानमिति। तत्र नद्युपरिवर्षणादुपरि वृष्टो देव[2] इत्यनुमीयते यत्तत्पूर्ववत्। तथा समुद्रोदकबिन्दुप्राशनाच्छेषं *जलं क्षारमनुमानेन ज्ञायते, तथा स्थाल्यां सिक्थैकसम्पनाच्छेषमन्नं पक्वमपक्वं वा ज्ञायते तच्छेषवत्*। यत्सामान्यतो दृष्टं तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्, यथा त्रिदण्डदर्शनाददृष्टोऽपि लिङ्गी परिव्राजकोऽस्तीत्यवगम्यते, इति त्रिविधम्। अथवा तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमित्येवानुमानलक्षणं सांख्यैः समाख्यायते।[3]

§ ३३. शाब्दं स्वाप्तश्रुतिवचनम्, आप्ता रागद्वेषविरहिता ब्रह्मसनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदः तेषां वचनं शाब्दम्।

§ ३४. अत्रानुक्तमपि किंचिदुच्यते। चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या नार्थं जानाति, बुद्धिश्च जडा न चेतयते, सन्निधानात्तयोरन्यथा प्रतिभासनम्, प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिरुपजायते, प्रकृतिविकारस्वरूपं कर्म, तथा त्रैगुण्यरूपं सामान्यम्, प्रमाणविषयस्तात्त्विक इति। अत्र त्रयो गुणाः

---

§ ३२. पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्टके भेदसे तीन प्रकारका अनुमान है। नदीमें बाढ़ देखकर ऊपरी प्रदेशमें मेघकी वृष्टि होनेका अनुमान करना पूर्ववत् है। समुद्रके एक बूंद जलको खारा पाकर शेष समुद्रको खारा समझना, तथा बटलोईमें पकते हुए अन्नके एक दानेको हाथसे मसलकर शेष अन्न को पका हुआ या कच्चा समझना शेषवत् अनुमान है। जो सामान्य रूपसे लिङ्गको देखकर लिङ्गीका अनुमान किया जाता है वह सामान्यतोदृष्ट है। जैसे बाहर तीन दण्डोंको देखकर भीतर परिव्राजक है यह ज्ञान करना। अथवा लिङ्ग और लिङ्गीके सम्बन्धको ग्रहण कर लिङ्गसे लिङ्गीका अनुमान करना अनुमान प्रमाण है। यही सांख्योंका अनुमानका सामान्य लक्षण है।

§ ३३. आप्त और वेदोंके वचन शाब्द प्रमाण हैं। राग-द्वेष आदिसे रहित वीतराग ब्रह्मा सनत्कुमार आदि आप्त हैं। और श्रुति अर्थात् वेद इन्हींके वचन-आगम शब्द हैं।

§ ३४. मूलमें नहीं कही हुई कुछ विशेष बातें इस प्रकार हैं—चैतन्यशक्ति शब्दादि विषयोंका परिच्छेद नहीं करती, वह अर्थको नहीं जानती। पदार्थोंको जानने वाली तो बुद्धि है। बुद्धि जड़ है, वह संचेतन नहीं कर सकती। बुद्धि और पुरुषके सन्निधानसे वह मालूम होने लगता है कि—बुद्धि चेतनावाली है तथा पुरुष विषयोंको जाननेवाला है। प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही यह सृष्टि उत्पन्न होती है। कर्म—पुण्य-पाप आदि सब प्रकृतिके ही विकार हैं।" त्रिगुणवाला प्रधान

---

१. "·····त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्।" —सांख्यका० ५। "तच्च त्रिविधम्। पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च। तत्र विशिष्टमेघोन्नतिदर्शनाद् भविष्यतो वृष्टि रभावयति। पूर्वमियं दृष्टेति पूर्ववत्। नदीपूरदर्शनादुपरि वृष्टो देव इति वा प्रतीतिः। शेषवद्यथा समुद्रोदकबिन्दुं प्राश्य शेषस्य लवणभावोऽनुमीयते इति शेषवत्। सामान्यतोदृष्टम्—पुण्यिताम्रदर्शनात् अन्यत्र पुण्यिता आत्मा इति। पुनर्यथा बहिरुद्योत इति केनाप्युक्तं, तत्रापरेणाप्युक्तम्। चन्द्र उदितो भविष्यतीत्यर्थमङ्गनिः। तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति। लिङ्गेन त्रिदण्डादिदर्शनेनादृष्टोऽपि लिङ्गी साध्यते नूनमसौ परिव्राडस्ति यस्येदं त्रिदण्डमिति।" —सांख्यका० मा० वृ० पृ० १३। २. मेघ—भ० प्र०। ३. "आप्ता रागद्वेषादिरहिता ब्रह्मसनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदः ताभ्यां उपदिष्टं तथेति श्रद्धेयमाप्तवचनम्। ····आप्ता ब्रह्मादय आचार्याः, श्रुतिर्वेदस्तदुभयमाप्तवचनम्। आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिर्यथार्थोपलम्भः तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थतया भूतार्थस्याहो तदुक्तमाप्तवचनम्।" —सांख्यका० मा० वृ० का० ३।

सत्त्वरजस्समांसि । ततः स्वार्थे "ण्यो न[1]न्त्वादेः" इति ण्यः, यथा त्रयो लोकास्त्रैलोक्यं, षड्गुणाः षाड्गुण्यम्, ततस्त्रैगुण्यं रूपं स्वभावो यस्य सामान्यस्य तत् त्रैगुण्यरूपमिति । प्रमाणस्य च फलमित्यम् । पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरं[2] तु फलमिति ।

§ ३५. तथा कारणे कार्यं सदेवोत्पद्यतेऽसदका(क)रणाविभ्यो हेतुभ्यः ।[3] तदुक्तम्—"असदका(क)रणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥" [सांख्यकारिका ९] इति ॥ अत्र सर्वसंभवाभावाविति, यद्यसत्कार्यं स्यात्तदा सर्वं सर्वत्र भवेत् । ततश्च तृणाविभ्योऽपि सुवर्णादीनि भवेयुः, न च भवन्ति, तस्मात्कारणे कार्यं सदेव । तथा

सामान्य रूप है—सर्वत्र अन्वित है, सबका समान रूपसे भोग्य है । प्रमाणका विषयभूत बाह्य अर्थ वास्तविक है काल्पनिक नहीं ।" (स्वार्थमें 'ण्यो नन्त्वादेः' सूत्रसे ण्य प्रत्यय करने पर) त्रिगुण ही त्रैगुण्य कहे जाते हैं, जैसे कि त्रिलोक ही त्रैलोक्य, षड्गुण ही षाड्गुण्य कहा जाता है । त्रैगुण्यरूप सामान्य है । पूर्व पूर्व प्रमाण हैं तथा उत्तर उत्तर फल रूप हैं । अर्थात् सन्निकर्षको प्रमाणतामें निर्विकल्प फल निर्विकल्पको प्रमाण मानने पर सविकल्पकज्ञान फल कहा जाता है ।

§ ३५. कारणमें कार्यकी सत्ता रहती है अतः कारणमें विद्यमान ही कार्य उत्पन्न होता है । सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए सांख्यकारिकामें कहा है—"असत् वस्तु खर विषाणकी तरह उत्पन्न नहीं की जा सकती, कार्यकी उत्पत्तिके लिए लोग उपादान कारणको ही ग्रहण करते हैं, सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, समर्थ भी कारण अपने करने योग्य ही कार्यको उत्पन्न करता है, तथा संसारमें कार्य कारण भाव देखा जाता है इसलिए यह मानना ही चाहिए कि—'कारणमें कार्य सत् है ।' सर्वसंभवाभावात्—यदि कारणमें कार्य असत् होकर भी उससे उत्पन्न हो जाय तो सबसे सबकी उत्पत्ति होनी चाहिए, तृणसे भी सुवर्ण को उत्पन्न होना चाहिए । पर संसारमें प्रतिनियत कारणोंसे प्रतिनियत ही कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है अतः यह सहज ही कहा जा सकता है कि—'जिस कारणमें जिस कार्यका सद्भाव है उससे वही उत्पन्न होता है

---

१. –नन्तादेः क०, म० १, म० २, प० १, प० २ । २. –त्तरं(उत्तरं) तु आ० । ३. "इह लोके सदेव सद्भवति । असतः का(क)रणं नास्ति । यदि स्यात्तदा सिकताभ्यस्तैलं, कूर्मरोमभ्यः पटप्रावरणम्, वन्ध्यादुहितृभ्रूविलासः, शशविषाणं, खपुष्पं च स्यात् । न चास्ति तस्मादनुमीयते प्रधाने प्रागुत्पत्तेर्महदादिकमस्त्येव । उपादानग्रहणात् । इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति । तन्निमित्तमुपादत्ते । सद्यथा दध्यर्थी क्षीरस्योपादानं कुरुते । यदि चासत्कार्यं स्यात्तदा दध्यर्थी उदकस्याप्युपादानं कुर्यात्, न च कुरुते, तस्मात् महदादि कार्यमस्तीति । किं च सर्वसम्भवाभावात् । इह लोके यद् यस्मिन् विद्यते तस्मादेव तदुत्पद्यते । यथा तिलेभ्यस्तैलं, दध्नो घृतम् । यदि चासत्कार्यं स्यात्तदा सर्वं सर्वतः सम्भवेत्ततश्च तृणपांसुबालुकादिभ्यो रजतसुवर्णमणिमुक्ताप्रवालादयो जायेरन् । न च जायन्ते तस्मात्पश्यामः सर्वसम्भवाभावादपि महदादि कार्यं प्रधाने सदेव सद्भवतीति । अतश्चास्ति—शक्तस्य शक्यकरणात् । इह लोके शक्तः शिल्पी करणादिकारणोपादानकालोपायसंपन्नः शक्यादेव शक्यं कर्म आरभते नाशक्यमशक्यात् । तद्यथा—शक्तः कुम्भकारः शक्यादेव मृत्पिण्डात् शक्यदण्डचक्रसूत्रोदकांबुलतलादिभिः संपन्नो घटशरावोदञ्चनादीन्यारभमाणो दृष्टः । न च मणिकादि, अशक्यत्वात्तावता पिण्डेन तस्य । यदि पुनः करणनियमो न स्यात् अशक्यादप्यशक्यमारभ्येत । तस्मात् सत्कार्यं स्यान्नासत् । किं च—कारणभावाच्च । कार्यं सदेव स्यात् । इह लोके यल्लक्षणं कारणं तल्लक्षणं कार्यं स्यात् । यथा कोद्रवेभ्यः कोद्रवाः, व्रीहिभ्यो व्रीहयः स्युः । यदि चासत्कार्यं स्यात् तदा कोद्रवेभ्यः शालीनामपि निष्पत्तिः स्यात् । न च भवति । तस्मात्कारणभावादपि पश्यामः प्रधाने महदादि कार्यमस्तीति । साधितमेवमेतैः पञ्चभिर्हेतुभिः सत् कार्यम् ।" —सांख्यका० मा० वृ० ९ ।

द्रव्याण्येव केवलानि सन्ति, न पुनरुत्पत्तिविपत्तिधर्माणः पर्यायाः[1] केऽपि, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वात्तेषामिति ।

§ ३६. सांख्यानां तर्कग्रन्थाः षष्टितन्त्रोद्धाररूपं[2] माठरभाष्यं सांख्यसप्ततिनामकं,[3] तत्त्वकौमुदी,[4] गौडपादं,[5] आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयः ॥४३॥

§ ३७. सांख्यमतमुपसंजिहीर्षन्नुत्तरत्र जैनमतमभिधित्सन्नाह—

एवं सांख्यमतस्यापि समासो गदितोऽधुना ।
जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते सुविचारवान् ॥४४॥

§ ३८. व्याख्या—एवमुक्तविधिना सांख्यमतस्यापि न केवलं बौद्धनैयायिकयोरित्यपिशब्दार्थः । समासः-संक्षेपोऽधुना गदितः । जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते । कथंभूतः सुविचारवान्-सुष्ठु सर्वप्रमाणैरबाधितस्वरूपत्वेन शोभना विचाराः सुविचारास्ते विद्यन्ते यस्य स सुविचारवान्, न पुनरविचारितरमणीयविचारवानिति । अनेनापरदर्शनान्यविचारितरमणीयानीत्यावेदितं मन्तव्यम् । यदुक्तं परैरेव—

"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥१॥" [मनु० १२।११०]

परैर्हि दोषसंभावनयैव स्वमतविचारणा नाद्रियते । यत उक्तम्—

"अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं न विचार्यते ।
निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात्कारीक्षाया बिभेति किम् ॥१॥" इति ।

अन्य नहीं[1] । मात्र द्रव्यकी ही सत्ता है, वह नित्य है । उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली कोई भी पर्यायें नहीं हैं । पर्यायें तो केवल आविर्भूत तथा तिरोहित होती हैं ।

§ ३६. सांख्योंके षष्टितन्त्रका पुनः संस्करण रूप माठरभाष्य सांख्यसप्तति, तत्त्वकौमुदी, गौड़पादभाष्य, आत्रेयतन्त्र इत्यादि ग्रन्थ हैं ॥ ४३ ॥

§ ३७. सांख्य मतका उपसंहार करके जैनमतके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

इस तरह सांख्य मतका संक्षेपसे कथन किया गया । अब प्रमाणसिद्ध जैन दर्शनका संक्षेपसे कथन करते हैं ॥ ४४ ॥

§ ३८. इस तरह सांख्यमतका भी संक्षेपसे कथन किया गया । अब समस्त प्रमाणोंसे अबाधित होनेके कारण जिसमें बहुत सुन्दर युक्तिसंगत विचार हैं उस सुविचारशाली जैनदर्शनका कथन करते हैं । अर्थात् इस जैनदर्शनके विचार अविचारित रमणीय—बिना विचारे सुन्दर मालूम होनेवाले नहीं हैं । इस विशेषणसे यह सूचित होता है कि अन्य दर्शनोंका जब तक विचार नहीं किया तभी तक वे सुन्दर मालूम होते हैं, तर्ककी कसौटी पर चढ़ते ही उनकी सुन्दरता उड़ जाती है । परदर्शनवालोंने स्वयं ही कहा है कि—"पुराण, मानवधर्म—मनुस्मृति आदि अंग उपांग सहित वेद, तथा आयुर्वेदशास्त्र, इन चारको आज्ञा सिद्ध जैसेके तैसे बाबा वाक्यके रूपमें ही मानना चाहिए, इनमें तर्क नहीं करना चाहिए ।" और न तर्कके द्वारा इनका खण्डन ही करना चाहिए । परमतवाले अपने मतमें दोषोंकी स्वयं सम्भावना करते हैं, और यही कारण है कि विचारसे—तर्कसे डरते हैं, तर्कका आदर नहीं करते । कहा भी है—"जब अन्यमतवाले अपने दर्शनोंका विचार करनेसे डरते हैं तो मालूम होता है कि कुछ दालमें काला अवश्य है, उनमें कहने-सुननेकी बहुत कुछ

---

१. पर्यायाः भ० २ । २. माठराचार्यकृता सांख्यकारिकावृत्तिः । ३. सांख्यकारिका ईश्वरकृष्णकृता । ४. वाचस्पतिमिश्रकृता सांख्यतत्त्वकौमुदी । ५. गौडपादकृतं सांख्यकारिकाभाष्यम् ।

अत एव जैना जिनमतस्य निर्दूषणतया परीक्षातो निर्भीका एवमुपदिशन्ति । सर्वथा स्वदर्शनपक्षपातं परित्यज्य माध्यस्थ्येनैव युक्तिशतैः सर्वदर्शनानि पुनः पुनर्विचारणीयानि, तेषु च यदेव दर्शनं युक्तियुक्ततयावभासते, यत्र च पूर्वापरविरोधगन्धोऽपि नेक्ष्यते, तदेव विशारदैरादरणीयं नापरमिति । तथा चोक्तम्—

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥१॥" [लोकतत्त्वनि० श्लो० ३८]

इति श्री[1]तपोगगनभोक्षणदिनमणिश्रीदेवसुन्दर[2]सूरिपादपद्मोपजीविश्रीगुणरत्न[3]सूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिका[4]भिधानायां षड्दर्शनसमुच्चयवृत्तौ सांख्यमतरहस्यप्रकाशनो नाम "तृतीयोऽधिकारः[5] ॥

गुंजाइश है, वे पूर्ण नहीं हैं । यदि सोना खरा सौटंचका है तो कसौटी पर कसे जानेसे क्यों डरते हैं । उसकी परीक्षा होने दो, निर्दोषमें तो दोष निकल नहीं सकते ॥" इति । इसीलिए जैन लोग अपने जिनमतको निर्दोष होनेके कारण डंकेकी चोट कहते हैं कि 'आओ, खूब परीक्षा करो' वे निर्भीक होकर परीक्षाके लिए सबका आह्वान करते हुए साफ-साफ कहते हैं कि—अपने मतका पक्षपात छोड़कर तटस्थ भावसे सभी दर्शनोंका बार-बार खूब विचार करो, विचार करने पर जो दर्शन तर्ककी कसौटी पर सौटंचका निकले, युक्तिसंगत हो, जिसमें पूर्वापर विरोध की गन्ध भी न हो उसीका विशारद–समझदारोंको आदर करना चाहिए अन्यका नहीं ।' जैनियोंकी तो खुली घोषणा है कि—"हमारा महावीरसे कोई राग नहीं है जिससे उनके पक्षमें आँख मूँद कर गिरा जाय और न कपिलसे कोई द्वेष ही है । हमारा तो स्पष्ट विचार है कि–जिसके वचन युक्तियुक्त हों उसीका अनुसरण करो ।"

इति तपोगण रूपी आकाशके प्रतापी सूर्य श्री देवसुन्दर सूरिके चरणसेवक श्री गुणरत्नसूरि द्वारा रची गयी षड्दर्शन समुच्चयकी तर्क रहस्य दीपिका नामक टीकामें सांख्यमत के रहस्यको प्रकट करनेवाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।

---

१. श्रीतपागच्छगगना–भ० २ । श्रीतपागच्छगगना–क्षणभोमणिश्री–भ० १, प० १, प० २ । श्रीतपागण– क० । २. सूरिक्रमकमलोपजीवि–भ० १, २, क०, प० १, २ । ३. –रत्नाकार्यवि–भ० २ । ४. –कायाम्–भ० १, २, क०, प० १, २ । ५. तृतीयः प्रकाशः–भ० १, २, क०, प० १, २ । ६. परवचनविकल्पान् कूपमण्डूककल्पान्, विगमरसदसि तस्मिन् सोदरो ऽन्तर्गतेऽपान् । हसति यदतिमात्रं सर्वनीमद्वचस्तत्, जयति जयति जैनं विश्वतत्त्वैकबीजम् ।–भ० २ ।

ॐ

अथ चतुर्थोऽधिकारः

§ १. अथावौ जैनमते लिङ्गवेषाचारादि प्रोच्यते। जैना द्विविधाः श्वेताम्बरा दिगम्बराश्च। तत्र श्वेताम्बराणां रजोहरणमुखवस्त्रिकालोचादि लिङ्गम्, चोलपट्टकल्पादिको वेषः, [1]पञ्च समितयस्तिस्रश्च[2] गुप्तयस्तेषामाचारः।

"ईर्याभाषेषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञिकाः।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो गुप्तीस्त्वियोगनिग्रहान् ॥ १ ॥"

इति वचनात्। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्माकिञ्चन्यवान् क्रोधादिविजयी दान्तेन्द्रियो निर्ग्रन्थो गुरुः, माधुकर्या वृत्त्या [3]नवकोटिविशुद्धस्तेषां नित्यमाहारः, संयमनिर्वाहार्थमेव वस्त्रपात्रादिधारणम्, वन्द्यमाना धर्मलाभमाचक्षते।

---

§ १. सर्व प्रथम जैनमतवालोंके वेष आचार आदिका वर्णन करते हैं। जैनदर्शनको माननेवाले दो सम्प्रदाय हैं—१ श्वेताम्बर, २ दिगम्बर। श्वेताम्बर मुनिके रजोहरण, मुखपट्टी और बालोंका लुंचन आदि लिंग—चिह्न हैं। उनका वेश चोलपट्टक तथा कल्प—एक चादर आदि होता है। वे पाँच प्रकारकी समिति (देख शोधकर सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति) तथा तीन गुप्ति (मन वचन कायकी रक्षा) का आचरण करते हैं। उनके नाम हैं—"ईर्या—चलते-उठते-बैठते, भाषा—बोलते, एषणा–भिक्षाचर्यामें भाषा एषणा, किसी चीजको आदान–लेनेमें तथा निक्षेप–रखनेमें, उत्सर्ग–मल मूत्र आदिका उत्सर्ग करनेमें, समिति—बड़ी सावधानी है कहा भी है—"ईर्या चार हाथ आगे की जमीन देखकर चलना, भाषा–हित मित प्रिय वचन कहना, एषणा-शुद्ध अन्तराय आदि टालकर भोजन लेना, आदान निक्षेप–देखभाल कर किसी भी वस्तुका लेना और रखना तथा उत्सर्ग–निर्जीव भूमि पर मलमूत्रादिका उत्सर्ग करना ये पाँच समितियाँ अर्थात् सम्यक् प्रवृत्तियाँ हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति ये योग विग्रहरूप तीन गुप्ति हैं। अर्थात् मन, वचन तथा कायकी प्रवृत्तियों पर संयम रखना—इनके व्यापारोंको रोक देना गुप्ति है।" गुरु निर्ग्रन्थ होते हैं जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय–आवश्यकता होने पर भी किसीकी वस्तुको बिना दिये न लेना, ब्रह्मचर्य तथा आकिंचन्य–'मेरा कुछ भी नहीं है' इस प्रकारसे किसी भी वस्तुमें ममत्वबुद्धि नहीं रखना, इन पाँच महाव्रतों-का पालन करते हैं। क्रोध मान माया छल-कपट लोभ आदि अन्तरंग शत्रुओंको जीतते हैं, इन्द्रियों-का दमन करते हैं, इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर नहीं जाने देते। जिस तरह भौंरा फूलोंको हानि पहुँचाये बिना ही उनसे रस ले लेता है उसी तरह साधु मधुकरीवृत्तिसे गृहस्थोंको कष्ट नहीं पहुँचा कर ही नित्य आहार ग्रहण करते हैं जो मन, वचन, काय, को कृत कारित एवं अनुमोदनासे गुणा करने पर फलित होनेवाली नव कोटियोंसे विशुद्ध होता है। शुद्धसंयमके पालनके अभिप्रायसे संयमको निबाहनेके लिए ही वस्त्र और पात्र ग्रहण करते हैं। जब उन्हें कोई नमस्कार करता है तब वे आशीर्वादके रूपमें 'धर्मलाभ' शब्द कहते हैं।

---

१. "ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः।"—तत्त्वार्थसू० ९।५। २. "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" —तत्त्वार्थसू० ९।४। ३. मनोवचनकायानां कृतकारितानुमतैः नव कोटयः।

§ २. दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूलसङ्घ-माथुरसङ्घ-[1]गोप्यसङ्घ-भेदात्।[2] काष्ठासङ्घे चमरीबालैः पिच्छिका, मूलसङ्घे मायूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नावृता, गोप्या मायूरपिच्छिका। आद्यास्त्रयोऽपि सङ्घा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्यते, गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं च मन्यन्ते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते। सर्वेषां[3] च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तरायाः[4] मलाश्च चतुर्दश[5] वर्जनीयाः। शेषमाचारे गुरौ च देवे च सर्वं श्वेताम्बरैस्तुल्यम्, नास्ति तेषां मिथः[6] शास्त्रेषु[7] तर्केष्वपरो भेदः॥ ४४॥

§ २. दिगम्बर (दिशाएँ ही जिनके वस्त्र हैं) नग्न रहते हैं तथा अपने कर-पात्रसे ही आहार-पानी लेते हैं, खाने-पीनेके लिए कोई पात्र नहीं रखते। दिगम्बरोंके चार भेद हैं—१ काष्ठा संघ, २ मूलसंघ, ३ माथुरसंघ, ४ गोप्यसंघ। काष्ठा संघमें चमरी गायके बालोंकी पिच्छिका—पीछी रखी जाती है। मूलसंघमें तथा गोप्यसंघमें मोरके पंखोंकी पीछी रखते हैं। पर माथुरसंघमें किसी भी प्रकारकी पीछी नहीं रखी जाती। काष्ठासंघ मूलसंघ तथा माथुरसंघके साधु नमस्कार करने पर आशीर्वादके रूपमें 'धर्मवृद्धि' शब्द कहते हैं। ये स्त्रियोंको तद्भव मुक्ति, केवलियोंको कवलाहार तथा वस्त्रधारी सद्व्रती की भी मुक्ति नहीं मानते। गोप्यसंघके साधु नमस्कार करनेवालोंको 'धर्मलाभ' शब्द कह कर आशीर्वाद देते हैं तथा स्त्री मुक्ति एवं केवलीको कवलाहारी मानते हैं। गोप्यसंघ वाले यापनीय भी कहे जाते हैं। ये सभी दिगम्बर साधु भिक्षाके लिए जाते समय तथा भोजन करते समय बत्तीस अन्तराय और चौदह मल-दोषोंको टालते हैं। इन थोड़े-से मामूली मतभेदोंके सिवाय दिगम्बरोंका आचार, गुरुका स्वरूप, देवका स्वरूप आदि श्वेताम्बरोंके ही समान हैं। इनके शास्त्रों और दर्शनग्रन्थोंमें अन्य कुछ विशेष भेद नहीं है॥ ४४॥

१. गोपसंघ—म० २। २. तुलना—"उक्तं च—गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः। निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥ ते जैनाभासा आहारदानादिकेऽपि योग्या न भवन्ति कथं मोक्षस्य योग्या भवन्ति। गोपुच्छिकानां मतं यथा, उक्तं च—इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं। कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं नाम॥ श्वेतवाससः सर्वत्र भोजनं गृह्णन्ति प्रासुकं—सांभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति वर्णलोपः कृतः। तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते अतीव पापिष्ठाः देवपूजादिकं किल पापकर्मेदमिति कथयन्ति, मण्डलवत्सर्वत्र भाण्डप्रक्षालनोदकं पिबन्ति इत्यादि बहुदोषवन्तः। द्राविडाः सावद्यं प्रासुकं च न मन्यन्ते उद्भूभोजनं निराकुर्वन्ति। यापनीयास्तु, वेसरा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं, परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति। निष्पिच्छिका मयूरपिच्छादिकं न मन्यते।" —षड्दर्शन० टी०—दर्शनप्रा० पृ० ११। ३. –र्यां भोजने भिक्षाटने वा–म० २। ४. "काया मंसा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादं च। जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हूवरि अदिक्कमो चेव॥ नाभिअधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणा य जंतुवहो। कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च॥ पाणीए जंतुवहो मंसादीदंसणे य उवसग्गो। पादंतरम्मि जीवो संपादोभायणाणं च॥ उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं। उववेसणं सदंसं। भूमिसंफासणं निट्ठीवनं॥ उदरकिमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामडाहो। पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमीए॥" —मूलाचा० पिण्ड० गा० ७६–८०। ५. "णहरोमजंतुअट्ठी–कणकुंडयपूयिचम्महिर-मंसाणि। वीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति॥" —मूलाचा० पिण्ड० गा० ६५। ६. शास्त्रे तर्केषु चापरो–म० २। ७. तर्कषु परो का०।

§ ३. अथ देवस्य लक्षणमाह—

जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः ।
हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः ॥ ४५ ॥
सुरासुरेन्द्रसंपूज्यः सद्भूतार्थप्रकाशकः ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संप्राप्तः परमं पदम् ॥ ४६ ॥

§ ४. व्याख्या—तत्र-जैनदर्शने जयन्ति रागादीनिति जिनाः—सामान्यकेवलिनः तेषामिन्द्रस्तादृशासदृशैस्त्रिंशदतिशयसनाथपरमैश्वर्यसमन्वितः स्वामी जिनेन्द्रो देवता—देवः कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा परमं पदं संप्राप्त इति संबन्धः । कीदृशः स इत्याह—'रागद्वेषविवर्जितः' मायालोभौ रागः,

---

§ ३. अब देवका लक्षण कहते हैं—

जैन दर्शनमें राग-द्वेषसे रहित—वीतराग, महामोहका नाश करनेवाले, केवलज्ञान और केवलदर्शनवाले, देवेन्द्र और दानवेन्द्रोंसे संपूजित, पदार्थोंका यथावत् सत्य रूपमें प्रकाश करनेवाले तथा समस्त कर्मोंको नाश कर परम पद–मोक्ष को पानेवाले जिनेन्द्रको ही देव माना है ॥४५-४६॥

§ ४. जैनमतमें रागादिको जीतनेवाले सामान्य केवली जिन कहलाते हैं । इन जिनोंके इन्द्र अर्थात् स्वामी, तीर्थंकर जिनेन्द्र जैनमतमें देवता हैं । ये सामान्य केवलियोंमें नहीं पाये जाने वाले चौंतीस असाधारण अतिशय रूप ऐश्वर्यके धारी होते हैं । ये समस्त कर्मोंका क्षय कर परमपदको प्राप्त हुए हैं । माया और लोभ राग रूप हैं तथा क्रोध और मान द्वेष रूप है । वे इन दोनों राग

---

१. "चोत्तीसं बुद्धाइसेसा पण्णत्ता तं जहा अवट्ठिएकेसमंसुरोमनहे १ निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी २ गोक्खीरपंडुरे मंससोणिए ३ पउमुप्पलगंधिए उस्सासनिस्सासे ४ पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ५ आगासगयं चक्कं ६ आगासगयं छत्तं ७ आगासगयाओ सेयवरचामराओ ८ आगासफालियामयं सपायपीढं सीहासणं ९ आगासगओ कुणमीसहस्समयधिम्मं याभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ १० जत्थ जत्थ वि य णं अरहंता भगवंतो चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि य णं तक्खणादेव सच्छत्तपत्तपुप्फपल्लवसमाउलो सच्छत्तो सज्झओ संपट्टो सपभागो असोगवरपायवो अभिसंजायइ ११ ईसिं पिट्ठओ मउडट्ठाणम्मि तेयमंडलं अभिसंजायइ अंधकारे वि य णं दस दिसाओ पभासेइ १२ बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे १३ अहोसिरा कंटया जायंति १४ उऊविवरीया सुहफासा भवंति १५ सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा मारुएणं जोयणपरिमंडलं सव्वओ समंता संवट्टिज्जइ १६ जुत्तफुसिएणं मेहेण य निहयरयरेणू पणिज्जइ १७ जलथलयभासुरपभूतेणं विंटट्ठाविएणं दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ १८ अमणुण्णाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं अवकरिसो भवइ मणुण्णाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं पाउब्भावो भवइ १९ उभओ पासिं च णं अरहंताणं भगवंताणं दुवे जक्खा कडयतुडियथंभियभुया चामरुक्खेवगं करेंति २० पच्चाहरओ वि य णं हियगमणीयो जोयणनीहारी सरो २१ भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ २२ सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुपयचउप्पयमिगपसुपक्खिसरीसिवाणं अप्पप्पणो हियसिवसुह दाए भासत्ताए परिणमइ २३ पुव्ववद्धवेरा वि य णं देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगा अरहओ पायमूले पसंतचित्तमाणसा धम्मं निसामंति २४ अन्नतित्थियपावयणिया वि य समागया वंदंति २५ आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पडिवयणा हवंति २६ जओ जओ वि य णं अरहंतो भगवंतो विहरंति तओ तओ वि य णं जोयणपणवीसाए ईति न भवइ २७ मारी न भवइ २८ सचक्कं न भवइ २९ परचक्कं न भवइ ३० अइवुट्ठी न भवइ ३१ अणावुट्ठी न भवइ ३२ दुब्भिक्खं न भवइ ३३ पुव्वुप्पन्ना वि य णं उप्पाइया वाहिखिप्पा सेव उवसमंति ३४ ।" समव० ३५ ।

क्रोधमानौ द्वेषः, रागद्वेषाभ्यां विशेषेण पुनः पुनर्भावेन वर्जितो रहितो रागद्वेषविवर्जितो वीतराग इत्यर्थः । रागद्वेषौ हि दुर्जयौ दुरन्तभवसंपातहेतुतया च मुक्तिप्रतिरोधकौ समये गीतौ । यदाह[1]—

"को दुक्खं पाविज्जा कस्स य सुक्खेहि विम्हओ हुज्जा ।
को य न लभिज्ज [2]मुक्खं रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥ १ ॥" इति ।

ततस्तयोर्विच्छेद उक्तः ।

§ ५. तथा 'हतमोहमहामल्लः' मोहनीयकर्मोदयाद्धिंसाद्यात्मकशास्त्रेभ्योऽपि मुक्तिकाङ्क्षणादि-व्यामोहो मोहः, स एव सकलजगद्दुर्जयत्वेन महामल्ल इव महामल्लः हतो मोहमहामल्लो येन स तथा । एतेन विशेषणद्वयेन देवस्यापायापगमातिशयो व्यञ्जितो द्रष्टव्यः, तथा रागद्वेषमहामोहरहितोऽर्हन्नेव देव इति ज्ञापितं च । यदुक्तम्—

"रागोऽङ्गनासङ्गमतोऽनुमेयो द्वेषो द्विषद्[3]वारणहेतिगम्यः ।
मोहः कुतर्कागमदोषराशेर्यो सद्[4] देव स न सदेवमर्हन् ॥ १ ॥" इति ।

द्वेषसे विशेष रूपसे रहित अर्थात् सर्वथा वीतराग हैं । ये राग-द्वेष ही अनन्त संसारमें पटकनेवाले हैं और इसीलिए ये मुक्तिके प्रतिबन्धक हैं । शास्त्रमें इन्हें मोक्षके किवाड़ोंमें अर्गला–बेंड़ाके समान कहा है । इनको जीतना बहुत कठिन है । कहा भी है—"यदि संसारमें राग और द्वेष नहीं होते तो क्यों कोई दुःखी होता, क्यों कोई थोड़ा-सा सुख मिलने पर विस्मित होकर अपने आपको भूल जाता तथा क्यों न हर एक प्राणी मोक्षको प्राप्त कर लेता ? यह दुःख-सुख मिलनेपर स्वरूप विभ्रम होना तथा मोक्षकी प्राप्ति न होना इन्हीं राग-द्वेषकी कृपाका फल है ।" अतः जिनेन्द्र राग-द्वेषके परित्यागी होते हैं ।

§ ५. ये महामोहमल्लको नाश करनेवाले हैं । मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाला आत्मविकार व्यामोह–स्वरूपविस्मृति ही मोह है । यह मोह समस्त विकारोंका जनक है, यह दोष रूपी सेनाका सेनापति है तथा सकल जगत्के द्वारा इसका जीतना अत्यन्त कठिन है अतः यह महामल्ल है । इसी मोहके कारण हिंसाका समर्थन करनेवाले, हिंसामें धर्म माननेवाले शास्त्रोंमें सुशास्त्रका भ्रम होकर उनमें प्रतिपादित उपायोंसे मुक्ति प्राप्त करनेका व्यामोह–मिथ्या अभिनिवेश होता है । इस महामोहने सकल जगत् पर अपना अमिट प्रभाव जमा रखा है । इसको जीतना महा दुष्कर है । पर इस मोहरूपी महाभटको जिनेन्द्रने अपनी वीतरागतासे पछाड़ दिया है–उसका समूल उच्छेद कर दिया है ।

इन दोनों विशेषणोंसे जिनेन्द्रका अपायापगम–पापरहितता-रूप अतिशय सूचित होता है । इनसे 'राग-द्वेष तथा मोह–इस दोषत्रिपुटीका नाश करनेवाले अर्हन्त ही सच्चे देव हैं' यह भी सूचित होता है । कहा भी है—"स्त्रीसंगमसे रागका तथा शत्रुओंको मारनेवाले शस्त्रोंके द्वारा द्वेषका अनुमान होता है, कुचारित्र तथा कुशास्त्रोंमें प्रीति या उनका प्रतिपादन करनेसे मोहका अनुमान होता है । परन्तु जिनेन्द्रमें इन तीनों चिह्नोंमें-से एक भी चिह्न नहीं दीख पड़ता अतः जिनेन्द्र ही राग-द्वेष मोहसे रहित हैं, अर्हन् हैं ।"

१. कः दुःखं प्राप्नुयात् तस्य च गुर्वीः विस्मयो भवेत् । कश्च न लभेत् मोक्षं रागद्वेषौ यदि न भवेताम् ।
२. सुक्खं क० । ३. –वारणहेति–भ० २ । ४. सदेवमर्हन्–भ० २ ।

§ ६. तथा केवले—अन्यज्ञानानपेक्षत्वेनासहाये संपूर्णे वा ज्ञानदर्शने यस्य स तथा केवलज्ञान-केवलदर्शनात्मको हि भगवान्, करतलकलितामलकफलवद्द्रव्यपर्यायात्मकं निखिलमनवरतं जगत्स्वरूपं जानाति पश्यति चेति। केवलज्ञानदर्शन[1] इति पदं साभिप्रायम्, छद्मस्थस्य हि प्रथमं दर्शनमुत्पद्यते ततो ज्ञानं केवलिनस्त्वाद्यौ ज्ञानं ततो दर्शनमिति। तत्र सामान्यविशेषात्मके सर्वस्मिन्प्रमेये वस्तुनि सामान्यस्योपसर्जनीभावेन विशेषाणां च प्रधानभावेन यद्ग्राहकं तज्ज्ञानम्, विशेषाणामुपसर्जनीभावेन सामान्यस्य च प्राधान्येन यद्ग्राहकं तद्दर्शनम्, एतेन विशेषणेन ज्ञानातिशयः साक्षादुक्तोऽवगन्तव्यः।

§ ७. तथा सुराः सर्वे देवाः, असुराश्च दैत्याः सुरशब्देनासुराणां संग्रहेणेऽपि पृथगुपादानं लोकरूढ्या ज्ञातव्यम्। लोको[2] हि देवेभ्यो दानवांस्तद्विपक्षत्वेन पृथगेवादिशतीति। तेषामिन्द्राः स्वामिनस्तेषां तैर्वा संपूज्योऽभ्यर्चनीयः। तावद्भिरपि पूज्यस्य मानवतिर्यक्खेचरकिन्नरादिनिकरसेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति। अनेन पूजातिशय उक्तः।

§ ८. तथा सद्भूताः—यथावस्थिता येऽर्थाः—जीवादयः पदार्थास्तेषां प्रकाशकः—उपदेशकः। अनेन वचनातिशय उक्तः।

§ ६. जिनेन्द्रके केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट हो गये हैं अर्थात् जिनेन्द्रके केवल—अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न रखनेवाले असहाय अतएव अपने आपमें परिपूर्ण ज्ञान और दर्शन होते हैं। भगवान्को हथेलीपर रखे हुए आंवलेकी तरह या स्फटिककी तरह समस्त द्रव्यकी सर्व पर्यायोंका युगपत् सामान्यावलोकन रूप दर्शन तथा विशेषग्राही ज्ञान होता है। वे समस्त जगत्का सामान्य रूपसे आलोचन तथा विशेषरूपसे परिज्ञान करते हैं। छद्मस्थ—अल्पज्ञानियोंके जब तक केवलज्ञान नहीं होता तब तक पहले दर्शन और बादमें ज्ञान होते हैं परन्तु केवलज्ञानीके पहले ज्ञान तथा बादमें दर्शन होता है। इसी अभिप्रायसे पहले केवलज्ञान तथा बादमें दर्शन पद रखा गया है। संसारकी समस्त वस्तुओंमें कुछ सामान्य तथा कुछ विशेष धर्म पाये जाते हैं। ज्ञान उस सामान्य विशेषात्मक प्रमेयके सामान्यधर्मको गौण कर विशेषांशको मुख्य रूपसे ग्रहण करता है। दर्शन विशेषांशको गौण कर सामान्यधर्मको ही प्रधान रूपसे ग्रहण करता है। इस विशेषणसे भगवान्के ज्ञानातिशयका साक्षात् वर्णन किया गया है।

§ ७. जिनेन्द्रदेव सुरासुरेन्द्रोंसे संपूजित हैं। यद्यपि जैनमतमें जितने सुर-देव हैं तथा जितने असुर-दैत्य हैं वे सब सामान्य रूपसे 'सुर' शब्दसे ही गृहीत हो जाते हैं क्योंकि सभी सामान्यरूपसे देवगतिमें समुत्पन्न हैं; फिर भी संसारमें देव और दानव ये दो अलग अलग ही प्रसिद्ध हैं, अतः उस लोकरूढ़िके कारण ही 'सुरासुरेन्द्र संपूजित, विशेषणमें सुर और असुर दोनोंका जुदा-जुदा निर्देश किया है। लोग तो असुरोंको सुरोंका प्रतिपक्षी—शत्रु मानते हैं। उन सुर तथा असुरोंके स्वामी इन्द्रों-द्वारा वे संपूजित हैं। जब सुरेन्द्र और असुरेन्द्र भी भगवान्को पूजते हैं तब मनुष्य, तिर्यंच, विद्याधर तथा किन्नर आदिके द्वारा तो उनका पूजा जाना अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। इस विशेषणसे भगवान्का पूजातिशय सूचित किया गया है।

§ ८. जिनेन्द्र सद्भूतार्थप्रकाशक हैं। जिनेन्द्र जीवादि पदार्थोंका जैसा स्वाभाविक स्वरूप है उसका ठीक वैसा ही यथार्थ निरूपण करनेवाले हैं। उनके वचन वस्तुके स्वरूपको प्रकाशित करते हैं। इस विशेषणसे जिनेन्द्रका वचनातिशय प्रकट किया गया है।

१. इति मा—भ० २। २. —णे पृथ—भ० २। ३. लोका—भ० २। —न्तीति—भ० २। ४. —खचर—भ० १, भ० २, प० १, प० २, क०।

§ ९. **तथा कृत्स्नानि–संपूर्णानि घात्यघातीनि कर्माणि–ज्ञानावरणादीनि, तेषां क्षयः–सर्वथा प्रलयः । तं कृत्वा परमं पदं–सिद्धि संप्राप्तः । एतेन कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणा सिद्धावस्थाभिहिता । अपरे सुगतादयो मोक्षमवाप्यापि तीर्थनिकारादिसंभवे भूयो भवमवतरन्ति । यदाहुरन्ये**[1]—

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥ १ ॥" इति ।

न ते परमार्थतो मोक्षगतिभाजः कर्मक्षयाभावात् । न हि तत्त्वतः कर्मक्षये पुनर्भवावतारः । यदुक्तम्—

"दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥" [तत्त्वार्थाधि० भा० १०।७]

उक्तं च श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैरपि भवाभिनामुकानां प्रबलमोहविजृम्भितम्–

"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य निर्वाणमप्यनवधारितभीरनिष्टम् ।
मुक्तः स्वयं कृततनुश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥ १ ॥"

[सिद्ध० द्वा०] **इत्यलं विस्तरेण ।**

§ ९. जिनेन्द्र सम्पूर्ण घातिया तथा अघातिया दोनों प्रकारके ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका समूल नाश करके परम-सिद्ध पदको प्राप्त करनेवाले हैं । अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय ये कर्म जीवके निजस्वरूप ज्ञानादि गुणोंका घात करनेके कारण घातिया कहलाते हैं । वेदनीय नाम गोत्र तथा आयुष्य ये चार कर्म जीवके स्वरूपका साक्षात् घात नहीं करके घातिया कर्मोंकी सहायता करते हैं अतः ये अघातिया हैं । इस विशेषणसे सिद्धावस्थाका समस्तकर्ममलसे रहित होना सूचित किया गया है । सुगत आदि अन्य देव तो मोक्षावस्थाको प्राप्त करके भी अपने शासनका लोप या तिरस्कार देखकर उसके उद्धारार्थ फिर अवतार लेते हैं, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं कि—"धर्मतीर्थके प्रवर्तक ज्ञानी तीर्थंकर परमपदको प्राप्त करके भी अपने तीर्थकी अवनति या तिरस्कार देखकर फिरसे संसारमें अवतार लेते हैं ॥" वास्तवमें विचार किया जाय तो ऐसे पुनः अवतार लेनेवाले ज्ञानियोंको मोक्षगामी ही नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उन्होंने कर्ममलका समूल नाश नहीं किया, अन्यथा पुनर्जन्म कैसे संभव हो सकता है । यदि वस्तुतः कर्मोंका अत्यन्त उच्छेद हो गया होता तो इनका पुनः अवतार लेना असम्भव ही था । कहा भी है—"जिस तरह बीजके अच्छी तरह जल जाने पर उससे अंकुरका उत्पन्न होना नितान्त असम्भव है उसी तरह कर्मरूपी बीजके भस्म हो जाने पर संसार रूप अंकुरका लगना, संसारमें पुनः जन्म ग्रहण करना अत्यन्त असम्भव है ॥" श्रीसिद्धसेन दिवाकरने संसारमें पुनः अवतार लेने वाले तीर्थंकरोंकी प्रबल मोह वृत्तिको प्रकट करते हुए लिखा है कि—"हे भगवन्, तुम्हारे शासनको नहीं समझनेवाले लोगोंमें इस प्रकारसे प्रबल मोहका राज्य फैला हुआ है–वे कहते हैं कि—जिन आत्माओंने कर्मरूपी ईंधनको जलाकर संसारका नाश कर दिया है वे भी मोक्षको छोड़कर फिरसे अवतार लेते हैं । मुक्त होकर भी निःशङ्क शरीर धारण करते हैं । तात्पर्य यह कि—वे अपनी आत्माका सुधार अर्थात् उसे पूर्णकर्ममुक्त करनेमें तो असफल रहे हैं पर परोपकारके लिए संसारमें अवतार लेनेकी शूरता दिखाते हैं । यही तो उनपर मोहनीय कर्मकी प्रबल छाप है—जो अपना कल्याण तो कर ही नहीं पाये पर परार्थ परार्थकी रट लगाये हुए हैं ।"

इस प्रकार इन चार अतिशयोंसे युक्त तथा अनन्तमुक्त—जिनकी मोक्ष अवस्था अनन्तकाल तक रहनेवाली है, जिनेन्द्र ही सच्चे देव हैं, उन्हें ही देव रूपसे समझना चाहिए । ये स्वयं कर्मोंका नाश करके पूर्णताको पहुँचे हैं । ये ही दूसरे भव्य जीवोंको सदुपदेश द्वारा मोक्षमार्गपर लगा सकते

१. –न्येऽपि ज्ञा–म० । उद्धृतोऽयम्–स्या० म० पृ० ४ ।

तत्रेयमेभिश्चतुर्भिरतिशयैः सनाथो दोषमुक्तश्च यो देवो भवति, स एव देवत्वेनाश्रयणीयः, स एव च परान् सिद्धि प्रापयति, न पुनरितरः सरागो भवेऽवतारवांश्च देव इत्याचेदितं मन्तव्यम् ।

§ १०. ननु मा भूत्सुगतादिको देवः, जगत्स्रष्टा त्वीश्वरः किमिति नाङ्गीक्रियते । तत्साधकप्रमाणाभावादिति ब्रूमः । अथास्त्येव तत्साधकं प्रमाणम्—क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकं, कार्यत्वात्, घटादिवत्। न चायमसिद्धो हेतुः क्षित्यादेः सावयवत्वेन कार्यत्वप्रसिद्धेः । तथाहि—उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं कार्यं, सावयवत्वात्, घटवत् । नापि विरुद्धः, निश्चितकर्तृके घटादौ कार्यत्वदर्शनात् । नाप्यनैकान्तिकः, निश्चिताकर्तृकेभ्यो व्योमादिभ्यो व्यावर्तमानत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः, प्रत्यक्षागमाबाधितविषयत्वात् ।

—

हैं, अन्य सरागी तथा बार-बार अवतार लेनेवाले देव अपनी आत्माको ही जब कर्मबन्ध से मुक्त नहीं कर सके हैं तब वे परार्थ तो किस भरोसेपर करेंगे ?

§ १०. **ईश्वरवादी**—यह तो आपने ठीक ही कहा है कि सुगत आदि यथार्थ देव नहीं हो सकते इसे हम भी मानते हैं । परन्तु आप इस समस्त चराचर जगत्के सिरजनहार (विधाता) ईश्वरको देव क्यों नहीं मानते ? अर्थात् देवमें तो समस्त जगत्को रचनेकी शक्ति मानी ही जानी चाहिए । यह ठीक है कि—जो एक बार मुक्त होता है वही फिर संसारमें नहीं आ सकता । पर ईश्वर इस सादिमुक्त जीवोंसे विलक्षण है । वह अनादिमुक्त है, शिष्टानुग्रह तथा दुष्टनिग्रहके लिए उसका अवतार लेना केवल एक लीला है । केवल अवतार लेनेकी लीला दिखानेके कारण उसे सकर्मा नहीं कहना चाहिए । अतः सृष्टिकर्ता ईश्वरको देव मानना ही चाहिए ?

जैन—ईश्वरको जगत्का रचयिता सिद्ध करनेवाला कोई भी साधक प्रमाण नहीं है अतः ईश्वरको देव कैसे माना जाय ?

ईश्वरवादी—(पूर्वपक्ष) आपने भी खूब कहा कि—'ईश्वरको कर्ता सिद्ध करनेवाला प्रमाण नहीं है । आप कहेंगे मुनिए हम ईश्वर साधक प्रमाणोंका वर्णन करते हैं—पृथिवी पहाड़ वृक्ष आदि सभी वस्तुएँ किसी बुद्धिमान्के द्वारा बनायी गई हैं क्योंकि ये सब कार्य हैं, जैसे घड़ा कार्य है तो वह बुद्धिमान् कुम्हारके द्वारा रचा गया है उसी तरह संसारके समस्त कार्य किसी न किसी बुद्धिमान्के द्वारा ही पैदा किये जाते हैं । पृथिव्यादि पदार्थ सावयव होनेके कारण कार्य हैं । जिनके अवयव होते हैं वे पदार्थ कार्य होते हैं । पृथिवी पहाड़ आदि सभी पदार्थ कार्य हैं क्योंकि वे सावयव—अवयवोंवाले हैं जैसे कि घड़ा । अतः क्षित्यादि पक्षमें कार्यत्वहेतुकी वृत्ति होनेसे यह असिद्ध नहीं है । जिन पदार्थोंके कर्ता निश्चित हैं ऐसे घटादि सपक्षमें कार्यत्व हेतु रहता है अतः यह विरुद्ध भी नहीं है । जिनके उत्पन्न करनेवाले कर्ता नहीं हैं ऐसे नित्य आकाशादि विपक्षमें कार्यत्व हेतु नहीं पाया जाता अतः यह अनैकान्तिक भी नहीं है । प्रत्यक्ष तथा आगमसे पक्षमें बाधा नहीं आती अतः कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है ।

---

१. —यो मुक्तश्च—म० १, प० १, प० २, क०, आ० । २. —ष्टानोत्थान—म० २ । ३. "भोक्तृभूतचतुष्टय-मुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात् ...सावयवत्वात्"—प्रशस्त० कन्द० पृ० ५४ । प्र०प० व्यो० पृ० ३०१ । वैशे० उप० पृ० ५२ । "शरीरादनेकान्तिकं बुद्धिमत्पूर्वकम् कारणत्वात् ...द्रव्येषु सावयवत्वेन तदगुणेषु कार्यगुणत्वेन कर्मसु कर्मत्वेनैव तदनुमानात् ।"—प्रशस्त० किरणा० पृ० ५० । न्यायली० पृ० २० । न्यायमुक्ता० दिन० पृ० २३ । "विवादाध्यासिताः तनु-तरु-महीधरादय उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्तिमत्त्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा ...यथा प्रासादादि । न चैषामुत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम्, सावयवत्वेन वा महत्त्वे सति क्रियावत्त्वेन वा वस्त्रादिवत्तत्सिद्धेः ।"—न्यायवा० ता० टी० पृ० ४५८ । स्याद्वादम० पृ० १५४ । "कार्यप्रयोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यः विश्वविदन्वयः ॥१॥" —न्यायकुसु० पञ्चमस्त० । ४. —वत्वे का—म० २ ।

§ ११. न च वाच्यं घटकर्त्रादिदृष्टान्तदृष्टासर्वज्ञत्वासर्वगतत्वकर्तृत्वादिधर्मानुरोधेन सर्वज्ञादिविशेषणविशिष्टसाध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धो[1] हेतुर्दृष्टान्तश्च साध्यविकलो घटादौ तथाभूतबुद्धिमतोऽभावाद् इति । यतः साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्तौ गृह्यमाणायां सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तिः, किं तु सामान्येनान्वयव्यतिरेकाभ्यां हि व्याप्तिरवधार्यते । तौ चानन्त्याद्व्यभिचाराच्च विशेषेषु गृहीतुं न शक्यौ । तेन बुद्धिमत्पूर्वकत्वमात्रेण कार्यत्वस्य व्याप्तिः प्रत्येतव्या, न शरीरित्वादिना । न खलु कर्तृत्वसामग्र्यां शरीरमुपयुज्यते, तद्व्यतिरेकेणापि ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रयत्वेन स्वशरीरकरणे कर्तृत्वोपलम्भात् । अकिंचित्करस्यापि सहचरत्वमात्रेण कारणत्वे[2] वह्निपङ्गुत्वस्यापि धूमं प्रति कारणत्वप्रसङ्गः स्यात् । विद्यमानेऽपि हि शरीरे ज्ञानादीनां समस्तानां व्यस्तानां वाऽभावे कुलालादावपि[3] कर्तृत्वं

§ ११. शंका—घटका बनानेवाले बुद्धिमान् कुम्हार में तो असर्वज्ञत्व शरीरित्व तथा असर्वगत्व आदि धर्मोंसे सम्बन्ध रखनेवाला कर्तृत्व पाया जाता है अतः क्षित्यादिका कर्ता भी असर्वज्ञ सशरीर तथा असर्वगत ही सिद्ध होगा । इस प्रकार सर्वज्ञ अशरीरी और सर्वगत ईश्वरसे विपरीत धर्मवाला कर्ता सिद्ध होनेके कारण हेतु विरुद्ध हो जायगा । यदि सर्वज्ञ अशरीरी और व्यापी कर्ताको साध्य बनाओगे, तो दृष्टान्तभूत कुम्हारमें ये अशरीरित्व सर्वगतत्व और सर्वज्ञत्वधर्म नहीं पाये जाते अतः दृष्टान्त साध्यशून्य हो जायगा ।

समाधान—साध्य और साधनकी व्याप्ति सामान्यधर्मकी अपेक्षासे ग्रहण की जाती है । यदि विशेषरूपसे ग्रहण की जाय, तो महानसीय अग्नि (रसोईघरकी अग्नि) के धर्म पर्वतमें सिद्ध होनेसे अनिष्ट प्रसंग होगा तथा पर्वतीय अग्निके धर्मोंको महानसाग्निमें नहीं पाये जानेके कारण दृष्टान्तमें साध्यविकलता आयेगी और इस प्रकार समस्त अनुमानोंका उच्छेद हो जायगा । अन्वय और व्यतिरेकद्वारा व्याप्तिका ग्रहण सामान्यरूपसे ही होता है, क्योंकि विशेष तो अनन्त हैं तथा एक विशेषका धर्म दूसरे विशेषमें न पाये जानेके कारण व्यभिचारी भी हैं अतः विशेषधर्मोंकी अपेक्षा अन्वय व्यतिरेक ग्रहण करना असम्भव ही है । इसीलिए प्रकृत अनुमानमें भी सामान्यबुद्धिमान् रूप हेतुके साथ ही कार्यत्व हेतुकी व्याप्ति विवक्षित है असर्वज्ञ या शरीरी कर्ता विशेषके साथ व्याप्ति ग्रहण करना इष्ट नहीं है । कार्य करनेकी सामग्रीमें शरीर शामिल भी नहीं है, क्योंकि शरीर न भी हो, पर कारणसामग्रीका परिज्ञान, कार्योत्पादनकी इच्छा तथा तदनुकूल प्रयत्न होने पर कार्योत्पत्ति हो ही जाती है । देखो, प्राणी जब मरता है और नये शरीर धारण करनेके लिए तैयार होता है उस समय वह अशरीरी अर्थात् स्थूलशरीरसे रहित होकर भी अपने नये शरीरका कर्ता हो जाता है । अकिंचित्कर शरीर सहचारी होने मात्रसे कारण नहीं हो सकता । कारण बनने के लिए तो उसे कुछ कार्य करना चाहिए । यदि सहचारी होने मात्रसे ही पदार्थोंको कारण मानना प्रारम्भ करें, तो धूमके प्रति अग्निके पीछेपन या भूरेपनको भी कारण मानना पड़ेगा । देखो कुम्हार जब सो रहा है या अन्य किसी कार्यमें व्यस्त है उस समय शरीरके मौजूद रहते हुए भी

---

१. —त्वादिधर्मा—ब० १, प० १, प० २ । —ज्ञत्वासर्वगत्वादि—ब० २ । २. "बोधाधारे अधिष्ठातरि साध्ये न साध्यविकल्पत्व सापि विरुद्धत्वम् । न चायं ''बोधाधारकारणत्वकार्यत्वयोः सामान्यतोऽन्वयतः सम्बन्धात्, विशेषेण तु आनन्त्यविरुद्धादव्यभिचारित्वे धर्मस्यायसाधनत्वप्रसङ्गः ।" —प्रश० व्यो० पृ० २८२ । "किञ्च व्याप्त्यनुरोधेन कल्प्यमानः प्रतिक्षिप्यते । कुलालतुल्यः कर्त्तेति स्याद्विशेषविरहतः ॥ व्यापारवानसर्वज्ञः अशरीरी विभुर्न वा । अदृष्ट वापि कर्त्ता तादृगेव भवेद् भुवः ॥ निर्णेतुं वाध्यनाप्ता न साध्यधर्मस्य निर्णयम् । कर्तृसामान्यसिद्धौ तु विशेषावगतिः कुतः ॥" — (पृ० १७१) "यद्यपि विशेषविरुद्धव्यभिचारिणौ तदव्यभिचारिणोरिव लिङ्गयोः, विशेषविरुद्धस्य हेत्वाभासस्याभावात्, अन्वयगमे वा सर्वलिङ्गानोच्छेदप्रसङ्गात् ।" —न्यायम० प्रमाण० पृ० १८२ । प्रशस्त० कन्द० पृ० ९५ । ३. —ने यत्नवत्त्व—ब० २ । ४. कार्यत्वे—ब० ८ । ५. —पि कार्यकर्तृत्वं—ब० २ ।

नोपलभ्यते। प्रथमं[1] हि कार्योत्पादककारणकलापज्ञानं ततः करणेच्छा, ततः प्रयत्नः, ततः फलनिष्पत्तिरित्यमीषां त्रयाणां समुदितानामेव कार्यकर्तृत्वे सर्वत्राव्यभिचारः।

§ १२. सर्वज्ञता[2] चास्याखिलकार्यकर्तृत्वात्सिद्धा। प्रयोगोऽत्र—ईश्वरः सर्वज्ञोऽखिलक्षित्यादिकार्यकर्तृत्वात्। यो हि यस्य कर्ता स तदुपादानाद्यभिज्ञः, यथा घटोत्पादकः कुलालो मृत्पिण्डाद्यभिज्ञः, जगतः कर्ता चायम्, तस्मात्सर्वज्ञ इति। उपादानं हि जगतः पार्थिवाप्यतैजसवायव्यो यल्लक्षणाश्चतुर्विधाः परमाणवः, निमित्तकारणमदृष्टादि, भोक्तात्मा, भोग्यं तन्वादि। न चैतदनभिज्ञस्य क्षित्यादौ कर्तृत्वं संभवत्यस्मदादिवत्।

§ १३. ते च तदीयज्ञानादयो नित्याः,[3] कुलालादिज्ञानादिभ्यो विलक्षणत्वात्।

घड़ेकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः यह मानना होगा कि उस समय ज्ञान इच्छा तथा प्रयत्न इन तीनोंका या किसी एकका अभाव होनेसे ही घड़ेकी उत्पत्ति नहीं हुई, तीन हाथका शरीर तो मौजूद था ही, अतः ज्ञान इच्छा तथा प्रयत्न इन तीनोंसे ही कुम्हार या अन्य सृष्टिमात्रमें कर्तृता आती है। शरीर होनेसे नहीं। सर्वप्रथम कार्यकी उत्पत्तिमें उपयोगी कारण सामग्रीका परिज्ञान करना होता है, फिर कार्य करनेकी इच्छा, तदनन्तर प्रयत्न होने पर कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। अतः ज्ञान इच्छा और प्रयत्न तीनों समुदित अर्थात् मिलकर ही कारण होते हैं। इनका कार्योत्पत्तिमें कभी भी व्यभिचार नहीं होता।

§ १२. इस प्रकार सामान्य रूपसे बुद्धिमान् कर्ताकी सिद्धि होने पर इस विचित्र रहस्यमय जगत्के उत्पादक बुद्धिमान्को सर्वज्ञ मानना चाहिए। उसकी सर्वज्ञता समस्त जगत्को उत्पन्न करनेसे सिद्ध है। यदि ईश्वर सर्वज्ञ न हो तो वह इस समस्त जगत्को उत्पन्न ही नहीं कर सकेगा। अतः हम यह अनुमान कर सकते हैं कि—ईश्वर सर्वज्ञ है क्योंकि वह समस्त पृथिवी पहाड़ आदि कार्योंको उत्पन्न करता है। जो जिस वस्तुका कर्ता होता है उसे उस वस्तुके समस्त उपादान तथा सहकारिकारणोंका यथावत् परिज्ञान होता है जैसे घड़े को बनानेवाला कुम्हार घड़ेके उपादानकारण मिट्टीके पिंड आदिको अच्छी तरह जानता है। चूँकि ईश्वर इस समस्त चराचर जगत्को उत्पन्न करता है, अतः उसे इस जगत्के उपादानभूत परमाणुओंका तथा सहकारिकारण अदृष्ट काल आदिका परिज्ञान होना ही चाहिए और इसीलिए वह सर्वज्ञ है। पृथिवी जल अग्नि तथा वायुके परमाणु इस जगत्के उपादान कारण हैं। अदृष्ट कर्म आदि निमित्त कारण हैं। जगत्के प्राणी भोक्ता हैं तथा शरीर आदि भोग्य हैं। यदि ईश्वर इस उपादानादि कारण सामग्रीको नहीं जानता है, तो वह हम जैसे अल्पज्ञानियोंकी तरह पृथिवी आदि कार्योंको उत्पन्न करनेके योग्य ही नहीं हो सकता। अतः इस विचित्र विश्वके लायक सिरजनहारको सर्वज्ञ मानना ही चाहिए, अन्यथा कार्योंकी सुव्यवस्थारूपमें उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, सब कार्य अंट संट यद्वा तद्वा उत्पन्न होकर सृष्टिको विलक्षण कर देंगे।

§ १३. यह ईश्वर कुम्हार आदिसे विलक्षण प्रकारका ही कर्ता है, इसीलिए उसके ज्ञान इच्छा प्रयत्न आदि नित्य हैं, सदा रहते हैं। कुम्हार आदिके ज्ञान इच्छा प्रयत्न तो अनित्य हैं पर ईश्वरके नित्य।

---

१. –मं हि कार्यो–भ० २। २. यथा च कुलालः सकलकलशादिकार्यकरणोत्पत्तिसंविधानप्रयोजनाद्यभिज्ञो भवंस्तस्य कार्यचक्रस्य कर्ता तथेयत्स्त्रैलोक्यस्य निरवधिप्राणिसुखदुःखसाधनस्य सृष्टिसंहारसंविधानं सप्रयोजनं बहुधात्वं जानन्नेव स्रष्टा भवितुमर्हति महेश्वरस्तस्मात्सर्वज्ञः।"—न्यायमं० प्रमाण० पृ० १८४। ३. –यत्तु–भ० २। ४. "अवास्य बुद्धिनित्यत्वे किं प्रमाणमिति। नन्वित्थमेव बुद्धिमत्कारणाधिष्ठिताः परमाणवः प्रवर्तन्त इति।"—न्यायवा० पृ० २६४। "तस्य हि ज्ञानक्रियाशक्ती नित्ये इति ऐश्वर्यं नित्यम्।" —न्यायवा० ता० टी० पृ० ५५१। "नित्यं तज्ज्ञानं कथमिति चेत् तस्मिन् क्षणमप्यज्ञातरि मति तदिच्छाप्रेर्यमाणकर्मार्धीनतानाप्रकारव्यवहारविरामप्रसङ्गात्।"– न्यायमं० प्रमाण० पृ० १८४।

§ १४. एकत्वं[1] च क्षित्यादिकर्तुरनेककर्तृणामेकाधिष्ठातृनियमितानां प्रवृत्त्युपपत्तेः सिद्धम्। प्रसिद्धा हि स्थपत्यादीनामेकसूत्रधारपरतन्त्राणां महाप्रासादादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः।

§ १५. न च ईश्वरस्यैकरूपत्वे नित्यत्वे च कार्याणां कादाचित्कत्वं वैचित्र्यं च विरुध्यते इति वक्तव्यम्। कादाचित्कविचित्रसहकारिलाभेन कार्याणां कादाचित्कत्ववैचित्र्यसिद्धौ विरोधासंभवात्।

§ १४. जिस प्रकार बहुत-से छोटे-मोटे कार्यकर्ता अपने प्रधान संचालकके अधीन रहते हैं, जिस तरह छोटे-मोटे अनेक राजा-महाराजा एक सम्राट्—चक्रवर्तीके इशारे पर चलते हैं तथा जैसे अनेक देव आदि एक इन्द्रकी आज्ञामें रहते हैं उसी प्रकार संसारके समस्त चक्रवर्ती इन्द्र आदि एक महान् विभूतिरूप ईश्वरके नियमसे नियन्त्रित होकर अपनी प्रवृत्ति करते हैं। उसके नियमके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। वही सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिशाली अन्तिम अधिष्ठाता ईश्वर है। अतः वह एक ही हो सकता है। अपने नायक—नेता मानने पर तो कार्य नष्ट हो जायँगे। उनमें मतभेद होने पर बिचारे कार्योंकी दुर्दशा हो जायगी। अतः सबका नियन्ता ईश्वर एक ही माना जाना चाहिए। यह तो प्रसिद्ध ही है कि—छोटे-मोटे अनेक मजदूर कारीगर आदि एक मुख्य इंजीनियरके अधीन रहकर ही बड़े-बड़े राजमहल बनानेमें प्रवृत्त होते हैं। मुख्य इंजीनियर ही उन सबको दिशा प्रदर्शन करके उनका नियन्त्रण करता है। इसी तरह इस विश्वका प्रधान कुशल इंजीनियर ईश्वर है और वह एक है, नित्य है।

§ १५. **शंका**—ईश्वर जब नित्य तथा एक रूप है तब उसके स्वभाव सदा एक जैसा ही रहता है; तब उससे उत्पन्न होनेवाले इस जगत्में यह आकाश, ये चमचमाते तारे, वह तड़कती हुई बिजली, यह झर-झर झरनेवाला पानी, वह धधकती हुई आग, यह सनसनानेवाली वायु यह सब विचित्रता कैसे होगी? एक रूप कारणसे तो एक ही प्रकारके कार्य उत्पन्न होंगे। इसी तरह जब वह नित्य समर्थ है तब कार्य भी सभी एक ही साथ उत्पन्न होंगे, उनका कभी-कभी होना—अर्थात् वसन्तमें ही आमको बौर आना, बरसातमें ही सर्वत्र हरी भरी घासका गलीचा बिछना, ठण्डमें कुहरेका छा जाना, दिनमें ही सूर्यका तपना—यह सब कभी-कभी होना—नियत समय पर नियत ऋतु आदिका होना खटाईमें पड़ जायगा। क्योंकि नित्य कारणसे तो सभी कार्य युगपत् ही उत्पन्न होते हैं। कार्योंका कभी-कभी होना तो अन्य हेतुओंकी अपेक्षा रखता है। यदि ईश्वर अन्य कारणोंकी अपेक्षा रखे तो वह परतन्त्र हो जायगा।

समाधान—अकेले ईश्वरसे ही ये सब कार्य उत्पन्न नहीं होते ईश्वरके सिवाय अन्य भी सहकारी उत्पादक कारण हैं। सब मिलकर ही कार्योंको उत्पन्न करते हैं। ईश्वर तो उन पुरजों को फिट करनेवाला है। वह तो नियन्ता है, निर्देशक है। अतः ईश्वर भले ही सदा एक रूपमें रहे, परन्तु अन्य सहकारी कारण तो अपने समयानुसार कभी-कभी ही इकट्ठे हो पाते हैं, उन सहकारीकारणोंमें रहस्यमय विचित्रताएँ भी पायी जाती हैं इसलिए जब जब जैसे-जैसे सहकारीकारण जुटने जाते हैं ईश्वर उनका विनियोग कर अर्थात् उनका ठीक यथास्थान उपयोग कर विचित्र कार्योंको उत्पन्न करता जाता है। अतः कार्योंमें विचित्रता तथा उनका नियत समय पर ही होना विचित्र विचित्र सहकारीकारणोंकी कृपाका ही फल है। ईश्वर तो सदा तैयार रहता है, ये सहकारीकारण ही धीरे-धीरे जुड़ पाते हैं।

१. "अत एवैक ईश्वर इष्यते न द्वौ बहवो वा भिन्नाभिप्रायतया लोकानुग्रहोपघातवैशसप्रसङ्गात्, इच्छाविसंवादसंभवेन च ततः कस्यचित्कालविघातद्वारकानैश्वर्यप्रसङ्गाद् इत्येक एवेश्वरः।"—स्याद्वादमं० प्रमाण० पृ० १८७।

§ १६. ननु क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वेऽक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णकूपादिष्विव कृतबुद्धिरुत्पद्यते [क्षेत] न चाथ सा उत्पद्यमाना दृष्टा, अतो दृष्टान्तदृष्टस्य हेतोर्धर्मिण्यभावादसिद्धत्वम्। तदप्ययुक्तम्; यतः प्रामाणिकमितरं वापेक्ष्येदमुच्येत। यदीतरं तर्हि धूमादावप्यसिद्धत्वानुषङ्गः। प्रामाणिकस्य तु नासिद्धत्वं, कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नाविनाभावस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धेः, पर्वतादौ धूमादिवत्। न च यावन्तः पदार्थाः कृतकाः तावन्तः कृतबुद्धिमात्मन्याविर्भावयन्तीति नियमोऽस्ति, खातप्रतिपूरितादौ भुव्यक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्युत्पादाभावात्।

§ १७. किं च, बुद्धिमत्कारणभावोऽत्रानुपलब्धितो भवता प्रसाध्यते। एतच्चायुक्तम्, दृश्यानुपलब्धेरेवाभावसाधकत्वोपपत्तेः। न चेयमत्र संभवति जगत्कर्तुरदृश्यत्वात्। अनुपलब्धस्य

---

§ १६. शंका—संसारमें जितने कार्य होते हैं उन सबको हमने बनते हुए भले ही न देखा हो पर जब भी हम उन्हें देखते हैं तो हमको 'यह कितना सुन्दर बनाया गया है या यह ठीक नहीं बनाया गया' इस प्रकार की कृतबुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। किसी पुरानी बावड़ी या किसी राजप्रासादके खण्डहरको देखकर उसके रचयिताकी कुशलता पर बरबस 'धन्य' निकल पड़ता है। परन्तु पृथिवी और पहाड़ या नदी या इन झिलमिलाते तारोंको देखकर तो कभी भी 'कृत—बहुत अच्छा बनाया गया' ऐसी कृतबुद्धि नहीं होती। इसलिए जीर्ण कूप आदि दृष्टान्तमें देखा गया कृतबुद्धिको उत्पन्न करनेवाला कार्यत्व पृथिवी आदि धर्मीमें नहीं पाया जाता, लिहाजा यह कार्यत्व हेतु असिद्ध है। पृथिवी आदि प्राकृतिक वस्तुओंको देखकर यह नहीं लगता कि इन्हें किसीने बनाया होगा।

समाधान—आपने कहा है कि पृथिवी आदिमें कृतबुद्धि नहीं होती, तो बताइए कि यह कृतबुद्धि किसी प्रामाणिक-समझदारको नहीं होती, या साधारण व्यक्तिको? यदि साधारण व्यक्तिको कृतबुद्धि न होनेके कारण कार्यत्व हेतु असिद्ध माना जाय तो वह मूढ़ तो धूम और भाफमें भी विवेक नहीं कर सकता अतः उसकी दृष्टिसे विचार करने पर तो सभी हेतु असिद्ध हो जायेंगे और इस तरह समस्त अनुमानोंका उच्छेद ही हो जायगा। प्रामाणिक-समझदार व्यक्तिको तो कार्यत्वका बुद्धिमत्कर्तृकत्वके साथ अविनाभाव गृहीत है ही और वह यह भी जानता ही है कि—'कार्यत्व-हेतु पृथिवी आदिमें पाये ही जाते हैं जैसे कि पर्वतमें अग्नि।' समझदारको जिसका कि ईश्वरमें विश्वास है—पृथिवी आदिको देखकर नियमसे कृतबुद्धि होती है। वह तो ईश्वरको कर्ता-धर्ता-हर्ता सब कुछ समझता ही है। फिर यह भी कोई नियम नहीं है कि—"जितने कार्य हैं उनमें कृतबुद्धि होनी ही चाहिए। जिस जमीनमें गड्ढेको खोदकर फिर उसे भर दिया है, उसे चौरस कर दिया है उस कार्यरूप जमीनमें जिसने उसे भरते हुए नहीं देखा है उसको कभी भी 'कृत' बुद्धि उत्पन्न नहीं होती।

§ १७. आप पृथिवी आदिमें कर्ताका अभाव अनुपलब्धिसे करते हो, परन्तु आपको अनुपलब्धिसे अभाव करते समय इस बातका खासतौरसे ध्यान रखना चाहिए कि—जिसको हम देख सकते हैं, जान सकते हैं ऐसे दृश्य पदार्थका ही अनुपलब्धिसे अभाव सिद्ध किया जा सकता है; जिन पिशाच परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको हम देख नहीं सकते, जान नहीं सकते उनका अनुपलब्धिसे अभाव नहीं कर सकते, क्योंकि वे पदार्थ मौजूद भी रहें तब हमें उनकी अनुपलब्धि रह सकती है। पिशाच परमाणु आदिकी तरह ईश्वर भी अदृश्य है, अतीन्द्रिय है, हम उसे देख नहीं सकते, अतः अनुपलब्धिसे उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि ईश्वर कहीं पहले दिखाई देता या दिखनेके योग्य होता और फिर पृथिवी आदिमें कर्तृत्वके रूपसे उसके दर्शन न होते तो बराबर उसका अभाव होता परन्तु ईश्वर तो दिखनेके योग्य ही नहीं है। जो चीज हमें

चाभावसाध्यत्वे पिशाचादेरपि तत्प्रसक्तिः स्यादिति ।

§ १८. अत्र प्रतिविधीयते ।[1] तत्र यत्तावत् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धये कार्यत्वसाधनमुक्तं, तत् किं सावयवत्वं १, प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः २, कृतमितिप्रत्ययविषयत्वं ३, विकारित्वं ४ वा स्यात् । यदि सावयवत्वं, तदेदमपि किमवयवेषु वर्तमानत्वं १, अवयवैरारभ्यमाणत्वं २, प्रदेशवत्त्वं ३, सावयवमितिबुद्धिविषयत्वं ४ वा । तत्राद्यपक्षेऽवयवसामान्येनानैकान्तिकोऽयं हेतुः, तद्धवयवेषु वर्तमानमपि निरवयवमकार्यं च प्रोच्यते । द्वितीयपक्षे तु साध्यसमो हेतुः, यथैव हि क्षित्यादेः कार्यत्वं साध्यं, एवं परमाण्वाद्यवयवारभ्यत्वमपि । तृतीयोऽप्याकाशेनानै-

दिख ही नहीं सकता उसका भी यदि अनुपलब्धिसे अभाव मान लिया जाय, तब तो तमाम पिशाच आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका अभाव ही मानना होगा क्योंकि वे तो कभी भी हमको उपलब्ध नहीं होते ।

§ १८. **जैन**—(उत्तरपक्ष) उक्त ईश्वर कर्तृत्व साधक दलीलोंका खण्डन इस प्रकार है—आपने पृथिवी आदिको ईश्वररचित सिद्ध करनेके लिए कार्यत्व हेतुका प्रयोग किया है । तो सबसे पहले उस कार्यको ही ऐसी सुनिश्चित परिभाषा बताइए जिस परिभाषासे यह निश्चय किया जा सके कि संसारमें अमुक पदार्थ तो कार्य हैं तथा अमुक पदार्थ अकार्य । क्या जो अवयववाला है उसे कार्य कहा जाय ? या जिसका पहले तो अभाव था पर जो सत्ताका सम्बन्ध होनेसे तथा अपने कारणोंके साथ समवाय-विशिष्ट सम्बन्ध रखनेके कारण 'सत्' कहा जाने लगा है उसे कार्य कहें ? अथवा जिसे देखते ही 'कृतम्' किया गया है यह बुद्धि उत्पन्न हो जाय वह कार्य है ? या जिसमें विकार होता है वह विकारी पदार्थ कार्य कहा जाय ? यदि सावयव—अवयववाले पदार्थको कार्य कहते हैं, तो यही बताइए कि सावयव किसे कहें ? क्या जो पदार्थ अवयवोंमें रहता है वह सावयव है, या जो अवयवोंके संयोगसे उत्पन्न हुआ है वह ? अथवा जिसके अवयव—हिस्से मौजूद हों उसे सावयव कहा जाय, या जिसमें 'यह अवयववाला है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो उसे ? यदि जो अवयवोंमें रहता है वह सावयव होनेसे कार्य है, तो अवयवोंमें रहनेवाले अवयवत्व सामान्यसे यह लक्षण व्यभिचारी हो जायगा । क्योंकि 'यह अवयव है यह अवयव है' इस एक जैसी अनुगत बुद्धिके द्वारा जिसका परिज्ञान होता है वह अवयवत्व नामकी जाति आपके मतसे नित्य है अत एव कार्य रूप तो हो ही नहीं सकती, परन्तु वह अवयवत्व जाति अवयवोंमें रहती अवश्य है । अतः विपक्षभूत अकार्य नित्यमें भी इस लक्षणके पास जानेसे यह व्यभिचारी है । अवयवत्व सामान्य अवयवोंमें रहता तो है परन्तु वह आपके मतसे निरवयव—निरंश है, उसके अवयव नहीं हैं । 'जो अवयवोंसे उत्पन्न हो वह कार्य' यह दूसरी परिभाषा तो साध्यके समान असिद्ध ही है । जिस प्रकार अभी पृथिवी आदि को कार्य सिद्ध करना है उसी तरह इनका परमाणु आदि अवयवोंसे उत्पन्न होना भी तो अभी सिद्ध ही करना है । अभी इसकी सिद्धि नहीं हुई है । तात्पर्य यह कि जिस तरह कार्यत्व अभी विवादमें पड़ा है, असिद्ध है, उसी तरह अवयवोंसे उत्पन्न होना भी अभी विवाद की ही चीज है क्योंकि चाहे कार्य कह लो या अवयवोंसे उत्पन्न होनेवाला, दोनों एक ही बात है । अतः यह परिभाषा साध्यसम अर्थात् साध्यके समान असिद्ध है । 'जो प्रदेशवाला हो, जिसके हिस्से हों वह कार्य' यह तीसरी परिभाषा अकार्य नित्य आकाशमें भी चली जाती है, अतः यह अतिव्याप्त या व्यभिचारिणी (वि—विपक्षसे भी अभिचार—सम्बन्ध रखना) है । आप आकाशको समस्त जगत्में व्याप्त रहनेवाला मानते हैं तथा उसे नित्य भी

१. तुलना "यत्तावत् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धये कार्यत्वं साधनमुक्तम्; तत्किं सावयवत्वम्, प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः, 'कृतम्' इति प्रत्ययविषयत्वम्, विकारित्वं वा स्यात् ?"—न्यायकुमु० पृ० १०१ । प्रमेयरत्नमा० पृ० ६४ ।

कान्तिकः, तस्य प्रदेशवत्त्वेऽप्यकार्यत्वात्। प्रसाधयिष्यते चाग्रतोऽस्य प्रदेशवत्त्वम्। चतुर्थकक्षायामपि तेनैवानेकान्तो न चास्य निरवयवत्वं, व्यापित्वविरोधात्परमाणुवत् १।

§ १९. नापि[1] प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः कार्यत्वं, तस्य नित्यत्वेन तल्लक्षणायोगात्। तल्लक्षणत्वे वा कार्यस्यापि क्षित्यादेस्तद्वत्क्षित्यत्वानुषङ्गात्, कस्य बुद्धिमद्धेतुकत्वं साध्यते।

§ २०. किं च, योगिनामशेषकर्मक्षये पक्षान्तःपातिन्यप्रवृत्तत्वेन भागासिद्धोऽयं हेतुः, तत्क्षयस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वेन सत्तास्वकारणसमवाययोरभावात् २।

स्वीकार करते हैं, अतः यह कार्य तो नहीं है; परन्तु यह घटाकाश—घटमें रहनेवाला आकाश है यह मठाकाश—मन्दिरमें रहनेवाला आकाश, यह बनारसमें रहनेवाला आकाश है' इत्यादि रूपसे आकाशमें भी प्रदेश पाये जाते हैं। जो आकाशका भाग बनारसमें है वही भाग पटनामें तो नहीं है, अतः आकाशके अनेक भाग—अवयव अनुभवसिद्ध हैं ही। इस प्रकार आकाश अवयववाला तो अवश्य है पर इसे कार्य तो आप स्वयं ही नहीं मानते। अतः यह परिभाषा व्यभिचारिणी है। आकाशमें वास्तविक प्रदेशोंकी सत्ता आगे सिद्ध करेंगे। 'जिसमें 'यह अवयववाला है' यह बुद्धि हो वह चौथी परिभाषा भी अकार्यभूत विजातीय नित्य आकाशके साथ अनुचित सम्बन्ध रखनेके कारण व्यभिचारिणी है। आकाशमें घटाकाश मठाकाश आदि रूपसे सावयव बुद्धि अर्थात् यह अवयववाला है ऐसी बुद्धि तो होती है परन्तु वह कार्य नहीं है। आकाशको निरवयव—अवयवोंसे रहित निरंश मानना तो किसी भी तरह उचित नहीं है, क्योंकि यदि आकाशके अवयव न हों तो वह परमाणुकी तरह एक प्रदेशमें रहनेवाला होगा, समस्त जगत्में व्यापी नहीं हो सकेगा, जिसके अनन्त अवयव हों यह वही अपने भिन्न-भिन्न अवयवोंसे जगत्में व्याप्त हो सकता है। निरवयव पदार्थको तो परमाणुकी तरह जगत्के एक क्षुद्रतम—सबसे छोटे भागमें रहकर अपना गुजारा करना होगा समस्त जगत्में फैलकर नहीं।

§ १९. 'असत् वस्तुमें सत्ताका सम्बन्ध होना तथा उसका अपने कारणोंमें समवाय सम्बन्धसे रहने लगना' कार्यका यह लक्षण भी युक्ति संगत नहीं है; क्योंकि इस लक्षणमें समवाय सम्बन्धकी बात है। समवाय सम्बन्ध एक नित्य सम्बन्ध है वह जहाँ रहता है वहाँ सदा रहता है। इसी तरह इसमें जिस सत्ताके सम्बन्धकी चर्चा की गयी है वह सत्ता भी नित्य है। अतः नित्य-समवाय अनित्य कार्यका लक्षण हो ही नहीं सकता। यदि नित्यसमवायको अनित्यकार्यके लक्षणमें स्थान दिया जायगा, तो समवायकी तरह पृथिवी आदि भी नित्य ही हो जायँगे। इस तरह संसारमें जब कोई कार्य ही नहीं रहेगा तब ईश्वर किसका रचनेवाला होगा?

§ २०. दूसरी बात योगीजन अपने ध्यानके बलसे कर्मोंका नाश करते हैं, अतः कर्मोंका नाश योगियोंके ध्यानका फल होनेसे कार्य तो अवश्य है, परन्तु इसमें न तो सत्ता ही रहती है और न समवाय ही इसलिए कार्यका यह लक्षण भागासिद्ध—पक्षके कुछ हिस्सोंमें नहीं रहने-वाला—हो जाता है। कर्मोंका नाश प्रध्वंसाभाव रूप होनेसे अभाव नामक पदार्थ है। और सत्ता द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें रहती है तथा समवाय द्रव्य गुण कर्म सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थोंमें ही रहनेवाला है। अतः अभावमें न तो सत्ता ही रहती है और न समवाय ही। अतः ऐसा संकुचित लक्षण जो पूरे पक्षमें नहीं रहता कार्य साधक नहीं हो सकता।

---

१. –शावयवत्वेऽपि–भ० २। २. तुलना—"नापि प्रागसतः स्वकारणसत्तासंबन्धः कार्यत्वम्; तत्संबन्धस्य समवायाख्यस्य नित्यत्वेन कार्यलक्षणत्वायोगात्।"—न्यायकुसु० पृ० १०१। ३. "तदा योगिनामशेषकर्मक्षये पक्षान्तःपातिनि हेतोः कार्यत्वलक्षणस्याप्रवृत्तेर्भागासिद्धत्वम्। न च तत्र सत्तासमवायः स्वकारण-समवायो वा समस्ति, तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसरूपत्वेन सत्तासमवाययोरभावात् सत्ताया द्रव्यगुणक्रियावृत्तित्वाभ्यनुज्ञानात् समवायस्य च परैर्द्रव्यादिपञ्चपदार्थवृत्तित्वाभ्युपगमात्।"—प्रमेयरत्नमा० सू० २।१२।

§ २१. कृतमितिप्रत्ययविषयत्वमपि न कार्यत्वं, 'खननोत्सेचनादिना कृतमाकाशमित्य-कार्येऽप्याकाशे वर्तमानत्वेनानैकान्तिकत्वात् २ ।

§ २२. विकारित्वस्यापि कार्यत्वे महेश्वरस्यापि कार्यत्वानुषङ्गः, सतो वस्तुनोऽन्यथाभावो हि विकारित्वम् । तच्चेश्वरस्याप्यस्तीत्यस्यापरबुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसङ्गादनवस्था स्यात्, अविकारित्वे चास्य कार्यकारित्वमतिदुर्घटमिति ४ । कार्यस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वादसिद्धः कार्यत्वान्नित्यत्वे हेतुः ।

§ २१. 'जिसमें 'कृतम्—किया गया' यह बुद्धि उत्पन्न हो वह कार्य' कार्यका यह लक्षण भी अकार्य—नित्य आकाशमें रहनेके कारण अनैकान्तिक (एक अन्त पक्ष पर डटकर नहीं रहनेवाला) है। क्योंकि—जमीन खोदकर कुआँ बनाते हैं, जब जमीन खोदकर मिट्टी तथा कीचड़ आदि उलीच देते हैं तब गड्ढेके साथ-ही-साथ आकाश भी निकलता चला आता है। उस गड्ढेमें निकले हुए आकाशमें 'कृतम्—किया गया' यह बुद्धि तो होती है परन्तु वह कार्य नहीं है वह तो आपके सिद्धान्तके ही अनुसार नित्य है। अतः इस अनैकान्तिक लक्षणसे आपका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता।

§ २२. कार्यका 'जो विकारी हो, जिसमें परिवर्तन—हेर-फेर होता रहता हो वह कार्य' यह लक्षण भी तर्कसंगत नहीं है; क्योंकि—आपके ईश्वरके जिम्मे सृष्टि रक्षा तथा संहार ये तीनों ही कार्य हैं, कर्ता धर्ता हर्ता सभी वही है। उसीने घट पट तारे चांद सूरज नदी पहाड़ सभी विचित्र कार्यों के उत्पन्न करनेका ठेका ले रखा है। अब विचार कीजिए कि जब तक ईश्वर सृष्टि और रक्षामें लगा रहता है तब तक वह प्रलय तो नहीं करता है। जब वह प्रलय करनेके लिए महाकालरूप धारण करता है तब उसके स्वभावमें कुछ परिवर्तन होता है या नहीं ? बिना भौंह चढ़ाये अपने रचनात्मक स्वभावको बदलकर संहारक स्वभाव धारण किये बिना प्रलय कैसे हो सकता है ? घड़ेको बनानेके समय उसका जो स्वभाव है चाँदको बनाते समय भी उसका यदि वही स्वभाव रहता है उसमें कुछ भी रद्दोबदल नहीं होता तब चाँद भी घड़े जैसा ही पानी भरनेके लायक ही बनेगा उसमें वह शीतलता वह ठण्डी चमक वह आह्लादकता नहीं आ पायगी। काला पत्थर बनाते समय उसका जो स्वभाव है वही स्वभाव बिना किसी हेर-फेरके यदि सूरज बनाते समय भी रहता हो, तब सूरज क्या, वह तारकोलकी तरह काले पत्थरका एक ठीकरा तैयार हो जायगा। उसमें रोशनी, गरमी तथा खरी चमचमाहट न आ पायगी। इस तरह अनेक विचित्र कार्योंके एक मात्र रचयिता ईश्वरके स्वभावमें परिवर्तन—रद्दोबदल तो स्वीकार करना ही होगा। अतः आपके इस लक्षणके अनुसार परिवर्तनशील होनेसे तो ईश्वर स्वयं कार्य हो गया, अब इनको भी किसी दूसरे बुद्धिमान्से उत्पन्न होने दीजिए; वे भी इसी तरह कार्य होंगे उन्हें भी कोई तीसरा बनायेगा इस प्रकार अनेक ईश्वरोंको कार्य रूप होते जानेके कारण अनवस्था (अप्रमाणीक अनन्त पदार्थोंकी कल्पना) दूषण होता है। विकारका तात्पर्य ही यह है कि—मौजूद वस्तुके स्वभावमें कुछ अन्यथाभाव अर्थात् हेर-फेर हो जाना। स्वभावका हेर-फेर तो ईश्वरमें मानना ही पड़ेगा अन्यथा यह विचित्र जगत् अपने निश्चित रूपमें उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा। यदि ईश्वरमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता, वह सदा एकरस रहता है तब उसे सदा एक जैसे ही कार्य करना चाहिए, या तो वह सृष्टि ही सृष्टि करे या प्रलय ही प्रलय। जब कोई अमुक कार्य उत्पन्न नहीं होता तब ईश्वरमें अकर्तृत्व तो मानना ही पड़ेगा और जब वह उत्पन्न होने लगता है तब कर्तृत्व भी मानना ही होता है। बिना यह माने व्यवस्था बिगड़ती है। अतः ईश्वर जब तक अपने अकर्तृत्व स्वभाव-को छोड़कर कर्तृत्वको धारण नहीं करेगा, अकर्तासे कर्ता नहीं बनेगा, अपनेमें अकर्तृत्वका त्याग

१. "तत्रापि खननोत्सेचनात् कृतमिति गृहीतसंकेतस्य कृतबुद्धिसंभवात् ।" —प्रमेयरत्नमा० सू० २।१२।

२. —त्वमिति दुर्घ—म० २ ।

§ २३. किं च, कादाचित्कं वस्तु लोके कार्यत्वेन प्रसिद्धम् । जगतस्तु महेश्वरवत्सदा तत्त्वात्कथं कार्यत्वम् । तदन्तर्गततरुगतृणादीनां कार्यत्वात्तस्यापि कार्यत्वे महेश्वरान्तर्गतानां बुद्ध्यादीनां परमाण्वाद्यन्तर्गतानां पाकजरूपादीनां च कार्यत्वात्, महेश्वरादेरपि कार्यत्वानुषङ्गः । तथा चास्याप्यपरबुद्धिमद्धेतु[1]कर्तृकल्पनायामनवस्थापसिद्धान्तश्चानुषज्यते ।

§ २४. अस्तु[2] वा यथा कथंचिज्जगतः कार्यत्वं, तथापि कार्यत्वमात्र[3]मिह हेतुत्वेन विवक्षितं,

---

कर कर्तृत्व रूपसे परिवर्तन नहीं करेगा तब तक वह अन्य कार्योंका उत्पादक नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह कि उसे जगत्कर्ता बननेके लिए अपनी अकर्तृता छोड़नी ही होगी। और जब ईश्वर ही परिवर्तनशील होनेसे कार्य हो गया तब उसका बनानेवाला दूसरा कोई अन्य होगा, दूसरे को बनाने वाला तीसरा तथा तीसरेको चौथा इस तरह अनवस्था दूषण स्पष्ट ही है। इस तरह ज्यों ज्यों कार्यके स्वरूपका विचार करते हैं त्यों त्यों वह सड़ी धोतीकी तरह चिथड़ा बनता जाता है। वह विचार की मारको नहीं सह सकता अतः यह कार्यत्व हेतु असिद्ध है।

§ २३. संसारमें कार्य तो वही कहा जाता है जो कभी उत्पन्न हुआ हो। परन्तु यह जगत् तो ईश्वरकी ही तरह अनादि (जिसकी शुरुआत नहीं, जो कभी पैदा ही नहीं हुआ) माना जाता है, वह ईश्वरकी ही तरह सदा रहता आया है तथा रहेगा तब इसे कार्य कैसे कह सकते हैं ? तथा ईश्वरको इसका बनानेवाला भी कैसे कहा जाय ?

ईश्वरवादी—यद्यपि साधारणरूपसे परम्परा-प्रवाहकी दृष्टिसे यह समूचाका समूचा जगत् अनादि कहा जाता है और यह पूराका पूरा ब्रह्माण्ड है भी अनादि, परन्तु इस जगत्के भीतर रहनेवाले वृक्ष तिनके घट पट पहाड़ आदिका विशेष रूपसे विचार करने पर तो ये सब सादि तथा कार्य रूप ही हैं। आप जगत्का विशेष स्वरूप देखिए एक उत्पन्न होता है तो एक मरता है। एक अंकुर निकल रहा है तो दूसरा कुम्हला रहा है, आज जो जवान है वह धीरे धीरे बूढ़ा होता जा रहा है। इस तरह विशेष दृष्टिसे यह प्रवाही जगत् कार्य भी कहा जाता है। आखिर इन सब अनगिनती कार्योंके एक समुदायको छोड़कर जगत् और है ही क्या ? इसलिए जगत् कार्य भी है और ईश्वर उसका सिरजनहार है।

जैन—'समूचा जगत् यद्यपि प्रवाहकी अपेक्षा अनादि है फिर भी तदन्तर्गत वस्तुएँ नित्य नये नये रूप धारण करती हैं अतः उनकी दृष्टिसे वह सादि है तथा कार्य है, इस युक्तिसे तो स्वयं महेश्वर तथा परमाणु आदि नित्य पदार्थ भी कार्य रूप ही सिद्ध होते हैं। हम कह सकते हैं कि 'यद्यपि महेश्वर उत्पन्न नहीं होता अनादि है परन्तु उसमें रहनेवाले बुद्धि इच्छा प्रयत्न आदि गुण तो सदा उत्पन्न होते रहते हैं तथा विनष्ट होते रहते हैं। इसी तरह यद्यपि परमाणु उत्पन्न नहीं होता वह अनादि है फिर भी अग्निके संयोगसे इसके श्यामरूपका लाल रूपमें परिवर्तन होता ही है। अतः महेश्वर भी जब कार्य हो गया तब उसको बनानेके लिए किसी दूसरे ईश्वरकी तथा दूसरेको बनानेके लिए तीसरे ईश्वरकी अपेक्षा करनेसे अनवस्था दूषण होता है। तथा आपके शास्त्रोंमें परमाणु तथा महेश्वरको नित्यद्रव्य माना है, पर जब ये आपकी ही युक्तिसे कार्य सिद्ध हो जाते हैं तब सिद्धान्त विरुद्ध कथन होनेसे अपसिद्धान्त-सिद्धान्त विरोध—नामका दोष भी होता है।

§ २४. अथवा, जिस किसी भीतरह जगत्को कार्य मानभी लिया जाय, पर आप साधारण

---

१. —तुल्यकल्प—म० १, प० १, प० २, क०। —तुल्यकल्प—म० २। २. "अस्तु वा यथाकथंचिज्जगतः कार्यत्वम्; तथापि किं कार्यमात्रमत्र हेतुत्वेन विवक्षितम्, तद्विशेषो वा।"—न्यायकुसु० पृ० १०२। ३. —मात्रमत्र हेतु— म० १, प० १। —मात्रहेतु—म० २, प० २।

तद्विशेषो वा । [1]यद्याद्यः, तर्हि न ततो बुद्धिमत्कर्तृविशेषसिद्धिः, तेन समं व्याप्त्यसिद्धेः, किं तु कर्तृसामान्यस्य, तथा च हेतोरकिंचित्करत्वं साध्यविरुद्धसाधनाद्विरुद्धत्वं वा[2] । ततः कार्यत्वं कृतबुद्ध्युत्पादकम्, बुद्धिमत्कर्तृगमकं न सर्वम् । सारूप्यमात्रेण च गमकत्वे बाष्पादेरप्यग्निं प्रति गमकत्वप्रसङ्गः, महेश्वरं प्रत्यात्मत्वादेः सादृश्यात्संसारित्वकिंचिज्ज्ञत्वाखिलजगदकर्तृत्वानुमापकानुषङ्गः[3], तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् । ततो बाष्पधूमयोः केनचिदंशेन साम्येऽपि तथा कुतश्चिद्विशेषाद्धूमोऽग्निं गमयति न बाष्पादिः, तथा क्षित्यादीतरकार्यत्वयोरपि कश्चिद्विशेषोऽभ्युपगम्यः[4][5] ।

कार्यत्व रूप हेतुसे जगत्को ईश्वर रचित सिद्ध करना चाहते हैं या किसी खास प्रकारके कार्यत्वसे ? साधारण कार्यत्व-बनावटसे जगत्को ईश्वर रचित कहना ईश्वरकी हँसी करना है । साधारण कार्यत्वकी तो साधारण कर्ता-जिस किसी भी अनिश्चित कर्तामें व्याप्ति है न कि ईश्वर-जैसे सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्तविशेष कर्तासे । इस तरह जिस किसीके कर्ता सिद्ध होनेसे तो आपका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा । आपको तो अपने सर्वज्ञ अशरीरी ईश्वरको कर्ता सिद्ध करना है । सामान्य कार्यत्व हेतुने आपके विशेषकर्ताके विरुद्ध सामान्यकर्ताको सिद्ध किया है अतः यह हेतु इष्टसे उलटा सिद्ध करनेके कारण विरुद्ध है । कार्य किसी न किसी कर्तासे उत्पन्न होते हैं, यह तो मोटी तथा सर्वसम्मत बात है अतः आपका सामान्य कार्यत्व हेतु इससे अधिक कुछ भी सिद्ध न कर सकनेके कारण अकिंचित्कर भी हो जाता है । कार्य जिन कारणोंसे उत्पन्न होते हैं वे ही कारण उनके कर्ता हैं । उन कार्योंको भोगनेवाले प्राणी भी अपने कर्मोंके द्वारा उनके कर्ता हो सकते हैं । इसलिए जो कार्य 'कृतबुद्धि—ईश्वरने इनको बनाया' इस कृतबुद्धिको उत्पन्न करते हैं वे ही कार्य ईश्वरको अपना कर्ता सिद्ध कर सकते हैं सभी कार्य नहीं । यदि 'कार्य कार्य सब एक हैं, कार्य कार्य सब बराबर हैं' इस बाईस पसेरीके भाव सभी कार्योंको तौलोगे और सामान्य कार्यत्व हेतुसे भी विशेष ईश्वरको कर्ता सिद्ध करनेका असफल प्रयत्न करोगे, तब कोई मूर्ख धुंआ और भाफमें भी धुंधलेपनकी समानता देखकर उन्हें एक मानकर भाफसे भी अग्निकी सिद्धि करने लगेगा । भाफ और धुंआमें धुंधलेपनकी दृष्टिसे तो समानता है ही । इसी तरह 'आत्मा आत्मा सब बराबर' इस साधारण नियमसे ईश्वर तथा हमारी आत्मामें भी समानता है अतः आत्मत्व हेतुके द्वारा ईश्वरको भी हमारी ही तरह संसारी, असर्वज्ञ तथा संसारका अकर्ता सिद्ध हो जाना चाहिए । जो प्रश्न तथा उत्तर आप अपने कार्यत्व सामान्य हेतुके समर्थनमें दोगे वे ही प्रश्नोत्तर यहाँ भी किये जा सकते हैं । अतः जिस प्रकार भाफ और धुंआमें धुंधलेपनकी दृष्टिसे थोड़ी-बहुत समानता होने पर भी अपने विशेष धर्मोंके कारण धूम ही अग्निका अनुमापक होता है भाफ नहीं, अथवा जिस प्रकार आत्मत्वकी दृष्टिसे ईश्वर तथा हम लोगोंमें समानता होने पर भी हममें ही रहनेवाला कर्मयुक्त आत्मत्व ही संसारित्व या असर्वज्ञता सिद्ध करता है सामान्य आत्मत्व नहीं ठीक इसी तरह पृथिवी आदि कार्य तथा घड़े आदि कार्योंमें यद्यपि कार्यत्व रूप स्थूल दृष्टिसे समानता है फिर भी उसमें कोई ऐसी विशेषता अवश्य ही माननी पड़ेगी जिससे वह विशेषकर्ताका अनुमाप करा सके । अतः सामान्यकार्यत्व हेतु ईश्वरको जगत्कर्ता सिद्ध नहीं कर सकता ।

---

१. तर्हि न बुद्धिमत्कर्तृविशेषबुद्धिः—म० २ । २. —साधनाद्विरुद्धं वा—प० १, प० २ । —साधकत्वाद्विरुद्धं वा—म० २ । ३. वा किं च तत्कार्यत्वम्—म० २ । ४. —त्वानुषङ्गः—म० २ । ५. —कार्यतयो—म० २ ।

§ २५. अथ द्वितीयः, तर्हि हेतोरसिद्धत्वं कार्यविशेषस्याभावात्, भावे वा जीर्णकूपप्रासादादिवदक्रियावर्त्तिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वप्रसङ्गः। समारोपान्नेति चेत्। सोऽप्युभयत्राविशेषतः किं न स्यात् उभयत्र कर्तुरतीन्द्रियत्वाविशेषात्। अथ प्रामाणिकस्यास्त्येवात्र कृतबुद्धिः। ननु कथं तस्य तत्र कृतत्वावगमोऽनेनानुमानान्तरेण वा। आद्येऽन्योन्याश्रयः। तथाहि—सिद्धविशेषणाद्धेतोरस्योत्थानं, तदुत्थाने च हेतोर्विशेषणसिद्धिरिति। द्वितीयेऽपक्षेऽनुमानान्तरस्यापि सविशेषणहेतोरेवोत्थानम्, तत्राप्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धावनवस्था। तन्न कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूपविशेषणसिद्धिः। तथा च विशेषणासिद्धत्वं हेतोः।

§ २६. यदुच्यते—'खातप्रतिपूरितभूमिदर्शनेन कृतकानामात्मनि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वनियमाभावः' इति तदप्यसत्, [1]तत्राकृत्रिमभूभागादिसारूप्यस्य तदनुत्पादकस्य सद्भावात्तदनुत्पाद[2]स्योपपत्तेः।

---

§ २५. यदि किसी विशेष प्रकारके कार्यत्वसे ईश्वरको कर्ता सिद्ध करना चाहते हो, तो यह विशेष कार्यत्व असिद्ध है। क्योंकि जगत्में हम सभी कार्योंको प्रायः समान ही पाते हैं। जैसे घट-पटादि कार्य वैसे ही पृथिवी पहाड़ आदि। यदि पृथिवी आदि कार्योंमें कुछ खास विशेषता हो तब जिन लोगोंने पृथिवीको बनते हुए नहीं देखा है उन लोगोंको भी 'कृतम्—यह ईश्वरने बनाया है' यह बुद्धि होनी चाहिए। जैसे पुराने कुएँ तथा पुराने राजप्रासादोंके खण्डहर आदिको देखकर हम लोगोंको, जिन्होंने उन्हें बनते हुए नहीं देखा था 'अहो—इसके कारीगर बड़े कुशल थे, ये कितने अच्छे बनाये हैं' इस प्रकारकी कृतबुद्धि होती है उसी तरह पृथिवी आदिको देखकर भी 'ईश्वरने क्या अच्छी पृथिवी बनायी' यह कृत बुद्धि होनी चाहिए। इस 'ईश्वरकृत' बुद्धिके द्वारा ही हम ईश्वरके कर्ता होनेका अनुमान कर सकते हैं। पर दुःख तो यह है कि पृथिवी आदिमें 'ये ईश्वर कृत हैं' यह बुद्धि ही नहीं होती।

ईश्वरवादी—बात यह है कि आप लोगोंने पृथिवी आदि को बनते हुए तो देखा नहीं है अतः यह सम्भावना उचित ही है कि आपको पृथिवी आदिमें कृतबुद्धि उत्पन्न नहीं। इसके सिवाय कुछ मिथ्यावासनाएँ भी पृथिवी आदिमें कृतबुद्धि नहीं होने देतीं।

जैन—पुराने कुँआ तथा पुराने महलों को भी तो बनते हुए हम लोगोंने नहीं देखा है फिर भी जैसे उनमें कृतबुद्धि हो जाती है वैसे पृथिवी आदि में क्यों नहीं होती? यही तो हम पूछ रहे हैं। कर्ता तो दोनों का इस समय अतीन्द्रिय है—अर्थात् इन्द्रियों से दिखने लायक नहीं है। मिथ्यावासनाका तो यह निर्णय नहीं हो सकता कि—'हम लोगोंको मिथ्यावासनाके कारण श्लिष्टादिमें कृतबुद्धि नहीं होती या आप लोगोंको ही मिथ्यावासनाके कारण कृतबुद्धि हो रही है?

§ २६. **ईश्वरवादी**—जो प्रामाणिक हैं—समझदार श्रद्धालु हैं उन्हें तो पृथिवी जल वनस्पति आदिको देखकर बराबर कृतबुद्धि—इन्हें ईश्वरने बनाया है—होती ही है। आप लोगोंकी न जाने कैसी समझ है?

जैन—कौन प्रामाणिक है कौन अप्रामाणिक इसकी चर्चा तो छोड़ दीजिए। आप तो पहले यह बताइए कि—'पृथिवी आदि ईश्वरकृत हैं' यह किस प्रमाण से जानेंगे?—इसी अनुमान से या किसी दूसरे अनुमान से? यदि इसी कार्यत्वहेतुसे होनेवाले अनुमान के द्वारा पृथिवी आदिको ईश्वरकृत माना जाय, तो अन्योन्याश्रय दोष होता है जब कार्यत्वहेतुका कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप

---

१. तदप्युक्तम्—म० २। २. "तत्र अकृत्रिमभूभागादिसंस्थानसारूप्यस्य कृतबुद्धेरनुत्पादकस्य सद्भावतः तदनुत्पादस्योपपत्तेः। ....सिद्धयतु वा, तथाप्यसौ विरुद्धः।" —न्यायकुमु० पृ० १०२। ३. —दस्यांग—आ०, क०।

न च क्षित्यादावप्यकृत्रिमसंस्थानसारूप्यमस्ति, येनाकृत्रिमत्वबुद्धिरुत्पद्येत तस्यैवानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे चापसिद्धान्तप्रसक्तिः स्यादिति। कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूपविशेषणासिद्धेर्विशेषणासिद्धत्वं हेतोः।

§ २७. सिध्यतु वा, तथाप्यसौ विरुद्धः, घटादाविव शरीरादिविशिष्टस्यैव बुद्धिमत्कर्तुरत्र [1]प्रसाधनात्।

§ २८. नन्वेवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसा[2]म्यान्वेषणे सर्वत्र हेतूनामनुपपत्तिरिति चेत्। न। धूमाद्ध्यनुमाने महानसेतरसाधारणस्याग्नेः प्रतिपत्तेः। [3]अत्राप्येवं बुद्धिमत्सामान्यप्रसिद्धेर्न विरुद्धस्येत्यप्ययुक्तं, दृश्यविशेषाधारस्यैव तत्सामान्यस्य कार्यत्वहेतोः प्रसिद्धेर्नादृश्यविशेषाधारस्य, तस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः, खरविषाणाधारतत्सामान्यवत्। ततो यादृशात्कारणाद्यादृशं कार्यमुपलब्धं

विशेषण सिद्ध हो जाय तब उस सिद्धविशेषण हेतुसे प्रकृत अनुमान हो, और जब प्रकृत अनुमान हो जाय तब उससे कार्यत्वहेतुके कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप विशेषण की सिद्धि हो। दूसरे पक्षमें यदि अनुमानान्तरसे कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूप विशेषण की सिद्धि मानी जाती है तो उस अनुमानान्तरका उत्थान भी सविशेषण हेतुसे ही मानना चाहिए। अब इस अनुमानान्तरके हेतुके विशेषणको किसी तृतीय अनुमानसे सिद्ध करना होगा तथा तृतीय अनुमानके हेतुके विशेषणको चौथे अनुमानसे इस तरह उत्तरोत्तर अनुमानोंकी कल्पनासे अनवस्था दोष आता है। अतः कार्यत्व हेतुके कृतबुद्ध्युत्पादकत्व रूप विशेषणके सिद्ध न हो सकनेके कारण कार्यत्व हेतु विशेषणासिद्ध हो जाता है।

ईश्वरवादी—हम पहले ही बता चुके हैं कि—जिस जमीन को खोदकर जैसाका तैसा भर दिया है उसमें किसीको भी कृतबुद्धि नहीं होती अतः यह कोई नियम नहीं है कि 'जो कार्य हों वे कृतबुद्धि उत्पन्न करें ही।'

जैन—आप का कहना युक्त नहीं है, क्योंकि—जिस जमीनको खोद कर जैसाका तैसा भर दिया वह अनखोदी जमीनके ही समान हो जाती है अतः वहाँ कृतबुद्धि नहीं भी हो, परन्तु पृथिवी आदिमें किस अकृत्रिम वस्तुकी समानता है जिसके कारण इनमें कृतबुद्धि नहीं हो पाती और अकृत्रिम बुद्धि ही इनमें सदा होती है? कोई भी अकृत्रिम पृथिवी आदि तो आपने मानी ही नहीं है यदि पृथिवी आदि किसी नहीं रची गयी अकृत्रिम वस्तुकी समानता रखती हैं तो उनमें कार्यत्व हेतु असिद्ध ही हो जाता है। पृथिवी आदि को अकृत्रिम माननेपर तो आपके 'ईश्वर कृत' रूप सिद्धान्तका भी विरोध होता है। इस तरह 'कृतबुद्धिको उत्पन्न करना' इस विशेषणके असिद्ध होने से हेतु विशेषणासिद्ध हो जाता है।

§ २७. अथवा यह मान भी लें कि पृथिवी आदि में 'ये ईश्वरने बनाये हैं' यह कृतबुद्धि होती है फिर भी यह कार्यत्व हेतु विरुद्ध है, क्योंकि इससे घड़े आदिमें जैसा शरीरी अल्प बुद्धिवाला कर्ता देखा जाता है वैसा ही शरीरी और असर्वज्ञ ही कर्ता सिद्ध होगा। किन्तु आपको तो सर्वज्ञ और अशरीरी कर्ता इष्ट है और सिद्ध होता है उससे बिलकुल उलटा शरीरी और असर्वज्ञ, अतः इष्ट विरुद्ध सिद्ध करनेके कारण यह हेतु विरुद्ध है।

§ २८. **ईश्वरवादी**—आप तो इस तरह कुतर्क करके बालकी खाल खींच रहे हैं। दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक—जिसको सिद्धिके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है—में पूर्णरूपसे समानता तो कहीं भी नहीं देखी जाती। 'चन्द्रमाके समान मुँह है' यहाँ क्या चन्द्रमा के, आकाशमें रहना, रात्रिमें प्रकाश करना आदि सभी धर्म मुखमें देखे जाते हैं। दृष्टान्त तो किसी खास धर्मकी मुख्यतासे दिया जाता है। पर्वतमें अग्नि सिद्ध करनेके लिए दिये गये जो रसोईघरकी अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है उसके भी सभी धर्म पर्वतकी अग्निमें कहाँ पाये जाते हैं। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में यदि इस

---

१. प्रसाधनेन नन्वेवं—म० २। २. –सामान्यान्वे–म० २। ३. नन्वत्रा–म० २।

तादृशादेव तादृशमनुमातव्यम्, यथा यावद्धर्मात्मकाद्धूम्यावद्धर्मात्मकस्य धूमस्योत्पत्तिः सुदृढ-प्रमाणात्प्रतिपन्ना तादृशादेव धूमात्तादृशस्यैवाग्नेरनुमानमिति ।

§ २९. एतेन 'साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्तौ[1] गृह्यमाणायां सर्वानुमानोच्छेदप्रसक्तिः' इत्याद्यपास्तं द्रष्टव्यमिति ।

§ ३०. तथा[2] कृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचार्ययं हेतुः । द्विविधानि कार्याण्युपलभ्यन्ते, कानिचिद्बुद्धिमत्पूर्वकाणि यथा घटादीनि, कानिचित्तु तद्विपरीतानि यथाकृष्टप्रभवतृणादीनि ।

प्रकार पूर्ण समानता मिलानेका आग्रह किया जाय तो सभी अनुमानोंका उच्छेद हो जायगा । हम कह सकते हैं कि—'जैसी लकड़ीकी अग्नि रसोईघरमें है वैसी ही अग्नि पर्वतमें सिद्ध होनी चाहिए परन्तु पर्वतमें तो तिनके पत्ते आदिकी अग्नि है अतः हेतु विरुद्ध है ।'

जैन—पर्वतमें अग्निका अनुमान करते समय तो पर्वतकी अग्नि तथा रसोईघरकी अग्नि दोनों विशेष अग्नियोंमें रहनेवाला एक अग्नित्व नामका सामान्यधर्म पाया जाता है अतः इस सामान्य अग्निका अनुमान करना युक्त है परन्तु घटादिके शरीरी और असर्वज्ञकर्ता तथा पृथिवी आदिके अशरीरी और सर्वज्ञकर्तामें पाया जानेवाला कोई सामान्य कर्तृत्व धर्म प्रसिद्ध नहीं है जिससे सामान्य कर्ताका अनुमान किया जा सके । क्योंकि आज तक किसीको भी सर्वज्ञ और अशरीरी कर्ता विशेषका अनुभव ही नहीं हुआ है । यहाँ तो पर्वतकी अग्नि तथा रसोईघरकी अग्नि दोनों ही अग्नियाँ दृश्य हैं अतः उनमें रहने वाला अग्नित्व नामक सामान्यधर्म प्रसिद्ध हो सकता है परन्तु कुम्हार आदि शरीरी कर्ताके दृश्य होने पर भी ईश्वरनामके अशरीरी और सर्वज्ञ कर्ताका तो स्वप्नमें भी अनुभव नहीं होता जिससे दोनोंमें रहनेवाले सामान्य कर्तृत्वकी कल्पना की जा सके जैसे गधेका सींग अप्रसिद्ध है, अतः उसमें रहनेवाले खरविषाणत्वरूप सामान्यधर्मकी कल्पना नहीं की जा सकती है उसी तरह सर्वज्ञ और अशरीरी कर्ता भी अप्रसिद्ध ही है अतः उसमें रहने-वाले किसी भी सामान्य कर्तृत्वकी कल्पना नितान्त असम्भव है । अतः जैसे कारणसे जैसा कार्य देखा जाता है उससे वैसे ही कार्यका अनुमान करना प्रामाणिक-समझदारोंका कर्तव्य है न कि देखा तो जाता है शरीरी कर्ता और सिद्ध किया जाय अत्यन्त विलक्षण अशरीरी और सर्वज्ञ कर्ता । इसी तरह जितने और जैसे धर्मवाली अग्निसे जितने और जैसे धर्मवाले धूमकी उत्पत्ति निर्बाध प्रमाणों-द्वारा प्रसिद्ध हो उतने और वैसे धर्मवाले धूमसे वैसी ही अग्निका अनुमान करना परीक्षकों को उचित है विलक्षणका नहीं । अतः दृष्टान्तके अनुसार शरीरी और असर्वज्ञ कर्ताके सिद्ध होनेके कारण कार्यत्व हेतु विरुद्ध है ।

§ २९. अतः आपका यह कथन भी उचित नहीं है कि—'साध्य और साधनमें विशेष रूपसे व्याप्ति ग्रहण करने पर तो समस्त अनुमानोंका उच्छेद हो जायगा' क्योंकि—हमने तो सीधा और सहज नियम बना दिया है कि—'जिससे जैसा कार्य देखा जाय उससे वैसे पदार्थका अनुमान होता है' इस नियममें कोई भी दूषण नहीं है ।

§ ३०. बिना बोये हुए अपने आप ऊँगने वाले तृण, जंगली वृक्ष, पहाड़ी पौधे आदि अवयव-वाले होनेसे कार्य तो अवश्य हैं परन्तु उन्हें किसी बुद्धिमान्ने नहीं बनाया है, अतः कार्यत्वहेतु अने-कान्तिक भी है । संसारमें दो प्रकारके कार्य होते हैं—कुछ तो बुद्धिमानोंके द्वारा बनाये जाते हैं जैसे कि घटादिक । कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें किसी बुद्धिमान्ने उत्पन्न नहीं किया है किन्तु वे अपने आप प्राकृतिक रूपसे ही उत्पन्न होते तथा विनष्ट होते रहते हैं, जैसे कि बिना जोते-बोये ऊँगनेवाले जंगली घास पौधे तथा पहाड़ी वृक्ष आदि । इन जंगली वृक्ष आदिको भी पक्षमें शामिल करना

---

१. व्याप्तौ सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तिरित्यपा—म० २ । २. "अकृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचारी चायं हेतुः ।"—न्यायकुमु० पृ० १०४ । ३. —भवाङ्कुरादीनि—म० २ ।

तेषां पक्षीकरणादव्यभिचारे, स श्यामस्तत्पुत्रत्वाद्वितरतत्पुत्रवदित्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गान्न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात्, व्यभिचारविषयस्य [1]सर्वत्रापि पक्षीकर्तुं शक्यत्वात् ।

§ ३१. ईश्वरबुद्ध्यादिभिश्च व्यभिचारः, तेषां कार्यत्वे सत्यपि समवायिकारणेश्वरादि-भिन्नबुद्धिमत्पूर्वकत्वाभावात् । तदभ्युपगमे चानवस्था ।

§ ३२. तथा कालात्ययापदिष्टश्चायं, अकृष्टप्रभवाङ्कुरादौ [2]कर्त्रभावस्याध्यक्षेणाध्यवसायात् । अग्नेरनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववत् । ननु तत्राप्यदृश्य ईश्वर एव कर्तेति चेत्, तन्न । यतस्तत्र तत्सद्भावो-ऽस्मादेवान्यतो वा प्रमाणात्सिध्येत् । प्रथमपक्षे चक्रकम् । अतो हि तत्सद्भावे सिद्धेऽस्यादृश्यत्वेना-नुपलम्भसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कालात्ययापदिष्टत्वाभावः, ततश्चास्मात्तत्सद्भावसिद्धिरिति । द्वितीय-

---

अर्थात् इन्हें भी ईश्वर रचित ही कहना उचित नहीं है; क्योंकि जिस वस्तुसे हेतुका व्यभिचार बताया गया हो यदि उसी वस्तुको पक्षमें शामिल करनेका रास्ता निकल जाय, तब कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकेगा । जहाँ भी किसीने किसी हेतुका व्यभिचार दिखाया, बस तुरन्त ही उसे पक्षमें शामिल करके व्यभिचार वारण करना बच्चोंका खेल सा हो जायगा । और 'गर्भमें रहनेवाला मैत्रका लड़का सांवला है क्योंकि वह मैत्रका लड़का है जैसे मैत्रके वहीं मौजूद चार सांवले लड़के' ऐसे अनुमान भी गमक हो जायंगे क्योंकि सर्वत्र व्यभिचारके विषयको पक्षमें शामिल करके अपने हेतुको सच्चा बताया जा सकता है । अतः जिस पदार्थसे व्यभिचार दिया जाता है उसे पक्षमें शामिल करने की परिपाटी किसी भी तरह उचित नहीं है ।

§ ३१. ईश्वरकी बुद्धि तथा उसके प्रयत्न आदि गुणोंसे भी कार्यत्व हेतु व्यभिचारी है । ये सब बुद्धि आदि गुण आत्माके विशेष गुण होनेसे अनित्य—कार्य तो हैं परन्तु इनकी उत्पत्तिमें स्वयं ईश्वर रूप उपादानको छोड़कर अन्य कोई बुद्धिमान् ईश्वर निमित्तकारण नहीं होता । यदि इस ईश्वरकी बुद्धि आदिकी उत्पत्तिमें दूसरा ईश्वर कारण हो तथा उसकी बुद्धि पैदा करने को तीसरा ईश्वर कारण माना जाय तो अनवस्था दूषण होता है । वही ईश्वर तो अपनी बुद्धि आदिकी उत्पत्तिमें समवायिकारण होता है निमित्त कारण नहीं । पर प्रकृतमें तो बुद्धिमन्निमित्तत्व रूप कर्तृत्व ही विवक्षित है ।

§ ३२. कार्यत्व हेतु प्रत्यक्षसे बाधित पक्षमें प्रवृत्ति करनेके कारण कालात्ययापदिष्ट—बाधित भी है । बिना जोते-बोये ऊंगनेवाले वनके घास-पौधे आदिमें किसी भी बुद्धिमान् कर्ताका प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि प्रत्यक्षसे तो वहाँ कर्ताका अभाव ही निश्चित होता है । जिस प्रकार अग्निको ठण्डा सिद्ध करने के लिए दिया जानेवाला द्रव्यत्व हेतु अग्निको गरम जाननेवाले प्रत्यक्षसे बाधित पक्षमें प्रयुक्त होनेके कारण बाधित है उसी तरह कार्यत्व हेतु भी जंगली पौधों आदिमें कर्ताके अभावको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षसे बाधित पक्षमें प्रयुक्त होनेके कारण बाधित है । जंगली पौधों आदिमें कर्ताकी अदृश्य होनेके कारण अनुपलब्धि मानना तो बिलकुल कपोलकल्पना ही है, क्योंकि वहाँ अदृश्य कर्ताका सद्भाव करना ही कठिन है । आप बताइए कि—जंगली पौधोंमें अदृश्य कर्ता इसी अनुमानसे सिद्ध होता है या अन्य किसी दूसरे प्रमाणसे ? यदि इसी कार्यत्व हेतुवाले अनुमान से कर्ताकी सिद्धिका प्रयत्न करोगे, तो चक्रक दूषण होगा । जहाँ तीन या तीनसे अधिक पदार्थोंकी सिद्धि एक दूसरेके आधीन हो जाती है वहाँ चक्रक दूषण होता है । जब कार्यत्व हेतुसे कर्ताका सद्भाव सिद्ध हो तब बिना जोते-बोये अपने आप ही ऊंगनेवाले जंगली वृक्षोंमें अदृश्य होनेसे कर्ताकी अनुपलब्धि मानी जाय, और जब यह निश्चय हो जाय कि—'जंगली पौधोंमें कर्ताकी अनु-पलब्धि अदृश्य होनेके कारण है कर्ताका अभाव होनेसे नहीं' तब कार्यत्व हेतुमें अबाधित विषयता आवे, तथा जब कार्यत्व हेतु अबाधित होनेसे कालात्ययापदिष्ट दोषसे शून्य हो जाय तब वह जंगली

---

१. ब पक्षी—म० २ । २. कर्तृरभाव—म० २ ।

पक्षोऽप्ययुक्तः, तत्सद्भावावेदकस्य प्रमाणान्तरस्यैवाभावात् ।

§ ३३. अस्तु[1] वा तत्र तत्सद्भावः, तथाप्यस्यादृष्टत्वे शरीराभावः कारणं, विद्यादिप्रभावः, जातिविशेषो वा । प्रथमपक्षे कर्तृत्वानुपपत्तिः अशरीरत्वात्[2], मुक्तात्मवत् । ननु शरीराभावेऽपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रयत्वेन[3] स्वशरीरकरणे कर्तृत्वमुपपद्यत इत्यप्यसमीक्षिताभिधानं, शरीरसंबन्धेनैव तत्प्रेरणोपपत्तेः, शरीराभावे मुक्तात्मवत्तदसंभवात् । शरीराभावे च ज्ञानाद्याश्रयत्वमप्यसंभाव्यं, तदुत्पत्तावस्य निमित्तकारणत्वात्, अन्यथा मुक्तात्मनोऽपि तदुत्पत्तिप्रसक्तेः । विद्याविप्रभावस्य चादृश्यत्वहेतुत्वे क्वाचिदसौ दृश्येत । न खलु विद्याभृतां शाश्वतिकादृश्यत्वं दृश्यते[4], पिशा-

पौधोंमें कर्ताका सद्भाव सिद्ध कर सके । इस प्रकार चक्रक दूषण आता है । उन जंगली तृणों में कर्ताका सद्भाव सिद्ध करनेवाला अन्य कोई प्रमाण तो दिखाई नहीं देता ।

§ ३३. अथवा किसी तरह यह मान भी लिया जाय कि 'उन जंगली वृक्ष तथा लताओंमें कर्ता है' फिर भी आप यह बताइए कि वह हम लोगोंको दिखाई क्यों नहीं देता ? कितनी लुकी-छिपी वस्तु हो कभी न कभी उसका दर्शन हो ही जाता है । क्या वह अशरीरी है इसलिए नहीं दिखाई देता अथवा विद्यामन्त्रादिसे अपनेको छिपाकर रखता है किंवा वह ऐसी ही किसी अदृश्य जाति-का है ? यदि अदृश्यतामें उसका अशरीरी होना कारण है; तब वह अशरीरी ईश्वर कर्ता भी नहीं हो सकता । जिस प्रकार ईश्वरके सिवाय अन्य मुक्तजीव अशरीरी हैं और इसीलिए वे कर्ता नहीं हैं उसी तरह शरीररहित ईश्वर भी कर्ता नहीं हो सकेगा ।

ईश्वरवादी—शरीरका कर्तृत्वमें कोई उपयोग नहीं है । कर्ता बननेके लिए मात्र ज्ञान इच्छा और प्रयत्न चाहिए । देखो, जब मनुष्य मरकर नया शरीर धारण करनेकी तैयारी करता है उस समय वह अशरीरी अर्थात् स्थूलशरीरसे रहित होकर भी नये शरीरको ग्रहण कर लेता है, उस नये शरीरमें उपयोगी परमाणु आदिकी प्रेरणा भी करता है । अतः कर्तृत्वके लिए शरीरकी आवश्यकता नहीं है ।

जैन—मरनेके बाद स्थूल शरीर भले ही न हो परन्तु सूक्ष्मशरीर तो रहता ही है । इसी सूक्ष्मशरीरके सम्बन्धसे ही वह नये शरीरको ग्रहण कर सकता है । यदि वह सूक्ष्मशरीर ही सिलकमें न बचे तब तो वह सर्वथा अशरीरी होकर मुक्त ही हो जायगा । शरीरके नहीं रहनेसे तो वह मुक्त आत्माओंकी तरह नये शरीरको धारण करने की ओर प्रवृत्ति ही नहीं कर सकता और यदि ईश्वरके शरीर नहीं है तब उसमें ज्ञान इच्छा तथा प्रयत्न आदि भी नहीं हो सकेंगे । ज्ञानादिक-की उत्पत्तिमें शरीर निमित्त कारण होता है । यदि शरीर रूप निमित्त कारणके बिना ही ज्ञानादि-की उत्पत्ति हो जाय; तो मुक्त आत्माओंमें भी ज्ञानादिकी उत्पत्ति होनी चाहिए । और तब आपकी ज्ञानादि विशेष गुणोंकी अत्यन्त निवृत्ति रूप मुक्ति नहीं रह पायगी । यदि विद्या या मन्त्रादिके प्रभावसे ईश्वर अपनेको अदृश्य रखता है; तो कभी किसीको तो दिखाई देना चाहिए । विद्या या मन्त्रादिके बड़े-से-बड़े प्रयोग करनेवाले विद्याधर अपनेको पिशाचोंकी तरह सदा नहीं छिपा सकते वे कभी-न-कभी प्रकट हो ही जाते हैं । पर ईश्वरका वृक्ष आदि बनाते हुए तो कभी भी किसीको दर्शन नहीं हुआ है । ईश्वरकी अदृश्यतामें जाति विशेषको कारण कहना कि—'वह इस तरहकी

---

१. "अस्तु वा तत्सद्भावः, तथापि अस्या दृश्यत्वे शरीराभावः कारणम्, विद्यादिप्रभावः, जातिविशेषो वा ।" —न्यायकुसु० पृ० १०५ । स्या० रत्ना० पृ० ४३३ । २. "अशरीरो ह्यधि-ष्ठाता नात्मा मुक्तात्मवत् भवेत् ॥७८॥ —मीमांसाश्लो० पृ० ६६० । "तस्मादपि वितनुकरणस्य तत्कृते-रसंभवात् ।" —अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७१ । "तत्संबन्धरहितस्य मुक्तात्मन इव जगत्कर्तृत्वानुप-पत्तेः ।" —सन्मति० टी० पृ० ११९ । ३. —न शरीर—आ०, क० । ४. दृश्यते—भ० १, भ० १, प० १, प० २ ।

वाविवत् । जातिविशेषोऽपि नादृश्यत्वे हेतुरेकस्य जातिविविशेषाभावादनेकव्यक्तिनिष्ठत्वात्तस्य ।

§ ३४. अस्तु[1] वा दृश्योऽदृश्यो वासौ, तथापि किं सत्तामात्रेण १, ज्ञानवत्त्वेन २, ज्ञानेच्छा-प्रयत्नवत्त्वेन ३, तत्पूर्वकव्यापारेण ४, ऐश्वर्येण ५, वा क्षित्यादेः कारणं स्यात् । तत्राद्यपक्षे कुलालादीनामपि जगत्कर्तृत्वमनुषज्यते, सत्त्वाविशेषात् । द्वितीये तु योगिनामपि कर्तृत्वापत्तिः । तृतीयोऽप्यसांप्रतः, अशरीरस्य पूर्वमेव ज्ञानाद्याश्रयत्वप्रतिषेधात् । चतुर्थोऽप्यसंभाव्यः, अशरीरस्य कायवाक्कृतव्यापारवत्त्वासंभवात् ।

§ ३५. ऐश्वर्यमपि[3] ज्ञातृत्वं कर्तृत्वमन्यद्वा । ज्ञातृत्वं चेत्; तत्किं ज्ञातृत्वमात्रं[4] सर्वज्ञातृत्वं वा । आद्यपक्षे ज्ञातेवासौ[5] स्याच्छेश्वरः, अस्मदाद्यन्य[6]ज्ञातृवत् । द्वितीयेऽप्यस्य सर्वज्ञत्वमेव स्याच्छैश्वर्यं,

---

जातिका है जो दृष्टिगोचर न होकर गुप्तरूपसे ही कार्य करता रहता है' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब आप ईश्वरको अकेला एक ही मानते हैं, तब उसको किसी जातिका कहना नितान्त असंगत है । जाति तो अनेक व्यक्तियोंमें रहती है, अकेली व्यक्तिमें नहीं ।

§ ३४. अच्छा, ईश्वर दृश्य या अदृश्य कैसा ही सही परन्तु वह अपनी मौजूदगी मात्रसे ही सृष्टिका कर्ता हो जाता है या ज्ञानवाला होनेसे, अथवा ज्ञान इच्छा और प्रयत्न वाला होनेसे किंवा ज्ञानादिपूर्वक व्यापार करनेके कारण ऐश्वर्य वाला होनेसे ? यदि ईश्वर अपनी निष्क्रिय मौजूदगी मात्रसे ही बिना इशारेके ही इस जगत्को उत्पन्न कर देता है; तब एक कुम्हार भी कह सकता है कि—'यह जगत् मेरी मौजूदगीके कारण उत्पन्न हुआ है' कुम्हार ही क्यों, हम सभी लोग नित्य और व्यापक होनेसे सब जगह तथा हमेशा मौजूद रहनेवाले हैं अतः हम सभी कहेंगे कि—'हमारी मौजूदगीके कारण ही यह 'चराचर सृष्टि हुई है' निष्क्रिय मौजूदगीसे ही जब 'सृष्टिकर्ता' का बड़ा पद मिल रहा है तब बहती गंगामें हाथ कौन न धोएगा ? सभी ईश्वर बन जायँगे । यदि समस्त जगत्का परिज्ञान होने मात्रसे ईश्वर जगत्को बनाता है, तो सर्वज्ञ योगियोंको भी जगत्का परिज्ञान रहता ही है अतः वे सभी सर्वज्ञ योगी सृष्टिके कर्ता हो जायँगे । अशरीरी ईश्वरके ज्ञान इच्छा तथा प्रयत्नका होना तो मुक्त आत्माओंकी तरह नितान्त असम्भव है यह हम पहले कह चुके हैं । अतः वह ज्ञान इच्छा तथा प्रयत्नवाला होने के कारण भी सृष्टिकर्ता नहीं कहा जा सकता । 'ज्ञानादि पूर्वक व्यापार करनेसे ईश्वर जगत्का विधाता है' यह चौथा विकल्प भी असंत है, क्योंकि जब ईश्वरके शरीर ही नहीं है तब उसका ज्ञानादि पूर्वक मन वचन कायका व्यापार ही कैसे तथा कहाँ होगा ? आत्माका ज्ञानादि पूर्वक व्यापार तो शरीरमें ही या शरीरके द्वारा ही होता है ।

§ ३५. ईश्वरको ऐश्वर्यके कारण सृष्टिका रचयिता कहना भी युक्तियुक्त नहीं मालूम होता; क्योंकि अभी तक उस ऐश्वर्यका स्वरूप ही अनिश्चित है जिसके कारण वह इस जगत्का नियन्ता होता है । आप बताइए कि—ईश्वरमें कैसा ऐश्वर्य है ? क्या 'वह जगत्को जानता है' इसलिए उसमें ज्ञातृत्व रूप प्रभुता है अथवा वह रचना करता है अतः कर्तृत्वरूप प्रभुता है अथवा इसमें कोई अन्य प्रकारकी ही प्रभुता है ? जानने रूप प्रभुता भी दो प्रकार की हो सकती है—एक तो कुछ ही जानना, दूसरे समस्त पदार्थोंका यथावत् परिज्ञान करना । यदि वह सामान्यसे कुछ पदार्थोंको जानने रूप प्रभुता रखता है; तब वह इससे 'ज्ञाता' तो बन सकता है जगत्कर्ता नहीं, और ईश्वर भी नहीं जैसे हम लोग कुछ न कुछ जानते हैं अतः ज्ञाता तो कहे जाते हैं पर हम लोग मात्र कुछ

१. "अस्तु वादृश्योऽसौ, तथापि सत्तामात्रेण, ज्ञानवत्त्वेन, ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वेन, तत्पूर्वकव्यापारेण, ऐश्वर्येण वा क्षित्यादेः कारणं स्यात् ?" —न्यायकुमु० पृ० १०६ । २. –द्य विकल्पे म० २ । ३. "ऐश्वर्यमपि ज्ञातृत्वम्, कर्तृत्वम्, अन्यद्वा स्यात् ?" —न्यायकुमु० पृ० १०६ । ४. –मात्रं तद्विशेषो वा म० १ । ५. ज्ञात्येवासौ म० २ । ६. –ज्ञातृत्ववत् आ०, क० ।

सुगताविवत्। अथ कर्तृत्वम्; तर्हि कुम्भकारादीनामप्यनेककार्यकारिणामैश्वर्यप्रसक्तिः। नाप्यन्यत्; इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेणान्यस्यैश्वर्यनिबन्धनस्येश्वरेऽभावात्।

§ ३६. किंच[1] ईश्वरस्य जगन्निर्माणे यथारुचिप्रवृत्तिः १, कर्मपारतन्त्र्येण[2] २, करुणया ३, क्रीडया ४, निग्रहानुग्रहविधानार्थं ५, स्वभावतो ६ वा।

§ ३७. अत्राद्यविकल्पे कदाचिदन्यादृश्येव सृष्टिः स्यात्। द्वितीये स्वातन्त्र्यहानिः। तृतीये सर्वमपि जगत्सुस्थितमेव[3] कुर्यात्, अथेश्वरः किं करोति पूर्वार्जितैरेव कर्मभिर्वशीकृता दुःखमनुभवन्ति

जाननेसे ही सृष्टिकर्ता या ईश्वर तो नहीं हो जाते। यदि वह समस्त पदार्थोंके जाननेकी प्रभुता रखता है, तब भी वह इस प्रभुतासे बुद्ध आदिकी तरह सर्वज्ञ तो बन सकता है सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं। यदि वह रचना करता है और इसलिए ईश्वर है, तो घड़ेकी रचना कुम्हार भी करता है, जुलाहा कपड़ा बुनता है, चित्रकार चित्रकी रचना करता है इसलिए रचना करनेके कारण ये सभी छोटे-मोटे कारीगर ईश्वरके आसन पर जा बैठेंगे। अनेक कार्योंकी रचना करना भी कोई खास प्रभुता नहीं कही जा सकती, क्योंकि अनेक कलाओंमें कुशल एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न सहकारिकारणोंकी मददसे घड़ा कपड़ा चित्र आदि अनेकों कार्य उत्पन्न कर सकता है तथा करता भी है, अतः वह भी ईश्वरके सर्वोच्च पदका अधिकारी हो जायगा। इच्छा और प्रयत्नके सिवाय अन्य कोई वस्तु ईश्वरमें प्रभुता बतानेवाली है भी नहीं जिससे उसमें किसी अन्य प्रकारके ऐश्वर्यकी कल्पना की जा सके।

§३६. अच्छा यह भी तो बताओ कि—ईश्वर इस संसारको क्यों बनाता है? क्या वह अपनी रुचिसे जगत्को घड़ने बैठ जाता है, अथवा हम लोगोंके पुण्य-पापके अधीन होकर इस जगत्की सृष्टि करता है, या दयाके कारण वह जगत् बनाता है या उसने क्रीड़ाके लिए ये खेल-खिलौने बनाये हैं? किंवा शिष्टोंकी भलाई तथा दुष्टोंको दण्ड देनेके लिए यह जगत्जाल बिछाया है? या उसका यह स्वभाव ही है कि वह बैठे-ठाले कुछ-न-कुछ किया ही करे?

§३७. यदि ईश्वर अपनी इच्छानुसार जैसा मनमें आता है उसी तरह इस सृष्टिको बनाता है, तो ईश्वरको कभी अन्य प्रकारकी इच्छा होनेपर विलक्षण प्रकारकी भी सृष्टि हो सकती है। ईश्वर तो स्वतन्त्र है, उसकी इच्छापर कोई अंकुश भी नहीं है अतः उसका दूसरे प्रकारके जगत् बनानेकी इच्छा होना भी सम्भव है। परन्तु अभी तक इस जगत्का एक-ही रूप एक-सा नियम देखा-सुना जाता है अन्य प्रकारकी सृष्टि तो न देखी ही गयी है और न सुनी ही। यदि ईश्वर हम लोगोंके पुण्य-पापके अनुसार ही सृष्टि करता है; तब ईश्वरकी स्वतन्त्रता कहाँ रही? वह काहेका ईश्वर? वह तो केवल हमारे कर्मोंके हुकुमको बजानेवाला एक साधारण मैनेजर सरीखा ही हुआ। यदि ईश्वर दया करके इस जगत्का रचता है; तब संसारमें कोई दुःखी प्राणी उत्पन्न नहीं होना चाहिए। सारा संसार खुशहाल सुखी-ही-सुखी उत्पन्न होवे।

ईश्वरवादी—ईश्वर क्या करे, ये दुःखी जीव अपने पूर्वजन्ममें कमाये गये कर्मोंको भोगते हैं। जो जैसा करेगा वैसा भोगेगा। इसलिए दयालु ईश्वर—उनके पापकर्मोंके भोगके लिए दुःखकी सामग्री भी जुटाकर उनका उपकार ही करता है। वे अपने पापोंको भोगकर उनसे छूट जायँगे।

---

१. "किंच, ईश्वरस्य जगन्निर्माणे यथारुचि प्रवृत्तिः, कर्मपारतन्त्र्येण, करुणया, धर्मादिप्रयोजनोद्देशेन, क्रीडया, निग्रहानुग्रहविधानार्थम्, स्वभावतो वा?" —न्यायकुमु० पृ० ३०७। २. –ण वा क–म० २। "अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पास्य जायते। सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः ॥५३॥" —मीमांसाश्लो० पृ० ६५२। तत्त्वसं० पृ० ७६। सन्मति० टी० पृ० १३०। स्या० रत्ना० पृ० ४१७। ३. –व करोति म० १, प० १, प० २, आ०, क०।

तदा तस्य कः पुरुषकारः, अदृष्टापेक्षस्य च कर्तृत्वे किं तत्कल्पनया, [1]जगतस्तदधीनतैवास्तु, [2]किमनेनान्तर्गडुनात्र ।

§ ३८. चतुर्थपञ्चमयोस्तु[3] वीतरागद्वेषताभावः प्रसज्यते। तथाहि—"रागवानीश्वरः [4]क्रीडाकारित्वाद्बालवत्, तथा अनुग्रहप्रदत्वाद्राजवत्, तथा द्वेषवानसौ निग्रहप्रवत्वात्तत्रैव" इति ।

§ ३९. अथ स्वभावतः, तदप्येवमपि रागादय एव स्वभावतः प्रवृत्तिरस्तु किं [5]तत्कर्तृकल्पनयेति । न कार्यत्वहेतुर्बुद्धिमन्तं कर्तारमीश्वरं साधयति । एवं संनिवेशविशिष्टत्वादचेतनोपादानत्वादभूतभावित्वादित्यादयोऽपि [6]स्वयमुत्प्याद्याः, तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् ।

§ ४०. किञ्च क्षित्यादेर्बुद्धिमत्पूर्वकत्वे साध्ये प्रदीयमानाः सर्वेऽपि हि हेतवो विरुद्धा

जैन—यदि सब कुछ सुख-दुःख हमलोगोंको अपने कर्मोंके अनुसार ही मिलता है तब ईश्वरने क्या पुरुषार्थ किया। ईश्वरसे बढ़कर तो कर्मोंकी ही शक्ति सिद्ध होती है। जब ईश्वरको भी अन्तमें कर्मोंके वश होकर ही नाचना पड़ता है तब बीचमें दलालके समान उसकी कल्पना करना ही निरर्थक है, हमी लोग सीधे ही कर्मोंके फल भोग लेंगे। सच्चा पुरुषार्थी तो वह है जो कर्मोंकी परवाह न करके जगत्को सुखी बनाता है, वही वस्तुतः ईश्वर है। इससे तो यही अच्छा है कि यह जगत् सीधा कर्मके परतन्त्र रहे एक निरर्थक ईश्वरकी पराधीनता क्यों जगत्के सिर लादी जाती है। ऐसा ईश्वर तो अन्तर्गडु—गलेमें बढ़े हुए मांसपिण्डकी तरह बिलकुल निरर्थक है बोझरूपी है।

§ ३८. यदि यह जगत् ईश्वरका क्रीड़ाक्षेत्र है, और अपने मनोविनोदके लिए उसने ये खेल-खिलौने बनाये हैं; तब ईश्वर तो खिलाड़ी लड़कोंकी ही तरह राग-द्वेषवाला हो जायगा। मनोविनोदके लिए लीला रचना तो रागवृत्तिका ही फल है। और जिस तरह बच्चे ऊबकर अपने बनाये हुए खिलौनोंको तोड़ देते हैं उसी तरह ईश्वरको भी ऊबकर इस सृष्टिका महाप्रलय भी जब चाहे कर देना चाहिए। अतः हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि—'ईश्वर रागी है क्योंकि वह खेल खेलता है जैसे कि बालक।' यदि शिष्टानुग्रह तथा दुष्टोंको दण्ड करनेके लिए वह जगत् रचता है; तब भी वह वीतरागी तथा निर्वैर नहीं हो सकता। अपने भक्तोंका उद्धार रागसे तथा दुष्टोंको दण्ड देना द्वेषसे ही हो सकता है। बिना राग-द्वेष हुए निग्रह तथा अनुग्रह नहीं किये जा सकते। वीतरागी व्यक्ति इस निग्रह-अनुग्रहके प्रपंचमें पड़ ही नहीं सकता। अतः यह भी निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि—'ईश्वर राग और द्वेषवाला है क्योंकि वह किसीका अनुग्रह तथा किसीका निग्रह करता है जैसे कि राजा।'

§ ३९. यदि ईश्वर स्वभावसे ही इस लीलामय जगत्को उत्पन्न करता है, जैसे अग्नि जलती है, वायु चलती है इत्यादि; तो जब आखिरमें स्वभाव मानना ही पड़ता है तब अचेतन पदार्थोंका ही यह स्वभाव मान लीजिए कि—'वे जैसे कारणोंका संयोग मिलता है उसी रूपसे अपनी प्रवृत्ति स्वभावसे ही करते हैं' तात्पर्य यह है कि जैसे हाइड्रोजनमें जब आक्सिजन अमुक मात्रामें मिलता तब स्वभावसे ही वह जल बन जाता है। इस बीचके एजेण्ट ईश्वरकी क्या आवश्यकता है। इस प्रकार कार्यत्व हेतुसे किसी भी तरह ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती।

§ ४०. इसी तरह 'पृथिवी आदि बुद्धिमान् कर्ताके द्वारा रचे गये हैं क्योंकि उनमें अचेतन परमाणु उपादान कारण होते हैं जैसे कि घटमें', 'उनमें घड़ेकी तरह एक बनावट पायी जाती है',

---

१. –पेक्ष्य च म० २। २. जगत एव तदधीनतास्तु आ०। जगतस्तदधीनं वास्तु प० १, प० २। ३. 'किमनेनान्तर्गडुनात्र' इति नास्ति म० १, म० २, प० १, प० २, क०। ४. –स्तु रागद्वेषता भावः आ०, क०। ५. "क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता ॥५६॥" —मीमांसाश्लो० पृ० ६५३। तत्त्वसं० पृ० ७७। ६. तत्कल्पनया म० २। ७. –यमधस्कार्याः म० २।

दृष्टान्तानुग्रहेण अशरीरसर्वज्ञसर्वकर्तृपूर्वकत्वसाधनात्। न च धूमात्पावकानुमानेऽप्ययं दोषः, तत्र तार्णपार्णादिविशेषाधारवह्निमात्रव्याप्तस्य धूमस्य दर्शनात्। नैवमत्र सर्वज्ञासर्वज्ञकर्तृविशेषाधिकरणतत्सामान्येन कार्यत्वस्यास्ति व्याप्तिः, सर्वज्ञस्य कर्तुरतोऽनुमानात्प्रागसिद्धेः।

§ ४१. व्यभिचारिणश्चामी बुद्धिमत्समन्तरेणापि विद्युदादीनां प्रादुर्भावविभावनात्, स्वप्नाद्यवस्थायामबुद्धिमत्पूर्वस्यापि कार्यस्य दर्शनाच्चेति।

§ ४२. कालात्ययापदिष्टाश्चैते, प्रत्यक्षागमबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। [1]तद्बाधा च पूर्वमेव दर्शिता।

वे पहले नहीं थे फिर उत्पन्न हो जाते हैं जैसे कि घड़ा', इत्यादि हेतुओंका खण्डन कार्यत्व हेतुकी तरह ही कर लेना चाहिए। जैसे-जैसे शंका समाधान कार्यत्वहेतुमें किये गये हैं वैसे ही इन हेतुओंमें लगा लेने चाहिए। जिस प्रकार कार्यत्व हेतुमें भागासिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचार, बाधा आदि अनेकों दोष आते हैं ठीक उसी प्रक्रियासे इन हेतुओंमें भी वे दोष आते हैं। सबसे मोटा दोष तो यह है कि जिस घड़ेको बार-बार उदाहरणके रूपमें पेश किया जाता है उस घड़ेकी दृष्टिसे तो जगत्का कर्ता सशरीर असर्वज्ञ एवं असर्वगत बुद्धिमान् सिद्ध होता है। इसलिए सर्वज्ञत्व आदि जो इष्ट हैं उनसे विपरीत असर्वज्ञत्व आदिको सिद्ध करनेके कारण ये सभी हेतु विरुद्ध हैं। धूमसे अग्निका अनुमान करनेमें यह दोष नहीं आ सकता; क्योंकि—यहाँ पहाड़में रहनेवाली तिनके और पत्तोंकी विशेष अग्निमें तथा रसोईघरमें पायी जानेवाली लकड़ी आदिकी विशेष अग्निमें रहनेवाले एक अग्नित्व सामान्यका अनुभव होता है और इसी अग्नित्व सामान्यकी बदौलत सामान्य रूपसे अग्निका अनुमान करना सहज है। परन्तु यहाँ पृथिवी आदिके सर्वज्ञकर्ता और घट आदिके असर्वज्ञकर्ता रूप दो—विशेष कर्ताओंमें पाया जानेवाला कोई भी कर्तृत्वनामका सामान्यधर्म अनुभवमें नहीं आता जिससे पहले सामान्य कर्ताका अनुमान किया जा सके; क्योंकि कार्यत्व हेतुवालेके योगके पहले कहीं भी सर्वज्ञकर्ताके दर्शन नहीं होते जिससे उसमें रहनेवाले सामान्य-धर्मका परिज्ञान किया जा सके। वस्तुतः किसी भी सर्वज्ञ या अशरीरीका कर्तृत्वके रूपमें दर्शन हुआ ही नहीं है। दर्शनकी बात जाने दीजिए, उसका अनुमान करना भी नितान्त असम्भव है।

§ ४१. ये सभी 'कार्यत्वात्, सन्निवेशविशिष्टत्वात्' आदि हेतु व्यभिचारी भी हैं। देखो 'बिजली चमकती है, मेघ गड़गड़ाता है' यहाँ बिजली तथा मेघ आदि कार्य हैं अमुक सन्निवेश-बनावटवाले भी हैं, इनके उपादान कारण भी अचेतन हो परमाणु हैं, ये पहले नहीं थे पीछे चमकने लगे तथा गड़गड़ाने लगे इस तरह इनमें सभी हेतु तो पाये जाते हैं परन्तु इन्हें किसी भी बुद्धिमानने बनाया नहीं है—ये तो अपने-आप परमाणुओंका संयोग होनेसे बन गये हैं। अतः बिजली आदिमें हेतुके रह जानेसे तथा साध्यके न रहनेके कारण उक्त हेतु व्यभिचारी हैं। स्वप्न तथा मूर्च्छित आदि अवस्थाओंमें बुद्धिके बिना भी अनेकों कार्य देखे जाते हैं।

§ ४२. आपके ये समस्त हेतु कालात्ययापदिष्ट भी हैं; क्योंकि बिना जोते-बोये अपने ही आप उगनेवाले जंगली घास आदिमें प्रत्यक्षसे कर्ताका अभाव निश्चित है। आपके आगममें भी 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'—ईश्वरमें लोकका कर्तृत्व नहीं है वह कर्मकी रचना नहीं करता', 'यह तो स्वाभाविक है' इत्यादि रूपसे अकर्तृत्व रूपमें भी ईश्वरका प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रत्यक्ष और आगमसे बाधित पक्षमें इन हेतुओंकी प्रवृत्ति होनेसे ये बाधित विषय होनेके कारण कालात्ययापदिष्ट हैं। प्रत्यक्षादिसे पक्षमें बाधा आनेका प्रदर्शन पहले किया जा चुका है।

---

१. तद्बाधाश्च पूर्वमेव प्रदर्शिताः स० २।

§ ४३. प्रकरणसमाश्रामी, प्रकरणचिन्ताप्रवर्तकानां हेत्वन्तराणां सद्भावात् । तथाहि—ईश्वरो जगत्कर्ता न भवति निरुपकरणत्वात्, दण्डचक्रचीवराद्युपकरणरहितकुलालवत्, तथा व्यापित्वाद्याकाशवत्, एकत्वात्तद्वदित्यादय इति ।

§ ४४. नित्यत्ववादीनि तु विशेषणानि तद्व्यवस्थापनायानीयमानानि शण्ढं प्रति कामिन्यारूपसंपन्निरूपणप्रायाण्यपकर्णनीयान्येव । विचारासहत्वख्यापनार्थं तु किंचिदुच्यते । तत्रादौ नित्यत्वं विचार्यते तच्चेश्वरे न घटते । तथाहि—नेश्वरो नित्यः, स्वभावभेदेनैव क्षित्यादिकार्यकर्तृत्वात्, अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं नित्यमिति हि नित्यत्वलक्षणाभ्युपगमात् । स्वभावभेदानभ्युपगमे च सृष्टिसंहारादिविरुद्धकार्यकारित्वमतिदुर्घटम् । नापि तज्ज्ञानादीनां नित्यत्वं वाच्यं प्रतीतिविरोधात्, ईश्वरज्ञानादयो न नित्या[1] ज्ञानादित्वादस्मदादिज्ञानादिवदित्यनुमानविरोधाच्च । एतेन तदीयज्ञानादयो नित्या इत्यादि यदवादि तदपोहितमूहनीयम् ।

§ ४३. जगत्को अकर्तृक सिद्ध करनेवाले अनेक प्रत्यनुमान-विपरीत अनुमानोंकी मौजूदगी होने से आपके ये सब हेतु प्रकरणसम हैं । ये विपरीत अनुमान विरुद्ध प्रकरणकी चिन्ता-उपस्थित करके पहलेके मूलहेतुकी सामर्थ्य रोक देते हैं । अकर्तृत्व साधक अनुमान ये हैं—ईश्वर जगत्का रचनेवाला नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पास जगत्को रचनेके उपकरण-हथियार आदि कारणसामग्री नहीं है, जैसे कि दण्ड चाक तथा चीवर आदि उपकरणोंसे रहित कुम्हार घड़ेको नहीं बनाता । इसी तरह ईश्वर भी बिना हथियार जगत्का रचनेवाला नहीं हो सकता । इसी तरह ईश्वर इस सृष्टिका विधाता नहीं है क्योंकि वह व्यापी होनेसे क्रियाशून्य है जैसे कि आकाश । जो स्वयं बिलकुल निष्क्रिय है—हिल-डुल भी नहीं सकता उससे इस जगत्की उत्पत्ति क्रिया नहीं मानी जा सकती । इसी प्रकार ईश्वर इस विचित्र जगत्का कर्त्ता नहीं हो सकता क्योंकि वह एक है एक स्वभाववाला है जैसे कि आकाश ! इत्यादि अनेकों अनुमान उपस्थित किये जा सकते हैं ।

§ ४४. ईश्वरकी सिद्धिके लिए उसके नित्यत्व सर्वज्ञत्व आदि विशेषणोंका उपस्थित करना तो उसी तरह निरर्थक एवं हास्यास्पद है जैसे किसी नपुंसकको रिझानेके लिए किसी कमनीय कामिनीके रूप, लावण्य आदिकी प्रशंसा करना । अतः जब ईश्वर मूलतः ही सिद्ध नहीं है तब उसके सर्वज्ञत्व आदि विशेषणोंकी कथाका सुनना समय खराब करना है । फिर भी उन विशेषणोंकी निरर्थकता दिखानेके लिए कुछ विचार करते हैं । सबसे पहले ईश्वरकी नित्यताका ही विचार किया जाता है । ईश्वर नित्य नहीं है क्योंकि वह पृथिवी, वन, नदी, पर्वत आदि विचित्र कार्योंको विभिन्न स्वभावोंसे बनाता है । यदि ईश्वरके स्वभावभेद न माना जाय तो ये विचित्र कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकेंगे । एक स्वभाववाली वस्तुसे एक जैसे ही एक रूपके कार्य ही उत्पन्न होते हैं । पर ईश्वर रचना करना, संहार करना आदि विरुद्ध कार्योंको करता है अतः सृष्टि करते समय संहार स्वभावका अभाव तथा संहारके समय सृष्टि स्वभावका अभाव मानना ही होगा । जिसमें स्वभाव भेद होता है वह नित्य नहीं रह सकता । जो वस्तु सदा एक जैसी रहती हो, जिसमें कोई नूतन स्वभाव उत्पन्न होता हो और न जिसके किसी पूर्वस्वभावका नाश ही होता हो वह कूटस्थ—लुहारकी निहाईके समान सदा स्थायी वस्तु नित्य कही जाती है । पर जिसमें स्वभाव भेद होता है वह नित्य नहीं रह सकता । ईश्वरके ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न आदि गुण भी नित्य नहीं हैं; क्योंकि विभुद्रव्यके विशेष गुण अनित्य ही हुआ करते हैं अतः ईश्वरके ज्ञानादिको नित्य कहना प्रतीतिविरुद्ध है । 'ईश्वरके ज्ञान आदि गुण नित्य नहीं हैं क्योंकि वे ज्ञान आदि विशेष गुण हैं जैसे हम लोगोंके ज्ञान आदि ।' इस अनुमानसे

१. "बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत् । इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भवेः ॥१२॥"
—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६० ।

§ ४५. सर्वज्ञत्वमप्यस्य केन प्रमाणेन ग्राह्यम् । न तावत्प्रत्यक्षेण, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वेनातीन्द्रियार्थग्रहणासमर्थत्वात् । नाप्यनुमानेन, अव्यभिचारिलिङ्गाभावात् । ननु जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तिरूपं तदस्त्येवेति चेत् न, तेन सहाविनाभावाभावात्, जगद्वैचित्र्यस्य सार्वज्ञ्यं विनापि शुभाशुभकर्मपरिपाकादिवशेनोपपद्यमानत्वात् ।

§ ४६. किञ्चायं यदि सर्वज्ञः, तदा जगदुपप्लवकरणस्वैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहानसुरा-

---

ईश्वरके गुणोंकी नित्यता खण्डित हो जाती है। अतः ईश्वरके ज्ञान आदिकी नित्यताका जो वर्णन आपने किया है वह भी खण्डित हो जाता है।

§ ४५. ईश्वरकी सर्वज्ञता भी इसी तरह किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती। प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होकर स्थूल तथा वर्तमान पदार्थोंको जानता है इसलिए ईश्वरकी अतीन्द्रिय सर्वज्ञताको जानना उसकी सामर्थ्यके बाहर है। उसकी सर्वज्ञताका नियत सहचारी, उसके विना न होनेवाला कोई निर्दोष लिङ्ग भी नहीं दिखाई देता जिसके द्वारा उसकी अतीन्द्रिय सर्वज्ञताका अनुमान लगाए जा सके!

ईश्वरवादी—हम आप को ईश्वरकी सर्वज्ञताको सिद्ध करनेवाला अकाट्य प्रमाण बताते हैं। देखो, यह विश्व कितना विचित्र है। एक मनुष्यके ही शरीरपर विचार करो तो मालूम हो जायगा कि इसका सिरजनहार कितना कुशल तथा बुद्धिमान् होगा। पेटमें भोजन जाता है उसका किस प्रक्रियासे रक्त आदि बनकर यह शरीररूपी मशीन पुष्ट हो कर अपना कार्य करती है। यह विचारते ही आश्चर्य होता है। आषाढ़का महीना आया, तो बादल घिर आये, बिजली चमकने लगी, वह रंग-बिरंगा इन्द्रधनुष मानो पृथिवीसे स्वर्ग तक एक पुल बनाया गया हो, वह हरी-भरी घास, वह नदियोंकी बाढ़; कहाँ तक कहें इस जगत्का एक-एक कण रहस्यपूर्ण है। वह अपने भीतर अपनी विचित्रताकी लम्बी कहानी छिपाये बैठा है। ऐसे विचित्र जगत्को क्या कोई सर्वज्ञ हुए बिना बना सकता है? देखो, नाखून उखड़ जाता है तो वहाँ उसी प्रकारकी कठोर खालका आना शुरू होता है और नाखून फिर बन जाता है। यदि इसका बनानेवाला न होता तो कैसे नाखूनकी जगह चुन-चुनकर कठोर परमाणु फिट किये जाते तथा मुँहके भीतर तलुएमें अत्यन्त कोमल। अतः जगत्की रहस्यमय अनोखी रचना ही ईश्वरकी सर्वज्ञताका सबसे बड़ा प्रमाण है।

जैन—आपने जगत्की विचित्रताका जो चित्र खींचा है वह है तो बहुत सुन्दर, पर उसका ईश्वरकी सर्वज्ञताके साथ अविनाभाव रूपसे गठबन्धन करना निपट अज्ञानताका प्रदर्शन है। जब ईश्वरमें साधारण रूपसे कर्तृत्व सिद्ध हो जाय, तब ही जगत्की विचित्रताका ईश्वरकी सर्वज्ञता के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। पर दुःख तो इसी बातका है कि किसी भी हेतुसे ईश्वरका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। जगत्की विचित्रता अनगिनती प्राणियोंके असंख्य प्रकारके पुण्य-पापोंसे होती है। जिस प्राणीका जिस जातिके शुभ या अशुभ कर्मका उदय होता है उसी जातिकी सुख दुःख सामग्री उत्पन्न होती जाती है।

§ ४६. यदि ईश्वर सर्वज्ञ होता तो वह संसारमें अत्याचार करनेवाले राक्षसोंको पहले क्यों बनाता? यह तो एक मामूली आदमी भी समझता है कि 'जिस चीजको पीछे नष्ट करना पड़े उसे पहले ही उत्पन्न न करना ही बेहतर है' कीचड़में पैर लिपटाकर धोनेकी अपेक्षा कीचड़से बचकर चलनेमें ही बुद्धिमानी है। जिन राक्षसोंको मारनेके लिए उसे स्वयं अवतार लेना पड़ा उनको उस सर्वज्ञने आखिर पहले बनाया ही क्यों था? हम-जैसे लोगोंको भी, जो उसकी सर्वज्ञता तथा

---

१. –परिपाक-वशे–म० २।

दीस्तदधिक्षेपकृतोऽस्मदादीश्च किमर्थं सृजतीति नायं सर्वज्ञः।

§४७. तथा बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसंभावनायां महेशितुरेकत्वकल्पना[1] भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रमित्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनतुलामाकलयति। अनेककोटिकासरघाशतसंपाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्धमधुच्छत्रादिकार्यणामेककल्पतयाधिगानेनोपलम्भात्।

§ ४८. किंच ईश्वरस्याखिलजगत्कर्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने शास्त्राणां[2] प्रमाणेतरताव्यवस्थाविलोपः स्यात्। तथाहि—सर्वं शास्त्रं प्रमाणमीश्वरप्रणीतत्वादितरतत्प्रणीतशास्त्रवत्। प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च[3], सर्वेषामीश्वरादेशविधायित्वेन तत्प्रतिलोमाचरणानुपपत्तेः प्रतिवाद्यभावप्रसङ्गात्। इति न सृष्टिकरस्य महेश्वरस्य कथंचिदपि सिद्धिः।

सृष्टिकर्तृत्वकी धज्जियाँ उड़ा रहे हैं, उसने क्यों बनाया ? क्या यही उसकी सर्वज्ञता है ? यदि वह वस्तुतः सृष्टिका कर्ता है तब उसने हम जैसे तथोक्त नास्तिकोंकी रचना करके तो अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी पटकी है। यहाँ तो स्पष्ट ही उसकी बुद्धिका दिवाला निकल गया है।

§ ४७. बहुत-से ईश्वरोंको माननेपर कार्योंके करनेमें विवाद हो सकता है तथा कार्योंका सिलसिला बिगड़ सकता है। इसी डरसे ईश्वरको एक मानना तो उस कंजूसके समान है—जो खाने-पीनेके खरचेके डरसे अपने प्यारे दुलारे बालबच्चों तथा स्त्री, मित्र आदिको छोड़कर शून्य जंगलमें जा बसता है। देखो, सैकड़ों दीमकके कीड़े मिलकर एक बाँबीको बनाते हैं और उसमें बिना किसी विवादके हिल-मिलकर बसते हैं। हजारों मधुमक्खियाँ मिलकर शहदका एक छत्ता लगाती हैं और सब उसीमें व्यवस्थासे रह जाती हैं। फिर इन वीतरागी ईश्वरोंमें ही विवादका क्या कारण है ? वे तो सबके सब सर्वज्ञ तथा वीतरागी होंगे उन्हें झगड़नेकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। बल्कि अनेक ईश्वर होनेसे सबकी सलाहसे बड़ी सुन्दर प्रजातन्त्रात्मक भावोंकी रक्षा करनेवाली सृष्टि होगी।

§ ४८. ईश्वर जब संसार-भरके समस्त कार्योंका कर्ता है; तब संसारमें जितने मत-मतान्तर हैं उनके शास्त्र भी ईश्वरने ही बनाये हैं, अतः सभी शास्त्र परमपूज्य तथा प्रामाणिक माने जाने चाहिए। अतः हम लोगोंके ईश्वर खण्डनवाले शास्त्र तो आपको अवश्य ही ईश्वरकृत मानकर प्रमाण मान लेना चाहिए और इस सृष्टिकर्तृत्वके बखेड़ेको खतम कर देना चाहिए। फिर उस समय 'ये शास्त्र प्रमाण हैं, ये अप्रमाण हैं' ये बातें आपको भूल जाना चाहिए। अन्यथा आपको ईश्वरद्रोहका बड़ा भारी पाप लगेगा। हम कह सकते हैं कि 'संसारके सभी शास्त्र और खासकर ईश्वरका खण्डन करनेवाले शास्त्र प्रमाण हैं क्योंकि ये सब ईश्वरके द्वारा रचे गये हैं जैसे ईश्वर प्रणीत वेद आदि।' और जब सभी शास्त्र ईश्वर प्रणीत होनेसे प्रमाण हो जायेंगे, तब 'यह वादी और यह प्रतिवादी, यह हमारा मत और यह तुम्हारा मत' इन सब व्यवहारोंका लोप हो जायगा। हम जो ईश्वरका खण्डन कर रहे हैं वह भी ईश्वरकी आज्ञा या उसके इशारेसे ही कर रहे हैं, अतः आपको उसे ईश्वर वाक्यकी तरह मान लेना चाहिए। हम लोग भी आखिर विश्वके भीतर ही हैं अतः उसके इशारेके खिलाफ़ तो जा ही नहीं सकते। इस प्रकार महेश्वरको जगन्नियन्ता माननेमें अनेकों दूषण तथा अव्यवस्थाएँ होती हैं अतः वह जगत्का कर्ता नहीं हो सकता। कोई भी प्रमाण ऐसा नहीं मिला जो महेश्वरको सृष्टिकर्ता सिद्ध कर सकता हो। अतः संसारके पदार्थोंका यथावत् प्रकाश करनेवाला जिसका ज्ञान है वह सर्वज्ञ तथा वीतराग ही देवत्वके पदपर बैठ सकता है उसे ही देव मानना उचित है अन्यको नहीं।

---

१. –कल्पनं भो–म० २। २. "तथापि शास्त्राणां प्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः, सर्वशास्त्रं प्रमाणमेव स्यात् ईश्वरप्रणीतत्वात् तत्प्रणीतप्रसिद्धशास्त्रवत्॥" —न्यायकुमु० पृ० १०८। ३. "प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च सर्वेषामीश्वरादेशविधायित्वात्॥" —न्यायकुमु० पृ० १०८।

§ ४९. ततः सद्भूतार्थप्रकाशकत्वाद्वीतराग एव सर्वज्ञो देवो देवत्वेनाभ्युपगमनार्हो नापरः कश्चिदिति स्थितम् ।

अत्र जल्पन्ति जैमिनीयाः । इह हि सर्वज्ञादिविशेषणविशिष्टो भवदभिमतः कश्चनापि देवो नास्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाहि—न[1] तावत्प्रत्यक्षं तद्ग्राहकम्; "संबद्धं वर्त्तमानं हि गृह्यते चक्षुरादिना" [मी० श्लो० प्रत्यक्ष सू० श्लो० ८४] इति वचनात् । न चानुमानम्; प्रत्यक्षवृष्ट एवार्थे तत्प्रवर्तनात् । न चागमः;[2] सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तदागमस्यापि विवादास्पदत्वात् । न चोपमानम्[3], सर्वज्ञसदृशस्यापरस्याभावात् । न[4] चार्थापत्तिरपि; सर्वज्ञसाधकस्यान्यथानुपपन्नार्थस्यादर्शनात् । ततः प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेरभावप्रमाणगोचर एव सर्वज्ञः । तदुक्तम्—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्त्वसत्त्वावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥१॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १] इति ।

---

§ ४९. मीमांसक—(पूर्वपक्ष) जैमिनि प्रणीत मीमांसा मतके अनुयायी मीमांसक कहते हैं कि—आप देवको सृष्टिका कर्ता नहीं मानते यह बहुत सुन्दर है । परन्तु देवको सर्वज्ञ मानना नहीं जँचता । धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंमें तो वेदका ही एकमात्र अधिकार है इन्हें कोई भी प्रत्यक्षसे नहीं जान सकता जिससे वह सर्वज्ञ बन सके । धर्म आदिके विषयमें अनादि परम्परासे आया हुआ अपौरुषेय—जिसे किसी पुरुषने नहीं बनाया—स्वयंसिद्ध वेद ही स्वतः प्रमाण है । आपके सर्वज्ञको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है । इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तथा वर्तमान पदार्थको जाननेवाला प्रत्यक्ष तो अतीन्द्रिय सर्वज्ञको जान ही नहीं सकता । "इन्द्रियोंसे जिनका सम्बन्ध है तथा जो पदार्थ वर्तमान हैं उन ही पदार्थोंमें चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रवृत्ति करती हैं" यह प्रसिद्ध ही है । अनुमानसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्यक्षसे सिद्ध पदार्थमें ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है । जिन पदार्थोंके सम्बन्धको प्रत्यक्षसे जान सकें उन्हींका अनुमान किया जाता है । सर्वज्ञका तो कभी भी प्रत्यक्ष होता ही नहीं है अतः अनुमानकी सामर्थ्य भी सर्वज्ञको जाननेकी नहीं है । जब सर्वज्ञ ही असिद्ध है तब उसके द्वारा कहा गया आगम प्रमाणभूत हो ही नहीं सकता, इसलिए आगम भी सर्वज्ञको सिद्ध नहीं कर सकता । सर्वज्ञके समान कोई दूसरा प्राणी संसारमें दिखाई देता तो उसे देखकर सर्वज्ञका उपमान-द्वारा ज्ञान किया जा सकता था, परन्तु सर्वज्ञ-सरीखा तो कोई दूसरा है ही नहीं । सर्वज्ञके विना नहीं होनेवाला कोई अविनाभावी अर्थ दिखाई देता तो उसके द्वारा अर्थापत्ति सर्वज्ञको जान पाती; पर ऐसा कोई अविनाभावी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता । इस प्रकार वस्तुका सद्भाव सिद्ध करनेवाले प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण तो सर्वज्ञकी सत्ताको सिद्ध नहीं कर सकते । अब छठवें अभाव प्रमाणका नम्बर है, सो वह तो सर्वज्ञकी सत्ताका समूल उच्छेद ही करनेवाला है । कहा भी है—"जब जिस वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण असमर्थ हो जाते हैं तब उस वस्तुका अभाव अभावप्रमाणके

---

१. "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । निराकरणवच्छक्या न चासौ[4]स्तीति कल्पना ॥११७॥" —मीमां० श्लो० सू० २, पृ० ८१ । "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥३१८६॥" —तत्त्वसं० । २. "न चागमेन सर्वज्ञः तदोषेऽन्योन्यसंश्रयात् । नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥११८॥ न चाप्येवं परो नित्यः शक्यो लब्धुमिहागमः । नित्यश्चेदर्थवादत्वं तत्परं स्यादनित्यता ॥११९॥" —मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० । ३. "सर्वज्ञसदृशः कश्चिद् यदि दृश्येत सम्प्रति । तदा गम्येत सर्वज्ञसद्भाव उपमाश्रयात् ॥३२१५॥" । —तत्त्वसं० पृ० ८३८ । ४. "उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नो भवेत् ॥३२१७॥ प्रत्यक्षादौ निषिद्धेऽपि सर्वज्ञप्रतिपादके । अर्थापत्त्यैव सर्वज्ञमित्थं यः प्रतिपद्यते ॥३२१८॥" —तत्त्वसं० पृ० ८३८ ।

प्रयोगोऽत्र—नास्ति सर्वज्ञः, प्रमाणपञ्चत्वाग्रा(गृ)ह्यमाणत्वात्, खरविषाणवत् ।

§ ५०. किञ्च, यथाऽऽदेरपि, सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया विशोध्यमानस्य निर्मलत्वम्, एवमात्मनोऽपि निरन्तरं ज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलत्वात्सर्वज्ञत्वं किं न भवेदिति मतिस्तवापि न, अभ्यासेन हि शुद्धेस्तारतम्यमेव भवेन्न परमः प्रकर्षः, न हि नरस्य लङ्घनमभ्यासतस्तारतम्यवदप्युपलभ्यमानं सकललोकविषयमुपलभ्यते । उक्तं च

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ १ ॥" इति ।[1]

§ ५१. अपि च स[2] सर्वं वस्तुजातं केन प्रमाणेन जानाति । किं प्रत्यक्षेण, उत यथासंभवं सर्वैरेव प्रमाणैः । न तावत्प्रत्यक्षेण, तस्य संनिहितप्रतिनियतार्थग्राहित्वात् । नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण; तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । नापि सर्वैरेव प्रमाणैः, तेषां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् सर्वेषां सर्वज्ञतापत्तेश्चेति ।

द्वारा किया जाता है।" अतः यह सुनिश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका विषय नहीं होता जैसे कि गधेका सींग ।

§ ५०. **प्रश्न**—जिस तरह खदानमें पड़ा हुआ सुवर्ण अनादिकालसे अभीतक मलिन रहा है परन्तु सुहागा आदि शोधक द्रव्योंके साथ जब वह घरियामें रखकर अग्निमें तपाया जाता है तब वह निखरकर सौ टंचका निर्मल सोना हो जाता है उसी प्रकार अनादिकालसे कर्मबन्धमें जकड़ा हुआ यह आत्मा अज्ञानी बन रहा है, परन्तु सतत ज्ञानाभ्यास तथा योग जप-तप आदि उपायोंसे धीरे-धीरे जब इसके कर्मकलंक धुल जायेंगे तब यह भी पूर्णज्ञानी तथा सर्वज्ञ क्यों नहीं बन सकता ?

उत्तर—आपका यह अभ्यासके द्वारा सर्वज्ञ बननेका क्रम अनुभवहीनताका सूचक है। अभ्याससे कुछ फर्क तो पड़ सकता है, जो आत्मा आज निपट अज्ञानी है वह कल चार अक्षरका ज्ञान कर ले। परन्तु अभ्यासमें इतनी ताकत नहीं है कि वह वस्तुके स्वभावका आमूल परिवर्तन कर सके। मूल वस्तुमें थोड़ा-बहुत अतिशय अभ्यासके भरोसे आ सकता है। अतः अभ्यास या जप-तपके द्वारा शुद्धिमें कमोवेशी हो सकती है परन्तु सर्वज्ञताको पैदा करनेवाली शुद्धि नहीं हो सकती। कोई आदमी प्रतिदिन ऊँचा कूदनेका अभ्यास करता है, तो यह तो सम्भव है कि जहाँ साधारण आदमी ४-५ हाथ कूदते हैं वह ७-८ हाथ हदसे हद १० हाथ कूद जाय। पर कितना भी अभ्यास क्यों न किया जाय क्या कभी १०० योजन ऊँचा कूदनेकी या लोकको लाँघ जानेकी सामर्थ्य उसमें आ सकती है ? कहा भी है—"जो आदमी अभ्यास करनेसे आकाशमें दस हाथ ऊँचा उछल सकता है, क्या वह सैकड़ों वर्ष तक अभ्यास करनेपर भी १०० योजन ऊँचा उछल सकता है ?" तात्पर्य यह कि—अभ्यासकी भी एक मर्यादा होती है अतः ज्ञानकी बढ़ती भी अभ्याससे अपनी मर्यादाको नहीं लाँघ सकती। वह इतना नहीं बढ़ सकता कि सर्वज्ञ बन बैठे।

§ ५१. अच्छा, यह बताओ कि—तुम्हारा सर्वज्ञ संसारकी समस्त वस्तुओंको प्रत्यक्ष से जानता है या यथासम्भव सभी प्रमाणोंसे ? प्रत्यक्ष तो इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली वर्तमान वस्तुओंको ही जानता है अतः उससे अतीत, अनागत, दूरवर्ती तथा सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थोंका परिज्ञान नहीं हो सकता। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो विवादग्रस्त है, उसमें कोई प्रमाण नहीं है। यथासम्भव सभी प्रमाणोंसे थोड़ा-थोड़ा जानकर टोटलमें सर्वज्ञ बनना तो उचित नहीं है; क्योंकि सभी प्रमाणोंका मूल प्रत्यक्ष है और जब प्रत्यक्ष ही हिम्मत हार रहा है तब और प्रमाण तो अपने आप निराश हो जायेंगे। और इस तरह तो संसारके बहुत-से प्राणी कुछ चीजोंको प्रत्यक्षसे जानकर कुछको

---

१. उद्धृतोऽयम्—तत्त्वसं० पृ० ८२६। आप्तप० पृ० २१५। सिद्धिवि०टी०। बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १२५। २. स हि सर्वं म० २।

§ ५२. अन्यच्च, [1]अनाद्यनन्तः संसारः। तद्वस्तून्यप्यनन्तानि क्रमेण विदन् कथमनन्तेनापि कालेन सर्ववेदी भविष्यति ?

§ ५३. किंच, तस्य यथावस्थितवस्तुवेदित्वे अशुच्यादिरसास्वावप्रसङ्गः, तेषां यथावस्थिततया संवेदनात्। आह च—

"अशुच्यादिरसास्वादप्रसङ्गश्चानिवारितः" इति।

§ ५४. किंच अतीतानागतवस्तूनि स किं स्वेन स्वेन स्वरूपेण जानाति किं वा वर्तमानतयैव। प्रथमपक्षे तज्ज्ञानस्याप्रत्यक्षतापत्तिः, अवर्तमानवस्तुग्राहित्वात्, स्मरणादिवत्। द्वितीये तु

अनुमान आदिसे जानकर तथा धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको वेदरूप आगमसे जानकर टोटलमें सर्वज्ञताकी परीक्षा पास कर लेंगे और सर्वज्ञ बन जायेंगे।

§ ५२. और भी विचारो, यह जगत् अनादि अनन्त है, इसकी शुरूआतका पता नहीं है और न यही मालूम है कि यह कब तक ठहरेगा। इस जगत्में नित नये-नये सैकड़ों पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं तथा होते रहेंगे। उन सब अनन्त वस्तुओंको, जो अनन्तकाल तक नये-नये स्वरूपोंको धारण करती जायेंगी, कोई क्रमसे जाननेवाला अनन्तकालमें भी नहीं जान सकता। इस तरह समस्त पदार्थोंका जानना नितान्त असम्भव है।

§ ५३. सर्वज्ञ तो समस्त पदार्थोंको यथावत् अर्थात् वे जैसे हैं ठीक उसी रूपमें जानता है, इसलिए उसे अशुचि पदार्थोंका रसास्वादन भी होना चाहिए। सबमें अशुचि पदार्थ भी तो शामिल हैं ही। कहा भी है—"सर्वज्ञ माननेपर अशुचि पदार्थोंके रसास्वादनका दोष अवश्य ही आयेगा उसका वारण करना कठिन होगा।"

§ ५४. अच्छा, यह बताओ कि सर्वज्ञ बीती हुई बातोंको तथा आगे होनेवाले पदार्थोंको अतीत और अनागतरूपसे ही जानता है या उन्हें वर्तमानकी तरह साक्षात् रूपसे ? यदि वह अतीतको अतीतरूपमें तथा अनागतको अनागतरूपमें ही जानता है तब उसका ज्ञान साक्षात्कार रूप

---

१. "साम्प्रतं सामटयशटयोर्मतेन पुनरपि सर्वज्ञदूषणमाह·····युगपच्छुच्यशुच्यादिस्वभावानां विरोधिनाम्। ज्ञानं नैकक्रिया दृष्टं भिन्ना वा गतयः क्वचित् ॥३२४९॥ भूतं भवद्भविष्यच्च वस्त्वनन्तं क्रमेण कः। प्रत्येकं शक्नुयाद्वेत्तुं वत्सराणां शतैरपि ॥ ३२५० ॥" —तत्त्वसं० पृ० ८४४। "अपि च सर्वं न क्रमेण शक्यावगमम्, आनन्त्यात्। न हि पूर्वापरकोटिविरहिणो ज्ञेयस्योत्पादवतः परिनिष्ठास्ति। न यौगपद्येन, आनन्त्यादेव। इयत्तानवधारणे सर्वैकदेशप्रतिपत्त्योरविशेषात्।·····अतो नानन्त्याकारमेकं ज्ञानं, अनन्तानि वा युगपद् ज्ञानानि।·····अपि चानन्त्यमेव सर्वज्ञत्वं तदवधारणं न संभवति। तथाहि—सर्वा व्यक्तयोऽवधारिताश्चेत्तावत्य एव नानन्ताः। अनवधारणे त्वनन्तत्वं तासां तदनवधारणं चानन्तमिति कथं तदवधारणम् ?"—विधिवि० पृ० १९९। "अशुच्यादिरसंवादसङ्गश्चानिवारितः। प्राप्यकारीन्द्रियत्वे च सर्ववित् कथमुच्यते ॥ ३५९ ॥ युगपत्सर्वविज्ञानेऽनादिसंसारता कथम्। यस्मिन् परिसमाप्तिः स एवात्रादिरुच्यते ॥३७०॥" —प्र० वार्तिकाल० पृ० ५०। २. "अथवा प्रत्युत्पन्नाकारमेव ज्ञानमतीतानागताकारमपि वा। पूर्वत्र सर्वस्यातथाभावान्मिथ्या। उत्तरत्राऽतीतादिरूपकल्पनाप्रवृत्तत्वान्न प्रत्यक्षम्। सर्वं वा ज्ञानकाले प्रत्युत्पन्नात्मना ज्ञायेत, तथावस्थं वा। पूर्वस्मिन्मिथ्यात्वम्। उत्तरत्र न सर्वं प्रत्यक्षमवस्थान्तराप्रत्यक्षीकरणात्।—विधिवि० पृ० ५९८। ३. "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥२५॥ यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्वित्ति सर्वज्ञबीजम्, एतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति, यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति।" योगसू० व्यासभा० १।२५। "प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः।" —प्रमाणमी० अ० १, आ० १, सू० १६।

तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, अन्यथास्थितस्यार्थस्यान्यथाग्रहणात्, द्विचन्द्रज्ञानादिवदिति ॥

§ ५५. अत्र प्रतिविधीयते । तत्र यत्तावदुक्तम्—'तदग्राहकप्रमाणाभावात्' इति साधनम् । तदसम्यक्; तत्साधकानामनुमानप्रमाणानां सद्भावात् । तथाहि—ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यशब्दवाच्यत्वात् । परिमाणवदिति । नायमसिद्धो हेतुः, प्रतिप्राणिप्रज्ञामेधादिगुणपाटवरूपस्य ज्ञानस्य तारतम्येनोपलब्धेः । ततोऽवश्यमस्य सर्वान्तिमप्रकर्षेण भाव्यं, यथा परिमाणस्याकाशे । स च ज्ञानस्य सर्ववस्तुप्रकाशकत्वरूपो यत्र विश्रान्तः स भगवान् सर्वज्ञः ।

§ ५६. ननु संताप्यमानपाथस औष्ण्यतारतम्ये सत्यपि सर्वान्तिमवह्निरूपतापत्तिरूपप्रकर्षादर्शनाद्व्यभिचार्ययं हेतुरिति चेत्; न; यतो [1]यो द्रव्यस्य सहजो धर्मो न तु सहकारिसव्यपेक्षः, सहजोऽपि च यः स्वाश्रये विशेषमारभते, सोऽभ्यासक्रमेण प्रकर्षपर्यन्तमासादयति, यथा कलधौतस्य पुटपाकप्रबन्धाहिता विशुद्धिः । न च [2]पाथसस्तापः सहजो धर्मः, किं त्वग्न्यादिसहकारिसव्यपेक्षः ।

नहीं हुआ और इसीलिए उसका ज्ञान प्रत्यक्षकी श्रेणीमें नहीं आ सकता। प्रत्यक्ष तो वर्तमानकी तरह साक्षात् स्पष्ट रूपसे जाननेवाला होता है। अतीतको अतीतरूपसे जाननेवाला ज्ञान तो स्मरण आदिकी तरह अस्पष्ट तथा अप्रत्यक्षात्मक होगा। यदि सर्वज्ञ अतीत आदि पदार्थोंको वर्तमान रूपसे जानता है; तब उसका ज्ञान अर्थोंको विपरीत रूपमें अर्थात् जो वर्तमान नहीं हैं उन्हें वर्तमानरूपमें, जाननेके कारण मिथ्या हो जायेगा। जैसे एक चन्द्रमें दो चन्द्रको देखनेवाला ज्ञान अन्यथाग्राही होनेसे भ्रान्त है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी अतीत आदिको जो कि वर्तमानरूप नहीं हैं, वर्तमानरूपमें जाननेके कारण झूठ ही ठहरेगा। इति।

§ ५५. **जैन (उत्तर पक्ष)**—जब सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले अनेक अनुमान मौजूद हैं तब ग्राहक प्रमाणोंका अभाव कहना किसी भी तरह उचित नहीं है। देखो,ज्ञानका तरतमभाव—क्रमिक विकास कहीं न कहीं अपनी आखिरी हदको प्राप्त हो जाता है क्योंकि वह क्रमिक विकास है। जैसे परिमाण-नाप परमाणुसे क्रमिक विकास करते-करते आकाशमें अपनी पूर्णदशा अर्थात् महापरिमाण अवस्थामें पहुँच जाता है उसी प्रकार ज्ञानका क्रमिक विकास होते-होते कहीं-न-कहीं वह पूर्ण अवस्थामें अवश्य ही पहुँचेगा। ज्ञानकी यह पूर्णावस्था ही सर्वज्ञता है। ज्ञानका क्रमिक विकास असिद्ध नहीं है, संसारमें हर एक प्राणीमें प्रज्ञा—नवीन पदार्थोंकी तर्कणा करनेवाली प्रतिभा तथा मेधा—धारणशक्ति आदि गुणोंका क्रमिक विकास बराबर देखते हैं। किसीकी प्रज्ञा आदिका कम विकास है तो दूसरा उससे बढ़ा चढ़ा है। कोई एम. ए. है तो कोई डाक्टर है आदि। जब हम ज्ञानका इस तरह क्रमिक विकास प्रत्यक्षसे देख रहे हैं तब अवश्य ही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते किसी आत्मामें अपना चरम विकास कर लेगा जैसे कि परिमाण बढ़ते-बढ़ते आकाशमें अपनी चरम सीमाको पहुँचकर महापरिमाण कहलाता है, उसी तरह ज्ञानकी चरम अवस्था सर्वज्ञता कही जाती है। ज्ञानका यह चरम विकास जिस आत्मामें हो गया है वही समस्त वस्तुओंका यथावत् प्रकाश करनेवाली आत्मा सर्वज्ञ है।

§ ५६. **शंका**—जब चूल्हे पर पानी गरम करते हैं तब उसमें उष्णताकी तरतमता—क्रम-विकास देखा जाता है, परन्तु पानीको कितनी ही देर तक क्यों न तपाया जाय उसमें उष्णताकी चरम सीमा—याने अग्निरूपता नहीं होती। पानीको कितना ही तपाइए वह त्रिकालमें भी अग्निरूप नहीं हो सकता। अतः आपका यह नियम 'जिनमें तरतमता होती उनका कहीं पूर्ण प्रकर्ष होता है' व्यभिचारी हो जाता है।

१. सन्नप्यगान–भ० २। २. यो हि द–भ० २। ३. "अभ्यासेन विशेषेऽपि लङ्घनोदकतापवत्। स्वभावातिक्रमो मा भूदिति चेदस्ति: स चेत् ॥१२२॥ पुनर्यत्नमपेक्षेत यदि स्याच्चास्थिराश्रयः। विशेषो नैव वर्द्धेत स्वभावश्च न तादृशः ॥१२३॥" —प्र० वा० १।१२२–१२३। तत्त्वसं० पृ० ८९२।

तत्कर्षं तत्र तापोऽभ्यस्यमानः परां काष्ठां गच्छेत्। अत्यन्ततापे प्रत्युत पाथसः परिक्षयात्। ज्ञानं तु जीवस्य सहजो धर्मः स्वाश्रये च विशेषमाधत्ते। तेन तस्य निरन्तराभ्यासाहितातिशयोल्लसदुत्तर-विशेषाधानात् प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तिर्न्यायोक्ता। एतेन 'लङ्घनाभ्यास' इत्यादि निरस्तं, लङ्घनस्यासहज-धर्मत्वात्, [1]स्वाश्रये च विशेषानाधानात्, प्रत्युत तेन सामर्थ्यपरिक्षयादिति।

§ ५७. तथा जलधिजलपलप्रमाणादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वात्[2], घटादिगतरूपादि-विशेषवत्। न च प्रमेयत्वमसिद्धं, अभावप्रमाणस्य व्यभिचारप्रसक्तेः। तथाहि—प्रमाणपञ्चकाति-क्रान्तस्य हि वस्तुनोऽभावप्रमाणविषयता भवताभ्युपगम्यते। यदि च जलधि[3]जलपलप्रमाणादिषु

समाधान—पदार्थके स्वाभाविक धर्मोंका ही अभ्यासके द्वारा पूर्ण विकास होता है। जो धर्म अन्य सहकारियोंकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेके कारण आगन्तुक हैं उनमें पूर्ण प्रकर्षका कोई खास नियम नहीं है। जलमें जो गरमी आती है वह उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है किन्तु अग्निके सम्बन्धसे होनेवाला एक आगन्तुक किरायेसे बसा हुआ बाहरी धर्म है। अतः वह बढ़ते-बढ़ते अपनी चरम सीमा—अग्नि रूप तक कैसे पहुँच सकता है? बल्कि पानीको अधिक तपानेसे उसका समूल नाश हो जायेगा, वह सूखकर हवा हो जायेगा। सुवर्णको तपानेसे उसमें शुद्धि आती है यह शुद्धि उसका स्वाभाविक धर्म है अतः उसकी चरम सीमा सौटंची सोनेमें प्रकट हो जाती है। इसी तरह ज्ञान जीवका निजी धर्म है अतः वह अपने आश्रय—आत्मामें विशेषता उत्पन्न करता है। वह सतत अभ्यास करनेसे तथा ध्यान आदि उपायों से क्रमिक विकास को पाता हुआ अन्तमें समस्त जगत्को साक्षात्कार करनेवाला हो जाता है। यही ज्ञानके विकासकी चरम सीमा है। इस विवेकसे आपकी 'ऊँचा कूदनेका अभ्यास करनेपर भी कोई सौ योजन नहीं कूद सकता' इस शंकाका भी समा-धान हो जाता है। ऊँचा कूदना, लाँघना आत्माका या शरीरका स्वाभाविक धर्म नहीं है। ऊँचा कूदनेसे आत्मामें कोई विशेषता नहीं आती, बल्कि यदि शक्तिसे बाहर कूदने की कोशिश की जाती है तो दम ही टूट जाता है और हाथ पैर टूटनेका भी पूरा-पूरा अन्देशा है रहता। ऊँचा कूदनेमें तो शरीरका हलकापन तथा फुरती विशेष रूपसे अपेक्षित है, अतः शरीरके हिसाबसे जो जितना कूद सकता है उसका उस हद तक कूद लेना ही उसका चरम विकास है। अधिक लाँघनेसे शरीरका विकास न होकर उसका ह्रास शुरू हो जाता है। अतः ज्ञानका चरम विकास मानना युक्तियुक्त है।

§ ५७. तथा, 'समुद्रके जलकी बाजिबी तौल किसीको प्रत्यक्षसे प्रतिभासित होती है, क्योंकि वह प्रमेय है जैसे कि घट आदिमें रहनेवाले उसके रंग रूप आदि।' इस अनुमानसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि होती है। समुद्रमें कितने मन पानी है यह तौल प्रमेय-प्रमाणका विषय तो अवश्य है। आखिर उसके जल की एक एक रत्ती तक की बारीक तौल है तो अवश्य, अतः 'जो चीज सत् होती है वह किसी न किसी प्रमाणका विषय भी होती ही है' इस नियमके अनुसार समुद्र की तौल में प्रमेयत्व हेतु असिद्ध नहीं है। मान लो कि, समुद्रके जलकी तौलको हम लोग प्रत्यक्ष अनुमान आदि पाँच प्रमाणोंसे नहीं जान सकते तो कमसे कम अभाव प्रमाणके द्वारा उसका अभाव तो जान सकते हैं। तब भी समुद्रके जलकी तौल अभाव प्रमाणका विषय होनेसे प्रमेय सिद्ध हो जाती है। यह तो आप स्वयं ही मानते हैं कि 'जो वस्तु सद्भावग्राही प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाणोंका विषय नहीं होती वह अभाव प्रमाणका विषय होती है'। अतः यदि समुद्रके जल की तौल अन्ततोगत्वा अभाव

---

१. स्वाश्रये विशेषानाधानाच्च प्र-भ० २। २. "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेय-त्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥" —आप्तमी० ५। "ततोऽन्तरितदूरत्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा। प्रमेयत्वाद्यथाऽस्मादृक् प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः ॥ ८८ ॥" —आप्तप० श्लो० ८८। ३. —जलप्रलयप्र —भ० २।

प्रमाणपञ्चकाविशेषात्तत्रापि तदभावः स्यात्, तथा तेष्वप्यभावप्रमाणविषयता स्यात् । न चात्र [1]तत्त्वेऽपि सा संभाविनीति । यस्य च प्रत्यक्षाः, स भगवान् सर्वज्ञ इति ।

§ ५८. तथास्ति [2]कश्चिदतीन्द्रियार्थसार्थसाक्षात्कारी, अनुपदेशालिङ्गाविसंवादिविशिष्ट-विदेशकालप्रमाणाद्यात्मकचन्द्रादिग्रहणाद्युपदेशदायित्वात् । यो यद्विषयेऽनुपदेशालिङ्गाविसंवाद्युपदेशदायी तत्साक्षात्कारी यथास्मदादिः, अनुपदेशालिङ्गाविसंवाद्युपदेशदायी च कश्चित् तस्मात्तत्साक्षात्कारी, तथाविधं च श्रीसर्वज्ञ एवेति ।

§ ५९. यच्चोक्तं 'प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेः सर्वज्ञस्याभावप्रमाणगोचरत्वम्; तदपि वाङ्मात्रम्; प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेरसंभवात् । सा हि [3]बाधसद्भावत्वेन स्यात्, न च सर्वज्ञे बाधकसंभवः ।

प्रमाणका ही विषय हुई तब भी वह प्रमेय तो हुई ही। यदि समुद्रके जलकी तौलमें प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंकी अप्रवृत्ति रहने पर भी अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति न हो तो अभाव प्रमाण व्यभिचारी हो जायेगा, उसका यह नियम टूट जायेगा कि 'जहाँ प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण प्रवृत्त नहीं होंगे वहाँ मैं प्रवृत्ति करूँगा'। इस तरह जब समुद्रके जलकी तौल प्रमेय है तब उसका किसी न किसी महापुरुषको साक्षात्कार अवश्य होगा। और जिसको उसका साक्षात्कार है वही सर्वज्ञ है।

§ ५८. तथा, 'कोई आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाला है, क्योंकि वह शास्त्र तथा अनुमापक हेतुओंकी सहायताके बिना ही चन्द्रग्रहण आदि ज्योतिर्विद्याका यथार्थ उपदेश देता है। इस दिन इतने बजकर इतने मिनट होनेपर खग्रास या अपूर्णग्रास आदि रूपसे भावि चन्द्रग्रहणका उपदेश अतीन्द्रियज्ञानके बिना नहीं हो सकता। जो जिस विषयका शास्त्र या लिंगकी सहायताके बिना अविसंवादी उपदेश देता है वह उस पदार्थका साक्षात्कार करनेवाला होता है, जैसे किसी घट आदिको प्रत्यक्ष देखकर उसका यथावत् वर्णन करनेवाले हम लोग। बिना किसी शास्त्रकी सहायताके तथा अनुमान करनेवाले हेतुओंकी मददके बिना भावी चन्द्रग्रहण आदिका दिन घण्टा मिनट खग्रास आदि नियत रूपसे उपदेश देनेवाला कोई आत्मा इस जगत्में है, अतः वह उन भावि अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार अवश्य करता है। सर्वप्रथम ज्योतिष विद्याका साक्षात् उपदेश देनेवाले जिनेन्द्रदेव हैं अतः वे अतीन्द्रिय पदार्थोंके देखनेवाले सर्वज्ञ हैं।' इस अनुमानसे भी सर्वज्ञ सिद्ध होता है।

§ ५९. आपने जो पहले कहा था कि—'चूँकि सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण नहीं हैं अतः अभावप्रमाणके द्वारा उसका अभाव ही सिद्ध होता है' वह युक्तिशून्य है केवल प्रलाप मात्र है; क्योंकि जब अनुमान प्रमाण सर्वज्ञकी सत्ता ठोक-बजाकर सिद्ध कर रहा है तब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंकी अप्रवृत्ति कैसे कही जा सकती है? प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंकी अप्रवृत्ति तो उस पदार्थमें होती है जिसमें इन प्रमाणों-द्वारा बाधा आती हो। सर्वज्ञमें तो कोई भी प्रमाण बाधा देनेवाला नहीं मिलता। उसकी सत्ता निर्बाध है। आप ही बताइए कौन ऐसा प्रमाण है जो सर्वज्ञका बाधक होता हो—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, या अर्थापत्ति? 'सर्वज्ञका प्रत्यक्ष

---

१. तेष्वपि म० २। २. "मुख्यमाद्यर्षोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः। परोपदेशलिङ्गाज्ञानपेक्षाविशेषत्वतः ॥९॥" —तत्त्व० श्लो० पृ० ११। "मुख्यान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः अनुपदेशलिङ्गान्वयव्यतिरेकपूर्विकाविसंवादिनष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखग्रहोपरागाद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्तेः।" —बृहत्स्व० सिद्धि० पृ० १३०। "यो यद्विषयानुपदेशालिङ्गान्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनानुक्रमकर्ता स तत्साक्षात्कारी यथा अस्मदादिर्यथोक्तज्वलज्ज्योत्स्यादिविषयवचनरचनानुक्रमकारी तदृष्टा नष्टमुष्ट्यादिविषयानुपदेशलिङ्गान्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनरचनानुक्रमकर्ता च कश्चिद्विमत्यधिकरणभावापन्नः पुरुष इति।" —लघुसर्वज्ञसि० पृ० १०७। सन्मति० टी० पृ० ६५। न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २९७। ३. बाधकत्वेन म० १, म० २, प० १, प० २, क०। आप्तमी० वृ० पृ० ४।

तथाहि—[1]तद्बाधकं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमः, उपमानम्, अर्थापत्तिर्वा। तत्राद्यः पक्षो न श्रेयान्;[2] यतो यदि प्रत्यक्षं वस्तुनः कारणं[3] व्यापकं वा स्यात्, तदा तन्निवृत्तौ वस्तुनोऽपि निवृत्तिर्युक्तिमती, वह्न्यादिकारणवृक्षत्वादिव्यापकनिवृत्तौ धूमत्वादिशिंशपात्वादिनिवृत्तिवत्। न चार्थस्याव्यक्षं कारणम्, तदभावेऽपि देशादिव्यवधानेऽर्थस्य भावात्। नापि व्यापकम्; तन्निवृत्तावपि देशादिविप्रकृष्टवस्तूनामनिवर्त्तमानत्वात्। न चाकारणाव्यापकनिवृत्ता वप्यकार्या[4]व्याप्यनिवृत्तिरूपपन्ना, अतिप्रसक्तेरिति।

§ ६०. नाप्यनुमानं[5] तद्बाधकम्; धर्मिसाध्यधर्मसाधनानां स्वरूपासिद्धेः। तत्र हि धर्मित्वेन किं सर्वज्ञोऽभिप्रेतः, सुगतादिः, सर्वपुरुषा वा। यदि सर्वज्ञः, तदा किं तत्र साध्यमसत्त्वम्, असर्वज्ञत्वं

नहीं होता इसलिए प्रत्यक्ष ही सर्वज्ञका बाधक है' इस प्रकार प्रत्यक्षको बाधक कहना समुचित नहीं है; क्योंकि यदि प्रत्यक्ष वस्तुका कारण या वस्तुका व्यापक होता तभी उसकी निवृत्ति होनेसे वस्तुका अभाव किया जा सकता है। जिस प्रकार धूमका कारण अग्नि है अतः अग्निकी निवृत्ति होनेपर धुएँका अभाव देखा जाता है। वृक्षत्व सीसोन नीम आदि सभी विशेष वृक्षोंमें पाया जानेसे शिंशपा आदिका व्यापक है अतः वृक्षत्व रूप व्यापक धर्मके अभावमें सीसोन आदि वृक्षविशेषोंका अभाव होता है, उसी तरह यदि प्रत्यक्ष वस्तुका व्यापक या कारण होता तो अवश्य ही प्रत्यक्ष न होनेसे वस्तुका अभाव होता परन्तु प्रत्यक्ष न तो पदार्थका कारण ही है और न व्यापक ही। प्रत्यक्षके अभावमें भी दूर देशमें पदार्थका सद्भाव देखा जाता है अतः प्रत्यक्ष पदार्थका कारण नहीं है तथा प्रत्यक्षकी निवृत्ति होनेपर भी दूरदेशवर्ती पदार्थोंकी निवृत्ति नहीं देखी जाती अतः वह पदार्थका व्यापक भी नहीं है। जब प्रत्यक्ष पदार्थका कारण या व्यापक नहीं है तब प्रत्यक्षकी निवृत्तिसे अर्थात् सर्वज्ञकी प्रत्यक्षता न होनेसे—सर्वज्ञ रूप पदार्थका अभाव कैसे माना जा सकता है? जो वस्तु कारण या व्यापक नहीं है उसकी निवृत्तिसे यदि जो कार्य या व्याप्य नहीं है ऐसे पदार्थकी निवृत्ति मानी जाय तो अतिप्रसङ्ग अर्थात् अव्यवस्था दोष आता है। अर्थात् घटकी निवृत्तिमें भी सुमेरुपर्वतकी निवृत्ति होनी चाहिए।

§ ६०. अनुमान भी सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि बाधक अनुमानमें आप किसे धर्मी बनाओगे, क्या साध्य रखोगे तथा किसे हेतु बनाओगे यही अनिश्चित है। धर्मी साध्य तथा हेतुके स्वरूपका निश्चय किये बिना तो अनुमान हो ही नहीं सकता। बताइए—आप सर्वज्ञको धर्मी बनायेंगे या बुद्ध आदिको, अथवा सभी पुरुषों को? सर्वज्ञको धर्मी बनानेपर आप उसको

---

१. "अतीन्द्रियार्थदर्शिनो हि बाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानादि, अभावो वा स्यात्?" —न्याय-कुमु० पृ० ८९। २. "न तावत् प्रत्यक्षं बाधकम्, तस्यातद्विषयत्वात्। —तत्त्वसं० प० पृ० ८४८। ३. "कारणं व्यापकाभावे निवृत्तिश्चेह युज्यते। हेतुमद्व्यापकत्वेऽस्मादुपलब्धेरेकभावतः ॥ ३२७१ ॥ कृतानुपादभावे धूमाद्यादिनिवृत्तिवत्। अन्यथाऽहेतुतैव स्यादगमानार्थं च प्रसज्यते ॥३२७२॥"—तत्त्वसं० प० पृ० ८५१। ४. —भावकार्यो—स० १, प० १, प० २, क०। ५. —व्यापकनि—प० १, प० २। ६. "नाप्यनुमानम्, धर्मि-साध्यसाधनानां स्वरूपाप्रसिद्धेः, तद्बाधके ह्यनुमाने धर्मित्वेन, सर्वज्ञोऽभिप्रेतः, सुगतः, सर्वपुरुषा वा? यदि सर्वज्ञः; तदा किं तत्र साध्यम्-असत्त्वम्, असर्वज्ञत्वं वा। यद्यसत्त्वम्; किं तत्र साधनम्-अनुपलम्भः, विरुद्धविधिः, वक्तृत्वादिकं वा। यद्यनुपलम्भः; स किं सर्वज्ञस्य, तत्कारणस्य, तत्कार्यस्य, तद्व्यापकस्य वा। यदि सर्वज्ञस्य सोऽपि किं स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा। स्वसम्बन्धी चेत्; सोऽपि किं निर्विशेषणः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणो वा?" —न्यायकुमु० पृ० ९१। स्या० रत्ना० पृ० ३८२। "किं स्वोपलम्भनिवृत्तिस्तया सर्वज्ञाभावसिद्धयेऽनुपलम्भोऽभिप्रेतः। आहोस्वित्सर्वपुरुषोपलम्भनिवृत्तिर्वा। अनुपलम्भोऽपि किं निर्विशेषणोऽभीष्ट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येत्येतस्य विशेषणस्यानाश्रयणात्। आहोस्वित् सविशेषण इति।" —तत्त्वसं० प० पृ० ८५०।

वा ? यद्यसत्त्वम्; किं तत्र साधनमनुपलम्भः, विरुद्धविधिः, वक्तृत्वादिकं वा । यद्यनुपलम्भः किं सर्वज्ञस्य, उत तत्कारणस्य; तत्कार्यस्य, तद्व्यापकस्य वा । यदि सर्वज्ञस्य; सोऽपि किं स्वसंबन्धी परसंबन्धी वा । स्वसंबन्धी 'चेन्निविशेषणः, उत उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणो वा । आद्ये पक्षे चित्तविशेषादिभिरनैकान्तिकः 'अनुपलम्भात्' इति हेतुः, तेषामनुपलम्भेऽप्यसत्त्वानभ्युपगमात्[1] । नाप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणः; सर्वत्र सर्वदा च सर्वज्ञाभावसाधनस्याभावप्रसङ्गात् । न हि सर्वथाप्यसत उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटते, क्वचित्कदाचित्सत्त्वोपलम्भाविनाभावित्वात्तस्य । एतेन परसंबन्धिपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः । किं च असिद्धः सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भः; असर्वविदा प्रतिपत्तुमशक्य-

असत्ता सिद्ध करेंगे या उसमें असर्वज्ञता साधेंगे ? यदि आप सर्वज्ञकी असत्ता सिद्ध करना चाहते हैं, तब आप अनुपलम्भको हेतु बनायेंगे या विरुद्ध विधिको अथवा वक्तृत्व आदिको ? यदि सर्वज्ञकी असत्ता सिद्ध करनेमें अनुपलम्भ हेतुका प्रयोग किया जाता है तब यह जानना जरूरी है कि यह अनुपलम्भ सर्वज्ञका है या उसके कारणोंका है अथवा उसके कार्यका है, किंवा उसके व्यापक धर्मका है ? यदि सर्वज्ञकी असत्ता सिद्ध करनेमें सर्वज्ञका ही अनुपलम्भ हेतुरूपमें उपस्थित किया जाता है; तब यह बताइए कि जिसको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है खुद आपको, या संसारके सब प्राणियोंको ? यदि आप अपनेको होनेवाले सर्वज्ञके अनुपलम्भसे सर्वज्ञका अभाव मानते हैं; तब यह जानना जरूरी है कि—यह अनुपलम्भ साधारण अनुपलम्भ है अथवा दृश्य—दिखनेलायक पदार्थका है । साधारण अर्थात् किसी दूरत्व आदि विशेषण रहित—अनुपलम्भसे सर्वज्ञका अभाव नहीं किया जा सकता; क्योंकि 'इस समय देवदत्तके मन में क्या बात है' इसको यज्ञदत्तका कोई भी प्रमाण नहीं जानता परन्तु इस अनुपलम्भसे देवदत्तकी चित्तवृत्तिका अभाव तो नहीं हो सकता । दृश्य पदार्थकी अनुपलब्धि किसी खास देशमें या किसी विशेष समयमें ही वस्तुका अभाव साध सकती है सब देशों और सब समयोंमें नहीं । जैसे दृश्य घड़ेकी अनुपलब्धि घड़ेके अभावको किसी खास जगह या किसी विशेषके समयमें ही बता सकती है वह घड़ेका सर्वथा तीनों काल या तीनों लोकोंमें अभाव सिद्ध नहीं कर सकती । आप ही सोचो जिस वस्तुका सर्वथा अभाव होगा वह दृश्य—दृष्टिगोचर होनेके योग्य कैसे हो सकती है । दृश्य कहनेका मतलब ही है कि वह कभी न कभी कहीं न कहीं उपलब्ध होती है, उसकी सत्ता है । इसलिए दृश्यानुपलब्धिके द्वारा सर्वज्ञका अत्यन्त लोप नहीं किया जा सकता । हाँ, इतना कर सकते हैं कि 'इस समय और यहाँ सर्वज्ञ नहीं हैं' । इसी तरह दृश्य पदार्थकी सब प्राणियोंको अनुपलब्धि हो नहीं सकती । वह किसी न किसीको उपलब्ध होगा ही । सर्वज्ञ जैसा सचेतन पदार्थ यदि अन्य किसीको उपलब्ध न भी हो पर खुद अपने आपको तो उपलब्ध होगा ही, अतः किसी भी दृश्यपदार्थकी सब प्राणियोंको अनुपलब्धि नहीं हो सकती । और आप यह कैसे जानेंगे कि—संसारके समस्त प्राणी सर्वज्ञको नहीं जानते ?' किसी भी असर्वज्ञके लिए 'सबको सर्वज्ञकी अनुपलब्धि है' यह जानना नितान्त असंभव है । जबतक संसारके समस्त प्राणियोंका तथा उनके ज्ञानोंका एक-एक करके यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तबतक 'इन समस्त प्राणियोंके ज्ञानोंमें सर्वज्ञ प्रतिभासित नहीं होता' यह जानना असम्भव है । जैसे दर्पणको जाने बिना दर्पणमें आये हुए प्रतिबिम्बका देखना असम्भव है ठीक उसी तरह सब आदमियोंके ज्ञानोंको जाने बिना उसमें आये हुए सर्वज्ञके अभावका प्रतिबिम्ब नहीं जाना जा सकता । जिस बुद्धिमान् मनुष्यको यह स्पष्ट मालूम हो रहा है कि—'ये संसारके समस्त प्राणी सर्वज्ञको नहीं जान रहे हैं' बस वही बुद्धिमान् सर्वज्ञ है । इसी तरह सर्वज्ञताके कारणोंकी अनुपलब्धि होनेसे सर्वज्ञका अभाव होना भी अत्यन्त दुष्कर है; क्योंकि सर्वज्ञतामें कारण है ज्ञानावरण आदि प्रतिबन्धक कर्मोंका समूल नाश । सो

१. चेन्निविशेषेण, उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषेण वा म० २ । २. -गमनात् म० २ ।

त्वात्[1]। न खलु सर्वविषयं तज्ज्ञानानां चाप्रतिपत्तौ तत्संबन्धो सर्वज्ञानुपलम्भः प्रतिपत्तुं शक्यः[2]। नापि कारणानुपलम्भः, तत्कारणस्य[3] ज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयस्यानुमानेनोपलम्भात्। [4]एतत्साधकं चानुमानं, युक्तयश्चाग्रे वक्ष्यन्ते।

§ ६१. कार्यानुपलम्भोऽप्यसिद्धः, तत्कार्यस्याविसंवाद्यागमस्योपलब्धेः।

§ ६२. व्यापकानुपलम्भोऽप्यसिद्धः, तद्व्यापकस्य सर्वार्थसाक्षात्कारित्वस्यानुमानेन प्रतीतेः। तथाहि—[5]अस्ति कश्चित्सर्वार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धकं तत्तत्साक्षात्कारि, यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनं रूपसाक्षात्कारीति नानुपलम्भादिति साधनं सर्वज्ञाभावं साधयति।

§ ६३. विरुद्धविधिरपि साक्षात्परंपरया वा सर्वज्ञाभावं [6]साधयेत्। प्रथमपक्षे [7]सर्वज्ञत्वेन साक्षाद्विरुद्धस्यासर्वज्ञत्वस्य [8]क्वचित्कदाचिद्विधानात्सर्वत्र [9]सर्वदा वा। [10]तत्राद्यपक्षे न सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावः सिध्येत्, यत्रैव हि तद्विधानं तत्रैव तदभावो नान्यत्र। न हि क्वचित्कदाचिदग्नेर्विधाने

इन कर्मोंका समूल नाश तो हो ही सकता है। जब हम इन कर्मोंके नाशका चढ़ाव-उतार देखते हैं तथा ये कर्म जब आये हैं, आगन्तुक हैं; स्वाभाविक नहीं हैं; तब इनका प्रतिपक्षीके मिलनेपर अत्यन्त नाश तो उसी तरह हो जायेगा जैसे कि गरमीके आनेसे ठण्डकका। 'कर्म अत्यन्त नष्ट होते हैं' इसकी सिद्धि आगे की जायेगी।

§ ६१. सर्वज्ञके कार्यकी अनुपलब्धिसे उसका अभाव करना भी केवल मनसूबे बाँधना ही है; क्योंकि सर्वज्ञका सबसे बड़ा तथा ठोस कार्य है उसके द्वारा रचा गया अविसंवादी आगम।

§ ६२. सर्वज्ञके व्यापक धर्मकी अनुपलब्धि भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि सर्वज्ञका व्यापक धर्म है समस्त पदार्थोंका यथार्थ साक्षात्कार करना। सो यह निम्नलिखित अनुमानके द्वारा प्रसिद्ध है ही।—कोई व्यक्ति सकल पदार्थोंका यथावत् साक्षात्कार करता है, क्योंकि उसका सकल पदार्थोंके जाननेका स्वभाव है तथा उसके ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्म नष्ट हो गये हैं, जिसका जिस पदार्थको जाननेका स्वभाव है तथा यदि वह तद्विषयक प्रतिबन्धकोंसे शून्य है तो वह अवश्य ही उस पदार्थको जानता है। जैसे आँखका रूपको देखनेका स्वभाव है और यदि उसमें कोई तिमिर आदि रोग न हों तथा अन्धकार आदि रुकावटें न हों तो वह अवश्य ही रूपको देखती है। इस अनुमानसे सर्वज्ञके सर्वसाक्षात्कारित्व रूप व्यापक धर्मकी सिद्धि होती है अतः व्यापक धर्मकी अनुपलब्धिसे सर्वज्ञका अभाव नहीं किया जा सकता।

§ ६३. विरुद्ध विधि अर्थात् सर्वज्ञसे विरुद्ध असर्वज्ञकी विधि भी सर्वज्ञका अभाव नहीं कर सकती; क्योंकि उस समय सर्वज्ञको साक्षात् विरोधी असर्वज्ञका विधान करके सर्वज्ञका अभाव किया जायेगा, अथवा सर्वज्ञको परम्परासे विरोध करनेवाले अन्य किसी पदार्थका विधान करके? यदि सर्वज्ञका सीधा विरोध करनेवाले असर्वज्ञका विधान करके उसकी सत्ताका लोप किया जाता है; तब यह प्रश्न होगा कि—ऐसे असर्वज्ञका किसी खास देश या विशेष समयमें विधान किया जायेगा या तीनों काल और तीनों लोकोंमें? यदि असर्वज्ञका किसी देश विशेष या किसी खास

---

१. "सर्वसंबन्धिसर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम्। न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत्॥" त० श्लो० पृ० १४। २. नापि तत्कारणा म० २। ३.—यज्ञाना—म० २। ४. अतस्तत्सा—म० २। ५. "तथाहि—कश्चिदात्मा सकलार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावकत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्।" —न्यायकुसु० ९१। प्रमेयक० २५५। स्या० रत्ना० पृ० १७०। प्रमेयरत्नमा० २।१२। ६. साधयति म० १, प० १, प० २, आ०, क०। "नापि विरुद्धविधिः यतः साक्षात्, परम्परया वा विरुद्धस्य विधिः सर्वज्ञाभावं प्रसाधयेत्।" —न्यायकुसु० पृ० ९२। ७. सर्वज्ञेन म० २। ८.—स्यासर्वज्ञस्य—म० २। ९. सदा वा म० २। १०. तत्रादिपक्षे म० २।

सर्वत्र सर्वदा वा तद्व्यापकविरुद्धशीताभावो दृष्टः । द्वितीयोऽप्ययुक्तः, अर्वाग्दृशः सर्वत्र सर्वदा वा सर्वज्ञत्वविरुद्धासर्वज्ञत्वविधेरसंभवात्. तत्संभवे च तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तेः सिद्धं नः समीहितम् ।

§ ६४. परम्परयापि किं तद्व्यापकविरुद्धस्य, तत्कारणविरुद्धस्य तत्कार्यविरुद्धस्य वा विधिः सर्वज्ञाभावसाधनाविर्भावयेत्[1] । न तावद्व्यापकविरुद्धविधिः,[2] स हि सर्वज्ञस्य व्यापकमखिलार्थसाक्षात्कारित्वं तेन विरुद्धं तदसाक्षात्कारित्वं नियतार्थग्राहित्वं वा तस्य च विधिः क्वचित्कदाचित्तदभावं साधयेन्न पुनः सर्वत्र सर्वदा वा, तुषारस्पर्शव्यापकशीतविरुद्धाग्निविधानात् क्वचित्कदाचित्तुषारस्पर्शनिषेधवत् । कारणविरुद्धविधिरपि क्वचित्कदाचिदेव सर्वज्ञाभावं साधयेत्[3], न सर्वत्र । सर्वज्ञत्वस्य हि कारणमशेषकर्मक्षयः, तद्विरुद्धस्य [4]कर्मोदयस्य च विधिः क्वचित्कदाचिदेव सर्वज्ञा-

---

समयके लिए विधान किया जाता है; तब उससे सर्वज्ञका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। जहाँ जिस समय असर्वज्ञकी विधि रहेगी वहाँ उस समय ही सर्वज्ञका अभाव किया जा सकता है, दूसरे देश तथा दूसरे समयमें नहीं। अपने मकानकी एक कोठरीमें आग सुलगानेसे सारे संसारमें या वहीं हमेशाके लिए तो शीतका अभाव नहीं हो सकता। जहाँ और जब आग सुलगाओगे वहीं और तभी ठण्डक नष्ट होगी। असर्वज्ञके लिए तीनों लोक तथा तीनों कालका पट्टा लिख देना हम जैसे असर्वज्ञोंका कार्य नहीं है; क्योंकि असर्वज्ञकी त्रैकालिक तथा सार्वत्रिक जिम्मेवारी तो वही व्यक्ति ले सकता है जिसे तीनों काल तथा लोकोंका यथावत् परिज्ञान हो। और यदि ऐसा कोई त्रिकाल-त्रिलोकज्ञ मिलता है, तो बड़ी खुशीकी बात है। हमारा भी तो मतलब त्रिकालत्रिलोकको जाननेवाले सर्वज्ञसे ही है। हमारे लिए तो वही सर्वज्ञ है।

§ ६४. सर्वज्ञका परम्परासे विरोध करनेवाले पदार्थोंका विधान करके सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना भी मनके लड्डू खाने जैसा ही है। आप यह बताइए कि—आप सर्वज्ञके व्यापक धर्मका विरोध करके सर्वज्ञका लोप करोगे या सर्वज्ञके कारणका विरोध करके अथवा सर्वज्ञके कार्योंका विरोध करके ? पहला विकल्प मानकर तो सर्वज्ञका अत्यन्त अभाव नहीं किया जा सकता; क्योंकि 'सर्वज्ञका व्यापक धर्म है सकल पदार्थोंका साक्षात्कार करना, उसके सीधे विरोधी हों तो 'सकल पदार्थोंको नहीं जानना' या कुछ पदार्थोंका जानना' ये दो ही हो सकते हैं। सो इन दोनोंका विधान करके भी किसी खास देश या किसी खास समयमें ही सर्वज्ञका निषेध हो सकता है। संसारके समस्त प्राणी सदा सकल पदार्थोंको नहीं जानते या कुछ ही पदार्थोंको जानते हैं' ऐसा त्रैकालिक विधान करना तो असर्वज्ञके वशकी बात नहीं है। वह तो अपने परिचित लोगोंमें ही ऐसा विधान कर सकता है, अतः जहाँ और जिस समयके लिए उन दोनोंका विधान किया जायेगा वहीं और उसी समय सर्वज्ञका निषेध हो सकता है। दूसरी जगह तथा दूसरे समयमें नहीं। देखो, तुषारका व्यापक धर्म है ठण्डक. इस ठण्डककी साक्षात् विरोधी अग्नि जब और जहाँ सुलगायी जायेगी तभी और वहीं तुषार तथा उसकी ठण्डकका लोप हो सकेगा अन्यत्र और दूसरे समयमें नहीं। इसी तरह सर्वज्ञके कारणोंके विरोधीका विधान करके भी सर्वज्ञका क्वचित् तथा किसी खास समयमें ही निषेध किया जा सकता है तीनों लोकोंमें सदाके लिए नहीं। सर्वज्ञताका कारण है सर्वज्ञताको रोकनेवाले ज्ञानावरण आदि कर्मोंका नाश, इसका सीधा विरोधी है उन कर्मोंका सद्भाव। सो इन ज्ञानावरण आदि कर्मोंके सद्भावका विधान भी जिस आत्मामें जिस समय किया

---

१. –माविशेत् आ०, क० । २. –धिः सर्व–म० २ । "यद्वा–अर्वान्तरस्य साक्षात्कारस्वयेन वा विरुद्धस्यैव विधानात्तन्निषेधः, नाविरुद्धस्य, तस्य तत्सहभावसंभवात् । यथा–नास्त्यत्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति साक्षाद्विरुद्धस्य वह्नेर्विधानाच्छीतस्पर्शनिषेधः, तद्वत्सर्वज्ञनिषेधेऽपि स्यात्....।"—तत्त्वसं० पृ० ८५२ । न्यायकु० पृ० ९२ । ३.–दा तुषा–म० २ । ४. –येत् सर्वत्र सर्वथा सर्व–म० २ । ५. कर्मोदयस्य म० २ ।

भावसाधकः, रोमहर्षविकारणशीतविरुद्धाग्निविधानात् क्वचित्कदाचिच्छीतकार्यरोमहर्षादिनिषेधवत् न पुनः साकल्येन, सकलकर्मप्रक्षयस्य साकल्येन संभवाभावात्, क्वचिदप्यात्मनि तस्याग्रे प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। नापि विरुद्धकार्यविधिः, सर्वज्ञत्वेन हि विरुद्धं किंचिज्ज्ञत्वं तत्कार्यं नियतार्थविषयं वचः तस्य विधिः स च न सामस्त्येन सर्वज्ञाभावं साधयेत्। यत्रैव हि तद्विधिस्तत्रैवास्य तदभावसाधनसमर्थत्वात्, शीतविरुद्धदहनकार्यधूमविशिष्टप्रदेश एव शीतस्पर्शनिषेधवत्, तत्र विरुद्धविधिरपि [1]सर्वविषो बाधकः।

§ ६५. नापि [2]वक्तृत्वादिकम्, सर्वज्ञसत्त्वानभ्युपगमे [3]तस्यानुपपत्त्यासिद्धत्वात्, तदुपपत्तौ च स्ववचनविरोधो 'नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वादिधर्मोपेतश्चेति' तत्र सर्वज्ञस्थासत्त्वं कुतोऽपि हेतोः साधयितुं शक्यम्।

§ ६६. नाप्यसर्वज्ञत्वं साध्यं सर्वज्ञोऽसर्वज्ञ इत्येवं, विरोधस्यात्राप्यविशिष्टत्वात्।

जायेगा वही आत्मा उसी समय सर्वज्ञतासे शून्य कहा जा सकता है न कि सभी आत्माएँ सभी समयोंमें। 'सभी आत्माओंमें कर्मोंका सदा सद्भाव रहेगा' यह विधान करना तो सर्वज्ञके ही अधिकारकी बात है हम लोगोंके अधिकारकी नहीं। जैसे ठण्डमें ठिठुरनेके कारण होनेवाले रोमांच आग तापनेसे शान्त हो जाते हैं, अतः जो आदमी जब आग तापेगा तभी उसीके रोमांच शान्त होंगे सबके रोमांच सबके लिए शान्त नहीं हो सकते। हम आगे यह सिद्ध करेंगे कि कोई विशिष्ट आत्माएँ अपने योगबलसे कर्मबन्धनोंको तोड़कर निरावरण हो जाते हैं। इसी तरह सर्वज्ञके विरुद्ध असर्वज्ञके कार्योंका विधान करके भी सर्वज्ञका सर्वथा सर्वदा तथा सर्वत्र निषेध नहीं किया जा सकता। सर्वज्ञताका सीधा विरोध अल्पज्ञतासे है। अल्पज्ञताका कार्य है नियत पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले वचन। सो इनका विधान भी जिस आत्मामें जब किया जायेगा वह आत्मा उसी समय सर्वज्ञतासे रहित कहा जा सकता है। सभी आत्माएँ सब समयके लिए असर्वज्ञ नहीं। जैसे ठण्डके आग सुलगते ही समाप्त हो जाती है, अतः जहाँ और जब आगका कार्य धुँआ होगा वहीं तभी ठण्डकका निषेध किया जा सकता है, उससे सब जगह और सब समयोंमें ठण्डकका निषेध नहीं हो सकता। इस प्रकार जब विरुद्ध विधिका कोई भी प्रकार सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं कर सकता तब विरुद्ध विधि भी सर्वज्ञकी बाधक नहीं हो सकती।

§ ६५. वक्तृत्व हेतु भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है। जब सर्वज्ञकी सत्ता ही नहीं है तब सर्वज्ञका बोलना कैसा? जो आदमी अपना अस्तित्व रखता है वही तो बोलता है। यदि सर्वज्ञ है; तब उसका निषेध कैसा? 'सर्वज्ञ है भी नहीं और वह बोलता भी है' यह तो स्पष्ट ही अपने वचनका खुद ही विरोध करना है। जब वह है ही नहीं तब बोलता कौन है? यदि वह बोल रहा है तब उसका अभाव कैसे? 'उसका अभाव भी हो, और वह बोले भी' ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं बन सकतीं। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई सपूत अपनी माताको वन्ध्या कहे। इस तरह कोई भी हेतु सर्वज्ञका अत्यन्त अभाव सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

§ ६६. सर्वज्ञको धर्मी बनाकर उसमें असर्वज्ञता सिद्ध करना भी परस्पर विरोधी है। जब वह सर्वज्ञ है ही तब उसमें असर्वज्ञता कैसे सिद्ध हो सकती है? 'सर्वज्ञ भी है असर्वज्ञ भी है' ये तो परस्पर विरोधी बातें हैं।

---

१. सर्वज्ञबाधकः म० २। २. "अयं च वक्तृत्वाख्यो हेतुः 'यस्य ज्ञेयप्रमेयत्वव्यस्तुसत्त्वादिलक्षणा' इत्यत्रादिशब्देनाश्रित एवेति।" "तदत्रादिपदाश्रितो वक्तृत्वे योऽभिमन्यते। निश्चयं व्यतिरेकस्य परस्परविरोधतः ॥३३५९॥" —तत्त्वसं० पृ० ८८१। ३. एतस्या—भ० २।

§ ६७. किञ्च असर्वज्ञत्वे[1] साध्ये सर्वज्ञस्य प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वम् तद्विपरीतम्, वक्तृत्वमात्रं वा हेतुत्वेन विवक्षितम् । प्रथमोऽसिद्धो हेतुः, सर्वज्ञस्य तथाभूतार्थवक्तृत्वासंभवात् । "द्वितीयपक्षे तु विरुद्धः, वृद्धेष्टाविरुद्धार्थवक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वे[2] सत्येव संभवात् । 'तृतीयपक्षेऽप्यनैकान्तिकः, वक्तृत्वमात्रस्य सर्वज्ञत्वेन विरोधासंभवात् ।

§ ६८. एतेन सुगतादिधर्मिपक्षोऽपि प्रत्याख्यायि, प्रोक्तदोषानुषङ्गाविशेषात् । किञ्च, प्रतिनियतसुगतादेः सर्वज्ञतानिषेधेऽन्येषां तद्विधिरवश्यंभावी, विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात्, 'अयमब्राह्मणः' इत्यादिवदिति ।

§ ६९. अतः सर्वपुरुषानुररीकृत्य तेषामसर्वज्ञता वक्तृत्वादेः साध्यते; तत्र; विपक्षात्तस्य

§ ६७. अच्छा यह बताओ कि—प्रमाणविरोधी असत्य कथन करनेके कारण आप उसे असर्वज्ञ कहते हैं, अथवा सत्य कथन करनेके कारण, या 'बोलता है' इसीलिए असर्वज्ञ है' इस तरह बोलने मात्रसे ही ? पहली कल्पना तो आपकी निरी कल्पना ही है; क्योंकि जो सर्वज्ञ है वह प्रमाण-विरोधी असत्य कथन कर ही नहीं सकता । जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका उसे परिज्ञान है तथा वह वीतरागी है तब वह मिथ्या क्यों बोलेगा ? पदार्थका ठीक ज्ञान न होनेसे अथवा राग-द्वेष आदि कषायोंके कारण ही मनुष्य मिथ्याप्रलाप करते हैं, ज्ञानी और वीतरागी महात्माओंमें तो मिथ्या बोलनेका कोई कारण ही नहीं है ? दूसरा विकल्प तो विरुद्ध है । जब वह प्रामाणिक अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान आदिसे बाधित न होनेवाला सत्य कथन कर रहा है तब असर्वज्ञ कैसे होगा ? प्रामाणिक वक्तृत्व तो असर्वज्ञताका विरोधी है, वह तो सर्वज्ञताको ही सिद्ध करता है । अतः आप सिद्ध करने तो चले थे असर्वज्ञ और सिद्ध हो गया सर्वज्ञ । अतः यथार्थ वक्तृत्व तो असर्वज्ञताका विरोधी होनेसे विरुद्ध है । बोलना तो जैसे असर्वज्ञमें पाया जाता है उसी तरह सर्वज्ञमें भी रहता है । अतः बोलने मात्रसे सर्वज्ञता या असर्वज्ञता सिद्ध नहीं की जा सकती । बोलनेका सर्वज्ञतासे कोई विरोध तथा असर्वज्ञतासे कोई मित्रता नहीं है । वह तो एक साधारण चीज है । अतः बोलना मात्र व्यभिचारी होनेसे असर्वज्ञता नहीं साध सकता ।

§ ६८. इसी तरह बुद्ध आदि किसी खास व्यक्तिको धर्मी मानकर उसकी सर्वज्ञताका निषेध करनेमें भी ऊपर कहे गये सभी दूषण आते हैं । फिर, आप किसी खास सुगत या कपिलमें सर्वज्ञताका निषेध कर भी दोगे तो भी इससे सर्वज्ञताका समूल लोप तो नहीं हो सकता । जब आप यह कहोगे कि—'बुद्ध या कपिल सर्वज्ञ नहीं हैं' तो इसका अर्थ ही यह होता है कि 'इनके सिवाय कोई दूसरा व्यक्ति सर्वज्ञ है ।' किसी विशेष व्यक्तिमें किसी विशेष धर्मका निषेध करनेसे शेष व्यक्तियोंमें उस धर्मका सद्भाव अपने ही आप सिद्ध हो जाता है । जैसे ब्राह्मणोंके मुहल्लेमें चार पाँच लड़के एक साथ खेल रहे थे । उनमें-से किसी खास लड़केकी ओर इशारा करके 'यह ब्राह्मण नहीं है' यह कहनेका मतलब ही यह निकलता है कि बाकीके लड़के ब्राह्मण हैं । उसी तरह महावीर, कपिल, सुगत, शिव आदिमें-से किसी कपिल आदिमें ही सर्वज्ञताका निषेध कर उसमें असर्वज्ञता सिद्ध करनेका तात्पर्य ही यह है कि बाकीके महावीर आदि सर्वज्ञ हैं । अतः इस ढंगसे भी सर्वज्ञताका अत्यन्त निषेध नहीं किया जा सकता ।

§ ६९. 'संसारके सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे वक्ता हैं—बोलते हैं' इस तरह सभी पुरुषों को धर्मी मानकर भी असर्वज्ञता सिद्ध करना महज अज्ञानकी बुलास मिटाना ही है; क्योंकि जब बोलनेका सर्वज्ञताके साथ कोई भी विरोध तथा असर्वज्ञतासे कोई रिश्तेदारी नहीं है तब क्यों

१. "किं च, सर्वविदः प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम्, तद्विपरीतम् वक्तृत्वमात्रं वा ।"—न्याय-कुमु० पृ० ९३ । प्रमेयक० पृ० ३१६ । सन्मति० टी० पृ० ४५ । स्या० रत्ना० पृ० ३८४ । प्रमेयरत्न० पृ० ५७ । २. द्वितीयपक्षो त्रिरु—म० २ । ३. –सर्वपरिज्ञाने सत्येव म० २ । ४. –पक्षोऽप्यने– म० २ ।

व्यतिरेकासिद्धत्वात्[1] संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्[2] 'सर्वज्ञोऽपि भविष्यति वक्तापीति। तन्नानुमानं सर्वज्ञबाधकम्।

§ ७०. नाप्यागमः, स हि पौरुषेयोऽपौरुषेयो वा[3]। न तावदपौरुषेयः तस्याप्रामाण्यात्, वचनानां गुणवद्वक्तृका (त्व) धीनतया प्रामाण्योपपत्तेः। किं च अस्य कार्ये एवार्थे प्रामाण्याभ्युपगमान्न सर्वतः स्वरूपनिषेधे प्रामाण्यं स्यात्। न चाशेषज्ञाभावसाधकं किंचिद्वेदवाक्यमस्ति, "हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः" इत्यादिवेदवाक्यानां तत्प्रतिपादकानामनेकशः श्रवणात्।

उस बेचारे तटस्थ वक्तृत्वको इस झगड़ेमें घसीटा जाता है। उसके लिए तो जैसी सर्वज्ञता है वैसी ही असर्वज्ञता। आप चाहे सर्वज्ञ हों तो भी बोलेंगे, असर्वज्ञ हों तो भी बोलेंगे। इस तरह वक्तृत्व हेतु सर्वज्ञरूप विपक्षमें भी पाया जाता है या उसमें पाये जानेमें उसका कोई विरोध नहीं है अतः यह सन्दिग्धानैकान्तिक है। सर्वज्ञ होनेसे क्या किसीकी जबान बन्द हो जाती है? 'सर्वज्ञ भी रहे और बोले भी' इसमें किसी एतराजकी गुंजाइश ही नहीं है। इस विवेचनसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि कोई भी अनुमान सर्वज्ञताका बाल भी बाँका नहीं कर सकता, उसके खण्डनकी तो बात ही क्या।

§ ७०. आगमसे भी सर्वज्ञतामें कोई बाधा नहीं आती। बताओ कौन-सा आगम सर्वज्ञताका विरोध करता है—जो अपौरुषेय है, अर्थात् जिसे किसी पुरुषने नहीं बनाया किन्तु जो स्वयं सिद्ध है वह वेद सर्वज्ञताको नहीं सह सकता, या किसी पुरुष विशेषके द्वारा रचा गया पौरुषेय आगम? अपौरुषेयवेदमें जब प्रमाण ही सिद्ध नहीं है तब उसने सर्वज्ञताको बाधा होना दूरकी बात है। वचनोंमें प्रमाणता तो वक्ताके गुणोंसे आती है। गुणवान् निर्दोष वक्ता होगा तो वचन भी यथार्थ तथा प्रामाणिक होंगे, वक्ता यदि अज्ञानी या कषायवाला है तो उसके वचन भी मिथ्या तथा विसंवादी होंगे। जब वेदका कोई आप्त वक्ता ही नहीं है तब उसमें प्रमाणता कैसे मानी जा सकती है? दूसरे, आप वेदको स्वरूप प्रतिपादक ही नहीं मानते। आपका तो मत है कि—वेदका हरएक शब्द अग्निष्टोम आदि यज्ञ रूप कार्योंका ही प्रतिपादन करता है और वह कार्य अर्थमें ही प्रमाण है। वह किसीके स्वरूप प्रतिपादन या उसके निषेधमें प्रमाण ही नहीं है। वेदमें जो 'सर्वज्ञ, सर्ववित्' आदि शब्द आते हैं आप उन्हें सर्वज्ञके स्वरूपका प्रतिपादक ही नहीं मानते। आप तो कहते हो कि—ये सर्वज्ञ आदि शब्द किसी यज्ञ विशेषकी स्तुति करनेके लिए है। सर्वज्ञके स्वरूपका प्रतिपादन करने के लिए नहीं है। 'जो अग्निष्टोम या अन्य कोई विवक्षित यज्ञ करता है वही सर्वज्ञ है, वही सर्ववित् है' इस तरह किसी यज्ञ आदिकी स्तुति करना ही सर्वज्ञ आदि शब्दोंका कार्य है। इस प्रकार जब वेदका कोई भी शब्द स्वरूपार्थक नहीं है तब उसके किसी शब्दके द्वारा असर्वज्ञताका विधान या सर्वज्ञता का निषेध कैसे किया जा सकता है? फिर, सर्वज्ञताका निषेध करनेवाला कोई वेदवाक्य भी उपलब्ध नहीं है। वेदमें कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिससे सर्वज्ञताका सीधा खण्डन होता हो। बल्कि वेदमें "हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः" इत्यादि अनेकों वाक्य ऐसे मिलते हैं जो सर्वज्ञता का स्पष्ट

१. "·····उक्तदोषसंक्षयः ॥ नेत्येके व्यतिरेकोऽस्य संदिग्धाऽभिधीयते।" —प्र० वा० १।१४३। "उच्यते यदि वक्तृत्वं स्वतन्त्रं साधनं मतम्। तदानीमाश्रयासिद्धः सन्दिग्धासिद्धताऽथवा ॥३३०१॥ अस्य चार्थस्य सन्देहात्सन्दिग्धासिद्धता स्थिरा।" —तत्त्वसं० पृ० ८८३। २. वा स्यात् न भ० २। ३. —ज्ञानाभाव—भ० २। आ० क०। ४. "स सर्ववित् स लोकवित् इत्यादेः हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः इत्यादेश्च आगमस्य।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४५। "हिरण्यगर्भ। प्रकृतस्य सर्वज्ञ.।" —न्यायकुमु० पृ० ८७। सन्मति० टी० पृ० ४६। स्या० रत्ना० पृ० ३६४। शास्त्रवा० टी० पृ० ४९ पृ०। तु० सर्वज्ञसि० पृ० १३३।

§ ७१. नाप्युपमानं तद्बाधकम्[1]; सत्सदृशोपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति गोसवयवत् स्यात् । न चाशेषपुरुषाः[2] सर्वज्ञश्च केनचिद्दृष्टाः येन 'अशेषपुरुषवत्सर्वज्ञः सर्वज्ञवद्वा ते' इत्युपमानं स्यात् । अशेषपुरुषदृष्टौ च तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तिरिति ।

§ ७२. नाप्यर्थापत्तिस्तद्बाधिका[3]; सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य कस्याप्यर्थस्याभावात्, वेदप्रामाण्यस्य च सर्वज्ञे सत्येवोपपत्तेः । न हि गुणवद्वक्तृकत्वे वचसां प्रामाण्यं घटत इति न सर्वज्ञे बाधकसंभवः, तदभावे च प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तिरप्यसिद्धा ।

§ ७३. तथा यदुक्तम्—'प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्त्याभावप्रमाणविषयत्वम्; तदप्यनैकान्तिकम्[4]; हिमवत्पलपरिमाणपिशा[5]चादीनां प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तावप्यभावप्रमाणगोचरत्वाभावादिति — "प्रमाणपञ्चकं यत्र" इत्याद्यपास्तं द्रष्टव्यम् ।

रूपसे प्रतिपादन करते हैं ।

§ ७१. उपमान प्रमाणसे भी सर्वज्ञका निषेध नहीं हो सकता । जहाँ उपमान तथा उपमेय दोनों पदार्थ प्रत्यक्षसे अनुभवमें आते हैं वहाँ 'यह गवय—रोज गौके समान है' यह उपमान लगाया जा सकता है । गौ और रोज दोनों ही प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ हैं अतः वे उपमान प्रमाणके दायरेमें आ जाते हैं । पर कोई भी अल्पज्ञ व्यक्ति संसारके समस्त पुरुषोंका तथा सर्वज्ञका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, जिससे वह अमुक सर्वज्ञ हम सब प्राणियोंकी तरह है या हम सब उसके समान हैं' इस उपमानको कर सके । क्योंकि जिस क्षण भी उसने समस्त पुरुषोंका और सर्वज्ञका साक्षात्कार किया उसी क्षण वह स्वयं सर्वज्ञ हो जाता है और इस तरह सर्वज्ञतामें बाधा देने की बजाय वह उसका जीवन्त प्रमाण बन जाता है । तात्पर्य यह कि उपमान प्रमाणकी इतनी शक्ति नहीं है जो सर्वज्ञता का निषेध कर सके ।

§ ७२. अर्थापत्ति प्रमाण भी सर्वज्ञतामें बाधा देने का साहस नहीं कर सकता । यदि सर्वज्ञके अभावके साथ ही साथ सम्बन्ध रखनेवाला सर्वज्ञके अभावके बिना नहीं होनेवाला कोई पदार्थ मिलता तो उसके द्वारा सर्वज्ञका अभाव किया जा सकता था, परन्तु सर्वज्ञ भावके ही साथ रहने वाला कोई भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता । वेदमें प्रमाणता भी सर्वज्ञसे ही आ सकती है । सर्वज्ञके बिना 'इस वेद वाक्यका यही अर्थ है दूसरा नहीं' इस तरह वेदके अर्थका निर्णय होना भी असम्भव ही है । गुणवान् वक्ताके ही वचन प्रमाणभूत होते हैं । जिस वचनका प्रतिपादक गुणवान् निर्दोष पुरुष नहीं है उसमें प्रमाणताकी बात करना तो शेखचिल्लीकी कल्पना ही है । इस प्रकार अर्थापत्तिसे भी सर्वज्ञमें बाधा नहीं आ सकती ।

§ ७३. इस तरह जब प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण तो सर्वज्ञतामें बाधा नहीं देते और सर्वज्ञ-को सिद्ध करनेवाले ही अनेक अनुमान मौजूद हैं तब पाँच प्रमाणों की अप्रवृत्ति कहकर सर्वज्ञका अभाव करना सरासर आँखोंमें धूल झोंकना है । फिर यह भी तो नियम नहीं है कि 'जहाँ पाँच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति न हो उस वस्तुका अभाव होता है' । देखो, हिमालय पर्वतका कितनी रत्ती वजन है, पिशाच कितना बड़ा तथा कैसा है, इस सबमें हमारे किसी भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी

---

१. "नोपमानमशेषाणां नृणामनुपलम्भतः । उपमानोपमेयानां तद्बाधकमसम्भवात् ।" —आप्तप० श्लो० १०१ । न्यायकुमु० पृ० ९४ । तत्त्वसं पृ० ९१७ । २. सर्वज्ञाश्च म० २ । ३. "नार्थापत्तिरसर्वज्ञं जगत्साधयितुं क्षमा । क्षीणत्वादन्यथाभावाभावात्तत्तद्बाधिका ॥" —आप्तप० श्लो० १०२ । न्यायकुमु० पृ० ९४ । ४. "अभावोऽपि प्रमाणं ते निषेध्याधारवेदने । निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमञ्जसा ॥१०५॥ न चाशेषजगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते । नापि सर्वज्ञसंवित्तिः एवं तत्स्मरणं कुतः ॥१०६॥ येनाशेषजगन्न्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम् । —आप्तप० श्लो० १०५–६ । न्यायकुमु० पृ० ९५ । त० श्लो० पृ० १४ । ५. –पिशाचादिभिः तेषां प्रमाण—आ० ।

§ ७४. यच्चोक्तम्—'सर्वं वस्तुजातं केन प्रमाणेन' इत्यादि; तदप्युक्तम्; सकलज्ञानावरण-विलयोत्थाविकलकेवलालोकेन सकललोकालोकादिवस्तुवेत्तृत्वात्सर्वज्ञस्येति ।

§ ७५. यच्चोक्तं 'अशुच्यादिरसास्वादः' इत्यादि; अत्रापि परं प्रस्तुतमात्रमेव व्यनक्ति; सर्वज्ञस्यातीन्द्रियज्ञानित्वेन करणव्यापारनिरपेक्षत्वात् जिह्वेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं यथावस्थितं तटस्थतयैव वेदनं न तु भवद्वत्तद्व्यापारसापेक्षं वेदनमिति ।

§ ७६. यदप्यवादि 'कालतोऽनाद्यनन्तः संसारः' इत्यादि, तदप्यसम्यक् [1]युगपत्संवेदनात् । न च तदसंभवि दृष्टत्वात् । तथाहि—यथा स्वभ्यस्तसकलशास्त्रार्थः सामान्येन, युगपत्प्रतिभासते

गति नहीं होती फिर इससे इसका अभाव तो नहीं किया जा सकता । अतः सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिये आपका 'आँखों प्रमाण जहाँ प्रवृत्ति न करें वहाँ अभाव प्रमाणका राज्य है' इत्यादि कथन अनैकान्तिक है ।

§ ७४. आपने यह पूछा था कि—'सर्वज्ञ समस्त वस्तुओंको किस प्रमाणसे जानता है ?' सो सर्वज्ञ सभी वस्तुओंको अपने केवलज्ञान रूपी आलोक-द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे ही जानता है । केवलीने ज्ञानमें विघ्न करनेवाले जितने प्रतिबन्धक ज्ञानावरण थे उन सबका अत्यन्त नाश कर दिया है, इसलिए उसका ज्ञान अपने पूर्वरूपमें प्रकाशमान है । उसमें सभी पदार्थ ऐसे ही झलकते हैं जैसे कि निर्मलदर्पणमें सामने रखी हुई वस्तुएँ ।

§ ७५. आपका अशुचि पदार्थोंके रसास्वादनवाला कुतर्क तो बुद्धिके विपर्यासका तथा हृदयकी जलनका जीता-जागता प्रमाण है । सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न नहीं होता, वह तो अतीन्द्रिय है, आत्माका निजी पूर्ण प्रकाश है । उसे इन्द्रियोंके व्यापारकी कोई आवश्यकता नहीं है । रसका आस्वादन दूसरी चीज है तथा उसका ज्ञान एक पृथक् ही वस्तु है । आस्वादन जीभके द्वारा होता है जब कि उसके ज्ञानके लिए उसे जीभपर रखना कोई आवश्यक नहीं है । केवलीको अपने अतीन्द्रिय ज्ञानके द्वारा रसका ज्ञान होता है । आस्वादनका मजा तो रागी व्यक्ति अपनी जीभके द्वारा लेते हैं । वीतरागी अतीन्द्रियज्ञानी केवलीके विषयमें आस्वादनकी बात करना निपट मूर्खता है । जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूपमें तटस्थ भावसे अच्छी और बुरी कल्पना किये बिना केवलीको मात्र शुद्ध परिज्ञान होता है, उसका अच्छे या बुरे रूपमें दर्शन तो रागियोंके दूषित ज्ञानमें ही हुआ करते हैं । वह तो जानता है, केवल जानता ही है ।

§ ७६. आपकी 'काल तो अनन्त है, पदार्थ भी अनन्त हैं, उनका एक-एक क्षणके परिज्ञान तो अनन्तकालमें भी नहीं हो सकता' यह शंका भी अज्ञानका प्रदर्शन ही है । क्योंकि—हम पहले ही बता चुके हैं कि—केवलीका ज्ञान क्रमिक नहीं है, वह तो सभी वस्तुओंको युगपत् जानता है । जब अनेक वस्तुओंका युगपत् ज्ञान तो हम जैसे अल्पज्ञ हीनशक्तिवालोंको भी देखा जाता है, तब बिलकुल निरावरण अनन्तज्ञानवाले अनन्तशक्तिशाली केवलीको समस्त पदार्थोंका युगपत्

---

१. "तटस्थस्य हि संवित्तौ न रागित्वादिसंभवः । अनेनाशुचिरसादिवेदनेऽपि दोष उक्तः । अपवित्रत्वयोगः स्यादिन्द्रियेणास्य वेदने । कर्मजेन न चात्येन भावनाबलभाविना ॥१७६॥" —प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३० । "तस्मान्न विषयानुभवः केवल एव सुखदुःखहर्षविषादादीनादिहेतुः । किन्तु कारणान्तरसहितः । तच्च कर्मैव भवितुमर्हति ।...तच्च निरस्ताशेषदोषावरणस्य नास्तीति केवली विषयानुभवस्तस्योपेक्षामेव सर्वत्र जनयति न सुखदुःखादिकम् । निःशेषदोषावरणविश्लेषं च समर्थयिष्यामः ।" —बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १७९ । प्रमेयक० पृ० ६६० । २. "एकज्ञानक्षणव्याप्तनिःशेषज्ञेयमण्डलः । प्रसाधितो हि सर्वज्ञः क्रमो नाश्रीयते ततः ॥३६२७॥" —तत्त्वसं० पृ० ९२९ । "ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः । समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम् ॥३२९॥...इति चेष्टाक्रमेणैव सर्वार्थानां प्रवेदनात् ।" —प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३० ।

एवमशेषविशेषकलितोऽपि । [1]तथा चोक्तम्—

"यथा सकलशास्त्रार्थः स्वभ्यस्तः प्रतिभासते ।
मनस्येकक्षणेनैव तथानन्तादिवेदनम् ॥ १ ॥" [प्र० वार्तिकाल० २।२३७]इति

§ ७७. यच्चोक्तं 'अतीतानागतं' इत्यादि; तदपि स्वप्रणेतुरज्ञानित्वमेव ज्ञापयति, [2]यतो यद्यपीदानींतनकालापेक्षया तेऽतीतानागतवस्तुनी असती तथापि [3]यथातीतमतीतकालेऽवर्तिष्ट, [4]यथा च भावि वर्तिष्यते तथैव तयोः सद्भावाध्यारित्वेन न कश्चनापि दोष[5]' इति सिद्धः[6] सुखादिवस्तुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्[7] सर्वज्ञ इति ।

§ ७८. अथ दिक्पटाः प्रकटयन्ति—ननु भवतु सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सर्वज्ञसिद्धिः । किं त्वस्य कवलाहार इति न मृष्यामहे । तथाहि—केवलिनः कवलाहारो न भवति तत्का-

---

परिज्ञान होनेमें क्या बाधा है ? कहा भी है—"जैसे जिन शास्त्रोंका अच्छी तरह तलस्पर्शी अभ्यास किया है उन शास्त्रोंके सभी पदार्थ उपयोग लगाने पर एक ही साथ मनमें प्रतिभासित होते हैं उसी तरह अनन्तशक्तिशाली केवलज्ञानमें अनन्तपदार्थ युगपत् झलकते हैं ॥१॥"

§ ७७. जो आपने 'अतीत अनागत पदार्थोंको वर्तमान रूपसे जानता है या अतीत रूपसे ?' इत्यादि कुतर्क किये हैं, वे तो सचमुच ही अज्ञानके भद्दे प्रदर्शन रूप ही हैं । यद्यपि आजकी दृष्टिसे हम बीते हुए पदार्थोंको अतीत तथा आगे होनेवाले पदार्थोंको अनागत कहते हैं और वे इस समय असत् हैं विद्यमान नहीं हैं, परन्तु अतीतकालमें तो थे ही, आगे तो होंगे ही, अतः बीते हुए पदार्थोंको अतीतकालमें असत् तथा आगे होने वाले पदार्थोंको भाविकालमें तो असत् नहीं कह सकते । सर्वज्ञ तो जो वस्तु जिस समय जैसी है उसको उस समय उसी रूपमें जानता है । अतीतको अतीत रूपमें, अनागतको भावि रूपमें तथा वर्तमानको वर्तमान रूपमें ही जानता है। पदार्थकी जब जो हालत थी, है और होगी वह ठीक उसी रूपमें सर्वज्ञके ज्ञानमें झलकती है । इस तरह समस्त बाधक प्रमाणोंका निराकरण करनेसे उनकी अच्छी तरह असम्भवता सिद्ध होने पर सर्वज्ञकी सत्ता निर्बाध रूपसे उसी तरह सिद्ध हो जाती है जैसे सुखी पुरुषको 'मैं सुखी हूँ' इस स्वसंवेदनसे सुखका निर्बाध अनुभव हो कर सुखकी सत्ता सिद्ध होती है । अतः यह बेधड़क हो कर कहा जा सकता है कि—'सर्वज्ञ है, क्योंकि उसकी सर्वज्ञताके बाधक प्रमाणोंकी असम्भवता अच्छी तरह निश्चित है वह पूर्णतः निर्बाध है, जैसे कि सुखी व्यक्तिका सुख ।'

§ ७८. **दिगम्बर (पूर्वपक्ष)**—'बाधक प्रमाणोंकी असम्भवता दिखाकर सर्वज्ञकी सिद्धि करना तो उचित ही है । परन्तु सर्वज्ञ केवली भी हम लोगोंकी ही तरह कवलाहार—एक-एक ग्रास लेकर भोजन करता है यह बात नहीं जँचती । हम सिद्ध करते हैं कि—'केवली ग्रास लेकर आहार नहीं करते, क्योंकि जिन कारणोंसे प्रेरित होकर मनुष्य आहार करनेके लिए बेचैन हो जाता है तथा

---

१. यथा आ० । क० । २. ततो म० २ । ३. यथातीतं गतकाले म० २ । ४. यथा भावि च भविष्यत् काले वर्ति–म० २ । ५. "न चैकेन ज्ञानेन परिच्छिन्नानोन्येतावता वस्तूनामात्मस्वभावहानिः । येन तान्येकज्ञानपरिच्छेदवशादनन्तत्वमात्मस्वभावं जह्युः ।" "यत एवासौ पर्यन्ततया न गृह्णाति तत एव सर्वज्ञो भवति । अन्यथाऽनन्तं वस्त्वन्तवत्त्वेन गृह्णन् भ्रान्तो भवेत् ।" —तत्त्वसं० प० पृ० ९३० । न्यायकुमु० पृ० ५६ । ६. सिद्धाः स्वसंवेदनप्रत्यक्षलक्षणसुखादिवत् म० २ । ७. तदस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ॥" —लघी० स्व० श्लो० ४ । सिद्धिवि० । अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५४ । आप्तप० पृ० २२६ । त० श्लो० पृ० १८५ । प्रमाणनि० पृ० २९ । प्र० मी० पृ० १४ ।

रणाभावात्, न च कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसक्तेः। न च तत्कारणाभावोऽसिद्धः, [1]आहारादाननिदानभूते वेदनादिषट्के एकस्यापि तस्य केवलिन्यभावात्। तथाहि—न तावत्तस्य वेदनोत्पद्यते, तद्वेदनीयस्य[2] दग्धरज्जुस्थानिकत्वात्। सत्यामपि वेदनायां न तस्य तत्कृता पीडा, अनन्तवीर्यत्वात्[3]। वैयावृत्यकरणं तु भगवति त्रैलोक्यपूज्ये न संभवत्येवेति। ईर्यापथं[4] पुनः केवलज्ञाना-

जिन प्रयोजनोंसे वह भोजन करता है वे सब कारण तथा प्रयोजन केवलीमें नहीं पाये जाते। बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति मानना तो एक अलौकिक बात होगी, और इससे बड़ी अव्यवस्था हो जायगी। देखो, आहार ग्रहण करनेके लिए मनुष्य वेदना आदि छह कारणोंसे प्रवृत्त होता है। शास्त्रमें कवलाहारके ये छह कारण बतलाये हैं—१. वेदना—भूखकी पीड़ा होनेसे जब पेट और पीठ एक हो जाते हैं, भूखकी ज्वाला असह्य हो जाती है तब जिस किसी भी तरह भोजन पा लेनेकी ओर प्रयत्न होता है। २. यह सोचकर कि—'मैं भोजन करता रहूँगा तो शरीर स्वस्थ रहेगा और मैं दूसरोंकी वैयावृत्य—सेवाटहल कर सकूँगा।' ३. यह विचार कर कि—'यह भोजन करता रहूँगा तो आँखोंकी जोत ठीक रहेगी और इससे मैं अच्छी तरह देखभाल करके जाऊँगा-आऊँगा, यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करके ईर्यापथ (सावधानीसे गमन) को साध सकूँगा।' ४. यह समझकर कि 'यदि भोजन करके शरीरको स्वस्थ—कामचलाऊ हालतमें रखेंगे तो संयम तथा चारित्र आदि अच्छी तरह पाले जा सकेंगे।' ५. यह मान कर कि—'यदि आहार लेते रहेंगे तो शेष जीवनका निर्वाह सुखशान्तिसे हो जायगा, नहीं तो बेमौत असमयमें ही मरनेकी बारी आ जायगी।' ६. यह समझकर कि—'यदि थोड़ा बहुत भोजन लेते रहेंगे तो दिमाग ठीक रहेगा और उससे धर्मतत्त्वका अच्छी तरह विचार कर सकेंगे।' परन्तु केवलीके इन छह कारणोंमें-से एक भी कारण नहीं है, तब बताओ केवली अकारण ही भोजन क्यों करेंगे? आप स्वयं विचार कीजिए—केवलीके वेदना-पीड़ा तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि पीड़ामें कारण है असातावेदनीय कर्मका उदय। सो मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे बेचारा जली हुई रस्सीके समान नाचीज होकर पड़ा है। अतः जली हुई रस्सीके समान कहनेको तो वेदनीयका सद्भाव केवलीमें है, परन्तु वह असीम बलशाली केवलीमें पीड़ा उत्पन्न नहीं कर सकता। पीड़ा तो कमजोरोंको हो सकती है केवली तो अनन्तशक्तिके धनी हैं। 'दूसरोंके वैयावृत्य—सेवाटहलकी तो त्रिलोक्य पूज्य केवलीमें सम्भावना ही नहीं है। कौन ऐसा है जो जगत्पूज्य भगवान्से अपनी सेवा-चाकरी कराएगा? अच्छी तरह सावधानीसे देखभालकर चलना

---

१. "ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं। णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥६२॥"—मूलाचा० ६।६२। २. "एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ। तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि॥" —गो० कर्म० गा० २७५। "घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात्। यथा विषद्रव्यं मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मरणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्तप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावाच्चिरस्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थमिति क्षुदाद्यभावः, तत्सद्भावोपचारात् ध्यानकल्पनवत्।" —त० वा० ५।११। "अविकलसामर्थ्यं ह्यसातादिवेदनीयं स्वकार्यकारि, सामर्थ्यवैकल्यं च मोहनीयकर्मणो विनाशात्सुप्रसिद्धम्। यथैव हि पतिते सैन्यनायकेऽल्पसामर्थ्यं सैन्यस्य तथा मोहनीयकर्मणि नष्टे भगवत्यसामर्थ्यमघातिकर्मणाम्। यथा च गन्धेन निर्विषीकरणे कृते मन्त्रिणोपभुज्यमानमपि विषं न दाहमूर्च्छादिकं कर्तुं समर्थम्, तथा असातादिवेदनीयं विद्यमानोदयमप्यसति मोहनीये निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दुःखकरणे प्रभुसामग्रीतः कार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः।" —प्रमेयक० पृ० ३०३। न्यायकुमु० पृ० ८५९। रत्नक० टी०पृ० ६। प्रव० टी० पृ० २८। ३. पीड़ा स्यादनन्त—भ० २। ४. —पथः पुनः भ० १, भ० २, प० १, प० २। ५. 'नापि क्षुद्वेदना प्रतीकारार्थं; अनन्तसुखवीर्ये भगवत्यस्याः सम्भवाभावस्योक्तत्वात्।" —प्रमेयक० पृ० ३०६। न्यायकुमु० पृ० ८६०। "यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुबाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति, तथैव क्षुधा दुःखितस्य अनन्तसुखमपि नास्ति।" —प्रव० टी० पृ० २८।

करणक्षयात् सम्यग्वलोकपश्यसौ । संयमस्तु[1] तस्य यथाख्यातचारित्रिणो निष्ठितार्यत्वादनन्तवीर्यत्वाच्च नाहारकारणोभयति ।[2] प्राणवृत्तिरपि तस्यानपवर्त्यायुष्ट्वादनन्तवीर्यत्वाच्चान्यथासिद्धैव । धर्मचिन्तावसरस्त्वपगतः, निष्ठितार्यत्वात् । तदेवं केवलिनः कावलिकाहारो [3]बहुदोषदुष्टत्वान्न घटत इति ।

§ ७९. अत्रोच्यते—तत्र यत्तावदूचानम्—'तत्कारणाभावात्' इति साधनम्; तदसिद्धम्; आहारकारणस्य वेदनीयस्य केवलिनि तथैव सद्भावात् । तथा च किमिति सा शारीरी स्थितिः प्राक्तनी न स्यात् । प्रयोगोऽत्र स्यात्केवलिनो भुक्तिः समग्रसामग्रीकत्वात्[4], पूर्वभुक्तिवत् ।

आदिका उद्देश्य तो केवलज्ञानसे बखूबी सिद्ध हो सकता है । केवलज्ञानावरणी कर्म क्षय होनेसे वे जगत्को हस्तामलकवत् देखते-जानते हैं ही । केवलीके यथाख्यात (जैसा आत्माका शुद्ध रूप है उसकी प्राप्ति होना) संयम पूर्ण रूपमें विकसित हो ही चुका है, वे कृतकृत्य हैं तथा अनन्तशक्तिशाली हैं अतः संयमके उद्देशसे आहार करना भी नहीं जँचता । केवलीकी आयु—उमर अनपवर्त्य (न घटनेवाली और न बढ़नेवाली) है, अतः अकाल मौतका तो उन्हें डर ही नहीं है और अनन्तशक्तिके भण्डार होनेसे कमजोरी आदिकी भी सम्भावना नहीं है, इसलिए उनकी जीवन-यात्रा बखूबी चल सकती है । वे तो सर्वज्ञ तथा धर्म तीर्थके नेता हैं, कृतकृत्य हैं अतः धर्मचिन्ताकी फिक्रसे भी उन्हें भोजन करने की आवश्यकता नहीं है । उनको धर्मचिन्ताका समय तो गया, अब तो वे धर्मके प्रवर्तक हैं । इस तरह केवलीको कवलाहार माननेमें उनके अनन्तवीर्यकी कमी, तथा आहारकी इच्छा एवं प्रवृत्ति होनेसे रागी होनेका प्रसंग आदि अनेकों दूषण आते हैं। अतः केवलीको कवलाहारी—एक-एक कौर खाकर भोजन करनेवाला मानना किसी भी तरह उचित नहीं है ।

§ ७९. **श्वेताम्बर (उत्तरपक्ष)**—आपने सबसे बड़ा हेतु यह दिया है कि—'केवलीको भोजन करनेका कारण ही नहीं है' सो आपका यह हेतु असिद्ध है; क्योंकि भोजन करनेका सबसे प्रधान कारण है वेदनीयकर्मका उदय । सो जब वह केवलीमें उसी तरह मौजूद है जैसे कि हम लोगोंमें या केवलीको केवलज्ञान होनेसे पहले था तब क्या कारण है कि जो केवली केवलज्ञान होनेके पहले तो अच्छी तरह भोजन करता था वही केवलज्ञान होनेसे ही भोजनसे हाथ सिकोड़ लेता है ? शरीर तो आखिर शरीर ही है, उसे तो दानापानी चाहिए ही, नहीं तो यह मशीन रुक जायगी । इसलिए हम कह सकते हैं—'केवली भोजन करता है, क्योंकि भोजन करनेके सभी कारण उसमें मौजूद हैं, जैसे कि वह अपनी अल्पज्ञ अवस्थामें वेदनीय कर्मके उदयके कारण भोजन करनेके लिए प्रवृत्ति करता था उसी तरह आज भी उसे भोजन करना चाहिए, क्योंकि पहले और आजके शरीरकी स्थितिमें कोई भी फर्क नहीं हुआ है । पहले जितने कारण थे आज भी वे

१. "नापि ज्ञानादिसिद्धचर्थम्, यतो ज्ञानं तस्याखिलार्थविषयमक्षयस्वरूपम्, संयमश्च यथाख्यातः सर्वदा विद्यते ।" —प्रमेयक० पृ० ३०६ । २. "नापि आयुषोऽप्राप्तिमुक्तिकस्य अपवर्तननिवृत्त्यर्थम्, चरमोत्तमदेहानामनपवर्त्यायुष्कत्वादेव तथाविधस्यास्य अपवर्तनानुपपत्तेः ।" —न्यायकुमु० पृ० ८६३ । प्रमेयक० पृ० ३०६ । ३. द्रष्टव्यम्—प्रमेयक० पृ० २९८–३०६ । न्यायकु० पृ० ८५४–६५ । रत्नक० टी० पृ० ६ । प्रज्ञ० टी० २६ । ४. "अस्ति न केवलिभुक्तिः सामग्रहेतुर्यथा पुरा भुक्तेः । पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदयो हेतुः ॥ नष्टानि न कर्माणि क्षुधो निमित्तं विरोधिनो न गुणाः । ज्ञानादयो जिने कि सा संसारस्थितिर्नास्ति ।" —केवलिभु० श्लो० १–२ । सन्मति० टी० पृ० ६१२ । स्या० र० पृ० ४७४ । आध्यात्मिक० पृ० ६३ B. । "अस्ति केवलिनो भुक्तिः सामग्रसामग्रीकत्वात् पूर्वभुक्तिवत् । सामग्री चेयं प्रक्षेपाहारस्य, तद्यथा पर्याप्तित्वं वेदनीयोदयः आहारपक्तिनिमित्तं तैजसशरीरं दीर्घायुष्कत्वं चेति ।" —सूत्रकृ० शी० पृ० ३४५ । युक्तिप्र० पृ० १५३ ।

सामग्री चेयं पर्याप्तत्वं वेदनीयोदय आहारपक्तिनिमित्तं तैजसशरीरं दीर्घायुष्ट्वं चेति[1]। सा च समग्रापि केवलिनि समस्ति।

§ ८०. यदपि दग्धरज्जुस्थानिकत्वं वेदनीयस्योच्यते; तदप्यनागमिकमयुक्तिकं च, आगमेऽत्यन्त-सातोदयस्य केवलिनि प्रतिपादनात्[2]। युक्तिरपि, यदि घातिकर्मक्षयाज्ज्ञानाभावस्तस्य भवेयुः, वेदनीयोद्भूताया: क्षुधः किमायातं येनासौ न भवति।

§ ८१. न तयोश्छायातपयोरिव सहानवस्थानलक्षणो भावाभावयोरिव परस्परपरिहारलक्षणो वा कश्चिद्विरोधोऽस्ति सातासातयोरन्तर्मुहूर्तपरिवर्तमानतया सातोदयवदसातोदयोऽप्यस्तीत्यनन्तवीर्यत्वे सत्यपि शरीरबलापचयः क्षुदुद्भवपीडा च भवत्येव। न चाहारग्रहणे तस्य किंचित्क्षूयते केवलमाहोपुरुषिकामात्रमेवेति।

सब मौजूद हैं। भोजन करनेका सबसे बड़ा और समर्थ कारण है वेदनीय कर्मका उदय। इसके साथ ही साथ शरीरकी पूर्णता, आहारके पचानेके लिए कारणभूत तैजस शरीर-जठरका दीप्त रहना, तथा लम्बी आयु आदि भी भोजन करने की कारण सामग्रीमें शामिल हैं। ये सब कारण-कलाप केवली में पूरी तरह डटकर मौजूद हैं। अतः उन्हें भोजन करनेमें प्रवृत्ति करना सकारण उचित ही है।

§ ८०. आपने जो यह कहा था कि—'वेदनीयकर्म जली हुई रस्सीके समान निःशक्तिक है' वह आगमविरुद्ध तो है ही, युक्तिसे भी उसका समर्थन नहीं हो सकता। आगममें तो केवलीके अत्यन्त सातका उदय बताया है। यदि घातिया कर्मोंका क्षय केवलीने किया है तो उसके फल-स्वरूप उसमें केवलज्ञान आदि उत्पन्न हों, यह तो उचित ही है; पर इससे वेदनीयके उदयसे होनेवाली बेचारी भूखने क्या बिगाड़ा, जिससे उसका निषेध किया जा रहा है। जब भूखका कारण वेदनीयका उदय अभी है ही तो भूख लगनी ही चाहिए तथा उसकी शान्तिके लिए भोजन करना भी उचित ही है।

§ ८१. जिस प्रकार धूप और छाया एक दूसरेके विरोधी होनेके कारण एक साथ नहीं रह सकते उस प्रकार केवलज्ञान आदि तथा भूखमें सहानवस्थान (एक साथ नहीं रह सकना-) रूप विरोध तो है ही नहीं। ज्ञानी भी रहे तथा उसे भूख भी लगे इसमें क्या विरोध है। तथा जिस तरह भाव अभावका परिहार-निषेध करके अपनी हस्ती कायम करता है और अभाव भावको नेस्तनाबूद कर अपनी सत्ता जमाता है उस प्रकार कुछ केवलज्ञान आदि और भूखमें परस्पर-परिहारस्थिति (एकका निषेध कर दूसरेकी सत्ता होना-) रूप विरोध भी नहीं है। भूखके सद्भाव का ज्ञानके अभावसे कोई गठबन्धन नहीं है। साता और असाता रूप वेदनीयका उदय अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिटसे कुछ कम समय) में बदलता रहता है। कभी सातका उदय होता है तो कभी असाताका। अतः भले ही केवलीमें अनन्तवीर्य-अर्थात् अपरिमितशक्ति हो, पर जब असाताका उदय आयेगा तब शारीरिक बलकी कमी तथा भूखकी पीड़ा होगी ही। केवलीका आहार कर लेनेसे कुछ बिगड़ता तो है ही नहीं जिससे उसको निराहारी माननेका आग्रह किया जाये। यह तो केवल नक्कूपन ही मालूम होता है।

---

१. –नि सम–म० २। २. "न च दग्धरज्जुसंस्थानीयत्वात् तस्य स्वकार्याजनकत्वम् तत एव सातवेदनीयस्यापि स्वकार्याजनकत्वप्रसक्तेः सुखानुभवस्यापि भगवत्यभावप्रसङ्गात्। यथा च दग्धरज्जुसंस्थानोयायुष्कर्मोदयकार्यं प्राणादिधारणं भगवति तथा प्रकृतमप्यभ्युपगम्यता विशेषाभावात्।" —सन्मति० टी० पृ० ६१५। स्या० रत्ना० पृ० ४६५। ३. नोदयस्तस्य भवेत्तर्हि वेद–म० २। ४. "तम इव भासो वृद्धौ ज्ञानादीनां च तारतम्येन। क्षुद् ह्रीयलेऽत्र न च तद् ज्ञानादीना विरोधगतिः॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० ३। स्या० रत्ना० पृ० ४७४।

§ ८२. यदुच्यते—'वेदनीयस्योदीरणाभावात्' प्रभूततरपुद्गलोदयाभावः, तदभावाच्चात्यन्तं पीडाभावः' इति; तदयुक्तम्; तुर्यादिगुणस्थानकेषु वेदनीयस्य गुणश्रेणीसद्भावात्, प्रचुरपुद्गलोदये सत्यपि तत्कृतपीडाल्पत्वस्यैव दर्शनात्, जिने सातोदयवत् प्रचुरपुद्गलोदयाभावेऽपि तीव्रत्वप्रदर्शनाच्चेति ।

§ ८३. यदप्युच्यते 'आहाराकाङ्क्षा क्षुत्, सा च परिग्रहबुद्धिः, सा च मोहनीयविकारः, तस्य चापगतत्वात्केवलिनो न भुक्तिः' इति; तदसम्यक्, [1]यतो मोहनीयविपाकात् क्षुत्र भवति, तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनानिवर्त्यमानत्वात्, क्रोधादीनां तथोपरमोपलब्धेः । यदुक्तम्—"उवसमेण हणे कोहं" [दश० वै० मा० ८।३९] इत्यादि[2] । न च क्षुद्वेदनीयं सद्भिपक्षभावनया निवर्त्यमानं दृष्टम्, अतो न मोहविपाकस्वभावा क्षुदिति ।

§ ८२. **दिगम्बर**—जब वेदनीय कर्मोंको असमयमें जबर्दस्ती उदयमें लाते हैं तब अनेक कर्मोंका एक साथ उदय होनेसे पीड़ा होती है । परन्तु केवलीको जब वेदनीय कर्मों की उदीरणा- (असमयमें बलात् उदयमें लाना-) नहीं होती तब बहुत-से कर्मोंका एक ही बार उदयमें आनेके कारण होनेवाली पीड़ा भी उन्हें नहीं हो सकती । इस तरह जब भूखकी पीड़ा ही नहीं है तब आहारकी चर्चा ही निरर्थक है ।

श्वेताम्बर—'बहुत कर्मोंके उदयसे बहुत पीड़ा होती हो' ऐसा कोई नियम नहीं है । सम्यग्दृष्टि आदि चौथे आदि गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन आदिके कारण गुणश्रेणि निर्जरा अर्थात् क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है । उस समय उनके बहुत कर्मोंका एक साथ उदय होनेपर भी थोड़ी ही पीड़ा होती है । केवलीमें साता वेदनीय जातिके थोड़े ही कर्मोंका उदय पाया जाता है पर उन्हें साता तो अधिकसे अधिक होती है । अतः अधिक कर्मोंके उदयमें आनेसे अधिक पीड़ा तथा थोड़े कर्मोंका उदय होनेसे थोड़े फल मिलनेका कोई नियम नहीं है । इसलिए वेदनीय कर्मोंकी उदीरणासे ही भूखका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता । असाताका उदय ही भूख लगनेके लिए पर्याप्त प्रबल कारण है ।

§ ८३. **दिगम्बर**—भूखका सीधा अर्थ है आहारकी इच्छा । और इच्छा तो मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला एक विकार है । इच्छा आभ्यन्तर परिग्रह रूप है; क्योंकि परिग्रहका मूल कारण इच्छा ही है । अतः निर्मोही केवलीके मोहके विकार रूप आहारकी इच्छा कैसे हो सकती है । जब इच्छा ही नहीं तब भोजन करनेकी बात कहना तो सरासर जबरदस्तीकी बात है ।

श्वेताम्बर—भूख मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला विकार नहीं है वह तो असातावेदनीय के उदयसे लगती है । मोहनीय कर्मसे होनेवाले कामादि विकार तो प्रतिपक्षी ब्रह्मचर्य आदि की भावनाओंसे शान्त हो जाते हैं । क्रोध आ रहा हो तो क्षमाका विचार कीजिए, अपने आप उसका वेग कम हो जायेगा और वह धीरे-धीरे बिलकुल शान्त हो जायेगा । कहा भी है—"उपशम—शान्त विचारोंसे क्रोधको मारना चाहिए" परन्तु आप कितनी ही प्रतिपक्षी—अर्थात् आहार न करने की—भावना भाइए, पर जबतक पेटमें कुछ पहुँच न जायेगा तबतक सूखी भावनाओंसे क्षुधा शान्त होनेवाली नहीं है । पेटके लिए सद्विचार नहीं चाहिए उसे तो चाहिए है रूखा-सूखा भोजन । इसलिए जब प्रतिपक्षी भावनाओंसे भूख नहीं मिटती तो यह मानना ही होगा कि भूख

१. "अनुदीर्णवेद्य इति चेद् न क्षुदवीर्य किमत्र नहि वीर्यम् । क्षुदभावे क्षुद्भावेन स्थित्यै क्षुधि तनोर्विलयः ॥"—केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १५ । २. "न क्षुद् विमोहपाको यत् प्रतिसंस्थानभावननिवर्त्या । न भवति विमोहपाकः सर्वोऽपि हि तेन विनिवर्त्यः॥"—केवलिभुक्तिप्र० श्लो० ७ । स्या०रत्ना० पृ० ४७६। ३. "उपसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे । मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥" (उपशमेन हन्यात् क्रोधं, मानं मार्दवेन जयेत् । मायामार्जवभावेन, लोभं संतोषतो जयेत् ॥) —दशवै० ८।३९ ।

§ ८४. एतेन यदुच्यते—

"अपवर्त्यते कृतार्थं नायुर्ज्ञानादयो न हीयन्ते ।
जगदुपकृतावनन्तं [1]वीर्यं किं गततृषो भुक्तिः ॥ १ ॥" [केवलिभुक्ति० श्लो० १६]

इत्यादि निरस्तम्, [2]एवंविधौदारिकस्थादिसामग्रीसद्भावेन छद्मस्थावस्थायामपि केवलिनोऽभुक्तिप्रसक्तेः । समस्तवीर्यान्तरायक्षयाभावाच्छद्मस्थस्य भुक्तिरिति चेत्; तदयुक्तम्; यतः किं तत्रायुष्कस्यापवर्तनं स्यात्किं वा चतुर्णां ज्ञानानां काचिद्धानिः स्यात्, येन भुक्तिः ? तेन यथा दीर्घकालस्थितेरायुष्कं कारणमेवमाहारोऽपि, यथासिद्धिगतेर्व्युपरतक्रिया[3]ध्यानचरमक्षणः कारणम् एवं सम्यक्त्वादिकमपीति अनन्तवीर्यतापि तस्याहारग्रहणे न विरुध्यते । तथा तस्य देवच्छन्दादीनि

मोहका विकार नहीं है, वह इच्छा रूप नहीं है । वह तो वेदनीयके उदयसे होनेवाली एक बेचैनी है, जो पेटमें कुछ डाले बिना हरगिज नहीं मिट सकती ।

§ ८४. अतः आपका यह कहना भी खण्डित हो जाता है कि—"कृतकृत्य केवलीको आयुमें न्यूनाधिकता होनेका डर नहीं है जिससे उसकी अकाल मृत्यु हो, पूर्ण एवं निरावरण होनेसे उसके ज्ञानादिकी भी हानि नहीं हो सकती, संसारका उपकार करनेके लिए अनन्तवीर्य मौजूद है तब तृष्णारहित वीतरागी केवलीके पीछे भोजन करने की बला क्यों लगायी जाये ?" जब केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भी वही औदारिक-स्थूल शरीर रहता है उसमें केवलज्ञान होनेके कारण कुछ भी हेर-फेर नहीं होता तब भोजन करनेमें क्या हानि है ? आपके द्वारा दिये गये तर्कों से तो फिर आपको ही केवलीके अल्पज्ञ अवस्थामें निराहारी मानना चाहिए । आपही सोचिए—कि छद्मस्थ-अल्पज्ञ अवस्थामें केवलीको अपनी आयुके ह्रास होनेका डर है ही नहीं, क्योंकि चरमशरीरीकी—अर्थात् उसी शरीरसे मुक्त होनेवाले की आयुका अकालमें उच्छेद नहीं होता, उसके मतिज्ञान श्रुत-ज्ञान अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान भी क्षीण नहीं हो सकते, तब क्यों अल्पज्ञ अवस्थामें उसे भोजन करनेवाला माना जाये । उस समय भी उसे निराहारी ही कहिए । 'वीर्यान्तराय अर्थात् शक्तिको रोकनेवाले कर्म—का सम्पूर्ण रूपसे नाश नहीं हुआ अतः शक्तिकी स्थिरताके लिए अल्पज्ञ-अवस्थामें भोजन करना चाहिए' यह तर्क भी उचित नहीं है; क्योंकि अल्पज्ञको शक्तिकी स्थिरता-की भी कोई आवश्यकता नहीं है । यदि उसे अकालमें मरनेका या अपने ज्ञानादिमें शिथिलता आने का डर होता तो यह वाजिब है कि वह आहार करे । परन्तु उसे दोनों बातोंका डर नहीं है वह इन दोनों बातोंसे निश्चिन्त है, अतः इस प्रकारके तर्कोंसे तो अल्पज्ञको भी आहारका निषेध किया जा सकता है । इसलिए यदि आयुकर्म केवलीकी लम्बी उमरका प्रधान कारण है तो उसी तरह आहार-पानी लेना भी उसके चिरकाल तक जीनेमें एक सहकारी कारण है । जिस तरह मुक्त होने में समस्त मन-वचन-कायके व्यापारोंका अत्यन्त निरोध करनेवाले व्युपरतक्रिया ध्यानकी पूर्णता साक्षात् कारण है उसी तरह उसमें सम्यग्दर्शन आदि भी परम्परासे कारण है ही । अतः जिस तरह अनन्तवीर्य वाले केवलीकी मुक्तिमें व्युपरतक्रिया ध्यान और सम्यग्दर्शन आदि सभीकी अपेक्षा होती है, उसी तरह केवलीके चिरकाल तक जीनेके लिए आयुकर्मके साथ ही साथ आहार की भी अपेक्षा होनी चाहिए । इससे उसके अनन्तवीर्यत्वमें कोई बाधा नहीं आ सकती । जिस प्रकार

---

१. वीर्यं वा यत्तपो म० २ । २. किं तत्रौदारि—म० २ । ३. "आयुश्चिराय्यवहारो जीवनहेतु-विनाय्यवद्वृत्तेः । चेत् तिष्ठत्यनन्तवीर्ये विनायुषा कालमपि तिष्ठेत् ॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २० । ४. —क्रियाध्यान—आ०, क० । "ध्यानस्य समुच्छिन्नक्रियस्य चरमक्षणे गते सिद्धिः । सा नेदानीमस्ति स्वस्य परेषां च कर्तव्या ॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १८ ।

विश्रामकारणानि [1]गमननिषीदनानि च भवन्ति एवमाहारक्रियापि विरोधाभावात् । न च बलवत्तरस्य वीर्यवतोऽल्पीयसी क्षुत्, व्यभिचारात् ।

§८५. किं चागमोऽपि केवलिनो भुक्तिं प्रतिपादयति । तथाहि—तत्त्वार्थसूत्रम् "एकादश जिने" [त० सू० ९।१८] इति । व्याख्या—एकादश परीषहाः क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्याक्रोशरोगतृणस्पर्शमलाख्या जिने केवलिनि भवन्ति, तत्कारणस्य वेदनीयस्याद्यापि विद्यमानत्वात्[2] । न च कारणानुच्छेदे कार्यस्योच्छेदः संभाव्यते, अतिप्रसक्तेः । अत एव केवलिनि क्षुद्वेदनीयपीडा संभाव्यते, किं त्वसावनन्तवीर्यत्वान्न विह्वलीभवति, न चासौ निष्ठितार्थो निःप्रयोजनमेव पीडां सहते ।

§ ८६. न च शक्यते वक्तुं 'एवंभूतमेव[3] भगवतः शरीरं; यदुत क्षुत्पीडया न बाध्यते' इति; अनुमानेन तस्यास्तत्र सिद्धत्वात् । तथाहि—केवलिशरीरं क्षुदादिना पीड्यते शरीरत्वात्,

केवली विश्राम करनेके लिए देवच्छन्द अर्थात् देवोंके द्वारा रचे गये स्थानविशेष आदिकी अपेक्षा रखता है, तथा वह गमन करता है बैठता है उठता है उसी तरह वह आहार भी यदि करता है तो इसमें कोई बाधा नहीं है । यह भी कोई नियम नहीं है कि 'जो जितना बलशाली होगा उसको उतनी ही कम भूख लगेगी'; क्योंकि संसारमें इस नियमका उलटा भी रूप देखा जाता है—बल्कि यहाँ तो जो जितना अधिक बलवान् होता है उसको उतने ही जोरसे कड़ाके की भूख लगती है ।

§ ८५. आगमसे भी केवलीके आहार करने की सिद्धि होती है । देखो, तत्त्वार्थ सूत्रमें ही कहा है कि—'केवली जिनके ग्यारह परीषह—बाधाएँ होती हैं" जिन अर्थात् केवलीमें भूख, प्यास, ठण्ड, गरमी, डाँसमच्छरका काटना, चलनेमें काँटे आदिका चुभना, भूमिपर सोनेसे कंकड़ आदि गड़ना, दूसरेके द्वारा पीटा जाना, रोग, तीखे डाभ आदि तिनकोंका चुभना, और शरीरपर मेल लग जाना ये ग्यारह परीषह अर्थात् अपने आप सही जानेवाली बाधाएँ हैं । इन बाधाओंका कारण है वेदनीय कर्मका उदय । सो केवलीमें उसका सद्भाव तथा उदय है ही । जब वेदनीय कर्म रूपी कारण मौजूद ही है तब उसके द्वारा होनेवाले भूख आदि कार्योंका अभाव कैसे माना जा सकता है ? समर्थ कारणके रहनेपर भी यदि कार्यकी उत्पत्ति न हो; तो संसारसे कार्यकारण भाव ही विदा हो जायेगा । यही कारण है कि केवलीके भी भूख प्यास आदिकी पीड़ा माननी पड़ती है । हाँ, यह अवश्य है कि केवली अनन्त शक्तिशाली होनेके कारण भूख लगनेसे तड़प नहीं जाता, वह हमलोगोंकी तरह विह्वल नहीं होता । वह तो कृतकृत्य है, अतः बिना मतलबके पीड़ा क्यों सहेगा ? भूखकी पीड़ाको सहना भी एक तप है, परन्तु केवली तो कृतकृत्य है उसे जो कुछ करना था उसको वह कर चुका है अतः उसे तप करने की अब कोई आवश्यकता नहीं रही है ।

§ ८६. 'भगवान्का ऐसा ही विलक्षण शरीर है कि उसे कभी भी क्षुधाकी पीड़ा नहीं होती' यह तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता; क्योंकि ऐसे अनुमान मौजूद हैं, जिनसे भगवान्के शरीरमें भी क्षुधाकी बाधाका सद्भाव साधा जा सकता है । जैसे, केवलीका शरीर भी भूख आदि

१. "ज्ञानाद्यलभ्येऽपि जिने मोहेऽपि स्याद् क्षुद् उद्भवेद् भुक्तिः । वचनगमनादिवच्च प्रयोजनं स्वपरसिद्धिः स्यात् ॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १७ । २. "रोगादिवत् क्षुधो न व्यभिचारो वेदनीयजन्मायाः । प्राणिनि 'एकादश जिन' इति जिनसामान्यविषयं च ॥ तद्हेतुकर्मभावात् परीषहोक्तिर्न जिन उपस्कार्यः । नश्चाभावासिद्धेरित्यादेर्न क्षुदादिगतिः ॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २९–३० । ३. "कायस्तथाविधोऽसौ जिनस्य यद्भोजनस्थितिरितीदम् । वाङ्मात्रं नात्रार्थे प्रमाणमासागमोऽन्यद् वा ॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २६ ।

अस्मदाद्यधिष्ठितशरीरवत्। तथा 'यथा तच्छरीरं स्वभावेन प्रस्वेदादिरहितं एवं प्रक्षेपाहार-रहितमपि' इत्यपकर्णनीयमेव, अप्रमाणकत्वात्। तदेवं देशोनपूर्वकोटिकालस्य केवलिस्थितेः संभवादौदारिकशरीरस्थितेश्च यथायुष्कं कारणमेवं प्रक्षेपाहारोऽपि। तथाहि—[2]तैजससंशरीरेण मृदूकृतस्याभ्यवहृतस्य स्वपर्याप्त्या परिणामितस्योत्तरोत्तरपरिणामक्रमेणौदारिकशरीरिणामनेन प्रकारेण क्षुदुद्भवो भवति। वेदनीयोदये चेयं समग्रापि सामग्री भगवति केवलिनि संभवति। ततः केन हेतुनासौ न भुङ्क्त इति। न च [3]घातिचतुष्टयस्य क्षुद्वेदनीयं प्रति सहकारिकारणभावोऽस्ति, येन तदभावात्तदभाव इत्युच्यते। इति सिद्धा केवलिभुक्तिः। तथा प्रयोगश्चात्र—केवलिनः प्रक्षेपाहारो भवति कवलाहारकेवलित्वयोरविरोधात्, सातवेदनीयवदिति। इति केवलिभुक्तिव्यवस्थापनस्थलमिति॥

§ ८७. अथ तत्त्वान्याह—

से पीड़ित होता है क्योंकि वह भी मांसका बना हुआ शरीर है जैसे कि हम लोगोंका शरीर। इसी तरह आपकी यह बात भी सुनने लायक नहीं है कि—'जिस प्रकार भगवान्‌के शरीरमें पसीना नहीं आता, बदबू नहीं आती, उनकी आँखोंकी पलकें नहीं झपकतीं उसी तरह उनके शरीरकी स्थिति भोजन किये बिना भी मान लेनी चाहिए।' क्योंकि आपकी ऐसी बातें बेबुनियाद हैं प्रमाणशून्य हैं। इस तरह जब केवली भगवान् कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण वर्षों तक जीवित रहते हैं, और यदि इतने समय तक उनके शरीरको कायम रखनेके लिए आयुकर्मकी आवश्यकता है तो उसका समर्थ सहकारी कारण भोजन करना भी उतना ही आवश्यक है। औदारिक-स्थूल शरीरको टिकनेके लिए आयुकर्म और भोजन दोनों ही कारण हैं, दोनों ही आवश्यक हैं। जब तैजस शरीर अर्थात् शरीर का ओज या जठराग्निके द्वारा पहलेका खाया हुआ भोजन पचा दिया जाता है और वह रक्त आदि रूपसे शरीरमें रच-पच जाता है तब इन स्थूल शरीरवालोंको फिर भूख लग आती है। भूख लगनेमें वेदनीयकर्मका उदय खास कारण है ही। इस प्रकार जब केवलीके वेदनीयका उदय होनेसे भूख लगनेके सभी कारण मौजूद हैं तब ऐसी कौन-सी बात बाकी रहती है जिससे केवलीको भोजन करनेमें हिचकिचाहट होती है? वह हमारी ही तरह मजेसे भोजन क्यों नहीं करता? यदि ज्ञानावरण आदि घातियाकर्म वेदनीयकर्मके सहायक होते तो कहा जा सकता था कि 'ज्ञानावरणादि घातियाकर्म रूप सहकारी नहीं हैं अतः वेदनीय कर्म भूखको उत्पन्न नहीं करता।' पर ज्ञानावरणादि कर्मोंका वेदनीयकर्मके साथ कोई ताल्लुक नहीं है। दोनों अपने-अपने क्षेत्रमें स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार वेदनीयका सद्भाव रहनेसे केवलीको कवलाहार मानना ही चाहिए। इसलिए हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि केवली हमलोगोंकी तरह एक-एक ग्रास करके भोजन करता है, क्योंकि केवलज्ञानका भोजन करनेके साथ कोई विरोध नहीं है, जैसे कि साता वेदनीय और केवलज्ञानमें कोई अनबन या विरोध नहीं है उसी तरह केवलज्ञान और कवलाहार भी परस्पर विरोधी नहीं हैं। केवली भी रहे और आनन्दसे भोजन भी करे। इस तरह प्रसंगसे केवलीके कवलाहारका समर्थन किया है॥४६॥

§ ८७. अब तत्त्वोंका निरूपण करते हैं—

---

१. "देशोनपूर्वकोटीविहरणमेवं सतीह केवलिनः। सूदोक्तमुपायादि न मुक्तिश्च न नियतकाल। स्यात्॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २७। २. "तैजससमूहकृतस्य द्रव्यस्याभ्यवहृतस्य पर्याप्त्या। अनुत्तरपरिणामे श्रुतक्रमेण भवति च तत् सर्वम्॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० ९। ३. "ज्ञानावरणीयादेर्ज्ञानावरणादि कर्मणः कार्यम्। क्षुत् तदिलक्षणास्यां न तस्य सहकारिभावोऽपि॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १०। स्या० रत्ना० पृ० ७७५।

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरौ ।
बन्धो विनिर्जरामोक्षौ [1]नव तत्त्वानि तन्मते ॥ ४७ ॥

§ ८८. व्याख्या—चेतनालक्षणो जीवः १, [2]तद्विपरीतलक्षणस्त्वजीवः २ । धर्माधर्माकाशकाल-पुद्गलभेदेन त्वसौ पञ्चधा व्यवस्थितः । अनयोरेव द्वयोर्जगद्वर्तिनः सर्वेऽपि भावा अन्तर्भवन्ति । नहि ज्ञानादयो रूपरसादयश्च द्रव्यगुणा उत्क्षेपणादीनि च कर्माणि सामान्यविशेषसमवायाश्च जीवाजीवव्यतिरेकेणात्मास्तीति लभन्ते, तद्भेदेनैकान्ततस्तेषामनुपलम्भात्, तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गात् ।

§ ८९. बौद्धादिपरिकल्पितदुःखादितत्त्वानि जीवाजीवाभ्यां पृथग्जात्यन्तरतया न वक्तव्यानि, जीवाजीवराशिद्वयेन सर्वस्य जगतो व्याप्तत्वात्, तदव्याप्तस्य शशशृङ्गतुल्यत्वात् ।

§ ९०. तर्हि पुण्यपापास्रवादीनामपि ततः पृथगुपादानं [3] न युक्तिप्रधानं स्यात्, राशिद्वयेन सर्वस्य व्याप्तत्वादिति चेत्; न; पुण्यादीनां विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, आस्रवादीनां [4]सकारणसंसारमुक्ति-

---

जैन मतमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ये नव तत्त्व-पदार्थ हैं ॥४७॥

§ ८८. जिसमें चेतना—जानने-देखनेकी शक्ति पायी जाती है उसे जीव कहते हैं। जो चैतन्यसे रहित है वह अजीव है। अजीव पाँच प्रकारका है—१ धर्मद्रव्य, २ अधर्मद्रव्य, ३ आकाश-द्रव्य, ४ कालद्रव्य तथा ५ पुद्गलद्रव्य। जीव और अजीव इन दो ही तत्त्वोंमें समस्त पदार्थोंका अन्तर्भाव हो जाता है। वैशेषिकके द्वारा माने गये ज्ञान आदि तथा रूप रस आदि गुणपदार्थ, उत्क्षेपण—ऊपर फेंकना आदि कर्मपदार्थ, तथा सामान्य, विशेष, और समवाय पदार्थ इन जीव और अजीवसे भिन्न अपनी कोई हस्ती नहीं रखते। वे इन्हींके ही स्वभावरूप हैं अतः इनका इन्हीं जीव और अजीवमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। कोई भी प्रमाण गुण आदि पदार्थोंको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न रूपमें नहीं जान सकता। वे तो द्रव्यात्मक ही हैं। यदि गुण आदि पदार्थ द्रव्यसे भिन्न माने जावें; तो जैसे गुण रहित द्रव्यका अभाव हो जाता है उसी तरह द्रव्यरूप आश्रयके बिना गुणादि भी निराधार होकर असत् हो जायेंगे। अतः गुण आदिका द्रव्यसे तादात्म्य मानना ही उचित है।

§ ८९. इसी प्रकार बौद्धोंके द्वारा माने गये दुःख, समुदय आदि चार आर्यसत्य भी जीव और अजीवसे भिन्न नहीं हैं उनका भी इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है। तात्पर्य यह कि समस्त संसारके पदार्थ या तो जीवराशिमें अपनी गिनती करा सकते हैं या फिर अजीव राशिमें। इनसे भिन्न तीसरी कोई राशि नहीं है। जो इन दो राशियोंमें शामिल नहीं है समझ लो वह खरगोशके सींग की तरह है ही नहीं, असत् है। बौद्धोंके दुःखतत्त्वका बन्धमें, समुदयका आस्रवमें, निरोधका मोक्षमें तथा मार्गका संवर और निर्जरामें अन्तर्भाव हो जाता है। ये आस्रव आदि जब आत्मपरिणाम रूपसे विवक्षित होते हैं तो भावास्रव आदि कहलाते हैं और जब पुद्गल पदार्थ-रूपसे विवक्षित होते हैं तब द्रव्यास्रव आदि कहे जाते हैं। तात्पर्य यह कि जीव और अजीव दो ही तत्त्वरूप समस्त संसार है।

§ ९०. शंका—जब इन दो ही तत्त्वोंने सारे संसारके पदार्थोंको व्याप्त कर रखा है, इनसे भिन्न कोई भी अपनी सत्ता रख नहीं सकता; तब आपने इन दोके सिवाय पुण्य-पाप आस्रव आदि अन्य सात तत्त्वोंका कथन क्यों किया ? आपके हिसाबसे तो ये भी उन्हीं दोमें शामिल हो जायेंगे।

---

१. "नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता । तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो ॥" —स्थाना० ९।६६५ । २. –तत्त्वजीवः म० २ । ३. –दानं युक्तिप्रधानं न स्यात् म० २ । ४. सर्वसंसार–म० २ ।

प्रतिपादनपर पृथगुपादानस्याबुष्टता। यथा च संवरनिर्जरयोर्मोक्षहेतुता, आस्रवस्य [1]बन्धनिबन्धनत्वं, पुण्यापुण्यद्विभेदबन्धस्य च संसारहेतुत्वं तथागमात् प्रतिपत्तव्यम्।

§ ९१. तत्र पुण्यं शुभाः कर्मपुद्गलाः ३। त एव त्वशुभाः पापम् ४। आस्रवति कर्म यतः स आस्रवः[2] कायवाङ्मनोव्यापारः, पुण्यापुण्यहेतुतया[3] चासौ द्विविधः ५। आस्रवनिरोधः संवरः[4] गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षादीनां[5] चास्रवप्रतिबन्धकारित्वात्, स च द्विविधः सर्वदेशभेदाद् ६।

§ ९२. योगनिमित्तः सकषायस्यात्मनः कर्मवर्गणापुद्गलैः संश्लेशविशेषो बन्धः[6], स च सामान्येनैकविधोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन चतुर्धा[7], पुनरेकैको ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभेदादष्टधा[8], पुनरपि मत्याद्यावरणादितदुत्तरप्रकृतिभेदादनेकविधः। अयं च कश्चित्तीर्थकरत्वादिफलनिर्वर्तकत्वात् प्रशस्तः, अपरश्च नारकादिफलनिर्वर्तकत्वादप्रशस्तः, प्रशस्ताप्रशस्तात्मपरि[9]-

समाधान—यद्यपि ये सब जीव और अजीव दोमें ही अन्तर्भूत हैं, फिर भी लोगोंको पुण्य-पाप आदिमें सन्देह रहता है, अतः उनके सन्देहको दूर करनेके लिए पुण्य और पापका स्पष्ट निर्देश कर दिया है। संसारके कारणोंका स्पष्ट कथन करनेके लिए आस्रव और बन्धका तथा मोक्ष और मोक्षके कारणोंका खुलासा करनेके लिए संवर, निर्जरा, मोक्ष, संवर तथा निर्जराका स्वतन्त्र रूपसे कथन किया गया है। अतः विशेष प्रयोजनके कारण इनका पृथक्-पृथक् निरूपण करनेमें कोई दोष नहीं है। आगमोंमें जिस विस्तार तथा खूबीके साथ संवर और निर्जराको मोक्षका कारण कहा है, आस्रवको बन्धमें हेतु बताया है, पुण्य और पाप रूपसे बन्धके दो भेद बताये हैं तथा आस्रव और बन्ध दोनोंको ही संसारका मूल बताया है वह विस्तृत कथन आगमसे ही समझ लेना चाहिए।

§ ९१. शुभ—अच्छा फल देनेवाले कर्मपुद्गल पुण्य हैं, तथा बुरा फल देनेवाले कर्मपुद्गल पापरूप होते हैं। मन वचन तथा कायके जिन व्यापारोंसे, इनको जिन हरकतोंसे कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। मन वचन कायके अच्छे व्यापार पुण्यपुद्गलकर्मोंको लाते हैं अतः वे पुण्यास्रव कहे जाते हैं तथा मन वचन कायके जो दुष्ट व्यापार बुरे पाप कर्मोंको लाते हैं उन्हें पापास्रव कहते हैं। इस प्रकार आस्रव तत्त्वके दो भेद होते हैं। कर्मोंके आस्रवको रोकना संवर कहलाता है। गुप्ति—मन वचन और कायकी क्रियाओंको रोकना, समिति—सावधानी पूर्वक देखभाल कर चलना खाना बोलना रखना उठाना तथा मलमूत्रका उत्सर्ग करना, धर्म—क्षमा आदि, अनुप्रेक्षा—संसारकी अनित्यदशाका चिन्तवन करना आदिसे कर्मोंका आना बन्द हो जाता है अतः ये क्रियाएँ भी संवर कही जाती हैं। संवर आंशिक भी होता है तथा सम्पूर्ण भी। सर्वसंवरमें कर्मोंका आना बिलकुल रोक दिया जाता है तथा देशसंवरमें कुछ-कुछ कर्म रुकते हैं।

§ ९२. कषायसहित आत्मा अपनी मन वचन कायकी क्रियाओंसे जिन कर्मपुद्गलोंको खींचता है, उन कर्मपुद्गलोंसे आत्माके विशिष्ट संयोगको बन्ध कहते हैं। बन्धके चार भेद होते हैं—१. प्रकृतिबन्ध—कर्मपुद्गलोंमें ज्ञानको रोकनेका या दर्शनको रोकने आदिका स्वभाव पड़ना। २. स्थितिबन्ध—कर्मोंके आत्माके साथ बँधे रहनेके समयकी मर्यादा। ३. अनुभागबन्ध—तीव्र मध्यम या मृदु फल देनेकी शक्ति पड़ना। ४. प्रदेशबन्ध—कर्मोंका और आत्मप्रदेशोंका दूध और

१. बन्धनि—आ०, क०। २. "कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आस्रवः। शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।" —त० सू० ६।१-३। ३. -हेतुत्वाच्चासौ म० २। ४. "आस्रवनिरोधः संवरः।" —त० सू० ९।१। ५. "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।" —त० सू० ९।२। ६. "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते सः बन्धः।"—त० सू० ८।२। ७. "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः।" —त० सू० ८।३। ८. "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।" —त० सू० ८।४। ९. -णामसमुद्भूत-म० २।

§ ९४. व्याख्या—तत्रेति निर्धारणार्थः। ये ज्ञानदर्शनचारित्रसुखदुःखवीर्य[1]भव्यत्वसत्त्वप्रमेयत्व-द्रव्यत्वप्राणधारित्वक्रोधादिपरिणतत्वसंसारित्वसिद्धत्वपरवस्तुव्यावृत्तत्वादयः [2]स्वपरपर्याया जीवस्य भवन्ति, ते ज्ञानादयो धर्मा उच्यन्ते। तेभ्यो जीवो न भिन्नो नाप्यभिन्नः किं तु जात्यन्तर-तया भिन्नाभिन्नः। यदि हि ज्ञानादिधर्मेभ्यो जीवो भिन्नः स्यात्; तदा 'अहं जानामि, अहं पश्यामि, अहं ज्ञाता, अहं द्रष्टा, अहं सुखित[3], अहं भव्यश्च' इत्याद्यभेदप्रतिभासो न स्यात्, अस्ति च सर्वप्राणिनां सोऽभेदप्रतिभासः। तथा यद्यभिन्नः स्यात् तदा "अयं धर्मी, एते धर्माः' इति भेदबुद्धिर्न स्यात्, अस्ति च सा। अथवा अभिन्नतायां ज्ञानादिसर्वधर्माणामैक्यं स्यात्, एकजीवाभिन्नत्वात्। तथा च 'मम ज्ञानं मम दर्शनं चास्ति' इत्यादिज्ञानादिधर्माणां मिथोभेदप्रतीतिर्न स्यात्। अस्ति च सा। ततो ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्न एवाभ्युपगन्तव्यः। अनेन धर्मधर्मिणोर्वैशेषिकाद्यभिमतं

§ ९४. श्लोकमें 'तत्र' शब्द निश्चयवाची है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, दुःख, वीर्य—शक्ति, भव्यत्व—मुक्ति पानेकी योग्यता, अभव्यत्व—मोक्ष जानेकी योग्यताका अभाव, सत्त्व—मौजूदगी, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्राणोंका धारण करना, क्रोध मान आदि रूपसे बिगड़ जाना, संसारी होना, मुक्त होना, अजीवादि पदार्थोंके स्वरूपमें नहीं मिलना, उनसे अपनी सत्ता पृथक् रखना इत्यादि अनेकों पर्यायें जीवकी होती हैं। ये पर्यायें कुछ तो स्वनिमित्तक हैं तथा कुछ परके निमित्तसे होती हैं। इन्हीं पर्यायोंको ज्ञानादि धर्म कहते हैं। ये ज्ञानादिधर्म जीवसे न तो अत्यन्त भिन्न ही हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। किन्तु इनमें सर्वथाभिन्न तथा सर्वथा अभिन्नरूप दो अन्तिम प्रकारोंके बीचमें रहनेवाला कथंचिद् भिन्नाभिन्नरूप एक तीसरा ही विलक्षण प्रकार पाया जाता है। हम चाहें कि जीवको पृथक् तथा ज्ञानादिको पृथक् कर दें तो यह पृथक्करण असम्भव है इसलिए जीवसे ज्ञान आदि अभिन्न हैं, तथा जीव धर्मी है ज्ञान धर्म है, जीव नित्य हो सकता है पर ज्ञान अनित्य है, अमुक घट ज्ञानके नष्ट हो जाने पर भी जीव नष्ट नहीं होता, जीवको 'जीव' कहते हैं जब कि ज्ञानको जीवशब्दसे नहीं कहते इत्यादि कारणोंसे जीव एक पृथक् है ज्ञान पृथक् है। अतः जीव और ज्ञान आदिका एक विलक्षण ही सम्बन्ध है। यदि जीव भिन्न हो तथा ज्ञान आदि भिन्न हों, तो 'मैं जानता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, मैं देखनेवाला हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं भव्य हूँ' इत्यादि रूपसे ज्ञान आदिसे 'मैं' आत्माका अभिन्न भान नहीं हो सकेगा। परन्तु हर एक प्राणी 'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ' आदि रूपसे अपने को ज्ञानादिसे अभिन्न अनुभव करता ही है। यदि ज्ञान आदिसे जीव सर्वथा अभिन्न हो; तब अभेदमें या तो जीव ही रहेगा या ज्ञानादि ही 'ये मेरे ज्ञानादि हैं, मैं ज्ञानादि गुणोंको धारनेवाला हूँ' इस तरह भेद प्रतिभास नहीं हो सकेगा। उक्त प्रयोगोंमें 'यह धर्मी है तथा ये धर्म हैं' इस प्रकार भेद प्रतिभास हो ही रहा है। जहाँ 'मेरा' प्रयोग होता है वहाँ दो वस्तुएँ होनी ही चाहिए। जहाँ अकेला अभिन्न है वहाँ 'मेरा' प्रयोग नहीं हो सकता। परन्तु 'मेरा ज्ञान, मेरा सुख' आदि ममकार सभी प्राणियोंको होते ही हैं। यदि ज्ञान आदि गुण जीवसे सर्वथा अभिन्न माने जायें, तो फिर एक आत्मासे अभिन्न होनेके कारण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणोंमें परस्पर कोई भेद ही नहीं रहेगा। परन्तु 'मेरा ज्ञान, मेरा दर्शन, मेरा सुख' इत्यादि प्रतिभासोंमें ज्ञान दर्शन आदि धर्म स्पष्ट रूपसे पृथक् ही पृथक् प्रतीत हो रहे हैं। अतः ज्ञान आदिका जीवसे कथंचिद् भेदाभेद मानना ही उचित है। वैशेषिक ज्ञान आदि गुणोंको एक स्वतन्त्र पदार्थ तथा आत्माको एक स्वतन्त्र ही पदार्थ मानते हैं, यह उनका एकान्त अतिवाद है। इसी तरह बौद्ध ज्ञान आदि क्षणरूप ही आत्मा मानते हैं, अर्थात् ज्ञानादि तथा आत्मामें सर्वथा अभेद मानकर ज्ञान प्रवाहको ही आत्मा कहते हैं। बौद्धोंका भी यह एकान्त अतिवाद है। इन दोनों अतिवादोंका

१. —भव्याभव्यत्व—भ० १, भ० २, प० १, प० २, क०। २. स्वपर्याया भ० २। ३. इत्यादि ज्ञानादि मिथो भ० १, प० १, प० २, क०। इत्यादि मिथो भ० २।

भेदैकान्तं सौगतस्वीकृतं चाभेदैकान्तं प्रतिक्षिपति, सौगतैरपि बुद्धिजन्यपरम्परारूपस्यात्मनो धर्मित्वेन स्वीकारात् ।

§ ९५. 'तथा विविधं वर्तनं विवृत्तिर्नरामरादिपर्यायान्तरानुसरणं तद्वान् विवृत्तिमान् । अनेन भवान्तरगामिनमात्मानं प्रति विप्रतिपन्नांश्चार्वाकान् कूटस्थनित्यात्मवादिनो नैयायिकादींश्च निरस्यति ।

§ ९६. तथा शुभाशुभानि कर्माणि करोतीति शुभाशुभकर्मकर्त्ता । तथा स्वकृतस्य कर्मणो फलं सुखादिकं तस्य साक्षाद्भोक्ता च । चकारो विशेषणानां समुच्चये । एतेन विशेषणद्वयेनाकर्तारमुपचरितवृत्त्या भोक्तारं चात्मानं मन्यमानानां सांख्यानां निरासः ।

§ ९७. तथा चैतन्यं साकारनिराकारोपयोगात्मकं लक्षणं स्वरूपं यस्य स चैतन्यलक्षणः । एतेन जडस्वरूपो नैयायिकादिसंमत आत्मा व्यवच्छिद्यते । एवंविशेषणो जीवः समाख्यात इत्यत्रापि संबन्धनीयमिति ॥

§ ९८. चार्वाकाश्चर्चयन्ति यथा—इह कायाकारपरिणतानि चेतनाकारणभूतानि भूतान्येवोपलभ्यन्ते, न पुनस्तेभ्यो व्यतिरिक्तो भवान्तरयायी यथोक्तलक्षणः कश्चनाप्यात्मा, तत्सद्भावे

निराकरण करके जीव और ज्ञान आदिमें कथंचित् भेदाभेद सिद्ध करनेके लिए 'भिन्नाभिन्न' विशेषण दिया है । बौद्ध ज्ञानक्षणोंके प्रवाहको आत्मा मानते हैं अतएव उनके मतसे भी ऐसा आत्मा धर्मी है ।

§ ९५. विवृत्तिमान्—यह जीव अनेक प्रकारकी मनुष्य देव आदि पर्यायोंमें वर्तन—निवास करने वाला, इन पर्यायों रूपसे अपने स्वरूपको बदलनेवाला होता है । इस विशेषणसे आत्माको इस जन्ममें ही देहके साथ भस्म करनेवाले, उसे परलोकगामी नहीं माननेवाले चार्वाकोंका निराकरण हो जाता है । इसी तरह आत्माको कूटस्थ—अपरिवर्तनशील सर्वथा नित्य माननेवाले नैयायिक आदि का भी खण्डन हो जाता है ।

§ ९६. यह आत्मा अपनी अच्छी और बुरी भावनाओंसे शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंका कर्ता है । और 'जैसी करनी तैसी भरनी' के अनुसार उन कर्मोंके अच्छे और बुरे सुख और दुःख रूपी फलोंका भी स्वयं ही भोक्ता है । 'च' शब्दसे कर्ता और भोक्ता दोनों विशेषणोंके समुच्चय का परिज्ञान होता है । अर्थात् इन कर्ता और भोक्ता विशेषणोंसे आत्माको अकर्ता कहनेवाले तथा प्रकृति या बुद्धिके द्वारा आत्मामें उपचरित भोग माननेवाले सांख्योंके मतका निराकरण हो जाता है ।

§ ९७. आत्मा चैतन्य रूप है । चैतन्य दो प्रकारका होता है—एक साकार चैतन्य—ज्ञान और दूसरा निराकार चैतन्य—दर्शन । जब चैतन्य किसी बाह्य पदार्थको जानता है उस समय वह साकार—घटादिको विषय करनेवा कारण ज्ञान कहलाता है । तथा जिस समय चैतन्य किसी बाह्य अर्थके आकार न होकर निराकार—केवल चैतन्याकार हो रहता है उस समय वह दर्शन कहा जाता है । ज्ञान और दर्शन दोनों रूप उपयोग जीवका असाधारण स्वरूप है । इस विशेषणसे आत्माको स्वरूपसे जड़ अर्थात् ज्ञानशून्य माननेवाले नैयायिक आदिका निराकरण हो जाता है । जैनमतमें उपरोक्त विशेषणोंवाला जीव माना गया है ।

§ ९८. चार्वाकमतवाले जीवको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते अतः वे जीवके उपरोक्त विशेषणोंसे असहमत होकर इस प्रकार चर्चा करते हैं—

चार्वाक—(पूर्वपक्ष) इस संसारमें आत्मा नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । पृथिवी जल आदिका एक विलक्षण रासायनिक मिश्रण होनेसे ही शरीरमें चेतना प्रकट हो जाती है । इन

१. तथाविधं वर्तनं म० १, म० २, प० १, प० २ ।

प्रमाणाभावात्। तथाहि—भूतव्यतिरिक्तात्मसद्भावे किं प्रत्यक्षं प्रमाणं प्रवर्तते उतानुमानम्। न तावत्प्रत्यक्षम्; तस्य प्रतिनियतेन्द्रियसंबद्धरूपादिगोचरतया तद्विलक्षणे जीवे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न च 'घटमहं वेद्मि' इत्यहंप्रत्यये ज्ञानकर्तृतयात्मा भूतव्यतिरिक्तः प्रतिभाति इत्यभिधातव्यम्; तस्य 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इत्यादिवच्छरीरविषयत्वस्यैवोपपत्तेः। न खलु तत्प्रत्ययस्यात्मालम्बनत्वमस्ति, आत्मनि स्थौल्यादिधर्मासंभवात्। तथा 'घटमहं वेद्मि' इत्यस्यापि प्रत्ययस्य न शरीरावन्यो भवत्परिकल्पितः कश्चनाप्यात्मा आलम्बनत्वेन स्वप्नेऽपि प्रतीयते। अप्रतीतस्यापि कल्पने कल्पनागौरवं प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाया अभावश्च स्यात्। न च जडरूपस्य शरीरस्य घटादेरिवाहंप्रत्ययोऽनुपपन्नः इति वाच्यम्; चेतनायोगेन तस्य सचेतनत्वात्। न च सा चेतना जीवकर्तृका इति वाच्यम्; तस्याप्रतीतत्वात् तत्कर्तृत्वमयुक्तम्, खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गात्। ततः प्रसिद्धत्वाच्छरीरस्यैव चैतन्यं

चैतन्यके कारणभूत शरीराकार भूतोंको छोड़कर चैतन्य आदि विशेषणोंवाला, परलोकतक गमन करनेवाला कोई भी आत्मा नहीं है। आप जैसे आत्माका वर्णन करते हैं उसको सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। बताओ, इन पृथिवी आदिसे भिन्न आत्माको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण है या अनुमान प्रमाण? प्रत्यक्ष तो भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे उत्पन्न होकर अपनेसे सम्बन्ध रखने वाले रूपादि स्थूल पदार्थोंको विषय करता है अतः आपके अमूर्त जीवमें तो उसकी प्रवृत्ति हो नहीं हो सकती।

शंका—इन्द्रिय प्रत्यक्षसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती तो न हो, पर 'मैं घटको जानता हूँ' इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा जानने रूप क्रियाका कर्ता आत्मा प्रतिभासित होता ही है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष पृथिवी आदि भूतोंका नहीं होता अतः वह आत्मा इन पृथिवी आदि भूतोंसे विलक्षण है। 'मैं हूँ' यह अहम्प्रत्यय ही आत्माका सबसे प्रबल साधक प्रमाण है?

समाधान—आप अहम्प्रत्ययके चक्करमें न पड़िए। जिस प्रकार 'मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ' यह अहम्प्रत्यय मोटे और दुबले शरीरके कारण होता है अतः शरीरको ही विषय करता है उसी तरह 'मैं घटको जानता हूँ' यह अहम्प्रत्यय भी जाननेवाले शरीरको ही विषय करता है उससे विलक्षण किसी आत्माको नहीं। 'मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ' ये प्रत्यय आत्माको तो विषय कर ही नहीं सकते क्योंकि आत्मामें मुटापा या दुबलापन तो होता ही नहीं है। इस तरह 'मैं घटको जानता हूँ' यह अहम्प्रत्यय भी जब प्रत्यक्षसिद्ध शरीरको ही विषय करके बन जाता है तब इसको एक काल्पनिक आत्माको विषय करनेवाला माननेमें कल्पनागौरव है। तुम्हारा आत्मा तो स्वप्नमें भी नहीं दिखाई देता, जागतेकी तो बात ही दूर है। यदि इस तरह सर्वथा अप्रतीत पदार्थोंको कल्पना करने बैठ जाँय; तो फिर कल्पनाराज ही हो जायेगा संसारकी सारी वस्तुव्यवस्थाका लोप हो जायेगा। हम कह सकते हैं कि घटप्रत्यय घटको विषय नहीं करके उसमें बैठे हुए एक अमूर्तीक भूतको विषय करता है। यदि कहो कि जिस प्रकार अचेतन घड़ेमें 'मैं घड़ा हूँ' यह अहम्प्रत्यय नहीं होता उसी तरह जडशरीरमें भी 'मैं घटको जानता हूँ' यह अहम्प्रत्यय नहीं बन सकता; सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि घट और शरीरमें बहुत अन्तर है। शरीर चेतनाके सम्बन्धसे सचेतन हो जाता है जब कि घड़ा सदा अचेतन ही रहता है। पृथिवी आदि भूतोंका वह विलक्षण मिश्रण शरीरमें ही हुआ है अतः चेतना शरीरमें ही प्रकट होती है और इसीलिए 'मैं जानता हूँ' यह अहम्प्रत्यय सचेतन शरीरमें ही हो सकता है। उस चेतनाका कर्ता जीव हरगिज नहीं हो सकता; क्योंकि वह अविद्यमान है, किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। असत् चीजको कर्ता बनाने पर तो आपको आकाशके फूलको भी चेतनाका कर्ता

---

१. –वानुमानं वा न म० २।

प्रति कर्तृत्वं युक्तम् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्च । प्रयोगश्चात्र—यत् खलु यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यं यथा घटो मृत्पिण्डस्य, शरीरस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति च चैतन्यम्, तस्मात्तत्कर्तृत्वम् । अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः । तौ चात्र विद्येते, सति शरीरे चैतन्योपलब्धेः, असति चानुपलब्धेः । न च मृतशरीरे चैतन्यानुपलब्धेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमसिद्धम् इति वाच्यम्; मृतावस्थायां वायुतेजसोरभावेन शरीरस्यैवाभावात्, विशिष्टभूतसंयोगस्येव शरीरत्वप्रतिपादनात् । न च शरीराकारमात्रे चैतन्योत्पत्तिर्युक्ता; चित्रलिखिततुरङ्गमादिष्वपि चैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । ततः सिद्धं शरीरकार्यमेव चैतन्यम् । ततश्च चैतन्यसहिते शरीर एवाहंप्रत्ययोत्पत्तिः सिद्धा । इति न प्रत्यक्षप्रमेय आत्मा, ततश्चाविद्यमान एव । प्रयोगश्चात्र—नास्त्यात्मा, अत्यन्ताप्रत्यक्षत्वात्, यदत्यन्ताप्रत्यक्षं तन्नास्ति, तथा खपुष्पम् । यच्चास्ति तत्प्रत्यक्षेण

मान लेना चाहिए । इसलिए प्रत्यक्षसिद्ध शरीरको ही जानना देखना आदि चेतनाका कर्ता मानना चाहिए । देखो, शरीरके होने पर इन्द्रियोंके द्वारा जो घट पट आदि पदार्थ जाने जाते हैं जब शरीर नष्ट हो जाता है तब जानना आदि सब बन्द हो जाते हैं । अतः यह अनुमान करना बिलकुल सहज है कि—शरीर ही चैतन्य—जानने आदि क्रियाओंका कर्ता है क्योंकि चैतन्यका शरीरके साथ ही अन्वय (होने पर होना) तथा व्यतिरेक (नहीं होने पर नहीं होना) पाया जाता है । जैसे कि मिट्टीके पिण्डके होने पर उत्पन्न होनेवाले तथा मिट्टीके पिण्डके अभावमें नहीं होनेवाले घड़ेमें मिट्टीका पिण्ड कारण माना जाता है उसी तरह चैतन्य भी शरीरके होने पर ही होता है शरीरके अभावमें कभी नहीं होता अतः चैतन्यका कारण भी शरीरको ही मानना चाहिए । सब जगह कार्यकारणभावकी प्रतीति अन्वय और व्यतिरेकसे ही मानी जाती है । चैतन्य और शरीरमें अन्वय और व्यतिरेक नियमित पाये जाते हैं ।

शंका—शरीरके मुर्दा हो जाने पर चैतन्य तो नहीं पाया जाता, अतः शरीर और चैतन्यका अन्वय-व्यतिरेक नियमित कैसे कहा जा सकता है ? मृत शरीरमें चैतन्यका अन्वय-व्यतिरेक असिद्ध है ।

समाधान—आप शरीरका अर्थ ही नहीं समझते । शरीरके माने हैं—गरमीवाला तथा श्वास आदि लेनेवाला शरीर । जब वह मुर्दा हो जाता है तब उसमें न तो गरमी ही रहती है और न श्वासरूप हवा ही अतः हम उस वायु और गरमीसे शून्य मृत शरीरको शरीर ही नहीं कहते, वह तो केवल मिट्टीका पुतला ही रह गया है । जिसमें पृथिवी आदि भूतोंका विलक्षण रासायनिक मिश्रण होता है और जब तक वह मिश्रण अपने प्रकृत रूपमें बना रहता है तभी तक वह शरीर कहा जा सकता है, मुर्दा अवस्थामें नहीं । 'शरीरका आकार बना है अतः उसमें चैतन्यकी उत्पत्ति होनी चाहिए' यह नियम तो किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मनुष्य या घोड़े के चित्रमें भी मनुष्य और घोड़ेके शरीरका हूबहू जैसाका तैसा आकार मौजूद है, अतः आपके नियमानुसार तो उन चित्रोंको भी बोलना चाहिए तथा जानना चाहिए, उनमें भी चैतन्यकी जागृति होनी चाहिए । अतः यही मानना उचित तथा युक्तिसंगत है कि—चैतन्य शरीरका कार्य है । 'पृथिवी आदि भूतोंका विशिष्ट मिश्रण होनेसे बननेवाले शरीरमें ही, जब तक वह मिश्रण अपने प्रकृत रूपमें रहकर उसे शरीर बनाये रखता है तब तक चैतन्य उसके कार्यरूपमें कायम रहता है ।' अतः चैतन्यविशिष्ट शरीरमें ही 'मैं जानता हूँ' इस अहं प्रत्ययकी उत्पत्ति माननी चाहिए । अतः आत्माको अहम्प्रत्ययका विषय मानकर प्रत्यक्षसिद्ध कहना अयुक्त है । और जब आत्मा प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकती तब उसका सद्भाव नहीं माना जा सकता । अतः हम कह सकते हैं कि—आत्मा नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा अप्रत्यक्ष है, जो किसी भी तरह प्रत्यक्षको प्रतिभासित

१. –त्वं न सिद्धमिति स० २ ।

गृह्यत एव, यथा घटः। अणवोऽपि ह्यप्रत्यक्षाः, किं तु घटादिकार्यतया परिणतास्ते प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति, न पुनरेवमात्मा कदाचिदपि प्रत्यक्षभावमुपगच्छति, अतोऽत्रात्यन्तेति विशेषणमिति न परमाणुभिर्व्यभिचार इति।

§ ९९. तथा नाप्यनुमानं भूतव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रवर्तते, तस्याप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे वा प्रत्यक्षबाधितपक्षप्रयोगानन्तरं प्रयुक्तत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। शरीरव्यतिरिक्तात्मपक्षो हि प्रत्यक्षेणैव बाध्यते।

§ १००. किंच लिङ्गलिङ्गिसंबन्धस्मरणपूर्वकं ह्यनुमानम्। यथा—पूर्वं महानसादावग्निधूमयोर्लिङ्गलिङ्गयोरन्वयव्यतिरेकवन्तमविनाभावमध्यक्षेण गृहीत्वा तत उत्तरकालं कथित्कान्तारपर्वतनितम्बादौ गगनावलम्बिनीं[1] धूमलेखामवलोक्य प्राग्गृहीतसंबन्धमनुस्मरति। तद्यथा—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निमत्प्रक्षं यथा महानसादौ, धूमश्चात्र दृश्यते तस्माद्वह्निनापीह भवितव्यमित्येवं लिङ्गग्रहणसंबन्धस्मरणाभ्यां तत्र प्रमाता हुतभुजमवगच्छति। न चैवमात्मना लिङ्गिना सार्धं कस्यापि लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण संबन्धः सिद्धोऽस्ति, यतस्तत्संबन्धमनुस्मरतः पुनस्तल्लिङ्गवशा-

नहीं होता वह है ही नहीं, जैसे कि आकाशका फूल। जिसका सद्भाव होता है वह प्रत्यक्षसे प्रतिभासित होता ही है जैसे कि घट। यद्यपि परमाणु प्रत्यक्षके विषय नहीं होते परन्तु जब वे मिलकर घट आदि स्थूल रूपको धारण कर लेते हैं तब उनका प्रत्यक्ष हो ही जाता है? पर आत्मा तो कभी भी किसी भी तरह प्रत्यक्षसे प्रतिभासित नहीं होता अतः कैसे इस नितान्त अप्रत्यक्ष पदार्थ की सत्ता मानी जाये। इसीलिए हमने 'अत्यन्त अप्रत्यक्ष' को हेतु बनाया है। परमाणु घट आदि की शकलमें आकर प्रत्यक्ष हो जाते हैं अतः उनसे हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकता। आत्मा तो ऐसा विलक्षण है कि वह किसी भी तरह किसीको भी कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः वह है नहीं।

§ ९९. इसी तरह इन पृथिवी आदि भूतोंसे भिन्न आत्माकी अनुमानसे भी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि पहले तो अनुमान प्रमाण ही नहीं हो सकता। यदि प्रमाण हो भी; तो प्रत्यक्षसे बाधित आत्माको सिद्ध करनेमें हेतुकी प्रवृत्ति होनेसे वह बाधित विषय होकर कालात्ययापदिष्ट हो जायगा। शरीरसे भिन्न स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाला आत्मा तो प्रत्यक्षसे बाधित है अतः ऐसे आत्मा को पक्ष बनाकर उसकी सत्ता सिद्ध करना तो अग्निमें ठण्डक सिद्ध करने के समान बाधित है।

§ १००. दूसरी बात यह है कि—हेतु और साध्यके प्रत्यक्ष आदिसे गृहीत अविनाभाव सम्बन्धकी स्मृति होने पर ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। देखो, जब पहले रसोईघर आदिमें अग्नि और धुआँका अन्वय व्यतिरेकमूलक अविनाभाव सम्बन्धको प्रत्यक्षसे ग्रहण कर लेते हैं तब बादमें किसी जंगल या पर्वतकी गुफा आकाश तक फैलनेवाले धुएँको देखकर पहले ग्रहण किये गये अविनाभावका स्मरण आ जाता है। उस समय अनुमान करनेवाला विचारता है कि रसोईघर आदिमें हमने जहाँ-जहाँ धुआं देखा था वहाँ बराबर अग्नि थी। यहाँ भी वैसा ही धुआं दिखाई दे रहा है अतः यहाँ भी अवश्य अग्नि होनी चाहिए। इस प्रकार प्रमाता धूमहेतुको देखकर तथा पहले ग्रहण किये गये अविनाभावका स्मरण करके अग्निका अनुमान करता है। परन्तु आत्माके साथ किसी भी हेतुका न तो पहले अविनाभाव सम्बन्ध ही प्रत्यक्षसे ग्रहण किया गया है और न उस हेतुका दर्शन ही हो रहा है जिससे उस सम्बन्धका स्मरण करके हेतुसे आत्माका अनुमान किया जा सके। यदि जीव और उसके अनुमापक किसी हेतुका अविनाभाव सम्बन्ध प्रत्यक्षसे गृहीत हो सकता हो; तो उस अवस्थामें जीवका भी प्रत्यक्ष हो ही जायेगा, तब फिर

१. -नीं बहुलधूमले-म० २।

नाज्जीवे स[1] प्रत्ययः स्यात् । यदि पुनर्जीवलिङ्गयोः प्रत्यक्षतः संबन्धसिद्धिः स्यात्, तदा जीवस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्त्यानुमानवैयर्थ्यं स्यात्' तत एव जीवसिद्धेरिति ।

§ १०१. न च वक्तव्यं सामान्यतोदृष्टानुमानादादित्यगतिवज्जीवः सिध्यति, यथा गतिमानादित्यो देशान्तरप्राप्तिदर्शनात्, देवदत्तवत इति । यतो ह्यत्र देवदत्ते दृष्टान्तधर्मिणि सामान्येन देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका प्रत्यक्षेणैव निश्चिता सूर्येऽपि तां तथैव प्रमाता साधयतीति युक्तम् । न चैवमत्र क्वचिदपि दृष्टान्ते जीवसत्त्वेनाविनाभूतः कोऽपि हेतुरध्यक्षेणोपलक्ष्यत इत्यतो न सामान्यतो दृष्टादप्यनुमानात्तद्गतिरिति ।

§ १०२. तथा नाप्यागमगम्य आत्मा । अविसंवादिवचनात्प्रणीतत्वेन ह्यागमस्य प्रामाण्यम् । न चैवंभूतमविसंवादिवचनं कंचनाप्याप्तमुपलभामहे यस्यात्मा प्रत्यक्ष इति । अनुपलम्भ (लभ) मानाश्च कथमात्मानं विप्रलभेमहि । किं च, आगमाश्च सर्वे परस्परविरुद्धप्ररूपिणः । ततश्च कः[2] प्रमाणं कश्चाप्रमाणमिति संदेहदावानलज्वालावलोढमेवागमस्य प्राभाण्यम् । ततश्च नागमप्रमाणादप्यात्मसिद्धिः ३ ।

अनुमानकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि जिस जीवकी सिद्धिके लिए अनुमान किया जायेगा वह जीव तो प्रत्यक्षसे ही सिद्ध हो गया है। किन्तु यह सब प्रत्यक्षकी सामर्थ्यके बाहरकी बात है।

§ १०१. शंका—किसी खास दृष्टान्तमें अविनाभावका ग्रहण न भी हो, तो भी सामान्यरूपसे अविनाभाव ग्रहण कर हेतुसे साध्यका अनुमान हो सकता है, जिस प्रकार कि सूर्यको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचा हुआ देखकर उसकी गतिका अनुमान किया जाता है—सूर्य गति करता है क्योंकि वह देवदत्तकी तरह एक देशसे दूसरे देशमें पहुँच जाता है। यहाँ यद्यपि सूर्यकी गति उसके प्रखर तेजके कारण पहले कभी भी गृहीत नहीं हुई फिर भी देवदत्तमें सामान्यतः अविनाभाव ग्रहण करके गतिका अनुमान किया ही जाता है, उसी तरह यद्यपि आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता फिर भी कहीं साधारण अविनाभाव ग्रहण करके किसी हेतुसे आत्माका भी अनुमान किया जा सकता है।

समाधान—खेद है आपके तर्क पर। अरे भाई, तुम्हारी समझमें इतनी मोटी बात नहीं आ रही है कि—देवदत्त नामके दृष्टान्तमें 'एक देशसे दूसरे देशमें पहुँचना गतिपूर्वक है' यह व्याप्ति प्रत्यक्षसे ही देवदत्तको चलता-फिरता देखकर ग्रहण की जाती है। और जब उक्त व्याप्ति प्रत्यक्षसे गृहीत हो जाती है तभी सूर्यको एक जगहसे दूसरी जगह पहुँचा देखकर उसकी गतिका अनुमान होता है। पर यहाँ तो जीवकी सत्तासे अविनाभावसम्बन्ध रखनेवाला कोई भी हेतु कभी भी प्रत्यक्षसे उपलब्ध नहीं होता। अतः सामान्यतोदृष्ट (जिनका अविनाभाव सामान्यरूपसे देखा गया है) लिङ्गसे भी उसका अनुमान नहीं किया जा सकता है।

§ १०२. आगम प्रमाणसे भी आत्माकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि—अविसंवादी—निर्दोष सत्य बोलनेवाले आप्तके द्वारा कहा गया ही आगम प्रमाणभूत हो सकता है। पर संसारमें कोई ऐसा सर्वथा सत्यवादी आप्त ही नहीं दिखाई देता जिसने आत्माको हथेली पर रखे हुए आँवलेकी तरह आँखोंसे देखा हो, या अन्य किसी उपायसे उसका प्रत्यक्ष किया हो। जब ऐसा कोई आप्त ही नहीं हो रहा है तब उसके नामसे चलनेवाले आगमोंमें विश्वास कर क्यों अपनेको ठगा जाये ? संसारमें सैकड़ों ही आगम हैं, और कोई किसीसे जरा भी नहीं मिलता, सब एक दूसरेके विरोधी हैं। एक पूरबकी कहता है तो दूसरा पश्चिम की। और जब 'कौन आगम प्रमाण है कौन अप्रमाण'

---

१. सत्प्रत्ययः भ० २ । २. –ना कथ–भ० २ । ३. कः प्रमाणमिति सन्देह–भ० २ ।

§ १०३. तथा नोपमानप्रमाणोपमेयोऽप्यात्मा। तत्र हि यथा गौस्तथा गवय इत्यादाविव सादृश्यमसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति। न चात्र त्रिभुवनेऽपि कश्चनात्मसदृशपदार्थोऽस्ति यद्दर्शनादात्मानमगवच्छामः। [1]ननु कालाकाशदिगादयो जीवतुल्या विद्यन्त एवेति चेत्; न; तेषामपि विवादास्पदीभूतत्वेन तवंहिबद्धत्वात् ४।

§ १०४. तथार्थापत्तिसाध्योऽपि नात्मा। नहि दृष्टः श्रुतो वा कोऽप्यर्थ आत्मानमन्तरेण नोपपद्यते, यद्बलात् तं साधयामः।

§ १०५. ततः सदुपलम्भकप्रमाणविषयातीतत्वात् तत्प्रतिषेधसाधकाभावाख्यप्रमाणविषयीकृत एव जीव इति स्थितम्।

§ १०६. अत्र प्रतिविधीयते। [2]यत्तावदुक्तम् "इह कायाकारपरिणतानि भूतान्येवोपलभ्यन्ते न पुनस्तद्व्यतिरिक्त आत्मा, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्" इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; प्रत्यक्षस्यैव [3]तत्सद्भावे प्रमाणस्य सद्भावात्। तथाहि—'सुखमहमनुभवामि' इत्यन्योन्यविविक्त-

---

इत्यादि सन्देहरूपी दावानलकी ज्वालाओंमें ही बिचारे आगमकी प्रमाणता जलकर खाक हो गयी है। तब ऐसे अप्रामाणिक आगमसे जीवसिद्धि नहीं की जा सकती।

§ १०३. उपमान प्रमाण भी आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि जब गाय और रोज दोनों ही प्रत्यक्षके विषय हैं, तभी 'गौके समान गवय होता है' इस वाक्यका स्मरण कर और गवयको सामने देखकर परोक्ष गौमें सादृश्य बुद्धि होती है। परन्तु इस त्रिलोकमें कोई भी पदार्थ आत्माके समान नहीं है, जिसे देखकर आत्माकी सत्ताका उपमान किया जा सके। काल, आकाश, दिशा आदि सभी अमूर्त पदार्थ जीवके समान ही अप्रत्यक्ष होनेसे विवादमें पड़े हैं, अनिश्चित हैं। अतः जीवकी टाँगसे इनको टाँगे भी बँधी हैं।

§ १०४. इसी तरह अर्थापत्तिसे भी आत्माका सद्भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि—आत्माके बिना नहीं होनेवाला कोई भी अविनाभावी अर्थ न तो देखा ही गया है और न सुना ही गया है, जिसके बलपर अर्थापत्ति आत्माके सिद्ध करनेका गुरुतम भार उठावे।

§ १०५. अन्तमें जब आत्माके सद्भावको साधनेवाले प्रत्यक्ष आदि कोई भी प्रमाण नहीं मिलते, किसीकी भी हिम्मत आत्माको विषय करनेकी नहीं होती; तब अभाव प्रमाण ही आत्माको विषय करेगा और वह आत्माकी सत्ताको समूल उच्छेद करके ही छोड़ेगा। अतः आत्मनामका कोई भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

§ १०६. **जैन (उत्तरपक्ष)**—आपका यह कहना—'शरीर रूपसे परिणत भूतोंको छोड़कर अन्य आत्माको सिद्ध करनेवाले प्रमाण नहीं है', नितान्त अविचारपूर्ण है; क्योंकि समस्त प्रमाणोंमें ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ प्रत्यक्षप्रमाण ही आत्माकी सत्ताको बराबर सिद्ध करता है। जैसे—'मैं सुखका अनुभव करता हूँ' इस प्रतिभासमें सुखको अनुभव करनेवाला ज्ञाता, अनुभवमें आनेवाला विषयभूत सुख तथा अनुभव होना रूप ज्ञान किया तीनों ही वस्तुओंका स्वतन्त्र रूपसे हर एक

---

१. 'ननु' नास्ति आ०, क०, म० १, प० १, प० २। २. यदुक्तं म० २। ३. "स्वसंवेद्यः स भवति नासावन्येन लक्ष्यते द्रष्टुम्, नासावन्येन चक्ष्यते द्रष्टुं कथमसौ निर्दिश्येत ···· असौ पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते न चान्यस्मै शक्नोति दर्शयितुम्····" —शाबरभा० १।१।५। "अहं प्रत्ययविज्ञेयः स्वयमात्मोपलभ्यते ॥१०७॥" —मीमांसाश्लो० आत्मवाद। "स्वसंवेदनतः सिद्धः सदात्मा बाधवर्जितात्। तस्य भ्रमादिविषयत्वमन्यात्मन्यनुपपत्तितः ॥२६॥" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६। शास्त्रवा० समु० श्लो० ७५। न्यायकुमु० पृ० ३४३। "'सुखहं दुःखहमिच्छावानहम्' इत्याद्यनुपचरिताहम्प्रत्ययस्यात्मग्राहिणः प्रतिप्राणि संवेदनात्।" —प्रमेयक० पृ० ११२।

ज्ञेयज्ञातृज्ञानोल्लेखी प्रतिप्राणि स्वसंवेद्यः प्रत्ययो जायमानः संवेद्यते । न चायं मिथ्या; बाधकाभावात् । नापि संदिग्धः; उभयकोटिसंस्पर्शाभावात् । न चेत्थंभूतस्यास्यानालम्बनत्वं युक्तम्; रूपादिज्ञानानामप्यनालम्बनत्वप्रसङ्गात् । नापि [1]शरीरालम्बनत्वम्; बहिःका(क)रणनिरपेक्षान्तःकरणव्यापारेणोत्पत्तेः । न खलु शरीरमित्थंभूताहंप्रत्ययवेद्यम्; बहिःकरणविषयत्वात् । अतः शरीरातिरिक्तः कश्चिदेतस्यालम्बनभूतो ज्ञानवानर्थोऽभ्युपगन्तव्यः, तस्यैव ज्ञातृत्वोपपत्तेः[2] । स च जीव एवेति सिद्धः स्वसंवेदनप्रत्यक्षलक्ष्य आत्मा ।

§ १०७. तथा यदप्युक्तम् 'चेतनायोगेन सचेतनत्वाच्छरीरस्यैवाहंप्रत्ययः' इत्यादि; तदपि प्रलापमात्रम्; यतश्चेतनायोगेऽपि स्वयं चेतनस्यैवाहंप्रत्ययोत्पादो युक्तः, न त्वचेतनस्य यथा परःसहस्रप्रदीपप्रभायोगेऽपि स्वयमप्रकाशस्वरूपस्य घटस्य प्रकाशकत्वं न दृष्टं किन्तु प्रदीपस्यैव । एवं चेतनायोगेऽपि न स्वयमचेतनस्य देहस्य ज्ञातृत्वं किन्वात्मन एवेति तस्यैव चाहंप्रत्ययोत्पादः ।

प्राणीका अनुभव हो रहा है । इसमें अनुभव करनेवाला 'मैं' शब्दका वाच्य पदार्थ ही आत्मा है । उपर्युक्त प्रतिभास निर्बाध रूपसे होता है अतः मिथ्या नहीं कहा जा सकता । निश्चित एक कोटिको विषय करता है अतः संशयरूप भी नहीं है । क्योंकि विरुद्ध दो कोटियोंमें झूलनेवाले चलित प्रतिभासको संशय कहते हैं । 'मैं सुखका अनुभव करता हूँ' यह निर्बाध ज्ञान निर्विषय अर्थात् मात्र काल्पनिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निर्बाध ज्ञानको काल्पनिक या निर्विषय कहने पर तो 'यह घट है, यह रूप है' इत्यादि सभी ज्ञानोंको निर्विषय तथा काल्पनिक कहनेका अनुचित रिवाज पड़ जायेगा । फिर संसारमें कोई भी ज्ञान सविषयक नहीं रह पायेगा । उपर्युक्त प्रत्यय शरीरको विषय करनेवाला भी नहीं है; क्योंकि शरीरादि पदार्थोंका प्रतिभास तो चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा होता है जब कि 'मैं सुखी हूँ' इस अनुभवमें बाह्य इन्द्रियोंकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है, वह तो शुद्ध मनोव्यापारसे ही उत्पन्न होनेवाला मानसिक ज्ञान है । शरीर कभी भी मनमात्रसे होनेवाले 'मैं सुखी हूँ' इस मानसिक अहंप्रत्ययका विषय नहीं हो सकता । वह तो घटादि पदार्थोंकी तरह बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जाना जाता है । जो अचेतन हैं तथा बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा जाने जाते हैं वे कभी मानसिक अहंप्रत्ययके ग्राह्य नहीं हो सकते । अतः इस अहंप्रत्ययका विषय शरीरसे भिन्न कोई ज्ञानवाला पदार्थ मानना चाहिए, जो भी ज्ञानवाला पदार्थ 'मैं सुखी हूँ' इस प्रत्ययमें 'मैं' शब्दका वाच्य है वही ज्ञाता है, वही आत्मा है, वही जीव है । इस तरह मानसिक स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ही आत्माके सद्भावमें सबसे बड़ा साधक प्रमाण है ।

§ १०७. आपका यह कथन—'शरीर चेतनाके सम्बन्धसे सचेतन बनकर अहंप्रत्ययका विषय होता है'; कोरी बकवास है; क्योंकि पहले तो अचेतनमें चेतनका सम्बन्ध हो नहीं हो सकता । जो स्वयं चेतन नहीं है वह अचेतन है, हजारों बार चेतनासे सम्बन्ध रखने पर भी चेतन नहीं बन सकता और न अहम्प्रत्ययका विषय ही हो सकता है । जैसे स्वयं अप्रकाश रूप घड़ेमें हजारों दीपकोंका संयोग कर दीजिए, पर वह कभी भी स्वयं प्रकाशक नहीं हो सकता, प्रकाशक तो स्वयं प्रकाशवाला दीपक ही हो सकता है । इसी तरह शरीरमें चेतनाका सम्बन्ध होने पर भी स्वयं अचेतन शरीर कभी भी ज्ञाता या चेतन नहीं बन सकता । ज्ञाता या चेतन तो स्वयं चेतनावाला आत्मा ही हो सकता है और वही अहम्प्रत्ययका विषय हो सकता है ।

---

१. "न शरीरालम्बनमन्तःकरणव्यापारेण तत्पत्तेः । तथाहि न शरीरमन्तःकरणपरिच्छेद्यं बहिर्विषयत्वात् ।" —प्रश० व्यो० पृ० ३९१ । प्रमेयक० पृ० ११२ । २. —पत्तिः म० २ । ३. स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा म० २ । स्वसंवेदनवेद्याहंप्रत्ययोत्पाद्ययुक्तो न त्वचेतनः प्रत्यक्षलक्ष्य आत्मा क० । ४. —योगेनेत्यादि तन्न प्रकाशयोगेऽपि स्वयमप्रकाशस्वरूपस्य घटस्य प्रकाशकत्वं न दृष्टं म० २ ।

§ १०८. योऽपि 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इत्याद्यहंप्रत्ययः समुल्लसति, सोऽप्यात्मोपकारकत्वेन शरीरे जायमान औपचारिक' एव, अत्यन्तोपकारके भृत्ये 'अहमेवायं' इति प्रत्ययवत् ।

§ १०९. तथा 'शरीरस्यैव चैतन्यं प्रति कर्तृत्वम्' इत्यादि यदप्यवादि वादिद्रुहिणेन; तदप्युन्मत्तवचनरचनामात्रमेव; चेतनायाः शरीरेण सहान्वयव्यतिरेकाभावात्[2] । मत्तमूर्च्छितप्रसुप्तानां तादृशशरीरसद्भावेऽपि न तथाविधं चैतन्यमुपलभ्यते । दृश्यते च केषांचित् कृशतरशरीराणामपि चेतनाप्रकर्षः, केषांचित् स्थूलदेहानामपि तदपकर्षः । ततो न तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि चैतन्यम्, अतो न तत्कार्यम् ।

§ ११०. किंच, नहि चैतन्यस्य भूतकार्यत्वे किमपि प्रमाणमुपलभामहे । तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षम्, अतीन्द्रियविषये तदप्रवर्तनात् । नहि भुत्पन्नमनुत्पन्नं वा चैतन्यं भूतानां कार्यमिति 'प्रत्यक्ष-

---

§ १०८. 'मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ' ये अहम्प्रत्यय अवश्य ही शरीरके मुटापे और दुबलेपनके निमित्तसे होते हैं; परन्तु ये प्रत्यय औपचारिक हैं, मुख्य नहीं हैं। बात यह है कि—शरीर आत्माका अत्यन्त सगा उपकारी है अतः इस चिरकालीन सम्बन्धके कारण शरीरमें ही अहम्प्रत्यय हो जाता है। शरीर तो इतना निकटसम्बन्धी है कि इसके बिना आत्माका जीना ही कठिन है। शरीरकी बात जाने दो, जो नौकर अत्यन्त वफादार या विश्वासपात्र होता है उसमें भी लोग 'यह मैं ही हूँ', 'यह तो हमारा दाहिना हाथ है' इत्यादि व्यवहार करने लगते हैं। अतः जिस प्रकार वफादार नौकरमें होनेवाला अहम्प्रत्यय मात्र व्यवहारकी घनिष्ठता दिखानेके लिए है वह मुख्य नहीं है उसी तरह शरीरके मुटापेमें 'मैं मोटा हूँ' यह प्रत्यय भी महज व्यावहारिक ही है, शरीर और आत्माके निकट सम्बन्धके कारण होनेवाला है मुख्य नहीं है।

§ १०९ 'शरीर ही चैतन्यका कर्ता है' आपका यह कुत्सित कथन तो शराबीको सनक-जैसा ही बेसिर-पैरका मालूम होता है, क्योंकि चेतनाका शरीरके साथ कोई अन्वय या व्यतिरेक नहीं है। देखो, शराबके नशेमें उन्मत्त शराबीके, मूर्च्छित व्यक्तिके या गहरी नींदमें मस्तीसे सोये हुए मनुष्यके शरीर तो जैसाका तैसा मौजूद है परन्तु चैतन्यकी तो वही हालत नहीं है। मत्त, मूर्च्छित आदि व्यक्तियोंमें चैतन्य तो नहींके समान ही हो जाता है। शरीरके साथ चैतन्यका अविनाभाव—अर्थात् नियत सम्बन्ध हो तो शरीर की बाढ़ या मुटापेमें चैतन्यका उत्कर्ष तथा शरीरकी दुर्बलतामें चैतन्यकी हानि देखी जानी चाहिए। परन्तु बहुत-से दुर्बल शरीरवाले अत्यन्त बुद्धिशाली उत्कृष्ट चैतन्य वाले देखे जाते हैं और बहुत-से मोटे शरीरवाले पहलवान् महालण्ठ मूर्ख शिरोमणि देखे जाते हैं। अतः शरीरके साथ चेतनाका अन्वयव्यतिरेक न होनेसे चैतन्यको शरीरका कार्य नहीं कह सकते।

§ ११०. 'पृथिवी आदि भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न होता है' आपके इस विचित्र सिद्धान्तको सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। देखिए—प्रत्यक्ष तो चैतन्यको भूतोंका कार्य नहीं साध सकता; क्योंकि प्रत्यक्षकी दौड़ तो सामने रखे हुए योग्य स्थूल पदार्थों तक ही है, चैतन्य तो स्वभावतः अमूर्त होनेसे उसकी दौड़के बाहर है। प्रत्यक्षकी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह अमूर्त पदार्थोंको भी जान सके। अतीन्द्रिय पदार्थ उसकी सीमाके बाहर हैं, वह उनमें प्रवृत्ति

१. "मदीयो भृत्य इति ज्ञानवन्मदीयं शरीरमिति भेदप्रत्ययदर्शनात् भृत्यवदेव शरीरेऽप्यहमिति ज्ञानस्य औपचारिकत्वमेव युक्तम्। उपचारस्तु निमित्तं विना न प्रवर्त्तते इत्यात्मोपकारकत्वं निमित्तं कल्प्यते।" —प्रश० व्यो० पृ० ३९१। न्यायकुमु० पृ० ३४९। सन्मति० टी० पृ० ८६। प्रमेयक० पृ० ११२। २. "व्यतिरेकः तद्भावाभावित्वात्न तूपलब्धिवत्।" —ब्रह्मसू० ३।३।५५। तत्त्वसं० पं० पृ० ५२५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३०। "भूत-चैतन्ययोः कार्यकारणभावानुपपत्तेः।" —न्यायकुमु० पृ० ३४४। ३. ततोऽतदन्व—म० २। ४. प्रत्यक्षं व्यापार म० १, भ० २, प० १, प० २।

व्यापारमुपैति, 'तस्य स्वयोग्यसंनिहितार्थग्रहणरूपत्वात्, चैतन्यस्य चामूर्त्तत्वेन तदयोग्यत्वात् । न च 'भूतानामहं कार्यम्' इत्येवमात्मविषयं भूतकार्यत्वं प्रत्यक्षमवगन्तुमलम्, कार्यकारणभावस्यान्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यत्वात् । न च भूतचैतन्यातिरिक्तः[2] कश्चिदन्वयी तदुभयान्वयव्यतिरेक[3]ज्ञाताभ्युपगम्यते, आत्मसिद्धिप्रसङ्गात् ।

§ १११. तथानुमानेनापि चैतन्यस्य भूतकार्यत्वं प्रतीयते, तस्यानभ्युपगमात्, "प्रत्यक्ष-मेवैकं प्रमाणं नान्यत्" [ ] इति वचनात् । अभ्युपगमेऽपि न ततो विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धिः ।

§ ११२. ननु कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं समुत्पद्यते, तद्भाव एव चैतन्यभावात्, मद्याङ्गेभ्यो "मदशक्तिवत्' इत्याद्यनुमानाद्भूतत्वेव चैतन्यस्य भूतकार्यत्वसिद्धिरिति चेत्; न; तद्भाव एव तद्भावादिति हेतोरनैकान्तिकत्वात्, मृतावस्थायां तद्भावेऽपि चैतन्यस्याभावात् ।

§ ११३. स्यादेतत्, पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतचतुष्टयसमुदायजन्यं हि चैतन्यम्, न च मृत-

---

नहीं कर सकता। चैतन्य उत्पन्न हो या अनुत्पन्न, वह किसी भी हालतमें उसमें प्रत्यक्षका व्यापार नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष योग्य और सन्निहित पदार्थोंको ही विषय करता है। किन्तु चैतन्य अमूर्त्त होनेसे योग्य ही नहीं है। स्वयं प्रत्यक्ष 'मैं भूतोंसे उत्पन्न हुआ हूँ' इस अपनी ही भूत-कार्यता को नहीं जान सकता; क्योंकि कार्यकारणभावके जानने का सीधा और सरल मार्ग है अन्वयव्यतिरेक मिलाना। भूत और चैतन्यको छोड़ कर कोई तीसरा अन्वयी पदार्थ इनके कार्य-कारण भावको जाननेवाला उपलब्ध ही नहीं होता, जो इन दोनों को जानकर इनके अन्वयव्यति-रेक को मिला सके। ऐसा ज्ञाता तो आत्मा ही हो सकता है। अतः चैतन्यको भूतकार्यताका भी परिज्ञान आत्माको माने बिना नहीं हो सकता।

§ १११. अनुमानको तो आप प्रमाण ही नहीं मानते, अतः उसके द्वारा "चैतन्य भूतोंका कार्य है' यह जानना निरर्थक ही नहीं है। "प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है इससे भिन्न कोई दूसरा प्रमाण नहीं है" यह स्वयं आपका ही वचन है। आप यदि अनुमानको स्वीकार भी करोगे, तब भी उससे चैतन्यमें भूतकार्यता नहीं साधी जा सकती। क्योंकि व्याप्तिका ग्रहण, उसका स्मरण, पहले देखे गये हेतुसे वर्तमान हेतुको समानता मिलाना आदि ऐसी बातें हैं जो आत्माके ही बशकी हैं। अनुसंधाता आत्मा माने बिना अनुमानका उत्पन्न होना ही कठिन है। इसके सिवाय कोई ऐसा अनुमान भी नहीं है जो आत्माको भूतोंका कार्य सिद्ध कर सके।

§ ११२. **चार्वाक**—चैतन्यको भूतोंका कार्य सिद्ध करनेवाला निम्न अनुमान है–'शरीर रूपसे परिणत पृथिवी आदि भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न होता है, क्योंकि शरीरके होनेपर ही चैतन्यकी उपलब्धि होती है, शरीरसे नहीं होनेपर चैतन्य भी उपलब्ध नहीं होता,—जैसे महुआ आदिके सड़ानेसे उनमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है और वे शराब कहलाने लगते हैं उसी तरह इन भूतोंको जब शरीरके रूपमें विशिष्ट मिश्रण हो कर चैतन्य उत्पन्न हो जाता है तब ये ही आत्मा कहे जाते हैं।' इस अनुमानसे चैतन्यकी भूतकार्यता बखूबी साधी जा सकती है। चैतन्य पृथिवी जल, आग और हवा इन चारों भूतोंका अमुक मिकदारमें मिश्रण होनेपर ही चैतन्य उत्पन्न होता है। जब शरीर मुरदा हो जाता है तब उसका वह विशिष्ट रासायनिक मिश्रण बिगड़ जाता है, उसमेंसे श्वासरूप हवा तथा गरमी आदि निकल जाती है अतः यह ठीक ही है कि उसका चैतन्य समाप्त हो जाए और वह अचेतन बन जाय।

§ ११३. **जैन**—आप कहते हो कि 'मुरदा शरीरमें हवा नहीं रही अतः उसका चैतन्य खतरेमें

---

१. तस्य योग्य–म० २। २. –तन्यादति–म० २। ३. –कश्चोभ्यु–म० २। ४. इत्याह—"मद-शक्तिवद् विज्ञानम्।" —न्यायकुमु० पृ० ३४२। प्रमेयक० पृ० ११५। ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३। न्यायमं० पृ० ४६७। "मदशक्तिवच्चैतन्यमिति।" —प्रकरणपं० पृ० १४६।

शरीरे वायुरस्ति, ततस्तदभावात्तत्र चैतन्याभाव इति न[1] तेन व्यभिचारः; अत्रोच्यते—सति शुषिरे [2]तत्र वातः सुतरां संभाव्यत एव। किं च यदि तत्र वायुवैकल्याच्चैतन्यस्याभावः ततो बस्त्यादिभिः संपावित[3] वायौ तत्र चैतन्यमुपलभ्येत, न च तत्र तत्संपावितेऽपि वायौ चैतन्यमुपलभ्यते।

§ ११४. अथ प्राणापानलक्षणवायोरभावान्न तत्र चैतन्यमिति चेत्; न; अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाभावान्न प्राणापानवायोश्चैतन्यं प्रति हेतुता। यतो मरणावस्थायां प्रचुरतरदीर्घश्वासोच्छ्वाससंभवेऽपि चैतन्यस्यात्यन्तपरिक्षयः। तथा ध्यानस्तिमितलोचनस्य संवृतमनोवाक्कायोगस्य निस्तरङ्गमहोदधिकल्पस्य कस्यापि योगिनो निरुद्धप्राणापानस्यापि परमप्रकर्षप्राप्तश्चैतन्योपचयः समुपलभ्यते।

§ ११५. अथ तेजसोऽभावान्न मृतावस्थायां चैतन्यमिति चेत्; तर्हि तत्र तेजस्युपनीते सति [4]कथं न चेतनोपलभ्यते।

§११६. किं च, मृतावस्थायां यदि वायुतेजसोरभावेन चैतन्याभावोऽभ्युपगम्यते, तर्हि

पड़कर खतम हो गया' यह तो केवल हवा ही बाँधी जा रही है इसमें कोई दम नहीं है; क्योंकि जब शरीर भीतरसे पोला है, खोखला है और नाक आदिके छेद भी हैं तब हवाका अभाव तो कहा ही नहीं जा सकता। हवा तो थोड़ा भी अवकाश रहने पर सर्वत्र पहुँच जाती है। यदि वायुके न रहनेसे आप मुरदेमें चैतन्यका अभाव कहते हैं, तो जिस समय गुदाके रास्ते नाली आदिके द्वारा पेटमें खूब डटकर हवा भर दी जाये तो आपके मतसे उसमें चैतन्य आ जाना चाहिए। परन्तु इस तरह हवासे फुला देनेपर भी उसमें चैतन्यका लेश भी नहीं आता।

§ ११४. **चार्वाक**—आप तो हवा शब्दको पकड़कर उसके बालकी खाल खींचने लगे। भाई, फुटबालकी तरह मामूली हवाके भरे जानेसे थोड़े चैतन्य आता है। किन्तु जब श्वास लेने और निकालनेके क्रमसे अपने आप हवाके आने जानेका सिलसिला चालू हो तभी उसमें चैतन्य माना जा सकता है।

जैन—श्वासोच्छ्वासके चालू रहनेका चैतन्यके साथ कोई अन्वयव्यतिरेक नहीं है और न श्वासोच्छ्वासकी वृद्धिसे चैतन्यको बढ़ती ही देखी जाती है। देखो, जब आदमी मरने लगता है तब खूब जोरसे दम फूलने लगती है परन्तु वहाँ चैतन्यकी बढ़ती तो नहीं देखी जाती, उलटे उसके अत्यन्त नाशका ही समय उपस्थित हो जाता है। तथा कोई समाधिनिष्ठ योगी जब प्राणायामके द्वारा श्वासोच्छ्वासको कतई रोक देता है तब उस मन वचनके व्यापारको निरोध करनेवाले, बिना लहरोंवाले प्रशान्त महासागरकी तरह शान्त चित्तवाले, आंख मूँदे हुए ध्यानावस्थ योगीके श्वासोच्छ्वासका अभाव होनेपर भी चैतन्यकी परम उत्कृष्ट दशाका विकास देखा जाता है।

§ ११५. इसी तरह गरमी निकल जानेके कारण मुरदेमें चैतन्यका अभाव करना भी अयुक्त है; क्योंकि यदि आगके द्वारा मुरदेको खूब सेक दिया जाये उसमें पर्याप्त गरमी पहुँचा दी जाय तो आपके हिसाबसे उसमें चैतन्य आ जाना चाहिए। फिर तो ज्यों ही चितामें आग लगायी और मुरदा गरम हुआ कि खटसे उसे जी उठना चाहिए और अपने बिलखते हुए कुटुम्बियोंको सान्त्वना देने लगना चाहिए। परन्तु ऐसा कभी भी न देखा है और न सुना ही है।

§ ११६. यदि वायु और गरमीके न होनेसे मुरदा चेतनाशून्य माना जाता है तब उसमें कुछ देर बाद ही उत्पन्न होनेवाले कीड़ोंमें चैतन्य कहाँसे आयगा। आपके हिसाबसे तो वायु और

---

१. न तत्र व्यभि–म० १। २. तत्र सुतरां वातः म० १। ३. वायौ समुप–म० १, म० २, प० १, प० २। ४. कथं चेतना नोपल –म० २।

मृतशरीरे क्वियद्वेलानन्तरं समुत्पन्नानां कुम्यावीनां कथं चैतन्यम् । ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

§ ११७. किञ्च न चैतन्यं भूतमात्रकारणम् । तथा सति चैतन्यस्य भूतमात्रजन्यस्वभावत्वात् क्वचिदपि तज्जननस्वभावत्वात् सर्वदा सर्वत्र घटादौ पुरुषादिष्विव व्यक्तचैतन्योत्पादो भवेत्, निमित्तविशेषात् । एवं च घटादिपुरुषयोरविशेषः स्यात् ।

§ ११८. ननु 'कायाकारपरिणामप्राणापानपरिग्रहवद्भ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यमुपलभ्यते' इति 'वचनाच्च पूर्वोक्तोऽतिप्रसङ्गदोषावकाश इति चेत्; तन्न; त्वन्मते कायाकारपरिणामस्यैवानुपपद्यमानत्वात् । तथाहि—स कायाकारपरिणामः किं पृथिव्यादिभूतमात्रनिबन्धनः, उत वस्त्वन्तरनिमित्तः उताहेतुकः इति त्रयी गतिः । तत्र न लाघवाद्यः पक्षः कक्षीकरणीयः पृथिव्यादिसत्तायाः सर्वत्र सद्भावात् सर्वत्रापि कायाकारपरिणामप्रसङ्गः ।

§ ११९. तथाविधसाम्यादिभावसहकारिकारणवैकल्यान्न सर्वत्र तत्प्रसङ्ग इति चेत्; तन्न;

गरमी न होनेसे मुरदा शरीर इस लायक ही नहीं रहा कि वह चैतन्यको उत्पन्न कर सके । अतः ये सब कुतर्क निरर्थक हैं केवल वाग्जाल मात्र हैं ।

§ ११७. यदि पृथिवी आदि भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न हो जाता हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि—चैतन्यका हर एक भूतसे उत्पन्न होनेका स्वभाव है तथा भूतोंका चैतन्यको पैदा करनेका स्वभाव है । ऐसी हालतमें घड़े आदि सभी भौतिक पदार्थोंमें चैतन्यकी उत्पत्ति हो जाने से सब जीवमयी सृष्टि हो जायगी । तब घट तथा पुरुष में कोई फ़र्क ही नहीं रहेगा । जिस प्रकार भूतोंसे पुरुषमें चैतन्य प्रकट होता है उसी तरह घटादिमें भी चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनी ही चाहिए । फिर तो घड़ा भी बोलेगा, चालेगा, फिरेगा तो खायेगा पीयेगा ।

§ ११८. **चार्वाक**—भाई, तुम लोगोंकी तो विचित्र बुद्धि है । हम तो यह कह रहे हैं कि—'जब भूतोंका विशिष्ट रासायनिक मिश्रण होकर शरीर रूपसे परिणमन हो जाता है तथा उसमें श्वासोच्छ्वासकी धमनी चलने लगती है तभी उनसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है साधारण भूतोंसे नहीं ।' आप घड़ेमें साधारण भूतोंकी सत्ता दिखाकर चैतन्योत्पत्तिका प्रसङ्ग दे रहे हैं । यह तो बुद्धिकी विचित्रता ही है ।

जैन—बुद्धिकी विचित्रता तो आपको मालूम होती है । आपके मतमें भूतोंका शरीर रूपसे परिणमन होना ही कठिन है । आप बताइए भूतोंका शरीर रूपसे परिणमन क्या वे भूत हैं इसीलिए हो जाता है, या अन्य कोई वस्तु उन भूतोंको शरीर रूपसे परिणमन करा देती है अथवा बिना किसी कारणके अकस्मात् ही भूत शरीर बन जाते हैं ? पहली कल्पना तो राजमुख आपकी बुद्धिका दिवाला ही निकाल देगी । वे भूत हैं इसीलिए उन्हें शरीर रूप बन जाना चाहिए; तब घड़ा भी शरीर क्यों नहीं बन जाता ? घड़ा ही क्यों ? संसारके समस्त भौतिक पदार्थ शरीर बन जायें और उनमें चैतन्यकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए ।

§ ११९. **चार्वाक**—आप तो घुम फिर कर फिर वहीं आ जाते हैं । हम दस बार कह चुके हैं कि—उतनी मिकदार में भूतों का मिश्रण सब घटपटादि में नहीं है अतः सभी भौतिक पदार्थ शरीर नहीं बन सकते । चैतन्य की उत्पत्ति या भूतोंका शरीर रूपसे परिणमन करनेमें यही विशिष्ट मिश्रण, अमुक मात्रामें संयोग ही सहकारी होता है ।

१. "पृथिव्य (व्या) पस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्" इत्यत्र" —प्रमेयक० पृ० ११६ । तत्त्वोप० पृ० १ । मामती १।१।५४ । तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० । स० दर्शो० पृ० २८ । न्यायकुसु० पृ० ३७१ । २. चेष्ट त्वन्मते सोऽपि अ० १, अ० २, प० १, प० २ ।

यतः सोऽपि साम्यादिभावो न वस्त्वन्तरनिमित्तः, तत्त्वान्तरापत्तिप्रसङ्गात्, किंतु पृथिव्यादिसत्ता-मात्रनिमित्तः, अतस्तस्यापि 'सर्वत्राप्यविशेषेण भावप्रसङ्गात् कुतः सहकारिकारणवैकल्यमिति। अथ वस्त्वन्तरनिमित्तः इति पक्षः तदप्ययुक्तम्; तथाभ्युपगमे जीवसिद्धिप्रसङ्गात्। अथाहेतुकः; तर्हि सदा भावादिप्रसङ्गः, 'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् [प्र० वा० ३।३४]' इति वचनात्। तन्न त्वन्मते कायाकारपरिणामः संगच्छते। तदभावे तु दूरोत्सारितमेव प्राणापानपरिग्रहवत्त्वममीषां भूतानामिति, चैतन्यं न भूतकार्यमित्यतो जीवगुण एव चेतनेत्यभ्युपगन्तव्यम्।

§ १२०. किंच, गुणप्रत्यक्षत्वादात्मापि गुणी प्रत्यक्ष एव। प्रयोगो यथा—प्रत्यक्ष आत्मा, स्मृतिजिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषासंशयादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात्। इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो दृष्टः, यथा घट इति। प्रत्यक्षगुणश्च जीवः, तस्मात्प्रत्यक्षः। अत्राह परः—अनैकान्तिकोऽयं हेतुः, यत आकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षः, न पुनराकाशम्; तदयुक्तम्; यतो नाकाश-

जैन—आपने कहा तो है पर वह प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि भूतों का अमुकगात्रामें मिश्रण भी कोई किसी अन्य वस्तु तो आकर करेगी नहीं; आपके मत में तो पृथिवी पानी आग और हवाके सिवाय कोई पाँचवाँ पदार्थ तो है ही नहीं। यदि कोई पाँचवाँ पदार्थ इन भूतोंका अमुक मात्रामें मिश्रण कर देता है तब वही आत्मा है, जिसके सद्भावसे मिश्रणमें विशिष्टता आकर चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है। यदि कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है और इन्हीं भूतोंमें ही क्वचित् विशिष्ट मिश्रण हो जाता है, तब भूतोंकी सत्ता तो हर जगह है अतः सब घटपटादि पदार्थोंमें विशिष्ट मिश्रण होकर चैतन्य प्रकट हो जाना चाहिए। यदि भूतोंका कायाकार परिणमन कोई पाँचवीं वस्तु आकर कराती है तब वही पाँचवीं वस्तु आत्मा है, जो इन चार भूतोंसे विलक्षण है। यदि भूतोंका शरीर रूपसे परिणमन अकारण ही अपने आप जब चाहे हो जाता है; तब सभी भूतोंका सदा शरीर रूपसे परिणमन होना चाहिए या बिलकुल भी नहीं होना चाहिए। अहेतुक वस्तु या तो सदा रहनेवाली आकाश आदि की तरह नित्य होती है अथवा बिलकुल ही न रहनेवाली असत् होती है जैसे खरविषाण। वह कभी होनेवाली और कभी न होनेवाली नहीं हो सकती। कहा भी है—"अन्य हेतुओंकी अपेक्षा न रखनेवाला पदार्थ या तो सदा सत्-नित्य होगा, या बिलकुल असत् होगा। अन्य कारणोंकी अपेक्षासे ही पदार्थमें कादाचित्क—कभी-कभी होनेवाले होते हैं।" अतः आपके मतमें भूतोंका शरीर रूपसे परिणमन ही असंभव है। जब शरीर ही नहीं बन सका तब उसमें श्वासोच्छ्वास का यन्त्र चलना तो दूर की ही बात है, असम्भव है। इसलिए चैतन्य किसी भी तरह भूतोंका कार्य नहीं है वह तो आत्माका ही गुण हो सकता है।

§ १२०. चूंकि ज्ञान आदि गुणोंका प्रत्यक्ष होता है अतः गुणी आत्माको भी प्रत्यक्ष मानना उचित ही है। प्रयोग—आत्मा प्रत्यक्षका विषय है; क्योंकि स्मृति, जाननेकी इच्छा, कार्य करनेकी इच्छा, घूमनेकी इच्छा, संशयादि ज्ञान इत्यादि उसके गुणोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें अनुभव होता है। 'मैं स्मरण करता हूँ, मैं जानना चाहता हूँ' इत्यादि मानसिक स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें स्मृति आदि गुणोंका स्वरूप स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है। जिसके गुणोंका प्रत्यक्ष होता है उस गुणी का भी प्रत्यक्ष अवश्य होता है जैसे कि घटके रूप आदि गुणोंका प्रत्यक्ष होनेपर घट गुणीका प्रत्यक्ष होना प्रसिद्ध है। चूंकि जीवके ज्ञानादिगुण भी स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय होते हैं अतः आत्माका भी प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए।

शंका—वैशेषिक शब्दको आकाशका गुण मानता है। अतः वह अपनी मान्यतानुसार उक्त

१. -प्यविशेषेण भावात्, कुतः म० १, प० १, प० २। -प्यविशेषणभावात् भ० २। २. -कार्यमतो भ० २। ३. -विशेषणानां तद्गुण- भ० २।

गुणः शब्दः किंतु 'पुद्गलगुणः, ऐन्द्रियकत्वात्, रूपादिवत् । एतच्च पुद्गलविचारे समर्थयिष्यते ।

§ १२१. अत्राह ननु भवतु गुणानां प्रत्यक्षत्वात्तदभिन्नत्वाद्गुणिनोऽपि प्रत्यक्षत्वम् । किंतु देह एव ज्ञानादयो गुणा उपलभ्यन्ते । अतः स एव तेषां गुणी युक्तः, यथा रूपादीनां घटः । प्रयोगो यथा—ज्ञानादयो देहगुणा एव, तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्, गौरकृशस्थूलत्वादिवत् । अत्रोच्यते—प्रत्यनुमानबाधितोऽयं पक्षाभासः । तच्चेवम्—देहस्य गुणा ज्ञानादयो न भवन्ति, तस्य 'मूर्तत्वाच्चाक्षुषत्वाद्वा, घटवत् । अतः सिद्धो गुणप्रत्यक्षत्वाद्गुणी जीवोऽपि प्रत्यक्षः ।

§ १२२. ततश्चाऽहं प्रत्ययग्राह्यं प्रत्यक्षमात्मानं निह्नुवानस्य अश्रावणः शब्द इत्यादिवत् प्रत्यक्षविरुद्धो नाम पक्षाभासः । तथा वक्ष्यमाणात्मास्तित्वानुमानसद्भावात् नित्यः शब्द इत्यादिवदनुमानविरुद्धोऽपि । आबालगोपालाङ्गनाविप्रसिद्धं चात्मानं निराकुर्वतः । 'नास्ति सूर्यः प्रकाशकत्वात्'

हेतुमें व्यभिचार दिखाता है कि 'शब्द नामक आकाशके गुण का तो प्रत्यक्ष होना है परन्तु गुणी आकाश का तो प्रत्यक्ष नहीं होता' अतः उक्त नियम सदोष है ।

समाधान—शब्द आकाशका गुण है ही नहीं; वह तो पुद्गलद्रव्यका गुण है उसीका एक विशेष परिणमन है; क्योंकि वह बाह्य—श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा ग्रहण किया जाता है । जो बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत होते हैं वे पुद्गलके ही गुण हैं जैसे कि घड़ेके रूप आदि गुण । अमूर्त आकाशके गुणका तो हम लोगोंको प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता । पुद्गलतत्त्वके विवेचनमें शब्दको पौद्गलिकत्व विस्तारके साथ सिद्ध करेंगे ।

§ १२१. **चार्वाक**—आपका यह नियम तो ठीक है कि—'गुणोंके प्रत्यक्ष होनेपर उनसे अभिन्न गुणीका भी प्रत्यक्ष होता है' पर इससे आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि हम ज्ञान आदिको शरीरका ही गुण मानते हैं । देहमें ही ज्ञान आदि गुण उपलब्ध होते हैं अतः देह ही ज्ञानादिका आधारभूत गुणी हो सकता है जैसे रूपादि गुणोंका आधारभूत घट ही रूपादिका गुणी है । प्रयोग—ज्ञान आदि देह के ही गुण हैं; क्योंकि वे देहमें ही उपलब्ध होते हैं जैसे कि गोरापन, दुबलापन एवं मुटापा आदि ।

जैन—आपका अनुमान प्रबल प्रतिपक्षी अनुमानके द्वारा बाधित होनेसे अपने साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता, आपका पक्ष अनुमान बाधित होनेके कारण पक्षाभास है । वह प्रतिपक्षी अनुमान यह है—ज्ञान आदि देहके गुण नहीं हो सकते क्योंकि देह घटकी तरह मूर्त है तथा आँखों-से दिखाई देती है । यदि ज्ञान आदि देहके गुण होते तो उसके गोरे रंग की तरह वे भी आँखोंसे दिखाई देते ।

§ १२२. अतः हमारे 'गुणोंके प्रत्यक्षसे गुणीका भी प्रत्यक्ष' इस निर्दोष नियमके अनुसार आत्मा प्रत्यक्षसे सिद्ध हो ही जाता है । इस प्रकार 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि अहम्प्रत्यय रूप मानस-प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध आत्माको लोप करनेके लिए 'आत्मा नहीं है' यह पक्ष करना स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष-विरुद्ध नामका पक्षाभास है । जैसे कोई कानसे सुनाई देनेवाले शब्दको अश्रावण सिद्ध करनेका विफल एवं प्रत्यक्षविरुद्ध प्रयास करता है ठीक उसी तरह खण्डन करनेवालेको भी 'मैं' रूपसे प्रतिभासित होनेवाली आत्माका लोप करना सरासर आँखोंमें धूल झोंकना है । इसी तरह जब आगे कहे जानेवाले अनेकों अनुमान आत्माकी सत्ताको डटकर सिद्ध करते हैं तब 'आत्मा नहीं है' यह अनुमान प्रतिपक्षी अनुमानसे बाधित है । जैसे 'शब्द नित्य है' यह पक्ष शब्द अनित्य है क्योंकि वह उच्चारणके बाद उत्पन्न होता है' इस प्रतिपक्षी अनुमानसे बाधित है । संसारमें बच्चेसे लेकर मूर्खसे मूर्ख ग्वाले तथा स्त्रियाँ आदि भी जिस आत्माका प्रत्यक्षसे सदा अनुभव करती हैं;

---

१. पुद्गल ऐन्द्रिय–म० २ । २. मूर्तत्वात् घट–म० २ ।

इत्यादिवल्लोकविरोधः। 'अहं नाहं' चेति गदतः 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत् स्ववचनविरोधश्च। तथा प्रतिपादितयुक्त्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वाद्यत्यन्ताप्रत्यक्षत्वाविति हेतुरप्यसिद्ध इति स्थितम्।

§ १२३. तथा अनुमानगम्योऽप्यात्मा। तानि चामूनि—जीवच्छरीरं प्रयत्नवताधिष्ठितम्, इच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वात्[1], रथवत्[2]। [3]श्रोत्रादीन्युपलब्धिसाधनानि कर्तृप्रयोज्यानि, करणत्वात्, वास्यादिवत्। देहस्यास्ति विधाता, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, घटवत्। यत्पुनरकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाभ्रविकारः। यः स्वदेहस्य कर्त्ता स जीवः। प्रतिनियता-

जिसे एक क्षण भी भुलाना कठिन है उस प्रकाशमान आत्माका लोप करना तो ऐसा ही है जैसे कोई 'सूर्य प्रकाश नहीं करता' यह कहकर संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्यके लोप करनेका हास्यास्पद प्रयत्न करे। इस तरह लोक प्रसिद्ध आत्माका लोप करनेवाला हेतु लोकविरोधी होनेसे अकिंचित्कर हेत्वाभास है। जैसे कोई सपूत अपनी माँ को वन्ध्या कहकर अपने वचनका स्वयं विरोधी बन जाता है उसी तरह 'मैं आत्माका खण्डन करता हूँ' इस प्रकार आत्माका खण्डन करनेवाला चार्वाक भी 'मैं' रूपसे आत्माको अनुभव करके भी उसकी ओरसे आँखें मूँद लेता है और उसके खण्डन करनेका असफल प्रयत्न करनेकी धुनमें स्ववचन विरोधको भी नहीं देखता। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि 'मैं, मैं नहीं हूँ'। यह आत्मा तो इतनी प्रसिद्ध और इस तरह है कि इसके खण्डन करनेवालेको स्वयं ही 'मैं खण्डन करता हूँ' इस 'मैं' के रूपमें उसका अनुभव हो हो जाता है। इस प्रकार जब पूर्वोक्त युक्तियोंसे 'आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय है' यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है तब उसे अत्यन्त अप्रत्यक्ष कहना महज दुराग्रह ही है। अतः आत्माको अत्यन्त अप्रत्यक्ष कहना असिद्ध है।

§ १२३. निम्नलिखित अनुमानोंसे भी आत्माकी सिद्धि होती है—

१. यह चलता-फिरता जीवित शरीर किसी प्रयत्न करनेवाले—प्रेरणा देनेवालेके द्वारा परिचालित होता है, क्योंकि यह इच्छानुसार क्रिया करता है। जैसे रथ हाँकनेवालेकी इच्छानुसार चलता है तो उसको हाँकनेवाला कोई न कोई अवश्य है, उसी तरह यह शरीर भी व्यवस्थित रूपसे इच्छानुकूल प्रवृत्ति करता है—खानेवाला खाना चाहता है तो यह खाने लगता है, जाना चाहता है तो जाने लगता है। अतः यह सिद्ध होता है कि इस शरीररूपी यन्त्रको चलानेवाला कोई ड्राइवर—चालक अवश्य है, यही चालक आत्मा है।

२. ज्ञानमें कारणभूत श्रोत्र आदि उपकरण किसीके द्वारा प्रेरित होकर ही अपनी सुनना देखना आदि क्रियाएँ करते हैं; क्योंकि वे क्रियाके साधन हैं जैसे कि वसूला। जैसे—'बढ़ई वसूलेसे लकड़ी काटता है' यहाँ काटने रूप क्रियाका करण—जरिया वसूला बढ़ईके द्वारा प्रेरित होकर ही लकड़ी काटनेमें प्रवृत्त होता है, उसी तरह 'मैं आँखसे देखता हूँ, कानसे सुनता हूँ' यहाँ देखने और सुनने रूप क्रियाके करण—जरिये द्वारभूत आँख और कान भी देखने और सुननेवालेके द्वारा प्रेरित होकर ही देखते और सुनते हैं। इस तरह इन इन्द्रियरूपी झरोखोंसे पदार्थको देखने-सुनने वाला आत्मा है।

१. –श्रयत्वात् रथवत् म० २। २. 'यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्माणि क्रियावन्तमात्मानं साधयन्ति।" —सर्वार्थसि० ५।१९। "रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते प्राणादिभिश्चेति…।" —प्रश० भा० पृ० ६९। "जीवच्छरीरं प्रयत्नवदधिष्ठितम् इच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वात् रथवत्।" —प्रश० व्यो० पृ० ४०२। न्यायकुसु० पृ० ३२९। २. "करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिः समधिगमः क्रियते वास्यादीनां कारणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात्।" —प्रश० भा० पृ० ६०। "श्रोत्रादीनि करणानि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वात् वास्यादिवत्।" —प्रश० व्यो० पृ० ३९३। न्यायकुसु० पृ० ३४९। प्रमेयक० पृ० ११६।

कारत्वं मेर्वादीनामप्यस्ति, न च तेषां कश्चिद्विधातेति तैरनैकान्तिको हेतुः स्यात्, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमादिमत्त्वविशेषणं द्रष्टव्यम् । तथेन्द्रियाणामस्त्यधिष्ठाता, करणत्वात्, यथा दण्डचक्रादीनां कुलालः विद्यमानभोक्तृकं शरीरं भोग्यत्वात्, भोजनवत् । यश्च भोक्ता स जीवः ।

§ १२४. अथ साध्यविरुद्धसाधकत्वाद्विरुद्धा एवैते हेतवः । तथाहि घटादीनां कर्त्रादिरूपाः कुम्भकारादयो मूर्त्ता अनित्यादिस्वभावाश्च दृष्टा इति । अतो जीवोऽप्येवंविध एव सिध्यति । एतद्विपरीतश्च जीव इष्ट इति । अतः साध्यविरुद्धसाधकत्वाद्विरुद्धत्वं हेतूनामिति चेत्; न, यतः खलु संसारिणो जीवस्याष्टकर्मपुद्गलवेष्टितत्वेन सशरीरत्वात् कथंचिन्मूर्त्तत्वान्नायं दोषः ।

§ १२५. तथा [५]रूपादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात्, रूपादिवत् । तथा [६]ज्ञानसुखादिकमुपा-

३. इस देहका कोई बनानेवाला है क्योंकि यह अमुक आकारका है तथा इसकी शुरुआत हुई है, जैसे कि किसी अमुक आकारमें किसी खास समयमें उत्पन्न होनेवाला घड़ा। जिसका कोई बनानेवाला नहीं होता वह अमुक आकारमें उत्पन्न भी नहीं होता जैसे कि अनियत आकारमें सदा रहनेवाले बादल। यद्यपि मेरुपर्वत आदिका भी निश्चित आकार पाया जाता है फिर भी उसकी शुरुआत नहीं है वह अनादि है अतः उसका रचयिता भी कोई नहीं है। इसलिए मेरुपर्वत आदिसे व्यभिचार वारण करनेके लिए ही 'आदिमान्' विशेषण दिया है। इस आदिमान् तथा अमुक शकलवाले शरीरका जो भी बनानेवाला है वही आत्मा है।

४. इन्द्रियोंका कोई अधिष्ठाता—प्रयोग करनेवाला स्वामी है, क्योंकि ये करण—हथियार रूप है। जिस प्रकार दण्ड चक्र आदि घड़े बनानेके औजारोंका अधिष्ठाता—प्रयोक्ता कुम्हार होता है उसी प्रकार जो इन इन्द्रियरूपी औजारोंका प्रयोग करके जानता-देखता है वही आत्मा है।

५. इस शरीरका कोई भोगनेवाला है क्योंकि यह भोग्य है। जिस प्रकार बनाये गये भोजनका कोई न कोई खानेवाला होता है उसी तरह इस शरीरको भोगनेवाला जो भी भोक्ता है वही आत्मा है।

§ १२४. **शंका**—आपके द्वारा दिये गये उपरोक्त पांचों हेतु विरुद्ध हैं, क्योंकि आप तो इनके द्वारा अमूर्त आत्मा सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु दृष्टान्तरूपमें उपस्थित किये गये रथ चलानेवाला, कुम्हार आदि सभी पदार्थ तो मूर्त हैं अतः वे अपने ही समान मूर्त आत्माकी सिद्धि करेंगे। घड़े आदिके बनानेवाले कुम्हार आदि तो मूर्त तथा अनित्य हैं अतः इनकी समानतासे जीव भी मूर्त तथा अनित्य ही सिद्ध होगा, परन्तु आप तो जीवको अमूर्त और नित्य मानते हैं। इसलिए ये सब हेतु आपकी मान्यताके विरुद्ध साध्यको सिद्ध करनेके कारण विरुद्ध हेत्वाभास हैं।

समाधान—आपकी शंका उचित नहीं है। यद्यपि आत्मा स्वभावसे अमूर्त है परन्तु यह संसारी जीव अनादिकालसे आठ प्रकारके पुद्गल कर्मोंसे बँधा हुआ है, इसके चारों ओर कर्म पुद्गलोंका एक बड़ा भारी पिण्ड, जिसे कार्मणशरीर कहते हैं, लगा हुआ है। और इस कार्मण शरीरके सदा साथ रहनेके कारण स्वभावसे अमूर्त भी आत्मा मूर्त हो रहा है। अतः यदि इन हेतुओंसे संसारी आत्मा मूर्त भी सिद्ध होता है तब भी हमारी कोई हानि नहीं है। हम उसे कर्मबन्धके कारण सशरीर तथा मूर्त भी मानते हैं।

§ १२५. ६. रूपज्ञान, रसज्ञान आदि अनेक प्रकारके ज्ञान किसी आश्रयभूत द्रव्यमें रहते हैं

१.-यच्छेदाद्यादि-भ० २। २. एव ते भ० २। ३. यतः संसा-भ० २। ४. क्वचिन्मूर्त-भ० २। "अवत्थारा मुत्ति बंधादो।" —द्रव्यसं० गा० ७। ५. "शब्दादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात्।" —प्रश० व्यो० पृ० ३९३। न्यायकुमु० पृ० ३४८। प्रमेयक० पृ० ११३। ६. "समवायिकारणपूर्वकत्वं कार्यत्वाद्रूपादिवदेव।" —प्रश० व्यो० पृ० ३९३। "ज्ञानसुखादि उपादानकारणपूर्वकं कार्यत्वात् घटादिवत्।" —न्यायकुमु० पृ० ३४९।

ज्ञानकारणपूर्वकं कार्यत्वात्, घटादिवत् । न च शरीरे तदाधितत्वस्य तदुपादानत्वस्य चेष्टत्वात् सिद्धसाधनमित्यभिधातव्यम्, तत्र तदाधितत्वतदुपादानत्वयोः प्राक् प्रतिक्षिप्तत्वात् । तथा प्रतिपक्षवान्-यम् अजीवशब्दः, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदप्रतिषेधात्[1] । यत्र व्युत्पत्तिमतः शुद्धपदस्य प्रतिषेधो दृश्यते स प्रतिपक्षवान् [2]यथा अघटो घटप्रतिपक्षवान् । अत्र हि अघटप्रयोगे शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च पदस्य[3] प्रतिषेधः । अतोऽवश्यं घटलक्षणेन प्रतिपक्षेण भाव्यम् । यस्तु न प्रतिपक्षवान्, न तत्र व्युत्पत्तिमतः शुद्धपदस्य[4] प्रतिषेधः, यथा अखरविषाणशब्द अडित्थ[5] इति वा । अखरविषाणमित्यत्र खरविषाण-लक्षणस्याशुद्धस्य सामासिकस्य पदस्य निषेधः । अत्र व्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि शुद्धपदत्वाभावाद्विपक्षो नास्ति । अडित्थ इत्यत्र तु व्युत्पत्तिमत्त्वाभावात् सत्यपि शुद्धपदत्वे नावश्यं डित्थलक्षणः कश्चित्पदार्थो जीवद्विपक्षभूतोऽस्तीति ।

क्योंकि वे गुण हैं। जैसे रूपादि गुण घड़ेके आश्रित रहते हैं उसी तरह जिस द्रव्यमें ज्ञानादिगुण रहते हों वही आत्मा है। गुण निराधार नहीं रह सकते। उनका कोई न कोई आश्रय होना ही चाहिए।

७. ज्ञान सुख आदि कार्योंका कोई न कोई उपादान कारण अवश्य है क्योंकि ये कार्य हैं। जिस प्रकार घड़ा कार्य है अतः उसका उपादान कारण—(जो स्वयं कार्य बन जाता है) मिट्टीका पिण्ड भी मौजूद है उसी तरह ज्ञान सुख आदिका जो उपादान कारण है जो स्वयं ज्ञानी और सुखी बनता है वही आत्मा है।

शंका—ज्ञान आदि गुणोंका आश्रय शरीर ही है तथा इनका उपादानकारण भी शरीर ही होता है। अतः आपके अनुमानोंसे हम शरीरकी सिद्धि मान लेंगे। इसी तरह सिद्धसाधन—जिन्हें प्रतिवादी स्वीकार करता है उन सिद्ध पदार्थोंकी साधना—होनेसे आपके अनुमान निरर्थक हैं।

समाधान—हम पहले ही शरीरमें ज्ञानादि गुणोंके रहनेका तथा शरीरको ज्ञानादिके प्रति कारण होनेका खण्डन कर आये हैं। अतः इन अनुमानोंसे शरीरकी सिद्धिका मनसूबा नहीं बाँधा जा सकता और न सिद्धसाधन ही कहा जा सकता है। अतः इनसे ज्ञानादिगुणोंके आश्रय तथा उपादानभूत आत्माकी सिद्धि होती ही है।

८. अजीवका प्रतिपक्षी जीव अवश्य है, क्योंकि 'न जीवः अजीवः' इस निषेधवाची अजीव शब्दमें व्युत्पत्तिसिद्ध (व्याकरणके नियमानुसार प्रकृति प्रत्ययसे बने हुए जीवतीति जीवः) तथा शुद्ध अखण्ड जीव पदका निषेध किया गया है। जिस निषेधात्मक शब्दमें व्युत्पत्तिवाले शुद्ध पदका निषेध होता है उसका प्रतिपक्षी अवश्य होता है जैसे निषेधात्मक अघट शब्दका प्रतिपक्षी घट अवश्य ही होना है। इस अघट शब्दमें व्युत्पत्तिवाले शुद्ध घट पद का 'न घटः अघटः' रूपसे निषेध किया गया है अतः इसका उलटा घट अवश्य ही होगा। जिस निषेधात्मक शब्दका प्रतिपक्षी अर्थ न हो तो समझ लो कि वह या तो व्युत्पत्ति सिद्ध शब्दका निषेध नहीं करता या फिर शुद्ध-शब्दका निषेध नहीं करता, किन्तु किसी रूढ शब्दका या दो शब्दोंके जुड़े हुए संयुक्त शब्दका निषेध करता होगा। जैसे 'अखरविषाण' शब्द खर और विषाण इन दो शब्दोंसे बने हुए 'खरविषाण' इस संयुक्त या अशुद्ध शब्दका निषेध करता है अतः उसका प्रतिपक्षी खरविषाण अपनी वास्तविक सत्ता नहीं रखता। इसी तरह अडित्थ शब्द यद्यपि अखण्ड डित्थ पदका निषेध करता है परन्तु डित्थ शब्द व्युत्पत्तिसिद्ध—यौगिक न होकर एक रूढ़ शब्द है। अतः इसके प्रतिपक्षी डित्थका होना आवश्यक नहीं है। परन्तु 'अजीव' यह निषेधवाची शब्द यौगिक तथा अखण्ड जीव पदका निषेध करता है अतः इसका प्रतिपक्षी जीव अवश्य ही होना चाहिए।

१. "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेधादृते क्वचित्।" —आप्तमी० श्लो० २७। २. यथा घटः पटप्रतिषेधः—म० २। ३. -मतश्च घटस्य (पदस्य) प्र-आ०, -मतस्य पटस्य निषेधो—म० २। ४. -स्य निषेधः म० १, म० २, प० १, प० २। ५. -न सम्प्रति—म० २। ६. -त्थः अथवा खर—म० २।

§ १२६. तथा स्वशरीरे स्वसंवेदनप्रत्यक्षमात्मानं साधयित्वा परशरीरेऽपि सामान्यतोदृष्टानुमानेन साध्यते। यथा परशरीरेऽप्यस्त्यात्मा, इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्, यथा स्वशरीरे। दृश्येते च परशरीरे इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती, तस्मात्तत्सात्मकम्, आत्माभावे तयोरभावात्, यथा घटे इति। एतेन यदुक्तम् 'न सामान्यतोदृष्टानुमानादप्यात्मसिद्धिः' इत्यादि[1]; तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम्।

§ १२७. तथा नास्ति जीव इति योऽयं जीवनिषेधध्वनिः स [3]जीवास्तित्वनान्तरीयक एव, निषेधशब्दत्वात्। यथा नास्त्यत्र घट इति शब्दोऽन्यत्र घटास्तित्वाविनाभाव्येव। प्रयोगश्चात्र—इह यस्य निषेधः क्रियते तत्क्वचिदस्त्येव, यथा घटादिकम्। निषिध्यते च भवता[4] 'नास्ति जीवः' इति वचनात्। तस्मादस्त्येवासौ। यच्च सर्वथा नास्ति, तस्य निषेधोऽपि न दृश्यते, यथा पञ्चभूतातिरिक्तषष्ठभूतस्येति। नन्वसतोऽपि खरविषाणादेर्निषेधदर्शनादनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेत्; न; इह यत्किमपि वस्तु निषिध्यते, तस्यान्यत्र सत एव विवक्षितस्थाने संयोग-समवाय-सामान्य-

§ १२६. ९. इसी तरह अपने शरीरमें 'मैं सुखी हूँ' इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे आत्माका अनुभव करके दूसरेके शरीरमें भी अपने शरीरके समान धर्म देखकर सामान्यतोदृष्टानुमानसे भी आत्माकी सिद्धि की जाती है। दूसरेके शरीरमें भी आत्माका सद्भाव है, क्योंकि उसमें हमारे शरीरकी तरह इष्ट पदार्थ में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट पदार्थसे निवृत्ति देखी जाती है। जिस प्रकार हमारा शरीर साप काँटा आदि अनिष्ट हानिकर पदार्थोंसे बचना चाहता है तथा सुन्दर भोजन आदिकी ओर झुकता है इसी तरह दूसरेका शरीर भी यही चाहता है। अतः यह मानना ही चाहिए कि जिस तरह हमारे शरीरमें आत्मा है उसी तरह पर शरीरमें भी। यदि शरीरमें आत्मा न हो तो उसका अनिष्ट पदार्थोंसे दूर भागना तथा इष्ट पदार्थोंमें आसक्तिपूर्वक चिपकना नहीं हो सकेगा। देखो घड़ेमें आत्मा नहीं है तो उसपर चाहे साँप चढ़ जाये तो जैसा और उसमें दूध भर दो तो जैसा उसमें कोई प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं देखी जाती। अतः जो आपने पहले कहा था कि 'सामान्यतोदृष्ट अनुमानसे आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती' वह खण्डित हो गया, क्योंकि अपने शरीरमें देखे गये प्रवृत्तिनिवृत्तिका आत्माके साथ सामान्य रूपसे अविनाभाव ग्रहण करके ही दूसरेके शरीरमें आत्माका अनुमान किया गया है। यही तो सामान्यतोदृष्टानुमान है।

§ १२७. तथा 'जीव नहीं है' यह जीवका निषेध जीवके अस्तित्वसे अविनाभाव रखता है, यह निषेध जीवके सद्भावके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि यह निषेधात्मक प्रयोग है। जिस प्रकार 'यहाँ घड़ा नहीं है' यह घटका निषेध दूसरी जगह घड़ेकी मौजूदगीके बिना नहीं हो सकता उसी प्रकार जीवका निषेध भी कहीं-न-कहीं जीवके सद्भावकी अपेक्षा रखता है, वह जीवके सद्भावके बिना नहीं हो सकता। प्रयोग—जिसका निषेध किया जाता है वह कहीं-न-कहीं विद्यमान अवश्य होता है जैसे कि घड़ा आदि। 'जीव नहीं है'' इस रूपसे आप जीव का भी निषेध करते हैं। अतः जीवका कहीं-न-कहीं सद्भाव अवश्य ही होना चाहिए। प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है। जो बिलकुल नहीं है उसका निषेध भी नहीं देखा जाता जैसे पृथिवी आदि पाँच महाभूतोंसे भिन्न किसी छठे भूतका।

शंका—खरविषाण आदि सर्वथा असत् पदार्थोंका भी निषेध देखा जाता है अतः जिसका निषेध हो उसका सद्भाव होना ही चाहिए यह कोई खास आवश्यक नहीं है।

समाधान—जिस किसी वस्तुका निषेध किया जाता है उसे कहीं-न-कहीं विद्यमान तो अवश्य ही रहना चाहिए। हाँ निषेध करते समय उसके संयोग समवाय सामान्य या विशेष इन

१. –दृष्टाद्यप्यनुमानादात्म–म० २। २. इत्यादप्यपास्तम्–म० २। ३. जीवास्तित्वेनान्त–आ०, क०। जीवास्तित्वानान्त–म० २। ४. –भवता तस्मा"–म० १, म० २, प० १, प० २।

विशेष-लक्षणं चतुष्टयमेव निषिध्यते, न तु सर्वथा तदभावः प्रतिपाद्यते। यथा नास्ति गृहे देवदत्त इत्यादिषु [1]गृहदेवदत्तादीनां सतामेव संयोगमात्रं निषिध्यते, न तु तेषां सर्वथैवास्तित्वमपाक्रियते। तथा नास्ति खरविषाणमित्यादिषु खरविषाणादीनां सतामेव समवायमात्रं निराक्रियते[2]। तथा नास्त्यन्यश्चन्द्रमा इत्यादिषु विद्यमानस्यैव चन्द्रमसोऽन्यचन्द्रनिषेधाच्चन्द्रसामान्यमात्रं निषिध्यते, न तु सर्वथा चन्द्राभावः प्रतिपाद्यते। तथा न सन्ति घटप्रमाणानि मुक्ताफलानीत्यादिषु घटप्रमाणतामात्ररूपो विशेषो मुक्ताफलानां निषिध्यते, न तु तदभावः[3] ख्याप्यत इति। एवं नास्त्यात्मेत्यत्रापि विद्यमानस्यैवात्मनो यत्र क्वचन येन केनचित्सह संयोगमात्रमेव त्वया निषेद्धव्यं, [4]यथा नास्त्यात्मास्मिन् वपुष्येत्यादि, न तु सर्वथात्मनः[5] सत्त्वमिति।

§ १२८. अत्राह कश्चित्—ननु यदि यन्निषिध्यते तदस्ति, तर्हि मम त्रिलोकेश्वरतापास्तु, युष्मदादिभिर्निषिध्यमानत्वात्। तथा चतुर्णां संयोगादिप्रतिषेधानां पञ्चमोऽपि प्रतिषेधप्रकारोऽस्ति त्वयैव निषिध्यमानत्वात्।

§ १२९. तदयुक्तम्, त्रिलोकेश्वरताविशेषमात्रं भवतो निषिध्यते यथा घटप्रमाणत्वं मुक्तानां

चार धर्मों में से किसी एकका किसी खास स्थानमें निषेध होता है, उस वस्तुका सर्वथा अभाव तो किसी भी तरह नहीं किया जा सकता। जैसे 'इस घरमें देवदत्त नहीं है' इत्यादि प्रयोगोंमें देवदत्त और घर दोनों मौजूद हैं। मात्र उनके संयोगका ही निषेध किया गया है, देवदत्तका सर्वथा निषेध तो किसी भी तरह नहीं किया जा सकता। उसी तरह 'खरविषाण नहीं है' इस प्रयोगमें गधा भी मौजूद है तथा सींग भी, मात्र उनके समवायका ही निषेध विवक्षित है कि 'गधेमें सींगका समवाय विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है' न तो इसमें गधेका ही निषेध होता है और न सींगका ही क्योंकि दोनों ही स्वतन्त्र रूपसे अन्यत्र मौजूद हैं, 'दूसरा चन्द्रमा नहीं है' इस प्रयोगमें मौजूद चन्द्रमाके सादृश्य का अन्यत्र निषेध किया जा रहा है कि—'इस चन्द्रमाके समान धर्मवाला दूसरा चाँद नहीं है' चन्द्रमा अनेक नहीं है एक ही है। इससे चन्द्रमाका सर्वथा अभाव नहीं किया जाता। इसी तरह 'मोती घड़ेके बराबर बड़े नहीं हैं' इस प्रयोगमें न मोतीका ही निषेध है और न घड़ेके बराबर मापका ही किन्तु घड़े के मापका जो कि घड़ेका विशेष धर्म है, मोतीमें निषेध किया गया है कि घड़े बराबर मोती नहीं है। इसी प्रकार 'आत्मा नहीं है' इसका तात्पर्य ही यह है कि कहीं-न-कहीं विद्यमान आत्माका किसी खास शरीर आदिसे संयोग नहीं है। जैसे 'इस शरीरमें आत्मा नहीं है' यहाँ शरीर और आत्माके मात्र संयोगका ही निषेध किया जा रहा है उसी प्रकार 'आत्मा नहीं है' इस सामान्य निषेधमें भी 'आत्माका अमुक किसी वस्तुके साथ संयोग नहीं है' इस प्रकार मात्र संयोगका ही निषेध समझना चाहिए आत्माका सर्वथा निषेध नहीं।

§ १२८. शंका—यदि जिसका निषेध होता है उसका सद्भाव अवश्य ही हो, तो आप लोग मुझे तीन लोकका ईश्वर नहीं मानते, अर्थात् मेरी त्रिलोकेश्वरताका निषेध करते हैं अतः मेरी त्रिलोकेश्वरताका भी सद्भाव होना चाहिए। इसी तरह आपने निषेधके प्रकरणमें संयोग आदि निषेधके चार प्रकारोंके अतिरिक्त पाँचवें प्रकारका निषेध किया है अतः निषेधके पाँचवें प्रकारका भी सद्भाव होना चाहिए।

§ १२९. समाधान—जिस प्रकार मोतीमें घड़ेके मापका निषेध किया जाता है उसी तरह त्रिलोकेश्वरता नामके विशेषधर्मका ही जो कि तीर्थंकरमें प्रसिद्ध है, आपमें निषेध किया जा रहा

---

१. गृहे देव—आ०, क०। २. ते न तु तदभावः तथा द्वितीयचन्द्राभावाच्चास्ति चन्द्रसादृश्यमित्यादिषु चन्द्रसामान्यादीनां सतामेव सामान्यं निराक्रियते न तु तदभावः ख्याप्यते तथा न सन्ति भ० २। ३. -भावः अपाक्रियते इति भ० २। ४. तथा आ०। ५. -त्मनोऽस्तित्व-आ०, क०।

न तु [1]सर्वेश्वरता, स्वशिष्यादीश्वरतायास्तत्रापि विद्यमानत्वात् । तथा प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमविद्यमानमेव निवार्यते न तु सर्वथा प्रतिषेधस्याभावश्चतुःसंख्याविशिष्टस्य सद्भावात् ।

§ १३०. ननु सर्वमप्यसंबद्धमिदम् । तथाहि—त्रिलोकेश्वरत्वं तावदसदेव निषिध्यते, प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमप्यविद्यमानमेव निवार्यते । तथा संयोगसमवायसामान्यविशेषाणामपि गृहदेवदत्तखरविषाणादिष्वसतामेव प्रतिषेध इति । अतो यन्निषिध्यते तत्तस्येवेत्येतत्कथं न प्लवत इति ।

§ १३१. अत्रोच्यते—देवदत्तादीनां संयोगादयो गृहादिष्वेवासन्तो निषिध्यन्ते । अर्थान्तरे[3] तु तेषां ते सन्त्येव । तथाहि—गृहेणैव सह देवदत्तस्य संयोगो न विद्यते, अर्थान्तरेण त्वारामादिना वर्तत एव । गृहेऽपि देवदत्तेन सह संयोगो नास्ति, खट्वादिना तु विद्यत एव । एवं विषाणस्यापि खर एव समवायः नास्ति, गवादावस्त्येव । सामान्यमपि द्वितीयचन्द्राभावाच्चन्द्र[4] एव नास्ति, अर्थान्तरे तु घटादावस्त्येव । घटप्रमाणत्वमपि [5]मुक्तासु नास्ति, [6]अन्यत्र विद्यत एव । त्रिलोकेश्वरतापि भवत एव नास्ति, तीर्थंकरादावस्त्येव । पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमपि प्रतिषेधप्रकारेषु नास्ति, अनुत्तरविमानादावस्त्येवेत्यनया विवक्षया भूमः यन्निषिध्यते तत्सामान्येन विद्यत एव । न त्वेवं

है, साधारण प्रभुताका नहीं । आपकी प्रभुता अपने शिष्योंपर है इसको कोई नहीं मेटता । इसी प्रकार प्रतिषेधके प्रकारोंमें पाँचवीं संख्याका निषेध किया जाता है, प्रतिषेधके प्रकारोंका अभाव नहीं किया जा रहा है । प्रतिषेधके चार प्रकार तो हैं ही, पाँचवाँ प्रकार उनमें नहीं है इतना ही निषेधका मतलब है । प्रतिषेध भी है तथा पाँचवीं संख्या भी, किन्तु प्रतिषेध और पाँचवीं संख्याएँ दोनोंका आपसमें विशेषणविशेष्य भाव नहीं है ।

§ १३०. **शंका**—आपकी उपरोक्त सभी बातें असंगत तथा प्रमाण शून्य हैं । देखो, मेरी त्रिलोकेश्वरता का संसारमें कहीं भी सद्भाव नहीं है वह बिलकुल असत् ही है । प्रतिषेधमें भी पाँचवा प्रकार कहीं भी नहीं है वह भी सर्वथा असत् ही है । अतः जब इन असत् पदार्थोंका निषेध किया जा रहा है तब विद्यमान पदार्थोंके ही निषेधका नियम कहाँ रहा ? इसी प्रकार घर और देवदत्तका संयोग, खर और विषाणका समवाय, चन्द्रमाकी अनेकता तथा मोतीमें घटप्रमाणता नहीं है, बिलकुल असत् ही है फिर भी उनका निषेध किया ही जाता है । इसलिए 'जिसका निषेध होता है वह विद्यमान होता ही है' यह नियम टूट रहा है । इसे दूषित क्यों न माना जाय ?

§ १३१. **समाधान**—यह ठीक है कि देवदत्त आदिके संयोग आदि घर आदिसे नहीं हैं, फिर भी उनका निषेध हो जाता है । परन्तु दूसरे पदार्थोंके साथ तो हैं ही वे सर्वथा असत् तो नहीं हैं । देखो देवदत्तका संयोग घरसे नहीं है तो न सही, पर बगीचे आदिसे तो है । घरसे संयोग न सही खटियासे तो है । देवदत्त बाहर खाटपर बैठा है या बगीचेमें बैठा है । उस समय 'देवदत्त घरमें नहीं है' यह प्रयोग किया जाता है, इसी तरह सींगका गधेमें समवाय नहीं है तो न हो, पर गाय आदिमें तो है ही । दूसरा चन्द्र न होनेके कारण इस चन्द्रमामें समानता—अनेकता भले ही न हो, पर घड़े आदि पदार्थोंमें अनेकता तथा समानता पायी ही जाती है । मोतीमें घटके बराबर माप नहीं पाया जाता तो न सही, पर—कद्दू आदि फलोंमें तो पाया ही जाता है । तीन लोकोंका प्रभुत्व आपमें नहीं है पर तीर्थंकर आदिमें तो है ही । प्रतिषेधके प्रकारोंमें पाँचवीं संख्या न पायी जावे तो न सही परन्तु स्वर्गोंके विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामके अनुत्तर विमानोंमें तो पायी ही जाती है । इसी अभिप्रायसे हमने कहा था कि—'जिसका निषेध किया जाता है वह सामान्य रूपसे कहीं-न-कहीं विद्यमान रहता ही है' हम यह तो नहीं कहते

१. सर्वेश्वरता भ० २ । २. –भावश्चतुः भा० । ३. –न्तरेण तु भ० २ । ४. –चन्द्राभावश्चन्द्र भ० २ । ५. मुक्तास्वेव नास्ति भ० २ । ६. अन्यत्र पाषाणादिष्वस्त्येव भ० २ ।

प्रतिज्ञानीमहे यद्यत्र निषिध्यते तत्तत्रैवास्तीति येन व्यभिचारः स्यात्, एवं सत एव जीवस्य क्वापि निषेधः [1]स्यान्न पुनः सर्वत्रेति ।

§ १३२. तथास्ति देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा [2]इन्द्रियोपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्तृ[3]देवदत्तवत्, इति सिद्धमनुमानग्राह्य आत्मेति ।

§ १३३. अनुमानग्राह्यत्वे [4]हि सिद्धे तदन्तर्भूतत्वेनागमोपमानार्थापत्तिग्राह्यतापि सिद्धा ।

§ १३४. किञ्च 'प्रमाणपञ्चकाभावेन' इत्यादि यदप्यवादि, तदपि मदिराप्रमादविजृम्भितसोदरम्; यतो 'हिमवत्पलपरिमाणादीनां पिशाचादीनां च प्रमाणपञ्चकाभावेऽपि विद्यमानत्वादिति, अतो यत्र प्रमाणपञ्चकाभावस्तदसदेवेत्यनैकान्तिकम् इति सिद्धः प्रत्यक्षादिप्रमाणग्राह्य आत्मा ।

§ १३५. स च विवृत्तिमान् परलोकयायी । तत्र चानुमानमिदम्— तद्यथाजातबालकस्याद्य-

कि—'जिसका जहाँ निषेध किया जाता है वह वहीं मौजूद है' यदि हम ऐसा नियम करते तो अवश्य ही दूषण आता । इसीलिए सामान्यरूपसे कहीं-न-कहीं विद्यमान जीवका किसी विशेष शरीर आदिमें निषेध किया जाता है सब जगह नहीं । इस तरह जीवका निषेध ही स्वयं जीवकी सत्ता सिद्ध करता है ।

§ १३२. १०. शरीर और इन्द्रिय आदिसे आत्मा भिन्न है; क्योंकि इन्द्रियोंके व्यापार रुक जानेपर या अमुक इन्द्रिय आँख आदिके फूट जानेपर भी उन इन्द्रियोंके द्वारा जाने गये पदार्थोंका स्मरण होता है । जिस प्रकार देवदत्तको मकानकी पाँच खिड़कियोंसे देखे गये पदार्थोंका खिड़कियाँ बन्द कर देनेपर भी बराबर स्मरण होता है उसी तरह ज्ञानके इन इन्द्रियरूपी खिड़कियोंके बन्द हो जाने पर भी इनके द्वारा देखे गये पदार्थोंका स्मरण करनेवाला कोई आत्मा अवश्य है जो इन खिड़कियोंसे अपनी भिन्न सत्ता रखता है ।

§ १३३. इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमानोंसे जब आत्माकी सिद्धि भले प्रकार कर दी गयी तब आगम उपमान और अर्थापत्तिके द्वारा भी आत्माकी सिद्धि मान ही लेनी चाहिए । क्योंकि आगम आदि एक तरहसे अनुमानके ही प्रकार हैं । वैशेषिक और बौद्ध इन्हें अनुमानमें ही शामिल कर लेते हैं ।

§ १३४. आपने पहले आत्माको पाँच प्रमाणोंका अविषय कह कर अभाव प्रमाणका ग्राह्य बताया था । वह तो केवल किसी पुराने मदकची की पिनकके समान ही मालूम होता है । देखो, हिमालयका कितने रत्ती वजन है, तथा पिशाच आदिका कैसा आकार है, इन्हें हमारे पाँचों ही प्रमाण नहीं जानते फिर भी इनका अभाव तो नहीं कहा जा सकता । हिमालयका वजन रत्तियोंके हिसाबमें भी आखिर कुछ-न-कुछ तो होगा ही, पिशाच आदिका भी आकार किसी-न-किसी प्रकारका होगा ही । इसलिए पाँच प्रमाणोंकी अप्रवृत्ति होनेसे ही किसी वस्तुका अभाव नहीं माना जा सकता । प्रमाणपंचकका अभाव व्यभिचारी होनेके कारण वस्तुके अभावको सिद्ध करनेमें किसी भी तरह समर्थ नहीं हो सकता । इस तरह आत्माकी सत्ता प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे निर्बाध रूपसे सिद्ध हो जाती है ।

§ १३५. यह आत्मा परिवर्तनशील है, यह अनेकों मनुष्यों पशु आदिकी योनियोंमें जाता

---

१. न तु सर्वत्र म० २ । २. "नेन्द्रियाणां करणत्वात् उपलब्धेषु विषयासन्निध्ये चानुस्मृतिदर्शनात् ।" —प्रश० भा० पृ० ६१ । प्रश० व्यो० पृ० ३९५ । प्रमेयक० पृ० ११४ । "नेन्द्रियार्थयोः सन्निधानाभावेऽपि ज्ञानावस्थानात् ।" —न्यायसू० ३।२।१८ । ३. –त्वे सि आ०, क० । ४. हिमवदुपल–आ०, का० । ५. "पूर्वानुभूतस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः ।"—न्यायसू० ३।१।१५ । न्यायमं० पृ० ४७० । "नास्मृतेऽभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात् । तद्धि जन्मान्तराभ्यासं जातमात्रेऽपि लक्ष्यते ॥" —प्रमेयक० पृ० ११९ । तत्त्वसं० पं० पृ० ५३२ ।

[1]स्त्याभिलाषः पूर्वाभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, द्वितीयदिनाद्यस्तनाभिलाषवत् । तदिदमनुमानमाद्यस्तनाभिलाषस्याभिलाषान्तरपूर्वकत्वमनुमापयदर्थापत्त्या परलोकगामिनं जीवमाक्षिपति, तज्जन्मन्यभिलाषान्तराभावादिति स्थितम् ।

§ १३६. तथा कूटस्थनित्यताप्यात्मनो[2] न घटते, यतो यथाविधः पूर्वदशायामात्मा तथाविध एव चेज्ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्, सदा प्रागिव कथमेष पदार्थपरिच्छेदकः स्यात् ? प्रतिनियतस्वरूपाऽप्रच्युतिरूपत्वात् कौटस्थ्यस्य[4] । पदार्थपरिच्छेदे तु प्रागप्रमातुः प्रमातृरूपतया परिणामात् कुतः कौटस्थ्यमिति ?

§ १३७. तथा सांख्याभिमतमकर्तृत्वमप्ययुक्तम् । तथाहि—कर्ता आत्मा, स्वकर्मफलभोक्तृ-

है । इस देहको छोड़कर परलोकमें दूसरी देह धारण करता है, परलोककी सिद्धि इस अनुमानसे की जाती है—तत्काल उत्पन्न हुए नवजात शिशुको माँके दूध पीनेकी जो इच्छा होती है, वह पहले पिये गये दूधकी इच्छापूर्वक होती है, क्योंकि यह इच्छा है । जिस प्रकार उसी बालकको दूसरे दिन होनेवाली दूध पीनेकी इच्छा पहले दिनकी इच्छासे उत्पन्न हुई है उसी तरह नवजात शिशुकी सर्वप्रथम इच्छाको उत्पत्ति भी उससे पहलेकी इच्छासे माननी चाहिए । इस तरह आजकी दुग्धपानकी इच्छाकी उत्पत्ति पूर्व इच्छा पूर्वक देखकर सबसे पहले होनेवाली नवशिशु की इच्छाको भी अन्य इच्छा पूर्वक ही मानना चाहिए । अब विचार कीजिए कि—वह लड़का नौ महीने तो माँके पेटमें अचेतन जैसा पड़ा रहा है उस समय तो उसे दूध आदि पीनेकी इच्छा हो हो नहीं सकती । अतः गर्भमें आनेसे पहलेकी पूर्वजन्मवाली ही इच्छा नवशिशुको आज दूध पीनेकी इच्छा उत्पन्न कर रही है यह मानना ही सयुक्तिक है । क्योंकि उस लड़केको उस जन्ममें तो इच्छाका होना सम्भव ही नहीं है, गर्भमें उस अचेतनके समान निश्चेष्ट लड़केको क्या इच्छा हो सकती है ? इच्छा तो पदार्थोंका देखना उनकी सुखसाधनता आदिका स्मरण करके ही होती है सो गर्भकूपमें पड़े हुए उस बिचारेको पदार्थोंका देखना या स्मरण आदि कभी भी सम्भव नहीं है । अतः यह मानना होगा कि वह पूर्वजन्मसे आया है और पूर्वजन्ममें पिये गये दूधका स्मरण कर उसे आज भी दूध पीनेकी इच्छा हो रही है । उसका आज बिना सिखाये-पढ़ाये दूध पीना उसके पूर्वजन्मके अभ्यासका फल है ।

§ १३६. आत्माको कूटस्थ नित्य—जैसा का तैसा, अपरिवर्तनशील, सदा एक रूपमें रहनेवाला मानना भी युक्ति तथा अनुभवके विरुद्ध है, क्योंकि यदि आत्मा जैसा पहले था वैसा ही सदा रहता हो, उसमें कभी भी कुछ भी परिवर्तन न होता हो, तो ज्ञानके उत्पन्न होने पर भी वह पहलेकी ही तरह मूर्ख ही बना रहेगा—उसमें अपनी मूर्खताको छोड़कर विद्वत्ता पानेकी गुंजाइश तो आपने रखी ही नहीं, अतः वह पदार्थोंका परिज्ञान कैसे कर सकेगा ? यदि आत्मा ज्ञानके उत्पन्न होनेपर अपनी पहलेकी अज्ञानदशा मूर्खता छोड़कर पदार्थोंके स्वरूपको यथावत् जानकर जाननेवाला बन जाता है, तब वह कूटस्थ नित्य कहाँ रहा ? उसमें तो मूर्खसे ज्ञाता बननेके रूपमें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया । कूटस्थ नित्यमें से तो न कोई पहलेका स्वभाव नष्ट होता है और न उसमें किसी नये स्वभावकी उत्पत्ति ही होती है वह तो सदा एक सा रहता है । वह यदि मूर्ख है तो मूर्ख और विद्वान् है तो विद्वान् ही रहेगा । वह मूर्खसे विद्वान् हरगिज नहीं बन सकता ।

§ १३७. सांख्य आत्माको कर्ता नहीं मानते । उनके मतसे यह करना धरना प्रकृतिका काम है पुरुष तो आराम करनेके लिए—भोगनेके लिए ही है, सो भी उस बिचारी प्रकृतिपर दया करके

---

१. -स्तनाभि -ब० १, ब० २, प० १ । २. -नो नो ब० २ । ३. -ग्मे भवेत् ब० २ ।
४. कूटस्थस्य ब० २ ।

त्वात्, यः स्वकर्मफलभोक्ता स कर्त्तापि दृष्टः यथा कृषीबलः। तथा सांख्यकल्पितः पुरुषो वस्तु न भवति, अकर्त्तृकत्वात्, खपुष्पवत्, ।

§ १३८. किं चात्मा भोक्ताङ्गीक्रियते स च भुजिक्रियां करोति, न वा। [1]यदि करोति तदापराभिः क्रियाभिः किमपराद्धम्? [2]अथ भुजिक्रियामपि न करोति; तर्हि कथं भोक्तेति चिन्त्यम्। प्रयोगश्चात्र—संसार्यात्मा भोक्ता न भवति, अकर्त्तृकत्वात्, मुक्तात्मवत्। अकर्त्तृ-भोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाकृताभ्यागमादिदोषप्रसङ्गः। प्रकृत्या कृतं कर्म, न च तस्याः फलेनाभिसंबन्ध इति कृतनाशः। आत्मना च तन्न [3]कृतम्, अथ च तत्फलेनाभिसंबन्ध इत्यकृताभ्यागम इत्यात्मनः कर्त्तृत्वमङ्गीकर्तव्यम्।

§ १३९. तथा जडस्वरूपत्वमप्यात्मनो न घटते, तद्बाधकानुमानसद्भावात्। तथाहि—अनुपयोगस्वभाव आत्मा नार्थपरिच्छेदकर्त्ता, अचेतनत्वात् गगनवत्। अथ चेतनासमवायात् परिच्छिनत्तीति चेत्; तर्हि यथात्मनश्चेतनासमवायात् ज्ञातृत्वं तथा घटस्यापि ज्ञातृत्वप्रसङ्गः, समवायस्य

ही उपचारसे भोक्ता बनता है। उनकी यह मान्यता भी प्रमाण शून्य है। आत्मा वस्तुतः कर्मोंका कर्ता है, क्योंकि वह उन कर्मोंके फलको भोगता है। जो अपने कर्मोंके फलको भोगता है वह कर्ता भी होता है जैसे अपनी लगायी हुए खेतोंको काटकर भोगनेवाला किसान। यदि सांख्य पुरुषको कर्ता नहीं मानते; तो उसका पुरुष वस्तु ही नहीं बन सकेगा। सांख्यके द्वारा माना गया पुरुष वस्तुभूत नहीं है क्योंकि वह कोई कार्य नहीं करता जैसे कि आकाशका फूल।

§ १३८. आप आत्माको भोक्ता मानते हैं। भोक्ताका अर्थ है भोग क्रियाको करनेवाला कर्ता। अब आप ही बताइए कि आपका पुरुष भोग क्रियाको करता है या नहीं? यदि भोग क्रियाको करके भोक्ता बनता है तो अन्य क्रियाओंने क्या अपराध किया जिससे उन्हें पुरुष नहीं करता। जिस प्रकार भोग क्रिया करता है उसी प्रकार अन्य क्रियाओंको करके उसे सच्चा कर्ता बनना चाहिए। यदि वह निठल्ला पुरुष भोग क्रिया भी नहीं करता; तब उसे 'भोक्ता' कैसे कह सकते हैं? जो भोगक्रिया करता है वही भोक्ता कहलाता है। प्रयोग-संसारी आत्मा भोक्ता नहीं हो सकता क्योंकि वह भोग क्रिया भी नहीं करता, जैसे कि मुक्त जीव। अकर्ताको भोक्ता माननेमें तो 'करे कोई और भोगे कोई' वाली बात हुई। इसमें तो कृतनाश तथा अकृताभ्यागम नामके भीषण दोष होंगे। देखो, बेचारी प्रकृतिने तो कार्य किया तो उसे फल नहीं मिला वह भोगनेवाली नहीं हुई। यह तो स्पष्ट ही कृतनाश है। आत्माने कुछ भी कार्य नहीं किया, पर उसे फल मिल रहा है। यह अकृतकी प्राप्ति है। 'करे कोई और भोगे कोई' इस दूषणसे बचनेके लिए भोगनेवाले आत्माको कर्ता मानना ही चाहिए। प्रकृति तो अचेतन है अतः उसे भोगनेवाली मानना तो उचित नहीं है। यदि प्रकृति ही भोगनेवाली बन जाय तब पुरुष तो बिलकुल ही निरर्थक हो जायगा।

§ १३९. आत्माको जड़—ज्ञानशून्य कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि आत्माको ज्ञानी सिद्ध करनेवाला अनुमान मौजूद है, जैसे—ज्ञानशून्य आत्मा पदार्थोंको नहीं जान सकता; क्योंकि वह आकाशकी तरह अचेतन है। चेतनाके समवायसे आत्माको चेतन—ज्ञानवाला मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि समवाय सम्बन्ध नित्य व्यापी तथा एक है, अतः जिस प्रकार अचेतन आत्मा चेतनाके समवाय से चेतन बन जाता है और संसारके पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञाता कहलाता है उसी तरह अचेतन घट भी चेतनाके समवायसे चेतन बन कर ज्ञाता कहलाने लगे। 'आत्मामें ही ज्ञानका समवाय होता है घटादिमें नहीं' यह नियम तब ही बन सकता है यदि आत्माको ज्ञानस्वभाव माना

१. यदा म० २। २. "भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तद्विनियोगतः। विरोधे तु तयोर्भोक्तृ स्याद्भुञ्जी कर्तृता कथम्॥" —आप्तप० श्लो० ८२। ३. -कृतागमा-म० २। ४. चैतन्य म० २। ५. कृतं तस्य च म० २।

नित्यस्यैकस्य व्यापिनः सर्वत्राप्यविशेषादित्यत्र बहुवक्तव्यम् तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगौरवभयात् । ततश्चात्मनः पदार्थपरिच्छेदकत्वमङ्गीकुर्वाणैश्चैतन्यस्वरूपताप्यस्य गले पाविकान्यायेन प्रतिपन्नव्येति स्थितं चैतन्यलक्षणो[2] जीव इति ।

§ १४०. जीवश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदात्नवविधः ।

§ १४१. ननु भवतु जीवलक्षणोपेतत्वाद्द्वीन्द्रियादीनां जीवत्वं, पृथिव्यादीनां तु जीवत्वं कथं श्रद्धेयं व्यक्तलिङ्गस्यानुपलब्धेरिति चेत् ? सत्यम्; यद्यपि तेषु व्यक्तं जीवलिङ्गं नोपलभ्यते, तथाप्यव्यक्तं तत्समुपलभ्यत एव । यथा हृत्पूरव्याप्तिमिथ्यमदिरापानादिभिर्मूर्च्छितानां व्यक्तलिङ्गाभावेऽपि सजीवत्वमव्यक्तलिङ्गैर्व्यवह्रियते, एवं पृथिव्यादीनामपि सजीवत्वं व्यवहरणीयम् ।

§ १४२. ननु मूर्च्छितेषूच्छ्वासादिकमव्यक्तं चेतनालिङ्गमस्ति, न पुनः पृथिव्यादिषु तथाविधं किञ्चिच्चेतनालिङ्गमस्ति; नैतदेवम्; पृथिवीकाये तावत्स्वस्वाकारावस्थितानां लवणविद्रुमोपलादीनां

आय । इस विषयको बहुत कुछ विस्तारसे कहना था परन्तु ग्रन्थके विस्तारका डर लगा है अतः इतना ही पर्याप्त है । इस तरह यदि आत्माको पदार्थोंका जाननेवाला मानना है तो उसे ज्ञानस्वभाववाला मानना ही होगा । पदार्थोंके जाननेवाले आत्माको गले पड़े अग्नि सिद्ध'के अनुसार ज्ञानस्वभावताका ढोल बजाना ही होगा । बिना ज्ञानस्वभावके वह पदार्थोंको जाननेवाला नहीं बन सकेगा । इतने विवेचनसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि—आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ है तथा वह चैतन्यस्वभाववाला है ।

§ १४०. संसारी आत्माएँ एकेन्द्रिय—एक स्पर्शन इन्द्रियवाली, द्वीन्द्रिय—स्पर्शन और जीभवाली जैसे, त्रीन्द्रिय—स्पर्शन जीभ और नाकवाली जैसे, चतुरिन्द्रिय—स्पर्शन, जीभ, नाक और आंखोंवाली जैसे, तथा पंचेन्द्रिय—स्पर्शन, जीभ, नाक, आंख और कानवाली जैसे, इस तरह स्थूल रूपसे पाँच भागोंमें बाँटी जा सकती हैं । और एक स्पर्शन इन्द्रियवाली आत्माएँ पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति रूप होती हैं । इस तरह पृथिवी आदि पाँच तथा द्वीन्द्रिय आदि चार, सब मिलाकर संसारी आत्माओंके नव भेद हो जाते हैं ।

§ १४१. **शंका**—चलते-फिरते कीड़े-मकोड़े आदिमें तो आत्माकी बात कुछ समझमें आती है पर इन अजीव जड़ पृथिवी आदिको भी जीव कहना एक अजीब ही बात है । इनमें कोई भी ऐसे स्पष्ट चिह्न नहीं दिखाई देते जिनसे इनमें भी जीव माना जा सके ।

समाधान—आपका कहना ठीक है कि—पृथिवी आदि में जीव होनेके लक्षण स्पष्ट नहीं मालूम होते; पर अस्पष्ट रूपसे इनमें भी जीवके प्रायः सभी चिह्न मौजूद हैं जो इनको भी जीव सिद्ध करते हैं । लक्षण-चिह्नोंके अस्पष्ट होनेसे जीवका अभाव तो किया ही नहीं जा सकता । देखो, जिन पुराने पक्के शराबियोंने धतूरेसे मिली हुई शराब जमकर पी ली है, उन बुरी तरह बेहोश पड़े हुए शराबियोंमें भी जीवके ज्ञानादि चिह्न प्रकट नहीं दिखाई देते फिर भी अस्पष्ट चिह्नोंसे उन्हें सजीव तो कहते ही हैं । उसी तरह पृथिवी आदिको भी अस्पष्ट लिंगोंके बलपर सजीव कहना ही चाहिए ।

§ १४२. **शंका**—बेहोश शराबियोंकी श्वास चलती है, उनका शरीर भी गरम रहता है, अतः उनमें सजीवताके चिह्न, अस्पष्ट रूपमें ही सही, पाये तो जाते हैं, पर पृथिवी आदिमें न तो श्वास ही चलती है और न उनमें कुछ इस प्रकारकी हरकतें ही पायी जाती हैं जिन्हें आत्माके अस्पष्ट चिह्न भी कह सकें । अतः उन्हें कैसे सजीव मान सकते हैं ?

समाधान—आपकी शंका ठीक नहीं है । देखो, जिस प्रकार हमारे शरीरमें गुदाके आसपास होनेवाले बवासीरके मस्से नये-नये मस्सोंको उत्पन्न करके शरीरकी सजीवताके ज्वलन्त

---

१. नित्यैकस्य म० २ । २. –लक्षणा जीवा इति म० २ । ३. तथापि वक्तव्यं तत्स–म० २ ।

समानजातीयाङ्कुरोत्पत्तिमत्त्वम् अर्शो मांसाङ्कुरस्येव चेतनाचिह्नमस्त्येव। अव्यक्तचेतनानां हि संभाविसैकचेतनालिङ्गानां वनस्पतीनामिव चेतनाभ्युपगन्तव्या। वनस्पतेश्च चैतन्यं विशिष्टतुफलप्रदत्वेन स्पष्टमेव, साधयिष्यते च। ततोऽव्यक्तोपयोगाविलक्षणसद्भावात्सचित्ता पृथिवीति स्थितम्।

§ १४३. [1]ननु च विद्रुमपाषाणादिपृथिव्याः कठिनपुद्गलात्मिकायाः कथं सचेतनत्वमिति चेत्; नैवम्, उच्यते—यथा अस्थि शरीरानुगतं सचेतनं [3]कठिनं च दृष्टम् एवं जीवानुगतं पृथिवी शरीरमपीति।

§ १४४. अप्ता पृथिव्यग्नेजोवायुवनस्पतयो जीवशरीराणि छेद्यत्वाद्भेद्यत्वाद्यावत्क्षेप्यभोग्यद्वेष्यरसनीयस्पृश्यद्रव्यत्वात्, सास्नाविषाणादिसंघातवत्। नहि पृथिव्यादीनां छेद्यत्वादि दृष्टमपह्नोतुं शक्यम्। न च पृथिव्यादीनां जीवशरीरत्वमनिष्टं साध्यते, सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य [4]द्रव्यशरीरत्वाभ्युपगमात्। जीवसहितत्वासहितत्वं च विशेषः अशस्त्रोपहतं पृथिव्यादिकं क्वाचित्सचेतनं संघातत्वात्, पाणि-

प्रमाण हैं उसी तरह पृथिवी आदिमें भी स्वस्वजातीय नये अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति पायी जाती है जिसके कारण नमकको खदानमें नमक निकाले जानेपर भी वह बढ़ता जाता है। समुद्रमें मूंगा उत्पन्न होता है, उसमें नित्त नये-नये अंकुर उत्पन्न होते हैं। आप किसी पत्थरकी खानको ध्यानसे देखिए उसमें पत्थरके अंकुर निकलते ही हैं और पत्थर बढ़ता ही जाता है। इस तरह अपने सजातीय अंकुरोंकी उत्पत्ति करना ही सबसे बड़ा प्रमाण है जो पृथिवी आदिको सजीव सिद्ध करता है। जिस प्रकार हरी-भरी वनस्पतियोंमें कोंपलें फूल फल आदि निकलकर अपनी सजीवताको अपने आप कहते हैं उसी तरह जिनमें चेतनाके चिह्न प्रकट नहीं हैं ऐसे पृथिवी आदिमें यदि चेतनाका सबसे प्रबल प्रमाण सजातीय अंकुरकी उत्पत्ति करना मिलता है तो उन्हें चेतन माननेमें क्या अड़चन है? यदि वे सजीव नहीं हैं तो उनमें अंकुर कहाँसे निकलते हैं, वे बढ़ते क्यों हैं? आमका गरमियोंमें फलना तथा अमुक-अमुक ऋतुओंमें अमुक वनस्पतियोंका नियमसे फूलना-फलना उनकी सजीवताका सजीव प्रमाण है। यद्यपि वनस्पतिकी सजीवता स्पष्ट है फिर भी आगे उसे अच्छी तरह सिद्ध करेंगे। अतएव अव्यक्त चैतन्य होनेसे पृथिवी सचित्त है यह सिद्ध होता है।

§ १४३. शंका— मूंगा या पत्थर आदि तो अत्यन्त कठिन हैं, वे तो पुद्गलात्मक हैं उन्हें सजीव कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—कठिन होनेसे ही किसीको निर्जीव नहीं कह सकते, देखो अपने जीवित शरीरका ही हाड़ पत्थरसे कम कठिन नहीं है फिर भी वह सजीव है टूटनेपर बढ़ता है इसी तरह बढ़नेवाली कठिन पत्थर आदि जीवित पृथिवीको भी सचेतन मानना चाहिए।

§ १४४. पृथिवी जल आग हवा तथा पेड़ आदि जीवके शरीर हैं क्योंकि ये छेदे जाते हैं, भेदे जाते हैं, इन्हें फेंक सकते हैं, ये प्राणियोंके द्वारा भोगे जाते हैं, इन्हें सूंघते हैं, चाटते हैं, छूते हैं आदि। जैसे गायके सींग या उसके गलेमें लटकनेवाला चमड़ा आदि छेदने-भेदने छूने आदिके योग्य होनेसे जीवित प्राणीका शरीर है उसी तरह पृथिवी आदि भी। पृथिवी आदिका छेदा जाना भेदा जाना आदि तो प्रत्यक्षसे ही प्रतीत हैं। बड़े-बड़े पहाड़ोंको काटकर ही पत्थर लाया जाता है और बड़ी-बड़ी इमारतें बनायी जाती हैं। इस प्रत्यक्ष वस्तुका लोप नहीं किया जा सकता। पृथिवी आदिको जीवका शरीर मानना अनिष्ट नहीं है; क्योंकि संसारके समस्त पुद्गल द्रव्य शरीर होनेकी योग्यता रखते हैं। वे द्रव्यशरीर तो हैं ही। हाँ कुछ पुद्गल जीव सहित होकर सजीव शरीर रूप होते हैं तथा कुछ निर्जीव। जिस पत्थरकी खानिमें अभी तक

१. त न विद्रुमतस्येव म० २। २. ननु विद्रु—म० २। ३. —ननुत्वात्कठि—म० २। ४. —द्रव्यस्य शरीर—म० २, क०।

पाषसंघातवत् । तदेव कवाचिदचिदचेतनमपि शस्त्रोपहतत्वात्, पाण्यादिववेव, न चात्यन्तं तच्चित्तमेवेति ।

§ १४५. अथ नाप्कायो जीवः, तल्लक्षणायोगात्, प्रस्रवणादिवदिति चेत्; नैवम्; हेतोरसिद्धत्वात् । यथा हि—हस्तिनः शरीरं कललावस्थायामधुनोत्पन्नं सद्रवं सचेतनं च दृष्टम् एवमप्कायोऽपि, यथा चाण्डके रसमात्रमसंजातावयवमनभिव्यक्तचक्ष्वादिप्रविभागं चेतनावद्दृष्टम् । एषैव चोपमा अजीवानामपि । प्रयोगश्चायम्—सचेतना आपः, शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्, हस्तिशरीरोपादानभूतकललवत् । हेतोर्विशेषणोपादानात् प्रस्रवणादिव्युदासः । तथा सात्मकं तोयम्, अनुपहतद्रवत्वात्, अण्डकमध्यस्थितकललवदिति । इदं वा प्राग्वज्जीववच्छरीरत्वे सिद्धे सति प्रमाणम् । सचेतना हिमावयः क्वचित्, अप्कायत्वात्, इतरोदकवदिति । तथा क्वचन चेतनावत्य आपः, खातभूमिस्वाभाविकसंभवात्,[3] दर्दुरवत् । अथवा सचेतना अन्तरिक्षोद्भवा आपः, अभ्राविविकारे स्वत

टांकी नहीं लगी जिसे अभी तक काटा नहीं है वह खानि रूप पृथिवी सचेतन है क्योंकि वह बहनेवाली शिलाओंका समुदाय है जैसे हाथ पैर आदिका समुदाय । जब उसमें टाँकी लग जाती है उसे काटकर उसमें-से पत्थर निकाला जाता है तब उसी पृथिवीका, वह कटा हुआ भाग निर्जीव हो जाता है; क्योंकि वह हथियारोंसे काटी गयी है जैसे कटा हुआ हाथ । अतः पृथिवीको सर्वथा अचेतन नहीं कह सकते । हाँ जो पृथिवी बढ़ती नहीं है उसे तो सचेतन हम भी नहीं कहते । कोई पृथिवी सचेतन होती है तथा कोई अचेतन । लोकमें भी 'यह मिट्टी मर गई' यह व्यवहार देखा जाता है । अतः पृथिवीको सचेतन मानना चाहिए ।

§ १४५. **शंका**—अच्छा पृथिवीमें जीव मान लेते हैं, पर जलमें तो जीवके कोई भी चिह्न नहीं पाये जाते अतः उसे सचेतन नहीं कह सकते जैसे कि पेशाबको ।

समाधान—देखो जब हाथीका शरीर हथिनीके गर्भमें कलल—पानी जैसा पतला रहता है, वह बहनेवाला होकर भी सचेतन है उसी तरह पानीको भी सचेतन मानना चाहिए । देखो अण्डेमें पक्षीका शरीर बिलकुल पानी जैसा प्रवाही रहता है, उस समय उसमें हाथ पैर चोंच आदि कोई भी अवयव प्रकट नहीं होता । वह जिस प्रकार सचेतन है उसी तरह पानी भी सजीव है । जल अण्डेके भीतर रहनेवाले तरल पदार्थकी ही तरह सजीव है । प्रयोग—बिना बिलोया हुआ, अताडित जल सचेतन है, क्योंकि वह शस्त्र आदिसे ताडित न होकर प्रवाही है । जिस प्रकार हाथीके स्थूल शरीरका मूल गर्भवर्ती कलल प्रवाही होकर सचेतन है उसी तरह जल भी । मूत्र आदि बहनेवाले पदार्थ मूत्राशय आदिसे ताड़ित होते हैं अतः वे प्रवाही होकर भी सजीव नहीं हैं । ततः शस्त्रादिसे अताडित' विशेषणसे मूत्रादिकी व्यावृत्ति हो जाती है ।

२. जिस प्रकार अण्डेके भीतर रहनेवाला पतला बहनेवाला पदार्थ आघातसे रहित होकर बहनेवाला है अतः वह सचेतन है । उसी तरह अताड़ित जल भी सचेतन है क्योंकि वह अताड़ित होकर बहनेवाला है । बात यह है कि जिस जलको लकड़ी आदिसे मचा देते हैं, उसे छपछपा देते हैं वह जल लकड़ी आदिके प्रचण्ड अभिघातसे अचेतन हो सकता है अतः हेतुमें 'अताड़ित' विशेषण दिया गया है । इसी तरह कोई-कोई बरफ आदि भी सचेतन होते हैं क्योंकि वे जलकाय हैं जैसे कि अन्य पानी । जमीनसे स्वाभाविक रूपमें निकलनेवाला पानी सचेतन है क्योंकि वह पृथिवी खोदते ही स्वाभाविक रूपसे निकलता है जैसे कि पृथिवी खोदनेपर निकलनेवाला मेढक । बादलोंसे बरसनेवाला पानी सचेतन है, क्योंकि वह बादलोंके मिल जानेसे अपने आप बरसता है जैसे कि

१. –पन्नस्य द्रवं चेतनं आ०, क० । –पन्नस्य द्रवं सचेतनं म० १, प० १, प० २ । २. इदं प्रा० म० २, प० १, प० २ । ३. –वादथवा म० २ ।

एव संभूय पातात्, मत्स्यवदिति। तथा शीतकाले भृशं शीते पतति नद्यादिष्वल्पेऽल्पो बहौ बहुर्बहुतरे च बहुतरो य ऊष्मा संवेद्यते स जीवहेतुक एव, अल्पबहुबहुतरमिलितमनुष्यशरीरेष्वल्पबहुबहुतरोष्मवत्। [1]प्रयोगश्चायम्—शीतकाले जलेषूष्णस्पर्शा उष्णस्पर्शवस्तुप्रभवः, [2]उष्णस्पर्शत्वात्, मनुष्यशरीरोष्णस्पर्शवत्। न च जलेष्वयमुष्णस्पर्शः सहजः, 'अप्सु स्पर्शः शीत एव' इति[3] वैशेषिकादिवचनात्। तथा शीतकाले शीते स्फीते निपतति प्रातस्तटाकादेः पश्चिमायां दिशि स्थित्वा यदा तटाकादिकं विलोक्यते, तदा तज्जलाभ्निर्गतो वाष्पसंभारो दृश्यते, सोऽपि जीवहेतुक एव। प्रयोगस्त्वित्थम्—शीतकाले जलेषु वाष्प उष्णस्पर्शवस्तुप्रभवः, वाष्पत्वात्, शीतकाले शीतलजलसिक्तमनुष्यशरीरोद्वाष्पवत्। प्रयोगद्वयेऽपि यदेतदुष्णस्पर्शस्य वाष्पस्य[4] च निमित्तमुष्णस्पर्शं वस्तु, तदेव तैजसशरीरोपेतमात्माख्यं वस्तु प्रतिपत्तव्यम्। जलेष्वन्यस्योष्णस्पर्शवाष्पयोर्निमित्तस्य वस्तुनोऽभावात्।

§ १४६. न च शीतकाल उत्कुरुडिकावकरतलगतोष्णस्पर्शेन तन्मध्यनिर्गतवाष्पेण[5] च प्रकृत-

---

बादलोंसे गिरनेवाली मछलियाँ। जिस प्रकार बरसातमें बादलोंमें ही सरदी, गरमी आदिके निमित्त से मछलियाँ उत्पन्न होकर बरसती हैं उसी तरह जल भी बादलोंके विकारसे उत्पन्न होकर बरसता है अतः सचेतन है। ठण्डके दिनोंमें जब खूब सरदी पड़ती है तब छोटी तलैया या बावड़ीके थोड़े पानीमें थोड़ी गरमी, तालाबके पानीमें अधिक गरमी तथा नदी आदिके पानीमें तो और भी अधिक गरमी देखी जाती है। स्वभावसे ठण्डे पानीकी यह गरमी जीवके निमित्तसे उत्पन्न होती है। जैसे थोड़े, बहुत, या बहुत अधिक मनुष्योंकी भीड़ होनेपर मनुष्योंके अनुपातके अनुसार थोड़ी, बहुत या बहुत अधिक गर्मी जीव हेतुक ही हुआ करती है। प्रयोग—ठण्डके दिनोंमें नदी आदिके पानीका गरम रहना गरम वस्तुके सम्पर्कसे ही सम्भव है क्योंकि वह स्वभावसे ठण्डे पदार्थमें आयी हुई गरमी है। जैसे कि मनुष्योंकी भीड़ होनेसे कमरेमें होनेवाली गरमी। यह गरमी जलका स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकती क्योंकि वैशेषिक आदिने स्वयं ही जलको स्वभावसे ठण्डा माना है। कहा भी है—"जलमें ठण्डा ही स्पर्श है"। इसी तरह जब खूब जमकर ठण्ड पड़ रही हो, कुहरा आकाशको आच्छादित कर रहा हो तब टहलते हुए प्रातःकाल नदी आदिके पश्चिम किनारेपर पहुँचिए। वहाँ से जब आप नदी आदिकी शोभा देखेंगे तो मालूम होगा कि उसमें-से भाप उसी तरह निकल रही हैं जैसे किसी चूल्हेपर रखी हुई बटलोईसे। यह भाप भी जीवहेतुक ही है। प्रयोग—शीतकालमें नदी आदिसे निकलनेवाली भाप गरम वस्तुके सम्पर्कसे उत्पन्न होती है, क्योंकि वह भाप है। जिस प्रकार ठण्डके दिनोंमें किसी मनुष्यको ठण्डे पानीसे ही स्नान करानेपर उसके शरीरसे निकलनेवाली भाप उसके गरम शरीरके सम्बन्धसे ही उत्पन्न होती है उसी तरह नदी आदिकी भापमें भी कोई-न-कोई गरम चीजका सम्बन्ध अवश्य ही है। उक्त दोनों अनुमानोंमें जलकी गरमी तथा उससे निकलनेवाली भापमें उष्ण स्पर्शवाली वस्तुके सम्बन्धको कारण बताया गया है। यह उष्ण स्पर्शवाली वस्तु यदि कोई हो सकती है तो वह है पानीमें रहनेवाला तैजस शरीरसे युक्त आत्मा। क्योंकि जल आदिमें गरमी लानेवाला या भाप निकलनेमें कारण अन्य कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता। अतः इन अनुमानोंसे पानीकी सजीवता बड़ी सरलतासे समझमें आ जाती है।

§ १४६. शंका—कूड़े-कचरेके घूरेसे भी ठण्डके दिनोंमें भाप निकलती हुई दिखाई देती है तथा उस घूरेके भीतर गरमी भी काफी रहती है, परन्तु वहाँ कोई भी उष्णस्पर्शवाली वस्तु नहीं है जिसके निमित्तसे गरमी या भाप का उत्पन्न होना समझमें आये। इसी तरह जलकी गरमी और

---

१. –श्चात्र शीत–म० २। २. स्पर्शवत्त्वात् म० २। ३. –"अप्सु शीतता" –वैशे० सू० २।२।५।
४. –स्य निमि–म० २। ५. व्यवाष्पेण म० २।

हेत्वोर्व्यभिचारः शङ्क्यः, तयोरप्यवकरमध्योत्पन्नमृतजीवशरीरनिमित्तत्वाभ्युपगमात्।

§ १४७. ननु मृतजीवानां शरीराणि कथमुष्णस्पर्शवाष्पयोनिमित्तीभवन्तीति चेत्? उच्यते– यथाग्निदग्धपाषाणखण्डिकासु [1]जलप्रक्षेपे विध्यातावप्यग्नेरुष्णस्पर्शवाष्पौ भवेतां तथा शीतसंयोगे सत्यप्यत्रापीति। एवमन्यत्रापि वाष्पोष्णस्पर्शयोर्निमित्तं सचित्तमचित्तं वा यथासंभवं वक्तव्यम्। इत्थमेव च शीतकाले पर्वतनितम्बस्य निकटे वृक्षादीनामधस्ताच्च य ऊष्मा संवेद्यते, सोऽपि मनुष्यवपुरूष्मवज्जीवहेतुरेवावगन्तव्यः। एवं ग्रीष्मकाले बाह्यतापेन तैजसशरीररूपाग्नेर्मन्दीभवनात् जलादिषु यः शीतलस्पर्शः[2], सोऽपि मानुषशरीरशीतलस्पर्शवज्जीवहेतुकोऽभ्युपगमनीयः, तत [3]एवंविधलक्षणभावत्वाज्जीवा भवन्त्यप्कायाः।

§ १४८. यथा रात्रौ खद्योतकस्य देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत्तशक्तिराविष्कारास्ति, एवमङ्गारादीनामपि प्रतिविशिष्टप्रकाशाविशक्तिरनुमीयते जीवप्रयोगविशेषाविर्भाविततेति। यथा वा ज्वरोष्मा जीवप्रयोगं नातिवर्तते, एवंवोपमाग्नेयजन्तूनाम्। न च मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामग्नेः सचित्तता ज्ञेया। प्रयोगश्चात्र–आत्मसंयोगाविर्भूतोऽङ्गारादीनां प्रकाश-

भाप भी अकारण ही होंगी उनमें पानीके तैजस शरीरवाले आत्माको निमित्त क्यों माना जाय?

समाधान—उस घूरेमें पैदा होकर मरनेवाले जीवोंके मृतशरीर ही घूरेकी गरमी तथा भापमें कारण हैं।

§ १४७. **शंका**—यह तो एक अजीब ही बात आपने कही। कहीं मृत शरीर भी गरमी तथा भापमें कारण हो सकते हैं?

समाधान—जैसे आगमें तपाये गये पत्थर या ईंटके टुकड़ोंपर पानी डालनेसे गरमी तथा भाप निकलती है उसी तरह ठण्डकके समय घूरेसे भी गरमी और भाप निकलना युक्तियुक्त ही है। अतः भाप तथा गरमीमें यथासम्भव कहीं सचेतन गरम पदार्थ और कहीं अचेतन गरम पदार्थ कारण होते हैं। इसी तरह जब अच्छी कड़ाकेकी सरदी पड़ रही हो पर्वतकी गुफाओंके पास तथा पेड़ आदिके नीचे भी गरमी मालूम होती है। यह गरमी भी मनुष्यके शरीरकी गरमीकी तरह किसी तैजसशरीरवाले जीवसे ही उत्पन्न हुई माननी चाहिए। जिस तरह गरमीके दिनों बाहरकी गरमीके कारण शरीरके भीतरकी तैजसशरीर रूपी अग्नि मन्द पड़ जाती है उसी तरह बाहरकी तीव्र गरमीके कारण नदीका जल भी ठण्डा हो जाता है। गरमीके दिनोंमें होनेवाली यह ठण्डक भी जीव हेतुक ही माननी चाहिए जैसे कि मनुष्यके शरीरके भीतरकी ठण्डक। इस तरह अनेक अनुमानोंसे जलमें जीवकी सिद्धि की जाती है अतः जलको सजीव मानना युक्ति तथा अनुभवसे प्रसिद्ध है।

§ १४८. रात्रिमें जुगनू अपने शरीरके चमकदार परिणमनसे चमकता है, प्रकाश देता है। यह प्रकाश जीवकी शक्तिका प्रत्यक्ष फल है, इसी तरह आगके अंगार आदिमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रकाश-शक्तियाँ पायी जाती हैं, इनसे भी उनमें रहनेवाले जीवका अनुमान होता है; क्योंकि ये प्रकाश शक्तियाँ जीवके संयोगके बिना नहीं हो सकतीं। जिस तरह बुखार आनेसे जीवित शरीरका अंगारकी तरह गरम हो जाना जीवके संयोगका एक खास चिह्न है उसी तरह अग्निकी गरमी भी जीवके संयोगके बिना नहीं हो सकती अतः वह भी अग्नि जीवका अनुमान करानेमें प्रधान हेतु है। क्या कभी मुरदेको भी बुखारका आना सुना गया है? इस तरह अन्वय-व्यतिरेकसे अग्निकी गरमी ही अग्नि जीवोंका अनुमान कराती है। प्रयोग—आगके अंगार आदिमें पाया जानेवाला

१. जलप्रक्षेपविध्यातास्वप्यग्ने–म० २। २. -तलः स्पर्शः म० १। ३. एवं लक्षण–म० २। ४. –पि विद्मि–म० २।

परिणामः, शरीरस्थत्वात्, खद्योतदेहपरिणामवत्। तथा आत्मसंयोगपूर्वकोऽङ्गारादीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत्। न चादित्यादिभिरनेकान्तः, सर्वेषामुष्णस्पर्शस्यात्मसंयोगपूर्वकत्वात्। [1]तथा सचेतनं तेजः, यथायोग्याहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात्, पुरुषवत्पुरुषं। एवमादिलक्षणैरानेयजन्तवोऽवसेयाः।

§ १४९. यथा देवस्य स्वाभाविकप्रभावात्मनुष्याणां चाञ्जनविद्यामन्त्रैरन्तर्धाने शरीरं चक्षुषानुपलभ्यमानमपि विद्यमानं चेतनावत्त्वाध्यवसीयते, एवं वायावपि चक्षुर्ग्राह्यं रूपं न भवति, सूक्ष्मपरिणामात्, परमाणोरिव वह्निदग्धपाषाणखण्डिकागताच्चित्ताग्नेरिव वा। प्रयोगश्चायम्—सचेतनावान् वायुः, अपरप्रेरिततिर्यग्गतिनियमितविग्गतिमत्त्वात्, गवाश्वादिवत्। तिर्यग्गत्व एव गमननियमावनियमितविशेषणोपादानाच्च परमाणुना न व्यभिचारः, तस्य नियमितगतिमत्त्वात्, "जीवपुद्गलयोरनुश्रेणिः"[2] इति वचनात्। एवं वायुरशस्त्रोपहतश्चेतनावानवगन्तव्यः।

§ १५०. बकुलाशोकचम्पकाम्रनेकविधवनस्पतीनामेतानि शरीराणि न जीवव्यापारमन्तरेण

प्रकाश आत्माके संयोगसे उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह शरीरमें रहनेवाला प्रकाश है जैसे कि जुगनूके चमकदार शरीरमें पाया जानेवाला प्रकाश। अंगार आदिकी गरमी आत्माके संयोगसे उत्पन्न हुई है, क्योंकि वह शरीरमें पायी जानेवाली गरमी है जैसे ज्वर चढ़नेपर बढ़नेवाली शरीर की गरमी। सूर्य आदिकी गरमी तथा प्रकाश भी सूर्य जीवके संयोगसे ही होता है अतः हमारे हेतु निर्बाध हैं, उनमें कोई व्यभिचार नहीं है। तथा, अग्नि सचेतन है, क्योंकि वह यथायोग्य ईंधन आदिके मिलने या न मिलनेपर बढ़ती और घटती है। जैसे कि मनुष्यका शरीर आहारादिके मिलनेपर बढ़ने लगता है तथा दाना पानी न मिले तो दुबला हो जाता है, अतः इस विकारके कारण मनुष्यका शरीर सचेतन है, ठीक उसी तरह ईंधन डालिए अग्नि धधककर जल उठेगी; ईंधन नहीं रहेगा तो धीरे-धीरे बुझने लगेगी, अतः अग्निको भी सचेतन मानना चाहिए। इत्यादि अनेक हेतुओंसे अग्नि जीवोंकी सिद्ध कर लेनी चाहिए।

§ १४९. जिस प्रकार देवोंका शरीर अपनी स्वाभाविक शक्तिके कारण दृष्टिगोचर नहीं होता अथवा किसी अंजन विद्या या मन्त्रके प्रयोगसे बहुत-से सिद्ध योगी अपने स्थूल शरीरको अन्तर्हित—न दिखाई देने लायक बना लेते हैं उसी तरह वायु भी यद्यपि आँखोंसे नहीं दिखाई देती फिर भी देव या योगियोंके शरीरकी तरह वह सचेतन है। वायुका इतना सूक्ष्म परिणमन है कि उसमें रहनेवाला रूप आँखोंसे नहीं दिखाई देता। जिस प्रकार आगसे तपाये गये गरम पत्थरमें आगके अचेतन परमाणु विद्यमान हैं फिर भी सूक्ष्मपरिणमनके कारण दिखाई नहीं देते उसी तरह वायुका रूप भी सूक्ष्म परिणमनके कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रयोग—वायु सचेतन है क्योंकि वह स्वभावसे तिरछा चलती है। उसकी गतिका कोई नियम नहीं है कि वह अमुक दिशा को ही चले। जब तक कोई दूसरा प्रेरणा नहीं करता तब तक वायु स्वभावतः तिरछी ही बहती है। जैसे कि बिना हाँके स्वभावसे यहाँ वहाँ विचरनेवाले गाय घोड़ा आदि पशु। "जीव और पुद्गल दोनों ही अनुश्रेणि—आकाशके प्रदेशोंकी रचनाके अनुसार सीधी गति करते हैं" ऐसा कथन होनेसे परमाणुकी गतिका नियम मौजूद है वह वायुकी तरह अनियत—जहाँ चाहे वहाँ गति करनेवाला नहीं है और न वह तिरछा ही जा सकता है अतः हेतु परमाणुमें व्यभिचारी नहीं है। अतः इस हेतुसे वायुमें सजीवता सिद्ध हो ही जाती है। इसी तरह शस्त्र या बीजना (पंखा) आदिसे आघात न पाये हुए वायुको सचेतन समझ लेना चाहिए।

§ १५०. जिस तरह मनुष्यके शरीरमें बचपन जवानी बुढ़ापा आदि परिणमन होनेसे उसे

---

१. यथा भ० २। २. तिर्यग् नियमित—भ० २। ३. —णीति भ० २।

मनुष्यशरीरसमानधर्मभाञ्जि भवन्ति । तथाहि—यथा पुरुषशरीरं बालकुमारयुवबृद्धतापरिणामविशेषवत्त्वाच्चेतनावदधिष्ठितं प्रस्पष्टचेतनाकमुपलभ्यते तथेदं वनस्पतिशरीरमपि, यतो जातः केतकतरुर्बालको युवा वृद्धश्च संवृत्त इति, अतः पुरुषशरीरतुल्यत्वात् सचेतनो वनस्पतिरिति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरमनवरतं बालकुमारयुवाद्यवस्थाविशेषैः प्रतिनियतं वर्धते, तथेदमपि वनस्पतिशरीरमङ्कुरकिसलयशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैः प्रतिनियतं वर्धत इति । तथा यथा मनुष्यशरीरं ज्ञानेनानुगतं एवं वनस्पतिशरीरमपि, यतः शमीप्रपुन्नाटसिद्धे (द्ध) सरकासुन्दकबब्बूलागस्त्यामलकीकिंप्रभृतीनां स्वापविबोधतस्तद्भावः । तथाधोनिखातद्रविणराशेः स्वप्ररोहेणावेष्टनम् । तथा वटपिप्पलनिम्बादीनां प्रावृड्जलधरनिनादशिशिरवायुसंस्पर्शादङ्कुरोद्भेदः । तथा मत्तकामिनीसनूपुरसुकुमारचरणताडनादशोकतरोः पल्लवकुसुमोद्भेदः । तथा युवत्यालिङ्गनात् पनसस्य । तथा सुरभिसुरागण्डूषसेकाद्बकुलस्य । तथा सुरभिनिर्मलजलसेकाच्चम्पकस्य । तथा कटाक्षवीक्षणात्तिलकस्य । तथा पञ्चमस्वरोद्गाराच्छिरीषस्य विरहकस्य च पुष्पविकिरणम् । तथा पद्मादीनां प्रातर्विकसनं, धोयातक्यादिपुष्पाणां च संध्यायां; कुमुदादीनां तु चन्द्रोदये । तथासन्नमेघप्रवृष्टौ शम्या अवक्ष-

---

सजीव मानते हैं उसकी चेतना अत्यन्त स्पष्ट रहती है ठीक यही सब स्वभाव या परिणमन वृक्ष आदि वनस्पतियोंमें पाये जाते हैं । 'यह केतकी पौधा लगा, बढ़ा, जवान हुआ तथा बूढ़ा हुआ' ये सब व्यवहार वनस्पतियोंमें बराबर किये जाते हैं अतः मनुष्य शरीरकी तरह इसे भी सचेतन मानना चाहिए; क्योंकि बिना चेतन अधिष्ठाताके शरीरमें यह नियत—सिलसिलेवार परिणमन नहीं हो सकता । जिस तरह मनुष्यका शरीर दूजके चाँदकी तरह दिन प्रतिदिन बालकसे किशोर और किशोरसे जवानीकी बहार लेता है, तथा जवानसे बूढ़ा होकर नियत परिणमन करता रहता है उसी प्रकार वृक्षोंमें भी अंकुर निकलना, छोटी-छोटी कोंपलोंका लहलहाना, डालियोंका फूटना, फूल तथा फलोंका लगना आदि अनेकों क्रमिक परिणमन पाये जाते है और इन्हीं सिलसिलेवार परिणमनोंसे वनस्पतियाँ एक महान् वृक्षकी शकलमें आ जाती हैं । जिस तरह मनुष्यके शरीरमें हेयोपादेयका परिज्ञान रहता है, आँखमें धूल आते ही वह स्वभावतः बन्द हो जाती है तथा साँप आदिसे स्वभावतः बचनेकी प्रवृत्ति होती है उसी तरह वनस्पतिकोंमें भी भले-बुरेका ज्ञान पाया जाता है । देखो, शमी, प्रपुन्नाट, सिद्ध (ऋद्धि), सरका (हिंगुपत्री) सुन्दक (?) बब्बूल, अगस्त्य, आमलकी, इमली आदि वनस्पतियाँ सोती हैं और समयपर जाग जाती हैं । कुछ जमीनमें गड़े हुए धनको अपनी जड़ोंमें लपेट लेती हैं और इस तरह उस धनसे अपनापा जोड़ती हैं । जब बरसात आती है, ठण्डी-ठण्डी हवा बहने लगती है और बादल जोर-जोरसे गरजने लगते है तब बड़ पीपर तथा नीम आदिके पेड़ोंमें अपने आप अंकुर फूटने लगते हैं । अशोक वृक्षको रसिकता तो अपूर्व ही है, उसे तो जब सुन्दर मत्त युवती पैरमें बिछुए पहिनकर धीरेसे प्रेमपूर्वक अपने चरणोंसे ताड़ती है तभी वे हजरत सिहरकर फूल उठते हैं, उनमें नयी नयी कोंपलें लहलहा आती हैं । पनस—कटहलका पेड़ तो स्त्रीका आलिंगन करके फूलता फलता है । बकुल वृक्षपर जब कोई सुन्दरी सुगन्धित सुराका कुल्ला करे तब उसमें पत्ते और फूल लगते हैं । चम्पाके लिए सुगन्धित निर्मल जलसे सींचिए तब वह फूलेगा । तिलक वृक्ष सुन्दरीकी एक तिरछी चितवनसे ही अपना हृदय उँडेल देता है उसमें एक तिरछी चितवनसे ही पत्ते और फूल लग जाते हैं । पंचम स्वरसे शिरीष और विरहक वृक्षके सामने गाइए, वे उससे मत्त होकर अपने फूलोंको झड़ा देंगे । सूर्यका उदय होते ही प्रातः कमल खिल जाते हैं । धोयातकी आदिके फूल सायंकाल खिलते हैं । कुमुद

---

१. प्रशस्तसप्ट—म० २ । २. शरीरं यतो म० १, प० १, प० २, आ०, क० । ३. प्रपुनाट, प्रपुनाद, प्रपुंनड, प्रपुंनाद, प्रपुंनाड, प्रपुंनाल—इत्यपि पाठान्तराणि कोषेषु आयुर्वेदग्रन्थेषु च । Cassia Tora : Cavia Aluta. ४. प्रभृतिवनस्पतीनां म० २ ।

रणम्। तथा वल्लीनां वृक्षाद्याश्रयोपसर्पणम्। तथा लज्जालुप्रभृतीनां हस्तादिसंस्पर्शात्पत्रसंकोचादिका परिस्फुटा क्रियोपलभ्यते। अथवा सर्ववनस्पतेर्विशिष्टर्तुष्वेव फलप्रदानं, न चैतदनन्तराभिहितं तरुसंबन्धिक्रियाजालं ज्ञानमन्तरेण घटते। तस्मात्सिद्धं चेतनावत्त्वं वनस्पतेरिति।

§ १५१. तथा यथा मनुष्यशरीरं हस्तादिच्छिन्नं शुष्यति, तथा तरुशरीरमपि पल्लवफलकुसुमादिच्छिन्नं [1]विशोषमुपगच्छद्दृष्टम्। न चाचेतनानामयं धर्म इति। तथा यथा मनुष्यशरीरं स्तनक्षीरशुक्रजलौदनाद्याहाराभ्यवहारादाहारकं; एवं वनस्पतिशरीरमपि भूजलाद्याहाराभ्यवहारादाहारकम्। न चैतदाहारकत्वमचेतनानां दृष्टम्। [2]अतस्तत्सद्भावात्सचेतनत्वमिति।

§ १५२. तथा यथा मनुष्यशरीरं नियतायुष्कं तथा वनस्पतिशरीरमपि नियतायुष्कम्। तथाहि—अस्य दशवर्षसहस्राण्युत्कृष्टमायुः। तथा यथा मनुष्यशरीरमिष्टानिष्टाहारविप्राप्त्या वृद्धिहान्यात्मकं तथा वनस्पतिशरीरमपि। तथा यथा मनुष्यशरीरस्य [3]तत्तद्रोगसंपर्कात्रोगपाण्डुत्वोदरवृद्धिशोफकृशत्वाङ्गुलिनासिकानिम्नीभवनविगलनादि तथा वनस्पतिशरीरस्यापि तथाविधरोगोद्भवात्पुष्पफलपत्रत्वगाद्यन्यथाभवनपतनादि। तथा यथा मनुष्यशरीरस्यौषधप्रयोगाद्वृद्धिहानिक्षतभग्नसंरोहणानि; तथा वनस्पतिशरीरस्यापि। तथा यथा मनुष्यशरीरस्य रसायनस्नेहाद्युपयोगाद्वि-

रात्रिमें चन्द्रका उदय होनेपर विकसित होता है। मेघकी वृष्टिका अवसर आते ही शमीवृक्ष झड़ने लगता है। लताएँ योग्य आश्रयको खोजकर उनपर चढ़ जाती हैं। लजवन्ती आदि हाथकी अंगुली दिखाते ही लजाकर मुरझा जाती हैं; उनके पत्ते संकुच जाते हैं। ये सब विशिष्ट क्रियाएँ वनस्पतिमें चैतन्यका स्पष्ट अनुमान कराती हैं। सभी वनस्पतियाँ अपनी अपनी ऋतुमें ही फल देती हैं। यह सब वनस्पतियोंका विचित्र खेल ज्ञानके बिना नहीं हो सकता। अतः वनस्पतिमें चैतन्य मानना चाहिए॥

§ १५१. देखो, यदि आदमीका हाथ कट जाय तो उसका सारा शरीर दुःखी होकर म्लान हो जाता है उसी प्रकार पत्ते फूल या फलोंके टूटनेसे वृक्षमें भी म्लानता—मुरझाना देखा जाता है। यदि वृक्ष अचेतन होते; तो उनमें यह सब मुरझाना, लजाना या फूलना फलना नहीं हो सकता था। जिस प्रकार मनुष्यका शरीर माँका दूध, शाक, भात आदिका आहार करता है उसी तरह वनस्पति शरीर भी मिट्टी पानी आदिको ग्रहण कर पुष्ट होता है। अचेतन तो भोजन—पोषक वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकता। अतः वनस्पतिका मनुष्य शरीरके समान आहार पाकर पुष्ट होना उसकी सचेतनताका ज्वलन्त प्रमाण है।

§ १५२. जिस तरह मनुष्यके शरीरकी आयु—उमर निश्चित है, उमर पूरी होनेपर वह निर्जीव हो जाता है उसी तरह वृक्ष भी अपनी उमर पूरी होने पर उखड़ जाते हैं। वृक्ष अधिकसे अधिक दश हजार वर्ष तक ठहरते हैं। जिस प्रकार इष्ट—अनुकूल भोजन मिलनेसे मनुष्यके शरीरमें ताजगी तथा बाढ़ देखी जाती है और प्रतिकूल भोजन मिलनेपर रोग आदि होकर शरीर क्षीण हो जाता है उसी तरह वनस्पतिमें भी अनुकूल खाद पानी मिलनेसे बाढ़ एवं प्रतिकूल खाद आदि मिलनेसे म्लानता तथा क्षय देखा जाता है। जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें अनेक पाण्डु जलोदर आदि रोग हो जानेपर पीलापन, पेटका फूल जाना, सूजन, दुर्बलता, अंगुली नाक आदिका टेढ़ा हो जाना तथा गलकर गिर जाना आदि अनेकों विकार देखे जाते हैं उसी तरह वनस्पतियोंमें भी रोग हो जानेपर फूल फल पत्ते छाल आदिका पीला पड़ जाना, झड़ जाना आदि विकार बराबर होते हैं। जिस प्रकार औषधि सेवनसे मनुष्यका शरीर नीरोग होकर

---

१. विशेषमुप—म० २, क०। २. हाराभ्यवहारकं म० २। ३. अतस्तद्भावात् भ० १, भ० २, प० १, प० २। ४. तत्तद्रोगपांडुत्वो—म० २।

शिष्टकान्तिरसबलोपचयादि तथा वनस्पतिशरीरस्यापि विशिष्टेष्टान्नभोजलादिसेकाद्विशिष्टरसवीर्यस्निग्धत्वादि । तथा यथा स्त्रीशरीरस्य तथाविधदौहृदपूरणात्पुत्रादिप्रसवनं तथा वनस्पतिशरीरस्यापि तत्पूरणात्पुष्पफलादिप्रसवनमित्यादि ।

§ १५३. तथा च प्रयोगः—वनस्पतयः सचेतना बालकुमारवृद्धावस्था–प्रतिनियतवृद्धिस्वापप्रबोधस्पर्शादिहेतुकोल्लाससंकोचाश्रयोपसर्पणादिविशिष्टानेककिया—छिन्नावयवम्लानि—प्रतिनियतप्रदेशाहारग्रहण – वृक्षायुर्वेदाभिहितायुष्केष्टानिष्टाहारादिनिमित्तकवृद्धिहानि – आयुर्वेदोदितत्तत्प्रयोग–विशिष्टौषधप्रयोगसंपादितवृद्धिहानिक्षतभुग्नसंरोहण– प्रतिनियतविशिष्टशरीररसवीर्यस्निग्धत्वरूक्षत्व– विशिष्टदौहृदाविमरवान्यथानुपपत्तेः विशिष्टस्त्रीशरीरवत् । अथवैते हेतवः प्रत्येकं पक्षेण सह प्रयोक्तव्या अयं वा संगृहीतोक्तार्थः प्रयोगः—सचेतना वनस्पतयो, जन्मजरामरण-

बढ़ने लगता है उसके घाव आदि मलहम पट्टी करनेसे भर जाते हैं, हड्डी टूट जानेपर भी उसमें-से नये अंकुर निकलकर वह फिरसे जुड़ जाती है.—जो हाथ-पैर टेढ़े हो जाते हैं वे सीधे हो जाते हैं उसी तरह वनस्पतिमें भी औषधिका सींचना या लेप करनेसे उसकी म्लानता दूर हो जाती है वह अपनी प्रकृत दशामें आकर हरी-भरी हो फलने फूलने लगती है। जिस तरह रसायनका सेवन करनेसे या घी आदि पौष्टिक पदार्थोंके खानेसे मनुष्यका शरीर गुलाबकी तरह लाल होकर चमकने लगता है वह अत्यन्त ताकतवर तथा रसीला बन जाता है उसी तरह वनस्पतियाँ भी समयपर हुई अच्छी बरसातसे तथा अनुकूल खाद-पानी आदिके मिलनेसे खूब हरी-भरी हो स्वादु और पुष्ट फलोंसे लद जाती हैं। उनके सुहावने और लुभावने फलोंको देखकर जीभमें पानी आ जाता है। जिस तरह गर्भिणी स्त्रीके दोहले—इच्छाओंकी पूर्ति करनेसे सुन्दर शक्तिशाली पुत्रका जन्म होता है, उसी तरह बकुल आदि वनस्पतियोंके सुन्दरीके पैरसे ताड़ित होना आदि दोहलोंको पूरा करते ही उनमें फूल फल आदि हरभराकर लग आते हैं। इस तरह मनुष्योंके शरीर तथा वनस्पतियोंकी समानताका कहाँ तक वर्णन करें ? इस समानतासे स्पष्ट मालूम होता है कि वनस्पतियाँ हम लोगोंके शरीरकी तरह सचेतन हैं।

§ १५३. इस विचेचनके आधारसे हम अनुमान कर सकते हैं कि—वनस्पतियाँ सचेतन हैं, क्योंकि वे अंकुर पौधे तथा वृक्षके रूपमें बचपन जवानी आदिको पाती हैं, खाद पानी मिलनेसे उनकी अंकुर, पत्ते निकलना, छोटी छोटी डालियाँ फूटना आदि रूपसे क्रमशः सिलसिलेवार वृद्धि होती है, वे सोती हैं, जागती हैं, छू जानेसे लजाकर मुरझा जाती हैं, सुन्दरीके पाद प्रहार आदिसे फूलती हैं, लताएँ आश्रयको पा कर उससे लिपट जाती हैं, उनकी टहनी पत्ते आदि तोड़नेसे वे कुम्हलाने लगती हैं, वे जड़ोंके द्वारा खाद-पानी रूप आहारको ग्रहण करती हैं, वृक्षोंके वैद्यक शास्त्रके अनुकूल खाद पानीसे उनकी आयुकी वृद्धि तथा प्रतिकूल खाद पानीसे आयुका ह्रास बताया गया है, वृक्षायुर्वेदमें वनस्पतियोंके अनेक रोगोंका वर्णन किया गया है, और विशेष औषधियोंके सींचने या लेप करनेसे उनके काटे हुए अवयवोंकी पूर्ति आदि देखी जाती है, औषधि प्रयोगसे उनके रोग नष्ट हो जाते हैं, पोषक खाद मिलनेसे उनमें स्वादु तथा पुष्ट फल लगते हैं, तथा बकुल आदि वृक्षोंको विचित्र-विचित्र दोहले होते हैं। इन सब कारणोंसे वनस्पतिमें चेतनता सिद्ध होती है। जैसे किसी स्त्रीके शरीरमें उपरोक्त सब बातें देखकर उसकी सजीवता निश्चित होती है उसी तरह वनस्पतिमें भी इन सब हेतुओंसे चेतनाका निर्विवाद निश्चय हो जाता है। इन हेतुओंका प्रयोग तत्तत् अंशोंको पक्ष बनाकर करना चाहिए। हम अब इन सब हेतुओंका संक्षिप्त रूपसे एक ही हेतुमें समावेश करके प्रयोग करते हैं—वनस्पतियाँ सजीव हैं, क्योंकि उनमें जन्म बुढ़ापा मरण तथा रोग आदि होते हैं। किसी स्त्रीके शरीरमें जन्मादि देखकर उसकी

१. विशिष्टेष्टान्नभो–म० १ ।

रोगादीनां समुदितानां सद्भावात्, [1]स्त्रीवत् ।

§ १५४. अत्र समुदितानां जन्मादीनां [2]ग्रहणात् 'जातं तद्धि' इत्यादिव्यपदेशदर्शनाद्दध्यादिभिरचेतनैर्न व्यभिचारः शङ्कयः ।

§ १५५. तदेवं पृथिव्यादीनां सचेतनत्वं सिद्धम् । आप्तवचनाद्वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः ।

§ १५६. द्वीन्द्रियादिषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यजलचरस्थलचरखचरपश्वादिषु न कश्चिदात्मकत्वे विगानमिति । ये तु तत्रापि विप्रतिपद्यन्ते तान् प्रतीदमभिधीयते ।

§ १५७. इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, इन्द्रियव्युपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात् । प्रयोगोऽत्र—इह यो यदुपरमे यदुपलब्धानामर्थानामनुस्मर्ता स तेभ्यो व्यतिरिक्तः, यथा गवाक्षैरुपलब्धानामर्थानां गवाक्षोपरमेऽपि [3]देवदत्तः । अनुस्मरति चायमात्मान्धबधिरत्वादिकालेऽपीन्द्रियोपलब्धानर्थान् अतः स तेभ्योऽर्थान्तरमिति ।

§ १५८. अथवेन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, इन्द्रियव्यापृतावपि कदाचिदनुपयुक्तावस्थायां

सचेतनता निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो जाती है उसी तरह वनस्पतियाँ भी जन्म, जीर्णता, उखड़ना, म्लान होना आदि अवस्थाओंको धारण करनेके कारण सचेतन सिद्ध हो जाती हैं ।

§ १५४. **शंका**—दही भी उत्पन्न होता है, परन्तु वह तो अचेतन है अतः उत्पन्न होनेके कारण ही किसीको चेतन कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—हमने केवल उत्पन्न होनेको ही सचेतनतामें हेतु नहीं बताया है किन्तु जो उत्पन्न होकर बढ़ता है, बूढ़ा होता है, रोगी होता है तथा अन्तमें मरता है इस जन्म जरा रोग और मरणकी चतुष्पुटीको एक साथ हेतु रूपमें उपस्थित किया है । दही आदि अचेतन पदार्थ कारणोंसे उत्पन्न तो हो सकते हैं पर उनमें सिलसिलेवार बुढ़ापा आदि अवस्थाएँ तो हरगिज नहीं पायी जातीं । अतः दही आदिसे व्यभिचार देना नासमझीकी ही बात है ।

§ १५५. इस तरह पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति सभीमें चेतनता सिद्ध हो जाती है । अथवा वीतरागी सर्वज्ञ देवके वचन रूप निर्दोष आगमसे सभी पृथिवी आदि सचेतन सिद्ध हो ही जाते हैं ।

§ १५६. कीड़े, चींटियाँ, भौंरा, मनुष्य, जलचर—मछली आदि, थलचर—हाथी घोड़ा आदि, खचर—चिड़िया आदि पक्षी इन सब द्वीन्द्रिय आदिको चेतन माननेमें तो किसीको विवाद नहीं है । ये कीड़े मकोड़े आदि तो निर्विवाद रूपसे जीव माने जाते हैं, इनको सजीवता प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है । परन्तु जो परमनास्तिक व्यक्ति इस प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तुमें भी विवाद करते हैं उनके अनुग्रहके लिए कुछ युक्तियाँ देते हैं—

§ १५७. आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न है, क्योंकि उसे इन्द्रियोंके नष्ट हो जानेपर भी उनके द्वारा जाने गये पदार्थोंका भली भाँति स्मरण होता है । जो जिसके नष्ट होनेपर भी उसके द्वारा जाने गये पदार्थोंका स्मरण करता है वह उनसे भिन्न है, जैसे कि मकानकी खिड़कियोंके नष्ट हो जानेपर भी उन खिड़कियोंके द्वारा देखे गये पदार्थोंका स्मरण करनेवाला देवदत्त खिड़कियोंसे भिन्न वस्तु है उसी प्रकार आँखके फूट जाने और कानके सड़क जानेसे अन्धा और बहरा देवदत्त भी देखे और सुने गये पदार्थोंका स्मरण करनेके कारण आँख और कान आदि इन्द्रियोंसे अपनी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता रखता है । यदि इन्द्रिय ही आत्मा हो तो इन्द्रियोंके नाश होनेपर स्मरण आदि ज्ञान नहीं होने चाहिए ।

§ १५८. अथवा आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न है क्योंकि आँख कान आदिके खुले रहनेपर भी

---

१. 'स्त्रीवत्' नास्ति म० १, म० २, प० १, प० २ । २. ग्राहकाणां ज्ञातं तद्वृद्धीत्यादि व्यपदेशदर्शना—म० २ । ३. —पि (तदनुस्मर्ता) दे—म० २ ।

वस्त्वनुपलम्भात् । प्रयोगश्चात्र—इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, तद्व्यापारेऽप्यर्थानुपलम्भात् । इह यो यद्व्यापारेऽपि येनोपलम्भानर्थान्नोपलभते स तेभ्यो भिन्नो दृष्टः, यथास्थगितगवाक्षोऽन्यमनस्कतयानुपयुक्तोऽपश्यंस्तेभ्यो देवदत्त इति ।

§ १५९. अथवेदमनुमानम्–समस्तेन्द्रियेभ्यो भिन्नो जीवोऽन्येनोपलभ्यान्येन विकारग्रहणात् । इह योऽन्येनोपलभ्यान्येन विकारं प्रतिपद्यते स तस्माद्भिन्नो दृष्टः, यथा प्रवरप्रासादोपरिपूर्ववातायनेन रमणीमवलोक्यापरवातायनेन [1]समायातायास्तस्याः करादिना कुचस्पर्शादिविकारमुपदर्शयन्देवदत्तः । तथा चायमात्मा चक्षुषाम्लीकामश्नन्तं दृष्ट्वा [2]रसनेन हृल्लासलालास्रवणादिकं विकारं प्रतिपद्यते । तस्मात्तयोः (तास्यां) भिन्न इति ।

§ १६०. अथवेन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा अन्येनोपलभ्यान्येन ग्रहणात् । इह यो घटादिकमन्येनोपलभ्यान्येन गृह्णाति स ताभ्यां भेदवान् दृष्टः यथा पूर्ववातायनेन घटमुपलभ्यापरवातायनेन गृह्णानस्ताभ्यां देवदत्तः । गृह्णाति [4] च चक्षुषोपलब्धं घटादिकमर्थं हस्तादिना [5]जीवः; ततस्ताभ्यां भिन्न इति ।

इनका व्यापार होनेपर भी आत्माका उपयोग—चित्त व्यापार—न होनेपर पदार्थोंका परिज्ञान नहीं होता । कितनी ही बार चित्त दूसरी ओर होनेसे सामनेकी वस्तु भी नहीं दिखाई देती, पासकी बात भी नहीं सुनाई देती । प्रयोग—आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न है, क्योंकि इन्द्रियोंका व्यापार होनेपर भी कभी पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं होती । जिस शक्तिके न होनेसे इन्द्रियाँ पदार्थको नहीं जान पातीं वही शक्ति आत्मा है । जिस प्रकार खिड़की खुली हो, पर जब देवदत्त अन्यमनस्क होकर कुछ विचार करता है तब उसे खिड़कीमें-से कुछ भी नहीं दिखाई देता उसी तरह दूसरी ओर उपयोग होनेसे आँखें आदि खिड़कियाँ खुली रहनेपर भी जब सामनेकी वस्तु नहीं दिखाई देती, पासका मधुर संगीत भी नहीं सुनाई देता तब यह मानना ही होगा कि आँख कानके सिवाय कोई दूसरा जाननेवाला अवश्य है । जिसका ध्यान उस ओर न होनेसे दिखाई या सुनाई नहीं दिया । वही ध्यानवाली वस्तु आत्मा है । यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा होतीं तो आँख खुली रहनेपर सदा दिखाई देना चाहिए था, कानसे सदा सुनाई देना चाहिए था । पर इनकी सावधानी रहनेपर भी जिस चित्तव्यापार उपयोग या ध्यानके अभावसे सुनाई और दिखाई नहीं दिया वही आत्मा है ।

§ १५९. अथवा, आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न है क्योंकि वह आँखों आदिसे पदार्थको जानकर स्पर्शन या रसना आदि इन्द्रियोंमें विकारको प्राप्त होता है । जो किसी अन्य जरियेसे पदार्थको जानकर अन्य जरियेसे विकार प्रदर्शन करे वह उन जरियोंसे भिन्न होता है जैसे मकान की पूरब की खिड़कीसे किसी सुन्दरीको देखकर उसे पश्चिमकी ओर जाता देख पश्चिमकी खिड़कीमें जाकर हाथ आदिसे कुचमर्दनकी चेष्टाएँ दिखानेवाला देवदत्त । यदि आत्मा इन्द्रिय रूप ही होता तो एक इन्द्रियसे पदार्थको जानकर दूसरी इन्द्रियमें विकार नहीं हो सकता था । यह तो दोनों इन्द्रियोंके स्वामीको ही हो सकता है । किसीको इमली खाते देखकर हृदयमें उसके खानेकी इच्छा तथा जीभमें पानी आना इस बातको सूचित करता है कि आँख हृदय और जीभके ऊपर पूरा-पूरा अधिकार रखनेवाला कोई नियन्ता अवश्य है जो यथेच्छ जिस किसी भी जरियेसे अपने विकारोंको दिखाता है । रमणीको आँखोंसे देखकर हृदयमें गुदगुदी होना तथा इन्द्रियमें विकार होना आत्माको इन्द्रियोंसे भिन्न होकर भी उनका अधिष्ठाता माने बिना नहीं बन सकता । अतः यह निश्चित है कि इन सब इन्द्रिय रूपी झरोखोंसे यथेच्छ देखनेवाला इन सबका स्वामी आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ है, इन्द्रियाँ तो उसके ज्ञान

---

१. गवाक्षेऽन्यम्–आ०, क० । २. –यातस्तस्याः म० २ । ३. रसने हृल्लास–म० १, म० २, प० १, प० २ । ४. –ति चक्षु–म० २ । ५. जीवस्ताभ्यां म० २ ।

§ १६१. एवमत्रानेकान्यनुमानानि नैकाश्च युक्तयो विशेषावश्यकटीकादिभ्यः स्वयं ज्ञेयाः (वक्तव्याः)व्यानीति । प्रोक्तं विस्तरेण प्रथमं जीवतत्त्वम् ।

§ १६२. अजीवतत्त्वं व्याचिख्यासुराह—'यश्चैतद्विपरीतवान्' इत्यादि । यश्चैतस्माद्विपरीतानि विशेषणानि विद्यन्ते यस्यासावेतद्विपरीतवान् सोऽजीवः समाख्यातः । 'यश्चैतद्विपरीत्यवान्' इति पाठे तु यः पुनस्तस्माज्जीवाद्विपरीत्यमन्यथात्वं तद्वानजीवः[2] स समाख्यातः । अज्ञानादिधर्मेभ्यो रूपरसगन्धस्पर्शादिभ्यो भिन्नाभिन्नो नरामरादिभवान्तरानुयायी ज्ञानावरणादिकर्मणामकर्ता तत्फलस्य[3] चाभोक्ता अङ्स्वरूपश्चाजीव इत्यर्थः ।

§ १६३. स च 'धर्माधर्माकाशकालपुद्गलभेदात् पञ्चविधोऽभिधीयते । तत्र धर्मो लोकव्यापी नित्योऽवस्थितोऽरूपी द्रव्यमस्तिकायोऽसंख्यप्रदेशो गत्युपग्रहकारी च भवति । अत्र नित्यशब्देन स्वभावादप्रच्युत आख्यायते । अवस्थितशब्देनान्यूनाधिक आविर्भाव्यते । अन्यूनाधिकज्ञानादिनिबन्धनेयत्ताभ्यां न स्वतत्त्वं व्यभिचरति । तथा अरूपिग्रहणादमूर्त उच्यते । अमूर्तश्च रूपरसगन्धस्पर्श-

---

आदिके साधन मात्र हैं ।

§ १६० अथवा, आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न है, क्योंकि किसी अन्य जरियेसे जानकर किसी अन्य जरियेसे ही वस्तुको ग्रहण करता है । जो घड़ा आदि पदार्थोंको अन्य जरियेसे देखकर किसी दूसरे जरियेसे ही उन्हें उठाता है वह उन जरियोंसे भिन्न होता है जैसे पूरबकी खिड़कीसे घड़ेको देखकर पश्चिम वाली खिड़कीसे उस घड़ेको उठाने वाला देवदत्त उन खिड़कियोंसे भिन्न है उसी तरह आत्मा भी आँखसे घट आदिको देखकर हाथोंसे उठाता है अतः वह भी इन आँख और हाथ आदिसे भिन्न सत्ता रखता है । यदि आत्मा आँख रूप हो तब वह घड़ेको कैसे उठायगा ? इसी तरह यदि हाथ रूप ही हो तो देखेगा कैसे ? अतः दोनों इन्द्रियोंसे भिन्न होकर भी इनको अपने अधीन रखनेवाला उनपर यथेच्छ हुकम चलानेवाला एक आत्मा अवश्य है । जो सभी इन्द्रियोंका अधिष्ठाता नियन्ता तथा यथेच्छ उपयोग करनेवाला है ।

§ १६१. इस तरह अनेकों अनुमान तथा युक्तियाँ आत्माकी सत्ताको स्पष्ट रूपसे सिद्ध करती हैं । इन युक्तियोंकी विशेष चर्चा विशेषावश्यक भाष्यकी टीका तथा अन्य जीवसिद्धि आदि ग्रन्थोंसे देख लेनी चाहिए । इस तरह ज्ञानादि स्वरूपवाला जीवतत्त्वका वर्णन हुआ ।

§ १६२. अब अजीवतत्त्वका व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि—'जीवसे उलटे लक्षणोंवाला अजीव होता है' इत्यादि । जो जीवसे विपरीत लक्षणवाला हो वह अजीव पदार्थ है । 'एतद्वैपरीत्यवान्' यह पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है । इसका तात्पर्य है—जिसमें जीवसे विपरीतता—उलटापन पाया जाये वह अजीव पदार्थ है । तात्पर्य यह है कि जहाँ जीवमें ज्ञान आदि धर्म पाये जाते हैं वहाँ अजीवमें अज्ञानादि धर्म पाये जायेंगे । यह अजीव अज्ञान आदि धर्मोंसे रूप रस, गन्ध स्पर्श आदि गुणोंसे कथंचिद् भिन्न भी है तथा अभिन्न भी, यह मनुष्य नरक आदि पर्यायोंको धारण नहीं करता, न यह ज्ञानावरण आदि कर्मोंका कर्ता ही है और न इसके फलका भोक्ता ही । तात्पर्य यह कि अजीव पदार्थ सब रूपसे जड़—अचेतन है ।

§ १६३. अजीव पदार्थके पाँच भेद हैं—१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ काल, ५ पुद्गलास्तिकाय । धर्मद्रव्य चलनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गतिमें तटस्थभावसे सहायक होता है । यह समस्त लोकमें व्याप्त है, नित्य है, अवस्थित है, अरूपी है, तथा असंख्यात प्रदेशवाला, अस्तिकाय द्रव्य है । नित्यका तात्पर्य है स्वभावका नष्ट नहीं होना । अवस्थितका मतलब है इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती, यह एक ही रहता है न तो दो होता है और न शून्य ही ।

१. –नि यस्या–म० २ । २. —वः समा—म० २, प० १ । ३. –स्यामोक्ता म० १, म० २, प० १, प० २ । ४. धर्माधर्मकालाकाशपुद्गल–म० २ ।

परिणामबाह्यवर्त्यभिधीयते । न खलु[1] मूर्ति स्पर्शादयो व्यभिचरन्ति, सहचारित्वात् । यत्र हि रूप-परिणामस्तत्र स्पर्शरसगन्धैरपि भाव्यम् । अतः सहचरमेतच्चतुष्टयमन्ततः परमाणावपि विद्यते ।

§ १६४. तथा द्रव्यग्रहणाद्गुणपर्यायवान् प्रोच्यते; 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' [त० सू० ५।३८] इति वचनात् ।

§ १६५. तथास्तयः[2]- प्रकृष्टा देशाः प्रदेशा निर्विभागानि खण्डानीत्यर्थः । तेषां कायः समुदायः कथ्यते ।

§ १६६. तथा लोकव्यापीति वचनेनासंख्यप्रदेश[3] इति वचनेन च लोकाकाशप्रदेशप्रमाणप्रदेशो निर्दिश्यते । तथा स्वत एव गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानामुपकारकरोऽपेक्षाकारणमित्यर्थः ।

§ १६७. कारणं हि त्रिविधमुच्यते, यथा घटस्य मृत्परिणामिकारणम्, दण्डादयो ग्राहकाश्च निमित्तकारणम्, कुम्भकारो निर्वर्तकं कारणम् । तदुक्तम्—

"निर्वर्तकं निमित्तं परिणामी[4] च त्रिधेष्यते हेतुः ।
कुम्भस्य कुम्भकारो, धर्ता मृच्चेति समसंख्यम् ॥ १ ॥"

यह अनादि अनन्त है कभी भी अपने द्रव्यपनेको नहीं छोड़ सकता । अरूपीका अर्थ है अमूर्त, रूपादिसे रहित निराकार । रूप रस गन्ध तथा स्पर्श जिसमें पाये जाँय उसे मूर्त कहते हैं और जिसमें रूपादि न हों वह अमूर्त कहलाता है । स्पर्श आदिवाली वस्तु किसी न किसी मूर्ति—शक्ल में रहेगी ही । तात्पर्य यह कि रूप रस आदि तथा मूर्तिका सहचारी सम्बन्ध है । दोनों एक साथ रहते हैं । ये रूप आदि भी नियत सहचारी हैं जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा अवश्य होगा । जहाँ रूप होगा वहाँ स्पर्श रस गन्ध भी अवश्य ही होंगे । यह तो हो सकता है कि कहीं कोई गुण अनुद्भूत रहे और कहीं उद्भूत । पर सत्ता सबकी सब पुद्गलोंमें पायी जाती है । ये रूपादि चारों गुण परमाणुसे लेकर स्कन्ध पर्यन्त सभी मूर्त पदार्थोंमें पाये जाते हैं ।

§ १६४. द्रव्य कहनेका मतलब है कि—धर्ममें गुण तथा पर्यायें पायी जाती हैं । "गुण और पर्यायवाला द्रव्य होता है" यह पूर्वाचार्यका सिद्धान्त वाक्य है ।

§ १६५. अस्तिकायका तात्पर्य है—बहु प्रदेशी अस्ति—है काय—जिनके टुकड़े न हो सकें ऐसे अविभागी प्रदेशोंका समुदाय जिसमें हों उसे अस्तिकाय—बहुप्रदेशी—कहते हैं ।

§ १६६. लोकव्यापी और असंख्यात प्रदेशीका मतलब है कि—धर्मद्रव्य लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश वाले सभी प्रदेशोंमें पूरे रूपसे व्याप्त है, इसके भी लोकाकाशकी तरह असंख्यात प्रदेश हैं । यह स्वयं गमन करने वाले जीव और पुद्गलोंकी गतिमें सहायता देता है, उनकी गतिमें अपेक्षा कारण है । प्रेरणा करके इनको चलाता नहीं है किन्तु यदि ये चलते हैं तो इनके चलनेमें सहकारी होता है ।

§ १६७. कारण तीन प्रकारके होते हैं—१ परिणामिकारण, २ निमित्तकारण, ३. निर्वर्तक कारण । जो कारण स्वयं कार्यरूपसे परिणमन करे, कार्यके आकारमें बदल जाय वह परिणामी कारण है जैसे कि घड़ेमें मिट्टी । निमित्त कारण वे हैं जो स्वयं कार्यरूपसे परिणत तो न हों पर कर्ताको कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक हों, जैसे घड़ेकी उत्पत्तिमें दण्ड चक्र आदि । कार्यका कर्ता निर्वर्तक कारण होता है जैसे कि घड़ेकी उत्पत्तिमें कुम्हार । कहा भी है—"निर्वर्तक, निमित्त और परिणामी के भेदसे कारण तीन प्रकारके होते हैं । घड़ेकी उत्पत्तिमें कुम्हार निर्वर्तक—बनानेवाला—कारण है, धर्ता-धारण करनेवाले चाक आदि निमित्तकारण हैं—तथा मिट्टी परिणामी—उपादानकारण है ।

---

१. खलु मूर्तेरस्य स्पर्शा—म० १ । २. यः प्रकृष्ट म० २ । ३. —ख्येयप्रदेश—म० २ । ४. —णामं च त्रिधे—आ०, क० । ५. उद्धृतेयं त० भा० टी० ५।१० ।

§ १६८. निमित्तकारणं च द्वेधा निमित्तकारणमपेक्षाकारणं च। यत्र दण्डादिषु प्रायोगिकी वैस्रसिकी च क्रिया भवति तानि दण्डादीनि निमित्तकारणम्। यत्र तु धर्मादिद्रव्येषु वैस्रसिकेव क्रिया तानि निमित्तकारणान्यपि विशेषकारणताज्ञापनार्थमपेक्षाकारणान्युच्यन्ते।

§ १६९. धर्मादिद्रव्यगतक्रियापरिणाममपेक्षमाणं जीवादिकं गत्यादिक्रियापरिणतं पुष्णातीति कृत्वा ततोऽत्र धर्मोऽपेक्षाकारणम्। एवमधर्मोऽपि लोकव्यापितादिसकलविशेषणविशिष्टो [1]धर्मवन्निर्विशेषं मन्तव्यः, नवरं स्थित्युपग्रहकारी स्वत एव स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिविषये अपेक्षाकारणं वक्तव्यः।

§ १७०. एवमाकाशमपि लोकालोकव्यापकमनन्तप्रदेशं नित्यमवस्थितमरूपिद्रव्यमस्तिकायोऽवगाहोपकारकं च [2]वक्तव्यं, नवरं लोकालोकव्यापकमिति।

§ १७१. ये केचनाचार्याः कालं द्रव्यं नाभ्युपयन्ति किंतु धर्मादिद्रव्याणां पर्यायमेव, तन्मते धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवाख्यपञ्चास्तिकायात्मको लोकः। ये तु कालं द्रव्यमिच्छन्ति, तन्मते षड्द्रव्यात्मको लोकः, पञ्चानां धर्मादिद्रव्याणां कालद्रव्यस्य च तत्र सद्भावात्। आकाशद्रव्यमेकमेवास्ति

---

§ १६८. निमित्तकारण भी दो प्रकारके होते हैं—एक तो शुद्ध निमित्तकारण तथा दूसरे अपेक्षा निमित्तकारण। जिन निमित्तकारणोंमें स्वाभाविक तथा कर्ताके प्रयोगसे क्रिया होती है, वे दोनों प्रकारकी क्रियावाले दण्ड आदि कारण शुद्ध निमित्तकारण हैं। परन्तु जिन धर्मास्तिकाय आदिमें केवल स्वाभाविक ही परिणमन होता हो, क्योंकि प्रयोगसे जिसमें क्रियाकी संभावना न हो वे निमित्तकारण अपेक्षाकारण कहलाते हैं। यद्यपि साधारण रूपसे अपेक्षा कारण भी निमित्तकारण ही हैं, पर उनमें केवल स्वाभाविक परिणमन रूप विशेषता होनेके कारण ये अपेक्षा कारण कहे जाते हैं।

§ १६९. धर्मद्रव्यमें होनेवाले स्वाभाविक परिणमनकी अपेक्षा करके ही चलनेवाले जीवादि द्रव्य अपनी गतिको पुष्ट करते हैं। स्वयं चलनेवाले जीवादि द्रव्योंकी गतिमें धर्मद्रव्यको तटस्थभावसे अपेक्षा होती है अतः धर्मद्रव्य जीवादिकी गतिमें अपेक्षा कारण कहा जाता है। धर्मद्रव्यकी तरह अधर्मद्रव्य भी लोकव्यापी, अमूर्त, नित्य, अवस्थित आदि विशेषणोंवाला है परन्तु जहाँ धर्मद्रव्य गतिमें अपेक्षा कारण होता है वहाँ अधर्मद्रव्य स्थिति—ठहरनेमें अपेक्षा कारण होता है। स्वयं ठहरनेवाले जीव और पुद्गल अधर्मद्रव्यकी अपेक्षा रख कर ही ठहरते हैं। अधर्मद्रव्य तटस्थभावसे उनके ठहरनेमें सहायक होता है उन्हें ठहरनेकी प्रेरणा नहीं करता। वे ठहरते हैं तो उन्हें सहायता दे देता है।

§ १७०. आकाशद्रव्य भी धर्म और अधर्म द्रव्यकी तरह नित्य, अवस्थित, अमूर्त तथा अस्तिकाय—बहुप्रदेशी है। इतनी विशेषता है कि यह अनन्त प्रदेश वाला है तथा लोक और अलोक सर्वत्र व्याप्त है। इससे बड़ा कोई द्रव्य नहीं है। यह अन्य समस्त द्रव्योंके अवगाह—रहनेमें अपेक्षा कारण होता है।

§ १७१. कोई आचार्य कालको स्वतन्त्र नहीं मानते, इनका अभिप्राय है धर्म आदि जड़ और चेतन द्रव्योंकी पर्याय ही काल हैं। इनके मतसे लोक धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव ये पाँच अस्तिकाय रूप हैं। जो आचार्य कालको स्वतन्त्र छठवाँ द्रव्य मानते हैं उनके मतानुसार इस लोकमें छहों द्रव्य पाये जाते हैं अतएव लोक षड्द्रव्यात्मक है, इसमें धर्मादि पाँच तथा काल ये छह ही द्रव्य हैं। जहाँ केवल आकाश ही आकाश है, आकाशके सिवाय दूसरा द्रव्य नहीं है वह

---

१. —र्मवन्निर्विशेषेण मन्त—म० २। २. वक्तव्यं ये के च—म० २।

तथा चोक्तम्: लोकालोकयोर्व्यापकमवगाहोपकारकमिति स्वत एवावगाहमानानां द्रव्याणामवगाहकारि भवति न पुनरनवगाहमानं पुद्गलादि बलादवगाहयति । अतो निमित्तकारणमाकाशमम्बुवदकरादीनामिति । अलोकाकाशं कथमवगाहोपकारकं, अनवगाह्यत्वादिति चेत् । उच्यते । तत्रापि यद्यपि तैरवकाशदानेन यदि गतिस्थितिहेतू धर्माधर्मास्तिकायौ तत्र स्यातां, न च तौ तत्र स्तः, तथापि तत्र विद्यमानोऽप्यवगाहनगुणो नाभिव्यज्यते किलालोकाकाशस्येति ।

§ १७२. कालोऽर्धतृतीयद्वीपान्तर्वर्ती परमसूक्ष्मो निर्विभाग एकः समयः । स चास्तिकायो न भण्यते, एकसमयरूपत्वेन निःप्रदेशत्वात् । आह च—

"तस्मान्मानुषलोकव्यापी कालोऽस्ति समय एक इह ।
एकत्वाच्च स कायो न भवति कायो हि समुदायः ॥१॥"

स च सूर्यादिग्रहनक्षत्रोदयास्तादिक्रियाभिव्यङ्ग्य एकोपयमतेन द्रव्यमभिधीयते । स चैक-

---

लोक कहलाता है तथा जहां आकाशके साथ ही साथ अन्य पाँच द्रव्य भी पाये जाते हैं वह लोक है । आकाश लोक और अलोक दोनों जगह व्याप्त है । आकाश द्रव्य समस्त स्वयं रहनेवाले द्रव्योंको अवकाश देता है । जो नहीं रहते उन्हें जबरदस्ती अवकाश देनेकी प्रेरणा नहीं करता । रहो तो अवकाश दे देगा, न रहो तो वह प्रेरणा नहीं करेगा । इसलिए आकाशद्रव्य अवकाश देनेके कारण अपेक्षा निमित्तकारण है । जिस प्रकार स्वयं जलमें रहनेवाले मछली आदि प्राणियोंको पानी अवकाश देता है, पर उनको बलात् पानीमें रहनेको बाध्य नहीं करता उसी प्रकार आकाश भी रहनेवाले द्रव्योंको स्थान—आकाश देता है, प्रेरणा नहीं करता ।

शंका—अलोकमें तो अन्य कोई द्रव्य रहता ही नहीं है अतः अलोकाकाश अवगाह रूप उपकार किसका और कैसे करता है । जब कोई बसनेवाला ही नहीं है तब बसायेगा ही किसे ?

समाधान—यदि वहाँ चलने और ठहरनेमें कारण धर्म और अधर्म द्रव्य होते और जीवादि वहाँ तक पहुँच सकते तो अवश्य ही अलोकाकाश उन्हें अवकाश देता, पर न तो वहाँ धर्मादि ही हैं और न जीवादि ही । अतः अलोकाकाशमें अवकाश देनेका गुण विद्यमान होते हुए भी प्रकट कार्यरूपमें नहीं दिखाई देता । आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, अतः लोकाकाशमें होनेवाला अवगाह अलोकाकाशमें भी होता ही है । आकाश जब एक अखण्ड द्रव्य है तब उसके दो परिणमन नहीं हो सकते कि वही लोकमें अवकाश दे तथा अलोकमें अवकाश न दे । उसमें तो एक ही अवकाश देने रूप परिणमन होगा । हाँ, अलोकाकाशके प्रदेशोंमें उसका कार्य प्रकट नहीं दिखाई देता, पर इस गुणका परिणमन तो अवश्य होता ही है ।

§ १७२. कालद्रव्य मनुष्य लोकमें विद्यमान है । जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड तथा आधा पुष्करद्वीप इस तरह ढाई द्वीपोंमें ही मनुष्य पाये जाते हैं । अतः इन ढाई द्वीपको ही मनुष्यलोक कहते हैं । कालद्रव्यका परिणमन या कार्य इन्हीं ढाई द्वीपोंमें देखा जाता है अतः कालद्रव्य इन ढाई द्वीपोंमें ही वह है । यह अत्यन्त सूक्ष्म है तथा अविभागी एक समय शुद्ध कालद्रव्य है । यह एकप्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय नहीं कहा जाता, क्योंकि प्रदेशोंके समुदायको अस्तिकाय कहते हैं । वह एक समय मात्र होनेके कारण निःप्रदेशी प्रदेशसे रहित है । कहा भी है—"कालद्रव्य एक समय रूप है तथा मनुष्य लोकमें व्याप्त है । वह एक प्रदेशी होनेसे अस्तिकाय नहीं कहा जाता; क्योंकि काय तो प्रदेशोंके समुदायको कहते हैं ।" सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र आदिके ऊँगने और डूबनेसे—इनके उदय और अस्तसे कालद्रव्यका परिज्ञान होता है । कालद्रव्यका कार्य इन्हीं सूर्य

---

१. तदुक्तं त० भा० टी० ५।२२ । २. —मते तद्द्रव्य—अ० २ । ३. चैकः सम—अ० १, अ० २ ।

समयो द्रव्यपर्यायोभयात्मैव, द्रव्यार्थरूपेण प्रतिपर्यायमुत्पादव्ययवत्त्वेऽपि स्वरूपानन्यथाभूतसमाप्तभाव्यनाद्यपर्यवसानानन्तसंख्यपरिमाणः, अत एव च स स्वपर्यायप्रवाहव्यापी द्रव्यात्मना नित्योऽभिधीयते। अतीतानागतवर्तमानावस्थास्वपि कालः काल इत्यविशेषश्रुतेः। यथा ह्येकः परमाणुः पर्यायैरनित्योऽपि द्रव्यत्वेन सदा सन्नेव न कदाचिदसत्त्वं भजते, तथैकः समयोऽपीति।

§ १७३. अयं च कालो न [2]निर्वर्तकं कारणं नापि परिणामि कारणं, किंतु स्वयं संभवतां भावानामस्मिन् काले भवितव्यं [3]नान्यदेत्यपेक्षाकारणम्। कालकृता [4]वर्तनाद्या वस्तूनामुपकाराः। अथवा वर्तनाद्या उपकाराः कालस्य लिङ्गानि, ततस्तामाह "वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च" [त०सू०५।२२] तत्र वर्तन्ते स्वयं पदार्थाः, तेषां वर्त्तमानानां प्रयोजिका कालाश्रया वृत्तिर्वर्त्तना, [5]प्रथमसमयाश्रया स्थितिरित्यर्थः १। परिणामो द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्देतरप्रयोगेऽस्वभावः परिणामः। तद्यथा—वृक्षस्याङ्कुरमूलाद्यवस्थाः परिणामः, आसीदङ्कुरः, संप्रति स्कन्धवान्, ऐषमः पुष्पिष्यतीति। पुरुषद्रव्यस्य बालकुमारयुवाद्यवस्थाः परिणामः। एवमन्यत्रापि।

आदिके उदय तथा अस्तसे प्रकट होता है। किन्हीं आचार्योंके मतसे यह द्रव्य रूप है। अतः एक-समय रूप होकर भी उसमें द्रव्य—गुण और पर्यायें पायी जाती हैं। यद्यपि कालमें प्रतिक्षण परिणमन होनेसे उत्पाद और व्यय होते रहते हैं फिर भी द्रव्य दृष्टिसे वह जैसाका तैसा रहता है उसके स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं होता—वह कभी भी कालान्तर रूप या अकाल रूप नहीं हो जाता। वह क्रमसे तथा एक साथ होनेवाली अनन्तपर्यायोंमें अपनी अखण्ड सत्ता रखता है। इसीलिए द्रव्य रूपसे अपनी समस्त पर्यायोंके प्रवाहमें पूरी तरह व्याप्त होनेके कारण वह नित्य कहा जाता है। अतीत वर्तमान या भविष्यत् कोई भी अवस्था क्यों न हो सभीमें 'काल, काल' यह साधारण व्यवहार पाया ही जाता है। जिस प्रकार परमाणु पर्यायोंके परिवर्तित होते रहनेसे अनित्य होता है फिर भी द्रव्य रूपसे कभी भी अपने परमाणुत्वको न छोड़नेके कारण नित्य है, सदा सत् है, कभी भी असत् नहीं होता, उसी तरह समय रूप काल भी द्रव्यरूपसे नित्य है वह कभी भी अपने कालत्वको नहीं छोड़ सकता।

§ १७३. यह काल न तो निर्वर्तक कारण है और न परिणामी कारण ही किन्तु अपने-आप परिणमन करनेवाले पदार्थोंके परिणमनमें 'ये परिणमन इसी कालमें होने चाहिए दूसरे कालमें नहीं' इस रूपसे अपेक्षा कारण होता है। बलात् किसीमें परिणमन नहीं कराता। कालके द्वारा पदार्थोंके वर्तना परिणमन आदि उपकार होते हैं। अथवा वर्तना आदि उपकार कालके चिह्न हैं इसीलिए वर्तना आदिका निरूपण करते हैं। "वर्तना परिणाम क्रिया तथा परत्वापरत्व ये काल-द्रव्यके उपकार हैं।" पदार्थ स्वयं वर्तते हैं—हो रहे हैं, उन स्वयं वर्तनेवाले पदार्थोंको सहायता देनेवाली कालकी शक्ति वर्तना कहलाती है। प्रथम समयमें होनेवाली पदार्थोंकी स्थिति वर्तना है। अपने निजतत्त्वको न छोड़कर अपने मूल स्वभावमें हेर-फेर किये बिना एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको धारण करना परिणाम कहलाता है। परिणाम हलनचलन रूप भी होता है तथा बिना हिले-डुले ही अवस्थाओंमें हेर-फेर होनेसे भी होता है। जैसे—वृक्षको अंकुर जड़ आदि अवस्थाएँ परिणाम हैं। यही वृक्ष पहले एक नन्हां-सा अंकुर था वही अब बड़ी-बड़ी डालियोंवाला वृक्ष हो गया और इसीमें आगे फूल लगेंगे। यही मनुष्य बच्चेसे कुमार तथा कुमारसे जवान हो गया है, बूढ़ा भी यही होगा। इस तरह वृक्षत्व और मनुष्यत्वको कायम रखते हुए ही अवस्थाएँ बदली हैं। इसी तरह समस्त पदार्थोंमें परिणाम होता रहता है।

---

१. —नन्तरमसंख्यपरि—म० २। २. निर्वर्तकका—आ०, क०। ३. नान्यस्मिन्नित्यपे—म० २। ४. वर्तमानाद्या म० २। ५. प्रथमसमयस्थितिरि—म० २। ६. —णः स्वभावः परि—म० २।

§ १७४. [1]परिणामो [2]द्विविधः, अनादिरमूर्तेषु धर्मादिषु, मूर्तेषु तु सादिरभ्रेन्द्रधनुरादिषु स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिषु च । ऋतुविभागकृतो वेलाविभागकृतश्च परिणामस्तुल्यजातीयानां वृक्षादीनामेकस्मिन्काले विचित्रो भवति ।

§ १७५. प्रयोगविस्रसाभ्यां जनितो जीवानां परिणमनव्यापारः करणं क्रिया तस्या अनुग्राहकः कालः । [3]तद्यथा—नष्टो घटः, सूर्यं पश्यामि, भविष्यति वृष्टिरित्यादिका अतीतादिव्यपदेशाः परस्परासंकीर्णा यदपेक्षया प्रवर्तन्ते, स कालः ।

§ १७६. इदं परमिदमपरमितिप्रत्ययाभिधाने कालनिमित्ते ।

§ १७७. तदेवं वर्तनाद्युपकारानुमेयः कालो [4]द्रव्यं मानुषक्षेत्रे । मनुष्यलोकाद्बहिः-कालद्रव्यं नास्ति । सन्तो हि भावास्तत्र स्वयमेवोत्पद्यन्ते व्ययन्त्यवतिष्ठन्ते च । अस्तित्वं च भावानां स्वत एव, न तु कालापेक्षम् । न च तत्रत्याः प्राणापाननिमेषोन्मेषायुःप्रमाणादिवृत्तयः कालापेक्षाः, तुल्यजातीयानां सर्वेषां युगपदभवनात् । कालापेक्षा ह्यर्थास्तुल्यजातीयानामेकस्मिन् काले भवन्ति, न विजातीयानाम् । ताश्च प्राणादिवृत्तयस्तद्वतां नैकस्मिन्काले भवन्त्युपरमन्ति चेति । तस्मान्न

---

§ १७४. परिणाम दो प्रकारका है—एक अनादि परिणाम और दूसरा सादि परिणाम । अमूर्त धर्म आदि द्रव्योंके परिणमनकी कोई शुरूआत नहीं है, वह अनादि है । मूर्त पदार्थों का बादल, इन्द्रधनुष आदि रूपसे परिणमन सादि परिणाम है । इसके प्रारम्भका समय निश्चित है । पुद्गल द्रव्य खम्भा बन जाता है, घड़ा बन जाता है तथा कमल आदि रूप हो जाता है । यह सब सादि परिणाम है । एक ही जातिके वृक्षोंमें ऋतुभेद तथा समय भेदसे एक ही समयमें विचित्र-विचित्र परिणमन देखे जाते हैं ।

§ १७५. पुरुषके प्रयोगसे अथवा स्वाभाविक रूपसे परिणमनके लिए होनेवाला व्यापार क्रिया है । काल इस क्रियामें सहायक होता है । घड़ा फूट गया, सूर्यको देख रहा हूँ, वृष्टि होगी इत्यादि भूत वर्तमान तथा भविष्यत् कालके सब व्यवहार कालकी अपेक्षासे ही होते हैं । ये व्यवहार एक दूसरेसे भिन्न हैं, अतीत व्यवहार वर्तमानसे तथा वर्तमान भविष्यत्से ।

§ १७६. 'यह जेठा है, यह लहुरा है, यह पुराना है, यह नया है' इत्यादि ज्ञान तथा व्यवहार भी कालके निमित्तसे ही होते हैं ।

§ १७७. इस तरह इस मनुष्यलोकमें वर्तना परिणाम आदि चिह्नोंसे कालद्रव्यका अनुमान—पहचान—किया जाता है । मनुष्य लोकसे बाहर कालद्रव्यका सद्भाव नहीं है । मनुष्य लोकके बाहर से विद्यमान पदार्थ स्वयं ही उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं तथा ठहरते हैं । वहाँके पदार्थोंकी सत्ता भी स्वभावसे ही है । मनुष्य लोकके बाहरके पदार्थोंके परिणमन या अस्तित्वमें कालद्रव्यकी कोई अपेक्षा नहीं है । वहाँके प्राणियोंके श्वासोच्छ्वास, पलकोंका झपकना, आँखोंका खुलना आदि व्यापार कालकी अपेक्षासे नहीं होते; क्योंकि सजातीय पदार्थोंके उक्त व्यापार एक साथ नहीं होते । सजातीय पदार्थोंके एक साथ होनेवाले ही व्यापार कालकी अपेक्षा रखते हैं विजातीय पदार्थोंके नहीं । वहाँके प्राणियोंके श्वासोच्छ्वासादि व्यापार न तो एक कालमें उत्पन्न ही होते हैं और न नष्ट ही होते हैं जिससे उन्हें कालकी आवश्यकता है । वहाँके पदार्थोंमें पुराना नया या जेठा और

---

१. "अनादिरादिमांश्च ॥४२॥ तत्रानादिररूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्वस्ति । रूपिष्वादिमान् ॥४३॥ रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिरिति ।"—त० सू० भा० ५।४२,४३ । २. –धोऽमूर्तेषु धर्मादिष्वनादिः मूर्तेषु भ० २ । ३. –था नष्टो आ०, क० । ४. द्रव्यं मानुषलोकाः—भ० २ ।

कालापेक्षास्ताः। परत्वापरत्वे अपि तत्र [1]चिराचिरस्थित्यपेक्षे, स्थितिश्चास्तित्वापेक्षा, अस्तित्वं च स्वत एवेति।

§ १७८. ये तु कालं द्रव्यं न मन्यन्ते, तन्मते सर्वेषां द्रव्याणां वर्त्तनादयः पर्याया एव सन्ति, न त्वपेक्षाकारणं कश्चन काल इति।

§ १७९. अथ पुद्गलाः। "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" [त० सू० ५।२३]। अत्र स्पर्शग्रहणमादौ स्पर्शे सति रसादिसद्भावज्ञापनार्थम्। ततोऽन्यादीनि चतुर्गुणानि स्पर्शित्वात्, पृथिवीवत्[2]। तथा मनः स्पर्शादिमत्, असर्वगतद्रव्यत्वात्, पार्थिवाणुवदिति प्रयोगो सिद्धौ।

§ १८०. तत्र स्पर्शा हि मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः। अत्र च स्निग्धरूक्षशीतोष्णा-श्चत्वार एवाणुषु संभवन्ति। स्कन्धेष्वष्टावपि यथासंभवमभिधानीयाः। रसास्तिक्तकटुकषायाम्ल-मधुराः। लवणो मधुरान्तर्गत इत्येके, संसर्गज इत्यपरे। गन्धौ सुरभ्यसुरभी[3]। कृष्णादयो वर्णाः। तद्वन्तः पुद्गला इति। न केवलं पुद्गलानां स्पर्शादयो धर्माः, शब्दादयश्चेति [4]दर्श्यते। "शब्दबन्ध-सौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च" [त० सू० ५।२४] पुद्गलाः। अत्र पुद्गलपरि-णामाविष्कारी मतुप्रत्ययो निस्पयोगार्थं विहितः। तत्र शब्दो ध्वनिः। बन्धः परस्पराश्लेषलक्षणः

लहुरा आदि व्यवहार भी चिरकालीन स्थिति या अल्पकालीन स्थितिकी अपेक्षासे ही होते हैं, स्थिति अस्तित्वकी अपेक्षा रखती है तथा अस्तित्व तो पदार्थोंका स्वतः ही स्वाभाविक रूपसे ही रहता है। अतः वहाँ अस्तित्वसे ही सब व्यवहार चलते हैं।

§ १७८. जो आचार्य कालद्रव्य नहीं मानते, उनके मतसे मनुष्य लोकके बाहर या भीतर सभी जगह रहनेवाले सभी पदार्थोंके वर्तना आदि पर्याय रूप ही हैं उनके होनेमें काल नामके किसी अपेक्षा-कारणकी आवश्यकता नहीं है। पर्यायें तो स्वतः ही पदार्थोंमें उपजती तथा नष्ट होती रहती हैं।

§ १७९. अब पुद्गलद्रव्यका वर्णन करते हैं—"पुद्गलद्रव्य स्पर्श रस गन्ध तथा रूपवाले होते हैं।" इस सूत्रमें सबसे पहले स्पर्शके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि—'जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रस आदि अवश्य ही होंगे।' इस अविनाभावके ज्ञापनके लिए ही स्पर्श शब्दका आदिमें ग्रहण किया है। इसलिए हम अनुमान करते हैं कि—जल आदि सभी पुद्गल द्रव्योंमें स्पर्श रूप रस और गन्ध ये चारों ही गुण पाये जाते हैं क्योंकि इन सबमें स्पर्श पाया जाता है जैसे कि पृथिवीमें। इसी तरह मन भी स्पर्शवाला है; क्योंकि वह अव्यापी द्रव्य है जैसे कि पृथिवीका परमाणु।

§ १८०. स्पर्श आठ प्रकारका है—१. कोमल, २. कठोर, ३. भारी, ४. हलका, ५. ठण्डा ६. गरम, ७. चिकना और ८. रूखा। इनमें चिकना रूखा गरम तथा ठण्डा ये चार ही स्पर्श परमाणुओंमें पाये जाते हैं, क्योंकि कोमलता, कठोरता या भारीपन या हलकापन स्कन्धोंमें ही पाये जाते है। स्कन्धोंमें तो यथासम्भव आठों ही स्पर्श पाये जाते हैं। रस पाँच होते हैं—१ कड़ुवा, २ तीता-चरपरा, ३ कसैला, ४ खट्टा और ५ मीठा। खारे रसको कोई आचार्य मीठे रसमें ही शामिल करते हैं तथा कोई आचार्य इसे अन्य रसोंके संसर्गसे पैदा होनेवाला मानते हैं। सुगन्ध तथा दुर्गन्धके भेदसे गन्ध दो प्रकारकी है। काला, पीला, नीला आदि रूप हैं। पुद्गलोंमें रूप रस गन्ध तथा स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं। पुद्गलोंमें केवल स्पर्श आदि धर्म ही नहीं पाये जाते किन्तु शब्द आदि भी पुद्गलोंके ही धर्म-पर्यायें हैं। "शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, भेद, अन्धकार, छाया, सूर्यका ताप तथा चाँदकी चाँदनी आदि इन सबवाले भी पुद्गलद्रव्य होते हैं या ये सभी पुद्गल द्रव्योंके ही पर्याय हैं, सूत्रमें पुद्गलकी पर्यायोंके कथनके समय मतुप् प्रत्ययके

---

१. चिराचिरत्वे स्थित्यपेक्षे म० १। २. पृथिव्यादीनि तथा म० २। ३. सुरभिदुरभी म० १। ४. दर्श्यन्ते म० २। ५. -विष्कारे मतु-आ०, क०।

प्रयोगविस्रसादिजनित औदारिकादिशरीरेषु[1] अतुकाष्ठाश्लेषवत् [2]परमाणुसंयोगजश्चेति । सौक्ष्म्यं–सूक्ष्मता । स्थौल्यं–स्थूलता । संस्थानमाकृतिः । भेदः–खण्डशो भवनम् । तमश्छायाद्यवयः प्रतीताः । सर्व एवैते स्पर्शादयः शब्दाद्यवयश्च पुद्गलेष्वेव भवन्तीति ।

§ १८१. पुद्गला द्वेधा, परमाणवः स्कन्धाश्च । तत्र परमाणोर्लक्षणमिदम्—

"कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च[3] ॥ १ ॥"

§ १८२. व्याख्या । सकलभेदपर्यन्तवर्तित्वादन्त्यं तदेव कारणं न पुनरन्यद्द्व्यणुकादि तदेव किमित्याह सूक्ष्मः—आगमगम्यः; अस्मदादीन्द्रियव्यापारातीतत्वात् । नित्यश्चेति—द्रव्यार्थिकनयापेक्षया[4] ध्रुवः, पर्यायार्थिकनयापेक्षया तु नीलादिभिराकारैरनित्य एवेति । न ततः परमणीयो द्रव्यमस्ति, तेन परमाणुः । तथा पञ्चानां रसानां द्वयोर्गन्धयोः पञ्चविधस्य वर्णस्यैकेन रसादिना युक्तः । तथा चतुर्णां स्पर्शानां मध्ये द्वावविरुद्धौ यौ स्पर्शौ स्निग्धोष्णौ [5]स्निग्धशीतौ रूक्षोष्णौ रूक्षशीतौ

प्रयोगसे इनका सिर्फ सम्बन्ध सूचित होता है । शब्द—ध्वनि या कानसे सुनाई देनेवाली आवाज है । परस्पर चिपकनेको बन्ध कहते हैं । यह बन्ध कहीं तो पुरुषके प्रयोगसे किया जाता है और कहीं अपने ही आप स्वाभाविक रूपसे ही हो जाता है । कोई कारीगर लाख और लकड़ीको परस्पर चिपका देता है, यह प्रायोगिक बन्ध है । हमारे स्थूल औदारिक आदि शरीरोंमें अवयवोंका बन्ध या परमाणुओंका परस्परमें बन्ध स्वभावसे ही होता रहता है । सौक्ष्म्य—पतलापन बारीकपन । स्थौल्य-मुटाई । संस्थान—शक्ल-आकार । भेद—टुकड़े-टुकड़े हो जाना । अन्धकार, छाया आदि तो प्रत्यक्षसे ही प्रतीत होते हैं । ये सब स्पर्श आदि तथा शब्द आदि पुद्गल द्रव्यमें ही होते हैं ।

§ १८१. पुद्गल सामान्यतः दो प्रकारके होते हैं—१ स्कन्ध रूप, २ परमाणु रूप । परमाणुका लक्षण शास्त्रमें इस प्रकार बताया है—"परमाणु कारण ही होता है—वह स्कन्ध आदि कार्योंको उत्पन्न करनेके कारण ही है । वह कभी भी किसीसे उत्पन्न नहीं होता अतः कार्य रूप नहीं है । परमाणुको कोई भी उत्पन्न नहीं कर सकता । वह अन्त्य-आखिरी हिस्सा है उससे छोटा कोई द्रव्य नहीं हो सकता । सूक्ष्म है, नित्य है । इसमें कोई एक रूप, एक रस, एक गन्ध, शीत और उष्णमें-से कोई एक तथा चिकने और रूखेमें-से कोई एक स्पर्श पाया जाता है । यह प्रत्यक्षसे नहीं दिखाई देता फिर भी स्कन्ध रूप कार्योंसे इसका अनुमान किया जाता है ।"

§ १८२. किसी पदार्थके टुकड़े-टुकड़े करते-करते जो आखिरी टुकड़ा हो, जिसका दूसरा खण्ड न हो सके वह अन्तिम भाग ही परमाणु है । वह कारण ही होता है, द्व्यणुक—दो परमाणुओंसे बना स्कन्ध तो कार्य भी है । वह परमाणु सूक्ष्म है । हम लोगोंकी इन्द्रियोंके व्यापारसे उसका परिज्ञान नहीं हो सकता । आगमसे उसकी सत्ता जानी जाती है । वह परम सूक्ष्म होनेसे ही परमाणु कहा जाता है । द्रव्य दृष्टिसे वह ध्रुव है, सदा रहनेवाला है, किसीकी ताकत नहीं है कि वह परमाणुका नाश कर सके । हाँ पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे—उसकी हालतोंपर दृष्टिपात करनेसे—उसके नील पीतादि विकारोंके ऊपर नजर रखनेसे वह अनित्य प्रतीत होता है । उससे छोटा और कोई टुकड़ा नहीं हो सकता अतः वह परमाणु है । उसमें पाँच रसमें-से कोई एक रस, सुगन्ध और दुर्गन्धमें-से एक गन्ध, तथा काले-पीले आदि पाँच रंगोंमें-से कोई एक रंग पाया जाता है । चार स्पर्शोंमें-से कोई दो अविरोधी स्पर्श होते हैं । वह या तो चिकना और गरम

१. –शरीरजतुका–म० १, म० २, प० १, प० २ । २. परमाणुवद्वेति म० २ । ३. उद्धृतोऽयं त० भा० ५।२५ । ४. –या नित्यः ध्रुवः म० २ । ५. स्निग्धशीतौ रूक्षोष्णौ वा म० २ ।

रूक्षोष्णौ वा, ताभ्यां युक्तः। तथा कार्यं द्व्यणुकाद्यचिरमहास्कन्धपर्यन्तं तस्य लिङ्गमिति। एवंविधलक्षणा निरवयवाः परस्परेणासंयुक्ताः परमाणवः। स्कन्धाः पुनर्द्व्यणुकादयोऽनन्ताणुकपर्यन्ताः सावयवाः प्रायोग्रहणादानादिव्यापारसमर्थाः परमाणुसंघाता इति।

§ १८३. एते धर्माधर्माकाशकालपुद्गला जीवैः सह षड्द्रव्याणि। एष्वाद्यानि चत्वार्येकद्रव्याणि, जीवाः पुद्गलाश्चानेकद्रव्याणि, पुद्गलरहितानि तानि पञ्चामूर्तानि, पुद्गलास्तु मूर्ता एवेति। ननु जीवद्रव्यस्यारूपिणोऽप्युपयोगस्वभावत्वेन स्वसंवेदनसंवेद्यत्वावस्तित्वं श्रद्धानपथमवतारयितुं शक्यम्। धर्माधर्मास्तिकायादीनां तु न जातुचिदपि स्वसंवेदनसंवेद्यत्वं समस्ति, अचेतनत्वात्। नापि परसंवेदनवेद्यता, नित्यमरूपित्वेन[1]। तत्कथं तेषां धर्मास्तिकायादीनां सतां सत्ता श्रद्धेया स्यादिति चेत्; उच्यते, प्रत्यक्षेण योऽर्थो नोपलभ्यते स सर्वथा नास्त्येव, यथा शशविषाणमित्येकान्तेन न मन्तव्यम्। यत इह लोके द्विविधानुपलब्धिर्भवति, तत्रैका असतो वस्तुनोऽनुपलब्धिः, यथा तुरङ्गस्योरसमाङ्गसंसर्गानुपलब्धिः शृङ्गस्य, द्वितीया तु सतामप्यर्थानामनुपलब्धिर्भवति। या च [2]सत्स्वभावानामपि भावानामनुपलब्धिः, सात्राष्टधा भिद्यते। तथाहि—अतिदूरात्, अतिसामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनसोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात्, आवरणात्, अभिभवात्, समानाभिहाराच्चेति।

होगा, या चिकना और ठण्डा होगा, अथवा रूखा और ठण्डा होगा या रूखा और गरम होगा। द्व्यणुकसे लेकर अनन्त परमाणुवाले तक महास्कन्ध रूप कार्योंसे इस परमाणुका अनुमान किया जाता है। इस तरह परमाणु निरवयव—जिसके अन्य अवयव न हों, तथा एक दूसरेसे असंयुक्त होते हैं। द्व्यणुकसे लेकर अनन्त परमाणुवाले सभी स्कन्ध सावयव—हिस्सोंवाले जिनके टुकड़े हो सकें तथा परमाणुओंके संघातसे विशिष्ट सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। प्रायः इन्हें रख सकते हैं, उठा सकते हैं, दूसरोंको दे सकते हैं। तात्पर्य यह कि संसारका समस्त व्यवहार पुद्गलके स्कन्धोंसे ही चलता है।

§ १८३. इस तरह धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल और जीव ये छह द्रव्य होते हैं। इनमें धर्म अधर्म आकाश और काल ये चार द्रव्य एक ही हैं। ये जीव और पुद्गल तो अनन्त द्रव्य हैं। पुद्गलको छोड़कर बाकी पाँच द्रव्य अमूर्त हैं। पुद्गल मूर्त ही हैं।

शंका—जीवद्रव्य यद्यपि अरूपी है फिर भी उसका ज्ञानदर्शनरूप उपयोग स्वभाव 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अनुभवमें आता है। अतः इसकी सत्ता तो ठीक तरह समझमें आ जाती है परन्तु धर्म अधर्म आदि द्रव्योंकी सत्तापर विश्वास नहीं किया जा सकता। ये अचेतन हैं अतः इनका स्वसंवेदन तो हो ही नहीं सकता तथा सदा अरूपी रहते हैं इसलिए दूसरा कोई भी इनको प्रत्यक्षसे नहीं जान सकता। तब आप ही बताइए कि इन्हें आँख मूँदकर बिना प्रमाणके कैसे मान लिया जाय?

समाधान—'जो प्रत्यक्षसे नहीं दिखाई देते वे गधेके सींगकी तरह सर्वथा असत् हैं, हैं ही नहीं' यह नियम किसी भी तरह युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बहुत-से अतीन्द्रिय पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष नहीं होते अतः इतने मात्रसे उनका अभाव तो नहीं किया जा सकता। पदार्थोंकी अनुपलब्धि दो प्रकारसे होती है—एक तो जो पदार्थ बिलकुल हैं ही नहीं, अत्यन्त असत् हैं उनकी असत् होनेके कारण ही अनुपलब्धि, जैसे घोड़ेके सिरपर सींगकी। दूसरी अनुपलब्धि विद्यमान पदार्थोंकी उपलब्धिके पूरे-पूरे कारण न मिलनेसे होती है। मौजूद पदार्थोंकी अनुपलब्धि आठ कारणोंसे होती है—पदार्थोंके अत्यन्त दूर होनेसे, या बहुत पास होनेसे, इन्द्रियोंका नाश होनेसे, चित्तका उस ओर उपयोग न होनेसे, पदार्थोंकी अत्यन्त सूक्ष्मता होनेसे, आवरण आ जानेसे,

---

१. नित्यरूपित्वेन म० १, क०। नित्यारूपित्वेन म० २। २. सत्स्वभावानामनुप—म० २।

§ १८४. तत्रातिदूरादेशकालस्वभावविप्रकर्षात्[1] त्रिविधानुपलब्धिः । तत्र देशविप्रकर्षात् यथा कश्चित् देवदत्तो ग्रामान्तरं गतो न दृश्यते, तत्कथं स नास्ति । [2]सोऽस्त्येव[3], परं देशविप्रकर्षान्नोपलब्धिः । एवं समुद्रस्य परतटं मेर्वादिकं वा सर्वमपि नोपलभ्यते । तथा कालविप्रकर्षाद् भूता निजपूर्वजादयो भविष्या[4] वा पद्मनाभादयो जिना नोपलभ्यन्ते, अभूवन् भविष्यन्ति च ते । तथा स्वभावविप्रकर्षान्नभोजीवपिशाचादयो नोपलभ्यन्ते, न च ते न सन्ति ।

§ १८५. तथातिसामीप्याद्[5] यथा नेत्रकज्जलं नोपलभ्यते तत्कथं तन्नास्ति । तवस्त्येव, [6]पुनरतिसामीप्यान्नोपलभ्यते ।

§ १८६. तथेन्द्रियघातात्[7] यथा जन्मान्धबधिरादयो रूपशब्दादीनोपलभन्ते तत्कथं रूपादयो न सन्ति । सन्त्येव, ते [8]पुनरिन्द्रियघातान्नोपलभन्ते[9] ।

§ १८७. तथा मनोऽनवस्थानाद् यथा अनवस्थितचेता[10] न पश्यति । उक्तं च—

सबल पदार्थके द्वारा तिरस्कृत हो जानेसे, या समान पदार्थोंमें मिल जानेसे मौजूद भी पदार्थ अनुपलब्ध होते हैं, वे आँखोंसे नहीं दिखाई देते ।

§ १८४. अत्यन्त दूर होनेके कारण दूरदेशवर्ती पदार्थ अतीत तथा अनागतकालीन पदार्थ एवं स्वभावसे ही अतीन्द्रिय परमाणु आदिकी अनुपलब्धि होती है । मान लो देवदत्त अपने गाँवसे किसी सुदूर गाँवको चला गया, इसलिए वह दिखाई नहीं देता तो क्या इतने मात्रसे उसका अभाव मान लिया जाय ? वह है तो पर दूर देशमें चले जानेके कारण दिखाई नहीं देता । इसी तरह समुद्रका दूसरा किनारा, मेरुपर्वत आदि मौजूद रहकर भी दूरदेशी होनेके कारण उपलब्ध नहीं होते । अपने मरे हुए बाप दादा परदादा आदि पुरखे तथा आगे होनेवाले पद्मनाभ आदि तीर्थंकर कालकी दूरीके कारण नहीं दिखाई देते । पुरखा हुए तो अवश्य थे तथा तीर्थंकर होनेवाले भी अवश्य हैं परन्तु कालकी दूरीके कारण आँखोंसे नहीं दिखाई देते । आकाशमें रहनेवाले छोटे-छोटे जीव तथा पिशाच आदि स्वभावसे ही इन्द्रियोंके विषय नहीं हो सकते अतः वे नहीं दिखाई देते । इनमें स्वभावकी अपेक्षा अति दूरी है । परन्तु पिशाच आदिका अभाव तो नहीं किया जा सकता, वे हैं तो अवश्य ही ।

§ १८५. आँखोंका काजर अत्यन्त समीप होनेसे दिखाई नहीं देता, पर इससे उसका अभाव नहीं हो सकता । वह आँखोंमें लगा तो अवश्य है परन्तु अत्यन्त निकटताके कारण दिखाई नहीं देता ।

§ १८६. आँख फूट जानेसे या कान तड़क जानेसे अन्धे और बहरे रूप और शब्दको नहीं जान पाते, तो क्या रूप और शब्दका अभाव मान लिया जाय ? बात यह है कि रूप और शब्द सब कुछ मौजूद हैं परन्तु आँख और कान इन्द्रियोंके नष्ट हो जानेसे उनकी उपलब्धि नहीं होती ।

§ १८७. चित्तका उस ओर झुकाव न होनेसे भी वह वस्तु उपलब्ध नहीं होती । जिसका चित्त उस ओर नहीं लगा वह उस वस्तुको आँख खुली रहनेपर भी नहीं देख सकता । कहा भी

---

१. प्रकर्षानुपल-म० २ । २. अस्त्येव म० २ । ३. –त्र देश–म० १, म० २, प० १, प० २ । ४. भविष्या वा पद्मनाभादयो जिना वा म० १, प० १, प० २, क० । ५. –प्यान्नेत्रकज्ज–म० २ । ६. परमतिसा–म० २ । ७. –जातादन्धबधिरादिभी रूपशब्दादयो नोपलभ्यन्ते तर्हि ते न सन्ति म० २ । ८. परमिन्द्रि–म० २ । ९. –न्ते मनो—नवस्थानात्तथा यथा म० २ । १०. –चेतनो न म० २ ।

"इषुकारनरः कश्चिद्राजानं सपरिच्छदम् ।
न जानाति पुरो यान्तं यथा ध्यानं समाचरेत् ॥ १ ॥"

तत्किं राजा न गतः[1] । स गत एव, पुनरनवस्थितचेतस्कत्वान्न दृष्टवान् । नष्टचेतसां वा सतोऽपि भावस्यानुपलब्धिः ।

§ १८८. तथा सौक्ष्म्यात् यथा जालकान्तरगतधूमोष्मनीहारावीनां त्रसरेणवो नोपलभ्यन्ते, परमाणुद्व्यणुकादयो वा सूक्ष्मनिगोदादयो नोपलभ्यन्ते, तत्किं न सन्ति । सन्त्येव ते, पुनः सौक्ष्म्यान्नोपलब्धिः ।

§ १८९. तथावरणात् कुड्यादिव्यवधानाज्ज्ञानाद्यावरणाद्वानुपलब्धिः तत्र व्यवधानाद् यथा कुड्यान्तरे व्यवस्थितं वस्तु नोपलभ्यते तत्किं [2]नास्ति । किं तु तदस्त्येव, पुनर्व्यवधानान्नोपलब्धिः एवं स्वकर्णकन्धरामस्तकपृष्ठानि नोपलभ्यन्ते, चन्द्रमण्डलस्य च सप्तमः परभागो न दृश्यते, [3]अवयवेन व्यवहितत्वात् ।

§ १९०. ज्ञानाद्यावरणाच्चानुपलब्धिः यथा मतिमान्द्यात्सतामपि शास्त्रसूक्ष्मार्थविशेषाणामनुपलब्धिः, सतोऽपि [4]वा जलधिजलपलप्रमाणस्यानुपलब्धिः, विस्मृतेर्वा पूर्वोपलब्धस्य वस्तुनोऽनुपलब्धिः, मोहात् सतामपि तत्त्वानां जीवादीनामनुपलब्धिरित्यादि ।

है—"जिस तरह अपने लक्ष्यपर एकाग्र दृष्टि रखनेवाला तीरन्दाज बड़ी ठाट-बाटसे अपनी मण्डलीके साथ सामनेसे निकलनेवाले राजाको भी नहीं जानता है इसी प्रकार एकाग्र ध्यान करना चाहिए।" यदि तीरन्दाजने राजाकी तरफ ध्यान न होनेसे उसे जाते हुए नहीं देखा तो क्या राजा वहाँसे निकला ही नहीं ! राजाकी सवारी तो वहाँसे अवश्य निकली है परन्तु उस ओर उपयोग न होनेसे वह दिखाई नहीं दिया । जिनका चित्त विक्षिप्त हो जाता है उन पागलोंको मौजूद पदार्थोंका भी परिज्ञान नहीं होता ।

§ १८८. इसी तरह पदार्थोंकी सूक्ष्मता भी उनकी अनुपलब्धिमें कारण होती है । घरके छप्परके छेदोंसे निकलनेवाले या आनेवाले धूएँ, गरमी तथा कुहरेके परमाणु सूक्ष्म होनेसे नहीं दिखाई देते, परमाणु द्व्यणुक आदि भी दृष्टिगोचर नहीं होते तथा सूक्ष्म निगोदिया जीव भी चर्मचक्षुओंसे नहीं दिखाई देते; तो क्या इन सबका अभाव मान लिया जाय ? वे सब परमाणु आदि हैं तो सभी, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे नजरमें नहीं आते ।

§ १८९ दीवाल आदिका व्यवधान आनेसे अथवा ज्ञानावरण कर्मसे बुद्धिकी मन्दता होनेके कारण व्यवहित पदार्थोंकी अनुपलब्धि होती है, दीवाल आदिके उस तरफ रखे हुए पदार्थ नहीं दिखाई देते तो क्या वहाँ दीवालके उस ओर पदार्थ हैं ही नहीं ? पदार्थ हैं तो, परन्तु व्यवधान होनेके कारण आड़ आ जानेसे दिखाई नहीं देते । इसी तरह अपने ही कान कन्धे तथा मस्तकका पिछला भाग आड़ आ जानेसे नहीं दिखाई देता । चन्द्रमाके उस तरफका हिस्सा इस तरफके भागसे व्यवहित हो जानेसे मौजूद होकर भी नहीं दिखाई देता ।

§ १९०. ज्ञानावरण कर्मके उदय आ जानेसे बुद्धिकी मन्दता होनेपर शास्त्रोंके गहन अर्थोंको नहीं समझ पाते । 'समुद्रमें कितनी रत्ती पानी है' यह समुद्रके पानीका रत्तियोंका प्रमाण मौजूद होकर भी हम लोगोंके ज्ञानमें नहीं आता । विस्मरण हो जानेसे भूल जानेसे पहले जाने गये पदार्थकी याद नहीं आती । मिथ्यात्व या मोहके कारण विद्यमान भी जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ परिज्ञान नहीं हो पाता । तो इससे इन सब वस्तुओंका अभाव नहीं किया जा सकता । इनकी अनुपलब्धि तो आवरणके कारण हो रही है न कि पदार्थोंकी गैरमौजूदगीसे ।

१. गतः गत एव सः म० २ । २. नास्ति सदस्त्येव भ० २ । ३. अवयवभावेन स० २ । ४. –पि जलधि–भ० २ ।

§ १९१. तथाभिभवात्, सूर्यादितेजसाभिभूतानि ग्रहनक्षत्राणि नोपलभ्यन्ते, तत्कथं तेषामभावः[1] । किं तु तानि सन्त्येव, पुनरभिभवान्न दृश्यन्ते । एवमन्धकारेऽपि घटादयो नोपलभ्यन्ते ।

§ १९२. समानाभिहाराच्च यथा मुद्गराशौ मुद्गमुष्टिः तिलराशौ तिलमुष्टिर्वा क्षिप्ता सती सूपलक्षितापि नोपलभ्यते, जले क्षिप्तानि लवणादीनि वा नोपलभ्यन्ते । तत्कथं तेषामभावः[2] । तानि सन्त्येव, पुनः समानाभिहारान्नोपलब्धिः ।

§ १९३. तथा चोक्तं सांख्यसप्ततौ ७ ।

"अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥१॥" इति ।

एवमष्टधा "सत्स्वभावानामपि भावानां यथानुपलम्भोऽभिहितः एवं धर्मास्तिकायादयोऽपि विद्यमाना अपि स्वभावविप्रकर्षान्नोपलभ्यन्त इति मन्तव्यम् ।

§ १९.४. आह परः येऽत्र देशान्तरगतदेवदत्तादयो दर्शिताः, तेऽत्रास्माकमप्रत्यक्षा[3] अपि देशान्तरगतलोकानां केषांचित्प्रत्यक्षा एव सन्ति तेन तेषां सत्त्वं प्रतीयते, धर्मास्तिकायादयस्तु कैश्चिदपि कदापि नोपलभ्यन्ते तत्कथं तेषां सत्ता[4] निश्चीयत इति । अत्रोच्यते; यथा देवदत्तादयः[5]

§ १९१. सूर्य आदि अधिक तेजवाले पदार्थोंके प्रखर तेजसे कम चमकीले ग्रह नक्षत्र आदि ढँक जाते हैं, उनका प्रकाश तिरस्कृत हो जाता है, सूर्यके प्रकाशसे ही दब जाता है अतः वे दिनको नहीं दिखाई देते तो क्या दिनको ग्रह नक्षत्र आदिका अभाव मान लिया जाय ? दिनको भी ग्रह नक्षत्र आदि बराबर मौजूद रहते हैं परन्तु सूर्यके तेजसे उनका तेज दब जाता है—अभिभूत हो जाता है अतः वे दृष्टिगोचर नहीं हो पाते । इसी तरह अन्धकारमें अभिभूत हो जानेके कारण रात्रिमें घड़े आदि नहीं दिखाई देते ।

§ १९२. एक मुट्ठी भर मूँग या मुट्ठी भर तिल मूँगके ढेर या तिलके ढेरमें डाल दिये जायें तो वह समान वस्तुमें मिल जानेके कारण अच्छी तरह नहीं दिखाई देतीं, जलमें नमक डाल दीजिए परन्तु वह उसीमें घुल जानेसे अलग नहीं दिखता तो क्या इन सबका अभाव मान लिया जाय ? मुट्ठी भर मूँग आदि उस मूँगके ढेरमें हैं तो सही परन्तु समानवस्तुमें घुल मिल जानेसे पृथक् नहीं दिखाई देते ।

§ १९३. सांख्यसप्ततिनामक ग्रन्थमें कहा भी है—"अत्यन्त दूरी, अति समीपता, इन्द्रिय-घात, मनका उस ओर उपयोग न होना, सूक्ष्मता, व्यवधान, अभिभव तथा समान वस्तुमें मिल जानेके कारण पदार्थोंकी अनुपलब्धि होती है ।" इस तरह मौजूद पदार्थोंको आठ कारणोंसे अनुपलब्धि होती है । धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त पदार्थ विद्यमान हैं परन्तु स्वभावसे ही दूर अतीन्द्रिय होनेके कारण आँखोंसे नहीं दिखाई देते । अमूर्त पदार्थोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे आँख आदि इन्द्रियोंके ग्राह्य नहीं हो सकते ।

§ १९.४. शंका—आपने जिन दूर देशमें गये हुए देवदत्त आदिकी बात कही है, वे तो हम लोगोंमें-से किसी न किसीके प्रत्यक्ष हो ही जाते हैं । देवदत्त हमें न दिखे पर जिस देशमें वह गया है वहाँके लोगोंको तो दिखाई देता ही है अतः उनको सत्ता मानी जा सकती है पर ये धर्मास्तिकाय आदि तो किसीको कभी भी किसी भी तरह प्रत्यक्ष नहीं होते अतः इनकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है ? इनका तो अनुपलब्धि होनेसे अभाव ही होना चाहिए ।

१. –वः सन्त्येव तानि म० २ । २. –वः सन्त्येव तानि म० २ । ३. एवमष्टधापि सत्त्व–आ०, क० । ४. सत्स्वभावानामनुपलम्भोऽभिहितः म० २ । ५. यत्र म० २ । ६. अपि तत्रस्थलोकानां प्रत्यक्षा एव म० २ । ७. सत्त्वं म० २ । ८. –यः कस्यचित्र–म० २ ।

केषांचित्प्रत्यक्षत्वात्सन्तो निश्चीयन्ते, तथा धर्मास्तिकायावयोऽपि केवलिनां प्रत्यक्षत्वात्किं न सन्तः प्रतीयन्ताम् । यथा वा परमाणवो नित्यमप्रत्यक्षा अपि स्वकार्यानुमेयाः स्युः, तथा धर्मास्तिकायावयोऽपि किं न स्वकार्यानुमेया भवेयुः । धर्मास्तिकायादीनां कार्याणि चामूनि । तत्र धर्मो गत्युपग्रहकार्यानुमेयः, अधर्मः स्थित्युपग्रहकार्यानुमेयः, अवगाहोपकारानुमेयमाकाशं, 'वर्तनाद्युपकारानुमेयः कालः, प्रत्यक्षानुमानावसेयाश्च पुद्गलाः ।

§ १९५. नन्वाकाशादयः स्वकार्यानुमेया भवन्तु, धर्माधर्मौ तु कथम् । अत्रोच्यते युक्तिः, धर्माधर्मौ हि स्वत एव गतिस्थितिपरिणतानां द्रव्याणामुपगृह्णीतोऽपेक्षाकारणतया आकाशकालादिवत्, न पुनर्निर्वर्तकारणतया, निर्वर्तकं हि कारणं तदेव जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यं वा गतिस्थितिक्रियाविशिष्टं, धर्माधर्मौ पुनर्गतिस्थितिक्रियाविशिष्टानां द्रव्याणानुपकारकावेव न पुनर्बलाद्गतिस्थितिनिर्वर्तकौ । यथा वा सरित्तटाकह्रदसमुद्रेष्वेवंगवाहित्वे सति मत्स्यस्य स्वयमेव संजातअभिसर्पस्योपग्राहकं जलं निमित्ततयोपकरोति, दण्डादिवत्कुम्भकारे कर्तरि मृदः परिणामिन्याः, नभोवद्वा नभश्चरतां नभश्चराणामपेक्षाकारणं, न पुनस्तज्जलं गतेः कारणभावं बिभ्राणमगच्छन्तमपि मत्स्यं बलात्प्रेर्यं

समाधान—जिस तरह देवदत्त आदिकी किसी देशान्तरवर्ती पुरुषोंके प्रत्यक्ष होनेसे सत्ता मान ली जाती है उसी तरह धर्मास्तिकाय आदि भी तो केवलज्ञानियोंके प्रत्यक्ष होते हैं। अतः उनको सत्ता भी क्यों न मानी जाय ? जिस प्रकार सदा अप्रत्यक्ष रहनेवाले भी परमाणु अपने स्थूल कार्योंके द्वारा अनुमित होते हैं उसी प्रकार धर्मास्तिकाय आदिका भी उनके गति स्थिति आदिमें सहकारिता रूप कार्योंके द्वारा अनुमान किया जाना चाहिए। धर्मास्तिकाय आदि के निम्नलिखित कार्य तो प्रसिद्ध ही हैं। गतिमें अपेक्षा कारण होना धर्म द्रव्यका कार्य है। स्थिति—ठहरनेमें सहकारी होना अधर्म द्रव्यका कार्य है, बसनेमें अवकाश देनेमें सहायता करना आकाशका कार्य है तथा पदार्थोंके परिणमन आदिमें मदद करना कालद्रव्यका कार्य है। इन कार्योंके द्वारा धर्म आदि द्रव्योंका सहज ही अनुमान हो सकता है। पुद्गलके स्थूल स्कन्ध तो प्रत्यक्षसे ही देखे जाते हैं तथा सूक्ष्म स्कन्ध और परमाणुओंका अनुमानसे परिज्ञान होता है।

§ १९५. शंका—पुद्गल परमाणु तथा आकाश आदिका तो कार्यों के द्वारा अनुमान होना ठीक जँचता है, इनकी सत्ता समझमें आती है; इनके इन धर्म और अधर्म द्रव्यका अनुमान कैसे होता है ? इनके कार्य भी प्रत्यक्ष से नहीं दिखाई देते तब अनुमान किस प्रकार किया जाय ?

समाधान—जिस प्रकार आकाश और काल स्वयं रहनेवाले तथा परिणमन करनेवाले पदार्थों में तटस्थ रूपसे अपेक्षा कारण होते हैं उसी तरह ये धर्म और अधर्म द्रव्य स्वतः गति और स्थिति करनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें अपेक्षा कारण होते हैं। ये जीव पुद्गलोंकी गति और स्थितिके निर्वर्तक कारण नहीं हैं। जो जीव या पुद्गल चलते या ठहरते हैं वे ही जीव और पुद्गल अपनी गति और स्थितिके निर्वर्तक कारण होते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य तो स्वयं चलने तथा ठहरनेवाले जीव पुद्गलोंके तटस्थ उपकारक हैं, जबरदस्ती प्रेरणा करके उन्हें बलात् चलाते या ठहराते नहीं हैं। जिस प्रकार नदी तालाब या समुद्र आदि जलाशयोंमें जलके स्वभावतः बहनेसे स्वयं चलनेवाले मछली आदिका उपकार होता है, जल उनकी गतिमें साधारण अपेक्षा कारण होकर ही उपकार करता है, उसी तरह धर्म द्रव्य भी चलनेवाले पदार्थों-की गतिमें साधारण सहकारी होता है। जिस तरह परिणामिकारण मिट्टीसे कुम्हारके घड़ा बनानेमें दण्ड आदि साधारण निमित्त होते हैं या जिस प्रकार आकाशमें विचरनेवाले पक्षी आदि नभचरोंके उड़नेमें आकाश अपेक्षा कारण होता है उसी तरह धर्मद्रव्य गतिमें अपेक्षा कारण होता है। जल

---

१. वर्तमानाद्युप-म० २। २. -समुद्रेषु वेग-आ०, क०। -समुद्रेष्वगाहित्वे म० १।

गमयति, क्षितिर्वा स्वयमेव तिष्ठतो द्रव्यस्य 'स्थानभूयमापन्नोपग्रहते, न पुनरतिष्ठद्द्रव्यं बलाववनिरवस्थापयति। व्योम वावगाहमानस्य स्वत एव द्रव्यस्य हेतुतामुपेत्यवगाहं प्रति, न पुनरनवगाहमानमवगाहयति स्वावष्टम्भात्। स्वयमेव कृषीवलानां कृष्यारम्भमनुतिष्ठतां वर्षमपेक्षाकारणं दृष्टम्, न च नृनुर्वतस्तांस्तवर्षमारम्भयद्दर्षवारि प्रतीतम्, प्रावृषि वा नवाम्भोधरैध्वनिश्रवणनिमित्तोपाधीभूतगर्भा स्वत एव प्रसूते बलाका, न चाप्रसूयमानां[4] तामभिनवजलधरनिनादः प्रसभं प्रसावयति। प्रतिबुध्य वा पुरुषः प्रतिबोधनिमित्तामवद्याद्विरतिमातिष्ठमानो दृष्टो; न च पुमांसमविरतं विरमयति बलात्प्रतिबोधः। न च "गत्युपकारोऽवगाहलक्षणाकाशस्योपपद्यते, किं तर्हि। धर्मस्यैवोपकारः स दृष्टः। स्थित्युपकारश्चाधर्मस्य नावगाहलक्षणस्य व्योम्नः। अवश्यमेव हि द्रव्यस्य द्रव्यान्तरावसाधारणः कश्चिदगुणोऽभ्युपेयः[6]। द्रव्यान्तरत्वं च युक्तेरागमाद्वा निश्चेयम्। युक्तिरनन्तरमेवाग्रतो वक्ष्यते। [7]आगमस्त्वयम्—"कइणं भंते, दव्वा पण्णत्ता। गोयमा, छ दव्वा पण्णत्ता। तं जहा–धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए।" ननु धर्म-

---

कुछ नहीं चलनेवाली मछलियोंको जबरदस्ती प्रेरणा करके धक्का देकर नहीं चलाता। पृथिवी स्वयं ठहरनेवाले पदार्थोंके ठहरनेमें निमित्त तो हो जाती है परन्तु जो ठहरना नहीं चाहते उन पदार्थोंकी टाँग पकड़कर उन्हें जबरदस्ती नहीं ठहरा लेती। आकाश स्वयं अवकाश चाहनेवाले पदार्थोंको यद्यपि अवकाश देकर उनका उपकार करता है पर वह नहीं रहनेवाले पदार्थोंको अवकाश लेनेके लिए बाध्य नहीं करता। रहेंगे तो अवकाश दे देगा नहीं तो अपने तटस्थ रहेगा। वर्षा स्वयं खेती करनेवाले किसानोंको खेतीमें अपेक्षा कारण है परन्तु जबरदस्ती किसी किसानके हाथमें जोतनेके लिए हल नहीं पकड़ा देती। बरसातमें पहले-पहले आकाशमें घिरनेवाले नवमेघोंकी ध्वनि सुनकर गर्भिणी बगुली स्वयं ही प्रसव करती है, मेघकी गर्जना उसे प्रसवके लिए बलात् प्रेरणा नहीं करती। पापाचार या संसारसे स्वयं विरक्त पुरुषको ही संसारकी असारताका उपदेश उसके पापाचार या संसार त्यागमें निमित्त होता है, पर उपदेश पुरुषका हाथ पकड़कर उसे पापसे नहीं हटाता। इसी तरह धर्मद्रव्य किसी नहीं चलनेवालेपर जोर-जुल्म नहीं करता उन्हें बाध्य नहीं करता कि वे चलें ही। हाँ, वे चलेंगे तो उन्हें मदद अवश्य देगा। यह गतिमें उपकारी होना धर्म द्रव्यका ही कार्य है, यह अवकाश देनेवाले आकाशका कार्य नहीं हो सकता। इसी तरह ठहरनेमें अपेक्षा कारण होना अधर्मद्रव्यका ही कार्य है इसे अवकाश देनेवाला आकाश नहीं कर सकता। एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे पृथक् करनेवाला कोई असाधारण गुण अवश्य ही मानना होगा। यदि आकाश ही गति और स्थिति रूप कार्योंमें सहकारी हो जाय; तो धर्म और अधर्म द्रव्य जो कि युक्ति और आगमसे स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध हैं, निरर्थक ही हो जायेंगे। जब धर्म अधर्म और आकाश तीनों ही युक्ति और आगमसे स्वतन्त्र द्रव्य हैं तब इनके असाधारण गुण तथा कार्य भी पृथक् होने ही चाहिए। इन तीनोंका स्वतन्त्र रूपसे पृथक् द्रव्य होना युक्ति तथा आगम दोनोंसे प्रसिद्ध है। युक्तियाँ तो आगे देंगे। आगम इस प्रकार है—"भन्ते, द्रव्य कितने हैं? हे गौतम, द्रव्य छह कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और अद्धासमय अर्थात् काल।

---

१. स्थानभूयमा–म० २। २. –तस्तां तद्–म० १, म० २, प० १, प० २। ३. –ध्वनिनिमित्तो –म० २। ४. –मानामभिनव–म० २। ५. गत्युपग्रहकारोऽव–म० २। ६. –पेयः म० १, प० १, प० २। –पेतव्यः म० २। ७. "छव्विहे दव्वे पण्णत्ते, तं जहा—धमत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमये अ, सेत्तं दव्वणामे।" —अनुयोग० द्रव्यगुण० सू० १२३।

द्रव्योपकारनिरपेक्षमेव [1]शकुनेरुत्पतनम्, अग्नेरूर्ध्वज्वलनं, मरुतश्च तिर्यक्पवनं[2] स्वभावादेवानादिकालीनमिति। उच्यते। प्रतिज्ञामात्रमिदं नाहंन्तं प्रति हेतुदृष्टान्तावनवद्यौ स्तः, स्वाभाविक्या गतेर्धर्मद्रव्योपकारनिरपेक्षायास्तं प्रत्यसिद्धत्वात्, यतः सर्वेषामेव जीवपुद्गलानामासादितगतिपरिणतीनामुपग्राहकं धर्ममनुरुध्यन्तेऽनेकान्तवादिनः, स्थितिपरिणामभाजां चाधर्मः, आभ्यां च न गतिस्थिती क्रियेते, केवलं सान्निध्यमात्रेणोपकारकत्वं, यथा भिक्षा वासयति, कारीषोऽग्निरध्यापयतीति।

§ १९६. ननु तवापि लोकालोकव्यापि (तवापि लोकव्यापि) धर्माधर्मद्रव्यास्तित्ववादिनः संज्ञामात्रमेव 'तदुपकारौ गतिस्थित्युपग्रहौ' इति[3]। अत्र जागर्ति युक्तिः, अवधत्तां भवान्[4]। गतिस्थितौ ये जीवानां पुद्गलानां च ते स्वतःपरिणामाविर्भावात् परिणामिकर्तृनिमित्तकारणत्रयव्यतिरिक्तोदासीनकारणान्तरसापेक्षात्मलाभे, अस्वाभाविकपर्यायत्वे सति कदाचित्कत्वात्, उदासीनकारणपानीयापेक्षात्मलाभेऽलगतिवत्[5]। इति धर्माधर्मयोः सिद्धिः।

शंका—पक्षियोंका आकाशमें स्वच्छन्द रूपसे उड़ना, आगकी ज्वालाका ऊपरकी ओर जाना, वायुका तिरछा बहना ये सब अनादिकालीन अपने-अपने स्वभावसे ही होते हैं। इनमें धर्मद्रव्यकी कोई आवश्यकता नहीं है। स्वभाव तो परकी अपेक्षा नहीं करता। आग पक्षी आदिका ऊपरको जलना या आकाशमें उड़ना स्वाभाविक ही है। धर्मद्रव्य इसमें क्या करेगा।

समाधान—आपकी शंका केवल प्रतिज्ञा—कहना मात्र ही है, न तो उसमें कोई हेतु ही दिया गया है और न दृष्टान्त ही। यह सुनिश्चित है कि धर्म द्रव्यकी सहायताके बिना न अग्निका ऊपरको जलना ही हो सकता है और न वायुका तिरछा बहना ही। संसारमें ऐसी कोई भी गति नहीं है जो धर्म द्रव्यकी सहायताके बिना हो सकती हो। जैन सिद्धान्तके अनुसार स्वयं चलनेवाले सभी जीव और पुद्गलोंकी गतियाँ धर्म द्रव्यकी मददसे ही होती हैं। इसी तरह संसारमें कोई भी ऐसी स्थिति नहीं जो अधर्म द्रव्यकी सहायताके बिना हो सकती हो। ये धर्म और अधर्म किसीको चलने या ठहरनेके लिए बाध्य नहीं करते किन्तु यदि पदार्थ चलते और ठहरते हैं, तो उनकी तटस्थ भावसे मदद कर देते हैं। जैसे कहीं सदाव्रत—अन्नक्षेत्र रहनेसे भिक्षा मिलनेका पूरा-पूरा सुयोग रहता है तो भिक्षुक वहीं जाकर बस जाते हैं और कहते हैं कि 'भिक्षा हमको बसा रही है।' तो क्या अन्नक्षेत्र या उनसे मिलनेवाली भीख उन भिक्षुओंको पकड़कर वहाँ बसा रही है? बसनेवाले तो स्वयं भिखारी हैं, हाँ भिक्षा उसमें निमित्त अवश्य हो जाती है। इसी तरह कोई लड़का रातको कण्डेकी आगके धुँधले प्रकाशमें किताब पढ़ता है। वह सहज भावसे कहता है कि 'हमें तो यह कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है।' तो क्या कण्डेकी अग्नि जबरदस्ती उस लड़केको सोतेसे जगाकर किताब हाथमें दे पढ़ाना शुरू कर देती है? लड़का पढ़ता तो अपनी रुचिसे ही है, हाँ उसके धुंधले प्रकाशसे किताबके अक्षर देखनेमें सहायता अवश्य मिल जाती है।

§ १९६. **शंका**—आपने भी तो धर्म और अधर्म द्रव्यको लोकव्यापी माननेमें कोई युक्ति नहीं दी। आपने जो उनके गति और स्थितिमें सहायता करना उपकार बताये हैं वह भी संज्ञामात्र—कथन मात्र ही है, युक्तिसे सर्वथा शून्य है।

समाधान—धर्म और अधर्म द्रव्यकी सिद्धिमें हम युक्तियाँ देते हैं, आप कृपाकर सावधानीसे सुनिए। जीव और पुद्गलोंकी स्वतः होनेवाली भी गति और स्थितियाँ अपनी उत्पत्तिमें परिणामी, कर्ता—निर्वर्तक और निमित्त रूप तीन कारणोंके अतिरिक्त किसी चौथे ही उदासीन कारणकी अपेक्षा रखती हैं, क्योंकि वे गति और स्थितियाँ स्वाभाविक पर्यायें नहीं हैं तथा कभी-कभी होती हैं। जैसे कि स्वतः चलनेवाली मछलियोंकी गति जलरूपी उदासीन कारणकी अपेक्षाके बिना नहीं

---

१. शब्दशकुने—म० २। २. –पतनं म० २। ३. "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।" —त० सू० ५।१७। ४. भगवान् म० २। ५. –न्तरमपेक्षा—म० २। ६. लाभे ह्रस्व म० २।

§ १९७. अवगाहिनां धर्मादीनामवकाशदायित्वेनोपकारेणाकाशमनुमीयते । अवकाशदायित्वं चोपकारोऽवगाहः[1] स चात्मभूतोऽस्य लक्षणमुच्यते । मकरादिगत्युपकारकारिजलादिदृष्टान्ता अत्राप्यनुवर्तनीयाः ।

§ १९८. नन्वयमवगाहः पुद्गलादिसंबन्धी व्योमसंबन्धी च ततः स उभयोर्धर्मः कथमाकाशस्यैव लक्षणम् । उभयजन्यत्वात्, द्वयङ्गुलसंयोगवत् । न खलु द्रव्यद्वयजनितः संयोगो द्रव्येणैकेन व्यपदेष्टुं पार्यते लक्षणं चैकस्य भवितुमर्हतीति, सत्यमेतत्; सत्यपि संयोगजन्यत्वे लक्ष्यमाकाशं प्रधानम् ततोऽवगाहनमनुप्रवेशो यत्र तदाकाशमवगाह्यमवगाहलक्षणं विवक्षितम् इतरत्तु पुद्गलादिकमवगाहकम्, यस्मात्तु धर्मेवासाधारणकारणतयावगाह्यत्वेनोपकरोति, अतो द्रव्यान्तरासंभविना स्वेनोपकारेणातोन्द्रियमपि व्योमानुमेयम् आत्मवत्, धर्मादिवद्वा । यथा पुरुषहस्तदण्डकसंयोगभेर्यादिकारणः शब्दो भेरीशब्दो व्यपदिश्यते, भूजलानिलयवादिकारणश्चाङ्कुरो यवाङ्कुरोऽभिधीयते, असा-

होती अतः वह जलकी अपेक्षा रखती है। गति और स्थितिमें उदासीन कारण है धर्म और अधर्म द्रव्य। इस समर्थ युक्तिसे धर्म अधर्म द्रव्यकी सिद्धि होती है।

§ १९७. धर्म अधर्म आदि सभी अवकाश चाहनेवाले द्रव्योंको अवकाश–स्थान देने रूप कार्यसे आकाशका अनुमान किया जाता है। अवकाश देना ही आकाशका अवगाह रूप उपकार है। यह आकाशका स्वाभाविक असाधारण लक्षण है। मगर आदिकी गति आदिमें जिस प्रकार जल आदि उदासीन अपेक्षा कारण हैं उसी तरह आकाश समस्त वस्तुओंको अवकाश देनेमें उदासीन निमित्त है। इस तरह ऊपर जो जल आदिके दृष्टान्त दिये हैं वे सब आकाशकी सिद्धिमें भी लगा लेने चाहिए।

§ १९८. **शंका**—अवकाश या अवगाह तो यदि देनेकी दृष्टिसे आकाशका धर्म है तो पानेकी दृष्टिसे पुद्गल आदिका भी है। 'आकाशमें पुद्गलादि रहते हैं' तो यह 'रहना' आकाश और पुद्गल दोनोंका ही धर्म हो सकता है क्योंकि उसमें समान रूपसे दोनों ही कारण होते हैं। जैसे अँगुलियोंका आपसी संयोग दोनों अँगुलियोंका ही धर्म होता है किसी एक अँगुलीका नहीं। दो द्रव्योंसे उत्पन्न होनेवाला संयोग किसी एक द्रव्यका ही नहीं कहा जा सकता, वह तो दोनों द्रव्योंका ही संयोग कहा जायगा। इसी तरह जब अवगाह भी आकाश और पुद्गलादि दोनोंका ही धर्म है तब उसे केवल आकाशका ही धर्म कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—आपका कहना सत्य है। यद्यपि अवगाहमें आकाशकी तरह पुद्गलादि भी निमित्त होते हैं परन्तु आकाश अवकाश देनेवाला है अतः दाता आकाश प्रधान है तथा अवकाश माँगनेवाले या पानेवाले पुद्गलादि गौण हैं। आकाशमें अवगाह मिलता है, पुद्गलादि आकाशमें घुसकर रहते हैं अतः आकाश तो अवगाह्य—जिसमें अवगाह मिलता है—है। तथा पुद्गल आदि अवगाह प्राप्त करनेके कारण अवगाहक—अवकाश पानेवाले हैं। इसीलिए अवगाह गुण प्रधानभूत अवकाश देनेवाले आकाशका ही धर्म माना गया है, अप्रधान—पानेवाले पुद्गल आदिका नहीं। इस तरह आकाश ही अवगाह देनेमें असाधारण कारण होनेसे, अवगाह्य होनेके कारण पुद्गलादिका उपकार करता है। दूसरे द्रव्यमें नहीं पाये जानेवाले अपने इसी असाधारण धर्मसे अतीन्द्रिय–इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत नहीं होनेवाले भी आकाशका अनुमान किया जाता है। आत्मा या धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सिद्धि भी इसी तरह असाधारण धर्म या कार्योंसे की जाती है। देखो, भेरी—नगाड़ा बजानेमें भेरीके साथ ही साथ बजानेवाला आदमी, उसका हाथ, दण्डा, तथा डण्डेका भेरीसे संयोग आदि अनेकों कारण होते हैं परन्तु उससे उत्पन्न होनेवाला शब्द प्रधान कारण भेरीका ही शब्द कहा जाता है। हाथ या डण्डेका नहीं। अथवा, जिस प्रकार जौके अंकुरमें जौके साथ ही

१. "आकाशस्यावगाहः।" —त० सू० ५।१८।

धारणकारणत्वात्, एवमवगाहोऽप्याकाशस्य प्रतिपत्तव्यः ।

§ १९९. वैशेषिकास्तु[1] शब्दलिङ्गमाकाशं संगिरन्ते, गुणगुणिभावेन व्यवस्थानादिति तदयुक्तम्; रूपादिमत्त्वाच्छब्दस्य, रूपादिमत्ता च प्रतिघाताभिभवाभ्यां विनिश्चेया ।

§ २००. कालस्तु वर्तनादिभिर्लिङ्गैरनुमीयते । यतो वर्तना[3] प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमय-स्वसत्तानुभूतिलक्षणा, सा च सकलवस्त्वाश्रया कालमन्तरेण प्रतिसमयमनुपपन्ना, अतोऽस्ति कार्यानुमेयः कालः पदार्थपरिणतिहेतुः लोकप्रसिद्धाश्च कालद्रव्याभिधायिनः शब्दाः सन्ति न तु सूर्य-क्रियामात्राभिधायिनः । यथाह—

"युगपदयुगपत्क्षिप्रं चिरं चिरेण परमपरमिदमिति च ।
वत्स्यति नैतद्वत्स्यति [4]वृत्तं तत्तन्न वृत्तमपि ॥ १ ॥

साथ भूमि जल हवा आदि अनेकों कारण होते हैं, पर उन सबसे उत्पन्न होनेवाला यवांकुर ही कहा जाता है भूमि या जलका अंकुर नहीं। उसी तरह अवगाहमें आकाशके साथ भले ही पुद्गल आदि कारण रहो, पर प्रधान या असाधारण कारण तो आकाश ही है अतः अवगाह असाधारण कारण रूप आकाशका ही धर्म हो सकता है साधारण कारण पुद्गलादिका नहीं।

§ १९९. वैशेषिक लोग शब्दको आकाशका गुण मानकर शब्दसे आकाशका अनुमान करते हैं। वे शब्दको गुण तथा आकाशको गुणी कहकर इनमें गुणगुणी भाव स्थापित करते हैं। उनकी यह मान्यता युक्ति तथा अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। पौद्गलिक शब्दमें तो रूप रस आदि पाये जाते हैं जब कि आकाशमें इनकी गन्ध भी नहीं है वह तो निखालिस अमूर्त है। जब आकाशमें और शब्दमें इतना बड़ा विरोध—भेद है तब इनमें गुणगुणिभाव कैसे बन सकता है? शब्दका मूर्त होना या पौद्गलिक होना प्रतिघात तथा अभिभवसे सिद्ध होता है। देखो, शब्द दीवालसे टकरा जाता है, बिजली आदिकी तीव्र तड़तड़ाहट कानके परदेको फाड़ देती है, शब्दकी प्रतिध्वनि होती है, बाजोंके जोरदार शब्द मन्द शब्दोंका अभिभव—तिरस्कार कर देते हैं, उन्हें ढँक देते हैं। यदि शब्द अमूर्त होता तो उसमें प्रतिघात—टकराना तथा अभिभव—मन्द शब्दोंका अभिभव—नहीं हो सकता था। आकाश या धर्मादि अमूर्त वस्तुएँ न तो किससे टकराती हैं और न किसीका अभिभव ही करती हैं। ये प्रतिघात और अभिभव ही शब्दको मूर्त तथा पौद्गलिक सिद्ध कर देते हैं।

§ २००. काल द्रव्यका अनुमान वर्तना परिणाम आदि लिंगोंसे किया जाता है। प्रत्येक द्रव्य और पर्याय प्रतिक्षण जो अपनी एक समयवाली सत्ताका अनुभव करता है वह सभी वस्तुओं-की एक क्षणवाली सत्ता ही वर्तना कहलाती है। यदि कालद्रव्य न हो तो यह समस्त पदार्थोंकी एक समयवाली सत्ता नहीं बन सकती। अतः इसी एक समयवाली पदार्थोंकी सत्ता रूप वर्तनासे पदार्थोंके परिणमनमें निमित्त होनेवाले कालका अनुमान किया जाता है। सूर्यकी क्रियाको ही काल नहीं कह सकते; क्योंकि संसारमें कालके वाचक ही 'जल्दी, देरी, एक साथ, क्रमसे' इत्यादि शब्दोंका प्रयोग या व्यवहार होता है, सूर्यकी गतिका वाचक शब्द तो कालके अर्थमें कहीं भी प्रयुक्त नहीं होता। अतः लोक व्यवहारके अनुसार कालको स्वतन्त्र द्रव्य मानना चाहिए। कहा भी है—"सभी आप्त-प्रामाणिक पुरुष 'युगपत्,अयुगपत्—क्रमसे, क्षिप्र—शीघ्र, चिर—देर, चिरेण—बहुत देर, पर—बड़ा पुराना, अपर—नया छोटा, यह होगा, यह नहीं होगा, यह हुआ था, यह नहीं हुआ,

---

१. "शब्दोऽक्षगुणः श्रोत्रग्राह्यः ।"—प्रश० भा०, व्यो० पृ० ६४५। २. –येति कालस्तु भ० २ ।
३. प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ।" —त० वा० ५।२२। ४. वृत्तं तन्न भा० ।

वर्तत इदं न वर्तत इति कालापेक्षमेवेदं यत् ।
सर्वे ब्रुवन्ति तस्मान्ननु सर्वेषां मतः कालः ॥ २ ॥
ह्यः श्वोऽद्य संप्रति [1]परुत्परारि नक्तं दिवैषमः प्रातः ।
सायमिति कालवचनानि कथं युक्तान्यसति काले ॥ ३ ॥"

§ २०१. परिणामोऽपि सजातीयानां वृक्षादिवस्तूनामेकस्मिन्काले ऋतुविभागकृतो वेलानियमकृतश्च विचित्रः कारणं नियामकमन्तरेणानुपपन्नः ततः समस्ति तत्कारणं काल इत्यवसीयते । तथा विनष्टो विनश्यति विनङ्क्ष्यति च घट इत्यादिक्रियाव्यपदेशा अतीतवर्तमानानागतकालत्रयविभागनिमित्ताः परस्परासंकीर्णाः संव्यवहारानुगुणाः कालमन्तरेण न भवेयुः, ततोऽस्ति कालः । तथेदं परमिदमपरमिति यन्निमित्तं प्रत्ययाभिधाने, [2]स समस्ति काल इति ।

§ २०२ पुद्गलाः प्रत्यक्षानुमानागमावसेयाः, तत्र [3]कटघटपटलकुटशकटाद्योऽप्यक्षसिद्धाः । अनुमानगम्या इत्थम्—स्थूलवस्त्वन्यथानुपपत्त्या सूक्ष्मपरमाणुद्व्यणुकादीनां सत्तावसीयते, आगमगम्यता चैवं "पुद्गलत्थिकाए" इत्यादि[5] । तथा परमाणवः सर्वेऽप्येकरूपा एव विद्यन्ते, न पुन-

---

यह हो रहा है, यह नहीं हो रहा है, इत्यादि कालकी अपेक्षा ही व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। इसलिए यह मानना ही होगा कि सब लोग कालके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। यदि कालद्रव्य न हो तो—'बीता हुआ दिन, आज, आगे आनेवाला दिन, इसी समय, पीछे, बहुत जल्दी, रात, दिन, अभी, सबेरे, शाम' इत्यादि काल सम्बन्धी व्यवहार कैसे बनेंगे। ये व्यवहार काल द्रव्यके माने बिना सिद्ध नहीं हो सकते ॥ १–३ ॥

§ २०१. एक ही जातिके वृक्ष आदि पदार्थोंमें एक ही समय ऋतुविभाग तथा प्रातः, दुपहरी और सायंकाल आदि समय विभागसे विचित्र-विचित्र परिणमन—हालतें देखी जाती हैं। ये परिणमन बिना किसी निमित्तकारणके तो हो ही नहीं सकते। अतः इनसे परिणमनमें साधारण निमित्त होनेवाले कालका अनुमान किया जाता है। इसी तरह घड़ा फूट गया, फूट रहा है या फूटेगा ये भिन्न कालवर्ती क्रियात्मक व्यवहार अतीत वर्तमान और अनागत कालके बिना नियत रूपमें नहीं हो सकते। तीनों कालके माने बिना तो संसारके व्यवहार ही रुक जायेंगे। अतः काल द्रव्य मानना ही चाहिए। 'यह बड़ा है, जेठा है; यह छोटा है, लहुरा है' ये ज्ञान तथा ऐसे शब्दोंका प्रयोग भी कालके निमित्तसे ही होते हैं।

§ २०२. पुद्गल द्रव्य तो प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम प्रमाणसे प्रसिद्ध हैं। चटाई, घड़ा, कपड़ा, डंडा, गाड़ी आदि पौद्गलिक पदार्थ प्रत्यक्षसे ही दिखाई देते हैं। घट, पट आदि स्थूल पदार्थोंको देखकर द्व्यणुक तथा सूक्ष्म परमाणुओंका अनुमान किया जाता है। आगममें भी पुद्गलास्तिकाय की चर्चा आती ही है। पुद्गलद्रव्यके परमाणु सभी एक पुद्गल जातिके ही हैं उनमें पार्थिव जलीय आदि रूपसे भीतरी जाति भेद नहीं है। वैशेषिक परमाणुओंको चार जातियाँ मानते हैं। उनमें पार्थिव जातिके परमाणुओंमें रूप रस गन्ध और स्पर्श ये चारों ही गुण पाये जाते हैं, जलीय परमाणुओंमें गन्धके अतिरिक्त शेष तीन गुण पाये जाते हैं। अग्निके परमाणुओंमें रूप और स्पर्श ये दो ही गुण होते हैं तथा वायुके परमाणुओंमें केवल एक स्पर्श गुण ही पाया जाता है। वैशेषिकोंकी यह परमाणुओंमें जातिभेदकी कल्पना बिलकुल असंगत तथा प्रमाण शून्य है;

---

१. –मेव सर्वे यत् आत्मा ब्रुवन्ति म० २। २. परुत्परारि म० २। ३. समस्ति स काल म० २। ४. घटपटकटलकुट–म० २। ५. "चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।" —स्थानांग स्थान ४ उद्दे० १ सू० २५१। स्था० प्र० भा० ७ उद्दे० १० सू० ३०५।

वैशेषिकाभिमतंचतुस्त्रिद्व्यणुकस्पर्शादिगुणवतां पार्थिवाप्यतेजसवायवीयपरमाणूनां जातिभेदाभ्युपगमः। यथा [1]लवणहिंगुनी स्पर्शनचक्षुरसनघ्राणयोग्येऽपि जले विलीने सती लोचनस्पर्शनाभ्यां ग्रहीतुं न शक्ये परिणामविशेषवत्त्वात्, एवं पार्थिवादिपरमाणवोऽप्येकजातीया एव परिणतिविशेषवत्त्वात् न सर्वेन्द्रियग्राह्या भवन्ति, न पुनस्तज्जातिभेदादिति[3]।

§ २०३. शब्दादीनां तु पौद्गलिकत्वं [4]कथं—शब्दः पुद्गलद्रव्यपरिणामः, तत्परिणामता चास्य मूर्तत्वात्, मूर्तता चोरःकण्ठशिरोजिह्वामूलदन्तौष्ठव्यान्तरविक्रियापादनसामर्थ्यात्, पिप्पल्यादिवत्। तथा ताड्यमानपटहभेरीझल्लरितलस्थकिलिञ्जादिप्रकम्पनात्। तथा शङ्खादिशब्दानामतिमात्रप्रवृद्धानां श्रवणबधिरीकरणसामर्थ्यम्[5] तच्चाकाशादावमूर्ते नास्ति। अतो न तद्गुणः शब्दः। तथा प्रतीघातियित्वात्[6], पर्वतप्रतिहतप्रस्तरवत्। तथा शब्दो नाम्बरगुणः[7], द्वारानुविधा-

क्योंकि इन पृथिवी आदिमें परस्पर उपादान-उपादेय भाव देखा जाता है—पृथिवीका जल बन जाता है, जलका मोती तथा बाँस आग बन जाते हैं। आप जाति भेदकी कल्पना इसीलिए करते हैं कि—सभी पृथिवी आदि द्रव्य सभी इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत नहीं होते, सो इसका कारण तो पुद्गल द्रव्यके परिणमनकी विचित्रता है। देखो, जो नमक और हींग अपनी स्थूल पार्थिव अवस्थामें कानके सिवाय सभी इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते थे वे ही जब पानीमें घुल-मिलकर पानी बन जाते हैं तब आँखसे तथा स्पर्शन इन्द्रियसे ग्रहण नहीं किये जा सकते। इसी तरह पृथिवी—जल आदि द्रव्योंके सभी परमाणु साधारण रूपसे एक पुद्गलजातिके होकर भी अपने विचित्र परिणमनके कारण सभी सब इन्द्रियोंके ग्राह्य नहीं होते। जिसमें जो गुण उद्भूत होगा वह उसी गुणको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियसे गृहीत होगा। इसके लिए परमाणुओंमें जातिभेद मानना निरर्थक है। पुद्गलोंके परिणमनकी विचित्रतासे ही अमुक-अमुक परमाणुओंको अमुक-अमुक इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होनेका निर्वाह हो जाता है।

§ २०३. शब्द आदि पौद्गलिक हैं। शब्द मूर्त होनेके कारण पौद्गलिक हैं। शब्दको पैदा करते समय हृदय गला सिर-जीभका आखिरी मूल भाग, दांत आदिमें जोर लगाना पड़ता है। इनमें विकार आनेसे क्रिया होनेसे ही शब्दकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार पीपल आदिके खानेसे गला आदि कुछ विकृत हो जाते हैं उसी तरह शब्दका उच्चारण करते समय भी गले-आदिमें विकार आता ही है। अतः मूर्त पदार्थोंमें विकार पैदा करनेकी सामर्थ्य रखनेके कारण शब्द भी पीपल आदिकी तरह मूर्त है। जब भेरी नगाड़ा झालर तबला आदि बजाते हैं तो इनमें कम्प पैदा होता है। यदि शब्द अमूर्त होता तो उससे मूर्त झालर आदिमें कम्प कभी नहीं हो सकता था। शंख आदिको जोरसे फूँकनेपर उत्पन्न होनेवाला तीव्र शब्द कानके परदे फाड़ देता है, मनुष्यको बहरा बना देता है। ये सब मूर्त पदार्थोंमें विक्रिया करनी, उन्हें कँपाना तथा सुननेवालेको बहरा बना देनेकी शक्तियाँ अमूर्त आकाशमें तो सम्भव ही नहीं है अतः शब्द आकाश-

---

१. "कथं तर्हि इमे गुणा विनियोक्तव्या इति। एकैकशस्येन उत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां सदनुपलब्धिः।" —न्यायसू० ३।१।६५। २. —गुणिम्बस्पर्शन—भ० २। ३. "पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भवन्ति, रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्।..... न च केचित्पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति; जातिसंकरेणारम्भदर्शनात्।"—सर्वार्थसि० ५।२३। ४. "कर्णशष्कुल्यां कटकटावमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिः अस्पर्शत्वकल्पनामस्तंगमयति....।" —अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०८। "द्रव्यं शब्दः, स्पर्शाल्पत्वमहत्त्वपरिमाणसंख्यासंयोगगुणाश्रयत्वात्, यद्यदेवंविधं तत्तद्द्रव्यम् यथा बदरामलकबिल्वादि, तथा चायं शब्दः, तस्मादद्रव्यम्।"—प्रमेयक० पृ० ५१०। ५. —पव्यापित्वात् भ० २। ६. "गुणवान् शब्दः स्पर्श-अल्पत्व-महत्त्वपरिमाण-संख्या-संयोगाश्रयत्वात्, यद् एवंविधं तद् गुणवत् यथा बदर-आमलकादि, तथा च शब्दः, तस्मात्तथा इति।"—न्यायकुसु० पृ० २४३।

यित्वात्, आतपवत्। तस्मिन्नेव पक्षे सन्निदर्शनं साधनपञ्चकं प्रपञ्च्यते। यथा शब्दोऽन्यगुणो न भवति संहारसामर्थ्यात् [2]अगुरुधूपवत्, तथा वायुना प्रेर्यमाणत्वात् तृणपर्णादिवत्, सर्वदिग्ग्राह्यत्वात् प्रदीपवत्, अभिभवनीयत्वात् तारासमूहादिवत्, अभिभावकत्वात् सवितृमण्डलप्रकाशवत्। महता हि शब्देनाल्पीयानभिभूयते शब्द इति प्रतीतमेव, तस्मात्पुद्गलपरिणामः शब्दः।

§ २०४. अथ शङ्खे तद्विनाशे तदीयखण्डेषु [3]च यथा पौद्गलिकत्वाद्रूपमुपलभ्यते, तथा शब्देऽपि कुतो नेति चेत्, उच्यते, सूक्ष्मत्वात्, विध्यातप्रदीपशिखारूपादिवत् गन्धपरमाणुव्यवस्थितरूपादिवद्वेति। गन्धादीनां तु पुद्गलपरिणामता प्रसिद्धैव।

§ २०५. तमश्छायादीनां त्वेवम्—तमः [4]पुद्गलपरिणामो वृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवारकत्वात् पटादिवत्।

का गुण नहीं है। वह तो मूर्त तथा पौद्गलिक है। जिस तरह पर्वतकी तरफ फेंका गया पत्थर उससे टकराकर वापिस उलटा आता है उसी तरह शब्द भी दीवाल आदिसे टकराकर वापिस प्रतिध्वनि करता है अतः इसे पत्थरकी ही तरह मूर्त मानना चाहिए। शब्द आकाशका गुण नहीं है; क्योंकि जहाँ उसे रास्ता मिलता है वह वहींसे चला जाता है जैसे कि सूर्यका प्रकाश। शब्द यदि अमूर्त होता तो वह सब जगह अप्रतिहत निर्बाधरूपसे गमन कर सकता था फिर उसे द्वार—रास्तेकी आवश्यकता ही क्यों होती। शब्दको पौद्गलिक सिद्ध करनेके लिए तथा उसको आकाशका गुण न होनेमें निम्नलिखित पाँच हेतु और दिये जा सकते हैं—शब्द आकाशका गुण नहीं है क्योंकि उसमें अगुरुधूपकी तरह फैलनेकी शक्ति पायी जाती है, वह तिनके पत्ते आदिकी तरह वायुसे यहाँ वहाँ फेंका जा सकता है, वायु उसे अपने अनुकूल प्रेरणा कर सकती है, वह सभी दिशाओंमें रहनेवालोंके द्वारा ग्रहण किया जा सकता है जैसे कि दीपकका प्रकाश, जैसे सूर्यका प्रकाश तारोंको ढँक देता है उसी तरह तीव्र शब्दोंसे मन्द शब्दोंका अभिभव होता है वे सुनाई नहीं देते, अतः वे अभिभवके योग्य हैं जैसे कि तारागण, तथा अभिभव करनेवाले भी हैं जैसे सूर्यका प्रकाश। बड़े जोरसे कहे जानेवाले शब्दोंसे छोटे शब्दोंका अभिभव प्रसिद्ध ही है। इस तरह फैलना, दूसरेसे प्रेरित होना, सब तरफ सुनाई देना, दूसरेको ढँकना तथा दूसरेके द्वारा ढँके जानेके कारण शब्द पौद्गलिक है। ये धर्म अमूर्त वस्तुओंमें नहीं पाये जाते अतः शब्द मूर्त है।

§ २०४. **शंका**—जिस तरह शंख या शंखके टूटे हुए टुकड़े पौद्गलिक हैं तो उनका रूप भी आँखोंसे दिखाई देता है, उसी तरह शब्द आँखोंसे क्यों नहीं दिखाई देता?

समाधान—शब्द पौद्गलिक है अतः उसमें रूप विद्यमान है तो सही, परन्तु सूक्ष्म होनेके कारण वह आँखोंसे गृहीत नहीं होता। जिस तरह बुझा देनेपर दीपककी लौके रूप आदि होते हुए भी सूक्ष्म परिणमन होनेसे नहीं दिखाई देते, अथवा जिस प्रकार गुलाब आदि फूलोंकी जब सुवास आती है तब उस आये हुए गन्ध द्रव्यके रूप आदि अनुद्भूत होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं होते उसी तरह शब्दका रूप भी सूक्ष्म और अनुद्भूत होनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं हो पाता। गन्ध आदिका पुद्गलपन तो प्रसिद्ध ही है; क्योंकि वे प्राण आदि बाह्य इन्द्रियोंसे गृहीत होते हैं।

§ २०५. अन्धकार और छायाको इस प्रकार पुद्गलात्मक सिद्ध करना चाहिए—अन्धकार पौद्गलिक है क्योंकि वह नेत्रको देखनेमें रुकावट डालता है जैसे कि दीवाल आदि। वह दूसरे पदार्थोंको ढँक देता है उनका आवरण बन जाता है—जैसे कि कपड़ा आदि।

---

१. सति दर्शनसाधनपंचकं प्र० १। सन्निदर्शनं साधनं पंचकं प० १, प० २। सन्निदर्शनं साधनपंचकं प्र० २। २. अगुरुवत् प्र० २। ३. च यत्पौ प्र० २। ४. "तमस्तावत्पुद्गलपरिणामः दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवारकत्वात् पटादिवत्।" —तत्त्वार्थ० भा० हरि० पृ० ३६३। न्यायकुमु० पृ० ६७१।

§ २०६. छायापि शिशिरत्वात् आप्यायकत्वात् जलवातावित्। [1]छायाकारेण परिणममानं प्रतिबिम्बमपि पौद्गलिकं साकारत्वात्।

§ २०७. अथ कथं कठिनमावर्शं प्रतिभिद्य मुखतो निर्गताः पुद्गलाः प्रतिबिम्बमाजिहत इति चेत्। उच्यते; तत्प्रतिभेदः कठिनशिलातलपरिप्लुतजलेनायस्पिण्डेऽग्निपुद्गलप्रवेशेन शरीरात्प्रस्वेदवारिलेशनिर्गमनेन च व्याख्येयः।

§ २०८. [2]आतपोऽपि द्रव्यं तापकत्वात्, स्वेदहेतुत्वात्, उष्णत्वात्, अग्निवत्। [3]उद्योतश्चन्द्रिकादिर्द्रव्यं आह्लादकत्वात् जलवत्, प्रकाशकत्वात् अग्निवत्। तथा पद्मरागादीनामनुष्णाशीत उद्योतः। अतो मूर्तद्रव्यविकारस्तमश्छायादिः इति सिद्धाः पुद्गलाः। इति सुस्थितमजीवतत्त्वम्।

§ २०९. अथ पुण्यतत्त्वमभिधत्ते 'पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः' इति। पुण्यं सन्सत्तीर्थंकरत्वस्वर्गादिफलनिर्वर्तकत्वात्प्रशस्ताः कर्मणां पुद्गला जीवसंबद्धाः कर्मवर्गणाः ॥ ४८-४९ ॥

§ २१०. अथ पापास्रवतत्त्वे व्याख्याति—

---

§ २०६. छाया भी पौद्गलिक है क्योंकि वह ठंडी तथा शरीरका पोषण करके शान्ति—तरावट देती है जैसे कि गरमीके दिनोंमें अचानक चलनेवाली ठंडी हवा। दर्पण आदिमें छाया रूपसे पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी पौद्गलिक है क्योंकि वह आकारवाला है।

§ २०७. शंका—मुखसे निकलनेवाले छायापुद्गल अत्यन्त कठोर दर्पणको भेदकर प्रतिबिम्ब कैसे बन जाते हैं?

समाधान—जिस प्रकार किसी पत्थरकी बड़ी शिलापर पानी टपकनेसे उसमें पानीके परमाणुओंका प्रवेश हो जाता है और वह उस शिलाको ठंडा कर देते हैं तथा आगमें लोहेके गोलेको तपानेसे उसमें अग्निके परमाणु घुस जाते हैं और वे उसे आगकी तरह लाल और गरम बना देते हैं अथवा जिस तरह शरीरको भेदकर पसीना निकल आता है उसी तरह मुखके छायापुद्गल दर्पणमें घुस जाते हैं और प्रतिबिम्ब रूपसे परिणत हो जाते हैं। पुद्गलोंके परिणमनकी विचित्रताएँ ही इसका एक मात्र सहज उत्तर है।

§ २०८. आतप—धूप भी पुद्गल रूप है क्योंकि वह ताप देती है, पसीना लाती है तथा उष्ण होती है जैसे कि अग्नि। इसी तरह प्रकाश तथा चाँदनी आदि भी पुद्गल रूप ही हैं क्योंकि ये जलकी तरह तरावट पहुँचाते हैं, इन्हें देखकर तबियत उसी तरह ठंडी और आनन्दित हो जाती है जिस प्रकार झरते हुए शीतल झरनेको देखकर। ये प्रकाश करते हैं जैसे कि अग्नि। पद्मराग आदि मणियोंका प्रकाश अनुष्णाशीत—न ठंडा और न गरम किन्तु सम—होता है। इस तरह अन्धकार और छाया आदिको मूर्त तथा पौद्गलिक समझ लेना चाहिए। इस तरह अजीव तत्त्वका व्याख्यान हुआ।

§ २०९. अब पुण्यतत्त्वका निरूपण करते हैं—सत्-प्रशस्त कर्म पुद्गलोंको पुण्य कहते हैं। तीर्थंकर चक्रवर्ती स्वर्ग आदि प्रशस्त पदोंपर पहुँचानेवाले कर्मपुद्गल पुण्य कहलाते हैं। ये कर्म पुद्गल जीवसे सम्बद्ध रहते हैं॥ ४८-४९॥

§ २१०. अब पाप और आस्रव तत्त्वका व्याख्यान करते हैं—

---

१. द्रव्यं छायान्धकारः घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत्। गतिमत्त्वाच्चासौ बाणादिमद्द्रव्यम्।" —न्यायकुमु० पृ० ६७१। २. -कारे परि-भ० २। "आतपः उष्णप्रकाशलक्षणः।" —त० वा० ५।२४। ३. "उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिविषयः।" —त० वा० ५।२४।

पापं तद्विपरीतं तु मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः ।
ये बन्धस्य स विज्ञेय आस्रवो जिनशासने ॥५०॥

§ २११. व्याख्या—तुभिन्नक्रमे, पापं तु तस्मात्पुण्याद्विपरीतम्—नरकादिफलनिर्वर्तकत्वादप्रशस्ता जीवसंबद्धाः कर्मपुद्गलाः पापमित्यर्थः ।

§ २१२. इह च वक्ष्यमाणबन्धतत्त्वान्तर्भूतयोरपि पुण्यपापयोः पृथग्निर्देशः पुण्यपापविषयनानाविधपरमतभेदनिरासार्थः । परमतानि चामूनि—[1]केषांचित्तीर्थिकानामयं प्रवादः पुण्यमेवैकमस्ति, न पापम् । अन्ये त्वाहुः [2]पापमेवैकमस्ति न पुण्यम् । अपरे तु वदन्ति उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपं मेचकमणिकल्पं सन्मिश्रसुखदुःखाख्यफलहेतुः साधारणं पुण्यपापाख्यमेकं वस्त्विति । अन्ये पुनराहुः । मूलतः कर्मैव नास्ति स्वभावसिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपञ्च इति तदेतानि निखिलानि मतानि न सम्यगिति मन्तव्यानि यतः सुखदुःखे विविक्ते एवोभे सर्वैरनुभूयेते, ततस्तत्कारणभूते पुण्यपापे अपि स्वतन्त्रे एवोभे अङ्गीकर्तव्ये, न पुनरेकतरं तदुभयं वा [3]तन्मिश्रमिति ।

§ २१३. अथ कर्माभाववादिनो नास्तिका वेदान्तिनश्च वदन्ति, ननु पुण्यपापे नभोऽम्भोजनिभे एव मन्तव्ये, न पुनः सद्भूते, [4]कुतः पुनस्तयोः फलभोगस्थाने स्वर्गनरकाविति चेत् ।

पुण्यसे विपरीत, अप्रशस्त कर्मपुद्गल पाप हैं । जिनशासनमें कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्व आदिको आस्रव कहते हैं, ऐसे विकारी भाव जिनसे कर्म आते हैं ॥ ५० ॥

§ २११. श्लोकमें 'तु' शब्द भिन्नान्वयी है । अतः इसका सम्बन्ध पाप शब्दके साथ लगा लेना चाहिए । पाप तो उस पुण्यसे ठीक उलटा होता है । नरक आदि अशुभ फलको देनेवाले अप्रशस्त कर्मपुद्गल पाप कहलाते हैं । ये पुद्गल भी जीवसे सम्बन्ध रखते हैं ।

§ २१२. यद्यपि आगे कहे जानेवाले बन्ध तत्त्वमें इन पुण्य और पापका अन्तर्भाव हो जाता है फिर भी प्रतिवादियों-द्वारा पुण्य और पापके विषयमें की गयी कल्पनाओंका निराकरण करनेके लिए उनका स्वतन्त्र निर्देश किया है । पुण्य-पापके विषयमें प्रतिवादी इस प्रकार कल्पनाएँ करते हैं—कोई अपनेको तीर्थंकर माननेवाले कहते हैं कि 'संसारमें पुण्य ही पुण्य है पापका तो नाम भी नहीं है, इस पाप शब्दको कोशसे निकाल देना चाहिए ।' तो दूसरे कहते हैं कि—'यह संसार पाप रूप ही है इसमें पुण्यका लेश भी नहीं है ।' सो तीसरे कहते हैं कि—'संसारमें पुण्य और पाप दोनों ही एक दूसरेसे मिले हुए हैं । जिस तरह मेचक मणिमें अनेकों रंगोंका मिश्रण रहता है उसी तरह पुण्य और पाप परस्परमें मिले हुए हैं । ये दुःखमिश्रित सुख तथा सुखमिश्रित दुःख रूप फलको देते हैं । अतः एक पुण्य-पाप रूप तीसरी ही मिश्रित वस्तु माननी चाहिए । तो चौथे पुण्य और पाप दोनोंका समूल उच्छेद करते हैं । वे कहते हैं कि—जगत्में पुण्य और पाप कुछ नहीं है । यह सारा जगत् स्वाभाविक है स्वतः सिद्ध है । ये सब मत प्रमाणविरुद्ध हैं, क्योंकि जब संसारमें सभी प्राणियोंको सुख और दुःखका भिन्न ही भिन्न अनुभव होता है तब उनके उत्पन्न करनेवाले पुण्य और पापको भी स्वतन्त्र तथा भिन्न ही भिन्न स्वीकार करना चाहिए, न तो पुण्य और पापमें-से किसी एकको माननेसे ही काम चल सकता है और न दोनोंको मिश्रित माननेसे ही ।

§ २१३. नास्तिक तथा वेदान्ती लोग पुण्य और पाप कर्मकी सत्ता नहीं मानते । उनका अभिप्राय यह है कि—जब पुण्य और पाप आकाशके फूलकी तरह असत् ही हैं वे किसी भी तरह सत् नहीं हैं तब उनके फल भोगनेके लिए स्वर्ग नरक आदि मानना कोरी निरर्थक कल्पना है । ये तो जीवोंको लुभाने तथा डरानेके लिए कुशल व्यक्तियोंके दिमागकी उपज हैं ।

---

१. इह वक्ष्य-म० २ । २. -चित्तीर्थिकाना-म० १, म० २, प० १, प० २, क० । ३. पापमेकम-म० २ । ४. -व्यहेतुः म० २ । ५. सन्मि-म० २ । ६. कुतस्तयोः म० २ ।

§ २१४. उच्यते, पुण्यपापयोरभावे सुखदुःखयोर्निर्हेतुकत्वादनुत्पाद एव स्यात्, स च प्रत्यक्षविरुद्धः, तथाहि—मनुजत्वे समानेऽपि दृश्यन्ते केचन[1] स्वामित्वमनुभवन्तो, अपरे पुनस्तत्प्रेष्यभावमाबिभ्राणाः, एके च लक्षकुक्षिभरयः, अन्ये तु स्तोकरकरीपूरणेऽप्यनिपुणाः, एके देवा इव निरन्तरं सरसविलाससुखशालिनः, इतरे पुनर्नारका इवोन्निद्रदुःखविद्राणचित्तवृत्तय इति। अतोऽनुभूयमानसुखदुःखनिबन्धने पुण्यपापे स्वीकर्तव्ये। तदङ्गीकरणे च विशिष्टयोस्तत्फलयोर्भोगस्थाने स्वर्गनरकावपि प्रतिपत्तव्यौ, अन्यथार्धजरतीयन्यायप्रसङ्गः[2] स्यात्। प्रयोगश्चात्र—सुखदुःखे कारणपूर्वके, कार्यत्वात्, अङ्कुरवत्। ये च तयोः कारणे, ते पुण्यपापे मन्तव्ये, यथाङ्कुरस्य बीजम्।

§ २१५. अथ नीलादिकं मूर्तं वस्तु यथा स्वप्रतिभासिज्ञानस्यामूर्तस्य कारणं भवति, तथान्नस्रक्चन्दनाङ्गनादिकं मूर्तं दृश्यमानमेव सुखस्यामूर्तस्य कारणं भविष्यति, अहिविषकण्टकादिकं च दुःखस्य। ततः किमदृष्टाभ्यां पुण्यपापाभ्यां परिकल्पिताभ्यां प्रयोजनमिति चेत्।

§ २१४. नास्तिकोंका यह कथन बिलकुल निराधार तथा अप्रामाणिक है; क्योंकि यदि संसारमें पुण्य और पाप कोई चीज ही न हों तो सुख और दुःखकी विचित्रताकी बात तो जाने दीजिए, सुख दुःख उत्पन्न ही नहीं हो सकेंगे। बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति न तो देखी ही गयी है और न सुनी ही। इस तरह पुण्य और पापके अभावमें जगत्से सुख-दुःखकी चर्चा ही उठ जायगी पर जगत्से सुख-दुःखका उठा देना तो सरासर आँखोंमें धूल झोंकना है। देखो, मनुष्य तो सभी हैं, पर एक तो राजा बने हुए हुक्म चलाते हैं दूसरे उनकी टहल चाकरी करते हैं। एक लखपती है जो लाखों मुखमरोंका भरण-पोषण करता है तो दूसरा बेचारा दिन-भर कठोर मेहनत करनेपर भी अपना पेट भी पूरी तरह नहीं भर पाता। एक देवोंकी तरह निरन्तर भोग-विलास करते हैं तो दूसरेकी दुःख दूर करनेकी चिन्तामें सैकड़ों रातें जागते हुए ही बीतती है, वे नारकियोंकी तरह दुःखकी दारुण ज्वालामें दिन-रात जलते हुए त्राहि-त्राहि पुकारते हैं। अतः सबको अनुभवमें आनेवाले सुख-दुःखका कारण पुण्य और पाप मानना ही चाहिए। जब पुण्य और पाप हैं तब तीव्र पुण्य और तीव्र पापके भोगनेके लिए सुखके विशिष्ट स्थान स्वर्ग तथा दुःखके विशिष्ट स्थान नरकको भी स्वीकार करना ही चाहिए। पुण्य-पापको मानकर भी स्वर्ग-नरकके माननेसे इनकार करना तो लाभमें शामिल तथा घाटेमें न्यारा होनेके समान है, यह तो स्पष्ट ही अर्धजरतीय न्याय है। जब कोई स्त्री बूढ़ी हो जाय तब उसके मुख आदि सुडौल अंगोंको तो चाहना तथा अन्य स्तन आदि शिथिल अवयवोंकी ओर देखना भी नहीं अर्धजरतीय न्याय कहलाता है। तात्पर्य यह कि जब पुण्य और पापके माने बिना काम चल ही नहीं सकता तब स्वर्ग और नरकको जो कि उनके ही भोगके स्थान हैं, तो पहले मानना होगा। प्रयोग—सुख और दुःख कारणसे उत्पन्न होते हैं क्योंकि ये अंकुरकी तरह कार्य हैं। जिस प्रकार अंकुरका कारण बीज होता है उसी तरह सुख-दुःखके बीज पुण्य और पाप हैं।

§ २१५. शंका—जिस तरह मूर्त नीलादि पदार्थ नीलादिको जाननेवाले अमूर्त नीलादि ज्ञानमें कारण होते हैं उसी तरह जब अन्न माला चन्दन स्त्री आदि सामने दिखाई देनेवाले मूर्त पदार्थ ही अमूर्त सुखमें तथा साँप विष काँटा आदि दुःखमें कारण होते हैं तब अदृष्ट—नहीं दिखाई देनेवाले पुण्य और पापकी कल्पना क्यों की जाय? क्योंकि पुण्य और पाप मानकर भी आखिर तो इन्हीं सुन्दरी आदि पदार्थोंसे ही काम पड़ता है, बिना इनके सुख-दुःखका भोग हो ही नहीं सकता।

१. केचित् स्वा—भ० २। २. न्यायस्य प्रश—भ० २। "तद्यथा—अर्धं जरत्याः कामयन्ते अर्धं नेति।" —पातं० महाभा० ४।१।७८। "मुखं न कामयन्ते अङ्गान्तरं तु कामयन्ते जरत्याः।" —महाभा० प्रदीप। "अर्धं मुखमात्रं जरत्याः वृद्धायाः कामयते नाङ्गानीति सोऽयमर्धजरतीन्यायः।" —ब्रह्मसू० शां० भा० रत्नप्रभा १।२।८।

§ २१६. तदयुक्तं, व्यभिचारात्, तथाहि—तुल्यान्नस्रगादिसाधनयोरपि[1] द्वयोः पुरुषयोः सुख-दुःखलक्षणे फले महान् भेदो दृश्यते । तुल्येऽपि ह्यन्नादिके भुक्ते कस्याप्यान्नाहो दृश्यते[2], अपरस्य तु रोगाद्युत्पत्तिः, अयं च फलभेदोऽवश्यमेव सकारणः, निःकारणत्वे नित्यं सत्त्वासत्त्वप्रसङ्गात् । यच्च तत्कारणं तददृष्टं पुण्यपापरूपं कर्मेति । तदुक्तम्—

"जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो न सो विणा हेउं ।
कज्जत्तणओ गोयम घडो व्व हेऊ अ सो कम्मं ॥१॥ [3]इति ।

§ २१७. अथवा कारणानुमानात्कार्यानुमानाच्चैवं पुण्यपापे गम्येते । तत्र कारणानुमान-मिदम्—दानादिशुभक्रियाणां हिंसादेश्चाशुभक्रियाणां चास्ति फलभूतं कार्यं, कारणत्वात्, कृष्यादिक्रिया-वत् । यच्चासां फलभूतं कार्यं तत्पुण्यं पापं चावगन्तव्यं, यथा कृष्यादिक्रियाणां शालि-यवगोधूमादिकम् ।

---

§ २१६. समाधान—स्त्री आदि पदार्थोंके सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें व्यभिचार देखा जाता है। देखो, दो व्यक्ति हैं, जिनके पास बराबर-बराबर अन्न माला चन्दन स्त्री आदि सुखके साधन मौजूद हैं, तो क्या आप समझते हैं कि दोनोंको एक सरीखा सुख हो रहा है। सामग्री एक बराबर होनेपर भी उनके सुख-दुःखमें मुहुर कौड़ी जितना अन्तर पाया जाता है। वही मिष्टान्न एक स्वस्थ व्यक्तिको आनन्द तथा पुष्टि देता है और वही दूसरे दुर्बल व्यक्तिको बदहजमी आदि रोगोंका कारण हो जाता है। वही वस्त्र वही माला तथा वही सुख भोगकी सामग्री कामीके लिए रागका कारण होती है तथा वही सामग्री मुमुक्षुको बन्धन रूप मालूम होती है। इस तरह तुल्य सामग्री होनेपर भी सुख-दुःख रूप फलमें यह जमीन और आसमान जितना अन्तर अवश्य ही किसी अन्य अदृष्ट कारणसे होता है। यदि यह निष्कारण हो तब या तो यह सदा होगा या बिलकुल ही नहीं होगा; परन्तु यह भेद कभी-कभी देखा जाता है अतः यह सकारण है निष्कारण नहीं। इस महान् भेदका कारण है अदृष्ट—पुण्य पाप रूपी कर्म। वही सामग्री पुण्यशालीको सुख देती है जब कि उसी सामग्रीसे पापी दुःख भोगता है। वही केशरिया दूध एक व्यक्तिको आनन्द देता है जब कि उसीके पीनेसे दूसरा बीमार होकर यमराजके घरका मेहमान तक भी बन जाता है। कहा भी है—"तुल्य सामग्रीवाले पुरुषोंके सुख-दुःखमें जो विशेषता देखी जाती है, अर्थात् वही सामग्री एकको अधिक सुख देती है और दूसरेको कम सुख या दुःख देती है यह विचित्रता बिना कारणके नहीं हो सकती, क्योंकि यह कार्य है, को गयी है, कभी-कभी होती है। हे गौतम, जिस तरह घड़ा बिना कारणके उत्पन्न नहीं होता उसी तरह यह समान सामग्रीवालोंके सुख-दुःखकी विचित्रता भी बिना कारणके नहीं हो सकती : इस विचित्रताका कारण है कर्म।" यदि ये दृश्य पदार्थ ही स्वयं सुख-दुःखके कारण होते हों तो फिर एक ही वस्तु एकको सुख तथा दूसरेको दुःख क्यों देती है? इस तरह इस संसारकी विचित्रता स्वयं ही अपने कारण पुण्य और पापको सिद्ध करती है।

§ २१७. अथवा कारण तथा कार्य हेतुसे पुण्य और पापकी सिद्धि करते हैं। दान देना, अहिंसा भाव रखना आदि शुभ क्रियाओंका तथा हिंसा आदि अशुभ क्रियाओंका फल अवश्य देता है क्योंकि ये कारण हैं। जिस प्रकार खेती आदि करनेका फल धान्य आदि मिलता है उसी तरह अहिंसा, दान और हिंसा आदि क्रियाओंका भी कुछ न कुछ अच्छा और बुरा फल मिलना ही चाहिए। इनका जो कुछ अच्छा और बुरा फल होता है वही पुण्य और पाप है। इनके सिवाय कोई दूसरा फल हो ही नहीं सकता।

---

१. -धनयोरपि पु०-म० २। २. -ते परस्य म० १, भ० २, प० १, प० २। ३. यस्तुल्यसाधनानां फले विशेषः न सो विना हेतुम् । कार्यत्वात् गौतम घट इव हेतु च तत् कर्म ॥

§ २१८. ननु यथा कृष्यादिक्रिया दृष्टशाल्यादिफलमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवन्ति, तथा दानादिकाः पशुहिंसादिकाश्च सर्वा अपि क्रियाः श्लाघादिना मांसभक्षणादिना च दृष्टफलमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवन्तु, किमदृष्टधर्माधर्मफलकल्पनेन। लोको हि प्रायेण सर्वोऽपि दृष्टमात्रफलास्वेव कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियासु प्रवर्तते, अदृष्टफलासु [1]पुनर्दानादिक्रियास्वत्यल्प एव लोकः प्रवर्तते न बहुः। ततश्च कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टफलाभावाद्दानादिशुभक्रियाणामप्यदृष्टफलाभावो भविष्यतीति चेत्। न, यत एव कृष्याद्यशुभक्रियासु दृष्टफलासु बहवः प्रवर्तन्ते, अदृष्टफलासु पुनर्दानादि-[2]शुभक्रियास्वत्यल्प एव लोकः प्रवर्तते, तत एव कृषिहिंसादिका दृष्टफलाः क्रिया अदृष्टपापरूपफला अपि प्रतिपत्तव्याः, अनन्तसंसारिजीवसत्तान्यथानुपपत्तेः।[3] ते हि कृषिहिंसादिक्रियानिमित्तमनभिलषितमप्यदृष्टं पापलक्षणं फलं बद्ध्वा अनन्तसंसारं परिभ्रमन्तोऽनन्ता इह लिप्सन्ति। यदि हि कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टं पापरूपं फलं नाभ्युपगम्यते तदा तत्कर्तारोऽदृष्टफलाभावान्मरणा-

§ २१८. शंका—जिस तरह खेती व्यापार आदिका फल यहींका यहीं धान या नफा आदि रूपसे मिल जाता है, प्रत्यक्ष ही जैसा बोते हैं वैसा ही काट लेते हैं, इनका कोई अदृष्ट—नहीं दिखाई देनेवाला परोक्ष फल नहीं होता, उसी तरह दान देनेका भी फल प्रशंसा, अखबारोंमें नाम छपना आदिके रूपमें तथा हिंसाका फल मांस भक्षण और उससे होनेवाली तृप्तिके रूपमें यहींका यहीं 'इस हाथ दे उस हाथ ले' के अनुसार मिल ही जाता है और यह उचित भी है, तब इनका एक अदृष्ट—परोक्ष आँखोंसे नहीं दिखाई देनेवाला पुण्य-पाप रूप फल क्यों माना जाय? संसारकी प्रवृत्ति भी साक्षात् तुरत फल देनेवाली क्रियाओंमें ही अधिक देखी जाती है। खेती व्यापार या शिकार खेलना आदिमें लोग इसीलिए अधिक प्रवृत्त होते हैं कि इनका फल लगे हाथ तुरन्त मिल जाता है। यही कारण है कि परलोकमें अदृष्ट फल देनेवाली दानादि क्रियाओंमें लोगोंकी प्रवृत्ति कम होती है। यहाँ तो नगदीकी दूकानदारी है उधारका धन्धा करना तो अपने हाथका पल्ला छोड़कर फिर उसे बुलानेके लिए कूर-कूर करनेके समान ही है। अतः जब खेती हिंसा आदि अशुभ क्रियाओंका कोई अदृष्ट पाप रूप फल नहीं है तब दान आदि शुभ क्रियाओंका भी अदृष्ट-पुण्य रूप फल क्यों माना जाय? यहीं जो कीर्ति आदि मिल जाती है वही दान आदिका साक्षात् फल है।

समाधान—आपके कहनेका तात्पर्य यही हुआ कि—'जिनका साक्षात् लगे हाथ फल मिल जाता है उन खेती हिंसा आदि अशुभ क्रियाओंमें लोगोंकी प्रवृत्ति अधिक होती है तथा दान आदि शुभ क्रियाओंमें कम' आपके इसी कथनसे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि—हिंसा आदि अशुभ क्रियाएँ पाप रूप अदृष्ट फलको देती हैं, नहीं तो इस संसारमें इतने पापी जीव कहाँसे आते? यह संसार चलता ही कैसे? इन्हींकी कृपा है कि आज संसारकी स्थिति बनी है। ये हिंसक लोग अपने सुखोपभोगके लिए दूसरोंका घात आदि करके ऐसे तीव्र पापका अनचाहा बन्ध करते हैं जिससे अनन्तकाय तक इसी संसारमें दुःख उठाते हुए नाना योनियोंमें परिभ्रमण करते फिरते हैं। यदि हिंसा आदि बुरे कार्योंका पाप नामका कोई अदृष्ट—परोक्ष फल न होता; तो ये हिंसक या बुरे कार्य करनेवाले इस लोकमें थोड़ा-बहुत मजामौज करके परलोकमें पापके न होनेसे अनायास ही मुक्तिको चले जायेंगे; तब यह संसार तो शून्य ही हो जायेगा। संसारमें कोई दुःखी ढूँढ़नेपर भी न मिलेगा; क्योंकि अशुभ क्रियाओंका पाप नामका फल तो होगा ही नहीं जिससे किसीको दुःख हो। फिर तो संसारमें दान आदि अच्छे कार्य करनेवाले कुछ इने-गिने लोग ही सदा सुख भोगते हुए मिलेंगे। परन्तु आप हिसाब लगाकर देखिए तो संसारमें दुःखी जीव ही बहुत अधिक हैं सुखी

---

१. —क्रियासु स्वल्प्य एव भ० २। २. —क्रियासु अल्पा एव लोकाः प्रवर्तन्ते तत् प० १, प० २। —क्रियासु स्वल्पा एव प्रवर्तन्ते भ० १। ३. तर्हि भ० २।

नन्तरमेव सर्वेऽप्ययत्नेन मुक्तिं गच्छेयुः । ततः प्रायः शून्य एव संसारः स्यात् ततश्च संसारे दुःखी कोऽपि नोपलभ्येत । दानादिशुभक्रियानुष्ठातारः शुभतत्फलविपाकानुभवितार एव केवलाः सर्वत्रोपलभ्येरन् । दुःखिनश्चात्र बहवो दृश्यन्ते सुखिनस्त्वल्पा[1] एव तेन ज्ञायते कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियाविबन्धनोऽदृष्टपापरूपफलविपाको दुःखिनां, इतरेषां तु दानादिक्रियाहेतुकोऽदृष्टधर्मरूपफलविपाक इति ।

§ २१९. व्यत्ययः कस्मान्न भवतीति चेत् । उच्यते, अशुभक्रियारम्भिणामेव[2] च बहुत्वात् शुभक्रियानुष्ठातॄणामेव च स्वल्पत्वादिति कारणानुमानम्[4] ।

§ २२०. अथ कार्यानुमानम्—जीवानामात्मत्वावशेषेऽपि नरपश्वादिषु देहादिवैचित्र्यस्य कारणमस्ति, कार्यत्वात्, यथा घटस्य "मृद्दण्डचक्रकोदकादिसामग्रीकलितः कुलालः । न च दृष्ट एव मातृ-पित्रादिकस्तस्य हेतुरिति वक्तव्यं, दृष्टहेतुसाम्येऽपि, सुरूपेतरादिभावेन देहादीनां वैचित्र्यदर्शनात्, तस्य चादृष्टशुभाशुभकर्मख्यहेतुमन्तरेणाभावात् । अत एव शुभदेहादीनां पुण्यकार्यत्वं, इतरेषां[6]

तो आटेमें नमकके बराबर गिने-चुने ही लोग होंगे । इसलिए यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इन दुःखी जीवोंने पूर्वजन्ममें कुछ ऐसे हिंसा आदि बुरे कार्य किये थे जिसके पापका फल आज इन्हें भुगतना पड़ रहा है और ये ही महानुभाव संसारमें अपना बहुमत सदा बनाये रखते हैं क्योंकि पापकी ओर ही प्रायः अधिक प्रवृत्ति देखी जाती है । इससे यह भी मालूम हो जाता है कि खेती व्यापार हिंसा आदिसे पापका बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप दुःख मिलता है तथा दान आदि शुभ कामोंसे पुण्यका बन्ध होकर उससे सुख मिलता है । ये संसारके थोड़े सुखी और अधिक दुःखी व्यक्ति ही पुण्य और पापकी सत्ता तथा उनकी न्यूनाधिकताके जीते-जागते प्रमाण हैं ।

§ २१९. शंका—दानादि अच्छे कामोंका बुरा फल और हिंसा आदि बुरे कार्योंका अच्छा फल क्यों नहीं मिलता ?

समाधान—यदि दान आदि अच्छे कार्योंका बुरा तथा हिंसा आदि बुरे कार्योंका अच्छा फल होता तो आज संसारमें सुखी ही सुखी प्राणी दिखाई देते क्योंकि हिंसा आदि बुरे कार्य करनेवाले ही संसारमें अधिक पाये जाते हैं तथा दान आदि शुभ कार्य करनेवाले तो बिरले ही हैं । पर संसारकी पापमय प्रवृत्तिको देखते हुए सुखियोंका कम और दुखियोंका अधिक पाया जाना ही इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि अच्छे कामोंका अच्छा तथा बुरे कार्योंका बुरा फल होता है । 'जैसी करनी तैसी भरनी' यह बात तो मूर्ख ग्वाले भी जानते हैं ।

§ २२०. अब कार्यानुमान बताया जाता है—यद्यपि सभी जीवोंमें आत्मा तो एक सी है परन्तु कोई नरकमें पैदा होता है, किसीको पशुकी देह मिलती है तो कोई मनुष्यका चोला धारण करता है; उनमें भी कोई सुन्दर सुहावना लगता है तो कोई भद्दा बेडौल—कुरूप होता है । ये सब विचित्र शरीर किसी न किसी कारणसे ही मिलते हैं क्योंकि ये कार्य हैं । जिस तरह अनेक छोटे-बड़े चपटे आदि घड़ोंमें मिट्टी चाक डण्डा तथा कुम्हार कारण होते हैं उसी तरह इन विचित्र-विचित्र देहोंकी प्राप्तिमें कोई न कोई छिपा हुआ अदृष्ट कारण अवश्य है । प्रत्यक्ष मौजूद माता-पिताको तो इस विचित्रतामें कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सुन्दर माँ बापके कुरूप लड़के, कुरूप माँ-बापके सुन्दर लड़के, तथा उन्हीं माँ-बापके कभी सुन्दर और कभी कुरूप बाल-बच्चे पैदा होते हैं । अतः माँ-बाप आदि दृष्ट कारणोंकी समानता होनेपर भी जिस छिपे हुए अदृष्ट—कारणसे अच्छे और बुरे शरीर प्राप्त होते हैं वही तो पुण्य-पाप है । इसलिए अच्छा—स्वस्थ सुडौल

१. दुःखितश्चात्र म० १, प० १, प० २ । दुःखिताश्चात्र म० २ । २. –ल्पाः तेन आ०, क०, म० १, प० १, प० २ । ३. –मेव बहु– म० २ । ४. –मानं जीवाना– आ० । ५. मृत्पिण्डचक्र– म० २ । ६. मातापितादि– आ०, क० । ७. –णां पाप– म० २ ।

तु पापकार्यत्वमिति कार्यानुमानम्। सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद्वा पुण्यपापयोरुभयोः सत्ता प्रतिपत्तव्या। विशेषार्थिना तु विशेषावश्यकटीकावलोकनीयेति।

§ २२१. अथास्रवमाह। 'मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः' इत्यादि। असद्देवगुरुधर्मेषु सद्देवादिबुद्धि-मिथ्यात्वम्। हिंसाद्यनिवृत्तिरविरतिः। प्रमादो मद्यविषयादिः। कषायाः क्रोधादयः। योगा मनो-वाक्कायव्यापाराः। अत्रैवमक्षरघटना। मिथ्यात्वाविरत्यादिकाः पुनर्बन्धस्य ज्ञानावरणीयादिकर्म-बन्धस्य[1] ये हेतवः, स आस्रवो जिनशासने विज्ञेयः। आस्रवति कर्म एभ्यः स आस्रवः। ततो मिथ्यात्वादिविषयाः[2] मनोवाक्कायव्यापारा एव शुभाशुभकर्मबन्धहेतुत्वादास्रव इत्यर्थः।

§ २२२. अथ बन्धाभावे कथमास्रवस्योपपत्तिः, आस्रवात् प्राग्बन्धसद्भावे वा न तस्य बन्ध-हेतुता, प्रागपि बन्धस्य सद्भावात्। न हि यद्यद्धेतुकं तत्तदभावेऽपि भवति, अतिप्रसङ्गात्।

§ २२३. असदेतत्, यत आस्रवस्य पूर्वबन्धापेक्षया कार्यत्वमिष्यते, उत्तरबन्धापेक्षया च कारणत्वम्। एवं बन्धस्यापि पूर्वोत्तरास्रवापेक्षया कार्यत्वं कारणत्वं च ज्ञातव्यं, बीजाङ्कुरयोरिव

सुहावना निरोग शरीर पुण्यके उदयसे मिलता है तथा भद्दा काना लूला लँगड़ा कुरूप शरीर पापका कार्य है। इस तरह इन शरीरोंकी विचित्रता रूपी कार्यसे भी पुण्य और पापका अनुमान होता है। सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगममें इनका प्रतिपादन होनेसे आगमके द्वारा भी इनकी सत्ता निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो जाती है। इन पुण्य और पाप सम्बन्धी विशेष चर्चा विशेषावश्यक भाष्यकी टीकामें देखनी चाहिए।

§ २२१. मिथ्यात्व आदि बन्धके कारणोंको आस्रव कहते हैं। कुदेव कुगुरु तथा कुधर्मको सच्चा देव, सच्चा गुरु तथा सच्चा धर्म मानना मिथ्यात्व है। असत्में सत् बुद्धि करना ही मिथ्यात्व है। हिंसा आदि पाप कार्योंसे विरक्त न होना उनमें लगे रहना अविरति है। शराब पीना और विषय आदि सेवन करनेसे जो अच्छे कार्योंमें अनादरका भाव होता है वह प्रमाद है। क्रोध मान माया और लोभ, जो आत्माके शान्त स्वरूप को कस देते हैं—उस स्वरूपको बिगाड़ देते हैं वे कषाय हैं। मन वचन और शरीरके व्यापारको योग कहते हैं। मिथ्यात्व और अविरति आदिको जिनसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंका बन्ध होता है, जिनशासनमें आस्रव कहते हैं। जिन भावों या क्रियाओं से कर्म आते हैं (आ—समन्तात् चारों तरफसे स्रवति—कर्मोंका टपकना) उन्हें आस्रव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि—मिथ्यात्व अविरति आदि रूपमें जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति होती है, और जिनसे शुभ और अशुभ कर्म आते हैं उसे आस्रव कहते हैं।

§ २२२. **शंका**—जबतक आत्माके साथ कर्मोंका बन्ध नहीं होगा तबतक उसमें मिथ्यात्व आदि बुरे भाव ही उत्पन्न नहीं होंगे। और जब बुरे भाव और बुरी क्रियाएँ ही नहीं हैं तब कर्मोंका आस्रव—आना किस जरियेसे होगा? यदि आत्मामें पहलेसे ही कर्म बन्ध मौजूद है तब आस्रव निरर्थक ही है वह बन्धमें कारण नहीं हो सकेगा; क्योंकि बन्ध तो आस्रवसे पहले ही आत्मामें मौजूद है। जो जिसके अभावमें हो जाती है उसमें उस वस्तुको कारण नहीं कह सकते। जब आस्रव था ही नहीं और बन्ध पहले ही हो चुका तब आस्रवको बन्धके प्रति कारण कैसे कहा जा सकता है? जब आस्रव है ही नहीं तब बन्ध किसका? जो चीज आयी ही नहीं उसका सम्बन्ध कहना तो निरी मूर्खता ही है।

§ २२३. **समाधान**—आज जिन भावोंसे कर्मोंका आस्रव हो रहा है वे भाव पहले बँधे हुए कर्मोंके उदयसे हुए हैं, अतः आजका आस्रव पूर्वबन्धका तो कार्य है तथा आगे होनेवाले कर्मबन्धका कारण है। इसी तरह बन्ध पूर्व आस्रवका कार्य तथा उत्तर आस्रवमें कारण होता है। जिस प्रकार जिस बीजको आज बोते हैं वह पहलेके वृक्षका तो कार्य है और आगे ऊँगनेवाले अंकुरका कारण

१. -स्या हे-भ० २। २. विषयमनोवाक्कायव्यापार एव भ० २।

बन्धास्रवयोरन्योन्यं कार्यकारणभावनियमात् ।

§ २२४. **न चैवमितरेतराश्रयदोषः, प्रवाहापेक्षयानादित्वात् ।**

§ २२५. **अयं चास्रवः [1]पुण्यापुण्यबन्धहेतुतया द्विविधः । द्विविधोऽप्ययं मिथ्यात्वाद्युत्तरभेदापेक्षयोत्कर्षापकर्षभेदापेक्षया वानेकप्रकारः ।**

§ २२६. **अस्य [3]च शुभाशुभमनोवाक्कायव्यापाररूपस्यास्रवस्य सिद्धिः स्वात्मनि स्वसंवेदनाद्यध्यक्षतः, परस्मिंश्च वाक्कायव्यापारस्य कस्यचित्प्रत्यक्षतः, शेषस्य च तत्कार्यप्रभवानुमानतश्चावसेया, आगमाच्च ॥ ५० ॥**

§ २२७. **अथ संवरबन्धौ विवृणोति ।**

संवरस्तन्निरोधस्तु बन्धो जीवस्य कर्मणः ।
अन्योऽन्यानुगमात्मा तु यः संबन्धो द्वयोरपि ॥५१॥

§ २२८. **व्याख्या—तेषां–मिथ्यात्वाविरति[4]प्रमादकषाययोगानामास्रवाणां[5] सम्यग्दर्शन-**

होता है, उसी तरह आस्रव और बन्धमें बीज और अंकुरके समान ही परस्परमें कार्य-कारण भाव मौजूद है ।

§ २२४. **शंका**—यदि आस्रव बन्धसे उत्पन्न होता है तथा बन्ध आस्रवसे तो अन्योन्याश्रय दोष होनेसे एककी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

समाधान—यदि उसी आस्रवको बन्धका हेतु तथा उसी बन्धका ही कार्य मानते तो इतरेतराश्रय होता । परन्तु हम तो आस्रव और बन्धका प्रवाह अनादि मानते हैं । अनादिकालसे पूर्व बन्धसे आस्रव तथा उससे उत्तर बन्ध होता चला आया है । जिस तरह आजका बीज पूर्व वृक्षसे, वह वृक्ष पूर्व बीजसे इस तरह अनादि परम्परा चलती है उसी तरह आजका आस्रव पूर्वबन्धसे, वह पूर्व आस्रवसे, वह तत्पूर्व बन्धसे इस तरह आस्रव और बन्धको अनादिकालसे अविच्छिन्न धारा चली आती है ।

§ २२५. यह आस्रव पुण्य बन्धमें कारण होनेसे पुण्यास्रव तथा पाप बन्धमें कारण होनेसे पापास्रव कहलाता है । ये दोनों ही पुण्यास्रव और पापास्रव मिथ्यात्व आदिकी तीव्रता मन्दता आदिके भेदोंसे अनेक प्रकारके होते हैं । इस तरह शुभ और अशुभ रूपसे होनेवाले मन वचन कायकी प्रवृत्ति ही आस्रव है ।

§ २२६. यह आस्रव अपनी आत्मामें तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही अनुभवमें आता है । दूसरेकी आत्माकी कुछ शारीरिक वाचनिक प्रवृत्तियाँ तो प्रत्यक्षसे ही जानी जाती हैं तथा कुछ मानसिक प्रवृत्तियां तदनुकूल कार्योंसे अनुमित होती हैं । मनके भाव भी चेहरेकी प्रसन्नता आदिसे जान लिये जाते हैं । आगमसे भी दूसरेकी आत्माकी तथा अपनी आत्माकी प्रवृत्तियोंका यथावत् परिज्ञान होता है । अतः आगम भी आस्रवतत्त्वकी सत्ता सिद्ध करता है ॥ ५० ॥

§ २२७. अब संवर और बन्धका व्याख्यान करते हैं—

आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं । जीव और कर्मका एकमेक होकर मिल जाना, दोनोंका परस्पर-अनुप्रवेश रूप सम्बन्ध बन्ध कहलाता है ॥ ५१ ॥

§ २२८. मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योगरूप कर्मके आनेके द्वारोंको सम्यग्दर्शन

---

१. –पुण्यहेतु– म० २ । २. –शया चाने–म० २ । ३. वा म० २ । ४. –ति कषा–म० १, म० २, प० १, प० २, क० । ५. "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः ।" —त० सू० ८।१ ।

विरतिप्रमादपरिहारक्षमादिगुप्तित्रयधर्मानुप्रेक्षाभिर्निरोधो—निवारणं स्थगनं संवरः[2], पर्यायकथनेन व्याख्या। आत्मनः कर्मोपादानहेतुभूतपरिणामाभावैः संवर इत्यभिप्रायः।

§ २२९. स च देशसर्वभेदाद् द्वेधा। तत्र बादरसूक्ष्मयोगनिरोधकाले सर्वसंवरः। शेषकाले चरणप्रतिपत्तेरारभ्य देशसंवरः।

§ २३०. अथ बन्धतत्त्वमाह—'बन्धो जीवस्य कर्मणः' इत्यादि। तत्र बन्धनं बन्धः—परस्पराश्लेषो जीवप्रदेशपुद्गलानां क्षीरनीरवत्, अथवा बध्यते येनात्मा पारतन्त्र्यमापद्यते ज्ञानावरणादिना [4]स बन्धः—पुद्गलपरिणामः।

§ २३१. ननु जीवकर्मणोः संबन्धः किं [5]गोष्ठामाहिलपरिकल्पितकञ्चुकसंयोगकल्प उतान्यः कश्चिदित्याशङ्क्याह 'द्वयोरपि' कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धानां जीवस्य चान्योन्यानुगमात्मा—अन्योन्यानुगतिस्वरूपः परस्परानुप्रवेशरूप इत्यर्थः। अयमत्र भावः—वह्न्यय:पिण्डसंबन्धवत् क्षीरोदकसंपर्कवद्वा जीवकर्मणोर्मिथोऽनुप्रवेशात्मक एव संबन्धो बन्धो[6] बोद्धव्यो न पुनः कञ्चुकिकञ्चुकसंयोगकल्पोऽन्यो वेति।

§ २३२. अत्राह—कथममूर्तस्यात्मनो हस्ताद्यसंभवे सत्यादानशक्तिविरहात् कर्मग्रहणमुच्यत इति चेत्।

व्रत, अप्रमादपरिणति, क्षमादिधर्म मन वचन कायके व्यापारोंका निरोध तथा संसारकी अनित्यता आदिका सतत चिन्तवन रूप धर्मानुप्रेक्षा आदि उपायोंसे बन्द कर देना संवर है। आस्रवोंका निरोध निवारण या स्थगन ही संवर है। तात्पर्य यह कि जिन भावोंसे कर्म आते हैं उनके आत्मामें उत्पन्न न होने देना ही संवर है।

§ २२९. सर्वसंवर और देशसंवरके भेदसे संवर दो प्रकारका है। जिस समय मन वचन कायके स्थूल और सूक्ष्म दोनों व्यापारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है उस समय अयोगि—योगरहित गुणस्थानमें सर्वसंवर होता है। इसके पहले मन वचन कायकी संयत प्रवृत्ति रूप चारित्रसे देशसंवर होता है।

§ २३०. जीवके प्रदेश और कर्म पुद्गलोंके दूध पानीकी तरह परस्पर मिलनेको—एक दूसरेसे बँधनेको बन्ध कहते हैं। अथवा जिस ज्ञानावरण आदिके द्वारा आत्मामें परतन्त्रता होती है उस कर्मपुद्गलके परिणमनको बन्ध कहते हैं।

§ २३१. शंका—क्या जिस प्रकार गोष्ठामाहिलने जीव और कर्मके सम्बन्धको शरीरपर पहिनी हुई चोली या साँपके शरीरपर लिपटी हुई काँचलीकी तरह माना है उसी प्रकारसे कर्मबन्ध होता है अथवा और किसी प्रकारसे ?

समाधान—जीव और कर्म बननेके योग्य पुद्गल स्कन्धोंका परस्पर-अनुप्रवेश, एकका दूसरेमें घुस जाना एकमेक हो जाना ही बन्ध है। जिस तरह अग्नि और लोहेके गोलेका एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है या दूध और पानी मिलकर एकरस हो जाते हैं उसी तरह जीव और कर्म आपसमें मिलकर एक जैसे हो जाते हैं, यही उनका परस्परानुप्रवेश बन्ध कहलाता है। शरीर और चोली या साँप और काँचली जैसा साधारण सम्बन्ध नहीं है कि जिसे जोरकी हवा ही फाड़कर अलग फेंक दे। और न इसी तरहका कोई अन्य प्रकारका ही सम्बन्ध माना जा सकता है। आत्मा और कर्मपुद्गल बन्धके समय एक जैसे हो जाते हैं एक दूसरेमें घुल-मिल जाते हैं।

§ २३२. शंका—आत्मा तो अमूर्त है। अतः जब उसके हाथ ही नहीं हैं तब वह कर्मोंको

---

१. "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।" —त० सू० ९।२। २. "आस्रवनिरोधः संवरः।" —त० सू० ९।१। ३. -भाव इत्यभि- म० २। ४. संबन्धः म० १, प० १, प० २। ५. गोष्ठामाहिलाख्यो निह्नवः। ६. संबन्धो बोद्ध- म० २।

§ २३३. उच्यते; इयमेव तावदस्थानारेकाप्रक्रिया भवतोऽनभिज्ञतां ज्ञापयति, यतः केनामूर्तताभ्युपेतात्मनः । कर्मजीवसंबन्धस्यानादित्वादेकत्वपरिणामे सति क्षीरोदकवन्मूर्त एव कर्मग्रहणे व्याप्रियते, न च हस्तादिव्यापारावेद्यं कर्म, किंतु पौद्गलमपि स्वध्यवसायविशेषाद्रागद्वेषमोहपरिणामाभ्यञ्जनलक्षणादात्मनः कर्मयोग्यपुद्गलजालश्लेषणभावानं स्नेहाभ्यक्तवपुषो रजोलगनवदिति । प्रतिप्रदेशानन्तपरमाणुसंश्लेषाज्जीवस्य कर्मणा सह लोलीभावात्कथंचिन्मूर्त्तत्वमपि संसारावस्थायामभ्युपगम्यत एव स्याद्वादवादिभिरिति ।

§ २३४. स च प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद् द्वेधा । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाश्च[1] चतुर्धा । प्रकृतिः—स्वभावो यथा ज्ञानावरणं ज्ञानाच्छादनस्वभावमित्यादि । स्थितिः—अध्यवसायकृतः कालविभागः । अनुभागो—रसः । प्रदेशः—कर्मदलसंचय इति । पुनरपि मूलप्रकृतिभेदादष्टधा[2] ज्ञानावरणादिकः । [3]उत्तरप्रकृतिभेदाश्चतुःपञ्चाशदधिकशतभेदः । सोऽपि तीव्रतीव्रतरमन्दमन्दतरादिभेदादनेकविध इत्यादि कर्मग्रन्थादवसेयम्[4] । उक्तं बन्धतत्त्वम् ।

कैसे ग्रहण कर सकता है ? ग्रहण करनेकी शक्ति तो हाथवालोंके होती है ।

§ २३३. **समाधान**—इसी प्रकारकी वेमौकेकी भद्दी शंकाएँ आपकी मूर्खताका खुला प्रदर्शन कर देती हैं । आत्माको सर्वथा अमूर्त मानना ही कौन है ? कर्म और जीवोंका अनादिकालीन सम्बन्ध होनेसे दूधमें मिला हुआ पानी जिस प्रकार दूध जैसा ही हो जाता है उसी तरह यह आत्मा भी मूर्त हो रहा है । और यही कर्मशरीरवाली मूर्त आत्मा नये कर्मोंको अपनी ओर खींचकर उन्हें उसी कर्मशरीरसे चिपटा लेती है । कर्म हाथसे उठानेकी स्थूल चीज नहीं हैं । ये तो पुद्गलोंके अत्यन्त सूक्ष्म भाग हैं । जब आत्मामें राग द्वेष मोह या अन्य विकारी भावोंकी चिकनाई आती है तभी यह पुद्गल कर्मोंकी अत्यन्त बारीक धूल उसपर आकर जम जाती है । जिस प्रकार तेल लगे हुए शरीरपर धूल स्वभावतः ही आकर जम जाती है और मैलका रूप धारण कर हवासे उड़ने लायक नहीं रहती उसी तरह राग-द्वेष आदि चिकनाईसे जमे हुए कर्म प्रायः अपना फल दिये बिना नहीं झड़ते । कर्मके योग्य पुद्गल धूलिको चिपकानेमें कारणभूत चिकनाईका होना तथा उससे कारण कर्मोंका चिपकना ही उनका ग्रहण करना है । इस तरह संसारी अवस्थामें आत्माके प्रत्येक प्रदेशसे कर्मोंके अनन्त परमाणुओंका एक लोली-भाव—बिलकुल घुलमिलकर सम्बन्ध हो रहा है इसीलिए स्याद्वादी जैन आत्माको कथंचित् मूर्त भी स्वीकार करते हैं ।

§ २३४. बन्ध शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है । इसके चार भेद भी हैं—१ प्रकृति बन्ध, २ स्थितिबन्ध, ३ अनुभाग बन्ध, ४ प्रदेश बन्ध । प्रकृति—स्वभाव, जैसे ज्ञानावरणका स्वभाव है ज्ञानको ढँकना, प्रकट नहीं होने देना । स्थिति—अपने कषाय रूप परिणामोंके अनुसार कर्मको ठहरनेकी मर्यादा । अनुभाग—रस तीव्र मन्द या मध्यम रूपसे फल देनेकी शक्ति । प्रदेश—कर्मके परमाणुओंका संचित होना । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र रूप मूल प्रकृतियोंके भेदसे आठ प्रकारका है । इनकी उत्तर प्रकृतियाँ तो एक सौ अट्ठावन १५८ होती हैं । इनके भी तीव्र तीव्रतर मन्द मन्दतर आदि तारतम्यसे होनेवाले अनेकों भेद हैं । इन भेदोंका विशद और विस्तृत वर्णन कर्म ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिए । बन्ध तत्त्वका कथन हो चुका ।

---

१. च चतुर्विधा आ०, क० । –श्चतुर्धा भ० २ । "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।" —त० सू० ८।३ । २. "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।" —त० सू० ८।४ । ३. "पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।" —त० सू० ८।५ । ४. –र्यमिति भ० २ ।

§ २३५. निर्जरातत्त्वमाह—

बद्धस्य कर्मणः साटो यस्तु सा निर्जरा मता ।
आत्यन्तिको वियोगस्तु, देहादेर्मोक्ष उच्यते ॥५२॥

§ २३६. व्याख्या—**यस्तु बद्धस्य—जीवेन संबद्धस्य कर्मणो—ज्ञानावरणादेः साटः—सटनं द्वादशविधेन तपसा विघटनं सा निर्जरा मता संमता । सा च द्विधा, सकामाकामभेदात् । तत्राद्या चारित्रिणां दुष्करतरतपश्चरणकायोत्सर्गकरणद्वाविंशतिपरीषहपरिषहणपराणां[1] लोचादिकाय-क्लेशकारिणामष्टादशशीलाङ्गधारिणां बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहपरिहारिणां निःप्रतिकर्मशरीरिणां भवति । द्वितीया त्वन्यशरीरिणां [2]तीव्रतरशारीरमानसानेककटुकदुःखशतसहस्रसहनतो भवति ।**

§ २३७. **अथोत्तरार्धेन मोक्षतत्त्वमाह—'आत्यन्तिकः' इत्यादि । देहादेः—शरीरपञ्चकेन्द्रि-यायुरादिबाह्यप्राणपुण्यापुण्यवर्णगन्धरसस्पर्शपुनर्जन्मग्रहणवेदत्रयकषायादिसङ्गज्ञानासिद्धत्वादेरा-त्यन्तिको वियोगो विरहः पुनर्मोक्ष इष्यते । यो हि शश्वद्भवति न पुनः कदाचिन्न भवति, स आत्यन्तिकः ।**

---

§ २३५. अब निर्जरातत्त्वका कथन करते हैं—

बँधे हुए कर्मोंके साट—झड़नेको निर्जरा कहते हैं । कर्मोंका अत्यन्त वियोग होनेपर शरीर आदिसे भी सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष कहलाता है ॥ ५२ ॥

§ २३६. जीवसे चिपटे हुए ज्ञानावरण आदि कर्मोंको बारह प्रकारके तप या अन्य धर्म आदि उपायोंसे उचटाना—झड़ा देना निर्जरा कहलाती है । यह निर्जरा सकाम और अकामके भेदसे दो प्रकारकी है । 'कर्मोंको झड़ा देनेकी इच्छासे जो साधु दुष्कर तप तपते हैं, रात्रिमें श्मशान आदि भयावने स्थानोंमें खड़े होकर ध्यान करते हैं, भूख प्यास सरदी गरमी आदिकी बाईस परीषह—बाधाएँ सहते हैं, बालोंको लोंचते हैं, अठारह प्रकारके शीलोंको धारण कर पूर्ण ब्रह्मचर्य-का पालन करते हैं, बाह्य स्त्री-पुत्रादि तथा आभ्यन्तर राग-द्वेष मोहादि सभी परिग्रहोंका त्याग करते हैं, जिन्हें अपने शरीरसे भी मोह नहीं है उन उग्रतपश्चरण करनेवाले देहका अनेक उपायों-से दमन करनेवाले साधुओंके सकाम—इच्छापूर्वक की जानेवाली—निर्जरा होती है । ये साधु कर्मोंको जान-बूझकर एक-एकको ढूँढ़-ढूँढ़कर झड़ा देते हैं । यही निर्जरा वस्तुतः कार्यकारिणी एवं पुरुषार्थसे होनेवाली है । जो शान्त परिणामी व्यक्ति कर्मोंके उदयसे होनेवाले लाखों प्रकारसे तीव्र शारीरिक तथा मानसिक दुःखोंको सातासे भोग लेते हैं उनके अकाम—(आये हुए कर्मोंको सहना न कि उन्हें झड़ानेकी इच्छासे छेड़खान करना) निर्जरा होती है । सकाम निर्जरामें कर्मोंको जबरदस्ती पकड़-पकड़कर उदयमें लाकर रुखसत किया जाता है उन्हें खारिज किया जाता है जब कि अकामनिर्जरामें कर्म अपने आप समय पर पेन्शन ले लेते हैं, रिटायर्ड हो जाते हैं ।

§ २३७. शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ, आयु आदि बाह्य प्राण, पुण्य, पाप, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श; फिरसे शरीर ग्रहण, स्त्री-पुरुष और नपुंसक वेद, कषाय आदि परिग्रह, अज्ञान तथा असिद्धत्व आदिका आत्यन्तिक वियोग होना ही मोक्ष है । इन देहादिका एक बार नष्ट होकर फिरसे उत्पन्न नहीं होना ही आत्यन्तिक नाश है । इनका इस प्रकारका नाश हो कि वह नाश सदा बना रहे-अनन्तकाल तक वह नाश जैसाका तैसा रहे । ये देह आदि उत्पन्न होकर उस नाशका अभाव न कर सकें । नाशके इस सदा स्थायित्वको ही आत्यन्तिक कहते हैं ।

---

१. –परिषहपराणां आ०, क० । २. –शरीरमा–आ०, क०, प० १, प० २ ।

§ २३८. अत्र पर आह, ननु भवतु देहस्याप्यन्तिको वियोगः तस्य सादित्वात्, परं रागादिभिः सहात्यन्तिको वियोगोऽसंभवी प्रमाणबाधनात् । प्रमाणं चेदम्–यदनादिमत् न तद्विनाशमाविशति यथाकाशम् । अनादिश्चात्मा रागादिश्च इति वेद ।

§ २३९. उच्यते, यद्यपि रागादयो दोषा जन्तोरनादिमन्तः—तथापि कस्यचिद्यथावस्थितस्त्रीशरीरादिवस्तुतत्त्वावगमेन तेषां रागादीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते । ततः संभाव्यते विशिष्टकालादिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षतो निर्मूलमपि क्षयः, निर्मूलक्षयानभ्युपगमेऽपचयस्याप्यसिद्धेः । यथा हि—शीतस्पर्शसंपाद्या रोमहर्षादयः शीतप्रतिपक्षस्य वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धा उत्कर्षे च निरन्वयविनाशिनः । एवमन्यत्रापि मन्दतासद्भावे निरन्वयविनाशोऽवश्यमेष्टव्यः ।

§ २४०. अथ यथा ज्ञानावरणीयकर्मोदये ज्ञानस्य मन्दता भवति तत्प्रकर्षे च ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः, एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागादीनामत्यन्तमुच्छेदो भविष्यतीति ।

---

§ २३८. **शंका**—देह तो उत्पन्न होता है, सादि है अतः मोक्ष अवस्थामें उसके नाशकी बात तो समझमें आती है; क्योंकि जो बीज उत्पन्न होता है उसका एक न एक दिन नाश होना ही है । पर राग आदि अनादिकालीन वासनाओंका अत्यन्त विनाश बुद्धिगम्य नहीं है । अनादि वस्तुका विनाश तो प्रमाणसे बाधित है । जो अनादि होते हैं, जो कभी उत्पन्न नहीं हुए उनका नाश नहीं होता जैसे कि अनादि कालसे बराबर चले आनेवाले आकाशका । ये रागादिभाव भी आत्मामें अनादिकालसे ही रहते हैं । अतः इन पुश्तैनी चीजोंका नाश करना न तो युक्तिसंगत है और न उचित ही ।

§ २३९. **समाधान**—यद्यपि रागादि दोष अनादि कालसे इस आत्माके साथ-सम्बन्धी हो रहे हैं फिर भी प्रतिपक्षी—विरागी भावनाओंसे इनका नाश होता ही है । देखो, कोई स्त्रीमें अत्यन्त आसक्त कामी व्यक्ति जब स्त्रीके शरीरको वास्तविक रूपमें मल मूत्र माँस हड्डी रक्त आदिका एक लोथड़ा ही समझ लेता है तब उसके रागका स्रोत इतना सूख जाता है कि वह उस स्त्रीको एक क्षण भी आँख भरकर देखना नहीं चाहता । जब हम प्रतिपक्षी भावनाओंसे राग आदिका क्रमशः कम होना देखते हैं तब विशिष्ट समय आदि सामग्रीके मिलने पर प्रतिपक्षी—विरागी भावनाओंकी पूरी बढ़ती होनेसे अवश्य ही रागादिका समूल उच्छेद हो सकता है । यदि प्रतिपक्षी भावनाएँ अपनी आखिरी हद पर पहुँचकर भी रागको बिलकुल समूल नष्ट नहीं कर सकतीं तो उनसे रागकी कमती न्यूनता भी नहीं होनी चाहिए । जिस प्रकार कड़ी सरदीसे ठिठुरकर शरीरमें होनेवाले रोमांच शीतकी विरोधी आगके मन्द रूपसे सुलगनेपर कम हो जाते हैं तथा खूब धधककर जल उठने पर समूल नष्ट हो जाते हैं इसी तरह जब विरागी भावनाओंकी तीव्र ध्यानाग्नि पूरी तरह जल उठेगी तब राग आदिकी नमी—गीलापन भी आत्मासे बिलकुल उड़ जायगी । इस तरह अनादिकालीन रागादि भी प्रबल विपक्षीके मिल जाने पर अत्यन्त नष्ट हो जाते हैं ।

§ २४०. **शंका**—जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदय होने पर ज्ञानमें मन्दता तो होती है परन्तु ज्ञानावरणका कितना ही तीव्र उदय क्यों न हो, पर उससे ज्ञानका समूल नाश तो न होता ही है और न आप ही मानते हैं उसी तरह विरागी भावनाओंसे क्रमशः मन्द पड़नेवाले भी रागको उन भावनाओंकी हदसे भी ज्यादा बाढ़ समूल नष्ट नहीं कर सकेगी । कुछ न कुछ रागांश बच ही जायगा ।

---

१. –गो न संभवी म० २ । २. इत्युच्यते आ०, क०, म० १, प० १, प० २ । ३. –स्य च व–आ०, क० । ४. –प्यमन्दता–आ०, क० । ५. –ना निरन्वयविनाशोऽवश्यमेव द्रष्टव्यः म० २ । ६. –मुच्छेदो म० २ ।

§ २४१. तदयुक्तम्; द्विविधं हि बाध्यं, सहभूस्वभावं सहकारिसंपाद्यस्वभावं च। तत्र यत्सहभूस्वभावं, तन्न बाधकोत्कर्षे कदाचिदपि निरन्वयं विनाशमाविशति। ज्ञानं आत्मनः सहभूस्वभावम्। आत्मा च परिणामिनित्यः, ततोऽत्यन्तप्रकर्षवत्यपि ज्ञानावरणीयकर्मोदये ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः। रागाद्यस्तु लोभादिकर्मविपाकोदयसंपादितसत्ताकाः, ततः कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति। प्रयोगश्चात्र—ये सहकारिसंपाद्या यदुपघातापकर्षिणः ते तदत्यन्तवृद्धौ [1]निरन्वयविनाशधर्माणः, यथा रोमहर्षादयो वह्निवृद्धौ। भावनोपघातापकर्षिणश्च सहकारिकर्मसंपाद्या रागादय इति। अत्र 'सहकारिसंपाद्या'। इति विशेषणं सहभूस्वभावज्ञानादिव्यवच्छेदार्थम्। यदपि च प्रागुपन्यस्तं प्रमाणं 'यदनादिमत्, न तद्विनाशमाविशति' इति, तदप्यप्रमाणम् प्रागभावेन हेतोर्व्यभिचारात्। प्रागभावो ह्यनादिमानपि विनाशमाविशति, अन्यथा [2]कार्यानुत्पत्तेः। काञ्चनोपलयोः संयोगेन च हेतुरनैकान्तिकः। तत्संयोगोऽपि ह्यनादिसंततिगतोऽपि क्षारमृत्पुटपाकादिनोपायेन विघटमानो दृष्ट इति।

§ २४१. समाधान—बाधित होनेवाली वस्तुएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक तो स्वाभाविक और दूसरी सहकारियोंसे उत्पन्न होनेवाले आगन्तुक विकार। जो स्वाभाविक धर्म हैं, उनका प्रतिपक्षोंका अत्यन्त उत्कर्ष होने पर भी कभी भी समूल नाश नहीं होता। ज्ञान आत्माका ऐसा ही स्वाभाविक धर्म है, अतः ज्ञानावरणीय कर्मोंका कितना ही तीव्र उदय क्यों न हो उसका जड़से नाश नहीं हो सकता। यदि ज्ञानका समूल नाश हो जाय, तो उस समय आत्माका भी नाश नियमसे हो जायगा वह बच नहीं सकता। आत्मा परिणमनशील होकर भी द्रव्य रूपसे नित्य है अतः ज्ञानावरणीय कर्मके कारण ज्ञानमें न्यूनाधिकता रूपसे परिवर्तन होने पर भी द्रव्य-मूल स्वभावका विनाश नहीं किया जा सकता। उसकी नित्यताका तात्पर्य ही यह है कि वह कभी भी ज्ञानस्वरूपसे अज्ञानस्वरूपमें परिवर्तित नहीं हो सकती। राग आदि वासनाएँ तो लोभ आदि कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले विकार हैं, आगन्तुक हैं। स्वाभाविक नहीं हैं। अतः जब लोभ आदिको उत्पन्न करनेवाले कर्म पुद्गलोंका समूल उच्छेद हो जायगा तब इनकी सत्ता तो अपने ही आप समाप्त हो जायगी। जो विकार सहकारियोंसे उत्पन्न होते हैं स्वाभाविक नहीं हैं वे जिस प्रतिपक्षी भावनासे कम होते हैं या मन्द पड़ते हैं, उस प्रतिपक्षी भावनाकी अत्यन्त वृद्धि होने पर उनका समूल नाश हो जाता है। जैसे ठण्डकसे होनेवाले रोमांच अग्निके पूरी तरह जल जाने पर नष्ट हो जाते हैं उनका नामोनिशां नहीं रहता उसी तरह विरागी भावनाओंसे मन्द पड़नेवाले बाह्य कर्मोंसे उत्पन्न रागादि भावोंका भी विरागी भावनाओंकी अत्यन्त वृद्धि होने पर समूल नाश हो ही जाना चाहिए। इस अनुमानमें सहकारिसंपाद्य—जो यथार्थ आगन्तुक कारणोंसे उत्पन्न हैं स्वाभाविक नहीं हैं'—विशेषण आत्माके सदा स्थायी स्वाभाविक ज्ञान आदि धर्मोंके समूल नाशका व्यवच्छेद करनेको दिया है। तथा यह भी तो नियम नहीं हो सकता कि—'जो अनादि हैं उनका विनाश होवे नहीं? देखिए—प्रागभाव अनादि है परन्तु उसका विनाश देखा जाता है। यदि प्रागभावका नाश न हो तो कार्योंकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी। अतः आपका उक्त नियम प्रागभाव (जब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता तब तक उस कार्यका अभाव) से व्यभिचारी है। खानिसे निकले हुए मलिन सुवर्णमें रहनेवाले सुवर्ण और पत्थर आदिके संयोगसे भी यह नियम व्यभिचारी होता है। जो सोना अनादिकालसे खदानमें पड़ा था, आज वह निकाला गया। उसके साथ पत्थर आदिका भी संयोग अनादि कालसे ही रहा है, परन्तु सुहागा आदि तीक्ष्ण पदार्थों के साथ जब उसे मिट्टीकी घरियामें पूरी तरह तपाया जाता है तब वह पत्थरका अनादिकालका भी संयोग क्षण भरमें खतम हो जाता है और सोना अपनी शुद्ध अवस्थामें निखर आता है। अतः यह कोई नियम

१. तत्र सहभू स्वभावं यत्तन्न भ० २। २. -वनाशि ब-भ० २। ३. -नुपपत्तेः भ० २।

§ २४२. अथ रागादयो धर्मा धर्मिण आत्मनो भिन्नाः, अभिन्ना वा । भिन्नाश्चेत्; तदा सर्वेषां वीतरागत्वसिद्धत्वप्रसङ्गः, रागादिभ्यो भिन्नत्वात्, मुक्तात्मवत् । अभिन्नाश्चेत्; तदा तेषां क्षये धर्मिणोऽपि क्षय इति ।

§ २४३. तदयुक्तम्, भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरस्याभ्युपगमात् । कथमिति चेत् । उच्यते । धर्मिधर्माणां न भेद एव, अभेदस्यापि सत्त्वात् । नाप्यभेद एव, भेदस्यापि सद्भावात् । ततो नोक्तदोषावकाश[1] इति ।

§ २४४. अथ कार्मणशरीरादेः सर्वथावियोगे कथं जीवस्योर्ध्वमालोकान्तं गतिरिति चेत्[2] । पूर्वप्रयोगादिभिस्तस्योर्ध्वगतिरिति[3] ब्रूमः । तदुक्तं तत्त्वार्थभाष्ये—

"तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति ।
पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥ १ ॥
कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते ।
पूर्वप्रयोगात्कर्मेह, तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ २ ॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा तूम्बस्वभावतः ।
कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्, तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ ३ ॥

हो ही नहीं सकता कि 'जो अनादि है वह नष्ट नहीं होता ।'

§ २४२. शंका—रागादि धर्म आत्मासे भिन्न हैं कि अभिन्न ? यदि रागादि धर्म आत्मासे भिन्न हों तो सभी आत्माएँ अनायास ही रागादिरहित होकर मुक्त जीवोंकी तरह वीतरागी बन जायेंगी क्योंकि रागादि तो आत्मासे भिन्न हैं ही । यदि रागादि धर्म आत्मासे अभिन्न हैं तो रागादिके नाश होने पर आत्माका भी नाश होना चाहिए । धर्मके नाश होने पर उससे अभिन्न अर्थात् तद्रूप धर्मी को नष्ट हो ही जाना चाहिए ।

§ २४३. समाधान—हम लोग न तो धर्म और धर्मीका सर्वथा भेद ही मानते हैं और न अभेद ही । किन्तु सर्वथा भेद और अभेदसे विलक्षण कथंचिद् भेदाभेद मानते हैं । रागादि और आत्माको जुदा-जुदा नहीं रख सकते अतः वे अभिन्न हैं रागादिके नाश या उत्पाद होने पर भी आत्माका नाश या उत्पाद नहीं होता अतः वे भिन्न हैं । इसलिए अत्यन्त भेद और अभेद पक्षमें आनेवाले दोष कथंचिद् भेदाभेदमें लागू नहीं हो सकते ।

§ २४४. शंका—जब कार्मण शरीर आदिका अत्यन्त वियोग हो गया तब यह जीव क्यों लोकके अग्रभाग तक ऊपर गमन करता है ? क्योंकि गमन आदिमें कारण तो कार्मण शरीर ही था, जब वह नष्ट हो गया तब शुद्ध जीव किस कारणसे ऊपरको जाता है ?

समाधान—पूर्वके गमन करनेके संस्कार आदिसे शुद्ध जीवकी ऊर्ध्वगति होती है । तत्त्वार्थभाष्यमें इसका बहुत सुन्दर तथा सयुक्तिक विवेचन इस प्रकार किया गया है—"कर्म बन्ध छूटनेके बाद ही यह जीव लोकके ऊपरी भाग तक ऊर्ध्वगमन करता है । इस ऊर्ध्वगमनके कारण हैं—पूर्व प्रयोग, असंगत्व-निर्लेप, बन्धच्छेद-निर्बन्ध तथा ऊर्ध्व गौरव स्वभाव । जिस प्रकार कुम्हारके चाकको एक बार घुमा देने पर पीछे घुमानेवाला डण्डा हट भी जाय तब भी वह पूर्व प्रयोगके कारण बहुत देर तक अपने आप घूमता रहता है अथवा जिस प्रकार झूलाको एक बार झुलानेपर वह पीछे अपने आप झूलता रहता है अथवा जैसे बाणको एक बार अच्छी तरह खींचकर छोड़ने पर वह बहुत दूर तक पूर्व प्रयोगके कारण स्वतः चला जाता है उसी तरह इस जीवने कर्मके

---

१. –श अथ भ० २ । २. चेन्नैवं पूर्व–भ० २ । ३. –र्ध्वगति–आ० ।

एरण्डयन्त्रपेडासु, बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो, जीवा इति जिनोत्तमैः ।
अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥ ५ ॥
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च, लोष्टवाय्वग्निवीचयः ।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते, [1]तथोर्ध्वगतिरात्मनः ॥ ६ ॥
अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च, जीवानां कर्मजा गतिः ।
ऊर्ध्वमेव[4] तु तद्धर्मा, भवति क्षीणकर्मणाम् ॥ ७ ॥
ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां, कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः ।
धर्मास्तिकायस्याभावात्, स हि हेतुर्गतेः[3] परम् ॥ ८ ॥" [त० भा० १०।७]

धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुत्वं पुरापि व्यवस्थापितमेवेति[2] ।

§ २४५. ननु भवतु कर्मणाभावेऽपि पूर्वप्रयोगादिभिर्जीवस्योर्ध्वगतिः[5], तथापि[6] सर्वथा शरीरेन्द्रियादिप्राणानामभावान्मोक्षे जीवस्याजीवत्वप्रसङ्गः । यतो जीवनं प्राणधारणमुच्यते, तच्चेहास्ति, तदा जीवस्य जीवनाभावादजीवत्वं स्यात्, अजीवस्य च मोक्षाभाव इति चेत् । न; अभि-

---

सम्बन्धसे खूब गमन किया है आज भले ही गमन करानेवाले कर्मका सम्बन्ध छूट जाय परन्तु पूर्वके गमन प्रयोगके कारण वह ऊर्ध्वगति करता ही है । जिस प्रकार मिट्टीसे लिपटी हुई तूम्बड़ी पानीमें मिट्टीका लेप घुल जाने पर ऊपर उतरा आती है उसी तरह कर्म लेपके घुल जाने पर सिद्ध जीवोंकी ऊपरकी ओर गति होना स्वाभाविक ही है । जिस प्रकार एरण्डके फलका बकाला फटते ही बीज ऊपरको उचटता है तथा जिस तरह बेक—रुकावट हटते ही यन्त्रका चक्र खूब पूरे वेगसे गति करता है उसी तरह कर्म बन्धनके टूटते ही यह शुद्ध जीव ऊपरको गति करता है । जिनेन्द्रदेवने जीवोंको ऊर्ध्व गौरव धर्मवाला तथा पुद्गलोंको अधोगौरव धर्मवाला बताया है । जीवोंमें ऐसा गौरव है जिससे वे स्वभावतः ऊपरको गमन करते हैं तथा पुद्गलोंमें ऐसा गौरव है जिससे वे नीचेकी ओर गिरते हैं । जिस प्रकार पत्थर स्वभावसे ही नीचेकी ओर गिरता है, वायु तिरछी बहती है, तथा अग्निकी ज्वालाएँ ऊपरको जाती हैं उसी तरह आत्माकी भी ऊर्ध्वगति स्वाभाविक ही है । जीव कर्मोंके संसर्गसे नीचे नरकमें, ऊपर स्वर्गमें तथा तिरछे मध्यलोकमें गमन करते हैं, यह उनकी कर्मजन्य अस्वाभाविक गति है । परन्तु जब ये जीव नीचे या तिरछे घुमानेवाले कर्मोंसे छूटकर शुद्ध हो जाते हैं तब उनकी गति स्वभावतः ऊपरकी ही ओर होती है । लोकसे भी ऊपर अलोकाकाशमें तो सिद्ध जीवोंकी गति इसलिए नहीं होती कि वहाँ गमन करनेमें असाधारण सहायता देनेवाला धर्मद्रव्य नहीं है । यदि वहाँ धर्मद्रव्य होता तो अवश्य ही गति हो सकती थी, पर धर्म द्रव्य तो लोकाकाशमें पाया जाता है अलोकमें नहीं ।" 'धर्मास्तिकाय गमनमें सहायक है' यह पहले सिद्ध कर चुके हैं ।

§ २४५. शंका—अच्छा, कर्मोंके अभावसे आपके मुक्त जीव पूर्व प्रयोग आदिसे ऊपरको खूब गमन करें और लोकान्तमें विराजमान भी हो जायँ, परन्तु जब मोक्षमें शरीर, इन्द्रियाँ तथा श्वासोच्छ्वास आदि जीवन सामग्री नहीं है तब वे अजीव—जड़ ही हो जायेंगे । जीवनका अर्थ है

---

१. तथोर्ध्वं गति-म० १, म० २, प० १, प० २ । २. –व च म० १, म० २, प० १, प० २ । –व स्वभावेन भवति क० । ३. परम् आ०, क० । पर इति म० १, म० २ । ४. –मेव तनु म० २ । ५. –र्ध्वं गतिः म० १, म० २, प० १, प० २, क० । ६. –पि शरी–म० १, म० २, प० १, प० २ ।

प्रायापरित्यागात्, प्राणा हि द्विविधाः, द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च। मोक्षे च द्रव्यप्राणानामेवाभावः, न पुनर्भावप्राणानाम्। भावप्राणाश्च मुक्तावस्थायामपि सन्त्येव। यदुक्तम्—

"[1]यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्ववीर्यदर्शनज्ञानैः।
आत्यन्तिकैः स युक्तो निर्द्वन्द्वेनापि च सुखेन ॥ १ ॥
ज्ञानादयस्तु भावप्राणा मुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि।
तस्मात्तज्जीवत्वं नित्यं सर्वस्य जीवस्य ॥ २ ॥"

ततश्चानन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखलक्षणं जीवनं सिद्धानामपि भवतीत्यर्थः। सुखं च सिद्धानां सर्वसंसारसुखविलक्षणं परमानन्दमयं ज्ञातव्यम्। उक्तं[3] च—

"नवि अत्थि माणुसाणं तं सुक्खं नेव सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सुक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १ ॥
सुरगणसुहं समग्गं सव्वद्धा पिंडियं अनन्तगुणं।
नवि पावइ मुत्तिसुहं णन्ताहिंवि वग्गवग्गूहिं ॥ २ ॥
सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धा पिंडिउं जइ हविज्जा।
सोऽणंतवग्गभइओ सव्वागासे न माइज्जा ॥ ३ ॥"

प्राणोंका धारण करना तथा श्वासोच्छ्वास लेना। यदि प्राण ही नहीं हैं तब जीवन कैसा? उन्हें जीव क्यों कहा जाय? वे तो सोलह आने अजीव हो गये। और अजीवको तो मोक्ष होता नहीं है अतः उन्हें मुक्त भी नहीं कह सकते।

समाधान—आप अभिप्रायको ठीक तरह समझे बिना ही अण्ट-सण्ट शंका ठोक देते हो। जैन सिद्धान्तमें प्राण दो प्रकारके माने गये हैं—एक द्रव्य प्राण और दूसरे भाव प्राण। मोक्षमें शुद्ध जीवोंके पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन दस प्रकारके द्रव्य प्राणोंका ही अभाव हुआ है ज्ञान दर्शन जीवत्व आदि भाव प्राणोंका नहीं। ये द्रव्यप्राण संसारी अवस्थामें चैतन्यकी अभिव्यक्तिमें सहायता करते हैं तथा उसे एक शरीरमें जीवन देते हैं शुद्ध आत्माको, जिसका चैतन्य अपने पूर्णरूपमें विकसित हो चुका है, इन द्रव्य प्राणोंकी कोई आवश्यकता नहीं है वह तो अपने स्वाभाविक ज्ञान दर्शन आदिसे सदा जीव रहता है। भावप्राण तो मुक्त अवस्थामें पूर्ण रूपसे विद्यमान हैं ही। कहा भी है—"मुक्त जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन अनन्तवीर्य, अनन्तदर्शन, केवलज्ञान तथा अबाधित अनन्त सुखसे युक्त है। उसमें ये गुण अपना स्वाभाविक पूर्ण विकास कर चुके हैं। ज्ञान दर्शन आदि भावप्राण हैं। मुक्त जीव इन्हीं भावप्राणोंसे जीता है अतः उसमें नित्य ही जीवन रहता है। इस तरह मुक्त जीवोंमें भी जीवत्व सिद्ध होनेपर समस्त जीवोंमें नित्य जीवत्वकी सत्ता सिद्ध हो जाती है।" इस तरह अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य और अनन्त सुख रूप भावप्राण-भावजीवन सिद्धोंमें भी है ही।

---

१. यस्मात्सततं क्षा–म० २। २. नन्दरूपं ज्ञा–म० १, भ० १, प० १, प० २, क०। ३. आह च परमेश्वरः भ० २। उक्तं च सिद्धान्ते प० १, प० २, भ० १। ४. –ज्जा इत्यादि तथा भ० २। नापि अस्ति मनुष्याणां तत्सुखं नैव सर्वदेवानाम्। यत् सिद्धानां सुखमव्याबाधमुपगतानाम् ॥ सुरगणसुखं समग्रं सर्वाद्धा पिण्डितम् अनन्तगुणम्। नापि प्राप्नोति मुक्तिसुखम् अनन्ताभिरपि वर्गवर्गैः ॥ सिद्धस्य सुखं राशिः सर्वाद्धा पिण्डितं यदि भवेत्। तदनन्तभागवर्गभाजितः सर्वाकाशे न मायात् ॥

तथा [1]योगशास्त्रेऽप्युक्तम्—

"सुरासुरनरेन्द्राणां यत्सुखं भुवनत्रये ।
तत्स्यादनन्तभागेऽपि न मोक्षसुखसंपदः ॥ १ ॥
स्वस्वभावजमत्यक्षं यस्मिन्वै शाश्वतं सुखम् ।
चतुर्वर्गाग्रणीत्वेन तेन मोक्षः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥"

§ २४६. अत्र सिद्धानां सुखमयत्वे त्रयो विप्रतिपद्यन्ते । तथाहि—आत्मनो मुक्तौ बुद्ध्याद्यशेषगुणोच्छेदात्कथं सुखमयत्वमिति वैशेषिकाः । अत्यन्तचित्तसंतानोच्छेदत आत्मन एवासंभवादिति सौगताः । अभोक्तृत्वात्कथमात्मनो मुक्तौ सुखमयत्वमिति सांख्याः ।

§ २४७. अत्रादौ वैशेषिकाः स्वशेमुषीं विशेषयन्ति ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावता आत्मनोऽनुपपन्ना, बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूपत्वान्मोक्षस्य । तथाहि—प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतिपन्ने जीवस्वरूपे परिपाकं प्राप्ते तत्त्वज्ञाने नवानां जीवविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वरूपेणात्मनोऽवस्थानं मोक्षः । तदुच्छेदे च प्रमाणमिदम्[2] । यथा, नवानामात्मविशेषगुणानां संतानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते,

सिद्ध जीवोंका सुख तो समस्त संसारी जीवोंके ऐन्द्रियक सुखसे विलक्षण है वह तो परमानन्द रूप है । कहा भी है—"जो निर्बाध सुख सिद्धोंको होता है वह न तो किसी मनुष्यको नसीब होता और न किसी देवकी तकदीरमें ही लिखा है । समस्त देवताओंके त्रिकालवर्ती सुखको इकट्ठा करके उसे अनन्तसे गुणा भी कर दीजिए पर वह सिद्धोंके सुखके अनन्तवें भाग बराबर भी नहीं हो सकता । यदि सिद्धोंके समस्त सुखोंको इकट्ठा करके उसके अनन्तवें भागको भी रूपी बनाया जाय तो वह इस लोक तथा अलोक तक फैले हुए अनन्त आकाशमें भी नहीं समा सकता ।" योगशास्त्रमें भी कहा है कि—"स्वर्ग पाताल तथा मर्त्यलोकमें सुरेन्द्र असुरेन्द्र तथा नरेन्द्रोंको जो कुछ भी सुख होता है वह सबका सब मिल करके भी मोक्ष सुखके अनन्तवें भागकी बराबरी नहीं कर सकता ।" मोक्षका सुख स्वाभाविक है नियत शक्तिवाली इन्द्रियोंकी अपेक्षा न रखनेके कारण अतीन्द्रिय है तथा कभी नष्ट नहीं होनेके कारण नित्य है । इसीलिए यह मोक्ष धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें परम पुरुषार्थ तथा चतुर्वर्ग शिरोमणि कहा गया है ।"

§ २४६. मुक्त जीवोंको सुखमय होनेमें वादियोंमें तीन प्रकारके विवाद पाये जाते हैं । वैशेषिकोंका कहना है कि जब मुक्तिमें आत्माके बुद्धि सुख-दुःख आदि विशेष गुणोंका उच्छेद हो जाता है तब आत्मा सुखमय कैसे हो सकती है ? बौद्ध इनसे भी बढ़कर हैं वे मोक्ष अवस्थामें आत्माका ही सद्भाव नहीं मानते । उनका तात्पर्य है कि—मुक्ति अवस्थामें चित्त सन्तानका अत्यन्त उच्छेद हो जानेसे चित्त प्रवाह रूप आत्माकी सत्ता ही जब नहीं है तब सुख होगा किसे ? सांख्य आत्माकी नित्य सत्ता मानकर भी उसे मुक्तिमें भोक्ता नहीं मानते । अतः सुख भले ही रहो, पर जब आत्मा उसे भोगता ही नहीं है तब मोक्षको सुखमय कैसे कह सकते हैं ?

§ २४७. इनमें सबसे पहले वैशेषिक लोग अपनी बुद्धिको विशेषता बताते हुए कहते हैं—

वैशेषिक (पूर्वपक्ष)—मोक्ष अवस्थामें आत्माको विशुद्ध ज्ञान सुखादिरूप मानना उचित नहीं है; क्योंकि जब बुद्धि सुख आदि आत्माके विशेष गुणोंके उच्छेदको मोक्ष कहते हैं तब उसमें शुद्ध ज्ञान आदिका सद्भाव कैसे हो सकता है ? जब प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध आत्माका तत्त्व-

१. —शास्त्रेऽपि सुरा—म० २ । २. "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।" —प्रश० व्यो० पृ० ६६८ । न्यायमं० पृ० ५०८ । ३. प्रत्यक्षप्रमा—म० २ । ४. "नवानामात्मगुणानां संतानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, संतानत्वात्, यो यः संतानः सः सोऽत्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्टः यथा प्रदीपसंतानः, तथाचायं सन्तानः, तस्माद् अत्यन्तमुच्छिद्यते ।" —प्रश० व्यो० पृ० २० क० । "दुःखसंततिरत्यन्तमुच्छिद्यते संततित्वात् प्रदीपसंततिवदित्याचार्याः ।" —प्रश० किर० पृ० ९ ।

संतानत्वात्, प्रदीपादिसंतानवत्। न चायमसिद्धो हेतुः, पक्षे वर्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः, सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिकः, केवलपरमाण्वादावप्रवृत्तेः। नापि कालात्ययापदिष्टः, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षानुमानयोरत्रासंभवात्। ननु संतानोच्छेदे हेतुरसिद्ध इति चेत्। उच्यते[1], निरन्तरशास्त्राभ्यासात् कस्यचित्पुंसस्तत्त्वज्ञानं जायते, तेन च मिथ्याज्ञाननिवृत्तिर्विधीयते, तस्य निवृत्तौ तत्कार्यभूता रागादयो निवर्तन्ते, तदभावे तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्व्यावर्तते, तद्भावावृत्तौ च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः। आरब्धशरीरेन्द्रियकार्ययोस्तु सुखादिफलोपभोगात्प्रक्षयः। अनारब्धशरीरादिकार्ययोरप्यवस्थितयोस्तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः। ततश्च सर्वसंतानोच्छेदान्मोक्ष इति स्थितम्।

§ २४८. अत्र प्रतिविधीयते।[2] यत्तावदुक्तं 'संतानत्वात्' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यत आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिगुणानां संतानस्योच्छेदः साध्यते अभिन्नानां वा, कथंचिद्भिन्नानां

ज्ञान परिपूर्ण रूपमें विकसित हो जाता है तब उस तत्त्वज्ञानसे आत्माके बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार इन नौ विशेष गुणोंका अत्यन्त उच्छेद करके आत्माका अपने शुद्ध रूपमें लीन हो जाना ही मोक्ष है। बुद्धि आदि गुणोंका उच्छेद सिद्ध करनेवाला प्रमाण यह है—आत्माके नौ विशेष गुणोंकी सन्तान-परम्परा कभी अत्यन्त नष्ट हो जाती है क्योंकि वह सन्तान-परम्परा है जैसे कि दीपक आदिकी परम्परा। सन्तानत्व हेतु आत्माके विशेष गुण रूप पक्षमें रहता है अतः असिद्ध नहीं है। सपक्षभूत दीपक आदिमें पाया जाता है अतः विरुद्ध नहीं है। परमाणु आदि विपक्षमें नहीं पाया जाता अतः व्यभिचारी नहीं है। साध्यसे विपरीत अर्थको साधनेवाले प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं हैं अतः यह हेतु कालात्ययापदिष्ट—बाधित भी नहीं है। बुद्धयादि गुणोंकी सन्तानका उच्छेद तत्त्वज्ञानसे इस क्रमसे होता है—सतत शास्त्रोंका अभ्यास एवं सत्संग आदिसे किसी विरले भाग्यवान्को जब तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब उससे उसका मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है। मिथ्याज्ञानके नष्ट होते ही मिथ्याज्ञानसे होनेवाले राग आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। रागादि दोषोंका नाश होने पर दोषोंसे होनेवाली मन वचन कायके व्यापार रूप प्रवृत्ति बन्द हो जायगी। प्रवृत्तिके न होनेसे प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले पुण्य और पापकी आगे उत्पत्ति नहीं होगी। जो पुण्य और पाप पहलेसे संचित हैं, उनमें-से जिन्होंने शरीर इन्द्रिय आदिको उत्पन्न करके फल देना प्रारम्भ कर दिया है उनका तो फल भोगकर विनाश किया जायगा, तथा जिसने अभी तक फल देना प्रारम्भ नहीं किया सत्ता रूपसे विद्यमान हैं उनका भी एक साथ अनेक शरीर आदि उत्पन्न कर फलोपभोगके द्वारा ही क्षय होगा। इस प्रकार पुण्य पाप आदि की परम्पराका सर्वथा उच्छेद होने पर सर्व सन्तानोच्छेद रूप मोक्ष हो जाता है।

§ २४८. **जैन**—(उत्तरपक्ष)—आपका सन्तानत्व हेतु प्रमाण बाधित होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। आप जिन बुद्ध्यादि गुणोंकी सन्तानका अत्यन्त उच्छेद सिद्ध करना चाहते हैं वे गुण आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं, या सर्वथा अभिन्न, अथवा कथंचिद्भिन्न ? यदि भिन्न हैं; तो हेतु आश्रयासिद्ध हो जायगा, क्योंकि सन्तानीसे अत्यन्त भिन्न सन्तान उपलब्ध ही नहीं

---

१. "यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तथा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निश्रेयसमिति।" —न्यायभा० १।१।२। "निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद्रागादयो नश्यन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादादिति। रागाद्यभावे च तत्कार्याप्रवृत्तिर्व्यावर्तते, तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः। आरब्धकार्ययोर्दत्तोपभोगात् प्रक्षयः।"—प्रश० व्यो० पृ० २० क०। २. यदुक्तं भ० २। ३. "यस्मादात्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानां संतानस्य उच्छेदः प्रसाध्यते, अथ अभिन्नानाम्, कथंचिद्भिन्नानां वा ?" —न्यायकुसु० पृ० ८२५। प्रमेयक० पृ० ३१७।

वा। आद्यपक्षे आश्रयासिद्धो हेतुः; संतानिभ्योऽत्यन्तं भिन्नस्य संतानस्यासत्कल्पत्वात्। द्वितीयपक्षे तु सर्वथाभिन्नानां तेषामुच्छेदसाधने संतानवत् संतानिनोऽप्युच्छेदप्रसङ्गः। ततश्च कस्यासौ मोक्षः। भिन्नाभिन्नपक्षाभ्युपगमे चापसिद्धान्तः[1]। किंच, विरुद्धश्चायं[2] हेतुः, कार्यकारणभूतक्षणप्रवाहलक्षणसंतानत्वस्य नित्यानित्यैकान्तयोरसंभवात्। अर्थक्रियाकारित्वस्यानेकान्त एव प्रतिपाद्यिष्यमाणत्वात्। साध्यविकलश्च दृष्टान्तः, प्रदीपावेरत्यन्तोच्छेदासंभवात्, तैजसपरमाणूनां भास्वररूपपरित्यागेनान्धकाररूपतयावस्थानाप्रयोगाच्चात्र—पूर्वापरस्वभावपरिहाराङ्गीकारस्थितिलक्षणपरिणामवान्प्रदीपः, सत्त्वात्, घटादिवदिति। अत्र बहु वक्तव्यम्, तत्त्वभिधास्यते विस्तरेणानेकान्तप्रघट्टके।

§ २४९. किंच इन्द्रियजानां बुद्ध्यादिगुणानामुच्छेदः साध्यमानोऽस्ति भवता, उतातीन्द्रियाणाम्। तत्राद्यपक्षे सिद्धसाधनम् अस्माभिरपि तस्य तदुच्छेदाभ्युपगमात्। द्वितीयविकल्पे मुक्तौ कस्यचिदपि प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। मोक्षार्थो हि सर्वोऽपि निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्त्यभिलाषेणैव

होती असत् है। आत्मासे भिन्न सत्ता रखनेवाले बुद्धि आदि गुण रूप आश्रय ही सिद्ध नहीं है जिसमें आपका हेतु रहेगा, अतः आश्रयासिद्ध होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। यदि बुद्ध्यादिगुण आत्मासे अभिन्न हैं; तो बुद्ध्यादि गुणोंका उच्छेद होनेसे तदभिन्न आत्माका भी उच्छेद हो ही जायगा तब मोक्ष किसे होगा? कौन बुद्ध्यादिगुण शून्य स्वरूपमें स्थिर होगा? यदि बुद्ध्यादिगुण आत्मासे कथंचिद् भिन्नाभिन्न हैं; तो जैनमतकी सिद्धि होनेसे आपके सर्वथा भेदवादका विरोध हो जायगा। सन्तानका अर्थ है—कार्य कारणभूत क्षणोंका प्रवाह। यह कार्य कारणभाव न तो सर्वथा नित्यवादमें ही बनता है और न सर्वथा अनित्यवादमें हो। अर्थक्रिया करनेकी शक्ति तथा अर्थक्रियामूलक कार्यकारणभाव तो अनेकान्त सिद्धान्तमें हो घटित होता है। इसका विशेष समर्थन आगे करेंगे। अतः सन्तानत्व हेतु द्वारा आपके सर्वथा नित्यसे विपरीत कथंचिन्नित्यानित्य पदार्थकी ही सिद्धि होगी और इस लिए सन्तानत्व हेतु विरुद्ध भी है। दृष्टान्तरूप प्रदीपका अत्यन्तोच्छेद नहीं होता अतः आपका दृष्टान्त साध्यविकल होनेसे दृष्टान्ताभास है। जब दीपक बुझता है तब दीपकके वे चमकते हुए भासुर रूपवाले तैजसपरमाणु अपने भासुररूपको छोड़कर अन्धकाररूपमें परिणत हो जाते हैं, उनका केवल रूप परिवर्तन होता है अत्यन्त उच्छेद नहीं। प्रयोग—दीपकका पूर्वस्वभावका त्याग उत्तरस्वभावका उत्पाद तथा पुद्गलरूपसे स्थिति रखनेवाला ही परिणमन होता है अत्यन्त उच्छेद नहीं, क्योंकि वह सत् है जैसे कि घड़ा। इस विषयको बहुत कुछ विस्तारसे कहना है, पर उसे यहाँ न कहकर आगे 'अनेकान्त' के प्रकरणमें कहेंगे।

§ २४९. यह बताइए कि—आप मोक्षमें इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले बुद्धि आदि गुणोंका अत्यन्त उच्छेद सिद्ध करना चाहते हैं या इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही मात्र आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय बुद्धि आदि का? मोक्षमें इन्द्रियजन्य बुद्धि सुख आदि गुणोंका अत्यन्त उच्छेद तो हम लोग भी मानते ही हैं अतः सिद्ध साधन होनेसे आपका अनुमान ही व्यर्थ है। यदि इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान सुख आदिका भी मोक्षमें उच्छेद

---

१. चापसिद्धः किंच म० २। २. "विरुद्धश्चायं हेतुः, शब्दबुद्धिप्रदीपादिषु अत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव संतानत्वस्य भावात्।"—सम्मति० टी० पृ० १५७। न्यायकुमु० पृ० ८२७। प्रमेयक० पृ० ३१८। रत्नाकरावo ७।५७। ३. "किंच, अतोऽनुमानात् इन्द्रियजानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः साध्येत, अतीन्द्रियाणां वा।" —न्यायकुमु० पृ० ८२७।

प्रवर्तते, न पुनः शिलाशकलकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतते, यदि[1] मोक्षावस्थायामपि पाषाणकल्पोऽपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः संपद्यते, तदा कृतं मोक्षेण, संसार एव वरीयान्। यत्र सान्तरापि सुखलेशप्रतिपत्तिरप्यस्ति। अतो न वैशेषिकोपकल्पिते मोक्षे कस्यचिद्गन्तुमिच्छा। उक्तं च[2]—

"वरं वृन्दावने वासः, शृगालैश्च सहोषितम्।
[3]न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गन्तुमिच्छति ॥१॥"

§ २५०. एतेन यद्भट्टमीमांसका [चुर्नैयायिका] अपि—

"यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिद्यन्ते वासनादयः।
तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नविकल्प्यते ॥१॥
धर्माधर्मनिमित्तौ हि संभवः सुखदुःखयोः।
मूलभूतौ च तावेव स्तम्भौ संसारसद्मनः ॥ २ ॥
तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात्।
नात्मनः सुखदुःखे स्त इत्यसौ मुक्त[4] उच्यते ॥३॥
ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥४॥

हो जाय; तो इस सर्वविनाशी मोक्षके लिए कौन प्रवृत्ति करेगा? सभी मुमुक्षु मोक्षमें निरतिशय अनन्तसुख तथा अनन्तज्ञान आदिके प्राप्त होनेकी अभिलाषासे ही तपश्चरण योगसाधन आदि दुष्कर प्रयत्न करते हैं, न कि अपनी आत्माके रहे सहे सुख ज्ञान आदिका भी समूल नाश करके उसे पत्थर जैसा जड़ बनानेके लिए। यदि मोक्षमें तमाम ज्ञान सुख आदि गुणोंका उच्छेद होकर आत्मा पत्थरकी तरह जड़ बन जाता है, तो ऐसे मोक्षको दूरसे ही नमस्कार, वह आपके लिए ही मुबारिक हो, हमें तो यह संसार ही कहीं अच्छा है जिसमें बीच-बीचमें कभी-कभी भूले-भटके ही सही थोड़े बहुत सुखका अनुभव तो हो जाता है। अतः वैशेषिकके द्वारा माने गये इस सर्वविनाशी जड़ मोक्षमें जानेकी किसीकी इच्छा तक नहीं हो सकती। कहा भी है— 'गौतम ऋषि वृन्दावनके जंगलोंमें सियारोंके साथ बसना अच्छा समझते हैं पर वे वैशेषिकोंको जड़ मुक्तिमें किसी भी तरह नहीं जाना चाहते।"

§ २५०. इस विवेचनसे मीमांसकों (?) (नैयायिकों) का यह कथन भी खण्डित हो जाता है कि—"जब तक आत्माके पुण्य-पाप संस्कार आदि सभी विशेष गुणोंका उच्छेद नहीं होता तब तक आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिका होना सम्भव ही नहीं है। प्राणियोंको सुख दुःख आदिकी उत्पत्ति पुण्य और पापसे ही होती है, ये पुण्य और पाप ही इस संसाररूपी महलके आधारभूत मूलस्तम्भ हैं। जब इन पुण्यपापरूप मूल खम्भोंको ही गिरा दिया जायगा तब इनके कार्यभूत शरीर आदिकी स्वस्थतासे होनेवाले सुख और दुःख तो अपने ही आप समाप्त हो जायँगे, न तो ये आगे उत्पन्न ही होंगे और न मौजूद ही रहेंगे। इस तरह सुख-दुःख आदिके नाश होने पर यह जीव मुक्त हो जाता है। 'उस समय आत्माकी क्या दशा होती है?' इस प्रश्नका तो सीधा-सा उत्तर है कि—यह जीव मोक्षमें तमाम बुद्धि आदि गुणोंसे रहित होकर शुद्ध स्वरूपमात्रमें

१. "यदि हि मोक्षावस्थायां शिलाशकलकल्पः अपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः संपद्यते तदा कृतं मोक्षेण।" —न्यायकुमु० पृ० ८२८। २. "अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति। न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतमः।" —संबन्धवा० श्लो० ७२६। विवरणप्र० पृ० १३७। "वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं प्रपद्यते।"—न्यायकुमु० पृ० ८२८। "वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिकाङ्क्षितम्।" —स्या० मं० पृ० ८६। ४. न हि वैशे—म० २। ४. कल्पते म० १, म० २, प० १, प० २, क०। ५. मोक्ष म० २।

ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनोषिणः ।
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ॥५॥" [न्यायम० प्रमे० पृ०७]

ऊर्मयः[1] कामक्रोधमदगर्वलोभदम्भाः ।

§ २५१. "नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" [छान्दो० ८।१२।१] [2]इत्यादि, तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम् । यतः किं शुभकर्मपरिपाकप्रभवाणि भवसंभवानि सुखानि मुक्तौ निषिध्यमानानि सन्त्युत सर्वथा तदभावः । आद्ये सिद्धसाधनम् । [4]द्वितीयोऽसिद्धः आत्मनः सुखस्वरूपत्वात् । न च पदार्थानां स्वरूपमत्यन्तमुच्छिद्यते, अतिप्रसङ्गात् । न च सुखस्वभावत्वमेवासिद्धं,तत्सद्भावे प्रमाणसद्भावात् । तथाहि—आत्मा सुखस्वभावः, [5]अत्यन्त-

प्रतिष्ठित—लीन हो जाता है । वह मोक्ष छह प्रकारकी ऊर्मियों-लहरोंसे रहित निस्तरंग समुद्रकी तरह शान्त है । उसमें संसारके बन्धनोंसे होनेवाले दुःख क्लेश आदिकी गन्ध भी नहीं रहती । तात्पर्य यह कि वह केवल दुःखनिवृत्ति रूप ही है । काम, क्रोध, मद, गर्व, लोभ और दम्भ ये छह लहरें हैं जो चित्तको सदा विकारी तथा चंचल बनाये रखती हैं ।

§ २५१. "शरीरधारी आत्माके सुख और दुःखका अभाव नहीं होता वह सुखी या दुखी बना ही रहता है, परन्तु अशरीरी आत्माको सुख और दुःख प्रिय और अप्रिय छू भी नहीं सकते, वह इनसे परे हो जाता है ।"

हम इन नैयायिकोंसे पूछते हैं कि आप लोग मुक्तिमें शुभकर्मके फलस्वरूप सांसारिक सुखों-का निषेध करते हो या सभी प्रकारके सुखोंका ? यदि कर्मजन्य सांसारिक सुखोंका मोक्षमें निषेध करना ही आपको इष्ट है; तो इतना तो हम पहिलेसे ही मानते हैं, हम मोक्षमें इन्द्रिय जन्य कर्मसे होनेवाला सुख मानते ही नहीं हैं हम तो मोक्षमें परम अतीन्द्रिय स्वाभाविक सुख मानते हैं अतः आपका हेतु सिद्धसाधन होनेसे अकिंचित्कर हो जायगा । मोक्षमें सभी प्रकारके सुखोंका उच्छेद मानना तो प्रमाणविरुद्ध है; क्योंकि आत्मा स्वयं सुख रूप है, सुख तो उसका निजी स्वभाव है । पदार्थोंके निजी स्वभावका उच्छेद करनेसे तो पदार्थोंका ही अभाव हो जायगा और यह जगत् शून्य हो जायगा । उस समय जब सुख रूप आत्मा ही न रहेगी तब मोक्ष होगा किसे ? आत्माकी सुखस्वभावता निम्नलिखित अनेक प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है अतः उसे असिद्ध नहीं कह सकते । आत्मा सुखस्वभाववाला है क्योंकि वह अत्यन्त प्रियबुद्धिका विषय है, वह सबसे अधिक प्यारा है, वह दूसरेके लिए नहीं किन्तु स्वयं अपनी शान्तिके लिए ग्रहण किया जाता है जैसे कि विषयजन्य सुख । धन आदिका संग्रह स्त्रीके निमित्त तथा स्त्री आदिका परिग्रह आत्माके लिए किया जाता

१. "प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे लोभमोहौ च चेतसः । शोकातपौ शरीरस्य षड्भिरहितः शिवः ॥"—न्यायम० प्रमे० पृ० ७७ । २. "तस्य च न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः बाह्यविषयसंयोगवियोग-निमित्तयोः बाह्यविषयसंयोगवियोगौ ममेति मन्यमानस्य अपहतिर्विनाश उच्छेदः संततिरूपयोर्नास्तीति । तं पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निवर्तिताविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाप्रिये स्पृशतः । स्पृशिः प्रत्येकं संबध्यत इति प्रियं न स्पृशति अप्रियं न स्पृशतीति वाक्यद्वयं भवति ""धर्माधर्मकार्ये हि ते, अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मसंभवात्तत्कार्यभावो दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।—छान्दो० शां० भा० । ३. –वानि म० १, म० २, प० १, प० २ । ४. द्वितीयेऽसि—आ०, क० । ५. "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयः अन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा आत्मानमेव प्रियमुपासीत ।"—बृहद० १।४।८। "एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि । अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः ॥"—सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६२७ । "आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवस्त्वाद् वैषयिकसुखवत् आत्मा सुखम् अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वात् ।"—संक्षेपशा० टी० पृ० ३०-३१ । "परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् ।"—चिसु० पृ० ३५८ । सिद्धान्त वि० पृ० ४४५ ।

प्रियबुद्धिविषयत्वात् [1]अनन्यपरतयोपादीयमानत्वाच्च, वैषयिकसुखवत् । यथा [2]सुखार्थो मुमुक्षुप्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृषीवलप्रयत्नवदिति । तच्च सुखं मुक्तौ परमातिशयप्राप्तं, सा चास्यानुमानात्प्रसिद्धा यथा, सुखतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं, तरतमशब्दवाच्यत्वात्, [3]परिमाणतारतम्यवत् । [4]तथा—

"[5]आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते ।
यदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म सर्वं त्यजति बन्धनम् ॥१॥
तदा तन्नित्यमानन्दं मुक्तः स्वात्मनि विन्दति[6] ।"

इति श्रुतिसद्भावात् । तथा—

"सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्[7] ।
तं वै मोक्षं विजानीयाद्दुःप्रापमकृतात्मभिः ॥१॥"

इति स्मृतिवचनाच्च मोक्षस्य सुखमयत्वं प्रतिपत्तव्यमिति स्थितम् ॥

है परन्तु आत्माका ग्रहण किसी दूसरेके लिए नहीं स्वयं उसीके सुखके लिए ही किया जाता है। अपना विषय सुख अत्यन्त प्यारा है तथा स्वयं अपने ही लिए है अतः वह सुखरूप है इसी तरह आत्मा भी सुखरूप है। मुमुक्षुओंका तपश्चरण योगसाधन आदि प्रयत्न सुखके लिए हैं, क्योंकि वह समझदार व्यक्तिका बुद्धिपूर्वक किया गया प्रयत्न है जैसे कि किसानका धान्यकी प्राप्तिके लिए किया गया खेतीका प्रयत्न। मोक्षमें सुख अपने पूरे विकासको पा लेता है वहाँ परम अतीन्द्रिय अनन्त सुख होता है। मोक्षकी परमानन्दरूपता इस अनुमानसे सिद्ध होती है—सुखकी तरतमताक्रमिक विकास कहींपर अपनी पूर्णताको प्राप्त होती है क्योंकि वह तरतमता है क्रमिक विकास है जैसे कि मापका क्रमिक विकास आकाशमें पूर्णता प्राप्त करता है। अथवा सुखकी न्यूनाधिकता कहीं समाप्त हो जाती है अर्थात् वहाँ सुख आखिरी मर्यादा को पहुँच जाता है कमोवेश नहीं रहता, क्योंकि वह न्यूनाधिकता है जैसे कि नापकी न्यूनाधिकता। "आनन्द ही ब्रह्मका शुद्ध स्वरूप है, वह मोक्षमें प्रकट होता है। जिस समय परब्रह्मका साक्षात्कार करके समस्त अविद्याबन्धनोंको काट दिया जाता है उस समय बन्धनोंसे मुक्त आत्मा अपने स्वरूपमें उस परमानन्दका अनुभव करता है।" ये श्रुतियाँ भी मोक्षमें आनन्दरूपताका स्पष्ट प्रतिपादन कर रही हैं। स्मृतिमें भी कहा है कि—"जहाँ इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेके अयोग्य अतीन्द्रिय अनन्त सुख होता है वही मोक्ष है। यह अतीन्द्रियसुख केवल बुद्धिके द्वारा ही गृहीत होता है। यह मोक्ष आत्मज्ञानसे रहित मूढ़ संसारियोंको कठिनतासे ही प्राप्त होता है।" इत्यादि श्रुतिस्मृतिके प्रमाणोंसे भी मोक्षकी आनन्दरूपता प्रसिद्ध होती है।

---

१. विषस्त्रीपुत्रादयो हि आत्मार्थमुपादीयन्ते, परं चात्मन उपादानं तु नान्यार्थम्, स्वयमात्मा आत्मार्थमेवोपादीयते इत्यर्थः । "प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् । आत्मार्थमेव नान्यार्थं नातः प्रियतमं परम् ।"—सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६३० । २. "इष्टार्थो मुमुक्षुप्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृष्यादिप्रयत्नवत् इति ।"—न्यायकुमु० पृ० ८३१ । ३. परमाणुतार—म० २ । ४. तथाहि आ०, म० २ । ५. 'मोक्षेऽभिपद्यते'—प्रश० व्यो० पृ० २० ख । "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम् ।"—वेदान्तसि० पृ० १५१ । तुलना—"नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते ।—न्यायमा० १।१।२२ । न्याय मं० पृ० ५०९ । प्रकृतपाठः—सन्मति० टी० पृ० १५१ । न्यायकुमु० पृ० ८३० । ६. उद्धृतोऽयम्—न्यायकुमु० पृ० ८३१ । ७. "सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।"—भगवद्गी० ६।२१। यो० सि०१।१५ ।

§ २५२. अत्र सांख्या ब्रुवते । इह शुद्धचैतन्यस्वरूपोऽयं पुरुषः, तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्तत्वादकर्ता, साक्षादभोक्ता, जडां प्रकृतिं सक्रियामाश्रितः । अज्ञानतमश्छन्नतया प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलमात्मनि प्रतिबिम्बितं चेतयमानो मोदते मोदमानश्च प्रकृतिं सुखस्वभावां मोहान्मन्यमानः संसारमधिवसति । यदा तु [1]ज्ञानमस्याविर्भवति 'दुःखहेतुरियं न ममानया सह संसर्गो युक्तः' इति, तदा विवेकख्यातेर्नं तत्संपादितं कर्मफलं भुङ्क्ते । सापि च 'विज्ञातविरूपाहं न मदीयं कर्मफलमनेन भोक्तव्यम्' इति मत्वा कुष्ठिनीस्त्रीवद्दूरादवसर्पति । तत उपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः । स्वरूपं च [2]चेतनाशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा[3] प्रतिदर्शितविषयानन्ता[4] च अतस्तद्युक्त एव मुक्तात्मा न पुनरानन्दादिस्वभावः, तस्य प्रकृतिकार्यत्वात्, तस्याश्च जीवनाशं नष्टत्वात् ।

§ २५३. अत्र वयं ब्रूमः । यत्तावदुक्तम्-'संसार्यात्मा अज्ञानतमश्छन्नतया' इत्यादि, तदसुन्दरम्; यतः किमज्ञानमेव तमः, उताज्ञानं च तमश्चेति । प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थमपि

---

§ २५२. (**सांख्य पूर्वपक्ष**)—पुरुष तो शुद्ध चैतन्यस्वरूपी है, वह तिनकेको टेढ़ा करनेकी भी शक्ति न रखनेके कारण अकर्ता है । वह भोक्ता भी साक्षात् नहीं है किन्तु करने-धरने वाली जड़ प्रकृतिके द्वारा ही भोगता है । वह अज्ञानरूपी अन्धकारसे ग्रस्त होनेसे प्रकृतिमें होनेवाले सुखादिफलोंको अपने स्वरूपमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण अपना ही मानता हुआ सुखी होता है । और अपनी इस खुशीमें मोहसे प्रकृतिको सुखरूप मानकर संसार चक्रमें पड़ा हुआ है । जब इसे यह तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है कि—'अरे, यह प्रकृति ही समस्त दुःखोंकी जड़ है, मेरा इससे संसर्ग होना उचित नहीं है' तब इस भेदविज्ञानसे यह आत्मा उस प्रकृतिके द्वारा लाये गये कर्मफलोंको नहीं भोगता, उनकी तरफ देखता भी नहीं है । प्रकृति भी बड़ी शरमदार है । उसने जब एक बार ही यह जान लिया कि—'यह पुरुष मुझसे विरक्त हो गया है, इसने मुझे कुरूपा समझ लिया है और अब यह मेरे द्वारा लाये गये कर्मफलोंको नहीं भोगेगा' तब वह कोढ़वाली स्त्रीकी तरह स्वयं ही पुरुषके पास नहीं जायगी, उससे खुद दूर रहेगी । इस तरह प्रकृतिका संसर्ग छूट जानेपर पुरुष अपने निजी शुद्ध चैतन्य मात्रमें स्थित हो जाता है, यही स्वरूपावस्थिति मोक्ष है । पुरुषका स्वरूप चैतन्यमय है । यह चेतनाशक्ति, अपरिवर्तनशील नित्य है, अप्रतिसंक्रमादर्पणकी तरह स्वयं विषयोंके आकार तो नहीं होती, परन्तु प्रदर्शितविषया बुद्धिके द्वारा विषयोंका प्रदर्शन करती है और अनन्त है । मुक्तात्मा इसी शुद्ध चैतन्य स्वरूपमें अवस्थित होता है सुख आदि स्वरूप नहीं; क्योंकि सुख पुरुषका स्वभाव नहीं है यह तो प्रकृतिका कार्य है । प्रकृति तो संसारका नाश होनेसे मुक्त जीवके प्रति नष्ट हो चुकी है उसका अधिकार अब मुक्त पुरुषपर नहीं रहा वह मुक्त पुरुषके प्रति चरितार्थ हो चुकी है ।

§ २५३. **जैन (उत्तरपक्ष)**—आपने संसारी आत्माको अज्ञानान्धकारसे आच्छादित बताया था; तो क्या अज्ञानका नाम ही अन्धकार है या अज्ञान और अन्धकार दो वस्तुएँ है ? यदि अज्ञान का नाम ही अन्धकार है और अज्ञानी पुरुष प्रकृतिके सुखको अपना सुख मानता है; तो

---

१. 'तत्प्रधानावगमं प्रति यदा पुरुषस्य सम्यग् ज्ञानमुत्पद्यते तदा तेन ज्ञानेन दृष्टा प्रकृतिः पुरुषसङ्गान्निवर्तते । स्वैरिणीव पुरुषेणोपलक्षिता । अयं इयमसाध्वी मां मोहयति तस्मान्न ममानया कार्यमितिवत् । तस्यां च निवृत्तायां मोक्षं गच्छति ।"—सांख्य० माठर० श्लो० ६१ । २. "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च ।" —योगभा० १।२ । ३. —माठर—भ० १ । ४. —या अत्र—भ० २ ।

सुखादिफलं किं नात्मस्थं मन्येत, ज्ञानस्य बुद्धिधर्मत्वाद्बुद्धेश्च प्रकृत्या सममुपरतत्वात्, मुक्तात्मनोऽपि ज्ञानाभावेनाज्ञानतमश्छन्नत्वाविशेषात्। द्वितीयपक्षे तु किमिदमज्ञानादन्यत्तमो नाम। रागादिकमिति चेत्; तन्न; तस्यात्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतयात्माच्छादकत्वानुपपत्तेः। आच्छादकत्वे वा मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यात्, अविशेषात्।

§ २५४. किं च संसार्यात्मनोऽकर्तुरपि भोक्तृत्वेऽङ्गीक्रियमाणे कृतनाशाकृतागमादयो दोषाः प्रसज्यन्ते।

§ २५५. [1]किं च, प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः केन कृतः किं प्रकृत्यात्मना वा। न तावत्प्रकृत्या, तस्याः सर्वगतत्वान्मुक्तात्मनोऽपि तत्संयोगप्रसङ्गः[2]। अथात्मना, तर्हि स आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूपः सन् किमर्थं प्रकृतिमावसते। तत्र कोऽपि हेतुरस्ति न वेति वक्तव्यम्। अस्ति चेत्, तर्हि स हेतुः प्रकृतिर्वा स्यात् आत्मा वा। अन्यस्य कल्याप्यनभ्युपगमात्। आद्यपक्षे यथा सा प्रकृतिस्तस्यात्मनः प्रकृतिसंयोगे हेतुः स्यात्, [3]तथा मुक्तात्मनः किं न स्यात्। प्रकृतिसंयोगात्पूर्वं शुद्धचैतन्यस्वरूपत्वेनो-

---

मुक्त पुरुष भी अज्ञानी ही हैं, क्योंकि ज्ञान तो बुद्धिका धर्म है और बुद्धि प्रकृतिके साथ ही साथ मुक्त पुरुषसे विदा हो चुकी है। तात्पर्य यह कि मुक्त पुरुष भी बुद्धिके नष्ट हो जानेसे अज्ञानी हो है, अतः अज्ञान अन्धकारसे व्याप्त होनेके कारण वे भी प्रकृतिके सुखको अपना सुख क्यों नहीं मानते और हमारी ही तरह संसारी क्यों नहीं हो जाते ? क्योंकि यदि हममें अभीतक विवेकज्ञान उत्पन्न न होनेके कारण अज्ञान है तो मुक्त पुरुषोंमें विवेकज्ञान उत्पन्न होकर भी नष्ट हो जानेके कारण अज्ञान है। ज्ञानका उत्पन्न न होना और होकर नष्ट हो जाना करीब करीब एक ही बात है। यदि अज्ञानसे अन्धकार भिन्न वस्तु है; तो बताइए वह कौन सा अज्ञान से भिन्न अन्धकार है जिससे आच्छादित होकर आत्मा अपने स्वरूपको भूल जाता है ? राग आदि तो अन्धकार होकर आत्माके आवरण नहीं हो सकते; क्योंकि ये भी आत्माके धर्म न होकर अत्यन्त भिन्न प्रकृतिके ही धर्म हैं, अतः वे आत्माके आच्छादक नहीं हो सकते। यदि अत्यन्त भिन्न प्रकृतिके धर्म होकर भी आत्माके आवारक हों तो मुक्तात्माओंके स्वरूपको भी ये ढँक देवें, जिस तरह प्रकृति हमारी आत्माओंसे भिन्न होकर भी उसके रागादि धर्म हमारी आत्मामें अपना प्रभाव जमा सकते हैं उसी तरह मुक्तात्माओंपर भी उन्हें अपना असर दिखाना ही चाहिए।

§ २५४. संसारी आत्माको कर्ता नहीं मानकर भी भोक्ता माननेमें कृतनाश और अकृतागम नामके बड़े भारी दोष होंगे। जिस बिचारी प्रकृतिने परिश्रम करके काम किया उसे तो उसका फल नहीं मिला और जिस निकम्मे पुरुषने कुछ भी किया-कराया तो है नहीं पर फल भोगनेको उसे ही बिठाया जाता है। यह तो 'करे कोई और भोगे कोई' वाली बात हुई।

§ २५५. आप यह बताइए कि—प्रकृति और पुरुषका संयोग किया किसने ? क्या प्रकृति अपने आप पुरुषपर रीझ गई या पुरुष ही प्रकृतिपर मोहित हुआ है ? यदि प्रकृतिने स्वयं संयोग किया होता; तो प्रकृति तो सर्वव्यापी है अतः मुक्तपुरुषोंसे भी उसे संयोग करना चाहिए। यदि आत्माने ही प्रकृतिपर मोहित होकर इससे सम्बन्ध किया है; तो यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा क्यों इस प्रकृतिपर मोहित हुआ और किस प्रयोजनसे उसने इसके साथ अपना सम्बन्ध किया ? आत्माके इस प्रकृति संयोगका कोई कारण है या नहीं ? यदि कोई कारण है, तो वह कारण या तो प्रकृति ही हो सकती है या आत्मा ? इन दोसे भिन्न तीसरी वस्तु तो है ही नहीं जो इनके संयोगमें कारण हो सके। यदि प्रकृति ही कारण है, तो जिस तरह प्रकृति संसारी आत्माका

---

१. –ज्ञातं नाम म० २। २. अपि च भ० १, म० २, प० १, प० २। ३. –ग: अथा—म० २।
४. तथात्मनः म० १।

भयोरप्यविशेषात् नियामकाभावाच्च । द्वितीयपक्षे स आत्मा प्रकृत्यात्मनोः संयोगे हेतुत्वं प्रतिपद्यमानः किं[1] स्वयं प्रकृतिसहकृतः सन् हेतुर्भवति तद्वियुक्तो वा । आद्ये तस्यापि प्रकृतिसंयोगः कथमित्यनवस्था । द्वितीये पुनः स प्रकृतिरहित आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूपः सन् किमर्थं प्रकृत्यात्मनोः संयोगे हेतुत्वं प्रतिपद्यते । तत्र कोऽपि हेतुर्विलोक्य इति तदेवावर्त्तते इत्यनवस्था । इति सहेतुकः[2] प्रकृत्यात्मसंयोगो निरस्तः । अथ निर्हेतुकः; तर्हि मुक्तात्मनोऽपि प्रकृतिसंयोगप्रसङ्गः ।

§ २५६. किं च, अयमात्मा प्रकृतिमुपादत्तानः पूर्वावस्थां जह्यात्, न वा । आद्ये अनित्यत्वापत्तिः । द्वितीये तदुपादानमेव दुर्घटम् । न हि बाल्यावस्थामत्यजन् देवदत्तस्तरुणत्वं प्रतिपद्यते । तत्र कथमपि सांख्यमते प्रकृतिसंयोगो घटते ततश्च संयोगाभावाद्वियोगोऽपि दुर्घट एव, 'संयोगपूर्वकत्वाद्विभोगस्य[4] ।

§ २५७. किं च, यदुक्तं 'विवेकख्यातेः' इत्यादि; तदविचारितरमणीयम् । तत्र केयं ख्यातिर्नाम प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोर्भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्; सा कस्य—प्रकृतेः

प्रकृतिके साथ संयोग करनेमें कारण होती है उसी तरह वह मुक्तात्माओंके साथ अपना संयोग क्यों नहीं करा देती ? प्रकृति संयोगके पहले तो संसारी और मुक्त दोनों ही आत्माएँ शुद्ध चैतन्यस्वरूपवाली ही हैं उनमें कुछ भी ऐसी विशेषता नहीं है जिससे संसारी आत्माके ही साथ प्रकृति संयोगको अवसर मिले । यदि आत्मा प्रकृतिसंयोगमें कारण है; तो वह आत्मा जब प्रकृति संयोगमें कारण होता है तब वह अकेला ही बिना प्रकृतिके कारण हो जाता है या प्रकृतिके साथ ? यदि प्रकृति सहित होकर आत्मा प्रकृतिसंयोगमें कारण होता है; तो 'यह प्रकृतिका संयोग किससे हुआ—प्रकृतिसे या आत्मासे' इस प्रश्नको बार-बार दुहरानेसे अनवस्था दूषण होगा। यदि अकेला ही कारण होता है; तब वही प्रश्न फिर होगा कि—'प्रकृति रहित, शुद्ध चैतन्यस्वरूपी पुरुष किस कारणसे आत्मा और प्रकृति संयोगमें कारण होता है ? उसमें कोई हेतु है या नहीं' इस तरह इसी प्रश्नके बराबर चालू रहनेसे अनवस्था नामका दूषण होगा। इस तरह प्रकृति और आत्माका संयोग सहेतुक तो सिद्ध नहीं हो पाता । यदि प्रकृति संयोग निर्हेतुक माना जाय; तो मुक्त आत्माओंसे भी प्रकृतिका संयोग हो जाना चाहिए ।

§ २५६. यह आत्मा जिस समय प्रकृतिको ग्रहण करता है उस समय अपने पहलेके अकेलेपनको छोड़ता है या नहीं ? यदि अपने अकेलेपनको छोड़ देता है; तो परिवर्तन होनेके कारण अनित्य हो जायगा । यदि अकेलेपनको नहीं छोड़ता; तब वह प्रकृतिको ग्रहण करके दुकेला बन ही नहीं सकता । जिस देवदत्तने अपना बचपन नहीं छोड़ा है वह जवान कैसे हो सकता है ? जवानीका आना बचपनको त्यागे बिना हो ही नहीं सकता । जब तक पुरुष अपना कुंआरापन अकेलापन नहीं छोड़ेगा तब तक वह प्रकृतिसखी का संगी बन गृहस्थ नहीं हो सकेगा । इस तरह साख्यमतमें प्रकृतिका संयोग किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता, जब संयोग ही नहीं तब प्रकृतिवियोगरूप मोक्षकी बात ही दूर है, क्योंकि वियोग तो संयोगपूर्वक ही होता है ।

§ २५७. आपने जिस विवेकख्याति—भेदज्ञानकी चर्चा की थी वह भी एक तरहसे बिना विचारे ही भली मालूम होनेवाली है । आप बताइए कि विवेकख्यातिका अर्थ क्या है ? अपने-अपने स्वरूपमें स्थित प्रकृति और पुरुषको भिन्न-भिन्न प्रतिभास होना ही यदि विवेकख्याति है,

---

१. किं प्रकृति—म० २ । २. प्रकृत्यात्मन संयो—आ०, क० । ३. तन्न सांख्यमते कथमपि प्र—म० २ । ४. संयोगविपूर्वं—म० २ । ५. "तत्र केयं विवेकख्यातिर्नाम प्रकृतिपुरुषयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत्, सा कस्य—प्रकृतेः, पुरुषस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ।"—न्यायकुसु० पृ० ८२१ ।

पुरुषस्य वा । न प्रकृतेः; [1]तस्या असंवेद्यपर्वणि स्थितत्वादचेतनत्वादनभ्युपगमाच्च । नाप्यात्मनः, तस्याप्यसंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात् ।

§ २५८. तथा यदपि 'विज्ञातविरूपाहम्' इत्याद्युक्तम्, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्,[2] प्रकृतेर्जडतयेत्थं विज्ञानानुपपत्तेः । किं च, विज्ञातापि प्रकृतिः संसारदशावन्मोक्षेऽप्यात्मनो भोगाय स्वभावतो वायुवत्प्रवर्तेता तत्स्वभावस्य नित्यतया तदापि सत्त्वात् । नहि प्रवृत्तिस्वभावो वायुर्विरूपतया येन ज्ञातस्तं प्रति तत्स्वभावादुपरमत इति कुतो मोक्षः स्यात् । तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैकरूपता-हानिः, पूर्वस्वभावत्यागेनोत्तरस्वभावोपादानस्य नित्यैकरूपतायां विरोधात्, परिणामिनि[4] नित्य एव तदविरोधात् । प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे आत्मनोऽपि तदङ्गीकर्तव्यं तस्यापि प्राक्तनसुखोपभोक्तृस्वभावपरिहारेण मोक्षे तदभोक्तृस्वभावस्वीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तत्वादिस्वभावोपादानाच्च । सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वम-

तो ऐसी विवेकख्याति प्रकृतिको होती है या पुरुषको ? प्रकृतिको तो नहीं हो सकती; क्योंकि वह स्वयं असंवेद्यपर्व—जहां किसी पदार्थका ज्ञान नहीं होता—में स्थित है अर्थात् ज्ञानसे शून्य है, अचेतन है और आप स्वयं प्रकृतिमें विवेकख्याति मानते भी नहीं हैं। इसी तरह आत्माको भी विवेकख्याति—भेद विज्ञान नहीं हो सकती; क्योंकि वह भी स्वयं असंवेद्यपर्वमें स्थित होनेसे अज्ञानी है—ज्ञानशून्य है ।

जो आपने कहा था कि प्रकृति भी समझ लेती है कि पुरुषने मुझे कुरूपा समझ लिया है इत्यादि; वह तो निरा बेसमझीका कथन है; क्योंकि जब प्रकृति अचेतन है, जड़ है, तब वह इतनी समझदार कैसे हो सकती है ? इतना परिज्ञान किसी भी जड़ या अचेतन पदार्थको कभी भी सम्भव नहीं है ।

मान लो कि पुरुषने उसे कुरूपा समझ भी लिया है तब भी अचेतन प्रकृतिको संसारदशाकी तरह मोक्ष अवस्थामें भी स्वभावसे ही भोगके लिए पहुँच जाना चाहिए, जिस तरह कि वायु स्वभावसे ही सर्वत्र चलती रहती है । प्रकृतिका 'पुरुषके पास भोगको जाना' रूप स्वभाव तो नित्य होनेसे सदा बना ही रहता है, अतः बिना रोक-टोक मोक्षमें भी पुरुषके पीछे लगकर भोगकी सृष्टि करनी चाहिए । मान लो किसी आदमीको वायु अच्छी नहीं लगती या वायुसे चिढ़ है, तो क्या स्वभावतः बहनेवाली वायु उस आदमीसे बच करके किनाराकशी करके चलेगी ? इस तरह जब मुक्त आत्माओंके पास भी भोगके निमित्त प्रकृति पहुँच जायगी तब मोक्ष कहाँ रहा ? वह तो भोगभूमि ही हो जायगा । यदि उस समय प्रकृतिका पुरुष भोगरूप स्वभाव नष्ट हो जाता है; तो वह नित्य एक रूप नहीं रह सकेगी; क्योंकि जिस पदार्थमें किसी एक पूर्वस्वभावका त्याग तथा नये स्वभावका उत्पाद होता है वह नित्य एक रूप नहीं रह सकता । परिणामी नित्य पदार्थमें ही पूर्वस्वभावका त्याग तथा उत्तर स्वभावके ग्रहणकी व्यवस्था हो सकती है । यदि प्रकृति परिणामी-परिवर्तनशील होकर भी नित्य है; तो आत्माको भी कूटस्थनित्य न मानकर परिणामी नित्य ही मानना चाहिए । आत्मा भी तो मोक्ष अवस्थामें अपने पहलेके भोगीस्वभावको छोड़कर अब एक नये योगी—अभोगी—स्वभावको धारण करता है, अर्थात्—संसारी स्वभावको छोड़कर मुक्त स्वभावको ग्रहण करता है । इस तरह जब आत्मा कूटस्थ नित्यकी जगह परिणामी नित्य सिद्ध हो गया तब उसमें सुख ज्ञान आदि परिणाम भी मान लेने चाहिए । यदि उसका अनन्त सुख ज्ञान आदि रूपसे

---

१. "तस्याः असंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात्, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमाच्च ।"—न्यायकुमु० पृ० ८२२ । २.—तत्त्वादनभ्यु—म० २ । ३. "प्रकृतेर्जडतया इत्थं विज्ञानानुपपत्तेः—न्यायकुमु० ८२२ । ४. णामिनित्य—म० २ ।

स्यान्युपगन्तव्यम् अन्यथा मोक्षाभावप्रसङ्गः। ततश्च न कथमपि सांख्यपरिकल्पितो मोक्षो घटत इति यथोक्तस्वरूप एवानन्तसुखादिस्वरूपोऽभ्युपगन्तव्यः।

§ २५९. अथ सौगताः संगिरन्ते। ननु ज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण कस्याप्यात्मनोऽभावात्कस्य मुक्तौ ज्ञानादिस्वभावता प्रसाध्यते। मुक्तिश्चात्मदर्शिनो दूरोत्सारिता—यो हि पश्यत्यात्मानं स्थिरादिरूपं तस्यात्मनि स्थैर्यगुणदर्शननिमित्तस्नेहोऽवश्यंभावी, आत्मस्नेहाच्चात्मसुखेषु परितृप्यन् सुखेषु तत्साधनेषु च दोषांस्तिरस्कृत्य गुणानारोपयति, गुणदर्शी च परितृप्यन्ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते। ततो यावदात्मदर्शनं तावत्संसार एव। तदुक्तम्—

"यः पश्यत्यात्मानं तथास्यात्[1]मिति शाश्वतः[2] स्नेहः।
स्नेहात्सुखेषु [3]तृप्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥ १॥
गुणदर्शी परितृप्यन्ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत्स संसारः॥ २॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः समायान्ति॥ ३॥" [प्र० ब० १।२१९-२२१]

परिणमन नहीं होता तो उसे मोक्ष भी नहीं हो सकेगा। इस तरह सांख्योंके द्वारा माना गया मोक्षका स्वरूप किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता अतः हमारे द्वारा माना गया अनन्तसुख ज्ञान आदि स्वरूप वाला ही मोक्ष युक्तिसंगत है तथा वही माननेके योग्य है।

§ २५९. **बौद्ध (पूर्वपक्ष)**—जब प्रतिक्षणमें नष्ट होनेवाले ज्ञानक्षणोंकी धाराके सिवाय किसी स्थायी आत्माका सद्भाव ही नहीं है तब आप मुक्तिमें किसको ज्ञानादि स्वभाववाला सिद्ध करना चाहते हैं? यदि कोई ज्ञान आदि स्वभावोंमें रहनेवाला अनुयायी आत्मा होता तो वही मोक्षमें अनन्तज्ञान आदि स्वभावोंको धारण कर लेता। पर ज्ञानधाराको छोड़कर आत्मा नामका कोई पदार्थ ही नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि आत्मदर्शी—आत्माको सत्ता माननेवालेको मुक्ति ही नहीं हो सकती। जो आत्माको नित्य सदा रहनेवाली देखता है उसे आत्मामें नित्यत्व आदि गुणोंके कारण राग अवश्य ही होगा। जब आत्मामें रागका सिलसिला जारी हुआ तो वह आत्माके सुखके लिए प्रयत्न करता है, सुखके साधनोंको जुटाता है। वह सुखके साधनोंको जुटाते समय उसमें होनेवाले हिंसा आदि दोषोंकी ओरसे आँखें बन्द कर उनमें गुण ही गुण देखता है और ममतापूर्वक 'यह मेरे हैं' इस बुद्धिसे सुखके साधनभूत स्त्री धनधान्य आदिका संग्रह करता है और मकड़ीके जालकी तरह इस संसारके जालमें फँसता जाता है। तात्पर्य यह कि तमाम संसारकी जड़ यह आत्मदर्शन ही है। सब पदार्थोंको आत्माके लिए ही जोड़ते हैं, यदि आत्माकी ओरसे ही दृष्टि हट जाय तो कोई किसलिए इस संसारके चक्करमें पड़ेगा फिर तो 'न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी' वाली बात होगी। कहा भी है—"जो आत्माको नित्यत्व आदि रूपमें देखता है उसे आत्मामें 'अहं मैं' इस प्रकारका शाश्वत-बहुत दिनों तक टिकाऊ स्नेह हो जाता है। जहाँ स्नेह हुआ कि उसके सुखकी चिन्ता हुई। सुखकी तृष्णामें यह मनुष्य सुखके साधनोंके इकट्ठे करते समय होनेवाले हिंसा आदि दोषोंको दृष्टिसे ओझल करके उनमें गुण ही गुण देखता है। और तृष्णापूर्वक 'यह मेरा है यह मेरा है' इस ममकारके साथ उन पदार्थोंके मोहमें पड़ जाता है उनसे बुरी तरह चिपट जाता है। तात्पर्य यह कि जब तक 'आत्मा है' यह दुराग्रह चित्तमें रहता है तब तक यह सब जाल रचना पड़ता है, यह आत्मदर्शन ही संसारके फैलनेका मूल कारण है। जब हम किसी एकको 'अपना आत्मा' मान लेते हैं तब यह स्वाभाविक ही है कि

---

१. —हमिति हि आ०, क०। २.—तस्ने—आ०। ३. तृप्यति प० २।

ततो मुक्तिमिच्छता पुत्रकलत्रादिकं स्वरूपं चानात्मकमनित्यमशुचि दुःखमिति [1]श्रुतमय्या चिन्तामय्या च भावनया भावयितव्यम् एवं [2]भावयतस्तत्राभिष्वङ्गाभावाद्वैराग्यविशेषाद्धेरान्यमुपजायते, ततः सास्रवचित्तसंतानलक्षणसंसारविनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते ।

§ २६०. अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्लेशलक्षणात्तपसः सकलकर्मप्रक्षयान्मोक्षो भविष्यतीति चेत्; न; कायक्लेशस्य कर्मफलतया नारकादिकायसंतापवत् तपस्त्वायोगात्[3] । विचित्रशक्तिकं च कर्म, विचित्रफलदानान्यथानुपपत्तेः । तच्च कथं कायसंतापमात्रात् क्षीयते, अतिप्रसङ्गात् ।

§ २६१. अथ तपःकर्मशक्तीनां संकरेण [4]क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि तपसश्चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयः । नन्वेवं[5] स्वल्पक्लेशेनोपवासादिनाप्यशेषस्य कर्मणः क्षयापत्तिः[6], शक्तिसांक-

---

दूसरे पदार्थ 'पराये' माने जायें। और इस स्व और परका विभाग होते ही स्व-अपनेका परिग्रह-राग तथा परसे द्वेष होने लगता है। इन परिग्रह और द्वेषके होते ही क्रोध मान काम लोभ आदि अनेकों दोष आकर अपना अधिकार जमा लेते हैं; क्योंकि ये सब छोटे-मोटे दोष राग-द्वेषकी सेनाके ही सैनिक रूप हैं।" अतः जिस व्यक्तिको मुक्ति चाहना है उसे पुत्र स्त्री आदि पदार्थोंको अनात्मक—आत्मस्वरूपसे भिन्न, अनित्य, अशुचि तथा दुःखरूप देखना चाहिए। और श्रुतमयी-शास्त्राभ्यास या शब्दसे होनेवाला परार्थानुमान-तथा चिन्तामयी-स्वयं विचारना या स्वार्थानुमान—भावनाओं उक्त विचारोंको खूब दृढ़ करना चाहिए—उनकी बारम्बार भावना करते रहना चाहिए। इस तरह संसारके समस्त स्त्री पुत्रादि पदार्थोंमें अनित्य आत्मस्वरूपसे भिन्न तथा दुःखादिरूप भावना होनेसे इनसे ममत्व हटकर धीरे-धीरे वैराग्य हो जायगा। इस वैराग्यसे अविद्या और तृष्णा रूप आस्रवसे युक्त चित्तसन्तति स्वरूप संसारका नाश हो जायगा। यही अविद्या तृष्णायुक्त चित्तसन्ततिका नाश ही मोक्ष है।

§ २६०. **शंका**—इस तरहकी अनित्य या दुःख रूप भावना न भाकर भी अब कायक्लेश रूप तपसे भी समस्त कर्मोंका नाश होकर मुक्ति हो सकती है तब आप भावनाओंपर ही अधिक भार क्यों देते हैं ?

समाधान—जिस प्रकार नरकके दुःख पूर्वकृत कर्मोंके फल हैं, उसी तरह कायक्लेश भी पूर्वकृतकर्मोंका फल ही है, उसे तप हो नहीं कह सकते। तप तो इच्छाओंका निरोध करके स्वयं किया जाता है पर यह कायक्लेश तो कर्मके फलसे होता है किया नहीं जाता। कर्मोंकी विचित्र शक्तियाँ हैं जिनसे नाना प्रकारके कायक्लेश आदि रूप फल मिलते हैं। ऐसे विचित्रफल देनेवाले विचित्र शक्तिधारी कर्म मामूली शरीरको क्लेश देनेवाले तपसे कैसे नष्ट किये जाते हैं ? एकरूप कारण अनेक रूपवाली वस्तुको नष्ट नहीं कर सकता।

§ २६१. **शंका**—तपमें ऐसी शक्ति है जिससे वह कर्मोंकी शक्तिमें परिवर्तन करके उन्हें संकर—एक रूप बनाकर उनका नाश कर देता है। अथवा तप और पूर्वकर्म दोनोंकी शक्ति मिलकर कर्मोंका नाश कर देगी, अतः एक रूपवाले अकेले तपसे ही विचित्र शक्तिवाले कर्मोंका क्षय हो

---

१. "तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्यः परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता परं प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निवृत्ता चिन्तमयीभावनामारभते।" —आप्तप० का० ८३। २. —ज्ञानभि—भ० २। ३. "फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनुमीयते। कर्मणां तापसंक्लेशात् नैकरूपात्ततः (क्षय) ॥ फलं कथंचित्तज्जन्यात्पं स्यात् न विजातिमत्। अथापि तपसः शक्त्या शक्तिसंकरसंश्रयैः। क्लेशात् कुतश्चिद्धीयेताशेषमक्लेशलेशतः। यदीष्टमपरं क्लेशात् ततपः क्लेश एव चेत्। तत् कर्मफलमित्यस्मात् न शक्तेः संकरादिकम् ॥"—प्र० वा० १।२७६–७८। ४. क्षयसंकरेण शी—भ०,२। ५. तन्नैवं भ० २। ६. शक्तिशक्तिः सा—भ० २। उद्धृतो इमौ। न्यायकुमु० पृ० ८४१। स्या० र० पृ० ११९८।

र्यान्यथानुपपत्तेः। उक्तं च—

"कर्मक्षयाद्धि मोक्षः स च तपसस्तच्च कायमंतापः।
कर्मफलत्वान्नारकदुःखमिव कथं तपस्तत्स्यात् ॥ १ ॥
अन्यदपि चैकरूपं [1]तच्चित्रक्षयनिमित्तमिह न स्यात्।
[2]तच्छक्तिसंकरः [3]क्षयकारी त्यपि वचनमात्रम् ॥ २ ॥"

तस्मान्नैरात्म्यभावनापकर्षविशेषाच्चित्तस्य निःक्लेशावस्था मोक्षः।

§ २६२. **अत्र प्रतिविधीयते। तत्र यत्तावदुक्तं 'ज्ञानक्षणप्रवाह' इत्यादि; तदविचारितविलपितम्; ज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरिक्तं मुक्ताकणानुस्यूतसूत्रोपममन्वयिनमात्मानमन्तरेण कृतनाशाकृतागमादिदोषप्रसक्तेः स्मरणाद्यनुपपत्तेश्च।**

हो जायगा, तब भावनाओंके ऊपर इतना जोर देनेका क्या कारण है ?

समाधान—तब सामूली उपवास आदि कायक्लेशसे भी सभी कर्मोंको शक्तिमें परिवर्तन होकर उनमें एकरूपता हो जाय और उन कर्मोंका नाश हो जाना चाहिए; क्योंकि आप तो तप और कर्मोंकी शक्तिके मिश्रणमें ऐसी ही शक्ति बताते हैं जिससे विचित्र शक्तिवाले कर्मोंकी विचित्रता परिवर्तित होकर एकरूपता बन जाती है और एक रूपवाले तपसे एक रूपवाले कर्मोंका नाश सहज ही हो जाता है। कहा भी है—"कर्मोंके क्षयसे मोक्ष होता है, और कर्मोंका क्षय होता है तपसे। जब तप मात्र कायक्लेश रूप ही है, जो कि नारकी जीवोंके दारुण दुःखकी तरह मात्र पूर्वकृत कर्मोंका फल ही हो सकता है, तो उन कर्मोंके फलरूप कायक्लेशको तप कैसे कह सकते हैं ? अन्यथा नारकियोंके कायक्लेशको भी तप कहना चाहिए। एकरूप तपसे विचित्र शक्तिवाले कर्मोंका क्षय होना तो नितान्त असम्भव है। तपको कर्मोंकी शक्तिमें परिवर्तन करके उनमें संकर—एकरूपता लानेवाला मानकर कर्मोंका क्षय करनेवाला कहना अथवा तप और कर्मोंकी मिश्रित शक्तिको कर्मक्षय करनेवाला कहना तो केवल बकवाद करना ही है। तपमें ऐसी शक्ति हो ही नहीं सकती।" इस तरह 'आत्मा नहीं है या संसार निरात्मक है—आत्मस्वरूप नहीं है' इस प्रकारकी नैरात्म्य भावना जब उत्कृष्ट अवस्थामें पहुँच जाती है तब उसके द्वारा चित्तके अविद्या तृष्णा आदि क्लेशोंका नाश होकर उसकी निःक्लेश अवस्थाका नाम ही मोक्ष है। यही चित्त जब अविद्या तृष्णा रूप आस्रवसे युक्त होता है तब संसार कहलाता है और जब अविद्या तृष्णारूप क्लेशोंका, आस्रवोंका नाश होकर वह निरास्रव निःक्लेश हो जाता है तब वही मोक्ष कहा जाता है।

§ २६३. जैन (उत्तरपक्ष)—आपने जो ज्ञानप्रवाहको ही आत्मा कहा है वह तो सचमुच बिना विचारे ही यद्वा तद्वा कुछ कह दिया है। यदि मोतियोंमें पिरोये गये धागेकी तरह पूर्व तथा उत्तर ज्ञानक्षणोंमें आत्मस्वरूपसे अनुयायी कोई आत्मा नहीं है; तब कृतनाश अकृतागम आदि दोष होंगे। जिस ज्ञानक्षणने किसी जीवकी हत्या की वह तो उसी समय नष्ट हो जायगा अतः उसे तो अपने कियेका कुछ भी फल नहीं मिला, यह तो कृतनाश हुआ। और अन्य जिस ज्ञानक्षणने हत्या नहीं की उस बिचारेको हत्याके अपराधमें फाँसीका सजा मिली, यह हुआ अकृतका आगम 'करे कोई और भोगे कोई' इस नियमसे तो जगत् अन्धेर नगरी बन जायगा। जिसे हमने रुपये दिये थे वह भी नष्ट हो गया तथा हम भी, तब कौन किससे स्मरण करके रुपयेका लेन-देन करेगा ? जिसने पदार्थोंका अनुभव किया था जब वह समूल नष्ट हो गया तब स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि कैसे हो सकेंगे ?

---

१. तच्चित्रं क्षय—म० २। २. तत्कर्मशक्ति—म० २। ३. करक्षय—प० १, प० २। ४. क्षयकरी—आ०, क०।

§ २६३. यत्पुनरुक्तं 'आत्मानं यः पश्यति' इत्यादि; तत्सूक्तमेव; [1]'किन्त्वज्ञो जनो दुःखानुषक्तं सुखसाधनं पश्यन्नात्मस्नेहात्सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्ततेऽपथ्यादौ[2] मूर्खातुरवत् । हिताहितविवेचकस्तु[3] 'तावात्विकसुखसाधनमङ्गनादिकं परित्यज्यात्मस्नेहावात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते, पथ्यादौ चतुरातुरवत् ।

§ २६४. यदप्युक्तं 'मुक्तिमिच्छता' इत्यादि; तदप्यज्ञानविजृम्भितम्; [5]'सर्वथाऽनित्यानात्मकत्वादिभावनाया निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात्सर्वथा नित्यादिभावनावन्मुक्तेर्हेतुत्वानुपपत्तेः । नहि कालान्तरावस्थाय्येकानुसंधातृव्यतिरेकेण भावनाप्युपपद्यते । तथा यो हि निगडादिभिर्बद्धस्तस्यैव तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानानुष्ठानाभिसंधिव्यापारे सति मोक्षः, इत्येकाधिकरण्ये सत्येव बन्धमोक्ष-

§ २६३. आपने जो 'आत्मदर्शीको संसार होता है' इत्यादि विवेचन किया है, वह किसी हद तक अच्छा है। बात यह है कि—अज्ञानी मोही आत्मा दुःखसे मिश्रित सुख-साधनोंको देखकर आत्माके मिथ्यारागसे उस दुःख मिश्रित सांसारिक सुखके स्त्री-पुत्रादि साधनोंको जुटानेमें प्रवृत्ति करता है। जिस तरह कोई मूर्ख रोगी अपथ्यको ही पथ्य मानकर खा लेता है और दिन दूना रोगमें फँसता जाता है, उसी तरह यह मूढ़ आत्मा दुःखको ही सुख मानकर स्त्री पुत्रादिमें ममता करके राग करता है और संसारके जालमें उलझता जाता है। परन्तु जो विवेकी हैं जिन्हें हित और अहितका यथार्थ परिज्ञान है वे ज्ञानी जीव इस मिथ्या सांसारिक सुखके कारण स्त्री आदिको छोड़कर आत्माके शुद्ध स्वरूपमें प्रेम करके अतीन्द्रिय सुखके साधनभूत मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करते हैं। जिस तरह समझदार रोगी वैद्यके द्वारा बताये गये पथ्यका सेवन कर जल्दी ही नीरोग हो जाता है उसी तरह आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्तिके उपायोंका आचरण करनेसे आत्माके परम अतीन्द्रिय सुख स्वरूपकी भी प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

§ २६४. आपने जो मुमुक्षुओंके लिए अनित्यत्व आदि भावनाएँ बतायी हैं वह तो सचमुच आपके अज्ञानका ही फैलाव है। संसारमें पदार्थ ही जब सर्वथा अनित्य नहीं हैं तब सर्वथा अनित्यत्व आदिकी निर्विषयक काल्पनिक मिथ्या भावनाएँ मोक्षमें कारण नहीं हो सकतीं। जिस तरह संसारमें सर्वथा नित्य पदार्थ कोई नहीं है उसी तरह सर्वथा अनित्य पदार्थकी सत्ता भी संसारमें नहीं है। अतः जैसे सर्वथा नित्यत्वकी भावना निर्विषयक है और उस मिथ्या काल्पनिक भावनासे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती उसी तरह सर्वथा क्षणिकत्वकी मिथ्या भावना भी मोक्षकी प्राप्तिमें किसी भी तरह सहायक नहीं हो सकती। जबतक अनेक ज्ञान क्षणोंमें रहनेवाला एक भावना करनेवाला पूर्व और उत्तरका अनुसन्धान करनेवाला आत्मा नहीं माना जायगा तबतक भावनाएँ बन ही नहीं सकतीं। देखो, जो व्यक्ति बेड़ी आदि बन्धनोंमें पड़ा है वही जब उन बन्धनोंके काटनेका ज्ञान, काटनेकी इच्छा तथा तदनुकूल प्रयत्न करता है तब उसीके बन्धन कटकर उसीको मुक्ति मिलती है इस तरह बँधनेसे लेकर कारणोंका ज्ञान इच्छा प्रयत्न आदि छूटने तकको सब बातें जब एक ही आत्मामें होती हैं तभी छूटनेकी भावना तथा उससे छूटना सम्भव होता है। एक अनुयायी आत्मा

१. किन्तु अज्ञो जनः दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकस्तु—।"—न्यायकुमु० पृ० ८४२। स्या० र० पृ० ११०८। २. —दौ मूर्खा—आ०, क०। ३. —विवेकस्तु म० २, प० २। ४.—कस्त्वतात्विक—आ०, क०। ५. "क्षणिकादिभावनाया मिथ्यारूपत्वात्, न च मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वमतिप्रसङ्गात्।"—प्रश० व्यो० पृ० २० घ०। "भावनाया विकल्पात्मिकायाः" श्रुतमय्याश्चिन्तामय्याश्चावस्तुविषयाया वस्तुविषयस्य योगिज्ञानस्य जन्मविरोधात्। कुतश्चिदतत्त्वविषयाद् विकल्पज्ञानात्तत्त्वविषयस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः।—आप्तप० का० ८३। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१। षड्द० बृह० श्लो० ५२। न्यायकुमु० पृ० ८४२।

व्यवस्था लोके प्रसिद्धा। इह त्वन्यः [1]क्षणो बद्धोऽन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानमन्यस्य चानुष्ठानाभिसंधेर्व्यापारश्चेति वैयधिकरण्यात्सर्वमयुक्तम्।

§ २६५. किं च, सर्वो बुद्धिमान् बुद्धिपूर्वं प्रवर्तमानः किंचिदिदमतो मम स्यादित्यनुसंधानेन प्रवर्तते। [2]इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमानो मोक्षो मम स्यादित्यनुसंदध्यात् क्षणः, संतानो वा। न तावत्क्षणः; तस्यैकक्षणस्थायितया निर्विकल्पतया चैतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वात्। नापि संतानः; तस्य संतानिव्यतिरिक्तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्।

§ २६६. किं च, निरन्वयविनश्वरत्वे च संस्काराणां मोक्षार्थः प्रयासो व्यर्थ एव स्यात्, यतो रागाद्युपरमो हि भवन्मते मोक्षः, उपरमश्च विनाशः, स च [3]निर्हेतुकतयाऽयत्नसिद्धः, ततस्तदर्थोऽनुष्ठानाविप्रयासो निष्फल एव।

माननेपर ही 'जो बँधा है वही छूटा' इस प्रकारकी बन्ध-मोक्षकी नियत व्यवस्था हो सकती है। संसारमें भी बँधना और छूटना एक अधिकरणमें ही देखे जाते हैं। पर आप तो जब किसी अनुयायी आत्माकी सत्ता ही नहीं मानते तब अन्य ज्ञानक्षण बँधेगा तो छूटनेके कारणोंका ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान क्षणको होगा तो उन उपायोंके आचरण करनेकी इच्छा किसी तीसरेको होगी और आचरण कोई चौथा ही क्षण करेगा, इस तरह सभी बातें भिन्न-भिन्न ज्ञान क्षणोंको होंगी तब बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था किसी भी तरह नहीं बन सकेगी।

§ २६५. संसारमें कोई भी बुद्धिमान् जब किसी कार्यमें जान-बूझकर प्रवृत्ति करता है तो यह सोचकर ही उसमें प्रवृत्त होता है कि—'इस कार्यके करने से मुझे अमुक लाभ होगा' अब आप बताइए कि आपके यहाँ मोक्षमार्गके अभ्यासमें प्रवृत्ति करनेवाला तथा 'इससे मुझे मोक्ष होगा' इस अभिप्रायको रखनेवाला विचारक कौन है? ऐसा विचार ज्ञानक्षण करेंगे या सन्तान? ज्ञानक्षण तो एक ही क्षण तक ठहर कर नष्ट हो जानेवाले हैं तथा निर्विकल्पक हैं, अतः वे इतना लम्बा विचार नहीं कर सकते। इतना बड़ा विचार तो दस बीस क्षण तक ठहरनेवाला सविकल्प ज्ञान ही कर सकता है। परस्पर भिन्न ज्ञान क्षणरूप सन्तानियोंसे पृथक् सत्ता रखनेवाली सन्तान तो बौद्ध मानते ही नहीं हैं, अतः जिस तरह क्षणिक ज्ञानक्षण उतना लम्बा विचार नहीं कर सकते उसी तरह उन ज्ञानक्षणरूप सन्तान भी उस विचार को करने में समर्थ नहीं हो सकती।

§ २६६. जब आपके यहाँ सभी पदार्थ क्षणिक हैं तथा रागादि संस्कार भी दूसरे क्षणमें निरन्वय-समूल नष्ट हो जाते हैं; तब रागादिका नाश भी अपने ही आप हो जायगा, और मोक्षकी प्राप्ति भी स्वतः ही हो जायगी, अतः सिर मुड़ाकर कषायसे वस्त्र धारण कर बुद्ध दीक्षा लेना व्यर्थ ही है, क्योंकि आपने रागादिके उपरमको ही मोक्ष माना है। उपरम का अर्थ है नाश। और नाश तो आपके यहाँ निर्हेतुक है, वह कारणों से नहीं होता किन्तु स्वभावसे ही अपने आप हो जाता है। अतः रागादिका नाश भी अपने ही आप अनायास ही हो जानेवाला है उसके लिए प्रव्रज्या लेना आदि प्रयत्न करना निरर्थक ही है।

---

१. "न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ—क्षणिकमेकं यच्चित्तं तत्संस्थौ बन्धमोक्षौ न स्याताम्। यस्य चित्तस्य बन्धः तस्य निरन्वयप्रणाशादुत्तरचित्तस्याबद्धस्यैव मोक्षप्रसङ्गात्। यस्यैव बन्धः तस्यैव मोक्ष इति एक चित्तसंस्थौ बन्धमोक्षौ।"—युक्त्यनु० टी० पृ० ४१। न्यायकुमु० पृ० ८४२। २. "इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमानः 'मोक्षो मम स्यात्' इत्यनुसंदध्यात्—क्षणः संतानो वा।—न्यायकुमु० पृ० ८४२। ३. "अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः। चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः॥"—आप्तमी० का० ५२। युक्त्यनु० टी० पृ० ४०। "निर्हेतुकतया विनाशस्य उपायवैयर्थ्यम्, अयत्नसाध्यत्वात्।"—प्रज्ञा० व्यो० पृ० २०। न्यायकुमु० पृ० ८४३।

§ २६७. किं च तेन मोक्षार्थानुष्ठानेन प्राक्तनस्य रागाविक्षणस्य नाशः क्रियते, भाविनो वानुत्पादः, तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः, संतानस्योच्छेदः[2], अनुत्पादो वा, निराश्रय (स्रव) चित्तसंतत्युत्पादो वा, तत्राद्योऽनुपपन्नः, विनाशस्य निर्हेतुकतया भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । द्वितीयोऽप्यत एवासाधीयान्, उत्पादाभावो ह्यनुत्पादः, सोऽभावरूपत्वात्कथं कुतश्चिदुत्पद्यते, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तच्छक्तेः क्षयोऽनुपपन्नः, तस्याप्यभावरूपतया निर्हेतुकत्वेन भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । संतानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्प्रयासः [5]कल्पनेन निरस्तम्, क्षणोच्छेदानुत्पादवत् । तयोरप्यभावरूपतया[6] निर्हेतुकत्वात्कुतोऽप्युत्पत्त्यनुपपत्तेः । किं च, वास्तवस्य संतानस्यानभ्युपगमात्कि तदुच्छेदादिप्रयासेन । न हि मृतस्य मारणं क्वापि वृथम्, तन्न संतानोच्छेदलक्षणा[7] मुक्तिर्घटते ।

§ २६८. अथ [8]निराश्रय (स्रव) चित्तसंतत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्प्रयाससाध्येति[9] पक्षस्तु ज्यायान् । केवलं[10] सा चित्तसंततिः सान्वया निरन्वया वेति वक्तव्यम् । आद्यं सिद्धसाधनम्;

§ २६७. अच्छा यह बताइए कि—मोक्ष के लिए जो प्रव्रज्या आदि धारण करते हैं उनसे क्या होता है ? क्या मौजूद रागक्षणका नाश होता है, या आगे राग उत्पन्न नहीं हो पाता, अथवा रागको पैदा करनेवाली शक्तिका नाश हो जाता है, किंवा सन्तानका उच्छेद हो जाता है, अथवा रागादि सन्तति आगे उत्पन्न नहीं हो पाती, या निरास्रव चित्तसन्तति उत्पन्न हो जाती है ? प्रव्रज्यासे रागादिका नाश तो नहीं हो सकता; क्योंकि आपके मतसे विनाश तो निर्हेतुक है वह किसी प्रव्रज्या आदि कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता वह तो स्वतः ही होता है। रागादिके अनुत्पादका मतलब है रागादिके उत्पादका अभाव; सो वह भी उत्पादका नाश ही है, अतः उसका कारणोंसे उत्पन्न होना असम्भव है क्योंकि आप विनाशको निर्हेतुक मानते हैं। यदि रागादि नाशकी किसी प्रव्रज्या आदि कारणसे उत्पत्ति मानी जायगी; तो आपके अहेतुक विनाशवाले सिद्धान्तका विरोध हो जायेगा। इसी तरह शक्तिका क्षय भी विनाश रूप ही है, अतः इसकी भी उत्पत्ति कारणों से नहीं हो सकती। इसी प्रकार सन्तानका उच्छेद या उसका अनुत्पाद—उत्पादाभाव भी विनाशरूप होनेसे क्षणोंके नाश और अनुत्पादकी तरह निर्हेतुक ही होंगे अतः इनके लिए भी प्रव्रज्या आदि अनुष्ठानोंका कोई उपयोग नहीं है। आप सन्तानको तो वास्तविक मानते ही नहीं हैं उसे तो आप काल्पनिक कहते हैं; तब ऐसी काल्पनिक सन्तानके उच्छेदके लिए क्यों प्रयत्न किया जाय। वह तो काल्पनिक होनेसे है ही नहीं, बिचारी अपने ही आप अच्छिन्न है। इस मरी हुई सन्तानको मारनेके लिए इतनी दुष्कर प्रव्रज्या आदिका धारण करना महज सनकीपन ही है। इस तरह सन्तानोच्छेद रूप मुक्ति किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती।

§ २६८. हाँ, 'जो चित्तसन्तति पहले सास्रव—अविद्या और तृष्णासे संयुक्त थी, प्रव्रज्या आदि अनुष्ठानोंसे वही चित्तसन्तति निरास्रव—अविद्या तृष्णासे रहित हो जाती है' आपका यह विचार उचित प्रतीत होता है। केवल उस चित्तसन्ततिको सान्वय तथा वास्तविक मानना चाहिए। बताइए—आप उसे सान्वय मानना चाहते हैं या निरन्वय ? निरास्रव चित्तसन्ततिको सान्वय—वास्तविक रूपसे पूर्व उत्तर क्षणोंमें अपनी सत्ता रखनेवाली—मानना ही सच्चा मोक्षका

---

१. "तेन हि प्राक्तनस्य रागादिचित्तलक्षणस्य नाशः क्रियेत, भाविनो वानुत्पादः तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः, संतानस्य वोच्छेदः—अनुत्पादो वा, निरास्रवचित्तसंतत्युत्पादो वा ।"—न्यायकुमु० पृ० ८४२ । २. दो वानुत्पा—प० १, प० २, भ० १ । —दो वानुच्छेदो वा निराश्रयः चित्त—भ० २ । ३. च्छेदोऽनुत्पादा—भ० २ । ४. भावतया निर्हेतुकतया कु—भ० २ । ५. दा युक्ति—भ० २ । ६. निराश्रयरूपचिरा—आ० क० । ७. साध्येत्यपि प— -भ० २ । ८. "केवलं सा चित्तसंततिः सान्वया, निरन्वया वा' इति वक्तव्यम् ।"—न्यायकुमु० पृ० ८४४ ।

तथाभूत एव चित्तसंताने मोक्षोपपत्तेः, बद्धो हि मुच्यते नाबद्धः। द्वितीयोऽनुपपन्नः; निरन्वये हि संतानेऽन्यो बध्यतेऽन्यश्च मुच्यते, तथा च बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्, कृतनाशादयश्च दोषाः पृष्ठ[1](ष्ठ)लग्ना एव यावन्ति।

§ २६९. तथा यदुक्तं 'कायक्लेश' इत्यादि; [2]तदप्यसत्यम्; [3]हिंसाविरतिरूपव्रतोपबृंहकस्य कायक्लेशस्य [4]कर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वविरोधात्, व्रताविरोधी हि कायक्लेशः कर्मनिर्जराहेतुत्वात्तपोऽभिधीयते। न चैवं नारकादिकायक्लेशस्य तपस्त्वप्रसङ्गः, तस्य हिंसाद्यावेशप्रधानतया तपस्त्वविरोधात्[5], अतः कथं[6] प्रेक्षावतां तेन समानता साधुकायक्लेशस्यापादयितुं शक्या।

§ २७०. तदपि शक्तिसंकरपक्षे 'स्वल्पेन' इत्यादि प्रोक्तम्; तत्सूक्तमेव; विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणां शक्तिसंकरे सति [7]क्षीणमोहान्त्यसमयेऽयोगिचरमसमये [8]चाक्लेशतः स्वल्पेनैव शुक्लध्यानेन तपसा [9]प्रक्षयाभ्युपगमात्, जीवन्मुक्तेः परममुक्तेश्चान्यथानुपपत्तेः, स[10] तु तच्छक्ति-

---

स्वरूप है और इसे तो हम लोग भी मानते ही हैं अतः सिद्ध साधन है। जो बँधता है वही मुक्त होता है बिना बँधा नहीं। इस तरह बन्धनसे मोक्ष तक की अवस्थाओंमें उस चित्तसन्ततिकी वास्तविक सत्ता माननी चाहिए। चित्तसन्ततिको निरन्वय मानना तो किसी भी तरह उचित नहीं है; क्योंकि ऐसी चित्तसन्ततिको निरन्वय—पूर्व और उत्तर क्षणोंको परस्पर सम्बन्ध शून्य-मानने पर तो बँधेगा कोई और छूटेगा कोई, जो बँधा है उसीको मोक्षके लिए प्रवृत्ति नहीं होगी। इसी तरह कृतनाश आदि दोष इस पक्षके पीछे ही पीछे चले आयेंगे। तात्पर्य यह कि निरन्वय चित्तसन्तति माननेमें 'करे कोई और भोगे कोई' आदि अनेक दोषोंका प्रसंग होगा।

§ २६९. आपने जो कायक्लेश रूप तपके बाबत कहा वह तो बिलकुल ही असत्य है; कायक्लेश भले ही कर्मका फल हो परन्तु जब वह अहिंसाव्रतकी वृद्धिमें सहायता देता है तो उसे तप ही कहना चाहिए। जो कायक्लेश व्रतोंका अविरोधी है, अहिंसा और संयमकी स्थिरता करता है वह कर्मोंकी निर्जरामें कारण होनेसे तपरूप ही है। नारकी आदि जीवोंको होनेवाले कायक्लेशमें तो हिंसादिका आवेश पाया जाता है वह इच्छा निरोध करके स्वयं तपा नहीं जाता अतः उसे तप कैसे कह सकते हैं। अतः नारकियोंकी हिंसात्मक दुःखरूप शरीर पीड़ासे मुनियोंके द्वारा इच्छापूर्वक तपे गये अहिंसात्मक कायक्लेशकी तुलना करना बुद्धिमानोंको तो शोभा नहीं देता।

§ २७०. आपने जो तपके द्वारा शक्ति संकर माननेसे स्वल्प उपवास आदिसे ही समस्त कर्मोंका क्षय होना चाहिए इत्यादि कहा है, वह आपने ठीक ही कहा है। वास्तवमें बात ऐसी ही है। जिसका मोह कर्म नष्ट हो गया है उस बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोही व्यक्तिके थोड़े-से शुक्लध्यान रूपी तपसे विचित्र फल देनेवाले ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी शक्तिमें परिवर्तन होकर उनमें संकर—एकरूपता आकर उनका नाश हो जाता है। और दूसरे ही क्षण वह क्षीणमोही व्यक्ति जीवन्मुक्त केवली हो जाता है। जिनके मन वचन कायके समस्त व्यापार रुक गये हैं उन चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जीवोंका थोड़ा-सा ही शुक्लध्यान रूपी तप एक ही क्षणमें सब कर्मों

---

१. पृष्ठ्य—म० १, म० २, प० १, प० २, क०। २. तदसत्यम् आ०। ३. "हिंसादिविरतिलक्षणवृत्तोपबृंहकस्य कायक्लेशकर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात्।"—न्यायकुमु० पृ० ८४७। ४. कर्मत्वेऽपि आ०, क०। ५. -विरोधित्वात्—म० १, म० २, प० १, प० २। ६. कथं समानता प्रेक्षावता तेन साधु—म० २। ७. -समययोगि—म० २। ८. चाक्लेशेन स्व—म० १, म० २, प० १, प० २। ९. प्रत्यया—आ०, क०। १०. एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति म० १, म० २, प० १, प० २।

संकरो बहुतरकायक्लेशसाध्य इति युक्तस्तदर्थोऽनेकोपवासादिकायक्लेशाद्यनुष्ठानप्रयासः; तमन्तरेण तत्संकरानुपपत्तेः, ततः कथंचिदनवच्छिन्नो ज्ञानसंतानोऽनेकविधंतपोनुष्ठानान्मुच्यते, तस्य चानन्तचतुष्टयलाभस्वरूपो मोक्ष इति प्रतिपत्तव्यम् ।

§ २७१. अथात्र दिगम्बराः स्वयुक्तीः स्फोरयन्ति । ननु भवतु यथोक्तलक्षणो मोक्षः, परं स पुरुषस्यैव घटते न स्त्रङ्नायाः, तथाहि—न स्त्रियो मोक्षभाजनं भवन्ति, पुरुषेभ्यो हीनत्वात्, नपुंसकवत्[1] ।

§ २७२. अत्रोच्यते—स्त्रीणां पुरुषेभ्यो हीनत्वं किं चारित्राद्यभावेन, विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन, पुरुषानभिवन्द्यत्वेन, स्मा(क्षा)रणाद्यकर्तृत्वेन, अमर्हद्धिकत्वेन, मायादिप्रकर्षवत्त्वेन वा । तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षोदक्षमः; यतः किं चारित्राभावः सचेलत्वेन, मन्दसत्त्वतया वा । तत्र 'यद्याद्यपक्षः; तदा चेलस्यापि चारित्राभावहेतुत्वं किं परिभोगमात्रेण, परिग्रहरूपतया वा । यदि परि-

का नाश कर ही देता है । और वह परमयोगी योगी दूसरे ही क्षणमें परममुक्तिको पा लेता है । परन्तु उस शुक्लध्यान रूपी तपमें वह विशिष्ट शक्ति पहले किये गये अनेकों उपवास आदि कठोर कायक्लेशसे ही आती है । अतः उस विशिष्ट शक्तिकी प्राप्तिके लिए अनेक उपवास रसत्याग आदि कायक्लेश करना ही चाहिए । इन बाह्य तपोंको तपे बिना तपमें ऐसी शक्ति तथा कर्मोंमें परिवर्तन नहीं हो सकता । इस तरह अन्वयी ज्ञान सन्तान ही अनेक प्रकारके अन्तरंग और बाह्य तपोंको तपनेसे कर्मोंका नाश करके मोक्ष प्राप्त करती है । उस अन्वयी ज्ञान सन्तान-आत्माको अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अनन्त सुख और अनन्तवीर्य इस अनन्त चतुष्टयवाले स्वरूपकी प्राप्ति होना ही मोक्ष है ।

§ २७१. दिगम्बर सम्प्रदाय वाले स्त्रियोंको मोक्ष नहीं मानते हैं, उनका अभिप्राय इस प्रकार है ।

दिगम्बर—मोक्षका उक्त स्वरूप तथा उसकी सिद्धिका प्रकार तो वस्तुतः ऐसा ही है, परन्तु यह मुक्ति पुरुष ही पा सकते हैं, स्त्रियोंको अपनी उसी योनिवाली स्त्रीपर्यायसे मुक्ति नहीं मिल सकती । वे उस पर्यायको छोड़कर पुरुष शरीर धारण करने पर ही मुक्त हो सकती हैं । स्त्रियाँ मोक्ष नहीं जा सकतीं क्योंकि वे पुरुषोंसे हीन हैं जिस प्रकार नपुंसक—हीजड़ा पुरुषोंसे हीन होने के कारण मोक्ष जाने की सामर्थ्य नहीं रखता उसी तरह स्त्रियाँ भी पुरुषोंसे हीन हैं अबलाएँ हैं अतः वे भी अपने उस कमजोर शरीरसे मुक्तिका साधन नहीं कर सकतीं और न मोक्ष हो जा सकती हैं ।

§ २७२. **श्वेताम्बर**—स्त्रियोंको पुरुषोंसे हीन या कमजोर क्यों समझा जाय ? क्या वे चारित्र आदि धारण नहीं कर सकतीं या उनमें विशिष्ट शक्ति नहीं है, अथवा पुरुष साधु उन्हें नमस्कार नहीं करते, या वे शास्त्रोंका पठन पाठन या स्मरण नहीं करा सकतीं, दूसरोंको पाठका स्मरण नहीं करातीं; किंवा उन्हें कोई लौकिक ऋद्धि सिद्धि प्राप्त नहीं होती. अथवा उनमें तीव्र छल कपट मायाचार आदि पाये जाते हैं ? पहला पक्ष तो 'चारित्र न होनेसे स्त्रियाँ कमजोर हैं' विचारको सहन नहीं कर सकता । आप बताइए कि स्त्रियोंको चारित्रका अभाव क्यों है ? क्या वे कपड़ा पहनती हैं इसलिए चारित्र नहीं पाल सकतीं, या उनमें शक्ति या धैर्यकी कमी है ? यदि वे कपड़ा धारण करती हैं इसीलिए चारित्र नहीं पाल सकतीं: तो वस्त्र क्या पहिनने मात्रसे ही चारित्रका विघात कर देता है, अथवा परिग्रहरूप होनेसे उसमें ममता होनेसे चारित्र नहीं हो

१. –तयानुष्ठा– म० २ । २. "ततः स्त्रीणां न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवत् ।" — न्यायकुमु० पृ० ८७६ । ३. –द्यः किं स चे–म० २ । ४. –द्यः प–म० १, म० २, प० १, प० २ ।

भोगमात्रेण; तथा परिभोगोऽपि[1] किं वस्त्रपरित्यागासमर्थत्वेन संयमोपकारित्वेन वा। तत्र न तावदाद्यः; यतः प्राणेभ्योऽपि वरं प्रियं, प्रजानिमित्तं परित्यक्तपुत्रो दृश्यते, वस्त्रस्य का कथा। अथ संयमोपकारित्वेन; तर्हि किं न पुरुषाणामपि संयमोपकारितया [2]वस्त्रपरिभोगः।

§ २७३. अथाबला एता बलादपि पुरुषैरुपभुज्यन्त इति तद्विना तासां संयमबाधासंभवो न पुनर्नराणामिति न तेषां तदुपभोग इति चेत्।

§ २७४. तर्हि न वस्त्राभ्यारित्राभावः, तदुपकारित्वात्तस्य, आहारादिवत्। नापि परिग्रहरूपतया; यतोऽस्य तद्रूपता किं मूर्च्छाहेतुत्वेन, धारणमात्रेण[3] वा अथवा स्पर्शमात्रेण जीवसंसक्तिहेतुत्वेन वा। तत्र यद्याद्यः; तर्हि शरीरमपि मूर्छाया हेतुर्न वा। तावद्धेतुः; तस्यान्तरङ्गत्वेन दुर्लभतरतया विशेषतस्तद्धेतुत्वात्। अथ मूर्च्छाया हेतुरिति पक्षः; तर्हि वस्त्रवत्तस्यापि किं

पाता ? यदि वस्त्रके पहिनने मात्रसे ही चारित्रमें बाधा आती है चारित्र पूर्ण नहीं हो पाता; तो यह विचारना चाहिए कि स्त्रियाँ क्यों वस्त्रको धारण करतीं हैं ? क्या वे वस्त्रका त्याग करनेमें असमर्थ हैं, अथवा वे उसे संयमका साधक मानकर पहिनती हैं ? वस्त्रके त्यागनेकी असामर्थ्य तो नहीं कही जा सकती; वस्त्र कुछ प्राणोंसे अधिक प्यारा तो है ही नहीं, जब ये धर्मप्राण माताएँ अपने धर्मकी रक्षाके लिए अपने प्राणोंको भी हँसते-हँसते निछावर कर देती हैं तब उस चिथड़ेकी तो बात ही क्या ? यदि स्त्रियाँ वस्त्रको संयमका उपकारी समझकर उसे पहिनती हैं; तो पुरुष साधु भी यदि संयमके साधनेके लिए उसको स्थिरताके लिए वस्त्र पहिन लेते हैं तो क्या हानि है ? वस्त्र पहिन लेनेसे ही उनका परम चारित्र क्यों लुञ्जा जाता है ?

§ २७३. **दिगम्बर**—स्त्रियाँ तो अबला हैं, इनके शारीरिक अवयवोंकी रचना ही ऐसी है कि पुरुष पशु इनको लाज बलात्कार करके लूट सकते हैं, अतः वस्त्र पहिने बिना इनका संयम साधना इनके शीलकी रक्षा होना असम्भव है इस लिए स्त्रियोंका तो संयमकी रक्षाके लिए वस्त्र पहिनना उचित और आवश्यक है परन्तु पुरुषोंकी तो कोई जबरदस्ती लाज नहीं लूटता, ये तो नग्न रहकर भी संयम साध सकते हैं अतः इनका वस्त्र पहिनना किसी भी तरह उचित तथा संयमका उपकारी नहीं माना जा सकता।

§ २७४. **श्वेताम्बर**—आपके उपरोक्त कथनसे यह तात्पर्य तो सहज ही निकल आता है कि वस्त्रके पहिनने मात्रसे स्त्रियोंके चारित्रका अभाव नहीं होता, वह तो उनके संयमका उसी तरह उपकारी है जिस प्रकार कि भोजन-पानी आदि शरीरको स्थिरताके द्वारा संयमके उपकारक होते हैं।

'वस्त्रको परिग्रहमें गिनती है अतः वह चारित्रमें बाधक होगा उसके पहिननेसे चारित्र नहीं हो सकता' यह कथन भी विचारणीय है। बताइए वस्त्र ममत्व परिणाम उत्पन्न करता है इसलिए परिग्रह रूप है, अथवा धारण करने मात्रसे, या छू लेने मात्रसे अथवा जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान होनेसे ? यदि वस्त्र ममताका कारण होनेसे परिग्रह रूप है, तो शरीर भी ममताका कारण होता है या नहीं ? 'शरीर ममताका कारण नहीं है' यह कथन तो नितान्त असंगत है; क्योंकि शरीर तो वस्त्रसे भी अधिक दुर्लभतर है। वस्त्रको फेंक देनेपर भी दूसरा इच्छानुकूल वस्त्र मिल सकता है। वस्त्र बाह्य है पर शरीरको छोड़ देनेपर इच्छानुकूल दूसरा शरीर मिलना असम्भव ही है वह अन्तरंग है। अतः अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण शरीर तो और भी अधिक ममता उत्पन्न कर सकता है तथा करता भी है। यदि शरीर वस्त्रकी ही तरह ममताका उत्पादक है; तो उसे पहलेसे ही क्यों नहीं छोड़ते ? क्या उसका छोड़ना वस्त्र त्यागकी तरह अत्यन्त

---

१. किमपरित्यागः म० २। २. वस्त्रभोगः म० २। ३. —अथवा म० २।

दुस्त्यजत्वेन, मुक्त्यङ्गत्वया वा न प्रथमत एव परिहारः । यदि दुस्त्यजत्वेनेति[1] पक्षः; तदा तदपि किं सर्वपुरुषाणाम्, केषांचिद्वा । न तावत्सर्वेषाम्, दृश्यन्ते हि बहवो वह्निप्रवेशादिभिः शरीरमपि त्यजन्तः । अथ केषांचित्, तदा वस्त्रमपि केषांचिद्दुस्त्यजमिति न परिहार्यं शरीरवत् । अथ मुक्त्यङ्गत्वेनेति पक्षः; तर्हि वस्त्रस्यापि तथाविधशक्तिविकलानां [2]स्वाध्यायाद्युपष्टम्भकत्वेन शरीरवन्मुक्त्यङ्गत्वात्किमिति परिहारः । अथ धारणमात्रेण; एवं सति शीतकाले [3]प्रतिमापन्नं साधुं दृष्ट्वा केनाप्यविषह्योपनिपातमथ शीतमिति विभाव्य धर्मार्थिना साधुशिरसि वस्त्रे प्रक्षिप्ते [4]सपरिग्रहता स्यात् । अथ यदि स्पर्शमात्रेण; तदा भूम्यादिना निरन्तरं [5]स्पर्शसद्भावात्सपरिग्रहत्वेन तीर्थंकरादीनामपि न मोक्षः स्यादिति लाभमिच्छतो[6] भवतो मूलक्षतिः संजाता । अथ जीवसंसक्तिहेतुत्वेन; तर्हि शरीरस्यापि जीवसंसक्तिहेतुत्वात्परिग्रहहेतुत्वमस्तु, कृमिमण्डूकाद्युत्पादस्य तत्र प्रतिप्राणिप्रतीतत्वाद् । अथास्ति, परं यतना तत्र विधीयते, तेनायमदोष इति चेत्; तर्हि वस्त्रेऽप्ययं न्यायः किं काकैर्भक्षितः । वस्त्रस्यापि यतनयैव सीवनक्षालनाविकरणेन जीवसंसक्तिनिवारणात् । तन्न वस्त्र-

कठिन है अथवा वह संयम का साधक होकर मोक्षका कारण होता है ? यदि शरीरका त्याग अत्यन्त कठिन है; तो सभी पुरुषोंको उसका छोड़ना अत्यन्त कठिन है, या कुछ अल्पशक्ति वालों को ? 'सब पुरुषोंको शरीरका छोड़ना अत्यन्त कठिन है' यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुत-से साहसी पुरुष धर्मके लिए अग्निमें जलकर, पर्वतसे गिरकर तथा काशी करवट आदि लेकर खुशीसे शरीरको छोड़ देते हैं । यदि किन्हीं हीनशक्तिक पुरुषोंके लिए शरीरका छोड़ना अत्यन्त कठिन है, तो वस्त्रका छोड़ना भी तो किन्हींके लिए अत्यन्त कठिन होता है अतः शरीरकी ही तरह उसके छोड़ने का आग्रह नहीं होना चाहिए । यदि शरीर मुक्ति का साधक होने से अपरिहार्य है, तो वस्त्र भी तो किन्हीं वृद्ध दुर्बल आदि शक्तिहीन लोगोंको स्वाध्याय संयम आदिकी प्रवृत्तिमें स्थिरता लाता है और इस तरह वह उन लोगोंको शरीरकी ही तरह संयमका साधक होनेसे मोक्षका अंग है अतः क्यों वस्त्रके परिहारका ऐकान्तिक आग्रह किया जाता है ? यदि वस्त्र शरीरपर आ जाने मात्रसे ही परिग्रहरूप हो जाय, तो कड़ी सरदीके दिनोंमें नदीके किनारे ध्यानावस्थ साधुके ऊपर किसी सहृदय धर्मात्मा भक्तने सरदीकी भीषणताका खयाल करके कपड़ा डाल दिया तो क्या इतने मात्रसे वह साधु परिग्रही या वस्त्र परिग्रहरूप हो जायगा ? यदि छू लेने मात्रसे वस्त्र परिग्रहरूप हो जाता हो, तो पृथिवी आदि कितने ही पदार्थोंको निरन्तर छूते रहने के कारण तीर्थंकर आदि भी परिग्रही हो जायेंगे और इस तरह वे केवली या सिद्ध नहीं हो पायेंगे । यह तो नफेके लिए किये गये रोजगारमें मूल पूँजीके घाटेकी ही बात हुई । चाहा तो था कि वस्त्रको परिग्रह सिद्ध कर दिया जाय पर वहाँ तीर्थंकर ही परिग्रही बन गये । यदि चीलर आदि जीवोंके रहने तथा उनके उत्पन्न होने का स्थान वस्त्र परिग्रह रूप है, तो शरीर भी अनेकों जीवोंके रहनेका स्थान है अतः इसे भी परिग्रह मान लेना चाहिए । 'शरीरमें भी कीड़े पड़ जाते हैं, वह सड़ जाता है, गल जाता है आदि । शरीरके भीतर निगाह डालिए कितने ही कीड़े उसमें बिलबिलाते हुए दिखाई देंगे । यदि यह कहा जाय कि शरीरमें कीड़े रहो, पर यत्नाचार पूर्वक सावधानीसे प्रवृत्ति करने पर उनकी विराधना बुद्धि पूर्वक हिंसा नहीं होती अतः यह दोष नहीं हो सकता' तो वस्त्रमें भी इसी युक्तिसे दोषका परिहार किया जा सकता है, यहाँ भी उस न्यायको कौए नहीं खा जायेंगे । वस्त्रको भी सावधानी पूर्वक सीनेसे तथा धोने आदि

---

१. –ति सदापि म० २ । २. –याद्यवष्टम्भ–भ० २ । ३. –मा प्रतिपन्नम् म० १, भ० २, प० १, प० २ । ४. –ति परिग्र–भ० २ । ५. –रन्तरस्पर्श–भ० २ । ६. –तो मूलक्षतिः भ० २, प० १, प० २ ।

सद्भावेन चारित्रासंभवः ।

§ २७५. नापि मन्दसत्त्वतया; यतः सत्त्वमिह व्रततपोधारणविषयमेषितव्यम्, तच्च तास्वल्पं सुदुर्धरशीलवतीषु संभवति । अतो न चारित्रासंभवेन तासां हीनत्वम् । ननु भवत्वविशिष्टं चारित्रं स्त्रीणां, परं परमप्रकर्षप्राप्तं यथाख्यातसंज्ञितं तासां न स्यादिति पुरुषेभ्यो हीनत्वमिति चेत् । तर्हि चारित्रपरमप्रकर्षाभावोऽपि तासां किं कारणाभावेन, [1]विरोधसंभवेन वा । न तावदाद्यः पक्षः; अविशिष्टचारित्राभ्यासस्यैव तन्निबन्धनत्वात्, तस्य च स्त्रीष्वनन्तरमेव समर्थितत्वात् । नापि द्वितीयः; यथाख्यातचारित्रस्यावाग्वृशामत्यन्तपरोक्षतया केनचिद्विरोधानिर्णयादिति न चारित्राभावेन स्त्रीणां हीनत्वम् ।

§ २७६. नापि विशिष्टसामर्थ्याभावेन; यत इदमपि किं [2]सप्तमनरकपृथ्वीगमनायोग्यत्वेन, वादादिलब्धिरहितत्वेन, [3]अल्पश्रुतत्वेन वा । न तावदाद्यः पक्षः; यतस्तदभावः किं यत्रैव जन्मनि

से उसमें जीवोंकी उत्पत्तिको ही कम सम्भावना है तथा होने पर भी बुद्धि पूर्वक हिंसा न होने से उक्त परिग्रहका दोष नहीं होना चाहिए । अतः वस्त्रके रहने मात्रसे स्त्रियोंमें चारित्रका अभाव नहीं किया जा सकता ।

§ २७५. शक्ति या धैर्य की कमीसे भी स्त्रियोंको हीन कमजोर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ शक्तिका तात्पर्य है व्रत उपवास तप आदि धारण करनेकी सामर्थ्य । सो यह सामर्थ्य तो कोई-कोई स्त्रियोंमें पुरुषोंसे भी अधिक पायी जाती है । वे भी अत्यन्त दुर्धर व्रत उपवास आदि धैर्यपूर्वक करती हैं । उनका अखण्ड शील और कठिन कायक्लेश उनकी इस सामर्थ्यका पक्का प्रमाण है । अतः चारित्रका अभाव होनेके कारण स्त्रियोंको पुरुषसे हीन नहीं माना जा सकता ।

दिगम्बर—साधारण व्रत उपवासादि रूप चारित्र स्त्रियोंमें भले ही हो जाय, परन्तु परम उत्कृष्ट यथाख्यात—स्वरूपस्थिति रूप चारित्र स्त्रियोंमें नहीं हो सकता अतः वे पुरुषोंसे हीन हैं ।

श्वेताम्बर—परम उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र स्त्रियोंमें क्यों नहीं होता ? कौन-सा ऐसा बाधक है जिसके कारण उनका यथाख्यात चारित्र परमोत्कृष्ट दशाको नहीं पहुँच पाता ? क्या उनमें उसके कारण ही नहीं जुट पाते अथवा कोई विरोधी कारणके आनेसे वह रुक जाता है ? कारणोंका अभाव तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साधारण व्रत उपवास आदि चारित्रका अभ्यास ही यथाख्यात चारित्रमें कारण होता है । सो स्त्रियोंमें इस व्रत उपवासादि रूप चारित्रका सद्भाव तो अभी ही बता आये हैं । यथाख्यात चारित्र अतीन्द्रिय होने के कारण अत्यन्त परोक्ष है, अतः उसका किसके साथ विरोध है । इसका निर्णय अल्पज्ञानवाले हम लोग नहीं कर सकते । इस तरह चारित्रके अभावके कारण हम स्त्रियोंको पुरुषोंसे हीन नहीं कह सकते ।

§ २७६. विशिष्ट शक्तिके अभावसे भी स्त्रियाँ पुरुषोंसे हीन नहीं कही जा सकतीं, आप बताइए कि स्त्रियोंमें कौन सी विशिष्ट शक्तिका अभाव है ? क्या वे सातवें नरक नहीं जा सकतीं, या वाद आदि ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं कर पातीं । वे वाद नहीं कर सकतीं अथवा उनमें श्रुतज्ञानकी पूर्णता नहीं होती ? सातवें नरक नहीं जा सकनेके कारण विशिष्ट शक्तिका अभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे जिस जन्ममें मोक्ष जाती हैं उसी ही जन्ममें सातवें नरक नहीं जा

---

१. विरोधिसं–म० १, भ० २, प० १, प० २ । २. सप्तमपृथ्वी–भ० २, क० । ३. अलब्ध्यश्रुत–भ० २ ।

तासां मुक्तिगामित्वं तत्रैवोच्यते, सामान्येन वा। यद्याद्यपक्षः; तर्हि पुरुषाणामपि यत्र जन्मनि मुक्तिगामित्वं तत्र सप्तमपृथ्वीगमनयोग्यत्वं[1], ततस्तेषामपि मुक्त्यभावः स्यात्। अथ द्वितीयः; तदायमाशयो भवतः, यथा सर्वोत्कृष्टपदप्राप्तिः सर्वोत्कृष्टेनाध्यवसायेन प्राप्यते, सर्वोत्कृष्टे च द्वे एव पदे सर्वदुःखस्थानं [2]सप्तमी नरकपृथ्वी सर्वसुखस्थानं मोक्षश्च, ततो यथा स्त्रीणां सप्तमपृथ्वीगमनभागमे निषिद्धं तद्गमनयोग्यतया[3] सर्वोत्कृष्टाध्यवसायनिमित्तत्वात्, एवं [4]मोक्षोऽपि तथाविधशुभमनोवीर्याभावान्न स्त्रीणां भविष्यति। प्रयोगश्चात्र—नास्ति स्त्रीषु [5]मुक्तिकारणशुभमनोवीर्यपरमप्रकर्षः प्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणाशुभमनोवीर्यपरमप्रकर्षवत्;[6] तदेतदयुक्तम्; [7]व्याप्तेरभावात्। न हि बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतुर्गमकः स्यात्, किं त्वन्तर्व्याप्त्या, अन्यथा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वप्रसङ्गः, अन्तर्व्याप्तिश्च प्रतिबन्धबलेनैव सिध्यति, न चात्र प्रतिबन्धो विद्यते, ततः संदिग्ध-

सकतीं इसलिए उनमें विशिष्ट शक्तिका अभाव है या सामान्यरूपसे किसी भी जन्ममें वे सातवें नरक नहीं जा सकतीं ? यदि उसी जन्ममें सातवें नरक नहीं जानेके कारण वे अशक्त समझी जाँय; तो चरमशरीरी पुरुष भी तो जिस जन्मसे मोक्ष जाते हैं उसी जन्ममें सातवें नरक नहीं जाते अतः उन्हें भी असमर्थ करार दिया जाय तथा मोक्ष जानेके अयोग्य मान लिया जाय। एक ही जन्ममें वही व्यक्ति सातवें नरक भी जाय और मोक्ष भी यह तो असम्भव बात है।

दिगम्बर—हमारा अभिप्राय यह है कि—सर्वोत्कृष्ट पदकी प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट ध्यानसे ही होती है। सबसे ऊँचे दो ही पद हो सकते हैं—एक तो सबसे अधिक दुःखका स्थान सातवाँ नरक और दूसरा सबसे अधिक सुखका स्थान मोक्ष। तो जिस तरह आगममें स्त्रियोंको सातवें नरक जानेका निषेध है क्योंकि उनमें सातवें नरकको जानेके योग्य तीव्र मानसिक संक्लेश तथा उतनी हिम्मत नहीं होती, ठीक उसी तरह उनमें मोक्ष जानेके योग्य हिम्मत तथा शुभ मानसिक भाव नहीं होते अतः वे मोक्ष भी नहीं जा सकतीं। प्रयोग—स्त्री जातिमें मोक्ष जानेके कारण शुभ भाव तथा शक्तिकी प्रकर्षता नहीं है, उनमें इतनी अधिक हिम्मत तथा तीव्र शुभभाव नहीं हैं, क्योंकि वह परम प्रकर्ष—सर्वोच्च दशा है जिस तरह सातवें नरक जानेमें कारण तीव्र संक्लेश भाव तथा उतनी हिम्मत स्त्रियोंमें इसीलिए नहीं पायी जाती कि वह सर्वोच्चदशा है उसी तरह मोक्ष जानेके लायक शक्ति तथा सर्वोच्च विशुद्धभावोंके प्राप्त करने की योग्यता अबलाओंमें नहीं है।

श्वेताम्बर—आपका कथन अयुक्त है, क्योंकि वैसा नियम नहीं है। किसी दृष्टान्तमें हेतु और साध्यकी व्याप्ति मिल जानेसे ही वह हेतु सच्चा नहीं हो सकता, किन्तु पक्षमें भी उसका अविनाभाव विधिवत् मिलना चाहिए। उसको अन्तर्व्याप्ति पक्षमें साध्य साधनकी व्याप्ति ही सचमुच उसमें सत्यता लाने का प्रधान कारण होती है। यदि बहिर्व्याप्ति-दृष्टान्तमें साध्यसाधनकी व्याप्ति-मात्रसे ही हेतु सच्चा मान लिया जाय, तो गर्भगत लड़केमें सबलापन सिद्ध करनेके लिए दिया जानेवाला तत्पुत्रत्व-चूंकि यह भी उसीका लड़का है—हेतु भी सच्चा हो जाना

१. गमनायोग्य—आ०। २. सप्तमनरक—म० २। ३. सर्वोत्कृष्टाशुभ—इत्यादि पाठः आ० पा०। ४. यथा मुक्तिगमनमपि तद्गमनयोग्यतथाविधशुभमनोवीर्याभावात् इत्यपि पाठः आ० पा०। ५. —रणं शुभ—म० २, क०। ६. —प्रकर्षत्वात्सप्तम-क०। ७. "निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीगमनकारणाशुभ्यपरमप्रकर्षवत्।"—न्यायकुमु० पृ० ८६०। प्रमेयक० पृ० ३२८। ८. —दिचिन्तव्य—आ०, क०। "सप्तमपृथिवीगमनाद्यभावमन्यासमेव मन्यन्ते। निर्वाणभावेनापश्चिमतनवो न तां यान्ति॥" —स्त्रीमु० श्लो० ५। सन्मति० टी० पृ० ७५३। प्रज्ञा० मलय० पृ० २० B.। नन्दि० मलय० पृ० १३२ B.। रत्नाकराव० ७।५७। शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ A.। युक्तिप्र० पृ० ११५।

विपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनम्। चरमशरीरिभिर्निश्चितव्यभिचारं[1] च, तेषां हि सप्तमपृथ्वीगमनहेतुमनोवीर्यप्रकर्षाभावेऽपि मुक्तिहेतुमनोवीर्यप्रकर्षसद्भावात्। तथा मत्स्यैरपि व्यभिचारः, तेषां हि सप्तमपृथ्वीगमनहेतुमनोवीर्यप्रकर्षसद्भावेऽपि न मुक्तिगमनहेतुशुभमनोवीर्यप्रकर्षसद्भाव इति। तथा नहि येषामधोगमनशक्तिः स्तोका तेषामूर्ध्वंगतावपि शक्तिः स्तोकैव, भुजपरिसर्पादिभिर्व्यभिचारात्। तथाहि—[2]भुजपरिसर्पा अधो द्वितीयामेव पृथ्वीं गच्छन्ति न परतः, पक्षिणस्तृतीयां यावत्, चतुर्थीं चतुष्पदाः, पञ्चमीमुरगाः, अथ च सर्वेऽप्यूर्ध्वमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति, अतो न सप्तमपृथ्वीगमनायोग्यत्वेन विशिष्टसामर्थ्याभावत्वम्।

§ २७७. नापि वादादिलब्धिरहितत्वेन[3], मूककेवलिभिर्व्यभिचारात्[4]।

चाहिए। अन्तर्व्याप्तिकी सिद्धि तो निर्दोष अविनाभावसे होती है। परन्तु सातवें नरक जानेमें तथा मोक्ष जानेमें कोई अविनाभाव नहीं है। कोई सातवें नरक न भी जाय तब भी मोक्ष जा सकता है। इस तरह यह हेतु सन्दिग्ध व्यभिचारी है। चरमशरीरी सातवें नरक नहीं जाकर भी मोक्ष जाते हैं अतः निश्चित रूपसे ही उक्त नियम व्यभिचारी है। चरमशरीरियोंके सातवें नरक जानेके लायक तीव्र अशुभ भाव तथा शक्ति नहीं है फिर भी उनमें मोक्षके कारण विशुद्ध भाव तथा शक्ति पायी जाती है। महामत्स्यके सातवें नरक जानेके योग्य तीव्र संक्लेश भाव तथा शक्तिका विकास तो देखा जाता है पर उसमें मोक्ष जानेके लायक विशुद्ध भाव तथा शक्तिका उच्च विकास नहीं पाया जाता, अतः महामत्स्यसे भी आपका नियम व्यभिचारी हो जाता है। यह भी कोई नियम नहीं है कि—'जिनमें नीचे नरकमें जाने की शक्ति कम है उनमें ऊपर स्वर्ग जानेकी भी शक्ति कम ही होनी चाहिए' भुजपरिसर्प आदिसे उक्त नियम व्यभिचारी हो जाता है। देखो, भुजपरिसर्प नीचे दूसरे ही नरक तक जाते हैं, पक्षी तीसरे नरक तक, चौपाये पशु चौथे नरक तक, तथा सर्प पाँचवें ही नरक तक जाते हैं परन्तु ये सभी ऊपर सहस्रार नामके बारहवें स्वर्ग तक ही जाते हैं। इसलिए यह कोई नियम नहीं है कि जो जितना नीचे जाय वह उतना ही ऊपर जा सके अतः सातवें नरक जाने की योग्यता न होने से स्त्रियोंमें मोक्ष जानेकी विशिष्ट शक्तिका अभाव नहीं माना जा सकता है।

§ २७७. वाद ऋद्धि आदि न होनेके कारण वाद आदि करने की कुशलता न होनेके कारण भी स्त्रियोंको पुरुषसे हीन मान कर उनका मोक्षका रास्ता बन्द नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस तरह तो मूक केवली भी, जो एक भी शब्दका उच्चारण नहीं करके चुपचाप ही मोक्ष चले जाते हैं, मोक्ष न जा सकेंगे।

---

१. –न्तिस्तथा–म० २। २. "विषमगतयोऽप्यधस्तादुपरिष्टात्तुल्यमासहस्रारम्। गच्छन्ति च तिर्यञ्चस्तदङ्गत्वमूनताहेतुः॥"—स्त्रीमु० श्लो० ६। "अपि च भुजपरिसर्पाः द्वितीयामेव पृथिवीं यावत् गच्छन्ति न परतः परपृथिवीगमनहेतुतथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात्,तृतीयां यावत् पक्षिणः। चतुर्थीं चतुष्पदाः, पञ्चमीमुरगाः, अथ च सर्वेऽप्यूर्ध्वमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद् गच्छन्ति। तत्राधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनादूर्ध्वगतावपि च न तद्वैषम्यम्।"—प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A.। नन्दि० मलय० पृ० १३३ A.। शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ B.। युक्तिप्र० पृ० ११५। ३. "यतो यत्र ऐहिकवादविक्रियाचारणादिलब्धीनामपि हेतुः संयमविशेषो नास्ति तत्र मोक्षहेतुरसौ भविष्यतीति कः सुधी श्रद्दधीत?" —न्यायकुमु० पृ० ८७२। प्रमेयक० पृ० ६३०। ४. "वादादिविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहे श्रुते कनीयसि च। जिनकल्पमनःपर्ययविरहेऽपि न सिद्धिविरहोऽस्ति॥ वादादिलब्ध्यभाववदभविष्यद् यदि च सिद्धचभावोऽपि। तासामवारयिष्यद् यथैव जम्बूयुगादारात्।" —स्त्रीमु० श्लो० ७–८। प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A.। रत्नकराव० ७।५७। "मातृतुषादीनां लब्धिविशेषहेतुसंयमाभावेऽपि मोक्षहेतुतच्छ्रवणात्, क्षायोपशमिकलब्धिविरहेऽपि क्षायिकलब्धेरप्रतिघातात्।" —शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B.।

§ २७८. तथान्यश्रुतत्वेनेति पक्षस्त्वनुद्घोष्य एव; मुक्त्यवाप्यानुमितविशिष्टसामर्थ्यैर्मानुषीभिरनेकान्तिकत्वात्, तत्र विशिष्टसामर्थ्यसिद्धेः स्त्रीणां सिद्धेः ।

§ २७९. नापि पुरुषानभिवन्द्यत्वेन स्त्रीणां हीनत्वम्, यतस्तत्रापि किं सामान्येन गुणाधिकपुरुषापेक्षया वा । आद्योऽसिद्धः; तीर्थंकरजनन्यादयो हि शक्रैरपि पूज्यन्ते किमङ्ग शेषपुरुषैः । द्वितीयपक्षे तु; तदा गणधरा अपि तीर्थंकरैर्नाभिवन्द्यन्त इति तेषामपि हीनस्थानान्मोक्षो न स्यात् । तथा चतुर्वर्णस्य सङ्घस्य तीर्थंकरवन्द्यत्वात्सङ्घान्तर्गतत्वेन संयतीनामपि तीर्थंकरवन्द्यत्वाभ्युपगमात्कथं स्त्रीणां हीनत्वम् ।

§ २८०. अथ स्मा(सा)रणाद्यकर्तृत्वेनेति पक्षः; तदाचार्याणामेव मुक्तिः स्यान्न शिष्याणां

§ २७८. इसी तरह श्रुतज्ञानकी अपूर्णता या अल्प श्रुतज्ञान होनेके कारण भी स्त्रियां हीन या मोक्षके अयोग्य नहीं हैं । अल्पश्रुत होने की तो दरअसल आपको बात ही नहीं छेड़नी चाहिए. क्योंकि मोक्षके साथ पूर्ण श्रुतज्ञानकी कोई व्याप्ति नहीं है । जिन्हें केवल 'उड़दकी बिजी अलग है तथा ऊपरका छिलका अलग है' इतना ही भेदज्ञान था ऐसे माषतुष आदि मुनियोंने भी मोक्ष प्राप्त किया है अतः श्रुतज्ञानकी पूर्णता या अपूर्णताका मोक्षके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । मोक्ष जानेके लिए तो अन्तरंगकी भाव श्रुतरूप विशिष्ट शक्ति चाहिए, सो स्त्रीमें हो ही सकती है । अतः अल्पश्रुत होनेसे मोक्ष नहीं जा सकने का नियम माषतुषादिसे व्यभिचारी है । इस तरह विशिष्ट सामर्थ्यके अभावके कारण स्त्रियोंको हीन कहकर उन्हें मोक्ष जानेसे नहीं रोक सकते ।

§ २७९. 'पुरुष उन्हें नमस्कार नहीं करते अतः वे हीन हैं' यह कथन भी युक्त नहीं है; क्योंकि स्त्रियां सामान्यरूपसे ही सब पुरुषोंके द्वारा अवन्द्य हैं या किसी अपनेसे विशिष्ट गुणी पुरुषके द्वारा । पहला पक्ष तो असिद्ध है; क्योंकि तीर्थंकरकी माता आदिको जब बड़े-बड़े इन्द्र भी आकर नमस्कार करते हैं तब अन्य साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या । यदि अपनेसे अधिक गुण वालोंके द्वारा अवन्द्य होनेके कारण स्त्रियां हीन हों और इसीलिए उनका मोक्षका दरवाजा बन्द होता है; तो तीर्थंकर गणधरोंको भी नमस्कार नहीं करते अतः गणधर भी हीन दरजेमें आकर मोक्ष जानेसे रोक दिये जाँय । जब तीर्थंकर मुनि, आर्या, श्रावक और श्राविका इन चारों प्रकारके संघको सामान्य रूपसे नमस्कार करते हैं, तब संघके अन्तर्गत साध्वी और श्राविकाएँ भी तीर्थंकरके द्वारा नमस्कृत हो ही जाती हैं, अतः स्त्रियोंको हीन क्यों समझा जाय ?

§ २८०. यदि स्त्रियाँ पढ़ा नहीं सकतीं या दूसरेको कर्तव्य या पाठका स्मरण नहीं करा

१. –सत्वं घट–भ० २ । २. "स्त्रीणां न निर्वाणपदप्राप्तिः, यतिगृहिदेववन्द्यपदाऽनर्हत्वात्, नपुंसकादिवत् ।" —न्यायकुमु० पृ० ८७५ । ३. तीर्थंकरपरमेश्वरजनन्यादयो वन्द्यिभिरपि भ० २ । ४. शेषैः भ० २ । ५. तीर्थंकरपरमेश्वरैर्ना–भ० २ । ६. तीर्थंकरवन्द्य–भ० १, भ० २, प० १, प० २ । ७. कथं हीनत्वं स्त्रीणाम् भ० २ । ८. "अप्रतिवन्द्यत्वाच्चेत्संयतवर्गेण नामिकासिद्धिः । वन्दतां तां यदि ते नीचत्वं कल्प्यते तासाम् ॥ सन्त्यूनाः पुरुषेभ्यस्ताः स्मारणवारणादिकारिभ्यः । तीर्थंकराकारिभ्यो न च जिनकल्पादिरिति गणधरादीनाम् । अर्हन् न वन्दते न तावताऽसिद्धिरंगगतें । प्राप्तान्यथा विमुक्तिः स्थानं स्त्रीपुंसयोस्तुल्यम् ॥" —स्त्रीमु० श्लो० २४–२६ । "अथ महाव्रतस्यपुरुषावन्द्यत्वात् न तासां मुक्त्यवाप्तिः, तर्हि गणधरादेरपि अर्हद्वन्द्यत्वात् न मुक्त्यवाप्तिः स्यात् ।" —सन्मति० टी० पृ० ७५४ । रत्नाकरावo ७।५० । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ A. । युक्तिप्र० पृ० ११४ । ९. "इतश्च तत्सिद्धम् यतः सारणवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणां पुरुषाः कुर्वन्ति न स्त्रियः पुरुषाणाम्, तीर्थंकराकारधराश्च पुरुषा न स्त्रियः । उक्तं च—"सारणवारणपरिचोयणणइ पुरिसा करेई रतह्व इत्थी"—न्यायकुमु० पृ० ८७६ । "सारणा हिते प्रवर्तनलक्षणा कृत्यस्मारणलक्षणा वा, उपलक्षणत्वाद् वारणा अहिताभिवारणलक्षणा, चोयणा संयमयोगेषु स्खलितः सन्नयुक्तमेतद् भवादृशां क्रियातुमित्यादिवचनेन प्रेरणा, प्रतिचोदना तथैव पुनःपुनः प्रेरणा ।" —गच्छा० पृ० गा० १७ । ओघनि० टी० गा० ४४८ ।

तेषां स्मा(सा)रणाद्यकर्तृत्वात् ।

§ २८१. अथामहर्द्धिकत्वेनेति पक्षः, सोऽपि न वक्षः, यतो दरिद्राणामपि केषांचिन्मुक्तिः श्रूयते केषांचिन्महर्द्धिकाणामपि चक्रवर्त्यादीनां तदभावः ।

§ २८२. अथ मायादि[1]प्रकर्षवत्त्वेनेति, तदपि न युक्तम्, नारदवृढप्रहारिभिर्व्यभिचारात् ।

§ २८३. तन्न हीनत्वं कथमपि स्त्रीणां आघटीतीति हीनत्वाविद्यसिद्धो हेतुः । ततश्चाविगानेन पुरुषाणामिव योषितामपि निर्वाणं प्रतिपत्तव्यम् । प्रयोगश्चात्र— [2]अस्ति स्त्रीणां मुक्तिः, अविकलकारणत्वात्, पुंवत्, तत्कारणानि सम्यग्दर्शनादीनि स्त्रीषु संपूर्णान्युपलभ्यन्ते । ततो भवत्येव स्त्रीणां मोक्ष [3]इति सुस्थितं मोक्षतत्त्वम् ।* एतेन[4] ।

§ २८४. "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वागच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥१॥"*

इति परपरिकल्पितं पराकृतम् ॥५२॥

सकतीं इसलिए पुरुषोंसे हीन होकर मोक्षके अयोग्य मानी जाँय; तो फिर पढ़ानेवाले आचार्योंको ही मुक्ति होनी चाहिए और पढ़नेवाले शिष्योंको संसारमें ही चक्कर काटते रहना चाहिए ।

§ २८१. स्त्रियोंको ऋद्धि नहीं होती इसलिए हीन कहना तो वस्तुतः जैन शासनको अनभिज्ञता ही प्रकट करना है । भला वीतरागी मोक्षका ऋद्धिसे क्या सम्बन्ध है । बहुतसे दरिद्र भी मुक्ति गये हैं तथा बड़े-बड़े चक्रवर्ती आदि इसी संसारमें पड़े हुए हैं ।

§ २८२. माया आदिकी प्रकर्षता होनेसे स्त्रियोंको हीन तथा मोक्षके अयोग्य कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि अत्यन्त कलहप्रिय नारद तथा तीव्र हिंसक दृढ़प्रहारी आदिमें कषायकी तीव्रता होने पर भी वे पुरुषोंमें हीन नहीं समझे जाते और न उनको मुक्तिकी योग्यतामें ही किसी प्रकारका बट्टा लगा ।

§ २८३. इस प्रकार किसी भी तरह स्त्रियाँ पुरुषोंसे हीन कमजोर सिद्ध नहीं हो पातीं । अतः उन्हें हीन कहना असिद्ध ही है । अतः निर्विवाद रूपसे पुरुषोंकी तरह स्त्रियोंको भी मोक्ष मानना चाहिए । प्रयोग—स्त्रियोंको भी मोक्ष होता है क्योंकि उनमें पुरुषोंकी ही तरह मोक्षके कारणोंकी समग्रता तथा पूर्णता पायी जाती है । मोक्षके कारण हैं सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र । सो ये तीनों ही पुरुषोंकी तरह स्त्रियोंमें भी पूर्णरूपसे पाये जाते हैं । अतः स्त्रियोंको मोक्ष होता ही है, इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है । इस तरह मोक्षतत्त्वका निरूपण हुआ ।

§ २८४. यह मोक्ष जिसे हो जाता है उसे अनन्तकाल तक रहता है । वह कभी भी वहाँसे लौटकर संसारी नहीं बनता । अतः परवादियोंका यह कथन खण्डित हो जाता है कि—"धर्मतीर्थ के प्रवर्तक ज्ञानी जीव अपने धर्मकी हानि या तिरस्कार देखकर मोक्षसे फिर वापस आकर अवतार ग्रहण करते हैं ।" ॥५२॥

१. -प्रकर्षकत्वेनेति आ०, क० । २. "अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत् यदविकलहेतुकं स्त्रीषु । न विरुद्धयति हि रत्नत्रयसंपदनिर्वृतेर्हेतुः ॥" —स्त्रीमु० श्लो० २ । सन्मति० टी० पृ० ७५२ । एतदर्थम् उत्तराध्ययनस्य पाइयटीकापि विलोकनीया । "इत्थीलिङ्गसिद्धा—सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते तथाहि····" —प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A. । नन्दि० मलय० पृ० १३१ B. । रत्नाकरावo ७।५७ । "यदुक्तं यापनीयतन्त्रे—णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिवेत्तीओ, णो असंखेज्जाउया, णो अइक्रूरमई, णो ण उवसन्तमोहो, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुणगणरहिता, णो अजोगा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति ।"—ललितवि० पृ० ५७ B. । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२५ B. । ३. इति स्थितं आ०, क० । ४. *एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति म० १, म० २, प० १, प० २ ।

§ २८५. एतानि नव तत्त्वानि यः श्रद्धत्ते स्थिराशयः ।
सम्यक्त्वज्ञानयोगेन तस्य चारित्रयोग्यता ॥५३॥

§ २८६. व्याख्या—एतानि-अनन्तरोदितानि नवसंख्यानि तत्त्वानि यः स्थिराशयो—न पुनः शङ्कादिना चलचित्तः श्रद्धानस्य ज्ञानपूर्वकत्वाज्जानीते श्रद्धत्ते च—अविपरीत्येन मनुते । एतावता जानन्नप्यश्रद्दधानो मिथ्यादृगेवेति सूचितम् । यथोक्तं श्रीगन्धहस्तिना महातर्के "द्वादशाङ्गमपि श्रुतं विदर्शनस्य मिथ्या" इति । तस्य श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वज्ञानयोगेन—सम्यग्दर्शन-ज्ञानसद्भावेन चारित्रस्य—सर्वसावद्यक्रियानिवृत्तिलक्षणस्य देशसर्वभेदस्य योग्यता भवति, अत्र ज्ञानात्सम्यक्त्वस्य प्राधान्येन पूज्यत्वात्प्राग्निपातः, अनेन सम्यक्त्वज्ञानसद्भाव एव चारित्रं भवति नान्यथेत्यावेदितं[1] द्रष्टव्यम् ॥५३॥

§ २८७. तथाभव्यत्वपाकेन यस्यैतत्त्रितयं भवेत् ।
सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम् ॥५४॥

§ २८८. व्याख्या—जीवा द्वेधा [2]भव्याभव्यभेदात्, अभव्यानां सम्यक्त्वाद्यभावः, भव्यानामपि भव्यत्वपाकमन्तरेण तदभाव एव, तथाभव्यत्वपाके तु तत्सद्भावः, ततोऽयमर्थः—भविष्यति विवक्षितपर्यायेणेति भव्यः, तद्भावो भव्यत्वम्, भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वम्,

§२८५. इन नवतत्त्वों पर जो स्थिरचित्त तथा अडिग श्रद्धासे विश्वास करता है उसमें सम्यग्दर्शन और ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे चारित्रकी योग्यताका विकास होने लगता है ॥५३॥

§ २८६. इन जीवादि नव तत्त्वोंका जो स्थिर अभिप्रायसे शंका आदिसे होने वाली चित्तकी चंचलताको छोड़ कर अविपरीत यथावत् ज्ञान तथा श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि तथा ज्ञानी है । श्रद्धान ज्ञानपूर्वक होता है अतः इन तत्त्वोंके श्रद्धानमें इनका ज्ञान भी अन्तर्भूत रहता ही है । श्रद्धान शब्दके प्रयोगसे यह सूचित होता है कि जो व्यक्ति जानकर भी यथावत् श्रद्धान नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है । उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है निरर्थक है । गन्धहस्तिने महातर्कमें कहा है कि—"यदि मिथ्यादृष्टिको द्वादशांग श्रुतका भी परिज्ञान हो जाय तब भी वह मिथ्या ही है निरर्थक है ।" उस श्रद्धालु सम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका सद्भाव होनेसे समस्त पाप क्रियाओंसे निवृत्ति करनेवाले चारित्रकी योग्यताका अंशतः या पूर्णरूपसे विकास होने लगता है । सर्व चारित्र तथा देश चारित्रके भेदसे चारित्र दो प्रकारका होता है । ज्ञानसे पहले सम्यग्दर्शनका प्रयोग सम्यग्दर्शनकी प्रधानता तथा पूज्यताका सूचन करता है । यह सम्यग्दर्शन ही ज्ञानमें 'सम्यग्' व्यवहार करता है । सम्यग्दर्शन और ज्ञानके होने पर ही सम्यक् चारित्र हो सकता है, इनके बिना होनेवाली क्रियाएँ मिथ्या चारित्र रूप ही हैं ॥५३॥

§ २८७. जिस भव्यको भव्यत्व गुणके परिपाकसे ये रत्नत्रय प्राप्त हो जाते हैं वही भव्य सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रकी पूर्णतासे मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥५४॥

§ २८८. जीव दो प्रकारके होते हैं एक भव्य—होनहार तथा दूसरे अभव्य । अभव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन आदि नहीं होते । भव्यजीवोंके भी जब तक भव्यत्वगुणका परिपाक नहीं होता तब तक सम्यग्दर्शन आदि नहीं होते, जब इनके भव्यत्वगुणका परिपाक हो जाता है तभी सम्यग्दर्शन आदि विकसित हो जाते हैं । जो अपनी उस विवक्षित सम्यग्दर्शन आदि पर्याय रूपसे परिणत होगा उसे भव्य कहते हैं । भव्यके असाधारण स्वरूप या खासियतको भव्यत्व कहते हैं । भव्यत्वका सीधा अर्थ है मोक्ष जानेकी योग्यता । यह भव्यत्व जीवोंका अनादिकालसे रहनेवाला पारिणामिक—

१. मन्तव्यम् म० २ । २. भव्या अभव्याश्च अभ—म० १, म० २, प० १, प० २ । ३. –र्थः विवक्षित-पर्यायेण भवतीति भव्यः म० २ ।

जीवानामनादिपारिणामिको भावः। एवं सामान्यतो भव्यत्वमभिधायाथ[1] तदेव प्रतिविशिष्टमभिधातुमाह तया-तेना(न)नियतप्रकारेण भव्यत्वं तथाभव्यत्वम्। अयं भावः—भव्यत्वमेव स्वस्वकालक्षेत्रगुर्वादिद्रव्यलक्षणसामग्रीभेदेन नानाजीवेषु भिद्यमानं सत्तथाभव्यत्वमुच्यते अन्यथा तु सर्वैः प्रकारैरेकाकारायां योग्यतायां सर्वेषां भव्यजीवानां युगपदेव धर्मप्राप्त्यादि भवेत्, तथाभव्यत्वस्य यः पाकः फलदानाभिमुख्यं तेन तथाभव्यत्वपाकेन, यस्य कस्यापि सागरोपमकोटाकोटचभ्यन्तरानीतसर्वकर्मस्थितिकस्य भव्यस्य एतत्त्रितयं ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं,[2] भवेत्, यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात्, स भव्यः सम्यक्-समीचीने ये ज्ञानक्रिये-ज्ञानचारित्रे तयोर्योगात्संयोगान्मोक्षस्य-बन्धवियोगस्यानन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्वसुखवीर्यपञ्चकात्मकस्य भाजनं-स्थानं जायते, एतेन केवलाभ्यां ज्ञानक्रियाभ्यां न मोक्षः किं तूभाभ्यां संयुक्ताभ्यां ताभ्यामिति ज्ञापितं भवति। अत्र ज्ञानग्रहणेन सदा सहचरत्वेन दर्शनमपि ग्राह्यम्। यदुवाच वाचकमुख्यः "सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १।१] इति॥

§ २८९. प्रत्यक्षादिप्रमाणविशेषलक्षणमत्र ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति। तच्च विशेषलक्षणं सामान्यलक्षणाविनाभावि, सामान्यलक्षणं च विशेषलक्षणाविनाभावि, सामान्यविशेषलक्षणयोरन्योन्यापरिहारेण स्थितत्वात्। तेन प्रमाणविशेषलक्षणस्यादौ प्रमाणसामान्यलक्षणं सर्वत्र वक्तव्यम्, अतोऽत्रापि[5] प्रथमं तदभिधीयते।

स्वाभाविक भाव है। इस तरह सामान्यरूपसे भव्यत्वका निरूपण करके अब विशेष भव्यताका कथन करते हैं। तथा उस निश्चित रूपसे होनेकी योग्यता तथाभव्यत्व कही जाती है। तात्पर्य यह कि—यद्यपि साधारण रूपसे भव्यत्व एक है परन्तु वह अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, गुरु आदिका उपदेशरूप सामग्रीकी भिन्नतासे भिन्न-भिन्न जीवोंमें जुदे-जुदे प्रकारका पाया जाता है। यदि सब जीवोंमें एक ही प्रकारका भव्यत्व हो तो सभी जीवोंमें एक ही साथ एक ही प्रकारकी योग्यताका विकास होनेसे युगपद् मुक्ति हो जाना चाहिए। अतः भिन्न-भिन्न प्रकारके भव्यत्वोंमें-से एक अमुक प्रकारके भव्यत्वका परिपाक होनेसे मुक्तिकी योग्यता विकसित होती है। जिस जीवके समस्त कर्मोंकी स्थितियाँ कम करते-करते एक कोटाकोटी सागरके भीतर आ गयी हो उस न्यून कर्म स्थितिवाले भव्यजीवके सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय होते हैं। यत् और तत्का नित्य सम्बन्ध होता है, अतः वही न्यूनकर्म स्थितिवाला भव्य समीचीन ज्ञान और चारित्रके द्वारा कर्मबन्धनोंको काटकर मोक्षपद पा लेता है, वह अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, सम्यक्त्व, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य इस अनन्तपंचकका स्वामी हो जाता है। इससे यह भी सूचित होता है कि अकेले ज्ञान और अकेली क्रियासे ज्ञानशून्य चारित्र तथा चारित्ररहित ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती किन्तु जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र दोनों परिपूर्ण होते हैं तभी मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यग्ज्ञानको मोक्षका कारण बतानेसे उसका सहचारी सम्यग्दर्शन तो आ ही जाता है। सम्यग्दर्शनके बिना तो ज्ञान और चारित्रमें सम्यक् व्यपदेश ही नहीं हो सकता। श्री तत्त्वार्थसूत्रकार वाचकमुख्यने कहा भी है कि—"सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता ही मोक्षका मार्ग है।" इति।

§ २८९. प्रत्यक्ष आदि विशेष प्रमाणोंके लक्षण ग्रन्थकार स्वयं ही कहेंगे। प्रमाण विशेषके लक्षणका कथन तो तब हो सकता है जब पहले सामान्यका लक्षण कर दिया जाय। सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, अविनाभावी हैं। अतः प्रमाण विशेष

---

१. –थ प्रति–म० २। २. –रायां सर्वेषां म० २। ३. –मकोटिकोटचन्त–म० २। –मकोटयन्त–भा०। ४. –त्रयरत्नत्रयं म० २। ५. –गान्मोक्षस्य भ० २, प० १, प० २। ६. –पि स प्रथमं तद–क०, –पि तद्–म० २।

§ २९०. 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणं' इति प्रकर्षेण संशयाद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम्[1]। स्वमात्मा ज्ञानस्य स्वरूपं परः स्वस्मादन्योऽर्थ इति यावत् तौ विशेषेण यथावस्थितस्वरूपेणावस्यति निश्चिनोतीत्येवंशीलं यत्तत्स्वपरव्यवसायि ।

§ २९१. ज्ञायते प्राधान्येन विशेषो गृह्यतेऽनेनेति ज्ञानम् अत्र ज्ञानमिति विशेषणमज्ञानरूपस्य व्यवहारमार्गानवतारिणः सन्मात्रगोचरस्य स्वसमयप्रसिद्धस्य दर्शनस्य संनिकर्षविश्वाचेतनस्य नैयायिकादिकल्पितस्य प्रामाण्यपराकरणार्थम्[3] ।

§ २९२. ज्ञानस्यापि च प्रत्यक्ष[4]रूपस्य शाक्यैर्निर्विकल्पतया प्रामाण्येन कल्पितस्य संशयविपर्ययानध्यवसायानां च प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थं व्यवसायोति ।

§ २९३. पारमार्थिकपदार्थसार्थापलापिज्ञानाद्वैतादिवादिमतमपाकर्तुं परेति ।

§ २९४. नित्यपरोक्षबुद्धिवादिनां मीमांसकानामेकात्मसमवायिज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनां वैशेषिकयौगानामचेतनज्ञानवादिनां कापिलानां च कदाग्रहनिग्रहाय स्वेति ।

§ २९५. समग्रं तु लक्षणवाक्यं परपरिकल्पितस्यार्थोपलब्धिहेत्वादेः प्रमाणलक्षणस्य प्रतिक्षेपार्थम् ।

के लक्षणके पहले सब जगह सामान्य लक्षणके कहनेकी परिपाटी है। इसीलिए प्रमाण सामान्यका लक्षण कहते हैं—

§ २९०. स्व—अपने स्वरूप तथा परपदार्थोंका व्यवसाय निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। प्र—प्रकर्षसे अर्थात् संशय विपर्यय आदिका निराकरण करके मीयते—जाना जाता है वस्तुतत्त्व जिसके द्वारा उसे प्रमाण कहते हैं। स्व—आत्मा ज्ञानका स्वरूप, पर अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थ इन स्व परका वि—विशेष रूपसे यथावत् जिस रूपमें पदार्थ हैं ठीक उसी रूपसे निश्चय करनेवाला पदार्थका ज्ञान प्रमाण है।

§ २९१. जाना जाता है प्रधान रूपसे गृहीत होता है विशेष अंश जिसके द्वारा उसे ज्ञान कहते हैं। इस 'ज्ञान' विशेषणसे ज्ञानसे भिन्न अर्थात् अज्ञानरूप, सामान्यमात्रका आलोचन करनेवाले तथा प्रवृत्ति आदि व्यवहारके अनुपयोगी जैन आगममें प्रसिद्ध दर्शन और नैयायिक आदिके द्वारा माने गये अचेतनात्मक सन्निकर्ष आदिमें प्रमाणताका व्यवच्छेद हो जाता है, क्योंकि दर्शन चेतन होकर भी ज्ञानरूप नहीं है तथा सन्निकर्ष आदि तो अचेतन होनेसे स्पष्ट ही अज्ञान रूप हैं।

§ २९२. व्यवसायी-निश्चयात्मक विशेषणसे बौद्धोंके द्वारा प्रमाण रूपसे माने गये निर्विकल्पक प्रत्यक्षका तथा संशय विपर्यय और अनध्यवसायकी प्रमाणताका व्यवच्छेद होता है।

§ २९३. 'पर व्यवसाय' विशेषण वास्तविक घट-पटादि बाह्य पदार्थोंका लोप करके मात्र ज्ञानकी ही सत्ता माननेवाले विज्ञानाद्वैतवादीके मतका निराकरण हो जाता है।

§ २९४. ज्ञानको सर्वथा परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके ज्ञानका द्वितीय अनुव्यवसाय रूप से प्रत्यक्ष माननेवाले नैयायिक और वैशेषिकोंके तथा ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मान कर अचेतन माननेवाले सांख्योंके दुरभिप्रायका निराकरण करनेके लिए 'स्व व्यवसाय' पद दिया है।

§ २९५. पूरे लक्षण वाक्यसे नैयायिक आदिके अर्थकी उपलब्धिमें जो कारण है उसे प्रमाण कहते हैं इत्यादि प्रमाणके लक्षणोंका निषेध हो जाता है।

---

१. "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।" —प्रमा० त० १।२। जैनतर्कभा० पृ० १। २. –णयात्मज्ञानस्य भ० २। ३. –व्यनिराकर–भ० २। ४ –श्रस्वरूपस्य भ० २। ५. –तस्यापि संश–आ०। ६. प्रमाणत्वलक्षणत्व प्र० आ०। प्रमाणलक्षणत्वप्र–भ० १, भ० २, प० १, प० २।

§ २९६. अत्र च स्वस्य ग्रहणयोग्यः परोऽर्थः स्वपर इत्यस्यापि समासस्याश्रयणाद्घटव्यवहारिजनापेक्षया यस्य यथा यत्र ज्ञानस्याविसंवादः, तस्य तथा तत्र प्रामाण्यमित्यभिहितं भवति, तेन संशयादेरपि धर्मिमात्रापेक्षया न प्रामाण्यव्याहतिः ॥५४॥

§ २९७. अथ विशेषलक्षणाभिधित्सया प्रथमं तावत्प्रमाणस्य संख्यां विषयं चाह—

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते ।
अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह ॥५५॥

§ २९८. व्याख्या—अक्षम्–इन्द्रियं प्रति गतमिन्द्रियाधीनतया यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षमिति तत्पुरुषः, इदं[1] व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तं तु स्पष्टत्वम्, तेनानिन्द्रियादिप्रत्यक्षमपि–प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सिद्धम्, [2]अक्षो–जीवो वात्र व्याख्येयः, जीवमाश्रित्यैवेन्द्रियनिरपेक्षमनिन्द्रियादि-

§ २९६. स्वपरका 'अपने ग्रहण करनेके लायक पर' ऐसा अर्थ करनेपर अपने-अपने योग्य पदार्थोंका जाननेवाले संशयादिज्ञान भी स्वरूपकी अपेक्षासे तथा सामान्य वस्तुको जाननेकी अपेक्षा से कथंचित् प्रमाण है यह बात सूचित हो जाती है। 'जो ज्ञान वस्तुके जिस अंशमें अविसंवादी हो वह ज्ञान वस्तुके उस अंशमें प्रमाण है' इस व्यवहार प्रसिद्ध नियमके अनुसार संशयादिज्ञान भी वस्तुके सामान्य अंशमें प्रमाण हैं। स्वरूपकी दृष्टिसे तो संशय विपर्यय या सम्यग्ज्ञान सभी ज्ञानमात्र प्रमाण हैं ॥५४॥

§ २९७. अब प्रमाण विशेषके लक्षणोंको कहनेकी इच्छासे पहले प्रमाणकी संख्या तथा विषयका निरूपण करते हैं—

प्रमाणके दो भेद हैं एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष है। अनन्तधर्मवाली वस्तु प्रमाणका विषय होती है, प्रमाणके द्वारा अनन्तधर्मात्मकपदार्थ जाना जाता है ॥५५॥

§ २९८. अक्ष-इन्द्रियोंके आधीन जिन ज्ञानों की उत्पत्ति है वे प्रत्यक्ष हैं। यह प्रत्यक्षशब्दकी शाब्दिक व्युत्पत्ति है। प्रत्यक्षशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त तो स्पष्टता है। जो ज्ञान स्पष्ट है वह चाहे इन्द्रियसे उत्पन्न हो या इन्द्रियोंके बिना ही उत्पन्न हो जाय अवश्य ही प्रत्यक्ष होगा। इससे जो ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होते वे अतीन्द्रियज्ञान भी प्रत्यक्षकी मर्यादामें आकर प्रत्यक्ष शब्दके वाच्य हो जाते हैं। अथवा, अक्षका अर्थ है जीव। जीवमात्रको निमित्त लेकर इन्द्रियादिके बिना ही जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे भी प्रत्यक्ष ही हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार अतीन्द्रिय और अनिन्द्रिय-मानसज्ञानमें प्रत्यक्षता सिद्ध हो जाती है। तत्पुरुष समास करने पर प्रत्यक्ष शब्दका

१. "अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य । न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन त्वक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते । यदि च अक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात् इन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति गौः इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दः गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति, तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।" —न्यायवि० टी० १।३ । "यद् इन्द्रियमाश्रित्य उज्झितहीते अर्थसाक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् इत्यर्थः, एतच्च प्रत्यक्षशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं न प्रवृत्तिनिमित्तम्"—इत्यादि, न्यायव० टी० पृ० १६ । "वैशद्यांशस्य सद्भावात् व्यवहारप्रसिद्धितः ।" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२ । न्यायकुमु० पृ० २५ । २. "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम् ।" —सर्वार्थसि० ।१२ । त० व० १।१२ । प्रमाणप० पृ० ६८ । "तथा च भद्रबाहुः—जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टई तं तु होइ पच्चक्खं । परओ पुण अक्खस्स वट्टन्तं होई पारोक्खं ।" (निर्युक्ति) न्यायाव० टी० टि० पृ० १५ । "जीवो अक्खो अत्थव्वावण भोयण गुणण्णिओ जेण । तं पई वट्टई णाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहम् ॥८९॥" —विशेषाव० भा० । न्यायकुमु० पृ० २६ ।

प्रत्यक्षस्योत्पत्तेः। तत्र तत्पुरुषाश्रयणात्प्रत्यक्षो बोधः प्रत्यक्षा बुद्धिरित्यादौ [1]स्त्रीपुंसभावोऽपि सिद्धः।

§ २९९. अक्षाणां परं–अक्षव्यापारनिरपेक्षं मनोव्यापारेणासाक्षादर्थपरिच्छेदकम् [2]परोक्षमिति परशब्दसमानार्थेन 'परस्' शब्देन सिद्धम्।

§ ३००. [3]चशब्दो द्वयोरपि तुल्यकक्षतां लक्षयतः, तेनानुमानादेः परोक्षस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेर्यत्कैश्चित्प्रत्यक्षं [4]ज्येष्ठमभीष्टमेतन्न श्रेष्ठमिति सूचितम्, द्वयोरपि प्रामाण्यं प्रतिविशेषाभावात्। 'पश्य मृगो धावति'। इत्यादौ प्रत्यक्षस्यापि परोक्षपूर्वकस्य प्रवृत्तेः परोक्षस्य ज्येष्ठताप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षपूर्वकमेव च परोक्षमुपजायत इति नायं सर्वत्रैकान्तः, अन्यथानुपपन्नतावधारितोच्छ्वासनिःश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावाभ्यां जीवसाक्षात्कारिप्रत्यक्षलक्षणेऽपि जीवन्मृतप्रतीतिदर्शनात्, अन्यथा लोकव्यवहाराभावप्रसङ्गात्।

विशेष्यके लिंगके अनुसार दोनों लिंगोंमें प्रयोग होता है जैसे प्रत्यक्षो बोधः, प्रत्यक्षा बुद्धिः इत्यादि। यहां बोध और बुद्धिरूप विशेष्य क्रमसे पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग हैं अतः प्रत्यक्ष शब्द भी उक्त दोनों लिंगोंमें प्रयुक्त हुआ है।

§ २९९. इन्द्रियोंसे जो परे हो अर्थात् जिसमें इन्द्रियव्यापारकी अपेक्षा न हो केवल मनके व्यापारसे हो जो ज्ञान वस्तुको असाक्षात् रूपसे जाने उसे परोक्ष कहते हैं। पर शब्दका पर्यायवाची 'परस्' शब्द भी है। अतः परम् + अक्ष मिलकर परोक्ष बन जाता है।

§ ३००. 'च' शब्दसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों का ही समान बल या एकश्रेणीपन सूचित होता है। ये दोनों ही ज्ञान तुल्यबलवाले हैं और समानरूपसे अपने-अपने विषयमें प्रमाण हैं। इससे जो वादी अनुमान आदि परोक्षज्ञानोंकी उत्पत्ति प्रत्यक्षपूर्वक होने से प्रत्यक्षको ज्येष्ठ तथा प्रधान कहते हैं, उनका निराकरण हो जाता है। उनका प्रत्यक्षको ज्येष्ठताका कथन किसी भी तरह श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही अपने-अपने विषयमें स्वतन्त्र तथा समान बलवाले हैं इनमें कोई ज्येष्ठ नहीं है। 'देखो, हरिण दौड़ रहा है' इस वाक्यको सुनकर उसका अर्थ विचार कर होनेवाला मृगका प्रत्यक्ष शब्दज्ञानरूप परोक्षपूर्वक हुआ, अतः परोक्षको भी प्रत्यक्षसे ज्येष्ठ मानना चाहिए। 'प्रत्यक्षपूर्वक ही सब जगह परोक्ष उत्पन्न होता है' यह ऐकान्तिक नियम नहीं है। देखो, जिस समय हम दूसरेको आत्माको देख रहे हैं उसी समय जीवन के साथ अविनाभाव रखनेवाले श्वासोच्छ्वास आदि चिह्नोंसे उसकी सत्ताको तथा श्वासोच्छ्वास आदिके अभावसे उसके अभावको भी जानते हैं। जिस समय हम उसे देखते हैं उसी समय हमें उसके जीने और मरने का भी अनुमानसे परिज्ञान हो ही जाता है। अतः ये दोनों प्रत्यक्ष और

१. स्त्रीपुंस्वभा—भ० २। २. "जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमट्ठेसु ॥५९॥"—प्रव० सार पृ० ७५। "पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षम् इत्याख्यायते।"—सर्वार्थसि० १।११। "उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्।" —तत्त्वार्थरा० वा १।११। "अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्। ततः परैः इन्द्रियादिभिः उदयते मिश्र्यते अभिवर्ध्यते इति परोक्षम्।" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। प्रमाणप० पृ० ६९। परीक्षामुख ३।१। पञ्चाध्यायीश्लो० ६९६। न्यायाव० श्लो० ७। विशेषाव० भा० श्लो० ९०। सन्मति० टी० पृ० ५९५। न्यायकुमु० पृ० २७। प्रमाण० त० ३।१। प्रमाणमी० १।१। ३. "चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति।"—न्यायवि० टी० १।३। ४. "आदौ प्रत्यक्षग्रहणं प्राधान्यात्···तत्र किं शब्दस्यादावुपदेशो भवतु आस्वोस्वित् प्रत्यक्षस्येति। प्रत्यक्षस्येति युक्तम्। किं कारणम्। सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् इति।" न्यायवा० १, १, ३। साङ्ख्यत० का० ५। न्यायम० पृ० ६५, १०९। "न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपपत्तरितार्थत्वं चेति युक्तम्, तस्य पौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य बोधकतया स्वतः सिद्धप्रामाण्यस्य स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्।"—भामती पृ० ६।

§ ३०१. तथाशब्दः प्रागुक्तनवतत्त्वाद्यपेक्षया समुच्चये, वाक्यस्य सावधारणत्वात्, द्वे एव प्रत्यक्षे[1] परोक्षे[2] प्रमाणे मते–सम्मते।

§ ३०२. यदपि परैरुक्तं द्व्यादिरिक्तं प्रमाणसंख्यान्तरं प्रत्यक्षादि, तत्रापि यत्पर्यालोच्यमानमुपमानार्थापत्त्यादिवत्प्रमाणतामात्मसात्करोति[3] तदनयोरेव प्रत्यक्षपरोक्षयोरन्तर्भावनीयम्। यत्पुनर्विचार्यमाणं मीमांसकपरिकल्पिताभाववत्[4] प्रामाण्यमेव नात्कन्दति न तेन बहिर्भूतेनान्तर्भूतेन वा प्रयोजनम्, अवस्तुत्वादित्यपकर्णनीयम्। तथाहि—प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावसम्भवैतिह्यप्रातिभयुक्त्यनुपलब्ध्यादीनि प्रमाणानि[5] यानि परे प्रोचुः, तत्रानुमानागमौ परोक्षप्रकारावेव विज्ञातव्यौ।

§ ३०३. 'उपमानं तु नैयायिकमते[6] कश्चित्प्रेष्यः प्रभुणा प्रेषयाञ्चक्रे 'गवयमानय' इति स

अनुमानज्ञान साथ ही साथ हुए हैं। ऐसा न माना जाय तो लोकव्यवहारका अभाव हो जायगा। अतः प्रत्यक्ष और परोक्षमें किसी प्रकारका ज्येष्ठ-कनिष्ठ भाव नहीं है।

§ ३०१. तथा शब्द पहले कहे गये जीवादि नवतत्त्वोंके समुच्चयार्थ है। सभी वाक्य निश्चय वाचक होते हैं अतः ये प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण हैं, तीसरा नहीं।

§ ३०२. जिन प्रतिवादियोंने प्रमाणको इन दोसे अतिरिक्त संख्याएँ मानी हैं उनका विचार करके जो अर्थापत्ति उपमान आदिकी तरह प्रमाणकोटिमें आते हैं—प्रमाणभूत साबित होते हैं उनका इन्हीं प्रत्यक्ष और परोक्षमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। जो विचार करने पर भी मीमांसक के द्वारा माने गये अभाव प्रमाणकी तरह प्रमाण ही सिद्ध न हों उनके अन्तर्भाव या बहिर्भावकी चर्चा ही निरर्थक है, क्योंकि ऐसे ज्ञान तो अप्रमाण ही होंगे अतः उनकी उपेक्षा ही करनी चाहिए। परवादी, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, प्रातिभ, युक्ति और अनुपलब्धि आदि अनेक प्रमाण मानते हैं। इन प्रमाणोंमें-से अनुमान और आगम तो परोक्ष प्रमाणके ही भेद हैं।

§ ३०३. नैयायिक आदि उपमानको प्रमाण मानते हैं। नैयायिक उपमानका स्वरूप इस प्रकार बताते हैं—किसी राजाने अपने नोकरको गवय—रोज लानेके लिए भेजा। बेचारा नोकर

१. "अर्थसंवादकत्वं च समाने व्येष्ठास्य का। तदभावे तु नैव स्यात् प्रमाणमनुमादिकम्॥" —तत्त्वसं० का० ४६०। न्यायवि० टी० १,३। अष्टश० अष्टस० पृ० ८०। प्रमाणमी० पृ० ७। २. परोक्षप्रमाणे आ०, क०। ३. –साक्षात्करो-आ०, क०। ४. प्रमाणभावमेव म० २। ५. –नि परे यानि प्रो–म० २। ६. "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।" —न्यायसू० १।१।६। "प्रसिद्धसाधर्म्यादिति–प्रसिद्धं साधर्म्यं यस्य, प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य सोऽयं प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः। किमुक्तं भवति। आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम्। यदा ह्यनेन श्रुतं भवति यथा गौरेवं गवय इति, प्रसिद्धे गोगवयसाधर्म्ये पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवति अयं गवय इति समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिः।"—न्यायवा० पृ० ५७। "प्रसिद्धसाधर्म्यात् इत्यत्र प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च। श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति। प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृशः पिण्ड इति। तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिहेतुः।....तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृतिसहितं सादृश्यज्ञानमुपमानाख्यं प्रमाणमास्थेयम्।" —न्यायवा० ता० पृ० १९८। "अक्षपादास्तु व्याचक्षते–श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम्। तद्धीन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव-तदगोचरप्रमेयप्रमितिसाधनात् प्रमाणान्तरम्। श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशं प्राणिनमवगच्छति, ततो वनेचरपुरुषकथितं यथा गौस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मृत्वा च प्रतिपद्यते अयं गवयशब्दवाच्य इति। तदेतत्संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञानं तज्जन्यमित्युपमानफलमित्युच्यते।" —न्यायमं० पृ० १७२। न्यायकलि० पृ० ३। ७. कश्चित्प्रेष्यः म० २।

गवयशब्दवाच्यमर्थमजानानः कञ्चन वनेचरं पुरुषमप्राक्षीत् । 'कीदृग् गवयः' इति, स प्राह 'यादृगौस्तादृग्गवयः' : इति ततस्तस्य प्रेक्ष्यपुरुषस्यातिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकारि गोसदृशगवयपिण्डज्ञानं 'अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः' इति प्रतिपत्ति फलरूपामुत्पादयत्प्रमाणमिति ।

§ ३०४. मीमांसकमते तु येन प्रतिपन्ना गौरुपलब्धो न गवयो न चातिदेशवाक्य 'गौरिव गवयः' इति श्रुतं, तस्य विकटाटवीं पर्यटतो गवयदर्शने प्रथमे समुत्पन्ने सति यत्परोक्षे गवि सादृश्यज्ञानमुन्मज्जति 'अनेन सदृशः स गौः' इति 'तस्य गोरनेन सादृश्यं' इति वा, तदुपमानम् ।

§ ३०५. तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ [मी० श्लो० उप० श्लो० ३] ।
इति वचनादिति । एतच्च[3] परोक्षभेदे प्रत्यभिज्ञायामन्तर्भाव्यम् ॥

गवयको जानता ही न था । उसने डरके मारे राजासे गवयकी पहिचान नहीं पूछी और वह चुपचाप जंगलकी ओर चला । रास्तेमें एक भीलसे पूछा कि भाई, गवय कैसा होता है ? भील बोला—'अरे तुम इतना ही नहीं जानते, जैसी गइया होती है ठीक वैसा ही गवय होता है' नौकर उस भीलके वचनोंको याद करता हुआ जंगलमें जा पहुँचता है और वहाँ भीलके वचनोंको याद करके सामने एक गायके समान अवयववाले प्राणीको देखते ही 'यही गवय है, इसे ही गवय शब्दसे पुकारते हैं' इस उपमितिको उत्पन्न करता है । इसमें 'गायके समान गवय होता है' इस अतिदेश वाक्यके स्मरणके साथ ही साथ गो सदृश गवयका ज्ञान भी कारण होता है अतः यही गो सदृश गवयका ज्ञान अर्थात् सादृश्य ज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है । तात्पर्य यह कि सादृश्य-ज्ञान तो उपमान प्रमाण है तथा 'इसकी गवय संज्ञा है' यह संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध ज्ञान उपमितिरूप फल है ।

§ ३०४. मीमांसक उपमानका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—जिस व्यक्तिने गायको तो देखा है पर गवयको अभी तक नहीं देखा और न 'गायके समान गवय होता है' इस अतिदेश वाक्य—परिचय वाक्यको ही सुना है । वह विकट जंगलमें घूमते-घूमते अचानक पहले ही पहले गवयको देखता है । गवयको देखते ही उसे परोक्ष गौ का स्मरण हो आता है और वह सोचता है कि 'गाय सो ठीक इसी गवयके समान होती है' 'उस गौ में इस गवयकी बड़ी सदृशता है' इस तरह परोक्ष गौमें जो सादृश्य ज्ञान उत्पन्न होता है उसे उपमान कहते हैं । कहा भी है—"गवयको देखकर जिस गायका स्मरण होता है वही गाय गवयकी समानतासे विशिष्ट होकर उपमान प्रमाणके द्वारा जानी जाती है । अथवा गायसे विशिष्ट गवयकी समानता उपमान प्रमाणका विषय होती है । गोविशिष्ट सादृश्य या सादृश्यविशिष्ट गौ दोनों ही उपमान प्रमाणके प्रमेय हैं ।"

§ ३०५. ये दोनों ही प्रकारके उपमान प्रत्यभिज्ञान नामक परोक्ष प्रमाणमें अन्तर्भूत हो जाते हैं । दोनों ही उपमानोंमें गवयका प्रत्यक्ष तथा अतिदेश वाक्य या गायका ही स्मरण कारण होता है और सादृश्यरूपसे उनका संकलन किया जाता है अतः प्रत्यक्ष और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले तथा सादृश्यको संकलित करनेवाले सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है । प्रत्यक्ष और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले एकत्व सादृश्य विलक्षणता आपेक्षिक आदि रूपसे जितने भी संकलन ज्ञान होते हैं वे सभी प्रत्यभिज्ञानरूप ही हैं ।

---

१. इति तस्य प्रेक्ष्य–म० २ । २. –दयतः प्रमा–म० २ । ३. "ततो यः संकलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा 'स एवायम्' इति प्रत्ययः संकलनात्मकश्च 'अनेन सदृशो गौः' इति प्रत्यय इति ।" —न्यायकुमु० पृ० ४९४ । "आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानाभिधानमेव ।" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २९० ।

§ ३०६. **अर्थापत्तिरपि**[1] —

"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽन्यथा भवन् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥ ॥" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १ ।

इत्येवंलक्षणा अनुमानान्तर्गतैव,[2] **अर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपत्तिनिश्चयेनैवाऽर्थान्तरपरिकल्पनात्, अन्यथानुपपत्तिनिश्चयस्यानुमानत्वात् ।**

§ ३०७. **अभावाख्यं तु प्रमाणं प्रमाणपञ्चकाभावः, तदन्यज्ञानम्, आत्मा वा ज्ञानविनिर्मुक्तः इति त्रिधाभिधीयते**[3]**, तत्राद्यपक्षस्यासंभव एव; प्रसज्यवृत्त्या प्रमाणपञ्चकाभावस्य तुच्छत्वेनावस्तुत्वात्, अभावज्ञानजनकत्वायोगात् । द्वितीयपक्षे तु पर्युदासवृत्त्या**[4] **यत्तदन्यज्ञानं** [5]**तत्प्रत्यक्षमेव,**

---

§ ३०६. प्रत्यक्षादि छहमें-से किसी एक भी प्रमाणसे जाने गये किसी भी पदार्थसे अविनाभावी परोक्ष पदार्थकी कल्पना करना अर्थापत्ति कही जाती है। यह अर्थापत्ति अनुमानस्वरूप ही है अतः इसका अनुमानमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। जिस प्रकार अनुमानमें लिंगसे अविनाभावी परोक्ष साध्यका ज्ञान होता है उसी तरह अर्थापत्तिमें भी एक पदार्थसे अविनाभावी परोक्ष पदार्थकी ही कल्पना की जाती है। दोनोंमें अविनाभावके बलसे ही अन्य परोक्ष पदार्थका अटकल लगाया जाता है। जहाँ भी अविनाभावसे अन्य पदार्थका ज्ञान होता है वह सब अनुमानरूप ही तो है।

§ ३०७. अभाव प्रमाणके तीन रूप होते हैं—(१) जिस पदार्थका अभाव करना है उसको सत्ताको साधनेवाले प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका नहीं मिलना अर्थात् प्रमाणपंचकाभाव। (२) अथवा जिस आधारमें या जिस पदार्थके साथ उसे देखा था, केवल उसी आधार या पदार्थका परिज्ञान होना, जिसका अभाव करना है उससे भिन्न वस्तुका ज्ञान होना, जैसे घड़ेको भूतलमें या भूतलके साथ देखा था, अब यदि केवल भूतल ही दिखाई देता है तो घड़ेका अभाव हो जायगा। (३) अथवा आत्मामें ज्ञान ही उत्पन्न न हो। जब घड़ेका ज्ञान ही उत्पन्न न होगा तब उसका सद्भाव न होकर अभाव ही सिद्ध होगा। इनमें प्रथम पक्ष तो बन ही नहीं सकता, क्योंकि प्रमाण पंचकका अभाव प्रसज्यपक्षमें तुच्छरूप होनेसे जब अवस्तु रूप ही पड़ेगा तब वह अभाव विषयक ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। जो वस्तुरूप होता है वही ज्ञान उत्पन्न कर सकता है।

---

१. "अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते—इत्यर्थकल्पना, यथा जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावित्वादृष्टस्य कल्पना ।" —शाबरभा० १।१।५ । प्रकरणपं० पृ० ११३ । शास्त्रदी० पृ० २९० । तत्त्वसं० पृ० १५२ । तन्त्ररह० पृ० १३ । प्रभाकरवि० पृ० ५३ । २. "शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः प्रमाणविधित्वात्" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २१३ । "शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसंभवानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ।" —न्यायसू० २।२।२ । "·····प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य संबद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानं तथा चार्थापत्तिसंभवाभावः । वाक्यार्थसंप्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव ।" —न्यायभा० २।२।२ । न्यायवा० पृ० २०६ । न्यायकं० पृ० ५७ । न्यायकुसु० ३।१९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१० । प्रमेयक० पृ० १९१ । न्यायकुमु० पृ० ५१३ । सम्मति० टी० पृ० ५८५ । जैनतर्कवा० पृ० ७७ । स्या० र० पृ० २८३ । रत्नाकराव० २।१ । "दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव श्रवणादनुमितानुमानम् ।" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २१३ । ३. "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । स्वात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि ॥"—मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११ । ४. यत्तदन्यज्ञा–आ०, क० । ५. "अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् ।" —प्रश० भा० पृ० ५७० । तुलना—"प्रत्यादिर्नवाभावस्य प्रतीतेः, तथा चाक्षव्यापारादिह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमपरोक्षमुत्पद्यमानं दृष्टम् ।"

[1]प्रत्यक्षेणैव घटादिविविक्तस्य भूतलादेर्ग्रहणात्। क्वचित्तु तदघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन, योऽग्निमान्न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमोऽनाग्नेरित्यनुमानेन,[2] गृहे गर्गो नास्तीत्यागमेन [3]चाभावप्रतीतेः कुतोऽभावः प्रमाणं प्रवर्तताम्। तृतीयपक्षस्य पुनरसंभव एव, आत्मनो ज्ञानाभावे कथं[4] वस्त्वभाववेदकत्वं, वेदनस्य ज्ञानधर्मत्वात्, अभाववेदकत्वे वा ज्ञानविनिर्मुक्तत्वस्याभावात्, सत्ताभावः प्रमाणान्तरम्।

§ ३०८. [5]संभवोऽपि समुदायेन समुदायिनोऽवगम इत्येवंलक्षणः संभवति खार्यां द्रोण

जो स्वयं गधेके सींगकी तरह अवस्तु है वह अभावज्ञान रूप कार्य कैसे कर सकता है? द्वितीय पक्षमें तो पर्युदास पक्षके अनुसार घड़ेसे अन्य भूतल आदिका ज्ञान प्रत्यक्षसे ही हो रहा है, वह प्रत्यक्षरूप ही है। जब प्रत्यक्षसे ही घड़ेसे रहित शुद्ध भूतलका परिज्ञान हो जाता है तब उससे अतिरिक्त अभाव प्रमाणकी क्या आवश्यकता है। कहीं पर 'यह वही भूतल आज घड़ेसे शून्य है जिसमें कल घड़ा रखा था' इस प्रकारका अभावज्ञान प्रत्यभिज्ञानसे हो जाता है। कहीं 'जो अग्निवाला नहीं है वह धूमवाला भी नहीं है' यह सार्वत्रिक अग्नि और धूमके अभावका ज्ञान तर्कसे होता है। कहीं 'यहाँ धूम नहीं है क्योंकि अग्नि नहीं पायी जाती' यह धूमके अभावका ज्ञान अनुमानसे हो रहा है। कहीं 'गर्ग घरमें नहीं है' इस प्रामाणिक वाक्यसे घरमें गर्गके अभावका ज्ञान आगम प्रमाणरूप ही है। इस तरह यथा सम्भव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ही जब अभावका ज्ञान हो जाता है तब अभाव प्रमाणकी क्या आवश्यकता है? वह कहाँ प्रवृत्ति करेगा? अभावका ज्ञाननिर्मुक्तआत्मावाला प्रकार तो बन ही नहीं सकता; क्योंकि जब आत्मामें बिलकुल ही किसी प्रकारका ज्ञान नहीं रहेगा, तब वस्तुके अभावका परिज्ञान किससे होगा? अभाव हो या सद्भाव, दोनोंका जानना तो ज्ञानका ही कार्य है। यदि आत्मा अभावको जान रहा है; तो फिर उसे ज्ञान निर्मुक्त—ज्ञान शून्य कैसे कह सकते हैं? इस तरह अभाव प्रमाण स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, वह यथासम्भव इन्हीं प्रत्यक्षादिमें अन्तर्भूत है।

§ ३०८. समुदायसे समुदायीका ज्ञान सम्भव प्रमाण है। बड़ी चीजसे अपने अवयवभूत किसी छोटी वस्तुका अनुमान सम्भव प्रमाण है। जैसे खारी (= १८ द्रोण) में द्रोणकी सम्भावना

—प्रश० व्यो० पृ० ५९२। प्रश० कन्द० पृ० २२६। "शब्दे ऐतिह्यानर्थान्तरभावात् अनुमानेऽर्थापत्तिसंभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रसिद्धेः।" —न्यायसू० २।२।६। "अभावोऽप्यनुमानमेव"— न्यायवा० पृ० २०६। "सत्यमभावः प्रमेयमभ्युपगम्यते प्रत्यक्षाद्यवसीयमानस्वरूपत्वान्न प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छित्तये मृगयते। अदूरमेदिनिदेशवर्तिनस्तस्य चक्षुषा। परिच्छेदः परोक्षस्य क्वचिन्मानान्तरैरपि॥" —न्यायमं० पृ० ५१। "अन्यस्य घटादिविविक्तस्य भूतलस्योपलब्ध्या घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धिः। एतदुक्तं भवति—घटग्राहकत्वस्य भूतलग्राहकत्वस्य चैकज्ञानसंसर्गित्वात् यदा भूतलग्राहकमेव तज्ज्ञानं भवति तदा घटग्राहकत्वाभावं निश्चाययतीति प्रतीतिप्रत्यक्षसिद्धैव घटानुपलब्धिः।" प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६। तत्त्वसं० पृ० ४७५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। न्यायकुमु० पृ० ४६८। स्या० र० पृ० ३१०। न्यायावा० टो० टि० पृ० २१।

१. तत्प्रत्य—भ० २। २. "अभावोऽप्यनुमानमेव, यथा उत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्।" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २२५। "कश्चित्पुनरसंनिकृष्टदेशवृत्तिरनुमेयोऽपि भवत्यभावः।" —न्यायमं० पृ० ५४। न्यायकुमु० पृ० ४६९। ३. चाभाव—भ० १। ४. वस्तुभा—भ० २। ५. "संभवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २०५। "संभवो नाम अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणं यथा—द्रोणस्य सत्ताग्रहणाद्वाढकस्य सत्ताग्रहणम्, आढकस्य ग्रहणात् प्रस्थस्येति।" —न्यायमा० २।२।१।

इत्यादिको नानुमानात्पृथक्, तथाहि—खारी द्रोणवती, खारीत्वात्पूर्वोपलब्धखारीवत् ।

§ ३०९. [1]ऐतिह्यं स्वनिविष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्यम्, एवमूचुर्वृद्धा यथा 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति, तदप्रमाणं, अनिर्दिष्टवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्, आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति ।

§ ३१०. यदपि [2]प्रातिभमक्षलिङ्गशब्दव्यापारानपेक्षमकस्मादेव 'अद्य मे महीपतिप्रसादो भविता' इत्याकारं स्पष्टतया वेदनमुदयते तदप्यनिन्द्रियनिबन्धनतया [3]मानसमिति—प्रत्यक्षकुक्षिनिक्षिप्तमेव ।

§ ३११. यत्पुनः प्रियाप्रियप्राप्तिप्रभृतिफलेन साधं गृहीताभ्ययानुपपत्तिकात्मनः प्रसादोद्वेगादेर्लिङ्गादुदेति तत्पिपीलिकापटलोत्सर्पणोत्पन्नज्ञानवदस्पष्टमनुमानमेव ।

§ ३१२. एवं युक्त्यनुपलब्ध्योरादिशब्दाद्विशिष्टोपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन

है वह उसमें समा जाता हो है। यह भी अनुमानमें ही अन्तर्भूत है। इस खारीमें द्रोण की पूरी-पूरी सम्भावना है क्योंकि वह खारी है जैसे कि पहले देखी गयी खारी।

§ ३०९. जिनके कहनेवालोंका पता भी पता न हो ऐसे [illegible] जनश्रुतियाँ ऐतिह्य हैं। जैसे—बूढ़े पुराने लोग कहते थे कि 'इस वट वृक्षमें एक यक्ष रहता है'। यह ज्ञान प्रमाणभूत ही नहीं है, क्योंकि इसके वक्ताका पता न होनेसे यह निश्चित नहीं है सन्दिग्ध है, मुमकिन है कि उसमें यक्ष न रहता हो। जिन प्रवादोंके वक्ता तथा उनकी प्रामाणिकता निश्चित है वे तो आगमप्रमाणमें ही अन्तर्भूत हो जायेंगे।

§ ३१०. इन्द्रियाँ लिंग तथा शब्दके व्यापारके बिना ही अचानक 'आज मुझ पर राजा प्रसन्न होंगे' इत्यादि प्रकारके स्पष्ट भानको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनोभावनासे उत्पन्न होनेके कारण मानस प्रत्यक्षमें अन्तर्भूत हो जाता है।

३११. जिस प्रातिभ ज्ञानमें मनकी सहज प्रसन्नतासे या मनकी उद्विग्नता-उचाट रहनेसे इष्ट-अनिष्टका अस्पष्ट भान होता है वह तो अनुमान रूप ही है। जैसे चींटियोंको अण्डे लेकर जाते हुए देखकर वृष्टि होनेका अनुमान। तात्पर्य यह कि मनमें सहज उल्लास होनेसे पहले कई बार इष्टकी प्राप्ति हो चुकी थी इसी तरह मनके उचाट रहनेसे अनिष्ट भी हुआ था। आज यदि सहसा मनमें प्रसन्नता होती है और उससे हृदय अपने आप कहे कि 'आज कुछ लाभ होगा' तो यह अस्पष्ट ज्ञान एक प्रकारका अनुमान ही है। क्योंकि मनकी प्रसन्नता आदिका इष्ट प्राप्ति आदिसे अविनाभाव पहले ही ग्रहण किया जा चुका है और अविनाभावजन्य ज्ञान तो अनुमानरूप ही होता है।

§ ३१२. इसी तरह युक्ति और अनुपलब्धि इन्हीं प्रमाणोंमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। युक्ति यदि अविनाभाव रखती है तो अनुमानमें अन्तर्भूत होगी। यदि अविनाभाव नहीं है तो प्रमाण

---

१. "ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि तानि कस्मान्नोक्तानि। 'इति होचुः' इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं—प्रवादपारंपर्यम् ऐतिह्यम्।" —न्यायभा० २।२।१। "तथैतिह्यमप्यविसंवादमात्रोपदेश एवेति।" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २३०। २. "आम्नायविधातृणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद्—धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते। तत्तु—प्रस्तारेण देवर्षीणाम्। कदाचिदेव लौकिकानां यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राता गन्तेति हृदयं मे कथयतीति॥" —प्रश० भा० पृ० ६२१। जैनतर्कभा० पृ० ७७। ३. "स्मृत्यूहादिकमित्येके प्रातिभं च तथापरे। स्वप्नविज्ञानमित्यन्ये स्वसंवेदनमेव नः॥" —न्यायावता० श्लो० १९।

सामान्यतो लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्"[1] [याज्ञव० स्मृ० २।२२] इत्युक्तस्य प्रमाणस्यान्येषां च केषांचित्प्रमाणान्तरत्वेन परपरिकल्पितानां यथालक्षणं प्रत्यक्षपरोक्षयोरन्तर्भावो निराकरणं च विधेयम् । तदेवं न प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणद्वैविध्यातिक्रमं शक्रोऽपि कर्तुं क्षमः ।

अथ तयोर्लक्षणाद्यभिधीयते—स्वपरव्यवसायि ज्ञानं स्पष्टं प्रत्यक्षम्[2] । तद्द्विप्रकारं, सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च ।

§ ३१३. तत्र सांव्यवहारिकं बाह्येन्द्रियादिसामग्रीसापेक्षत्वादपारमार्थिकमस्मदादिप्रत्यक्षम्[3] । [4]पारमार्थिकं त्वात्मसंनिधिमात्रापेक्षमवध्यादिप्रत्यक्षम् ।

§ ३१४. सांव्यवहारिकं द्वेधा, चक्षुरादीन्द्रियनिमित्तं मनोनिमित्तं च । तदद्विविधमपि चतुर्धा, [5]अवग्रहेहावायधारणाभेदात् । तत्र विषयविषयिसंनिपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शना[6]ज्जा-

रूप हो नहीं है । अनुपलब्धि तो अभाव प्रमाण रूप है अतः उसका यथासम्भव प्रत्यक्षादिमें अन्तर्भाव हो जायगा । आदि शब्दसे प्रतिवादियों-द्वारा माने गये अन्य प्रमाणोंका भी इन्हींमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिए । जैसे वृद्ध नैयायिक विशिष्ट उपलब्धिको उत्पन्न करनेवाले ज्ञानात्मक या अज्ञानात्मक सभी पदार्थोंको साधारण रूपसे प्रमाण मान लेते हैं । उन्होंने कहा है कि "लिखित स्टाम्प आदि, साक्षी—गवाही तथा भुक्ति—अनुभव सभी प्रमाण हैं" तथा अन्य वादियों-द्वारा भी प्रमाणान्तर माने जाते हैं उन सबके लक्षणोंका विचार करनेपर यदि वे स्वपर व्यवसायी ज्ञानरूप हों तो उन्हें प्रमाण मानकर इन्हीं प्रत्यक्ष और परोक्षमें शामिल कर लेना चाहिए । यदि वे प्रमाणहीन हों तो उनका निराकरण करना चाहिए । इस तरह प्रमाणको प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे कही गयी दो संख्याका उल्लंघन इन्द्र भी नहीं कर सकता, वह सर्वतः अबाधित है ।

§ ३१३. अब प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षण आदि कहते हैं । स्व और परके निश्चय करनेवाले स्पष्ट—पर निरपेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं । प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१ सांव्यवहारिक, २. पारमार्थिक । बाह्य चक्षुरादि तथा प्रकाश आदि सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाला हमलोगोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा मानस प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । वस्तुतः यह इन्द्रियादिकके परतन्त्र होनेसे परोक्ष है—अपारमार्थिक है परन्तु लोक व्यवहारमें इसको प्रत्यक्षरूपमें प्रसिद्धि होनेसे इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं । पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो आत्ममात्रसे ही उत्पन्न होता है । यह अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानके भेदसे तीन प्रकारका है ।

§ ३१४. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—एक तो चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला इन्द्रिय प्रत्यक्ष और दूसरा मात्र मनसे उत्पन्न होनेवाला मानस प्रत्यक्ष । ये दोनों ही प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारके होते हैं । इन्द्रिय और पदार्थके योग्य देश स्थितिरूप सम्बन्ध होनेपर सत्तामात्रका आलोचन करनेवाला दर्शन होता है । इस

१. —तमित्यस्य म० २ । २. "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।" —लघी० श्लो० ३ । ३. "इन्द्रियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खम् ॥९५॥" —विशेषा० भा० । "तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।" —लघी० स्ववृ० श्लो० ४ । प्रमाणपरी० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५२ । जैनतर्कभा० पृ० १०० । परीक्षामु० २।५ । प्रमाणमी० १।१।२१ । न्यायदी० पृ० ९ । ४. "अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटमविसंवादमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम् ।" —लघी० स्ववृ० श्लो० ६१ । "सामग्रीविशेषविश्लेषितावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।" परीक्षामु० २।११ । "पारमार्थिकं पुनरुत्पन्नं आत्ममात्रापेक्षम् ।" —प्रमा० तत्त्वा० २।१८ । प्रमाणमी० १।१।१८ । न्यायदी० पृ० १० । ५. "अवग्रहेहावायधारणाः ।" —तत्त्वार्थसू० १।१५ । ६. —ज्जातमात्रगो—म० १, म० २, प० १, प० २ ।

तमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः[1]। अस्यार्थः—विषयो द्रव्यपर्यायात्मकोऽर्थो, विषयी चक्षुरादिः, तयोः समीचीनो भ्रान्त्याद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातो योग्यदेशाद्यवस्थानं तस्मादनन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सत्तामात्रगोचरं[2] दर्शनं निराकारो बोधस्तस्माज्जातमाद्यं सत्तासामान्याद्यवान्तरैर्मनुष्यत्वादिभिर्विशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद्ग्रहणं ज्ञानं तदवग्रहः। पुनरवगृहीतविषयसंशयानन्तरं तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा[3]। तदनन्तरं तदीहितविशेषनिर्णयोऽवायः[4]। अवेतविषयस्मृतिहेतुस्तदनन्तरं धारणा।[5]

दर्शनसे उत्पन्न होनेवाला घटत्व आदि विशेष सत्तासे युक्त घट आदि पदार्थोंको विषय करनेवाले प्रथम ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। विषय—द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ, विषयी चक्षु आदि इन्द्रियाँ, इनके समीचीन विपर्यय संशय आदिका उत्पन्न नहीं करनेवाले निपातसे योग्यदेश स्थिति रूप सम्बन्धसे सत्तामात्रका आलोचन करनेवाला निराकार ज्ञानरूपी दर्शन उत्पन्न होता है। इस सामान्य सत्ताका भान करनेवाले दर्शनके बाद ही उससे मनुष्यत्व आदि अवान्तर-विशेष सामान्यसे युक्त वस्तुको 'यह मनुष्य है' इत्यादि रूपसे जाननेवाला जो सबसे पहला ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रहके द्वारा जाने गये पदार्थमें उत्पन्न होनेवाले संशयके बाद विशेष निर्णयके लिए होनेवाला 'यह ऐसा होना चाहिए' ऐसा भवितव्यता प्रत्यय ईहा कहा जाता है। जैसे सामान्यरूपसे पुरुषको जान लेनेके बाद 'यह दक्षिणी है या उत्तरी' यह संशय होता है, इस संशयके बाद होनेवाले 'इसे दक्षिणी होना चाहिए' इस सम्भावना प्रत्ययको ईहा कहते हैं। ईहाके द्वारा सम्भावित विशेषका यथार्थ निर्णय अवाय कहलाता है। जिस पदार्थका पक्का निश्चय हो गया है उसका कालान्तरमें स्मरण करानेवाले कारणको धारणा कहते हैं। इतना दृढ़ निश्चय होना जिससे उसकी बहुत दिन तक याद बनी रहे।

---

१. "तत्र अव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैः विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः।" —तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५। "विषयविषयिसंनिपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः।" —सर्वार्थसि० १।१५। लघी० श्लो० ५। राजवा० १।१५। धवला टी० सत्प्ररू०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५२। प्रमा० नय० २।८। न्यायदी० पृ० १०। २. दर्शनाज्जातम् म० १, म० २, प० १, प० २। ३. "अवगृहीतेऽर्थे विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा।" —तत्त्वार्थाधि० १।१५। "अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा।"—सर्वार्थ० १।१५। लघी० श्लो० ५। राजवा० १।१५। धवला टी० सत्प्ररू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५३। प्रमा० नय० २।८। प्रमाणमी० १।१।२७। न्यायदी० पृ० ११। जैनतर्कभा० पृ० ५। ४. "अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोपायः।" —तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५। "विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः।" —सर्वार्थसि० १।१५। लघी० श्लो० ५। राजवा० १।१५। धवलाटी० सत्प्ररू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५३। प्रमा० नय० २।९। प्रमाणमी० १।१।२८। न्यायदी० पृ० ११। जैनतर्कभा० पृ० ५। ५. "धारणा प्रतिपत्तिर्यथात्वं मत्यवस्थानमवधारणं च धारणा प्रतिपत्तिः अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोधः इत्यनर्थान्तरम्।" —तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५। "अर्थतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा।" —सर्वार्थसि० १।१५। लघी० श्लो० ६। राजवा० १।१५। धवलाटी० सत्प्ररू०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५३। प्रमा० नय० २।१०। प्रमाणमी० १।१।२९। न्यायदी० पृ० ११। जैनतर्कभा० पृ० ५।

§ ३१५. अत्र च [1]पूर्वपूर्वस्य प्रमाणतोत्तरोत्तरस्य च फलतेत्येकस्यापि मतिज्ञानस्य चातुर्विध्यं कथंचित् प्रमाणफलभेदश्चोपपन्नः । तथा यद्यपि क्रमभाविनामवग्रहादीनां हेतुफलतया व्यवस्थितानां पर्यायार्थाद्भेदः तथाप्येकजीवतादात्म्येन द्रव्यार्थादेशादभेदात्मैक्यं कथंचिदविरुद्धम्, अन्यथा हेतुफलभावाभावप्रसक्तिर्भवेदिति प्रत्येयम् ।

§ ३१६. [2]धारणास्वरूपा च मतिरविसंवादस्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात्प्रमाणं, स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्यवमर्शस्वभावसंज्ञाफलजनकत्वात्, संज्ञापि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्, चिन्ताप्यनुमानलक्षणाभिनिबोधफलजनकत्वात्, सोऽपि हानादिबुद्धिजनकत्वात् । तदुक्तम्—"मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।" [त०सू० १।१३] अनर्थान्तरमिति—कथंचिदेकविषयं प्राक्शब्दयोजनान्मतिज्ञानमेतत् । शेषमनेकप्रभेदं शब्दयोजनादुपजायमानमविशदं[3]

---

§ ३१५. इन अवग्रहादि ज्ञानोंमें पहले-पहलेके ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञानोंमें कारण होनेसे प्रमाण रूप हैं तथा आगे-आगेके ज्ञान कार्य होनेसे फलरूप हैं। अवग्रह प्रमाण है तो ईहा फल, ईहाकी प्रमाणतामें वस्तुतः यह एक ही मतिज्ञान है परन्तु अवाय फल होता है। पर्याय भेदसे उसके ही ये चार रूप हो जाते हैं और इनमें परस्पर प्रमाण और फलरूपसे कथंचिद् भेद भी हो जाता है। इस तरह यद्यपि क्रमसे उत्पन्न होनेवाले इन अवग्रह आदि चारों ज्ञानोंमें, जो कि क्रमशः कारण कार्य रूप हैं, पर्यायार्थिक-अवस्थाओंके भेदसे भेद है परन्तु ये सभी ज्ञान एक आत्मासे तादात्म्य अभेद रखते हैं अतः उस आधारभूत आत्मद्रव्यकी अपेक्षासे ये सभी ज्ञान कथंचिद् अभिन्न भी हैं। यदि इनमें आत्मद्रव्यको अपेक्षा कथंचिदेकता तथा अवस्था भेदसे अनेकता न हो तो इनमें परस्पर उपादान-उपादेयभाव या कार्यकारणभाव नहीं बन सकेगा। कार्य और कारण ये दो तो अवस्था भेद होनेपर ही हो सकते हैं तथा उपादान-उपादेय भावके लिए एक द्रव्यात्मक होना आवश्यक ही है।

§ ३१६. धारणा नामका मतिज्ञान अविसंवादी स्मरणमें कारण होता है अतः वह प्रमाण है तथा स्मरण फल है। स्मरणसे 'यह वही है' इत्यादि संकलन रूप संज्ञा-प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रत्यभिज्ञान फल है और स्मरण प्रमाण। प्रत्यभिज्ञान भी अविनाभावको ग्रहण करनेवाले तर्क रूप चिन्ताको उत्पन्न करता है अतः वह प्रमाण है तथा तर्क फल। तर्कसे अविनाभावका परिज्ञान कर आभिनिबोध-अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है अतः तर्क प्रमाण है तथा अनुमान फल। अनुमानसे हेयोपादेय बुद्धि रूप फल उत्पन्न होता है अतः अनुमान भी प्रमाणरूप है। कहा भी है—"मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये अनर्थान्तर हैं। कथंचिद् अभिन्न हैं" अनर्थान्तर–कथंचिद् एकविषयक। अकलंकदेव इस सूत्रका निम्न तात्पर्य बताते हैं—जब तक इन ज्ञानोंका शब्द रूपसे उल्लेख नहीं किया जाता, इनमें शब्द योजना नहीं होती तब तक ये सब मतिज्ञान रूप हैं। शब्द योजनासे उत्पन्न होनेवाला अनेक प्रकारका अविशद ज्ञान

---

१. "पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् । प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वं च प्रत्येयम् ।"—लघी० स्ववृ० श्लो० ७। "पूर्वपूर्वप्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति क्रमः ।"—प्रमाणवार्तिकालं० ३।३।१०। "तथा पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलमिति ।" —न्यायवि० टी० टि० पृ० ४०। सम्मति० टी० पृ० ५५३। "अवग्रहादीनां क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ।" —प्रमाणमी० १।१।३९। २. "अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा। स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य। संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः।" —लघी० स्ववृ० श्लो० ११। सम्मति० टी० ५५३। ३. —दं श्रुत–म० २।

ज्ञानं श्रुतमिति केचित्[1]। [2]सैद्धान्तिकास्त्ववग्रहेहावायधारणाप्रभेदरूपाया मतेर्वाचकाः पर्यायशब्दा मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्येते शब्दा इति प्रतिपन्नाः। स्मृतिसंज्ञाचिन्ताद्यनां च कथंचिद्गृहीतग्राहित्वेऽप्यविसंवादकत्वादनुमानवत्प्रमाणतामभ्युपेया, अन्यथा व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन[3] गृहीतविषयत्वेनानुमानस्याप्रमाणताप्रसक्तेः। [4]अत्र च यच्छब्दसंयोजनात्प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादि व्यवहारनिर्वर्तनक्षमं वर्तते तन्मतिः शब्दसंयोजनात्प्रादुर्भूतं[5] तु सर्वं श्रुतमिति विभागः। स्मृतिसंज्ञादीनां च स्मरणतर्कानुमानरूपाणां परोक्षभेदानामपि यदिह प्रत्यक्षाधिकारे[6] भणनं तन्मतिश्रुतविभागज्ञापनाय प्रसङ्गेनेति विज्ञेयम्।

§ ३१७ अथ परोक्षम्—अविशदमविसंवादि ज्ञानं परोक्षम्[7]। स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानु-

श्रुत है। तात्पर्य यह कि जब तक मति स्मृति आदिमें शब्द योजना नहीं होती तब तक वे मतिज्ञान रूप हैं तथा शब्दयोजना होनेपर ये, तथा अन्य भी शब्द योजनासे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। परन्तु सैद्धान्तिक तो इन मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधको अवग्रह ईहा अवाय और धारणा रूपसे चतुर्भेदवाले मतिज्ञानके पर्यायवाची शब्द ही मानते हैं। वे इनमें शब्दयोजनाके द्वारा मति और श्रुत रूपसे भेद नहीं करते। स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क आदि यद्यपि पूर्व प्रत्यक्ष आदिके द्वारा जाने गये पदार्थोंको ही जानते हैं फिर भी कुछ विशेष अंशका परिच्छेद करनेके कारण तथा अविसंवादी होनेसे अनुमानकी तरह ही प्रमाण हैं। जिस प्रकार व्याप्तिज्ञान तर्कके द्वारा जाने गये सामान्य अग्नि और धूमको ही कुछ विशेष रूपसे जाननेवाला अनुमान कथंचिद् अगृहीतग्राही मानकर प्रमाण समझा जाता है उसी तरह स्मृति आदि ज्ञान भी प्रमाण ही हैं। अन्यथा अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। इनमें अविसंवादी तथा लोक व्यवहारके चलानेमें समर्थ स्मृति आदि ज्ञान शब्द योजनासे पहले मतिज्ञान रूप हैं तथा शब्द योजनासे उत्पन्न होनेवाला हर एक ज्ञान श्रुत रूप है। ये स्मृति आदि भी शब्द योजनाके अनन्तर श्रुत रूप हो जाते हैं। इस प्रत्यक्षके प्रकरणमें स्मृति-स्मरण, संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता—तर्क, अभिनिबोध—अनुमान आदि परोक्षके प्रकारोंका निरूपण इसलिए किया है जिससे इनमें मति और श्रुतका स्पष्ट विभाग मालूम हो जाय।

§ ३१७. अस्पष्ट अविसंवादि ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। परोक्षके पाँच भेद हैं—१ स्मृति,

---

१. "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वा (चा) भिनिबोधकम् ॥ आद्यं लिङ्गसंयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।....प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ॥" —लघी० स्ववृ० श्लो० १०। २. "आभिनिबोधिकज्ञानस्यैव त्रिकालविषयस्यैते पर्याया नार्थान्तरतेति मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यस्यानर्थान्तरमेतदिति।" —तत्त्वार्थाधि० भा० टी० १।१३। ३. -प्रमाणागृहीतवि-म० २। ४. "अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः।" —सन्मति० टी० पृ० ५५३। ५. -तं सर्वं म० १, म० २, प० १, प० २। ६. -कारेण भणनं म० २। ७. 'जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु ॥५९॥" —प्रव० सार पृ० ७५। "पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षम् इत्याख्यायते।" —सर्वार्थसि० पृ० ५९। "अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विंदियमणा परा तेणं। तेहि तो जं णाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥९०॥" —विशेषाव० भा०। "परोक्षं शेषविज्ञानम्।" —लघी० श्लो० ३। "अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्, ततः परैः इन्द्रियादिभिः ऊह्यते सिक्ष्यते अभिसंधीयत इति परोक्षम्।" — तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। "परोक्षमविशद् ज्ञानात्मकम्।" —प्रमाणप० पृ० ६५। सन्मति० टी० पृ० ५९५। "परोक्षमितरत्।" —परीक्षामु० ३।१। न्यायावा० श्लो० ४। प्रमाणनय० ३।१। प्रमाणमी० ३।१। पञ्चाध्या० श्लो० ६९६।

मानागमभेदतस्तत्पञ्चधा[1]। संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारः[2] वेदनं स्मरणम्[3], यथा तत्तीर्थंकरबिम्बमिति। अनुभवस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्, 'तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि, यथा स एवायं देवदत्तः गोसदृशो गवयः गोविलक्षणो महिषः इदमस्माद्दीर्घं ह्रस्वमणीयो महीयो वा दूरादयं स्तोको वह्निः सुरभीदं चन्दनमित्यादि। अत्रादिशब्दात् स एव वह्निरनुमीयते स एवानेनाप्यर्थः कथ्यत इत्यादि स्मरणसचिवानुमानागमादिजन्यं च संकलनमुवाहार्यम्। उपलम्भानुपलम्भसंभवं [6]त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसंबन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनं तर्कः[7], यथाग्नौ सत्येव धूमो भवति तदभावे न भवत्येवेति।

---

२ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान ५ आगम। पहले देखे गये पदार्थके संस्कारके प्रबोधसे उत्पन्न होनेवाला, अनुभूत पदार्थको विषय करनेवाला, 'वह था' इत्यादि रूपमें 'वह' शब्दसे जिसका निरूपण होता है उस अविसंवादी ज्ञानको स्मरण कहते हैं। जैसे तीर्थंकरकी वह प्रतिमा कितनी मनोज्ञ थी। अनुभव और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले संकलन-ज्ञान पूर्व और उत्तरमें एकत्व सादृश्य आदि रूपसे सम्बन्ध, या उन दोनोंके जोड़को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकारका है। एकत्व प्रत्यभिज्ञान–यह वही है, जैसे यह वही देवदत्त है। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान–यह उसके समान है, जैसे गायके सदृश गवय है। वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान–यह उससे विलक्षण है, जैसे भैंस गायसे विलक्षण है। प्रतियोगि प्रत्यभिज्ञान–यह उसकी अपेक्षा दूर समीप छोटा बड़ा इत्यादि रूपसे होता है। जैसे यह इससे लम्बा है, यह छोटा है, कम वजनका है, बहुत दूर है। अग्नि तेज है, चन्दन सुगन्धि है। आदि शब्दसे स्मरण और अनुमानके द्वारा तथा स्मरण और आगमसे होनेवाले संकलनका भी प्रत्यभिज्ञानमें समावेश कर लेना चाहिए। जैसे 'यह उसी अग्निका अनुमान किया जा रहा है जिसे पहले देखा था' यह शब्द भी उसी अर्थको कह रहा है'। उपलम्भ और अनुपलम्भसे उत्पन्न होनेवाले त्रिकाल त्रिलोकवर्ती सभी साध्य साधनोंके सम्बन्धको विषय करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है। 'साध्यके होनेपर ही साधन होता है' इस साध्य और साधनके सद्भावरूप अन्वयको जाननेवाला ज्ञान उपलम्भ कहलाता है। 'साध्यके अभावमें साधन नहीं होता' इस साध्य और साधनके अभावरूप व्यतिरेकको जाननेवाला ज्ञान व्यतिरेक कहलाता है। 'यह इसके होनेपर ही होता है, इसके अभावमें तो कभी भी नहीं होता' यह तर्क प्रमाणका आकार है। जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है अग्निके अभावमें तो कभी भी नहीं होता। इस तरह साधारण रूपसे संसारके समस्त अग्नि और धूमोंके अविनाभाव सम्बन्धको तर्क प्रमाण जान लेता है।

---

१. "प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमं भेदम्।" —परीक्षामु० ३।२। लघी० स्ववृ० श्लो० १०। प्रमाणनय० ३।१। प्रमाणमी० १।२।३। २. –कारवेदनं म० २। ३. "संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः। स देवदत्तो यथा।" —परीक्षामु० ३ ३–४। "तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणमिति। तत्तीर्थकरबिम्बमिति यथेति।" —प्रमाणनय० ३।३–४। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणमी० १।२।३। ४. "दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि। यथा स एवायं देवदत्तः। गोसदृशो गवयः। गोविलक्षणो महिषः। इदमस्माद् दूरम्। वृक्षोऽयमित्यादि।" —परीक्षामु० ३।५–१०। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणनय० ३।४–६। प्रमाणमी० १।२।४। ५. –कालकलित– आ०, क०। ६. "उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः। इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च। यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।" —परीक्षामु० ३।११–१३। "उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसंबन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन्सत्येव भवतीत्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्क इति।" —प्रमाणनय० ३।७। प्रमाणसं० का० १२। प्रमाणप० पृ० ७०। प्रमाणमी० १।२।५।

§ ३१८. अनुमानं द्विधा, स्वार्थं परार्थं च। हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणहेतुकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्[1]। निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः[2]। इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्[3]। साध्यविशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी पक्षः[4]। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्[5]। [6]मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि। दृष्टान्तो द्विधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्[7]। साधनसत्तायां यत्रावश्यं साध्यसत्ताप्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः[8]। साध्याभावेन साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः[9]। हेतोरुपसंहार उपनयः[10]। प्रतिज्ञायास्तूपसंहारो निगमनम्[11]। एते पक्षावयवः पञ्चावयवाः

§ ३१८. साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। अनुमान दो प्रकारका है—१ स्वार्थानुमान २ परार्थानुमान। हेतुका ग्रहण तथा अविनाभावके स्मरणसे होनेवाला साध्यका ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है। जिसको साध्यके साथ अन्यथानुपपत्ति–(अन्यथा साध्यके अभावमें अनुपपत्ति नहीं होना अर्थात् अविनाभाव) सुनिश्चित हो उस एक मात्र अविनाभाव लक्षणवाले पदार्थको हेतु कहते हैं। जिसे सिद्ध करना वादीको इष्ट है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित नहीं होता तथा जो अभी तक प्रतिवादीको असिद्ध है उसे साध्य कहते हैं। साध्यसे युक्त धर्मी पक्ष कहलाता है। धर्मी प्रसिद्ध होता है। पक्ष और हेतुके कथनको सुनकर श्रोताको उत्पन्न होनेवाला साध्यका ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। यद्यपि मुख्यरूपसे तो परार्थानुमान ज्ञानात्मक ही होता है फिर भी जिन वचनोंसे वह ज्ञान उत्पन्न होता है उन वचनोंको भी कार्यभूत ज्ञानका कारणभूत वचनोंमें उपचार करके परार्थानुमान कहते हैं। अनुमानके प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव

१. "तत्र हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमिति।" —प्रमाणनय० ३।१०। २. "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।" —न्यायाव० श्लो० २२। "साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्।" —प्रमाणसं० पृ० १०२। न्यायवि० श्लो० २६९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४। परीक्षामु० ३।१५। "तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते। प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥" —प्रमाणप० पृ० ७२। प्रमाणनय० ३।११। ३. "पक्षः प्रसिद्धो धर्मी, प्रसिद्धविशेषणविशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः।" —न्यायप्रवे० पृ० १। "साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः।" —न्यायाव० श्लो० १४। "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः इति।" —न्यायवि० पृ० ७९। "साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्।" —न्यायवि० श्लो० १७२। परीक्षामु० ३।१५। प्रमाणनय० ३।१२। जैनतर्कभा० पृ० १३। प्रमाणमी० १।२।१३। ४. "साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी। पक्ष इति यावत्। प्रसिद्धो धर्मी।" —परीक्षामु० ३।२५–२७। न्यायप्र० पृ० १। प्रमाणमी० १।२।१५–१६। ५. "निरूपितलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।" —न्यायवि० ३।१। "साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्। परार्थमनुमानं तत्पक्षादिवचनात्मकम्॥" —न्यायाव० श्लो० १३। परीक्षामु० ३।५५। प्रमाणमी० २।१।१–२। "पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारादिति।" —प्रमाणनय० ५।२३। ६. "बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात्।" —परीक्षामु० ३।४६। "मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानीति।" —प्रमाणनय० ३।४२। प्रमाणमी० २।१।१०। ७. "दृष्टान्तो द्वेधा। अन्वयव्यतिरेकभेदात्।" —परीक्षामु० ३।४७। न्यायप्र० पृ० १। प्रमाणनय० ३।४१। प्रमाणमी० १।२।२१। ८. "साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।" —परीक्षामु० ३।४८। न्यायप्र० पृ० १। न्यायाव० श्लो० १८। प्रमाणनय० ३।४२, ४३। प्रमाणमी० १।२।२२। ९. "साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः।" —परीक्षामु० ३।४९। न्यायप्र० पृ० २। न्यायाव० श्लो० १९। प्रमाणनय० ३।४४, ४५। प्रमाणमी० १।२।२३। १०. "हेतुरुपसंहार उपनयः।" —परीक्षामु० ३।५०। प्रमाणनय० ३।४६, ४७। प्रमाणमी० २।१।१४। ११. "प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।" —परीक्षामु० ३।५१। प्रमाणनय० ३।४८, ४९। प्रमाणमी० २।१।१५।

कीर्त्यन्त इत्यादि । अत्रोदाहरणम्—'परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स परिणामी दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम् तस्मात्परिणामी । यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टः, यथा वन्ध्यास्तनन्धयः । कृतकश्चायम् तस्मात्परिणामी' इत्यादि ।

§ ३१९. नन्वत्र निश्चितान्यथानुपपत्तिरेवैकं हेतोर्लक्षणमभ्यधायि किं न 'पक्षधर्मत्वादित्रैरूप्यमिति चेत्, उच्यते; पक्षधर्मत्वादौ त्रैरूप्ये सत्यपि तत्पुत्रत्वादेर्हेतोर्गमकत्वादर्शनात्', 'असत्यपि च त्रैरूप्ये हेतोर्गमकत्वदर्शनात्, तथाहि—जलवत्त्वात् नभश्चन्द्रः, कृत्तिकोदयात् शकटोदयः, पुष्यितै-

---

होते हैं परन्तु मोटी बुद्धिवाले मन्द शिष्योंको समझानेके लिए दृष्टान्त उपनय और निगमन इन तीन अवयवोंका भी प्रयोग कर सकते हैं । दृष्टान्त दो प्रकारका है—१ अन्वय दृष्टान्त, २ व्यतिरेक दृष्टान्त । जहाँ साधनकी सत्तामें नियत रूपसे अवश्य ही साध्यकी सत्ता दिखायी जाय वह अन्वय दृष्टान्त है । जहाँ साध्यके अभावमें नियमसे साधनका अभाव बताया जाय वह व्यतिरेक दृष्टान्त है । दृष्टान्तका कथन करके पक्षमें हेतुकी सत्ताके दुहरानेको उपनय कहते हैं । पक्षमें हेतुकी सत्ताका उपसंहार करके साध्यके सद्भावको दुहराना निगमन कहलाता है । ये पक्ष हेतु दृष्टान्त उपनय और निगमन 'पंचावयव' कहे जाते हैं । जैसे, शब्द परिवर्तनशील है, परिणामी है, क्योंकि वह उच्चारणसे उत्पन्न किया गया है, कृतक है, जो कृतक होते हैं वे परिणामी होते हैं जैसे घड़ा, चूँकि यह शब्द भी कृतक है, अतः उसे परिणामी होना ही चाहिए, जो परिणामी नहीं होते वे कृतक भी नहीं होते जैसे वन्ध्याका लड़का, चूँकि शब्द कृतक है, अतः वह परिणामी होगा ही ।

§ ३१९. शंका—आपने एक मात्र अविनाभावको ही हेतुका लक्षण माना है । पर हेतुके लक्षणमें तो 'पक्षमें रहना, सपक्षमें रहना तथा विपक्षमें नहीं रहना' इन तीन रूपोंका भी विशिष्ट स्थान है अतः इन्हें लक्षणमें शामिल क्यों नहीं किया ?

समाधान—त्रैरूप्य हेतुका अव्यभिचारी लक्षण नहीं है । 'गर्भमें रहनेवाला मैत्रका लड़का सांवला है क्योंकि वह मैत्रका लड़का है जैसे कि उसके पांच सांवले लड़के' इस मैत्रतनयत्व हेतुमें त्रैरूप्य पाया जाता है फिर भी यह सच्चा हेतु नहीं है, क्योंकि मैत्रतनयत्वका सांवलेपनसे कोई अविनाभाव नहीं । त्रैरूप्यके न होनेपर भी केवल अविनाभाव मात्रसे अनेकों हेतु अपने साध्यका

---

१. "परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्....।" —परीक्षामु० ३।५५ । प्रमाणनय० ३।७३ । २. –णामी शब्द इत्यादि आ०, क० । ३. "त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।" —न्यायवि० २।५ । ४. "न च सपक्षे सत्त्वं पक्षधर्मत्वं विपक्षे चासत्त्वमात्रं साधनलक्षणम्, स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यत्र साधनाभासे तत्सद्भावसिद्धेः । सपक्षे हीतरत्र तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सत्त्वं प्रसिद्धम्, विवादाध्यासिते च तत्पुत्रे पक्षीकृते तत्पुत्रत्वस्य सद्भावात् पक्षधर्मत्वम्, विपक्षे वाऽश्यामे क्वचिदन्यपुत्रे तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्षेऽसत्त्वमात्रं च । न च तावता साध्यसाधनत्वं साधनस्य ।" —प्रमाणप० पृ० ७० । न्यायकुमु० पृ० ४४० । सन्मति० टी० पृ० ५५० । स्या० र० पृ० ५१८ । प्रमेयर० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । ५. "तत्सद्भावे पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि साधनस्य सम्यक्त्वप्रतीतेः. उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादित्यस्य पक्षधर्मत्वाभावेऽपि प्रयोजकत्व व्यवस्थितेः ।" —प्रमाणप० पृ० ७१ । "तस्मात्प्रतीतिमाश्रित्य हेतुं गमकमिच्छता । पक्षधर्मत्वशून्योऽस्तु गमकः कृत्तिकोदयः ॥ पत्वलोदकनैर्मल्यं तदागस्त्युदयं स च । तत्र हेतुः सुनिर्णीतः पूर्वं शरदि सम्मतः ॥ चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथाविधः । छायादिपादपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन ॥" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१ ।

फलूतत: पुष्पिता: शेषचूता:, शशाङ्कोदयात् समुद्रवृद्धि:, सूर्योदयात् पद्माकरबोध:, वृक्षात्वच्छाया चैते [1]पक्षधर्मताविरहेऽपि सर्वजनैरनुमीयन्ते। कालाविकस्तत्र धर्मी समस्त्येवेति चेत्। न; अति-प्रसङ्गात्। एवं हि शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये काककाष्ण्यविरपि गमकत्वप्रसक्ते:, लोकादेर्धर्मिणस्तत्र कल्पयितुं शक्यत्वात्। [2]अनित्य: शब्द: श्रावणात्, मद्भ्रातायम् एवंविधस्वरान्यथानुपपत्ते:, सर्वं नित्यमनित्यं वा सत्त्वादित्यादिषु सपक्षे सत्त्वस्याभावेऽपि गमकत्वदर्शनाच्चेति।

सफल अनुमान कराते हैं। जैसे—'आकाशमें चन्द्रमा ऊँग आया है क्योंकि जलमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है' इस अनुमानमें जलमें पड़ा हुआ चन्द्रका प्रतिबिम्ब रूप हेतु, 'रोहिणी नक्षत्रका एक मुहूर्त्तके बाद उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्रका उदय हो रहा है' इसमें कृत्तिकोदय हेतु, 'सभी आमोंमें बौर आ गये हैं क्योंकि वे आम हैं जैसे कि यह बौरवाला आम' इसमें पुष्पित आम्रत्व हेतु, 'समुद्र में ज्वारभाटा आ रहा है क्योंकि चन्द्रका उदय हो रहा है' इसमें चन्द्रोदय हेतु, 'कमल खिल गये क्योंकि सूर्यका उदय हो गया है' इसमें सूर्योदय हेतु, 'छाया पड़ रही है क्योंकि धूप भी है और वृक्ष भी' यहाँ वृक्षत्व हेतु, इत्यादि अनेक हेतुओंमें पक्षधर्मत्व नहीं पाया जाता, ये हेतु अपने पक्षमें नहीं रहते फिर भी अविनाभावके कारण सच्चे हेतु हैं। देखो कृत्तिकोदय हेतु शकट रूप पक्षमें नहीं पाया जाता, इसी तरह चन्द्रोदय हेतु समुद्र रूप पक्षमें नहीं रहता फिर भी अविनाभावी होनेसे अपने साध्यका यथार्थ अनुमान कराते ही हैं।

शंका—कृत्तिकोदय हेतुमें आकाश या कालको धर्मी बनाकर पक्षधर्मता घटायी जा सकती है। जैसे काल या आकाश एक मुहूर्त्तमें रोहिणीके उदयसे युक्त होगा क्योंकि अभी उसमें कृत्तिका का उदय हो रहा है।

समाधान—इस तरह व्यापक चीजोंको पक्ष बनानेकी परम्परा कायम की जायेगी और इसके बलपर हेतुको सच्चा माना जायगा; तो बड़ी गड़बड़ हो जायगी। संसारमें कोई भी हेतु पक्षधर्मसे रहित नहीं हो सकेगा। 'शब्द अनित्य है क्योंकि कौआ काला है' यह पक्षधर्मसे रहित हेतु भी लोकको धर्मी मानकर पक्षधर्मवाला बनाया जा सकेगा—लोक अनित्यशब्दवाला है क्योंकि उसमें काला कौआ पाया जाता है। अत: काल आकाश आदि तटस्थ व्यापक पदार्थोंको धर्मी मानकर किसीमें पक्षधर्मत्व सिद्ध करना केवल कल्पना जाल है। इसमें अतिप्रसंग—अव्यवस्था नामका दूषण होता है। 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह सुना जाता है' 'यहाँ मेरा भाई है क्योंकि इस प्रकारकी आवाज भाईके बोले बिना नहीं आ सकती' 'समस्त पदार्थ नित्य वा अनित्य हैं

१.—धर्मतो विरहेऽपि म० २। "नो हि शकटे धर्मिणि उदेष्यतायां साध्यायां कृत्तिकाया उदयोऽस्ति तस्य कृत्तिकाधर्मत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम्।" —प्रमाणप० पृ० ७१। न्यायकुमु० पृ० ४४०। प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० र० पृ० ५१९। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०। २. "तथा न चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्धनुमानं चन्द्रोदयात् (पूर्वं पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात्। चन्द्रोदयकाल एव तदनुमानं तदैव व्याप्तेर्ग्रहीतत्वादिति चेत्, यद्येवं तत्कालसंबन्धित्वमेव साध्यसाधनयो:, तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्संबन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्।" —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३। ३. "कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्ग:।" —प्रमाणसं० पृ० १०४। "यदि पुनराकाशं कालो वा धर्मी तस्योदेष्यच्छकटवत्त्वं साध्यं कृत्तिकोदयसाधनं पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणी महोदध्याधारा-ग्निमत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्निं गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतु: स्यात्।" —प्रमाणप० पृ० ७१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २००। "काककाष्ण्यादिरपि-प्रासादधावल्ये साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितुं सुशकत्वात्।" —न्यायकुमु० पृ० ४४०। सन्मति० टी० पृ० ५९१। स्या० र० पृ० ५१९। जैनतर्कभा० पृ० १२। ४. "अनित्य: शब्द: श्राव-णत्वात्, सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, इत्यादे: सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीते:।" —न्यायकुमु० ४४०।

§ ३२०. [1]आप्तवचनाद्यज्जन्यं ज्ञानमागमः, [2]उपचारादाप्तवचनं च [3]यथाऽस्यत्र निधिः, [4]सन्ति मेर्वादयः । [5]अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते, स आप्तो [6]जनक-तीर्थकरादिः । इत्युक्तं परोक्षम् । [7]तेन ।

"मुख्यसंव्यवहारेण संवादिविशदं मतम् ।
ज्ञानमध्यक्षमन्यद्धि, परोक्षमिति संग्रहः ॥१॥ इति ।
यद्यर्थेवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ।
विसंवाद्यप्रमाणं च तदध्यक्षपरोक्षयोः ॥२॥" [सन्मतितर्कटीका, पृ० ५९]

§ ३२१. तत एकस्यैव ज्ञानस्य [8]यत्राविसंवादस्तत्र प्रमाणता, इतरत्र च तदाभासता, यथा [9]तिमिराद्युपप्लुतं ज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकत्वात्प्रमाणं तत्संख्यादौ च तत्रैव विसंवादकत्वाद-

क्योंकि वे सत् हैं' इन अनुमानोंके श्रावणत्व आदि हेतु सपक्षमें नहीं रहते फिर भी अविनाभावके बलसे सच्चे हैं, और अपने साध्योंका प्रामाणिक ज्ञान कराते हैं ।

§ ३२०. आप्तके वचनोंसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको आगम कहते हैं । उपचारसे आप्तके वचनोंको भी आगम कहते हैं; क्योंकि उन्हींके द्वारा ही तो ज्ञान उत्पन्न होता है । जो व्यक्ति जिस वस्तुका कथन करता है उसे अविसंवादी यथार्थरूपसे जानता हो तथा जिस प्रकार उसे जाना है ठीक उसी प्रकार उसका कथन करता हो उसे आप्त कहते हैं । जैसे माता पिता या तीर्थंकर आदि । जैसे 'यहां धन गड़ा है' 'मेरु पर्वत है' इत्यादि वाक्योंके अर्थको पिता और तीर्थंकर अच्छी तरह जानते हैं अतः वे उक्त वाक्योंके आप्त हैं । एक बार आप्तताका निश्चय होनेपर उनके द्वारा कहे गये अन्य वाक्य भी आगम प्रमाण हैं । इस तरह परोक्ष प्रमाणका निरूपण हुआ । अतः "अविसंवादी विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है, वह मुख्य और सांव्यवहारिक रूपसे दो प्रकारका है, प्रत्यक्षसे भिन्न समस्त ज्ञान परोक्ष हैं । यह सामान्य रूपसे प्रमाणों का संग्रह है । जो ज्ञान वस्तुके जिस अंशका जिस रूपसे अविसंवादी ज्ञान कराता है वह उस अंशमें उस रूपसे प्रमाण है तथा जिस अंशमें विसंवादी है उस अंशमें अप्रमाण है । यही व्यवस्था प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारके ज्ञानोंकी है । ये भी अविसंवादी अंशमें प्रमाण तथा विसंवादी अंशमें प्रमाणाभास हैं ।"

§ ३२१. इसलिए एक ही ज्ञान जिस अंशमें अविसंवादी होगा उस अंशमें प्रमाण माना जायेगा तथा जिस अंशमें विसंवादी होगा उस अंशमें अप्रमाण या प्रमाणाभास समझा जायेगा ।

१. "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।" —परीक्षामु० ३।९९ । प्रमाणनय० ४।९ । २. "उपचारादाप्तवचनं चेति ।"—प्रमाणनय० ४।२ । ३. "समस्त्यत्र प्रदेशे रत्नविधानं सन्ति रत्नसानुप्रभृतय इति ।"—प्रमाणनय० ४।३ । ४. "यथा मेर्वादयः सन्ति ।" —परीक्षामु० ३।१०१ । ५. "अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानाति यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्त इति ।" —प्रमाणनय० ४।४ । ६. "स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्चेति । लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिरिति ।" —प्रमाणनय० ४।६, ७ । ७. तत् म० २ । "तेन मुख्यसंव्यवहारेण "।" —सन्मति० टी० पृ० ५१५ । ८. "यद्यर्थेवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ।"—लघी० श्लो० २२ । सिद्धिवि० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७० । अष्टसह० पृ० १६३ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । ९. "तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणम् यथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् ।" लघी० स्ववृ० श्लो० २२ । "येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, असिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यासंस्थानादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत् ।" —अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७० । सन्मति० टी० पृ० ५९५ ।

प्रमाणम् । प्रमाणेतरव्यवस्थायाः[1] विसंवादाविसंवादलक्षणत्वादिति स्थितमेतत्—प्रत्यक्षं परोक्षं च द्वे एव प्रमाणे'। अत्र च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानानां[2] मध्ये मतिश्रुते परमार्थतः परोक्षं[3] प्रमाणम्, अवधिमनःपर्यायकेवलानि[4] तु प्रत्यक्षं[5] प्रमाणमिति ।

§ ३२२. अथोत्तरार्धं व्याख्यायते । 'अनन्तधर्मकं वस्तु' इत्यादि । इह प्रमाणाधिकारे प्रमाणस्य प्रत्यक्षस्य परोक्षस्य च विषयस्तु[6] ग्राह्यं पुनरनन्तधर्मकं वस्तु, अनन्तास्त्रिकालविषयत्वादपरिमिता धर्माः—स्वभावाः सहभाविनः क्रमादिनश्च एवंपर्याया यस्मिंस्तदनन्तधर्मकमेव स्वार्थे कप्रत्ययेऽनन्तधर्मकमनेकान्तात्मकमित्यर्थः । अनेकेऽन्ता अंशा धर्मा वास्तास्वरूपं यस्य तदनेकान्तात्मकमिति व्युत्पत्तेः, वस्तु—सचेतनाचेतनं सर्वं द्रव्यम्, अत्र अनन्तधर्मकं वस्त्विति पक्षः, प्रमाणविषय इत्यनेन प्रमेयत्वादिति केवलव्यतिरेकी हेतुः सूचितः, अन्यथानुपपत्येकलक्षणत्वाद्धेतोरन्तर्व्याप्त्यैव[7] साध्यस्य सिद्धत्वात् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्, यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति, यथा व्योमकुसुममिति केवलो व्यतिरेकः, साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वया-

---

जिस तरह तिमिर रोगीको एक ही चन्द्रमा दो दिखाई देते हैं। उसका यह द्विचन्द्र ज्ञान चन्द्र अंश में यथार्थ तथा अविसंवादी ज्ञान पैदा करनेके कारण प्रमाण है, और वही द्वित्व अंशमें विसंवादी होनेसे अप्रमाण है। चन्द्र तो है पर दो चन्द्र नहीं हैं। प्रमाणकी व्यवस्था अविसंवादसे तथा अप्रमाणकी व्यवस्था विसंवादसे होती है। जिस ज्ञानमें अविसंवादी अंश अधिक होंगे वह ज्ञान प्रमाण कहा जायेगा तथा जिसमें विसंवादी अंश अधिक होंगे वह अप्रमाण। जैसे कि कस्तूरीमें गन्ध उत्कट होनेसे वह गन्ध द्रव्य कही जाती है। 'पर्वतपर चन्द्र उग रहा है' यह सत्य ज्ञान भी चन्द्रांशमें प्रमाण होकर भी 'पर्वत पर' इस अंशमें अप्रमाण है। अतः इस विवेचनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण हैं। मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान इन पाँच ज्ञानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वस्तुतः तो परोक्ष हैं, तथा अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं। हाँ मतिज्ञानको लोक व्यवहारमें प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्ध होनेके कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

§ ३२२. अब प्रमाणके विषयका निरूपण करते हैं—अनन्तधर्मवाली वस्तु प्रमेय है। इस प्रमाणके प्रकरणमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रमाणोंका विषय जानने लायक अनन्तधर्मवाला पदार्थ होना है। जिसमें अनन्त तीनों कालोंमें रहनेवाले अपरिमित सहभावी तथा क्रमभावी धर्मस्वभाव पाये जाते हैं वह वस्तु अनन्तधर्मक या अनेकान्तात्मक कही जाती है। अनन्तधर्मसे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय होनेसे 'अनन्तधर्मक' शब्द सिद्ध होता है। अनेकान्तात्मक—अनेक अन्तधर्म या अंश ही जिसका आत्मा—स्वरूप हों वह पदार्थ अनेकान्तात्मक कहा जाता है। 'चेतन या अचेतन सभी वस्तुएँ अनन्तधर्मवाली हैं' यह पक्ष है। 'प्रमाण विषयः' शब्दसे 'प्रमेयत्वात्–प्रमेय होनेसे' यह केवलव्यतिरेकी हेतु सूचित होता है। हेतुका अविनाभाव ही एकमात्र असाधारण लक्षण है तथा पक्षमें ही साध्य और साधनके अविनाभावको ग्रहण करनेवाली अन्तर्व्याप्तिके बलसे ही हेतु साध्यका ज्ञान कराता है अतः उक्त अनुमानमें दृष्टान्त आदिकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'जो अनन्तधर्मवाला नहीं है वह प्रमेय भी नहीं है जैसे कि 'आकाशका फूल' यह व्यतिरेक व्याप्ति ही प्रमेयत्वहेतुको पायी जाती है अतः यह केवलव्यतिरेकी हेतु है। अन्वय-

---

१. –न्याः संवादावि म० १, म० २, प० १, प० २, क० । २. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्"– त० सू० १।९। ३. "आद्ये परोक्षम्"–त० सू० १।११। ४. –नि प्रत्यय–म० २। ५. "प्रत्यक्षमन्यत्"–त० सू० १।१२। ६. ग्राह्यं तत्पुनः म० २। ७. "अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः। व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः॥" –न्यायावता० श्लो० २०।

योगादिति । अस्य च हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकादिदोषाणां सर्वथानवकाश एव प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनानन्तधर्मात्मकस्यैव सकलस्य प्रतीतेः ।

§ ३२३. ननु कथमेकस्मिन् वस्तुन्यनन्ता धर्माः[1] प्रतीयन्त इति चेत् । उच्यते; प्रमाणप्रमेयरूपस्य सकलस्य क्रमाक्रमभाव्यनन्तधर्माक्रान्तस्यैकरूपस्य वस्तुनो यथैव स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रमातृणां प्रतीतिर्जायमानास्ति तथैव वयमेते सौवर्णघटदृष्टान्तेन सविस्तरं दर्शयामः । विवक्षितो हि घटः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विद्यते, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च[2] न विद्यते, तथाहि—स घटो यदा सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिधर्मैराश्रित्यते तदा तस्य सत्त्वादयः स्वपर्याया एव सन्ति, न तु केचन [3]परपर्यायाः, सर्वस्य वस्तुनः, सत्त्वादीन्धर्मानधिकृत्य सजातीयत्वाद्विजातीयस्यैवाभावान्न कुतोऽपि व्यावृत्तिः । द्रव्यतस्तु यदा पौद्गलिको घटो विवक्ष्यते, तदा स पौद्गलिकद्रव्यत्वेनाऽस्ति, धर्माधर्माकाशादिद्रव्यत्वैस्तु नास्ति । अत्र पौद्गलिकत्वं स्वपर्यायः,[4] धर्मादिभ्योऽसंख्येयेभ्यो व्यावृत्तेरेव [5]परपर्याया अनन्ताः, स्वेतरद्रव्याणामनन्तत्वात्, पौद्गलिकोऽपि[6] स घटः पार्थिवत्वेनास्ति न पुनराप्यादित्वैः, अत्र पार्थिवत्वं स्वपर्यायः, आप्यादिद्रव्येभ्यस्तु बहुभ्यो व्यावृत्तिः ततः परपर्याया अनन्ताः । एवमग्रेऽपि स्वपरपर्यायव्यक्तिर्वेदितव्या । पार्थिवोऽपि स धातु-

दृष्टान्त तो पक्षमें ही आ गये हैं, क्योंकि संसारके सभी चेतन-अचेतन पदार्थोंको पक्ष बनाया गया है । यह प्रमेयत्वहेतु असिद्ध विरुद्ध या व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण अनन्तधर्मवाली ही वस्तुको विषय करते हैं । अतः इस प्रमाण प्रसिद्ध अनेकान्तको सिद्ध करनेके लिए प्रमेयत्व हेतु सर्वथा उपयुक्त है ।

§ ३२३. **शंका**—एक वस्तुमें परस्पर विरोधी अनन्तधर्म कैसे हो सकते हैं ? एक वस्तुको अनेकरूप मानना तो स्पष्ट ही विरोधी है ।

समाधान—सभी प्रमाण या प्रमेय रूप वस्तुमें स्व-पर द्रव्यकी अपेक्षा क्रम और युगपत् रूपसे अनेक धर्मोंकी सत्ता पायी जाती है । वस्तुकी अनेकान्तात्मकता तो सभी प्राणियोंको सदा अनुभवमें आती है । हम उसी सर्वप्रसिद्ध अनेकान्तात्मकताको सोनेके घड़ेके उदाहरणसे विस्तारपूर्वक समझाते हैं । देखो, अमुक घड़ा अपने द्रव्यमें है अपनी जगह है अपने समयमें है तथा अपनी पर्यायसे है दूसरे पदार्थोंके द्रव्यक्षेत्र काल भावकी दृष्टिसे नहीं है । घड़ा घड़ा रूप ही है कपड़ा या चटाई रूप नहीं है, वह अपनी जगह है कपड़े और चटाई की जगह नहीं है, वह अपने समयमें है दूसरेके समय या अतीत अनागत समयमें नहीं है, वह अपनी घट पर्यायमें है कपड़ा चटाई आदिकी हालतमें नहीं है । जिस समय उसी घड़ेका सत्त्व ज्ञेयत्व या प्रमेयत्व आदि सामान्य धर्मोंकी दृष्टिसे विचार करते हैं तब वे सत्त्व आदि सामान्य धर्म घड़ेके स्वपर्याय रूप ही हो जाते हैं, उस समय कोई भी पर पर्याय नहीं रहती, क्योंकि सत् ज्ञेय या प्रमेय कहनेसे सभी वस्तुओंका ग्रहण हो जाता है । सत्की दृष्टिसे तो घट पट आदि अचेतन तथा मनुष्य पशु आदि चेतनमें कोई भेद नहीं है । सभी सत्को दृष्टिसे सजातीय हैं, कोई विजातीय नहीं है जिससे व्यावृत्ति की जाय । अतः घड़ेका सत् ज्ञेय प्रमेय आदि सामान्यदृष्टिसे विचार करनेपर सभी सत् रूपसे घड़ेके स्वपर्यायरूप फलित होते हैं सभी सजातीय हैं उस समय घड़ेको किससे व्यावृत्ति की जाय ? व्यावृत्ति तो विजातीयसे होती है । सत् ज्ञेय आदिकी दृष्टिसे तो घड़ेका विजातीय कोई है ही नहीं । जब पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे घड़ेका विचार करते हैं तो घड़ा पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे सत् है धर्म अधर्म

१. –नन्तधर्माः आ०, क० । २. "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासात् न चेव व्यवतिष्ठते ॥" —आप्तमी० श्लो० १५ । –भावैर्न वि–म० २, प० १, प० २ । ३. –पर्यायाः म० २ । ४. स्वपर्यायः म० २ । ५. परपर्याया म० २ । ६. –पि घटः म० २ ।

रूपतयास्ति न पुनर्मृत्स्वादिभिः। धातुरूपोऽपि स सौवर्णत्वेनाऽस्ति न पुना राजतत्वादिभिः। सौवर्णोऽपि स घटितसुवर्णात्मकत्वेनास्ति न त्वघटितसुवर्णात्मकत्वादिना। घटितसुवर्णात्मापि देवदत्तघटितत्वेनास्ति न तु यज्ञदत्तादिघटितत्वादिना[1]। देवदत्तघटितोऽपि पृथुबुध्नाद्याकारेणास्ति न पुनर्मुकुटादित्वेन। पृथुबुध्नोदराद्याकारोऽपि वृत्ताकारेणास्ति नावृत्ताकारेण। वृत्ताकारोऽपि स्वाकारेणास्ति न पुनरन्यघटाद्याकारेण। स्वाकारोऽपि स्वबलिकैरस्ति न तु परबलिकैः। एवमन्यया दिशा[3] परेणापि स येन येन पर्यायेण[4] विवक्ष्यते स तस्य स्वपर्यायः, तदन्ये तु [5]परपर्यायाः। तत्रैव द्रव्यतः स्तोकाः [6]स्वपर्यायाः, परपर्यायास्तु [7]व्यावृत्तिरूपा अनन्ता, [8]अनन्तेभ्यो द्रव्येभ्यो [9]व्यावृत्तत्वात्।

§ ३२४. क्षेत्रतश्च[10] स त्रिलोकीवर्तित्वेन विवक्षितो न कुतोऽपि व्यावर्तते। ततः स्वपर्यायोऽस्ति न परपर्यायः[11]। त्रिलोकीवर्त्यपि स तिर्यग्लोकवर्तित्वेनास्ति न पुनरूर्ध्वाधोलोकवर्तित्वेन।

आकाशादि द्रव्योंकी दृष्टिसे असत् है। पौद्गलिक घड़ेका पौद्गलिकत्व ही स्वपर्याय है तथा जिन धर्म अधर्म आकाश और अनन्त जीव द्रव्योंसे घड़ा व्यावृत्त होता है वे सब अनन्त ही पर पदार्थ परपर्याय हैं। घड़ा पौद्गलिक है धर्मादिद्रव्यरूप नहीं है। घड़ा पुद्गल होकर भी पार्थिव-पृथिवीका बना है जल आग या हवा आदिसे नहीं बना है। अतः पार्थिवत्व घड़ेकी स्वपर्याय है तथा जल आदि अनन्त परपर्याय हैं जिनसे कि घड़ा व्यावृत्त रहता है। इस तरह आगे भी जिस रूपसे घड़ेकी सत्ता हो उसे स्वपर्याय तथा जिससे घड़ा व्यावृत्त होता हो उन्हें परपर्याय समझ लेना चाहिए। घड़ा पार्थिव होकर भी धातुका बना हुआ है मिट्टी या पत्थरका नहीं है अतः वह धातुरूपसे सत् है मिट्टी या पत्थर आदि अनन्तरूपसे असत् है। घड़ा धातुका बना होकर भी सुवर्णका है चाँदी पीतल ताँबे आदिका नहीं है अतः सुवर्ण रूपसे सत् है चाँदी या पीतल सैकड़ों धातुओंकी दृष्टिसे असत् है। सोनेका होकर भी जिस सोनेकी डलीको गढ़ा गया है वह उस गढ़े गये सुवर्णकी दृष्टिसे सत् है तथा नहीं गढ़े गये खदान आदिमें पड़े हुए अघटित सुवर्णकी दृष्टिसे असत् है। गढ़े गये सुवर्णकी दृष्टिसे होकर भी वह देवदत्तके द्वारा गढ़े गये उस सुवर्णकी दृष्टिसे सत् है। यज्ञदत्त आदि सुनारोंके द्वारा गढ़े गये सुवर्णकी दृष्टिसे असत् है। गढ़े हुए सुवर्णकी दृष्टिसे होकर भी वह मुँहपर सकरे तथा बीचमें चौड़े आकारसे सत् है तथा मुकुट आदिके आकारोंकी दृष्टिसे असत् है। घड़ा मुँहपर सकरा तथा बीचमें चौड़ा होकर भी वह गोल है अतः गोल आकारसे सत् है तथा अन्य लम्बे आदि आकारोंसे असत् है। गोल होकर भी घड़ा अपने नियत गोल आकारसे सत् है अन्य गोल घड़ोंके गोल आकारसे असत् है। अपने गोल आकारवाला होकर भी घड़ा अपने उत्पादक परमाणुओंसे बने हुए गोल आकारकी दृष्टिसे सत् है तथा अन्य परमाणुओंसे बने हुए गोल आकार से असत् है। इस तरह घड़ेको जिस-जिस पर्यायसे सत् कहेंगे वे पर्यायें स्वपर्याय हैं तथा जिन अन्य पदार्थोंसे वह व्यावृत्त होगा वे सभी परपर्याय होंगी। इस तरह घड़ेकी द्रव्यकी दृष्टिसे कुछ पर्यायें बतायीं तथा स्वपर्यायें परपर्यायोंसे कम भी होती हैं। परपर्यायें तो अनन्त हैं क्योंकि अनन्त ही द्रव्योंसे वह घट व्यावृत्त होता है।

§ ३२४. क्षेत्रकी दृष्टिसे जब घड़ेको त्रिलोकमें रहनेवाले रूपसे व्यापक क्षेत्र दृष्टिसे विचार करते हैं तो वह किसीसे व्यावृत्त नहीं होता अतः त्रिलोक रूप व्यापक क्षेत्रकी दृष्टिसे परपर्याय तो बन सकती है परपर्याय नहीं। यद्यपि अलोकाकाशमें घड़ा नहीं रहता अतः अलोका-

---

१. –क्षादिना म० २। २. –ना घटितोऽपि म० १, प० १, प० २, आ०, क०। ३. –श येन म० २। ४. पर्यायेण म० २। ५. –पर्यया: म० २। ६. स्वपर्याया: म० २। ७. अनन्तेभ्यो व्या– म० १, म० २, प० १, प० २। ८. व्यावृत्तित्वात् आ० क०। ९. –तश्च त्रि–आ० २। १०. –मोऽस्ति त्रि–म० २।

तिर्यग्लोकवर्त्यपि स जम्बूद्वीपवर्तित्वेनास्ति न पुनरपरद्वीपादिवर्तितया[1]। सोऽपि भरतवर्तित्वेनास्ति न पुनर्विदेहवर्तित्वादिना। भरतेऽपि स पाटलिपुत्रवर्तित्वेनास्ति न पुनरन्यस्थानीयत्वेन। पाटलिपुत्रेऽपि देवदत्तगृहवर्तित्वेनास्ति न पुनरपरथा। गृहेऽपि गृहैकदेशस्थतयास्ति न पुनरन्यदेशादितया। गृहैकदेशेऽपि स येष्वाकाशप्रदेशेष्वस्ति तत्स्थिततयास्ति न पुनरन्यप्रदेशस्थतया। एवं यथासंभवमपरप्रकारेणापि वाच्यम्। तदेवं क्षेत्रतः स्वपर्यायाः स्तोकाः परपर्यायास्त्वसंख्येयाः, लोकस्यासंख्येयप्रदेशत्वेन। अथवा मनुष्यलोकस्थितस्य घटस्य तदपरस्थानस्थितद्रव्येभ्योऽनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ता परपर्यायाः[2]। एवं देवदत्तगृहादिवर्तिनोऽपि। ततः [3]परपर्याया अनन्ताः।

§ ३२५. कालतस्तु नित्यतया स स्वद्रव्येणावर्तत वर्तते वर्तिष्यते[4] च ततो न कुतोऽपि व्यावर्तते। स चैदंयुगोनत्वेन विवक्ष्यमाणस्तद्रूपत्वेनास्ति न त्वतीतानागतादियुगवर्तित्वेन। अस्मिन् युगेऽपि स [4]ऐषमस्त्यवर्षतयास्ति न पुनरतीतादिवर्षत्वादिना। ऐषमस्त्योऽपि स वासन्तिक-

---

काशको परपर्याय कह सकते हैं; परन्तु चाहनेपर भी अलोकमें घड़ा कभी भी नहीं रह सकता वह सर्वदा लोकमें ही रहता है अतः उस रूपसे परपर्यायकी विवक्षा नहीं की है। यदि विवक्षा की जाय तो फिर 'घड़ा आकाशमें रहता है' इस रूपमें जब आकाश स्वपर्याय होगी तब परपर्याय कुछ भी नहीं होगी। त्रिलोकवर्ती भी घड़ा मध्यलोकमें रहता है स्वर्ग या नरकमें नहीं अतः मध्यलोककी दृष्टिसे सत् है तथा ऊर्ध्व और अधोलोककी दृष्टिसे असत्। मध्यलोकवर्ती होकर भी घड़ा जम्बूद्वीपमें रहता है अतः जम्बूद्वीपकी दृष्टिसे सत् तथा अन्य द्वीपोंकी दृष्टिसे असत् है। जम्बूद्वीपमें भी वह भरत क्षेत्रमें रहता है विदेह आदि क्षेत्रोंमें नहीं अतः भरतक्षेत्रकी दृष्टिसे सत् है तथा विदेह आदिकी दृष्टिसे असत्। भरतक्षेत्रमें भी वह पटनामें रहता है अतः पटनेकी दृष्टिसे सत् है तथा अन्य शहरोंकी दृष्टिसे असत्। पटनेमें भी वह देवदत्तके घरमें रखा है, अतः देवदत्तके घरकी दृष्टिसे सत् तथा अन्य घरोंकी दृष्टिसे असत् है। देवदत्तके घरमें भी वह घरके एक कोनेमें रखा है, अतः उस कोनेकी दृष्टिसे वह सत् है तथा मकानके अन्य भागोंकी दृष्टिसे असत्। कोनेमें भी वह जिन आकाश प्रदेशोंमें रखा है उन आकाश प्रदेशोंकी दृष्टिसे सत् है तथा अन्य आकाशोंकी दृष्टिसे असत्। इस तरह यथासम्भव और भी प्रकारोंसे सदसत्त्वका विचार करना चाहिए। जिनकी अपेक्षा अस्तित्वका विचार किया जाता है वे स्वपर्यायें थोड़ी हैं तथा जिनकी अपेक्षा नास्तित्वका विचार होता है वे परपर्यायें तो असंख्य हैं; क्योंकि लोकके असंख्य प्रदेश होते हैं। घड़ा जिस-समय कुछ अमुक प्रदेशोंमें रहेगा तब स्वपर्याय तो एक होगी तथा परपर्यायें तो लोकके बाकी असंख्य प्रदेश ही होंगे। अथवा मनुष्यलोकवर्ती घड़ा अन्य अनन्त क्षेत्रोंसे व्यावृत्त होगा अतः समस्त आकाशके अनन्त ही प्रदेश परपर्याय हो सकते हैं। इस तरह क्षेत्रकी अपेक्षा भी परपर्यायें अनन्त हो सकती हैं। देवदत्तके घरमें रहनेवाला भी घड़ा घरके बाहरके अनन्त आकाशप्रदेशोंमें नहीं रहता अतः परपर्यायें अनन्त हो सकती हैं।

§ ३२५. कालकी दृष्टिसे जब घड़ेको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य मानते हैं तब वह वर्तमानमें रहता है अतीतमें था तथा आगे भी होगा इस तरह त्रिकालवर्ती होनेके कारण त्रिकाल तो स्वपर्याय है तथा कोई ऐसा काल है ही नहीं जिसमें घड़ा न रहता हो अतः त्रिकालको स्वपर्याय माननेपर कोई भी परपर्याय नहीं है। त्रिकालवर्ती भी घड़ा इस युगमें रहता है अतः वह इस युगकी दृष्टिसे सत् है तथा अतीत या अनागत युगकी दृष्टिसे असत्। इस युगमें भी वह इस वर्षमें सत् है तथा

---

१. –तया जम्बूद्वीपवर्त्यपि भरत–म० २। २. परपर्याया–म० २। ३. –र्यति ततो म० १, म० २, प० १, प० २। ४. –मस्त्यतया–म० १, म० २, प० १, प० २।

तयास्ति न पुनरन्यर्तुनिष्पन्नतया। तत्रापि नवत्वेन विद्यते न पुनः पुराणत्वेन। तत्राप्यद्यतनत्वेनास्ति न पुनरनद्यतनत्वेन। तत्रापि वर्तमानक्षणतयास्ति न पुनरन्यक्षणतया। एवं कालतोऽसंख्येयाः स्वपर्यायाः, एकस्य द्रव्यस्यासंख्यकालस्थितिकत्वात्। अनन्तकालवर्तित्वविवक्षायां तु तेऽनन्ता अपि वाच्याः। परपर्यायास्तु विवक्षितकालावन्यकालवर्तिद्रव्येभ्यो अनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ता एव।

§ ३२६. भावतः पुनः स पीतवर्णेनास्ति न पुनर्नीलादिवर्णः। पीतोऽपि सोऽपरपीतद्रव्यापेक्षयैकगुणपीतः, स एव च तदपरापेक्षया द्विगुणपीतः, स एव च तदन्यापेक्षया त्रिगुणपीतः, एवं तावद्वक्तव्यं यावत्कस्यापि पीतद्रव्यस्यापेक्षयानन्तगुणपीतः। तथा स एवापरापेक्षयैकगुणहीनः, तदन्यापेक्षया द्विगुणहीन इत्यादि तावद्वक्तव्यं यावत्कस्याप्यपेक्षयानन्तगुणहीनपीतत्वेऽपि स भवति। तदेवं पीतत्वेनानन्ताः स्वपर्यायाः लब्धाः। पीतवर्णवत्तरतमयोगेनानन्तभेदेभ्यो नीलादिवर्णेभ्यो व्यावृत्तिरूपाः परपर्यायाः अप्यनन्ताः। एवं रसतोऽपि स्वमधुरादिरसापेक्षया पीतत्ववत्स्वपर्यायाः अनन्ता ज्ञातव्याः, [1]नीलादित्ववत् क्षारादिपररसापेक्षया परपर्यायाः अप्यनन्ता [2]अवसातव्याः। एवं सुरभिगन्धेनापि स्वपरपर्यायाः अनन्ता अवसातव्याः। एवं गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शाष्टकापेक्षयापि तरतमयोगेन प्रत्येकमनन्ताः स्वपरपर्यायाः अवगन्तव्याः, यत एकस्मिन्नप्यनन्तप्रदेशके

अतीत आदि वर्षोंकी दृष्टिसे असत्। इस वर्षमें भी वह वसन्त ऋतुमें उत्पन्न होनेके कारण सत् है तथा अन्य ऋतुओंकी दृष्टिसे असत्। वसन्त ऋतुमें भी वह नया है अतः नूतन अवस्थाकी दृष्टिसे सत् है तथा जीर्ण या पुरानी अवस्थाकी दृष्टिसे असत्। नया होकर भी वह आज ही बनाया गया है अतः आज की दृष्टि से सत् है कलकी दृष्टिसे असत्। आज भी वह अभी-अभी बनाया गया है अतः वर्तमान क्षणरूपसे सत् है तथा अन्य क्षणोंकी दृष्टिसे असत्। इस तरह कालकी दृष्टिसे असंख्य स्वपर्यायें होती हैं; क्योंकि एक द्रव्य असंख्य कालोंमें अपनी स्थिति रखता है। अनन्तकालकी विवक्षासे तो द्रव्य अनन्तकाल तक ठहरनेवाला है अतः अनन्त ही स्वपर्यायें हैं। विवक्षित कालसे भिन्न अन्य अनन्तकालोंसे तथा उनमें रहनेवाले अनन्त ही द्रव्योंसे घड़ा व्यावृत्त रहता है अतः परपर्यायें भी अनन्त ही हैं।

§ ३२६. भावकी दृष्टिसे घड़ा पीला है अतः पीले रंगकी अपेक्षा सत् है तथा अन्य नीले लाल आदि रंगोंसे असत्। घड़ेका वह पीलापन किसी पीले द्रव्यसे दुगुना पीला है किसीसे तिगुना किसीसे चौगुना इस तरह किसीसे अत्यन्त कम पीले द्रव्यसे अनन्तगुना पीला भी होगा। इसी तरह घड़ेका वह पीलापन किसीसे एक गुना कम पीला है किसीसे दोगुना कम पीला है किसीसे तीनगुना कम। इस तरह किसी परिपूर्ण पीले द्रव्यसे अनन्तगुणा कम पीला भी तो है। तात्पर्य यह कि तरतम रूपसे पीलेपनके ही अनन्त भेद हो सकते हैं, वे सब उसकी स्वपर्यायें हैं। तथा पीलेपनकी ही तरह नीले और लाल आदि रंग भी तरतम रूपसे अनन्त प्रकारके होते हैं उन सब अनन्तनीलादि रंगोंसे इस घड़ेका पीलापन पृथक् है अतः परपर्यायें भी अनन्त ही हैं। इसी तरह उस घड़ेका अपना जो भी मीठा आदि रस होगा उसके भी रूपकी ही तरह तरतम रूपसे अनन्त भेद होंगे, ये सभी उसकी स्वपर्यायें हैं तथा नील आदि पर रूपोंकी तरह खारे आदि पर रस भी तरतम रूपसे अनन्त हैं, उन सबसे इसका रस व्यावृत्त होता है अतः परपर्यायें भी अनन्त हैं। इसी तरह उसकी सुगन्धके तरतम रूपसे अनन्त ही भेद होंगे जो कि उसकी स्वपर्यायें कहे जायेंगे तथा जो गन्ध उसमें नहीं पायी जाती उसके अनन्त भेद परपर्याय होंगे। इसी तरह भारी हलका कोमल खुरदरा ठंडा गरम चिकना और रूखा इन आठ स्पर्शोंके भी प्रत्येकके तरतम रूपसे अनन्त भेद

---

१. नीलादित्ववत् म० २। २. अवेतव्याः म० १, म० २। अवेतव्याः क०।

स्कन्धेऽष्टावपि स्पर्शाः प्राप्यन्त इति सिद्धान्ते [1]प्रोचानम् । तेनात्रापि कलशेऽष्टानामभिधानम् ।

§ ३२७. अथवा सुवर्णद्रव्येऽप्यनन्तकालेन[2] पञ्चापि वर्णा द्वावपि गन्धौ षडपि रसा अष्टावपि स्पर्शाश्च सर्वेऽपि तरतमयोगेनानन्तशो भवन्ति । तत्तदपरापरवर्णादिभ्यो व्यावृत्तिश्च भवति । [3]तदपेक्षयापि स्वपरधर्मा अनन्ता अवबोद्धव्याः । शब्दतश्च घटस्य नानादेशापेक्षया घटाद्यनेकशब्दवाच्यत्वेनानेके स्वधर्मा घटादितत्तच्छब्दानभिधेयेभ्योऽपरद्रव्येभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परधर्माः । अथवा तस्य घटस्य ये ये स्वपरधर्मा उक्ता वक्ष्यन्ते च तेषां सर्वेषां वाचका [4]यावन्तो ध्वनयस्तावन्तो घटस्य स्वधर्माः, तदन्यवाचकाश्च परधर्माः । संख्यातश्च घटस्य तत्तदपरापरद्रव्यापेक्षया प्रथमत्वं द्वितीयत्वं तृतीयत्वं यावदनन्ततमत्वं स्यादित्यनन्ताः स्वधर्माः, तत्तत्संख्यानभिधेयेभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परधर्माः । अथवा परमाणुसंख्या पलादिसंख्या वा यावती तत्र घटे वर्तते सा स्वधर्मः, तत्संख्यारहितेभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परपर्यायाः । अनन्तकालेन तस्य घटस्य सर्वद्रव्यैः समं संयोगवियोगभावेनानन्ताः स्वधर्माः, संयोगवियोगाविषयीकृतेभ्यो व्यावृत्तस्यानन्ताः परधर्माश्च ।

होते हैं। इनमें जो स्पर्श जिस रूपसे उसमें पाये जाते हैं उनकी अपेक्षा अनन्त स्वपर्याय तथा जो स्पर्श नहीं पाये जाते उनकी अपेक्षा अनन्त ही परपर्याय समझ लेनी चाहिए। सिद्धान्तमें स्पष्ट कहा है कि—एक अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धमें भारी आदि आठों ही स्पर्श पाये जाते हैं, अतः इस घड़ेमें भी आठों ही स्पर्शोंका कथन किया गया है।

§ ३२७. अथवा उसी सुवर्ण द्रव्यमें, जिसका कि घड़ा बनाया गया है, अनादिकालसे अभी तक पाँचों ही रंग, दोनों गन्ध, छहों रस तथा आठों ही स्पर्श तरतम रूपसे अनन्त ही प्रकारके हुए हैं। तो उसमें जिस जातिका रूप रस गन्ध तथा स्पर्श होगा उसकी अपेक्षा अनन्त स्वधर्म तथा जो रूपादि उसमें नहीं रहते होंगे उनकी अपेक्षा अनन्त ही परधर्म समझ लेने चाहिए। घड़ेको भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशोंमें घड़ा, झज्झर, हँड़िया, कलश आदि अनेक शब्दोंसे कहते हैं इसी तरह विदेशोंमें उसे पाट (Pot) आदि अनेक शब्दोंसे पुकारते हैं इस तरह अनेकों शब्दोंके द्वारा वाच्य होनेसे अनेक ही स्वधर्म होंगे तथा जिन पटादि अनन्त पदार्थोंमें घटके वाचक शब्दोंका प्रयोग नहीं होता उन सबसे घड़ा व्यावृत्त होता है अतः अनन्त ही परधर्म होते हैं। अथवा, घड़ेके जितने स्वधर्म कहे हैं तथा कहे जायेंगे उनके वाचक जितने भी शब्द हैं उतने ही घड़ेके स्वधर्म हैं तथा अन्य पदार्थोंके वाचक जितने शब्द हैं उतने ही परधर्म हैं। संख्याकी अपेक्षा भी घड़ेमें स्वधर्म और परधर्मका इस प्रकार विचार करना चाहिए। भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी अपेक्षा घड़ेमें पहला दूसरा तीसरा चौथा अनन्तसंख्या तकके व्यवहार हो सकते हैं ये सभी स्वधर्म हैं तथा इन संख्याओंके अविषय भूत पदार्थोंसे व्यावृत्त होनेके कारण वे सब परधर्म हैं। अथवा, घड़ेके परमाणुओंकी जितनी संख्या तथा उसके वजनके रत्तियोंकी जितनी संख्या है वह संख्या स्वधर्म है और वह संख्या जिन अनन्त पदार्थोंमें नहीं पायी जाती वे सब परधर्म हैं। अनन्तकालसे उस घड़ेका सभी द्रव्योंके साथ संयोग तथा विभाग होता रहा है अतः वे संयोग और विभाग स्वधर्म हैं तथा जिनमें वे संयोग और विभाग नहीं पाये जाते उन अनन्त पदार्थोंसे घड़ेकी व्यावृत्ति होती है अतः वे परधर्म हैं।

१. "अत्र च स्निग्धरूक्षशीतोष्णाश्चत्वार एवाणुषु संभवन्ति, स्कन्धेष्वष्टावपि-यथासंभवमभिधानीयाः।" —तत्त्वार्थाधि० भा० टी० ५।२३। २. -काले पञ्चापि म० २। ३. तत्तदपेक्षयापि म० २। ४. -वन्तो घटस्य म० २।

§ ३२८. परिमाणतश्च तत्तद्द्रव्यापेक्षया तस्याणुत्वं महत्त्वं ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं चानन्तभेदं स्यादित्यनन्ताः स्वधर्माः। ये सर्वद्रव्येभ्यो व्यावृत्त्या तस्य[1] परपर्यायाः संभवन्ति ते सर्वे पृथक्त्वतो ज्ञातव्याः। दिग्देशतः परत्वापरत्वाभ्यां तस्य घटस्यान्यान्यानन्तद्रव्यापेक्षयासन्नतासन्नतरतासन्नतमता दूरता दूरतरता दूरतमता एकद्व्याद्यसंख्यपर्यन्तयोजनैरासन्नता दूरता च भवतीति [2]स्वपर्याया अनन्ताः। अथवा परवस्त्वपेक्षया स पूर्वस्यां तदन्यापेक्षया[3] पश्चिमायां स इत्येवं दिशो विदिशश्चाश्रित्य दूरासन्नादितयाऽसंख्याः [4]स्वपर्यायाः।

§ ३२९. कालतश्च परत्वापरत्वाभ्यां सर्वद्रव्येभ्यः क्षणलवघटीदिनमासवर्षयुगादिभिर्घटस्य पूर्वेद्युरन्येन परेद्युरन्येन चानन्तभेदेनासन्नाः स्वधर्माः।

§ ३३०. ज्ञानतोऽपि घटस्य ग्राहकैः सर्वजीवानामनन्तैर्मत्यादिज्ञानैर्विभङ्गाद्यज्ञानैश्च स्पष्टास्पष्टस्वभावभेदेन ग्रहणाद्ग्राह्यस्याप्यवश्यं स्वभावभेदः संभवी, अन्यथा तद्ग्राहकाणामपि स्वभावभेदो न स्यात्तथा च तेषामैक्यं भवेत्। ग्राह्यस्य स्वभावभेदे च ये स्वभावाः ते स्वधर्माः। सर्वजीवानामपेक्षयाल्पबहुबहुतराद्यनन्तभेदभिन्नसुखदुःखहानोपादानोपेक्षा गोचरेच्छापुण्यापुण्य-

---

§ ३२८. परिमाण-मापकी अपेक्षा भी घड़ेमें स्वधर्म और परधर्म होते हैं। घड़ा किन्हीं बड़े मकान आदि द्रव्योंकी अपेक्षा छोटा, छोटे लोटा आदि की अपेक्षा बड़ा, लम्बा ठिगना आदि अनन्त प्रकारके मापवाला कहा जा सकता है ये सब स्वधर्म हैं तथा अन्य परधर्म। घड़ा जिन समस्त पर पदार्थोंसे पृथक् है वे सब परपर्याय है तथा जिनसे पृथक् नहीं है वे स्वपर्याय हैं। यह पृथक्त्वकी अपेक्षा स्व-परधर्मोंका निरूपण है उसी घड़ेमें अन्य अनन्त द्रव्योंकी अपेक्षा पास, बहुत पास, अत्यन्त पास, दूर, बहुत दूर, अत्यन्त दूर, एक योजन दो योजन आदि अनन्त योजन दूर, तथा एक दो या चार योजन पास इत्यादि दिशा और देशकी अपेक्षा अनन्त ही व्यवहार होते हैं ये सभी स्वधर्म हैं। अथवा, वही घड़ा किसी वस्तुकी अपेक्षा पूर्वमें किसीकी अपेक्षा पश्चिममें किसीकी अपेक्षा उत्तरमें तो किसीकी अपेक्षा दक्षिणमें रहता है। तात्पर्य यह कि दिशाओं और विदिशाओंकी अपेक्षा परत्व और अपरत्वका विचार करनेसे असंख्य स्वपर्यायें हो सकती हैं।

§ ३२९. कालकी अपेक्षा वही घड़ा किसीसे एक क्षण पुराना है तो किसीसे दो क्षण, किसी से एक घड़ी दो घड़ी एक दिन माह वर्ष युगादि पुराना है, तो वही घड़ा किसीसे एक दो चार क्षण नया किसीसे एक दिन माह वर्ष या युग भर नया होता है। तात्पर्य यह कि घड़ा अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा एक क्षणसे लेकर अनन्त वर्ष तकका नया या पुराना होता है अतः ये सब उसके स्वधर्म हैं।

§ ३३०. ज्ञानकी दृष्टिसे वही घड़ा संसारके अनन्त जीवोंके अनन्त ही प्रकारके मतिज्ञान श्रुतज्ञान विभंगादि अवधिज्ञान आदिका स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे विषय होता है। ग्राहक ज्ञानमें भेद होनेसे उसकी अपेक्षा ग्राह्य-विषयभूत पदार्थमें भी भेद होता ही है। यदि पदार्थ एक रूप ही रहे तो उसको जाननेवाले ज्ञानोंमें भी स्वभाव भेद नहीं होगा, वे सर्वथा एकरूप ही हो जायेंगे। इस तरह घड़ेको जाननेवाले अनन्त ज्ञानोंकी अपेक्षा घड़ेमें भी अनन्त ही स्वभाव भेद हैं और ये सब उसके स्वधर्म हैं। एक ही घड़ा किसीको थोड़ा सुख किसीको अधिक तथा किसीको बहुत अधिक सुख उत्पन्न करता है। इस तरह अनन्त जीवोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारके ही सुख-दुःखको उत्पन्न करनेके कारण, अनन्त जीवोंकी हान उपादानता उपेक्षा बुद्धिका विषय होनेसे, अनन्त जीवोंकी अनन्त इच्छाओंका अवलम्बन होनेसे, अनन्त ही प्रकारके पुण्य और पापके बन्धका कारण होनेसे, अनन्त ही जीवोंपर अपना भिन्न-भिन्न असर डालनेके कारण, उसे देखकर किसीको

---

१. तस्यापरपर्या–म० २। २. स्वपर्यया म० २। ३. तदपेक्षया म० २। ४. स्वपर्यया म० २।

कर्मबन्धचित्तादिसंस्कारक्रोधाभिमानमायालोभरागद्वेषमोहाद्युपाधिद्रव्यत्वलुठनपतनादिवेगादीनां कारणत्वेन सुखादीनामकारणत्वेन वा घटस्यानन्तधर्मत्वम् ।

§ ३३१. स्नेहगुरुत्वे तु पुरापि स्पर्शभेदत्वेन प्रोचाने ।

§ ३३२. कर्मतश्चोत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणभ्रमणस्यन्द[3]नरेचनपूरणचलनकम्पनान्यस्थानप्रापणजलाहरणजलादिधारणादिक्रियाणां[4] तत्तत्कालभेदेन तरतमयोगेन [5]बालन्तानां हेतुत्वेन घटस्यानन्ताः क्रियारूपाः स्वधर्माः, तासां क्रियाणामहेतुभ्योऽन्येभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परधर्माश्च ।

§ ३३३. सामान्यतः पुनः प्रागुक्तनीत्यातीतादिकालेषु ये ये विश्ववस्तूनामनन्ताः स्वपर्याया भवन्ति तेष्वेकद्विद्व्याद्यनन्तपर्यन्तधर्मैः सदृशस्य [6]घटस्यानन्तभेदस्यानन्तभेदसादृश्यभावेनानन्ताः स्वधर्माः ।

§ ३३४. विशेषतश्च घटोऽनन्तद्रव्येष्वपरापरापेक्षयैकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा यावदनन्तैर्वा धर्मैर्वलक्षण इत्यनन्तप्रकारवैलक्षण्यहेतुका अनन्ताः स्वधर्माः, अनन्तद्रव्यापेक्षया च घटस्य स्थूलता-

क्रोध किसीको मान किसीको माया तथा किसीको लोभ होता है, इस तरह भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंको क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष मोह आदि विकारीभावोंकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे, लुढ़कना गिरना वेग आदिमें कारण होनेसे, अथवा किसीके सुख आदिमें निमित्त न होनेके कारण भी अनन्त स्वभाववाला होता है ।

§ ३३१. चिकनापन और भारीपन तो स्पर्शके ही भेद हैं अतः स्पर्शका वर्णन करते समय इनकी अपेक्षा स्व-परपर्यायोंका निरूपण कर दिया गया है ।

§ ३३२. क्रियाकी दृष्टिसे वही सोनेका घड़ा ऊपर फेंका जा सकता है नीचे पटका जा सकता है मोड़ दिया जा सकता है फैलाया जा सकता है तथा इधर-उधर अनेक तरहसे चलाया जा सकता है, वह चू सकता है, वह खाली भी रहता है, भरा भी जाता है, यहाँसे वहाँ पहुँचाया जाता है, हिलता है, पानी भरनेके काम आता है, उसके द्वारा कुएँसे पानी भी खींचा जाता है इस तरह असंख्य क्रियाओंका कारण होनेसे अनेक स्वभाववाला है । तथा इन्हीं क्रियाओंके तीनों काल और जोरसे धीरेसे मध्यमरूपसे इत्यादि तरतमभावोंसे अनन्त भेद हो सकते हैं । वह घड़ा इन अनन्त क्रियाओंका कारण होता है अतः वह घड़ा अनन्त क्रियावाला होनेसे अनन्तधर्मवाला है । ये सब उसके स्वधर्म हैं तथा इन क्रियाओंमें जो पदार्थ कारण नहीं होते उन सबसे व्यावृत्त होनेके कारण उसमें अनन्त ही परधर्म हैं ।

§ ३३३. पहले जितने प्रकारके स्वधर्म या परधर्म कहे गये हैं उन सबमें प्रकृत घड़ा अन्य घड़ोंसे एक दो तीन आदि अनन्तधर्मोंसे समानता रखता है, घड़ोंसे ही क्या, अन्य पदार्थोंसे भी घड़ेकी एक दो आदि सैकड़ों धर्मोंसे समानता पायी जाती है । अतः सादृश्य रूपी सामान्यकी दृष्टिसे घड़ेके अनन्त ही सदृशपरिणमन रूप स्वभाव हो सकते हैं । इस प्रकार सामान्यकी अपेक्षा घड़ेमें स्वपर्याय तथा उससे भिन्न धर्मोंकी अपेक्षा परपर्यायें विचारनी चाहिए ।

§ ३३४. इसी तरह यह घड़ा अन्य अनन्त ही द्रव्योंसे एक दो तीन आदि अनन्त ही धर्मोंकी अपेक्षा विलक्षण है उनसे व्यावृत्त होता है, अतः उसमें अन्य पदार्थोंसे विलक्षणता करानेवाले अनन्त ही धर्म विद्यमान हैं और इसीलिए वह विशेष विलक्षणताकी दृष्टिसे भी अनन्त स्वभाववाला है । अनन्त ही द्रव्योंकी अपेक्षा इस घड़ेमें किसीकी अपेक्षा मोटापन तो किसीकी

---

१. –ह्याद्युपा–म० १; म० २, प० १, प० २, क० । २. –न तेषामकारणत्वेन वा म० १, म० २, प० १, प० २ । ३. –स्पन्दनदवनरेचन–म० २ । –स्पन्दनपूरण–प० १, प० २ । ४. –णादिक्रि–म० २ । ५. चान–म० २ । ६. –नामैदसादृश्य–अ०, आ०, क० ।

कृशतासमताविषमतासूक्ष्मतास्थूलतातीव्रतापाचकचिक्य[1] - सौम्यतापृथुतासंकीर्णतानीचतोच्चता-विशालमुखतादयः प्रत्येकमनन्तविधाः स्युः । ततः स्थूलतालिङ्गारेणाप्यनन्ता धर्माः । [2]संबन्धतस्त्वनन्तकालेनानन्तैः परैर्वस्तुभिः समं प्रस्तुतघटस्याधाराधेयभावोऽनन्तविधो भवति, ततस्तदपेक्षयाप्यनन्ताः स्वधर्माः । एवं स्वस्वामित्वजन्यजनकत्वनिमित्तनैमित्तिकत्वषोढाकारकत्वप्रकाश्यप्रकाशकत्वभोज्यभोजकत्ववाह्यवाहकत्वाश्रयाश्रयिभाववध्यवधकत्वविरोध्यविरोधकत्वज्ञेयज्ञा[4]पकत्वादि-संख्यातीतसंबन्धैरपि प्रत्येकमनन्ता धर्मा ज्ञातव्याः ।

§ ३३५. तथा ये येऽत्र घटस्य स्वपरपर्याया[5] [6]अनन्तानन्ता ऊचिरे, तेषामुत्पादा विनाशाः स्थितयश्च पुनः पुनर्भवनेनानन्तकालेनानन्ता अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च, तदपेक्षयाप्यनन्ता धर्माः ।

§ ३३६. एवं पीतवर्णादारभ्य भावतोऽनन्ता धर्माः ।

§ ३३७. तथा द्रव्यक्षेत्रादिप्रकारैर्ये ये स्वधर्माः परधर्माश्चाचचक्षिरे तैरुभयैरपि युगपदाविष्टो घटोऽवक्तव्यः स्यात्, यतः कोऽपि स शब्दो न विद्यते येन घटस्य स्वधर्माः परधर्माश्चोच्यमाना द्वयेऽपि युगपदुक्ता भवन्ति, शब्देनाभिधीयमानानां क्रमेणैव प्रतीतेः ।

अपेक्षा पतलापन किसीकी अपेक्षा समानता, असमानता, सूक्ष्मता, स्थूलता, तीव्रता, चकचकाहट, सुन्दरता, चौड़ापन, सकरापन, नीचता, उच्चता, विशालमुखपना आदि अनन्त ही प्रकारके धर्म पाये जाते हैं। इस तरह इन स्थूलता आदि धर्मोंकी अपेक्षा भी घड़ेमें अनन्त स्वधर्म हैं। सम्बन्धकी दृष्टिसे अनन्त कालमें अनन्त परवस्तुओंके साथ प्रस्तुत घटका आधाराधेयभाव अनन्त प्रकारका होता है अतएव उस दृष्टिसे भी घटके अनन्त स्वधर्म होते हैं। इसी तरह इस सोनेके घड़ेका अपने स्वामीके साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध, पैदा करनेवाले सुनारके साथ जन्यजनक भाव, स्वामीमें धनी आदि व्यवहार करानेमें या जल आदि खींचनेमें निमित्त नैमित्तिक भाव, किसी जल लाने आदि पदार्थोंसे कर्ता, कर्म, करण आदि छहों कारक रूप सम्बन्ध, दीपक आदिसे प्रकाश्य प्रकाशक-भाव, जिसके उपभोगमें आता है उस भोक्तासे भोज्य-भोजकभाव, जिस जल दूध आदि पदार्थोंको ढोता है उससे वाह्यवाहकभाव अथवा जिन खच्चरों आदिसे या पानी भरनेवालोंके सिरसे ढोया जाता है उनसे वाह्यवाहक भाव, जिस स्थानपर रखा जाता है या उसमें जो चीज रखी जाती है उससे आधार-आधेयभाव, जो उस घड़ेको फोड़ता है तथा जिसके सिरमें लगनेसे उसका कपार फूट जाता है उनसे वध्यघातकभाव, उस घड़ेके कारण जिनसे विरोध होता है या उसमें रखनेसे जो वस्तु खराब हो जाती है उससे विरोध्यविरोधकभाव, तथा ज्ञानके साथ ज्ञेयज्ञापक भाव आदि असंख्य सम्बन्ध हैं। इन सम्बन्धोंकी अपेक्षा एक ही घड़ेमें अनन्त स्वभाव हो जाते हैं।

§ ३३५. इसी तरह घड़ेकी जिन-जिन स्व-परपर्यायोंका कथन किया है उनके उत्पाद विनाश तथा स्थिति रूप धर्म अनादिकालसे बराबर प्रतिक्षण होते आ रहे हैं पहले भी होते थे तथा आगे भी होते जायेंगे। इन त्रैकालिक उत्पाद विनाश तथा स्थिति रूप त्रिपदीसे भी घड़ेमें अनन्त धर्म सिद्ध होते हैं।

§ ३३६. इसी तरह पीलेपन आदि पर्यायोंसे भी अनन्त धर्म होते हैं। इस प्रकार एक ही घड़ेमें स्वधर्मोंकी अपेक्षा अस्तित्व तथा परधर्मोंकी अपेक्षा नास्तित्व समझना चाहिए।

§ ३३७. जब ऊपर कहे गये स्व द्रव्य क्षेत्र आदि तथा परद्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा घटको एक ही शब्दसे एक ही साथ कहनेकी इच्छा होती है तो घड़ा अवक्तव्य हो जाता है, क्योंकि संसारमें ऐसा कोई शब्द ही नहीं है जिससे घड़ेके स्व-परधर्मोंका युगपत् प्रधान भावसे कथन किया

---

१. –क्य सौ–आ०, क० । २. संबन्धस्त्वनन्तानन्तकालतोऽनन्तैः म० २ । ३. –भावेऽनन्त–म० २ । ४. –ज्ञायक:–म० १, म० २, प० १, प० २ । ५. –पर्यया म० २ । ६. नानन्तानन्तका–म० २ ।

§ ३३८. संकेतितोऽपि शब्दः क्रमेणैव स्वपरधर्मान् प्रत्याययति, न तु युगपत्, 'शतृशानचौ सत्' इति शतृशानचोः संकेतितसच्छब्दवत् ।

§ ३३९. ततः प्रतिद्रव्यक्षेत्रादिप्रकारं घटस्यावक्तव्यतापि स्वधर्मः स्यात्, तस्य चानन्तेभ्यो वक्तव्येभ्यो धर्मेभ्योऽन्यद्रव्येभ्यश्च व्यावृत्तत्वेनानन्ता अवक्तव्याः परधर्मा अपि भवन्ति ।

§ ३४०. तदेवमनन्तधर्मात्मकत्वं यथा घटे दर्शितं, तथा सर्वस्मिन्नप्यात्मादिके वस्तुनि भावनीयम् ।

§ ३४१. तत्रात्मनि तावच्चैतन्यं कर्तृत्वं[1] भोक्तृत्वं[2] प्रमातृत्वं प्रमेयत्वममूर्तत्वमसंख्यातप्रदेशत्वं[3] निश्चलाष्टप्रदेशत्वं लोकप्रमाणप्रदेशत्वं[4] जीवत्वमभव्यत्वं भव्यत्वं परिणामित्वं स्वशरीरव्यापित्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः, हर्षविषादौ सुखदुःखे मत्यादिज्ञानचक्षुर्दर्शनोपयोगौ देवनारकतिर्यङ्नरत्वानि शरीरादितया परिणमितसर्वपुद्गलत्वमनाद्यनन्तत्वं सर्वजीवैः सह सर्वसंबन्धवत्त्वं संसारित्वं क्रोधाद्यसंख्याध्यवसायवत्त्वं हास्यादिषट्कं[5] स्त्रीपुंनपुंसकत्वमूकत्वान्धत्वादीनीत्यादयः क्रमभाविनो धर्माः ।

जा सके । शब्दके द्वारा वे दोनों धर्म क्रमसे ही कहे जा सकते हैं एक साथ प्रधान रूपसे नहीं ।

§ ३३८. यद्यपि शब्दकी प्रवृत्ति संकेतके अनुसार होती है, अतः यह शंका की जा सकती है कि—'जिस तरह शतृ और शानच् दो प्रत्ययोंकी 'सत्' संज्ञा दोनों ही प्रत्ययोंका कथन करती है उसी तरह दोनों धर्मोंमें जिस शब्दका संकेत किया गया है उसके द्वारा दोनों धर्मोंका युगपत् कथन हो जायगा' पर शंकाकारको यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि—शतृ और शानच्की 'सत्' संज्ञा दोनों प्रत्ययोंका क्रमसे ही ज्ञान कराती है, अतः संकेत करनेपर भी किसी भी शब्दके द्वारा दोनों धर्मोंका प्रधानभावसे युगपत् कथन नहीं हो सकता ।

§ ३३९. इस तरह प्रत्येक स्वधर्म और परधर्मकी एक साथ कहनेकी इच्छा होनेपर घड़ेमें अवक्तव्य धर्म भी पाया जाता है । यह अवक्तव्य धर्म स्वपर्याय है । यह अवक्तव्य धर्म अन्य अनन्त वक्तव्य धर्मोंसे तथा अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्त है अतः इसकी अपेक्षा अनन्त ही परपर्याय होते हैं ।

§ ३४०. जिस तरह घड़ेमें अनन्त धर्मोंकी योजना की गयी है उसी तरह समस्त आत्मा आदि पदार्थोंमें अनन्तधर्मोंमें अनन्त धर्मोंका सद्भाव समझ लेना चाहिए । अतः वस्तु अनन्त धर्म वाली है क्योंकि वह प्रमेय है यह हेतु अबाधित सिद्ध हो जाता है ।

§ ३४१. आत्मा चेतन है, कर्ता है, भोक्ता है, प्रमाता है, प्रमेय है, अमूर्त है, असंख्यात प्रदेशवाला है, इसके मध्यके आठ प्रदेश निष्क्रिय रहते हैं, लोकाकाशके बराबर ही इसके असंख्य प्रदेश हैं, जीव है, भव्य है, अभव्य है, परिणामी-परिवर्तनशील है, अपने शरीरके बराबर ही परिमाणवाला है अतः आत्मामें ये सब अनेक सहभावी—एक साथ रहनेवाले धर्म पाये जाते हैं तथा हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, मति आदि ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि दर्शन, देव नारक तिर्यंच और मनुष्य ये चार अवस्थाएँ, शरीर रूपसे परिणत समस्त पुद्गलोंसे सम्बन्ध रखना, अनादि अनन्त होना, सब जीवोंसे सब प्रकारके सम्बन्ध रखना, संसारी होना, क्रोधादि असंख्य कषायोंसे विकृत होना, हास्य, रति, अरति, शोक भय, ग्लानि आदि भावोंका सद्भाव, स्त्री पुरुष और नपुंसकोंके समान कामी प्रवृत्ति, मूर्खता तथा अन्धा, लूला, लँगड़ा आदि क्रमसे होनेवाले भी अनेक धर्म संसारी जीवमें पाये जाते हैं ।

---

१. -ग्येभ्यश्च म० २ । २. कर्तृत्वं प्रमा–प० १, प० २ । ३. –कृत्वं प्रमे–म० २ । ४. –गता लो– म० १, म० २, प० १, प० २, क० । ५. –शत्वमभ–म० २, प० १, प० २ । ६. –षटकत्वं स्त्री–म० २ । ७. –मूर्त्तत्वा–म० २ ।

§ ३४२. मुक्तात्मनि तु सिद्धत्वं साद्यनन्तत्वं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वसुखवीर्याद्यनन्तद्रव्यक्षेत्रकालसर्वपर्यायज्ञातृत्वदर्शित्वानि अशरीरत्वमजरामरत्वमरूपरसगन्धस्पर्शशब्दत्वानि निश्चलत्वं नीरुक्त्वमक्षयत्वमव्याबाधत्वं [1]प्राक्संसारावस्थानुभूतस्वस्वजीवधर्माश्चेत्यादयः ।

§ ३४३. [2]धर्माधर्माकाशकालेष्वसंख्यासंख्यानन्तप्रदेशाप्रदेशत्वं सर्वजीवपुद्गलानां गतिस्थित्यवगाहवर्तनोपग्राहकत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमनाद्यनन्तत्वमरूपित्वमगुरुलघुतैकस्कन्धत्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं [3]सत्त्वं द्रव्यत्वमित्यादयः ।

§ ३४४. पौद्गलिकद्रव्येषु [4] घटदृष्टान्तोक्तरीत्या स्वपरपर्यायाः । शब्देषु चोदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताल्पप्राणमहाप्राणताभिलाप्यानभिलाप्यवाचकावाचकताक्षेत्रकालादिभेवहेतुकतत्तदनन्तार्थप्रत्यायनशक्त्यादयः ।

§ ३४५. आत्मादिषु च सर्वेषु नित्यानित्यसामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यत्वात्मकता परेभ्यश्च वस्तुभ्यो व्यावृत्तिधर्माश्चावसेयाः ।

§ ३४६. आह—ये स्वपर्यायास्ते[6] तस्य संबन्धिनो भवन्तु, ये तु [5]परपर्यायास्ते विभिन्न-

§ ३४२. मुक्त जीवोंमें सिद्धत्व, सादि-अनन्तत्व-सिद्ध अवस्थाकी शुरूआत तो होती है पर अनन्त नहीं होता, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अनन्त द्रव्य क्षेत्र तथा कालमें रहनेवाली समस्त पर्यायोंका जानना देखना, अशरीरी होना, बुढ़ापा मृत्यु आदिसे रहित होना, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्दसे शून्य होना, निश्चलत्व, रोग रहित होना, अविनाशी होना, निर्बाध रूपसे सुखी होना, संसारी अवस्थामें रहनेवाले जीवद्रव्यके अपने-अपने जीवत्व आदि सामान्य धर्मोंका पाया जाना आदि अनेकों धर्म पाये जाते हैं। अतः जीवद्रव्यमें इनकी अपेक्षा अस्तित्व तथा इनसे भिन्न पररूपोंकी अपेक्षा नास्तित्व आदिका विचार कर लेना चाहिए।

§ ३४३. धर्म अधर्म आकाश तथा काल द्रव्यमें क्रमशः असंख्यात असंख्यात अनन्त तथा एकप्रदेशका होना, समस्त जीव और पुद्गलोंके चलने ठहरने अवकाश पाने तथा वर्तना परिणमन में अपेक्षा सरकारी होना, भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी अपेक्षा घटाकाश मठाकाश, घटकाल प्रातःकाल आदि व्यवहारोंका पात्र होना, अवस्थित रहना, अनादि अनन्त होना, अरूपित्व-अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व न कम होना और न बढ़ना ही, अखण्ड एक द्रव्य होना, मतिज्ञान आदि ज्ञानोंका विषय होना, सत्ता, द्रव्यत्व आदि अनेकों धर्म पाये जाते हैं।

§ ३४४. पुद्गल द्रव्यमें घड़ेके दृष्टान्तमें कहे गये अनन्त स्व-परधर्म पाये जाते हैं। शब्दमें उदात्तत्व, अनुदात्तत्व, स्वरितत्व, विवृतत्व संवृतत्व, घोषता, अघोषता, अल्पप्राणता, महाप्राणता, कहे जाने लायक पदार्थका कथन करना तथा जिसका कथन नहीं हो सकता हो उसका कथन नहीं करना, भिन्न-भिन्न समयोंमें तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें बदलनेवाली भाषाओंके अनुसार अनन्त पदार्थोंके कथन करनेकी शक्ति रखना आदि बहुत-से धर्म हैं।

§ ३४५. आत्मादि सभी पदार्थोंमें नित्यत्व, अनित्यत्व, सामान्य, विशेष, सत्त्व, असत्त्व, वक्तव्यत्व, अवक्तव्यत्व तथा अनन्त परपदार्थोंसे व्यावृत्त होनेका स्वभाव होना आदि अनेकों धर्मोंका सद्भाव है।

§ ३४६. **शंका**—आपने जिस-जिस प्रकारसे जिन-जिन स्वपर्यायोंका विवेचन किया है वे सब स्वपर्यायें तो वस्तुके धर्म अवश्य हो सकती हैं तथा हैं भी परन्तु परपर्यायें तो भिन्न वस्तुओंके आधीन हैं अतः उन्हें वस्तुका धर्म कैसे कह सकते हैं? घड़ेका अपने स्वरूप आदिकी अपेक्षा

१. –स्थानभूत–म० २। २. –त्वसंख्यातप्रदेशवत्त्वं सर्व– म० २। –त्वसंख्यानन्तप्रदेशत्व सर्व–क०, म० १, प० १, प० २। ३. –यत्वं द्रव्य–म० २। ४. –द्रव्ये तु घट–म० २। ५. –पर्याया–म० २। ६. स्वपरपर्यायै–म० २।

वस्त्वाश्रयत्वात्कथं तस्य संबन्धिनो व्यपदिश्यन्ते ।

§ ३४७. उच्यते, इह द्विधा संबन्धोऽस्तित्वेन नास्तित्वेन च । तत्र स्वपर्यायैरस्तित्वेन संबन्धः यथा घटस्य रूपादिभिः । परपर्यायैस्तु नास्तित्वेन संबन्धस्तेषां तत्रासंभवात्, यथा घटावस्थायां मृद्रूपतापर्यायेण, यत एव[1] च ते तस्य न सन्तीति नास्तित्वसंबन्धेन संबद्धाः, अत एव च ते परपर्यायाः[2] इति व्यपदिश्यन्ते ।

§ ३४८. ननु ये यत्र न विद्यन्ते[3] ते कथं तस्येति व्यपदिश्यन्ते, न खलु धनं दरिद्रस्य[4] न विद्यत इति तत्तस्य संबन्धि व्यपदेष्टुं शक्यम्, मा प्राप्तल्लोकव्यवहारातिक्रमः, तदेतन्महामोह-मूढमनस्कतासूचकं, यतो यदि नाम ते नास्तित्वसंबन्धमधिकृत्य तस्येति न व्यपदिश्यन्ते, तर्हि सामान्यतस्ते परवस्तुष्वपि न सन्तीति प्राप्तम्, तथा च ते स्वरूपेणापि न भवेयुर्न चैतदृष्टमिष्टं वा, [5]तस्मादवश्यं ते नास्तित्वसंबन्धमधिकृत्य तस्येति व्यपदेश्याः, धनमपि च नास्तित्वसंबन्धमधिकृत्य दरिद्रस्येति व्यपदिश्यत एव, तथा च लोके वक्तारो भवन्ति 'धनमस्य दरिद्रस्य न विद्यते' इति । यदपि चोक्तं 'तत्तस्येति व्यपदेष्टुं न शक्यं' इति, तत्रापि तदस्तित्वेन तस्येति व्यपदेष्टुं न शक्यं, न पुनर्नास्तित्वेनापि, ततो न कश्चिल्लोकव्यवहारातिक्रमः ।

अस्तित्व तो उसका धर्म हो सकता है परन्तु पट आदि परपदार्थोंका नास्तित्व तो पट आदि पर पदार्थोंके आधीन है अतः उसे घटका धर्म कैसे कह सकते हैं ? जब वे परपर्यायें हैं तो उसकी कैसे कही जा सकती हैं ?

§ ३४९. **समाधान**—वस्तुसे पर्यायोंका सम्बन्ध दो प्रकारसे होता है एक अस्तित्व रूपसे और दूसरा नास्तित्व रूपसे । स्वपर्यायोंका तो अस्तित्व रूपसे सम्बन्ध है तथा परपर्यायोंका नास्तित्व रूपसे । जिस तरह रूप रसादिका घड़ेमें अस्तित्व है अतः उनका अस्तित्वरूप सम्बन्ध है उसी तरह स्वपर्यायें घड़ेमें पायी जाती हैं अतः उनका भी अस्तित्वरूप सम्बन्ध है । परपर्यायें तो घड़ेमें नहीं पायी जातीं अतः उनका नास्तित्व रूपसे सम्बन्ध है । जिस प्रकार घटावस्थामें मिट्टीको पिण्ड आदि पर्यायें नहीं पायी जातीं अतः उनका घड़ेके साथ नास्तित्वरूपसे सम्बन्ध है । जिस कारणसे वे परपर्यायें उस पदार्थमें नहीं रहतीं असत् हैं इसीलिए तो वे परपर्यायें कही जाती हैं । यदि वे उसमें अपना अस्तित्व रखतीं तो वे स्वपर्याय ही हो जातीं । परकी अपेक्षा नास्तित्व नामका धर्म तो घट आदि वस्तुओंमें पाया ही जाता है । यदि घड़ा पटरूपसे असत् न हो तो वह भी पटरूप हो जायगा । अतः परपर्यायोंसे वस्तुका नास्तित्व रूप सम्बन्ध मानना ही चाहिए ।

§ ३४८. **शंका**—जो परपर्यायें उस वस्तुमें पायी ही नहीं जातीं वे उसकी कैसे कही जा सकती हैं ? दरिद्रीके धन नहीं पाया जाता तो क्या कहीं भी 'दरिद्रीका धन' ऐसा व्यवहार होता है ? जो चीज जहाँ नहीं पायी जाती उसका उसमें सम्बन्ध जोड़ना तो स्पष्ट ही लोकव्यवहारका विराध करना है । आपको इस तरह लोकव्यवहारको नहीं कुचलना चाहिए ।

समाधान—आपकी यह शंका महामूर्खता तथा पागलपन की निशानी है, यदि परपर्यायें नास्तित्व रूपसे भी घड़े की न कही जायें; तो वे परपर्यायें सामान्यरूपसे तो परवस्तुमें भी नहीं रहेंगी; क्योंकि परवस्तुमें तो वे स्वपर्याय होकर रह सकती हैं सामान्यपर्याय होकर नहीं । अतः जब घड़े में तथा अन्य परवस्तुओंमें उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा तब उन्हें पर्याय ही कैसे कह सकते हैं ? परन्तु उन्हें पर्याय मानना इष्ट है तथा अनुभवका विषय भी है । इसीलिए उन पर-पर्यायोंको नास्तिरूपसे घड़ेकी अवश्य ही कहना चाहिए । यदि घड़ेमें उनका अस्तित्व कहा जाता

---

१. एव ते भ० २ । २. –पर्याया भ० २ । ३. –न्ति कथं ते त–भ० २ । ४. –स्य सद्विद्य–भ० २ । ५. –वश्यं नास्ति–भ० २ ।

§ ३४९. ननु नास्तित्वमभावोऽभावश्च तुच्छरूपस्तुच्छेन च सह कथं संबन्धः, तुच्छस्य सकलशक्तिविकलतया [1]संबन्धशक्तेरप्यभावात्। अन्यच्च, यदि परपर्यायाणां तत्र नास्तित्वं तर्हि नास्तित्वेन सह संबन्धो भवतु, [2]परपर्यायैस्तु सह कथं संबन्धः, न खलु घटः पटाभावेन [3]संबद्धः पटेनापि सह [4]संबद्धो भवितुमर्हति, तथाप्रतीतेरभावात्, तदेतवसमीचीनं, सम्यग्वस्तुतत्त्वागरिज्ञानात्, तथाहि—नास्तित्वं नाम तेन तेन रूपेणाभवनमिष्यते तेन तेन रूपेणाभवनं च वस्तुनो धर्मः, ततो नैकान्तेन तत्तुच्छरूपमिति न तेन सह संबन्धाभावः। तेन तेन [5]रूपेणाभवनं च तं तं पर्यायमपेक्ष्यैव भवति नान्यथा, तथाहि—यो यः पटादिगतः पर्यायः तेन तेन रूपेण मया न भवितव्यमिति सामर्थ्यात् घटस्तं तं पर्यायमपेक्ष्यते इति सुप्रतीतमेतत्, ततस्तेन तेन पर्यायेणाभवनस्य तं तं पर्यायमपेक्ष्य संभवात्तेऽपि [6]परपर्यायास्तस्योपयोगिन इति तस्येति व्यपदिश्यन्ते। एवंरूपायां च विवक्षायां पटोऽपि घटस्य सम्बन्धो भवत्येव, पटमपेक्ष्य घटे पटरूपेणाभवनस्य भावात्, तथा च लौकिका अपि घटपटादीन् परस्परमितरेतराभावमधिकृत्य संबद्धान् व्यवहरन्तीत्यविगीतमेतत्। इतश्च ते [7]पर्यायास्तस्येति व्यपदिश्यन्ते, स्वपर्यायविशेषणत्वेन[8] तेषामुपयोगात्। इह ये यस्य स्वपर्यायविशेषकत्वेनोपयुज्यन्ते ते तस्य पर्यायाः, यथा घटस्य रूपादयः[9] पर्यायाः परस्परविशेषकाः।

तो अवश्य ही लोकविरोध होता परन्तु हम तो उनका नास्तित्व ही घड़ेमें बतला रहे हैं। दरिद्र और धनका भी नास्तित्व रूपसे सम्बन्ध है ही। संसारमें सभी लोग कहते ही हैं कि 'इस दरिद्रके धन नहीं है' अर्थात् धन और दरिद्रका अस्तित्व रूप सम्बन्ध न होकर नास्तित्वरूप सम्बन्ध है। इसी तरह परपर्यायोंका भी पदार्थके साथ अस्तित्वरूप सम्बन्ध न होकर नास्तित्वरूपसे ही सम्बन्ध माना जाता है। परपर्यायें अस्तित्वरूपसे उसकी न कही जायें पर नास्तित्वरूपसे तो वे उसकी कही ही जा सकती हैं। और नास्तित्वरूपसे परपर्यायोंका वस्तुमें सम्बन्ध माननेसे किसी भी लोकव्यवहारका विरोध नहीं होता।

§ ३४९. शंका—नास्तित्व तो अभावको कहते हैं, अभाव तो तुच्छ या नीरूप होता है, उसका कोई भी वास्तविक स्वरूप नहीं होता, अतः उस तुच्छ अभावके साथ वस्तुका सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है? निःस्वरूप अभाव तो समस्त शक्तियोंसे रहित होता है, उसमें वस्तुके साथ सम्बन्ध रखने की भी शक्ति नहीं होती। यदि घड़ेमें परपर्यायोंका नास्तित्व है तो नास्तित्व नामके धर्मसे घड़ेका सम्बन्ध माना जा सकता है न कि परपर्यायोंके साथ। यदि पटका अभाव घड़ेमें रहता है—पटके नास्तित्वसे घड़ेका सम्बन्ध है तो इससे पटसे भी घड़ेका सम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है? कहीं भी ऐसी प्रतीति नहीं होती कि जिस पदार्थका अभाव जिसमें पाया जाता है वह पदार्थ भी उसमें पाया जावे। घड़ेका अभाव भूतलमें पाया जायेगा?

समाधान—आपकी शंका बिलकुल मिथ्या है, आपने वस्तुके तत्त्वको ठीक तरह नहीं समझा। 'जो जो पट आदिकी पर्यायें हैं उस रूपसे मुझे परिणमन नहीं करना चाहिए' इस रूपसे ही घड़ा उन उन पटादि की पर्यायोंकी अपेक्षा करता है न कि उन पटादिपर्याय रूपसे अपना परिणमन करनेके लिए। यह बात तो सर्व प्रसिद्ध है। उन पटादिपर्याय रूपसे अपना परिणमन नहीं होने देना उन पर्यायोंकी अपेक्षा रखकर ही हो सकता है। अतः उस रूपसे परिणमनके निषेध के लिए ही वे परपर्यायें घड़ेके उपयोगी हैं। और इसी उपयोगिताके कारण ही वे घड़ेकी पर्यायें

१. संबन्ध न श—म० १, म० २, प० १, प० २। २. —पर्यायैस्तु म० २। ३. संबन्धः म० २। ४. संबन्धो म० २, आ०, क०। ५. रूपेण भवन—म० २। ६. पर्यय—म० २। ७. पर्याया—म० २। ८. पर्याया—म० २। ९. —विशेषकत्वेन— म० २। १०. —यः पर म० २।

उपयुज्यन्ते च घटस्य पर्यायाणां विशेषतया पटादिपर्यायाः, तानन्तरेण तेषां [1]स्वपर्यायव्यपदेशाभावात्, तथाहि—यदि ते परपर्याया न भवेयुः तर्हि घटस्य स्वपर्यायाः स्वपर्याया इत्येवं न व्यपदिश्येरन्, परापेक्षया स्वव्यपदेशस्य सद्भावात्, ततः स्वपर्यायव्यपदेशकारणतया तेऽपि परपर्यायास्तस्योपयोगिन इति तस्येति, व्यपदिश्यन्ते । अपि च, सर्वं वस्तु प्रतिनियतस्वभावं, सा च प्रतिनियतस्वभावता प्रतियोग्यभावात्मकतोपनिबन्धना । ततो यावन्न प्रतियोगिविज्ञानं भवति तावन्नाधिकृतं वस्तु तदभावात्मकं तत्त्वतो ज्ञातुं शक्यते, तथा च सति पटादिपर्यायाणामपि घटप्रतियोगिस्वात्तदपरिज्ञाने घटो न याथात्म्येनावगन्तुं शक्यत इति पटादिपर्याया अपि घटस्य पर्यायाः । तथा चात्र प्रयोगः—यदनुपलब्धौ यस्यानुपलब्धिः स तस्य संबन्धी, यथा घटस्य रूपादयः, पटादिपर्यायानुपलब्धौ च घटस्य न याथात्म्येनोपलब्धिरिति ते तस्य संबन्धिनः । न चायमसिद्धो हेतुः, पटादिपर्यायरूपप्रतियोग्यपरिज्ञाने तदभावात्मकस्य[2] घटस्य तत्त्वतो ज्ञातत्वायोगादिति । आह च भाष्यकृत्—

कही जाती हैं । इन निषेधको विवक्षामें तो घड़े और कपड़ेका भी सम्बन्ध कहा जा सकता है । 'घड़ा कपड़ा नहीं है' इस प्रयोगमें घड़ा और कपड़ा नास्तित्वरूपसे एक दूसरेके सम्बन्धी हैं ही । घड़ेका 'पटरूपसे न होना' पटकी अपेक्षाके बिना कैसे हो सकता है । यदि पट नहीं है या अज्ञात है तो घड़ेका पटरूपसे अपरिणमन कैसे कहा जा सकता है ? 'घड़ा पटरूप नहीं है तथा पट घटरूप नहीं है' इस तरह घट और पटका परस्परमें अभाव है; इसी इतरेतराभावको निमित्त लेकर लोकमें भी घट और पटमें नास्तित्वरूप सम्बन्धका व्यवहार होता है यह बिलकुल निर्विवाद है और इस अनुभवसे भी कि—जिनका परस्पर अभाव होता है वे नास्तित्वरूपसे एक दूसरेके सम्बन्धी होते ही हैं । इन परपर्यायों स्वपर्यायोंका भेद होनेपर ही ये स्वपर्याय कहे जाते हैं, अतः भेदक होनेके कारण भी परपर्यायें घड़ेकी कही जाती हैं । भेद करनेमें उनका असाधारण उपयोग है । जो स्वपर्यायोंमें भेद डालनेमें उपयोगी होते हैं वे उसीके पर्याय हैं जैसे कि घड़ेमें रहनेवाले परस्पर भेदक रूपादि पर्याय । चूँकि घटकी पर्यायोंका पटादि पर्यायोंसे भेद करनेमें पटादिपर्यायोंका पूरा-पूरा उपयोग होता है अतः विशेषक—भेदक होनेके कारण परपर्यायें भी घड़ेकी ही कही जानी चाहिए । परपर्यायोंके बिना घड़की स्वपर्यायोंमें 'स्व' व्यपदेश ही नहीं होता । यदि पटादिपर्यायें न हों तो घड़ेकी स्वपर्यायोंमें 'स्व' व्यपदेश ही नहीं हो सकता । किसी परकी अपेक्षा ही दूसरे को 'स्व' कह सकते हैं । इस तरह स्वपर्यायोंमें 'स्व' व्यपदेश करानेमें कारण होनेसे वे परपर्यायें भी घड़ेकी उपयोगी हैं तथा इसी दृष्टिसे घड़ेकी कही जा सकती हैं । संसारकी समस्त वस्तुएँ अपने-अपने प्रतिनियत—निश्चित स्वरूपमें स्थित हैं, किसीका स्वरूप दूसरेसे मिलता नहीं है अपने-अपने स्वायत्त है । वस्तुओंकी यह प्रतिनियत स्वभावता—असाधारण स्वरूपका होना—जिन वस्तुओंसे उसका स्वरूप भिन्न रहता है उन प्रतियोगी पदार्थोंके अभावके बिना नहीं बन सकती । घड़ेका स्वरूप पटादिसे भिन्न है तो जबतक पटादिका अभाव न होगा तब तक घड़ेमें अपना असाधारण पटस्वरूप भी सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिए जबतक उन प्रतियोगी परपदार्थोंका परिज्ञान नहीं होगा तबतक हम घटादिको उनसे व्यावृत्तरूपमें परमार्थतः नहीं जान सकते । जिस पदार्थका अभाव किया जाता है उसे प्रतियोगी कहते हैं । जबतक पटादि प्रतियोगियोंका परिज्ञान नहीं होगा तबतक 'घड़ा पटाभावरूप है' यह जानना ही नितान्त असम्भव है । घड़ेमें पटादिका अभाव पाया जाता है अतः घड़ेके ज्ञानके लिए प्रतियोगी पटादिका ज्ञान तो पहले हो चाहिए । इस दृष्टिसे भी परपर्यायें घड़ेकी कही जा सकती हैं । जबतक उन परपर्यायोंका ज्ञान न होगा तबतक घड़ेके यथार्थ

१. –पर्यय भ० २ । २. –स्य भावात् भ० १, भ० २, प० २ । ३. –स्य तत्त्व–भ० २ ।

"जेसु[1] अजाएसु तओ, न नज्जाए नज्जाए य नाएसु ।
किह तस्स ते न धम्मा, घडस्स रूवाइधम्मव्व ॥ १ ॥"

तस्मात्पटादिपर्याया अपि घटस्य संबन्धिन इति । परपर्यायाश्च स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणा उभये तु स्वपरपर्यायाः सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणाः ।[2] न चैतदनार्षं यत उक्तमाचाराङ्गे—

"जे[3] एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ।"

अस्यायमर्थः—य एकं वस्तूपलभते सर्वपर्यायैः स नियमात्सर्वमुपलभते, सर्वोपलब्धिमन्तरेण विवक्षितस्यैकस्य स्वपरपर्यायभेदभिन्नतया[4] सर्वात्मनावगन्तुमशक्यत्वात्, यश्च सर्वं सर्वात्मना साक्षादुपलभते, स एकं स्वपरपर्यायभेदभिन्नं जानाति, अन्यत्राप्युक्तम्[5]—

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥१॥"

स्वरूपका परिज्ञान ही नहीं हो सकता। प्रयोग जिसकी अनुपलब्धि रहनेसे जिसके स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान न हो सके वह उसका सम्बन्धी है, जैसे कि रूपादिकी अनुपलब्धि रहनेपर घड़ेका परिज्ञान नहीं हो पाता अतः रूपादि घड़ेके सम्बन्धी हैं, चूँकि पटादिपर्यायोंकी अनुपलब्धि रहने पर भी घड़ेका यथार्थ परिज्ञान नहीं हो पाता अतः पटादिपर्यायें भी घड़ेके साथ सम्बन्ध रखती हैं। यह हेतु असिद्ध नहीं है; क्योंकि जबतक पटादिपर्यायरूप प्रतियोगियोंका परिज्ञान नहीं होगा तबतक उनका निषेध करके परपर्यायाभावात्मक घड़ेका तत्त्वतः ज्ञान ही नहीं हो सकता। भाष्यकारने कहा भी है—"जिनके अज्ञात रहनेपर जिसका ज्ञान नहीं हो पाता और जिनका ज्ञान होनेसे ही जिसका ज्ञान होता है वे उसके धर्म क्यों नहीं कहे जायेंगे ? जिस तरह रूपादिका ज्ञान न होनेपर घड़ा अज्ञात रहता है तथा रूपादिका ज्ञान होनेपर ही घड़ेका ज्ञान होता है अतः रूपादि घड़ेके धर्म हैं उसी तरह परपर्यायोंका ज्ञान न होनेपर घड़ा यथार्थ रूपसे अज्ञात रहता है तथा परपर्यायोंके ज्ञानसे ही परपर्यायाभावात्मक घड़ेका परिज्ञान होता है अतः परपर्यायोंको भी घड़ेका धर्म मानना चाहिए।" अतः पटादिपर्यायें भी घड़ेकी सम्बन्धी हैं उनमें और घड़ेमें नास्तित्वरूपसे ही सही, सम्बन्ध तो मानना ही पड़ेगा। स्वपर्यायोंसे परपर्यायोंका प्रमाण अनन्तगुना है। दोनों ही स्व-परपर्यायें सभी द्रव्योंमें पायी जाती हैं, सभी द्रव्योंका स्वपर्याय तथा परपर्यायरूपसे परिणमन होता है। यह बात पुराने ऋषियोंकी परम्परानुसार ही कही गयी है, क्योंकि आचारांग सूत्रमें ही कहा है कि—"जो एकको जानता है वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वही एकको जानता है" इसका तात्पर्य यह है कि जो एक वस्तुको उसकी समस्त पर्यायोंके साथ निश्चित रूपसे जानता है उसे नियमसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो ही जाता है। समस्त पदार्थोंको जाने बिना विवक्षित एक वस्तुमें स्वपर्याय और परपर्यायोंका भेद करके उसका ठीक-ठीक पूरे रूपसे ज्ञान हो ही नहीं सकता। इस वस्तुका परपर्यायोंसे भेद समझनेके लिए परपर्यायोंका ज्ञान आवश्यक है। जो समस्त पदार्थोंको पूरे-पूरे रूपसे साक्षात् जानता है वही एक वस्तुका स्वपर्याय और परपर्यायका भेद करके यथार्थ परिज्ञान कर सकता है। स्व और परका भेद तो स्व और परके यथार्थ ज्ञानकी आवश्यकता रखता है। दूसरे शास्त्रोंमें भी इसी बातको इस रूपसे कहा है—"जिसने एक भी पदार्थको सब रूपसे—स्व-परका पूर्ण भेद करके पूर्णरूपसे जान लिया है उसने सभी पदार्थोंको सब रूपसे परिज्ञान कर लिया। क्योंकि सबको जाने बिना एकका पूरा परिज्ञान नहीं हो सकता। जिसने सब पदार्थोंको सब रूपसे जान लिया है वही एक पदार्थको पूरे रूपसे जान सकता है।"

---

१. येषु अज्ञातेषु ततो न ज्ञायते ज्ञायते च ज्ञातेषु । कथं तस्य ते न धर्माः घटस्य रूपादिधर्मा इव ॥
२. न चैतदार्षं यदाह परमेश्वरः जे भ० २ । ३. य एकं जानाति सः सर्वं जानाति । यः सर्वं जानाति स एकं जानाति ॥ ४. उद्धृतोऽयम्—तत्त्वोप० पृ० ७९ । न्यायवा० ता० टी० पृ० ३७ ।

ततः सिद्धं प्रमेयत्वादनन्तधर्मात्मकत्वं[1] सकलस्य वस्तुन इति ॥ ५५॥

§ ३५०. अथ सूत्रकार एव प्रत्यक्षपरोक्षयोर्लक्षणं लक्षयति—

अपरोक्षतयार्थस्य[2] ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ ५६ ॥

§ ३५१. व्याख्या—तत्र प्रत्यक्षमिति लक्ष्यनिर्देशः । अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमिति लक्षणनिर्देशः । परोक्षोऽक्षगोचरातीतः, ततोऽन्योऽपरोक्षस्तद्भावस्तत्ता तयाऽपरोक्षतया—साक्षात्कारितया, न पुनरस्पष्टसंदिग्धादितया, अर्थस्य—आन्तरस्यात्मस्वरूपस्य, बाह्यस्य च [3]घटकटपट-शकटलकुटादेर्वस्तुनो ग्राहकं व्यवसायात्मकतया साक्षात्परिच्छेदकं ज्ञानम् [4]ईदृशम् विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वादीदृशमेव प्रत्यक्षं न त्वन्यादृशम् । अपरोक्षतयेत्यनेन परोक्षलक्षणसंकीर्णतामध्यक्षस्य परिहरति । एतेन परपरिकल्पितानां[5] कल्पनापोढत्वादीनां प्रत्यक्षलक्षणानां निरासः कृतो द्रष्टव्यः ।

इस विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि—'सभी वस्तुएं अनन्त धर्मवाली हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं' इति ॥ ५५ ॥

§ ३५०. अब स्वयं सूत्रकार प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षण कहते हैं—पदार्थोंको अपरोक्ष—स्पष्ट रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, प्रत्यक्षसे भिन्न अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है । ज्ञानमें परोक्षता बाह्यपदार्थके ग्रहण को अपेक्षासे ही है; क्योंकि स्वरूपसे तो सभी ज्ञान प्रत्यक्ष ही हैं ।" ॥ ५६ ॥

§ ३५१. प्रत्यक्ष लक्ष्य है तथा 'अपरोक्ष रूपसे पदार्थका ग्रहण करनेवाला ज्ञान' यह लक्षण है । परोक्ष—इन्द्रियोंका अविषय, उससे भिन्न अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा जाने गये पदार्थकी तरह साक्षात् रूपसे, न कि अस्पष्ट या सन्दिग्ध रूपसे, अर्थका—अपने आन्तरिक स्वरूपका तथा घट, चटाई, कपड़ा, गाड़ी और लकड़ी आदि बाह्य वस्तुओंका ग्राहक—साक्षात् रूपसे निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है । विशेषण अन्यसे व्यवच्छेद कराते हैं अतः ऐसा ही ज्ञान प्रत्यक्ष है न कि किसी दूसरे प्रकार का । 'अपरोक्षतया' पदसे इस प्रत्यक्षके लक्षणका परोक्षके लक्षणसे भेद सिद्ध हो जाता है । प्रत्यक्षका इस प्रकार विशदज्ञानात्मक लक्षण करनेसे बौद्ध आदिके द्वारा माने गये प्रत्यक्षके कल्पनापोढ–निर्विकल्पक–आदि लक्षणोंका निरास हो जाता है ।

१.—कत्वं वस्तुनः म० २ । २ "अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षम् ।"—न्यायाव० श्लो० ४ । "प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ।" —न्यायविनि० १।३ । प्रमाणप० पृ० ६७ । परीक्षामु० २।३ । षड्दर्शन० १।६।६ । न्यायावा० श्लो० ४ । जैनतर्कवा० पृ० ५३ । प्रमाण० तत्त्वा० २।२ । प्रमाणमी० १।१।१३ । ३. घटपटकट —म० २ । ४. ईदृशविशेषण—म० २ । ५. "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥३॥"—प्रमाणस० पृ० ८ । "तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।" न्यायवि० पृ० १६ । तत्त्वसं० का० १२१४। "इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" —न्या० सू० १।१।४ । "अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्, वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा ।" —न्यायभा० पृ० १७। न्या० वा० पृ० २८। 'सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम्।"—न्यायसार पृ० २। "आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् ।" —वैशे० द० ३।१।१८ । "अक्षमक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्'''सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसंनिकर्षाद् अवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" —प्रशस्तपा० पृ० १८६ । "इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।" —मुक्तावली श्लो० ५२ । न्यायबो० ४७ । "साक्षात्कारस्वरूपप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् ।" —न्यायसि० मं०

§ ३५२. ज्ञानवादिनोऽवादिषुः । अहो आर्हताः, अर्थस्यात्मस्वरूपस्य यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षमित्येव अत्र व्याख्यायताम्, अर्थशब्देन बाह्योऽप्यर्थः कुतो व्याख्यातो बाह्यार्थस्यासत्त्वाविरयाशङ्क्यां 'अर्थस्य ग्राहकं' इत्यत्रापि 'ग्रहणेक्षया' इति वक्ष्यमाणं पदं संबन्धनीयं, बहिरर्थनिराकरकरणत् सौगतयोगाचारादीनधिकृत्यैव 'ग्रहणेक्षया' इति वक्ष्यमाणपदस्य योजनात्, ततोऽयमर्थः—ग्रहणं ज्ञानात्पृथग् बाह्यार्थस्य यत्संवेदनं तस्येक्षयापेक्षयार्थस्य यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षम् । न चार्थस्य ग्राहकमित्येतावतैव बाह्यार्थापेक्षया यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षमित्येतत्सिद्धमिति वाच्यं, यत आत्मस्वरूपस्यार्थस्य ग्राहकमित्येतावताप्यर्थस्य ग्राहकं भवत्येव, ततो ग्रहणेक्षयेत्यनेन ये योगाचारादयो बहिरर्थकलाकलनविकलं सकलमपि ज्ञानं प्रलपन्ति तान्निरस्यति । स्वांशग्रहणे ह्यन्तःसंवेदनं यथा व्याप्रियते तथा बहिरर्थग्रहणेऽपि, इतरथा बहिरर्थग्रहणाभावे सर्वप्रमातृणामेकसदृशो नीलादिप्रतिभासो नियतदेशतया न स्यात् । अस्ति च स सर्वेषां नियतदेशतया, ततोऽर्थोऽस्तीत्यवसीयते । अथ चिद्रूपस्यैव तथा तया प्रतिभासनान्न बहिरर्थग्रहणमिति चेत्; तर्हि बहिरर्थवत् स्वज्ञानसंतानादन्यानि संतानान्तराण्यपि[3] विशीर्येरन् । अथ संतानान्तरसाधकमनुमानमस्ति,[4] तथाहि—विवक्षितदेवदत्तादेरन्यत्र यज्ञदत्तादौ व्यापारव्याहारौ बुद्धिपूर्वकौ व्यापारव्याहारत्वात्, संप्रतिपन्नव्यापारव्याहार-

§ ३५२. **विज्ञानाद्वैतवादी**—अहो, जैनियो, अर्थ का तात्पर्य ज्ञानके अपने स्वरूप तक ही सीमित रखना चाहिए, उसे बाह्य घटपटादि पदार्थों तक नहीं ले जाना चाहिए । अर्थ शब्दसे बाह्य घटपट आदिका तात्पर्य आपने कहाँ से निकाल लिया ? ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य अर्थ को तो सत्ता ही नहीं है । ज्ञान ही एकमात्र परमार्थसत् है, वही अविद्यावासना के विचित्र विपाकसे नीलपीत आदि अनेक पदार्थोंके आकारमें प्रतिभासित होने लगता है । इसलिए अर्थग्राहक पदका अर्थ 'ज्ञानका मात्र अपने स्वरूपका ग्रहण करना' इतना ही करना चाहिए ।

समाधान—अर्थग्राहक पदके साथ 'ग्रहणेक्षया' पदका भी सम्बन्ध लगा लेना चाहिए । 'ग्रहणेक्षया' पद खासकर बाह्य अर्थका लोप करनेवाले योगाचार आदि का निराकरण करनेके लिए ही दिया गया है । ग्रहणेक्षया—ज्ञानसे भिन्न सत्ता रखनेवाले बाह्य घटपटादि पदार्थोंके संवेदनको 'ग्रहण' कहते हैं, इस बाह्यपदार्थके ग्रहणकी ईक्षा—अपेक्षा करके अर्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।

शंका—जब अर्थग्राहक पदसे ही 'बाह्य अर्थकी अपेक्षा अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' इतना मतलब निकल आता है तब 'ग्रहणेक्षया' पद व्यर्थ ही है ।

पृ० २ । तर्कभा० पृ० ५ । "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।" —सांख्यका० ५ । "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" —योगद० व्यासभा० पृ० २७ । "यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।" सांख्यद० १।८९ । "सत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।" —मीमां० द० १। १।४ । "साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम् ।" —प्रकरणप० पृ० ५१ । "तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । प्रत्यक्षप्रम । चात्र चैतन्यभेद (पृ० १२) तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याऽभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् ।" —वेदान्तपरि० पृ० २६ । "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थान् संनिकर्षान् प्रवर्त्तते । व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ।" —चरकसं० ११।२० । १. इति पदम् म० २ । २. ग्राहकं भवत्येव म० २ । ३. -राणि च वि-म० २ । ४. "बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वलेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । मन्यते बुद्धिसद्भावः सा न येषुन तेषु धीः ॥" —सन्तान० सि० श्लो० १ । त० वा० पृ० २६ ।

वदिति । संतानान्तरसाधकमनुमानं स्वस्मिन् व्यापारव्याहारयोर्ज्ञानिकार्यत्वेन प्रतिबन्धनिश्चयादिति चेत्, न, एतस्यानुमानस्यार्थस्येव स्वप्नदृष्टान्तेन भ्रान्तताप्तेः, तथाहि—सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवदिति, [1]तदभिप्रायेण यथा बहिरर्थग्रहणस्य निरालम्बनतया बाह्यार्थाभावस्तथा संतानान्तरसाधनस्यापि निरालम्बनतया [2]संतानान्तराभावः स्यादिति । 'इतरज्ज्ञेयं परोक्षं' प्रागुक्तात् प्रत्यक्षादितरत्–अस्पष्टतयार्थस्य स्वपरस्य ग्राहकं–निर्णायकं परोक्षं ज्ञेयम्–अवगन्तव्यम् । परोक्षमप्येतत् स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षमेव बहिरर्थापेक्षया तु परोक्षव्यवहारमनुते इति दर्शयन्नाह 'ग्रहणेक्षया' इति । इह ग्रहणं प्रस्तावादपरोक्षे बाह्यार्थे ज्ञानस्य प्रवर्तनमुच्यते न तु स्वस्य

समाधान—अर्थग्राहक पदका तो 'अपने स्वरूपमात्रका ग्राहक' यह भी अर्थ होता है, अभी विज्ञानवादियोंने ही अर्थग्राहक पदका 'स्वरूपमात्रका ग्राहक' यह तात्पर्य निकालकर प्रत्यक्षका मात्र स्वरूपग्राहक कहा था। अतः 'ग्रहणेक्षया' पदसे जो योगाचार आदि समस्त ज्ञानोंको बाह्य अर्थके निश्चायक न कहकर केवल स्वरूपमात्रके ग्राहक मानते हैं, उनका निराकरण हो जाता है। जिस प्रकार अन्तःसंवेदन अपने स्वरूपको जाननेमें व्यापार करता है उसी तरह वह बाह्य घट पटादि पदार्थोंको भी जानता है। यदि ज्ञान बाह्य पदार्थोंको न जानकर मात्र स्वरूपका ही प्रकाशक हो; तो सभी प्राणियोंको नियत बाह्यदेशमें नीलादि पदार्थोंका एक सरीखा प्रतिभास नहीं हो सकेगा। ज्ञानवादियोंके मतसे अपने-अपने ज्ञानका ही नील आदि आकारोंमें प्रतिभास होता है, सो वे ज्ञानरूप नीलादि बाहर नहीं दिखाई देने चाहिए तथा सब प्राणियोंको साधारणरूपसे उनका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए ज्ञानका आकार तो स्वसंवेद्य होता है, साधारण जनसंवेद्य नहीं। परन्तु नीलादि पदार्थ निश्चित बाह्यप्रदेशमें सबको साधारणरूपसे ही प्रतिभासित होते हैं। अतः बाह्यनीलादि पदार्थोंकी सत्ता अवश्य ही माननी चाहिए।

विज्ञानवादी—ज्ञान ही अनादि वासनाओंके विचित्र विपाकसे उन-उन नीलादिरूपोंमें बाह्यदेशमें भासित होता है, बाह्य अर्थ तो कोई है ही नहीं, अतः उसका ग्रहण करनेवाला कोई ज्ञान भी नहीं है।

जैन—यदि बाह्यार्थ कोई वास्तविक नहीं है किन्तु ज्ञान ही नील-पीत आदि अनेक आकारों में अपनी छटा दिखाता है; तब अपनी ज्ञानसन्तानके सिवाय अन्य ज्ञान सन्तानें, जिन्हें सन्तानान्तर या आत्मान्तर भी कहते हैं, भी नहीं माननी चाहिए। वही एक स्वज्ञानसन्तान ही विचित्र वासनाके कारण नीलादि बाह्यपदार्थ रूप तथा सन्तानान्तर रूपसे प्रतिभासित होती रहेगी अन्य ज्ञानसन्तान मानना निरर्थक है।

विज्ञानवादी—ज्ञानकी अनेक सन्तानोंको सिद्ध करनेवाला अनुमान मौजूद है। जैसे—देवदत्तकी ज्ञान सन्तानसे भिन्न यज्ञदत्त आदिकी ज्ञानसन्तानोंमें होनेवाली वचन-व्यवहार या प्रवृत्तियाँ बुद्धिपूर्वक हैं क्योंकि वे वचन व्यवहार तथा प्रवृत्तियाँ हैं, जैसे कि खुद अपनी ज्ञानसन्तानमें होनेवाली बुद्धिपूर्वक वचन तथा प्रवृत्तियाँ। हम अपनी ज्ञानसन्तानमें ही वचन तथा अन्य प्रवृत्तियोंका ज्ञानके साथ कारणकार्यभाव ग्रहण करते हैं—हममें ज्ञान है अतः अच्छी तरह बोलते हैं तथा अन्य भोजन आदि प्रवृत्तियाँ चलाते हैं। उसी तरह यज्ञदत्त आदि भी बोलते तथा भोजन आदिमें प्रवृत्ति करते हैं अतः उनकी ये प्रवृत्तियाँ ही उन्हें स्वतन्त्र ज्ञानसन्तान सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं।

---

१. "अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः।" —प्रमाणवार्तिकालं० ३।३३१। २. -नान्तरभावः म० २।

ग्रहणं, 'स्वग्रहणापेक्षया हि स्पष्टत्वेन सर्वेषामेव ज्ञानानां प्रत्यक्षतया व्यवच्छेद्याभावाद्विशेषण-वैयर्थ्यं स्यात्, ततो ग्रहणस्य बहिःप्रवर्तनस्य[1] या ईक्षा-अपेक्षा [2]तया, बहिःप्रवृत्तिपर्यालोचनयेति यावत् । तदयमत्रार्थः—परोक्षं यद्यपि स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षं, तथापि लिङ्गशब्दाविहारेण बाह्यविषयग्रहणेऽसाक्षात्कारितया व्याप्रियत[3] इति परोक्षमित्युच्यते ॥५६॥

जैन—आप नीलादि बाह्यपदार्थोंके ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष-ज्ञानको भ्रान्त कहते हो। आपका यह प्रसिद्ध अनुमान है कि—'संसारके समस्त प्रत्यय निरालम्बन हैं—उनका कोई बाह्य-पदार्थ विषय नहीं है, वे केवल स्वरूपमात्रको विषय करते हैं—क्योंकि वे प्रत्यय हैं। जो-जो प्रत्यय हैं वे सब निरालम्बन—निर्विषयक हैं जैसे कि स्वप्नप्रत्यय। जिस प्रकार स्वप्नमें घट-पट आदि पदार्थोंका अस्तित्व न होनेपर भी सैकड़ों घट-पट आदि पदार्थोंका साक्षात् नियतरूपमें प्रतिभास होता है उसी तरह यह जगत् भी एक दीर्घस्वप्न है, इसमें इन घट-पटादि पदार्थोंकी कोई सत्ता नहीं है मात्र ज्ञान ही इन सब रूपोंमें प्रतिभासित होता है, अतः जिस तरह आप स्वप्नका दृष्टान्त देकर नीलादि प्रत्ययोंको भ्रान्त बनाकर बाह्यनीलादि पदार्थोंका अभाव करते हो उसी तरह यह सन्तानान्तरका साधक अनुमान भी तो प्रत्यय ही है अतः यह भी स्वप्नके ही दृष्टान्तसे भ्रान्त हो जायेगा और फिर इससे सन्तानान्तरकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। सन्तानान्तर-साधक अनुमान भी स्वप्नप्रत्ययकी तरह निरालम्बन—निर्विषयक होगा अतः सन्तानान्तरका भी अभाव ही हो जायेगा। परन्तु सन्तानान्तरका अभाव किसी भी तरह मानना उचित नहीं है; क्योंकि गुरु-शिष्यवादी प्रति-वादी आदिके रूपसे अनेकों ज्ञान-सन्तानें प्रत्यक्षसे ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली अनुभव में आती हैं।

प्रत्यक्षसे भिन्न—अस्पष्ट रूपसे स्व और परका निश्चय करनेवाला ज्ञान परोक्ष है। अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष होता है। परोक्षज्ञान भी स्वसंवेदनकी अपेक्षा प्रत्यक्ष ही होते हैं; क्योंकि सभी स्वरूप संवेदी होनेके कारण स्वरूपमें प्रत्यक्ष होते हैं। आत्मामें चाहे परोक्षज्ञान उत्पन्न हो या संशयज्ञान उसके स्वरूपका प्रत्यक्ष हो ही जायेगा। यह नहीं हो सकता कि ज्ञान उत्पन्न भी हो जाये और उसका प्रत्यक्ष भी न हो, वह तो दीपककी तरह अपने स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ ही उत्पन्न होता है। अतः परोक्ष ज्ञान भी स्वरूपमें प्रत्यक्ष होता है। ये प्रत्यक्ष और परोक्ष संज्ञाएँ तो बाह्यपदार्थके स्पष्ट और अस्पष्टरूपसे जानने के कारण होती हैं। इसी बातका सूचन करनेके लिए 'ग्रहणेक्षया' पद दिया गया है। अर्थात् वह ज्ञान बाह्यपदार्थके ग्रहणकी अपेक्षासे परोक्ष है। 'ग्रहण' का मतलब इस प्रत्यक्षके प्रकरणमें 'ज्ञानका अपरोक्ष बाह्य पदार्थमें प्रवृत्ति करना' है। न कि स्वरूप मात्रका जानना। स्वरूपको जाननेकी अपेक्षा तो सभी ज्ञान स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष हैं अतः प्रत्यक्षके लक्षणमें 'अपरोक्षतया' विशेषण व्यर्थ हो हो जायेगा। यदि कोई परोक्ष रूपसे जाननेवाला ज्ञान होता तो उसकी व्यावृत्तिके लिए 'अपरोक्षतया' विशेषण सार्थक होता। इसलिए ग्रहण-बाह्यपदार्थोंमें प्रवृत्तिकी ईक्षा-अपेक्षासे पदार्थोंका अस्पष्ट रूपसे निश्चय करनेवाला ज्ञान परोक्ष है। ग्रहणेक्षाका सीधा अर्थ है बाह्यपदार्थोंमें प्रवृत्तिका विचार या अपेक्षा। यद्यपि स्वसंवेदन की अपेक्षा परोक्ष भी स्पष्ट होनेसे प्रत्यक्ष है फिर भी वह बाह्यपदार्थोंके हेतु या शब्द आदिके द्वारा अस्पष्ट रूपसे जानता है अतः परोक्ष कहलाता है। परोक्षता बाह्य अर्थकी अपेक्षासे ही है।

१. स्वस्य ग्रहणा-म० २। २. -स्येक्षा म० २। ३. तयोर्बहिः-म० २। ४. -ते परो- म० २।

§ ३५३. अथ प्रागुक्तामेव वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकतां द्रढयन्नाह–

येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं[1] यत्तत्सदिष्यते ।
अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः ॥५७॥

§३५४. व्याख्या—येनेति शब्दोऽग्रे व्याख्यास्यते । वाक्यस्य सावधारणत्वात् यदेव वस्तूत्पाद-व्ययध्रौव्यैः समुदितंयुक्त तदेव सद्विद्यमानमिष्यते । उत्पत्तिविनाशस्थितियोग एव सतो वस्तुनो लक्षणमित्यर्थः ।

§ ३५५. ननु पूर्वमसतो भावस्योत्पादव्ययध्रौव्ययोगाद्यदि पश्चात्सत्त्वम्; तर्हि शशशृङ्गादेरपि तद्योगात्सत्त्वं स्यात् । पूर्वं सतश्चेत्; तदा स्वरूपसत्त्वमायातं किमुत्पादादिभिः कल्पितैः । तथोत्पाद-व्ययध्रौव्याणामपि यद्यन्योत्पादादित्रययोगात्सत्त्वम्; तदानवस्थाप्रसक्तिः । स्वतश्चेत्सत्त्वम्; तदा भावस्यापि स्वत एव तद्भविष्यतीति व्यर्थमुत्पादादिकल्पनमिति चेत् । उच्यते न हि भिन्नोत्पादव्यय-ध्रौव्ययोगाद्भावस्य सत्त्वमभ्युपगम्यते, किं तूत्पादव्ययध्रौव्ययोगात्मकमेव सदिति स्वीक्रियते[2] । तथाहि—उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा, परिस्फुटमन्वयदर्शनात् ।

---

§ ३५३. अब पहले कही गयी वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताको और भी प्रमाणोंसे दृढ़ करते हैं–

जिस कारणसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली ही वस्तु सत् होती है इसीलिए पहले अनन्त-धर्मात्मक पदार्थको प्रमाणका विषय बताया है ॥ ५७ ॥

§ ३५४. 'येन' शब्दका व्याख्यान आगे किया जायगा । सभी वाक्य सावधारण—निश्चयात्मक होते हैं, अतः जो ही वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त होगी वही सत्-विद्यमान कही जा सकती है । उत्पत्ति, विनाश और स्थितिका पाया जाना ही सत् वस्तु का लक्षण है । जिसमें ये तीनों धर्म पाये जायें वही वस्तु सत् कही जा सकती है ।

§ ३५५. **शंका**—जो पदार्थ पहले असत् हैं वे यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके सम्बन्धसे सत् हो जाते हों; तो खरगोशके सींग आदि असत् पदार्थोंकी भी उत्पादादिके सम्बन्धसे सत्ता हो जानी चाहिए । यदि पहले सत् पदार्थोंमें ही उत्पादादिका सम्बन्ध होता हो; तो इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादादिके सम्बन्धसे पहले भी वे पदार्थ स्वरूपसे सत् थे, और यदि वे पदार्थ स्वरूपसे ही सत् हैं तब उनमें उत्पादादिका सम्बन्ध मानकर सत्ता लाना निरर्थक ही है । जिस तरह पदार्थोंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे सत्ता आती है, उसी तरह यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमें अन्य उत्पादादिसे सत्ता आवे और उनमें भी अन्यसे तो अनवस्था दूषण होगा । यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अन्य उत्पादादिकी अपेक्षा किये विना स्वतः ही सत् हैं; तो समस्त पदार्थ भी उसी तरह स्वतः ही सत् हो जायँगे, उनमें भी उत्पादादिसे सत्त्वकी कल्पना निरर्थक ही है ।

समाधान—हम लोग 'पदार्थ स्वतन्त्र हो, तथा उत्पादादि भी स्वतन्त्र हों, और उनका सम्बन्ध होनेसे थैलीमें रुपयोंकी तरह सत्ता आ जाती हो' ऐसा भेद नहीं मानते । किन्तु हमारा तो अभिप्राय यह है कि—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंका तादात्म्य ही वस्तु है और वही सत् है उत्पादादि पृथक् तथा वस्तु पृथक् नहीं हैं । जैसे, पृथिवी पहाड़ वृक्ष आदि सभी पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे न तो उत्पन्न ही होते हैं और न विनष्ट ही, क्योंकि उनमें पुद्गल द्रव्यका परिस्फुट निर्बाध अन्वय देखा जाता है । यह एक निर्बाध सिद्धान्त है कि—किसी भी असत् द्रव्यकी उत्पत्ति

---

१. "उपन्ने वा विगए वा धुवे वा ।" —स्था० स्था० १० । "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।" —तत्त्व० सू० ५।३० । २. –गाच्छक्तित्वम् म० २ । ३. "न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् । व्येत्युदेति विशेषास्ते सहैकत्रोदयादि सत् ।" —आप्तमी० श्लो० ५७ । ४. –स्फुटान्वय——आ०, क० ।

§ ३५६. लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानत्वात् ।

"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणं क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्[1] ॥" [ ] इति वचनात् ।

§ ३५७. ततो द्रव्यात्मना सर्वस्य वस्तुनः स्थितिरेव, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते[2] वा, अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात्, न खलु सोऽस्खलद्रूपो, येन पूर्वाकारविनाशोऽजहद्वृत्तोत्तराकारोपादानाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् ।

नहीं होती और न सत्का अत्यन्त नाश ही होता है हाँ रूपान्तर अवश्य होता रहता है। अतः किसी भी द्रव्यकी उत्पत्ति और नाश तो हो ही नहीं सकता।

§ ३५६. **शंका**—देखो, बाल बनवाते समय नख और बालोंको कटवाकर फेंक दिया है, उनकी जगह नये ही बाल तथा नाखून निकले हैं। इस तरह बालोंका उत्पाद और विनाश स्पष्ट ही अनुभव सिद्ध है। परन्तु 'ये वही बाल हैं ये वही नाखून हैं' इस प्रकार अन्वय यहाँ भी देखा जाता है अतः अन्वयके बलपर उत्पाद और व्ययका निषेध करना उचित नहीं है।

समाधान—आपको हमारे हेतुपर ध्यान देना चाहिए। हमने 'परिस्फुट अन्वय' को हेतु बनाया है। जो अन्वय किसी भी प्रमाणसे बाधित न हो वह 'अन्वय परिस्फुट' कहलाता है और जिसमें बाधा आ जाती है वह तो अपरिस्फुट ही है। कटकर फिरसे उगे हुए बाल या नखोंका अन्वय प्रमाणसे बाधित है। वहाँ तो सदृश बालों और नखोंमें 'यह वही है' ऐसा एकत्व भान करनेवाला झूठा अन्वय है। पर पृथिवी आदिमें द्रव्यरूपसे पाया जानेवाला अन्वय किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं है। सत्य प्रत्यभिज्ञानके द्वारा 'यह वही पुद्गल है' इत्यादि अन्वय निर्बाध रूपसे अनुभवमें आते हैं। कहा भी है—"सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे हैं वे जो पहले समयमें थे तो दूसरे समयमें नहीं रहते। यह प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी सर्वथा भेद या विनाश नहीं होता। उपचय और अपचय होनेपर भी आकृति जाति या द्रव्यकी सत्ता बनी रहती है।"

§ ३५७. अतः द्रव्यदृष्टिसे समस्त वस्तुओं की स्थिति ही है। पर्यायकी दृष्टिसे वस्तु उत्पन्न भी होती है तथा नष्ट भी। क्योंकि पदार्थकी पर्याय—परिवर्तन निर्बाधरूपसे अनुभवमें आता है। हमारा हेतु सफेद शंखमें पीले रंगकी पर्यायको जाननेवाले भ्रान्त पीतशंखज्ञानसे व्यभिचारी नहीं है; क्योंकि शुक्लशंखमें पीली पर्यायका अनुभव तो भ्रान्त है बाधित है। इसीलिए हमने हेतुमें 'अस्खलत्—निर्बाध' विशेषण दिया है। शुक्लशंखमें पीले रंगका अनुभव अभ्रान्त नहीं है जिससे वह भी पूर्वपर्यायका विनाश उत्तरपर्यायका उत्पाद तथा दोनोंमें पायी जानेवाली कभी भी नहीं टूटनेवाली स्थिति रूप परिणामसे अविनाभाव रख सके। जीव आदि पदार्थोंमें सुख दुःख उदासीनता आदि पर्यायों का—परिवर्तनोंका अनुभव भ्रान्त नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पदार्थों का प्रतिक्षण होने वाला परिवर्तन सभीके अनुभवमें आता है, उसमें कोई भी प्रमाण बाधक नहीं है। जो आदमी अभी खुशहाल है वही एकक्षणमें दुःखी तथा दूसरे क्षणमें फिर सुखी देखा जाता है। घटादि पदार्थोंका परिवर्तन तो नयेसे पुराना और पुरानेसे जीर्ण होनेसे प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

---

१. उद्धृतेयम्—अनेकान्तवादप्र० पृ० ५१। २. -वंस्त्य-म० २। ३. -पर्यया-म० २।

§ ३५८. ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते, न वा। यदि भिद्यन्ते; [1]कथमेकं त्र्यात्मकम्। न भिद्यन्ते चेत्, तथापि कथमेकं त्र्यात्मकमिति चेत्; तदयुक्तम्; कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथंचिद्भेदाभ्युपगमात्। तथाहि—उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवत्। न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्; असत आत्मलाभ उत्पादः, सतः सत्तावियोगो विनाशः, द्रव्यरूपतयानुवर्तनं ध्रौव्यम्, इत्येवमसंकीर्णलक्षणानां तेषां सर्वैः प्रतीतेः। न चामी परस्परानपेक्षत्वेन भिन्ना एव, [3]परस्परानपेक्षाणां खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः। तथाहि—उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत्। तथा विनाशः केवलो नास्ति, [4]स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, [5]तद्वत्, एवं स्थितिरपि केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव, इत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। तथा च कथं [6]नैकं त्र्यात्मकम्। तथा चोक्तम्—

§ ३५८. शंका—ये उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य तीनों ही परस्पर भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र पदार्थ हैं तो एक वस्तुमें कैसे रह सकते हैं? यदि ये परस्पर भिन्न नहीं हैं अर्थात् एक हैं तब भी एक वस्तुमें तीन धर्म कहाँ रहे? ये तीनों मिलकर जब एक ही हो गये तब एकधर्मवाली ही वस्तु हुई त्रयात्मक नहीं।

समाधान—इन उत्पाद आदिके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं अतः इनमें कथंचिद् भेद है। ये कभी भी वस्तुसे भिन्न या परस्पर भिन्न उपलब्ध नहीं होते, एक वस्तुके उत्पाद आदिको दूसरी वस्तुमें नहीं ले जा सकते अतः ये अभिन्न हैं। उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं क्योंकि इनके लक्षण ही भिन्न-भिन्न हैं। जैसे रूप रस आदिके लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे उनमें परस्पर भेद है उसी तरह लक्षण भेदसे उत्पाद, विनाश और ध्रौव्यमें भी भेद है। उत्पाद, विनाश आदिका लक्षणभेद असिद्ध नहीं है; क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न ही लक्षण हैं। जो पदार्थ पहले नहीं है असत् है उसके स्वरूपलाभ हो जानेको उत्पाद कहते हैं। मौजूद पदार्थकी सत्ताका च्युत हो जाना—उसकी सत्ताका वियोग होना विनाश है। इन उत्पाद और विनाशके होते हुए भी द्रव्यरूपसे अन्वय रहना ध्रौव्य है। इस तरह उत्पादादिके असाधारण लक्षण सभीके अनुभवमें आते हैं। ये उत्पादादि लक्षणभेदसे कथंचिद् भिन्न होकर भी परस्पर सापेक्ष हैं एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं। ये परस्पर निरपेक्ष होकर अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। यदि ये परस्पर निरपेक्ष तथा अत्यन्त भिन्न हो जायेंगे तो इनका गधेके सींगकी ही तरह अभाव हो जायगा। जैसे अकेला उत्पाद सत् नहीं है क्योंकि वह स्थिति और विनाशसे रहित है जैसे कि कछवेके रोम। अकेला विनाश सत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह उत्पत्ति और स्थितिसे रहित है जैसे कि कछवेके रोम। स्थिति अकेली सत् नहीं है क्योंकि वह उत्पाद और विनाशसे रहित है जैसे कि कछवेके रोम। इस तरह परस्पर सापेक्ष ही

---

१. कथमेकात्मक–आ०। २. –द्रव्ययभौ–म० २। ३. "उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव। तथा हि—उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वाद्विषत्कुसुमवत् तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ।" —अष्टश० अष्टसह० पृ० २११। ४. स्थित्युत्पादरहि–म० २। ५. नैकमात्मकम् म० २, आ०। "द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या""सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः, आकृतिरन्या अन्या न भवति द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।"—पात० महाभा० १।१।१। योगभा० ४।१३। "वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥२१॥ हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥२२॥ न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्। स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥२३॥" —मी० श्लो० पृ० ६१९।

"प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते
पुत्रः प्रीतिमुवाह काप्यपि नृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ।
पूर्वाकारपरिक्षयस्तदपराकारोदयस्तद्द्वया-
धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात् ॥"
घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वलम् [ष्वयम्] ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।
पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥" [आप्तमी० श्लो० ५९-६०]

परो हि वादीदं प्रष्टव्यः । यदा घटो विनश्यति तदा किं देशेन विनश्यति, आहोस्वित्सामस्त्येनेति ।

उत्पादादि सत् हो सकते हैं तथा वस्तुमें भी इनको परस्पर सापेक्ष ही सत्ता है । बात यह है कि उत्पाद विनाश और स्थिति इन तीनोंसे युक्त ही वस्तु सत् होती है । यदि उत्पाद आदि विनाश आदि धर्मोंसे रहित हो जायें तो वे सत् ही नहीं हो सकते । इस तरह उत्पाद आदिको परस्पर सापेक्ष होनेसे वस्तु त्रयात्मक सिद्ध हो जाती है । कहा भी है—"एक राजाने सोनेके कलशको तुड़वाकर मुकुट बनवाने का विचार किया । सुनार कलशको तोड़कर मुकुट बनाने लगा तो राजकुमारोंको उसके पानी भरनेके घड़ेके टूट जानेसे शोक हुआ, राजकुमारको लगानेके लिए मुकुट बन रहा था, सो वह किसी अनिर्वचनीय खुशीके मारे उछला फिरता था, राजा कलश और मुकुट दोनों अवस्थाओंमें सोनेकी सत्ता रखनेके कारण मध्यस्थ था । उसे तो सोनेकी सत्तासे ही प्रयोजन था । इस तरह राजकुमारी, युवराज तथा राजाको तीन प्रकारके भाव सोनेके कलश आकारके विनाश, मुकुट आकारके उत्पाद तथा सोनेकी दोनों अवस्थाओंमें स्थिति रखनेके कारण ही हुए हैं । इस प्रकार वस्तुमें उत्पाद, विनाश और स्थिति रूप तीन धर्म होनेसे वह त्रयात्मक है ।" 'एक सुनार सोनेके घड़ेको गलाकर मुकुट बना रहा था । कलश खरीदनेवाला कलशका विनाश देखकर दुःखी हुआ, जिसे मुकुट खरीदना था उसको खुशीका पार नहीं रहा और जिसे सोना खरीदना था वह हर हालतमें सोनेकी स्थिति देखकर मध्यस्थ हुआ न उसे रंज ही हुआ और न खुशी हो । इस तरह विभिन्न व्यक्तियोंको एक ही साथ तीन प्रकारके भाव घट-नाश, मुकुट-उत्पाद और सुवर्ण-स्थितिके बिना नहीं हो सकते अतः वस्तु त्रयात्मक सिद्ध होती है ।" जिस व्रतीने आज केवल 'दूध ही पीऊँगा' ऐसा पयोव्रत किया है वह व्रती दही नहीं खाता । यदि दही अवस्थामें दूधका विनाश नहीं हुआ तो उस पयोव्रतीको दही भी खा लेना चाहिए; क्योंकि दही अवस्थामें भी दूध मौजूद है उसका नाश नहीं हुआ । पर वह दही नहीं खाता अतः यह मानना ही चाहिए कि दही जमते समय दूध नष्ट हो जाता है । जिस व्रतीने 'आज मैं केवल दही ही खाऊँगा' यह दधिव्रत लिया है वह दूध नहीं पीता । यदि दूधमें दही नामकी नयी अवस्थाका उत्पाद नहीं होता है और दूधका नाम ही दही हो तब दधिव्रतीको दूध भी पी लेना चाहिए; क्योंकि उसमें किसी नये दहीके उत्पाद होनेकी तो आशा ही नहीं है । पर दधिव्रती दूध नहीं पीता, अतः यह मानना ही चाहिए कि दूधसे उत्पन्न होनेवाला दही भिन्न वस्तु है, और दहीका उत्पाद होता है । जिस व्रतीने 'आज मुझे गोरस—गायके दूधसे बनी हुई दूध दही आदि—नहीं खाना है' ऐसा अगोरस व्रत लिया है वह दूध और दही दोनोंको नहीं खाता । क्योंकि गोरसकी सत्ता तो दूधकी तरह दहीमें भी है । यदि गोरस नामकी एक अनुस्यूत वस्तु दूध और दहीमें न हो तो उसे दोनों ही खा लेने चाहिए । पर वह दोनोंका ही त्याग करता है अतः गोरसकी दोनोंमें स्थिति माननी ही चाहिए । इस तरह वस्तु उत्पादादि तीन धर्मवाली सिद्ध हो जाती है ।"

§ ३५९. यदि देशेनेति पक्षः; तदा [1]घटस्यैकदेश एव विनश्येत् न तु सर्वः, सर्वश्च स विनष्टस्तदा प्रतीयते, न पुनर्घटस्यैकदेशो भग्न इति प्रतीतिः कस्यापि स्यात्, अतो न देशेनेति पक्षः कक्षीकाराहः । सामस्त्येन विनश्यतीति पक्षोऽपि न; [2]यदि हि सामस्त्येन घटो विनश्येत्, तदा घटे विनष्टे कपालानां मृद्रूपस्य च प्रतीतिर्न स्यात्, घटस्य सर्वात्मना विनष्टत्वात् । न च तदा कपालानि मृद्रूपं च न प्रतीयन्ते, मार्दान्येतानि कपालानि न पुनः सौवर्णानीति प्रतीतेः, अतः सामस्त्येनेत्यपि पक्षो न युक्तः । ततो बलादेवेदं प्रतिपत्तव्यं घटो घटात्मना विनश्यति कपालात्मनोत्पद्यते मृद्द्रव्यात्मना तु ध्रुव इति ।

तथा घटो यदोत्पद्यते, तदा किं देशेनोत्पद्यते, सामस्त्येन वा ? इत्यपि परः प्रष्टव्योऽस्ति । यदि देशेनेति वक्ष्यति; तदा घटो देशेनैवोत्पन्नः प्रतीयेत न पुनः पूर्ण इति । प्रतीयते च घटः पूर्ण उत्पन्न इति । ततो देशेनेति पक्षो न क्षोदक्षमः । नापि सामस्त्येनेति पक्षः । यदि सामस्त्येनोत्पन्नः स्यात्, ततो मृदः प्रतीतिस्तदानीं न स्यात्, न च सा नास्ति, मार्दोऽयं न पुनः सौवर्ण इत्येवमपि प्रतीतेः । [3]ततो घटो यदोत्पद्यते तदा स घटात्मनोत्पद्यते मृत्पिण्डात्मना विनश्यति मृदात्मना च ध्रुव इति बलादभ्युपगन्तव्यं स्यात् ।

---

§ ३५९. यदि वस्तु त्रयात्मक नहीं है, तो उन न माननेवाले प्रतिवादियोंसे पूछना चाहिए कि—जब घड़ा नष्ट होता है तब वह एकदेशसे कुछ नष्ट होता है या सर्वदेशसे पूराका पूरा? यदि घड़ा एक देशसे नष्ट होता है; तो पूरे घड़ेका नाश न होकर उसके एकदेशका ही नाश होना चाहिए। पर हम तो घड़ेको समूचाका समूचा पूरा ही नष्ट हुआ पाते हैं। ऐसा तो कोई भी नहीं कहता कि—'घड़ेका एक हिस्सा फूटा है ।' इसलिए घड़ेका एक देशसे नाश मानना तो उचित नहीं है । यदि घड़ा पूरा ही सर्वदेशसे नष्ट होता है; तो घड़ेके नाश होनेपर मिट्टी और खपरियाँ नहीं मिलनी चाहिए; क्योंकि आप तो घड़ेका पूरे रूपसे अर्थात् मिट्टी और खपरियों आदिके साथ ही साथ सर्वात्मना नाश मानते हैं । पर घड़ेके नष्ट होते ही मिट्टी और खपरियाँ वहाँ पड़ी हुई मिलती ही हैं । उस समय देखनेवाले कहते हैं कि 'ये मिट्टीकी खपरियाँ हैं न कि सुवर्णकी ।' इसलिए जब घड़ेके नाश होनेपर मिट्टी और खपरियोंका नाश नहीं होता तब घड़ेका सर्वात्मना पूरे रूपसे नाश मानना भी समुचित नहीं है । अन्तमें अनन्यगतिक हो—और कोई तीसरा रास्ता न मिलनेके कारण आपको यह मानना ही होगा कि—'घड़ा घटरूप पर्यायकी दृष्टिसे नष्ट होता है उससे खपरियाँ उत्पन्न होती हैं । तथा मिट्टी ज्योंकी त्यों स्थिर रहती है ।' मिट्टी पहले भी थी अब भी है उसकी घटपर्याय नष्ट हुई तथा खपरियाँ उत्पन्न हुई हैं । इसी तरह हम पूछेंगे कि जब घड़ा उत्पन्न होता है तब वह एक देश से कुछ उत्पन्न होता है या सर्वदेशसे पूराका पूरा ? यदि एक देशसे उत्पन्न होता है; तो उसका कुछ हिस्सा ही उत्पन्न होना चाहिए पूरा घड़ा नहीं । परन्तु घड़ा तो समूचा उत्पन्न होता है यह सर्वलोक प्रसिद्ध है । इसलिए एक देशसे घड़ेकी उत्पत्तिभावना तो उचित नहीं है । यदि पूरे रूपसे उत्पन्न होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी मिट्टी भी उत्पन्न होती है; परन्तु यदि मिट्टीके साथ ही साथ घड़ा पूरे रूपसे उत्पन्न होवे, तो उस मिट्टीकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए । 'उस समय वह मिट्टी नहीं है' यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'यह मिट्टीका घड़ा है न कि सुवर्णका' यह प्रतीति सभी प्राणियोंको होती है । अतः घड़ा जब उत्पन्न होता है तब 'वह घड़ेकी पर्यायमें उत्पन्न होता है मिट्टीके पिण्ड रूपसे नष्ट होता है तथा मिट्टी द्रव्यके रूपमें ध्रुव-स्थिर रहता है' यह मानना ही पड़ेगा । इस त्रयात्मकताके बिना व्यवहार चल ही नहीं सकता ।

---

१. इति कस्यापि प्रतीतिः स्यात् म० २ । २. यदि सा म० २ । ३. ततो यदा घट उत्प–म० २ ।

§ ३६०. यथा हि वस्तु सर्वैः प्रतीयते तथा चेष्टाभ्युपगम्यते, तदा सर्ववस्तुव्यवस्था कदापि न भवेत्। अतो यथाप्रतीत्यैव वस्त्वभ्युपेयमिति। अत एव यद्वस्तु नष्टं तदेव नश्यति नङ्क्ष्यति च कथंचित्, यदुत्पन्नं तदेवोत्पद्यत उत्पत्स्ये च कथंचित्, यदेवं स्थितं तदेव तिष्ठति स्थास्यति च कथंचित्। तथा यदेव केनचिद्रूपेण नष्टं तदेव केनचिद्रूपेणोत्पन्नं केनचिद्रूपेण स्थितं च, एवं यदेव नश्यति तदेवोत्पद्यते तिष्ठति च, यदेव नङ्क्ष्यति तदेवोत्पत्स्यते स्थास्यति चेत्यादि सर्वमुपपन्नम्। अन्तर्बहिश्च सर्वस्य वस्तुनः सर्वदोत्पादादित्रयात्मकस्यैवाबाधिताध्यक्षेणानुभूयमानत्वात्, अनुभूयमाने च वस्तुनः स्वरूपे विरोधासिद्धेः, अन्यथा वस्तुनो रूपरसादिष्वपि विरोधप्रसक्तेः। प्रयोगश्चात्रायम्—सर्वं वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं, सत्त्वात्, यदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं न भवति तत्सदपि न भवति, यथा खरविषाणम्, तथा चेदम्, तस्मात्तथेति केवलव्यतिरेकानुमानम्। अनेन च सल्लक्षणेन नैयायिकादिपरिकल्पितः सत्ता[1]योगः सत्त्वं बौद्धाभिमतं[2] चार्थक्रियालक्षणं सत्त्वं द्वे अपि प्रतिक्षिप्ते द्रष्टव्ये। तन्निरासप्रकारश्च ग्रन्थान्तरादवसातव्यः।

§ ३६०. जैसी वस्तु सर्वसाधारणके अनुभवमें आती है यदि वैसी न मानी जाय तथा स्वेच्छासे उसमें अप्रतीत स्वरूपकी कल्पना की जाय तो संसारकी सारी व्यवस्था ही नष्ट हो जाये, कल्पना तो जलको गरम तथा अग्निको ठण्डा माननेकी भी की जा सकती है, कल्पनापर कोई अंकुश तो है ही नहीं। अतः वस्तुको जब जिस प्रकारकी निर्बाध प्रतीति हो उस समय उसे उसी प्रकारकी माननी चाहिए। इसलिए जो वस्तु पहले नष्ट हुई थी वही आज नाशको प्राप्त कर रही है तथा आगे भी कथंचित्—पर्यायरूपसे नष्ट होगी। जो उत्पन्न हुई थी वही उत्पन्न हो रही है तथा आगे भी कथंचित्—पर्याय रूपसे उत्पन्न होगी। जो स्थिर थी वही स्थिर है तथा आगे भी द्रव्यरूपसे कथंचित् स्थिर रहेगी। जो वस्तु किसी रूपसे नष्ट हुई थी वही किसी अन्यरूपसे उत्पन्न हुई थी तथा वही किसी रूपसे स्थिर थी जो किसी रूपसे नष्ट हो रही है वही किसी अन्य रूपसे उत्पन्न हो रही है तथा किसी रूपसे स्थिर है। जो किसी रूपसे नष्ट होगी वही किसी अन्यरूपसे उत्पन्न होगी तथा किसी रूपसे स्थिर रहेगी। इत्यादि त्रिकालवर्ती वस्तुकी उत्पादादि त्रयात्मकता युक्ति सिद्ध हो जाती है। संसारकी समस्त चेतन और अचेतन वस्तुओंका सदा उत्पादादि त्रयात्मक रूपसे ही निर्बाध प्रत्यक्षसे अनुभव होता है जब वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक रूपसे अनुभवमें आ रही है तब उसमें विरोधकी शंका भी नहीं हो सकती। वस्तुका स्वरूपसे तो विरोध हो ही नहीं सकता; अन्यथा घड़ेका अपने रूप रस आदि प्रतीतिसिद्ध धर्मोंसे भी विरोध होना चाहिए।

प्रयोग—समस्त वस्तुएँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली हैं, क्योंकि वे सत् हैं। जो उत्पादादि धर्मवाली नहीं है वह सत् भी नहीं है जैसे कि गधे का सींग। चूँकि संसारकी समस्त वस्तुएँ सत् हैं अतः वे उत्पादधर्मवाली हैं। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान वस्तुको उत्पादादित्रयात्मक सिद्ध कर देता है। सत्त्वके इस उत्पादादित्रयात्मकत्व रूप लक्षणसे नैयायिक आदिके द्वारा माना गया सत्ताका सम्बन्ध रूप सत्त्वका लक्षण तथा बौद्धके द्वारा माना गया अर्थक्रिया रूप सत्त्वका लक्षण दोनों ही खंडित हो जाते हैं। क्योंकि इन लक्षणोंमें 'सत्ता सम्बन्ध सत् पदार्थमें माना जाय या असत्में' इत्यादि दूषण तथा 'अर्थक्रियामें सत्ता यदि अन्य अर्थक्रियासे मानी जाय तो अनवस्था

१. "तस्मादयमुत्पित्सुरेव विनश्यति, नश्वर एव तिष्ठति, स्थास्नुरेवोत्पद्यते, स्थितिरेवोत्पद्यते, विनाश एव तिष्ठति, उत्पत्तिरेव नश्यति, स्थितिरेव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति, विनाश एव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति, उत्पत्तिरेवोत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरमति।" —अष्टश० अष्टसह० पृ० ११२। २. "किमिदं कार्यत्वं नाम। स्वकारणसत्तासंबन्धः, तेन सत्ता कार्यमिति व्यवहारात्।" —प्रश० व्यो० पृ० १२९। ३. "अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्।" —प्र० वा० २।३।

§ ३६१. अथ येनेति शब्दो योज्यते । येन कारणेनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सविष्यते, तेन कारणेन मानयोः प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणयोर्गोचरो विषयः । अनन्तधर्माः स्वभावाः सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्ववस्तुत्वादयो यस्मिन् तदनन्तधर्मकमनन्तपर्यायात्मकमनेकान्तात्मकमिति यावत् । वस्तु—जीवाजीवादि, उक्तमन्यत्रेति । अयं भावः—अत एवोत्पादादित्रयात्मकं परमार्थसत्, तत एवानन्तधर्मात्मकं सर्वं वस्तु [3]प्रमाणविषयः, अनन्तधर्मात्मकतायामेवोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकतायाः उपपत्तेः, अन्यथा तदनुपपत्तेरिति ।

§ ३६२. अत्रानन्तधर्मात्मकस्यैवोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं युक्तियुक्ततामनुभवतीति ज्ञापनायैव भूयोऽनन्तधर्मकपदप्रयोगो न पुनः पाश्चात्यपद्योक्तेनानन्तधर्मकपदेनात्र पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयमिति । तथा च प्रयोगः—अनन्तधर्मात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्, यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमपि न भवति, यथा वियदिन्दीवरमिति व्यतिरेक्यनुमानम् । अनन्ताश्च धर्मा यथैकस्मिन् वस्तुनि भवन्ति, तथा प्रागेव दर्शितम् । धर्माश्चोत्पद्यन्ते व्ययन्ते च, [5]धर्मी च द्रव्यरूपतया[6] सदा नित्यमवतिष्ठते । धर्माणां धर्मिणश्च कथंचिदनन्यत्वेन धर्मिणः सदा सत्त्वे कालत्रयवर्तिधर्माणामपि कथंचिच्छक्तिरूपतया सदा सत्त्वं अन्यथा धर्माणामसत्त्वे [7]कथंचि-

यदि अर्थक्रिया स्वतः सत् हो तो पदार्थ भी स्वतः सत् हो जायें' इत्यादि दूषण आते हैं। इन लक्षणोंका विस्तृत खंडन अन्य ग्रन्थोंमें देख लेना चाहिए।

§ ३६१. अब श्लोकके 'येन' शब्दका सम्बन्ध मिलाते हैं—जिस कारणसे वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली मानकर सत् मानते हैं उसी कारणसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रमाणोंके विषय अनन्त धर्मवाले जीवादिपदार्थ कहे गये हैं। जिसमें अनन्त धर्म सत्त्व ज्ञेयत्व प्रमेयत्व वस्तुत्व आदि स्वभाव पाये जाते हैं वह अनन्त धर्मक अनन्त पर्यायात्मक या अनेकान्तात्मक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि—जिस कारण उत्पादादि तीन धर्मवाली ही वस्तु परमार्थसत् है इसीलिए सभी वस्तुएँ अनन्तधर्मवाली हैं और वे ही प्रमाणके विषय होती हैं। वस्तुको अनन्तधर्मवाली माननेपर ही उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घट सकते हैं। यदि वस्तु अनेक धर्मवाली न हो नित्य या क्षणिक किसी एक रूपवाली हो; तो उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नहीं बन सकते। सर्वथा नित्यमें उत्पाद और व्यय नहीं हो सकते तथा क्षणिक स्थिरता—ध्रौव्य नहीं बन सकता। नित्यत्व क्षणिकत्व आदि अनन्तधर्मवाली वस्तुमें ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता निर्बाध युक्तियोंसे सिद्ध होता है।

§ ३६२. इसी अनन्तधर्मात्मकताका उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकतासे अविनाभाव बतानेके लिए इस श्लोकमें भी 'अनन्तधर्मात्मक' पदका प्रयोग किया है। इसलिए पहलेके श्लोकमें कहे गये 'अनन्तधर्मात्मक' पदके कारण इस पदको पुनरुक्त नहीं कहना चाहिए; क्योंकि यहाँ वह उत्पादादित्रयात्मकके साथ अविनाभाव सूचनके लिए प्रयुक्त हुआ है और इसीलिए वह सार्थक है। प्रयोग—समस्त वस्तुएँ अनन्तधर्मवाली हैं क्योंकि उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते हैं। जो अनन्तधर्मवाले नहीं हैं उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी नहीं पाये जाते जैसे कि आकाशके कमलमें। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान वस्तुको निर्विवाद रूपसे अनन्तधर्मवाली सिद्ध कर देता है। जिस जिस तरह एक वस्तुमें अनन्तधर्म सिद्ध होते हैं वे प्रकार पहले बता चुके हैं। धर्म-स्वभाव-पर्याय उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं तथा धर्मी द्रव्य या स्वभाववान् पदार्थ द्रव्यरूपसे स्थिर रहता है, नित्य है। धर्म और धर्मीमें कथंचिद् अभेद है, अतः जब धर्मी सदा स्थायी है नित्य है

१. –ज्ञेयत्वस्तु –म० २ । २. –पर्याया–म० २ । ३. वस्तु विषयः म० २ । ४. –धर्मात्मकपद–आ० । ५. –मनियमिति म० २ । ६. धर्मी द्रव्य–म० २ । ७. –या नित्य–म० १, म० २, ए० १, प० २ । ८. कथंचिदभि–म० २ ।

तदभिन्नस्य धर्मिणोऽप्यसत्त्वप्रसङ्गात् ।

§ ३६३. न च धर्मिणः सकाशादेकान्तेन भिन्ना एवाभिन्ना एव वा धर्माः, तथानुपलब्धेः, कथंचित्तदभिन्नानामेव तेषां प्रतीतेश्च ।

§ ३६४. न चोत्पद्यमानविपद्यमानतत्तद्धर्मसद्भावव्यतिरेकेणापरस्य धर्मिणोऽसत्त्वमेवेति वक्तव्यं, धर्म्याधारविरहितानां केवलधर्माणामनुपलब्धेः, [1]एकधर्म्याधाराणामेव च तेषां प्रतीतेः, उत्पद्यमानविपद्यमानधर्माणामनेकत्वेऽप्येकस्य तत्तदनेकधर्मात्मकस्य द्रव्यरूपतया ध्रुवस्य धर्मिणोऽबाधिताध्यक्षगोचरस्यापह्नोतुमशक्यत्वात्, अबाधिताध्यक्षगोचरस्यापि धर्मिणोऽपह्नवे सकलधर्माणामपह्नवप्रसङ्गात् । तथा च सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति सिद्धमनन्तधर्मात्मकं वस्तु । प्रयोगश्चात्र– विवादास्पदं वस्त्वेकानेकनित्यानित्यसदसत्सामान्यविशेषाभिलाप्यनभिलाप्यादिधर्मात्मकं, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वात्, यद्यदेवास्खलत्प्रत्ययेन [2]प्रतीयमानं तत्तदेव प्रमाणगोचरतयाभ्युपगन्तव्यम् यथा घटो घटरूपतया प्रतीयमानो घटतयैव प्रमाणगोचरोऽभ्युपगम्यते न तु पटतया, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानं च वस्तु, तस्मादेकानेकाद्यात्मकं प्रमाणगोचरतयाभ्युपगन्तव्यम् ।

—

तो उससे अभिन्न कालत्रयवर्ती अनन्तधर्म भी कथंचित् शक्तिरूपसे सदा रहते हैं। यदि धर्मोंका त्रैकालिक सत्त्व न माना जाय तो धर्मीके अभावसे उससे अभिन्न धर्मोंका भी अभाव हो जायगा।

§ ३६३. धर्म न तो धर्मीसे सर्वथा अभिन्न ही हैं और न सर्वथा भिन्न ही। धर्मीसे सर्वथा भिन्न या अभिन्न धर्म किसी भी प्रमाणसे उपलब्ध नहीं होते। प्रमाण तो धर्म और धर्मीमें कथंचिद् भेद को ही ग्रहण करता है। धर्मीको छोड़कर स्वतन्त्र धर्म कहीं नहीं मिलते और न धर्मोंसे शून्य धर्मी ही। धर्मधर्म्यात्मक वस्तु ही सदा प्रमाणका विषय होती है।

§ ३६४. **बौद्ध**—उत्पन्न होनेवाले तथा विनष्ट होनेवाले धर्मोंको छोड़ कर किसी अतिरिक्त धर्मीका सद्भाव नहीं है। धर्म ही प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं तथा विनष्ट होते रहते हैं। उन धर्मोंमें रहनेवाला कोई स्थायी या अन्वय रखनेवाला धर्मी नहीं है।

जैन—धर्मीरूप आधारके बिना निराधार धर्मोंकी उपलब्धि नहीं होती। धर्म किसी न किसी आधारभूत धर्मीमें ही प्रतीत होते हैं। यद्यपि उत्पन्न तथा विनष्ट होनेवाले धर्मी अनेक—भिन्न या अनित्य हैं फिर भी उन अनेकधर्मोंका आधारभूत धर्मी द्रव्यरूपसे एक अभिन्न और नित्य है। ऐसा धर्मी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका निर्बाध रूपसे विषय होता है, उसका लोप करना असम्भव है। यदि प्रत्यक्षसिद्ध निर्बाध धर्मीका भी लोप किया जाय, तो इसी न्यायसे समस्तधर्मोंका भी लोप हो जायगा और इस तरह धर्म और धर्मी दोनोंका लोप होनेसे संसारके समस्त प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहारों का उच्छेद हो जायगा। 'घड़ा ही उत्पन्न या विनष्ट होता है' इस प्रतीतिमें उत्पाद और विनाशका आधार घटरूप धर्मी अनुभवसिद्ध है ही। इस तरह समस्त पदार्थ अनेकान्तात्मक या अनन्तधर्मवाले सिद्ध हो जाते हैं। प्रयोग—संसारके समस्त विचाराधीन पदार्थ एक अनेक नित्य अनित्य सत् असत् सामान्य विशेष वाच्य अवाच्य आदि रूपसे अनेकधर्मात्मक हैं; क्योंकि वे अनन्तधर्मात्मक रूपसे ही निर्बाध प्रतीतिके विषय होते हैं। जो पदार्थ जिस रूपसे निर्बाध प्रतीतिका विषय होता है वह उसी रूपसे प्रमाणका विषय होता है जैसे घटरूपसे निर्बाध प्रतीतिमें प्रतिभासित होनेवाला घड़ा घटरूपसे ही प्रमाणका विषय होता है न कि पटरूपसे। चूंकि नित्य अनित्य एक या अनेक आदि रूपसे ही समस्त पदार्थोंका निर्बाध प्रतिभास होता है अतः समस्त वस्तुओंको एक अनेक आदि अनेकान्तात्मक रूपसे ही प्रमाणका विषय मानना चाहिए।

---

१. धर्म्याधा–म० २। एकधर्माधा–क०। २. प्रतीयते तत्त–म० २।

§ ३६५. न चात्र स्वरूपासिद्धो हेतुः, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वस्य सर्वत्र वस्तुनि विद्यमानत्वात् । न हि [1]द्रव्यपर्यायात्मकाभ्यामेकानेकात्मकस्य[2] नित्यानित्यात्मकस्य च स्वरूपपररूपाभ्यां सदसदात्मकस्य सजातीयेभ्यो विजातीयेभ्यश्चानुवृत्तव्यावृत्तरूपाभ्यां सामान्यविशेषात्मकस्य [3]स्वपरपर्यायाणां [4]क्रमेणाभिलाप्यत्वेन युगपत्तेषामनभिलाप्यत्वेन चाभिलाप्यानभिलाप्यात्मकस्य[5] च सर्वस्य पदार्थस्यास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वं कस्यचिदसिद्धम् । तत एव न [6]संदिग्धासिद्धोऽपि, न खल्वबाधकतया प्रतीयमानस्य वस्तुनः संदिग्धत्वं नाम । नापि विरुद्धः, विरुद्धार्थसंसाधकत्वाभावात् । न हि साङ्ख्यसौगताभिमतद्रव्यैकान्तपर्यायैकान्तयोः काणादयौगाभ्युपगतपरस्परविविक्तद्रव्यपर्यायैकान्ते च तथैवास्खलत्प्रत्ययेन [7]प्रतीयमानत्वमास्ते, येन विरुद्धः[8] स्यात् । नापि पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधा, येन हेतोरकिंचित्करत्वं स्यात् । नापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलता साधनविकलता वा, न खलु घटस्यैकानेकादिधर्मात्मकत्वम् तथैवास्खलत्प्रत्ययप्रतीयमानत्वं [9]चासिद्धं, प्रागेव दर्शितत्वात् । तस्मादनवद्यं प्रयोगमुपपद्य किमित्यनेकान्तो नानुमन्यते ।

---

§ ३६५. हमारा हेतु स्वरूपसे असिद्ध नहीं है, क्योंकि अनेकान्तात्मक रूपसे समस्त वस्तुओंका निर्बाध प्रतिभास होता ही है । द्रव्यरूपसे वस्तु नित्य तथा एक है और पर्याय रूपसे अनित्य तथा अनेक । स्वरूप स्वक्षेत्र आदिकी दृष्टिसे वस्तु सदात्मक है तथा पररूप या परक्षेत्र आदिकी दृष्टिसे असदात्मक । सजातीय पदार्थों में एक जैसा अनुगत प्रत्ययका कारण होनेसे सामान्यात्मक तथा विजातीय पदार्थोंसे व्यावृत्त प्रत्ययका कारण होनेसे विशेषात्मक है । स्वपर्यायें या परपर्यायें क्रमसे तो शब्दोंके द्वारा कही जा सकती हैं अतः वस्तु अभिलाप्य—वाच्य है तथा उनको एक साथ कहनेवाला कोई शब्द नहीं है इसलिए वस्तु अवाच्य है । इस तरह वस्तुके नित्य अनित्य आदि अनेकधर्म निर्बाध प्रतीतिके विषय होते ही हैं । इनकी निर्बाधता किसीसे छिपी हुई नहीं है, वह तो सर्व प्रसिद्ध है । चूँकि उक्त प्रतीति निर्बाधरूपसे सर्वजन प्रसिद्ध है अतः उसमें सन्देह पैदा नहीं किया जा सकता इसीलिए हमारा हेतु सन्दिग्धसिद्ध नहीं है । निर्बाधप्रतीतिमें सन्देहका क्या काम ? हमारा हेतु साध्यसे उलटे अर्थको सिद्ध नहीं करता अतः विरुद्ध भी नहीं है । सांख्यके द्वारा माने गये द्रव्यैकान्त—सर्वथा नित्यत्व, बौद्धोंके द्वारा माने गये पर्यायैकान्त सर्वथा क्षणिकत्व तथा वैशेषिक और नैयायिकोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्य-पर्याय—सामान्य और द्रव्य गुण कर्म आदिके सर्वथा भेदका तो कभी भी अनुभव नहीं होता जिससे हमारा अनेकान्तात्मक वस्तुको सिद्ध करनेवाला हेतु विरुद्ध कहा जाय । हमारा अनेकान्तात्मक रूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधित नहीं है जिससे हेतु बाधित होकर अकिंचित्कर कहा जाय । हमारा घट नामका दृष्टान्त भी साध्यशून्य या साधनशून्य नहीं है । एक-अनेक आदि अनेक धर्मवाला घड़ा जिस प्रकार निर्बाध प्रतीतिका विषय होता है वह प्रक्रिया पहले बता ही चुके हैं । इस तरह इस निर्दोष अनुमानके द्वारा जब निर्बाधरूपसे वस्तुकी अनेकान्तात्मकता सिद्ध हो जाती है तब आप प्रामाणिक होनेका दावा रखकर भी उसे क्यों नहीं स्वीकार करते ?

---

१. द्रव्यपर्यायाभ्या–म० २ । द्रव्यपर्यायात्मभ्या–म० १, प० १, प० २ । २. –स्य च नि–म० २ । ३. –पर्याया–म० २ । ४. क्रमेणाभिलाप्यानभिलाप्यत्वेन युगपत्तेषामभिलाप्यानभिलाप्यात्म–म० २ । ५. –स्य सर्व–क० । ६. सन्दिग्धोऽसिद्धोऽपि म० २ । ७. पर्ययै–म० २ । ८. –मस्ति येन म० २ । ९. –द्धस्यात्मनोऽपि पक्षस्य म० २ । १०. वा सिद्धं म० २ ।

§ ३६६. ननु[1] सत्त्वासत्त्वनित्यानित्याद्यनेकान्तो दुर्धरविरोधादिदोषविषमविषधरदष्टत्वेन कथं स्वप्राणान् धारयितुं धीरतां बध्नाति। तथाहि—यदेव वस्तु सत् तदेव कथमसत्। [2]असच्चेत् सत्कथमिति विरोधः, सत्त्वासत्त्वयोः परस्परपरिहारेण स्थितत्वात्, शीतोष्णस्पर्शवत्। यदि पुनः

§ ३६६. शंका—एक ही वस्तुमें सत्त्व-असत्त्व नित्य-अनित्य आदि विरोधी धर्मोंका सद्भाव रूप अनेकान्तको तो विरोध आदि दोष रूपी काले नागने इस तरह डँस लिया है कि विचारेको अपने प्राणोंका धारण करना ही कठिन हो रहा है। इस अनेकान्तमें विरोध आदि आठों दूषण आते हैं। जैसे जो वस्तु सत्—विद्यमान है वही असत् कैसे हो सकती है? यदि असत् है; तो सत् कैसे हो सकती है? इस तरह सत्त्व और असत्त्व एक साथ नहीं रहते। जहाँ सत्त्व होगा वहाँ असत्त्व नहीं रह सकता। जैसे शीत और उष्णता एक दूसरेका परिहार करके रहता है उसी तरह सत्त्व और असत्त्व भी एक दूसरेका परिहार—परहेज करके रहते हैं। यदि सत्त्व

---

१. "अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सविष्यते। एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावावियोगतः॥ यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते। पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात्* तदा तस्य व्ययः कथम्॥ ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धीः कथं सत्त्वं प्रतीयते। प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात्सत्त्वं कुतोऽन्यथा॥ तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः संभवः क्वचित्। अनित्यं नित्यमथवा तत्तु एकान्तेन युक्तिमत्॥"—प्रमाणवार्तिकालं० पृ० १४२। "ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरोधात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्।" —हेतुवि० टी० पृ० १४६। "भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो॥१५॥"—पंचास्तिकाय। "द्रव्यपर्यायरूपत्वाद् द्वैरूप्यं वस्तुनः किल। तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेदः संज्ञादिभेदतः॥१॥ भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा। प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथन्न ते॥६२॥ न चैवं गम्यते तेन वादोऽयं जात्मकल्पितः॥४५॥ —हेतुवि० टी० पृ० १०४–१०७। तत्त्वसं० पृ० ४८६। "तद्वति सामान्यविशेषवति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तमभेदभेदौ स्याताम्···अथ सामान्यविशेषयोः कथंचिद्भेद इष्यते। अत्राप्याह—अन्योन्यमित्यादि। सदृशासदृशात्मनोः सामान्यविशेषयोः यदि कथंचिदन्योन्यं परस्परं भेदः तदैकान्तेन तयोर्भेद एव स्यात्··· दिगम्बरस्यापि तद्वति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तभेदाभेदौ स्याताम्।···मिथ्यावाद एव स्याद्वादः।" —प्र० वा० स्वभू० टी० पृ० ३३२–४२। "सद्भूता धर्माः सत्तादिधर्मैः समाना भिन्नाश्चापि यथा नित्यत्वादीनाम्। तन्मतं न समञ्जसम्। कस्मात्। न भिन्नाभिन्नमतेऽपि पूर्ववत् भिन्नाभिन्नयोर्दोषभावात् " उभयोरेकस्मिन् असिद्धत्वात्।···भिन्नाभिन्नकल्पना न सद्भूतं न्यायासिद्धं सत्याभासं गृहीतम्।" —विज्ञप्ति० परि० २ खं० २। "एकं हीदं वस्तूपलभ्यते। तच्चेदभावः किमिदानीं भावो भविष्यति। सद्यदि पररूपतयाभावः, तदा घटस्य पटरूपता प्राप्नोति। यथा पररूपतया भावस्वेऽङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेशः तथा अभावत्वेऽप्यङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश एव, ततश्च सर्वं सर्वात्मकं स्यात्।" —तत्त्वसं० पृ० ७८–७९। "नित्यानित्ययोः विधिप्रतिषेधरूपत्वात् अभिन्ने धर्मिण्यभावः एवं सदसत्त्वादेरपीति।" —प्रश० व्यो० पृ० २०। "नैकस्मिन्नसंभवात् ।२।२।३३।···न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति, शीतोष्णवत्। य एते समनन्तरा निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः, इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणमेव स्यात्। अनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति। नेति ब्रूमः। निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्, स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात्। एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तितेति। एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितामुपदेष्टुं शक्नुयात्।" —ब्रह्मसू० शां० भा० २।२।३३। विज्ञानामृत–भ०, श्रीकण्ठभा०, अणुभा०, निम्बार्कभा० २।२।३३। वेदान्तदी० पृ० १११। २. असच्च सत्कथम् भ० २।

सत्त्वमसत्त्वात्मना असत्त्वं च सत्त्वात्मना व्यवस्थितं स्यात् तदा सत्त्वासत्त्वयोरविशेषात्प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदः स्यात् । एवं नित्यानित्यादिष्वपि वाच्यम् । तथा सत्त्वासत्त्वात्मकत्वे वस्तुनोऽभ्युपगम्यमाने सदिदं वस्त्वसदेतत्यवधारणद्वारेण निर्णीतेरभावात् संशयः । तथा येनांशेन सत्त्वं तेन किं सत्त्वमेवाहोस्वित्तेनापि सत्त्वासत्त्वम् । यद्याद्यः पक्षः, तदा स्याद्वादहानिः । द्वितीये पुनः येनांशेन सत्त्वं तेन किं सत्त्वमेवाहोस्वित्तेनापि[1] सत्त्वासत्त्वमित्यनवस्था । तथा येनांशेन भेदः[2] तेन किं भेद एवाथ तेनापि भेदाभेदः । आद्ये मतक्षतिः । द्वितीये पुनरनवस्था । एवं 'नित्यानित्यसामान्यविशेषादिष्वपि वाच्यम् । तथा सत्त्वस्यान्यदधिकरणमसत्त्वस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् । तथा येन रूपेण सत्त्वं तेन सत्त्वमसत्त्वं च स्यादिति संकरः, 'युगपदुभयप्राप्तिः संकरः' इति वचनात् । तथा येन रूपेण सत्त्वं तेनासत्त्वमपि स्यात् येन चासत्त्वं तेन सत्त्वमपि स्यादिति व्यतिकरः, 'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः' इति वचनात् । तथा सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वेऽङ्गीक्रियमाणे जलावेरप्यनलादिरूपता[3], अनलावेरपि जलरूपता, ततश्च जलाद्यर्थनलावावपि [4]प्रवर्तेत, अनलार्थी च

और असत्त्वकी स्थिति एक दूसरेका परिहार करके न मानी जाय, तो इसका यह अर्थ हुआ कि सत्त्व भी असत्त्व रूपसे तथा असत्त्व भी सत्त्व रूपसे रहता है, तब सत्त्व और असत्त्वमें एकरूपता होनेसे विद्यमानता तथा गैर मौजूदगीमें कोई भेद ही न रहेगा और इस तरह संसारके समस्त व्यवहारोंका लोप हो जायगा 'है' भी 'नहीं' तथा 'नहीं' भी 'है' कहा जायगा । इसी तरह नित्यत्व और अनित्यत्व आदिमें भी विरोध दूषण आता है । यदि वस्तु सत्त्वासत्त्वात्मक है तो 'उसका सत् या असत्' किसी भी रूपसे निर्णय नहीं हो सकता अतः 'वह सत् है या असत्' यह संशय हो जाता है । जिस स्वरूपसे वस्तु सत् है उस रूपसे क्या वह सत् ही है या उस रूपसे भी वह सत्त्व और असत्त्व दोनों ही धर्मवाली है ? यदि उस रूपसे सत् ही है; तब एकान्तवाद हो जायगा और सर्वथा सत् ही माननेसे स्याद्वाद कहाँ रहा ? यदि जिस रूपसे सत् है उस रूपसे वह सदसत् दोनों ही धर्मवाली है; तो अनवस्थानामका दूषण होगा; क्योंकि वहाँ भी यही प्रश्न बराबर होता रहेगा कि वस्तु जिस रूपसे सत् है उस रूपसे सत् हो या सदसत् ? यदि सत् है तो स्याद्वाद हानि, यदि सदसत् है तो वही प्रश्न फिर होगा इस तरह अनेक अप्रामाणिक धर्मोंकी कल्पना करनेसे अनवस्था दूषण हो जाता है । इसी तरह जिस स्वरूपसे वस्तुमें भेद है उस स्वरूपसे वस्तुमें भेद ही है या भेद और अभेद दोनों ही ? यदि सर्वथा भेद ही माना जाय तो एकान्तवादका प्रसंग होनेसे स्याद्वादकी क्षति होगी । यदि भेद और अभेद दोनों हैं तो वही प्रश्न बराबर चालू रहेगा । इस तरह अनवस्था दूषण आता है । इसी तरह वस्तुको नित्यानित्यात्मक या सामान्यविशेषात्मक आदि माननेमें भी अनवस्था दूषण आता है । सत्त्वधर्मका अन्य आधार होना चाहिए तथा असत्त्वधर्मका अन्य । इस तरह इन विरोधीधर्मोंको एक आधारमें न रह सकनेके कारण वैयधिकरण्य दूषण होता है । वस्तुका सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मोंसे आप कथंचित्तादात्म्य मानते हैं, अतः जिस रूपसे वस्तुमें सत्त्व है उस रूपसे उसमें सत्त्व भी होगा तथा असत्त्व भी । इस तरह एक ही रूपसे दोनों धर्मोंकी युगपत् प्राप्ति होनेसे संकर नामका दूषण होगा । कहा भी है—"दोनों धर्मोंकी एक साथ प्राप्तिको संकर कहते हैं" जिस रूपसे वस्तुमें सत्त्व है उस रूपसे असत्त्व भी होगा तथा जिस रूपसे वस्तु असत् है उस रूपसे सत् भी होगी इस तरह व्यतिकर दूषण होता है । कहा भी है—"एक दूसरेके विषयमें हस्तक्षेप करने को व्यतिकर कहते हैं" सत्त्वके विषयमें असत्त्व तथा असत्त्वके विषयमें सत्त्वके भी पहुँच जानेसे व्यतिकर दोष स्पष्ट ही है । सभी वस्तुओं को अनेक धर्मवाली माननेसे जलमें भी अग्निरूपता तथा अग्निमें भी जलरूपताका प्रसंग होगा ।

---

१. –होस्वित्सत्त्वा–म० २ । २. तेन भेद–म० १, म० २, प० १, प० २ । ३. –ता ततश्च म० २ । ४. प्रवर्तते म० २ ।

जलावावपीति, ततश्च प्रतिनियतव्यवहारलोपः। तथा च प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधः। ततश्च तत्त्वगो वस्तुनोऽसंभव एव।

§ ३६७. अत्रोच्यते—यदेव सत्तदेव कथमसदित्यादि यदवादि वादिवृन्दवृन्दारकेण तद्वचनरचनामात्रमेव, विरोधस्य[1] प्रतीयमानयोः[2] सत्त्वासत्त्वयोरसंभवात्, तस्यानुपलम्भलक्षणत्वात्,

---

तब जल पीनेवाला आगको पीनेके लिए दौड़ेगा तथा जिसे ठंडक दूर करनेके लिए आग तापने की इच्छा है वह जलमें भी प्रवृत्ति करने लगेगा। तात्पर्य यह कि संसारके समस्त नियत व्यवहारों में गड़बड़ी होकर व्यवहार लोप नामका दूषण होगा। वस्तुको अनेकान्तात्मक माननेमें कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाण सहायक नहीं होते उलटे उसमें बाधा ही देते हैं अतः प्रमाणबाधा नामका दूषण होता है। जब ऐसी वस्तु न तो किसी प्रमाणका ही विषय होती है और न किसी व्यवहारको ही सिद्ध करती है तो ऐसी वस्तुका अभाव ही मानना चाहिए। ऐसी निरर्थक वस्तुकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

§ ३६७. **समाधान**—आपके ये दूषण सर्वथा निर्मूल तथा कोरे बकवाद रूप ही हैं। आपने अपनेको बड़ा भारी समझकर जो जो 'सत् है वही असत् कैसे ?' यह विरोध दूषण दिया है; वह तो बिलकुल युक्तिशून्य है सिर्फ कहने के ढंगसे ही वह विरोध जैसा मालूम होता है। जब

---

१. "विरोधस्तावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न युज्यते।···" —मी० श्लो० पृ० ५६०। "यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते, अनिरूपितप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्। एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादेव गम्यते। नानात्वं तस्य तत्पूर्वं कस्माद् भेदोऽपि नेष्यते॥ यत्प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत् तथा। वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते॥ न ह्यभिन्नं भिन्नमेव वा क्वचित् केनचित् दर्शयितुं शक्यते। सत्ताज्ञेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्यात्मना सर्वमभिन्नं व्यक्तात्मना तु परस्परवैलक्षण्याद्भिन्नम्। तथाहि प्रतीयते तदुभयं विरोधः कोऽत्रमुच्यते। विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्॥ एकरूपं प्रतीतत्वाद् द्विरूपं तत्त्वमेष्यताम्। एकरूपं भवेदेकमिति नेष्करभाषितम्॥···अत्र प्रागस्मात् कश्चिदाह—यथा संशयज्ञानं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यप्रमाणं तथा भेदाभेदज्ञानमिति, तदसत्, परस्परोपमर्देन न कदाचित् सहस्थितेः। प्रमेयानिश्चयाच्चैव संशयस्याप्रमाणता॥ अत्र पुनः कारणं पूर्वसिद्धं मृत्सुवर्णादिलक्षणं ततः कार्यं पश्चाज्जायमानं तदाश्रितमेव जायते···अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम्। संग्रहश्लोकः—कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना। हेमात्मना यथाभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥" —भास्करमा० पृ० १६-१७। "···तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम्। ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम्। न विरोधः, सह दर्शनात्। यदि हि 'इदं रजतम्, नेदं रजतम्' इतिवत् परस्परोपमर्देन भेदाभेदौ प्रतीयेयाताम् ततो विरुद्धयेयाताम्, न तु तयोः परस्परोपमर्देन प्रतीतिः। इयं गौरिति बुद्धिद्वयम् अपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तुद्वयात्मकं व्यवस्थापयति समानाधिकरण्ये हि अभेदमापादयति अपर्यायित्वं च भेदम्, अतः प्रतीतिबलादविरोधः। अपेक्षाभेदाच्च, ···एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदः द्रव्यरूपेण चाभेदः···" —शास्त्रदी० पृ० ३९३-९५। "विरोधाभावस्तल्लक्षणाभावात्।···न चैवमस्तित्वनास्तित्वयोः क्षणमात्रमपि एकस्मिन् वृत्तिरस्ति, इति भवताभ्युपगम्यते, यतो बध्यघातकभावरूपो विरोधः तयोः कल्प्येत।···न च तथा जीवस्यास्तित्वनास्तित्वे पूर्वोत्तरकालभाविनि। यदि स्याताम्, अस्तित्वकाले नास्तित्वाभावात् जीवसत्ता मात्रं सर्वं प्राप्नुयात्। नास्तित्वकाले च अस्तित्वाभावात्तदाश्रयो बन्धमोक्षादिव्यवहारो विरोधमुपगच्छेत्। सर्वथैवासतः पुनः आत्मलाभाभावात्, सर्वथा च सतः पुनरभावप्राप्त्यनुपपत्तेः नैतयोः सहानवस्थानं युज्यते। तथा जीवादिषु प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावोऽपि न विरोधः संभवति। ···न च तथा अस्तित्वं नास्तित्वस्य प्रयोजनं प्रतिबध्नाति तस्मिन्नेव काले परद्रव्यादिरूपेणानुपलब्धिबुद्धयुत्पत्तिदर्शनात्। नास्तित्वं वा सदस्तित्वप्रयोजनं प्रतिबध्नाति सदैव स्वरूपाद्यपेक्षयोपलब्धिबुद्धिदर्शनात्। तस्माद् वाङ्मात्रमेव विरोधः।" —त० वा० पृ० २६१। प्रमाणसं० पृ० १०३। अष्टश० अष्टसह० पृ० २०६। तत्त्वार्थ० श्लो० पृ० ४३४। सन्मति० टी० पृ० ४५१। न्यायकुमु० पृ० ३७०। स्या० र० पृ० ७४१। प्रमेयरत्न मा० ४।१। प्रमाणमी० पृ० २८। स्याद्वादमं० पृ० १९७। सप्तभंगीत० पृ० १८१। शास्त्रवा० टी० पृ० २६६। २. –मानयोरसंभ–म० १, म० २, प० १, प० २।

वन्ध्यागर्भे स्तनन्धयवत् । न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोऽस्ति, येन सहानवस्थानलक्षणो विरोधः स्यात्, शीतोष्णवत् । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोध एकत्राम्रफलादौ रूपरसयोरिव संभवतोरेव सदसत्त्वयोः स्यात्, न पुनरसंभवतोः संभवदसंभवतोर्वा । एतेन वध्यघातकभावविरोधोऽपि फणिनकुलयोर्बलवदबलवतोः प्रतीतः सत्त्वासत्त्वयोरशङ्कनीय एव, तयोःसमानबलत्वात्, मयूराण्डरसे नानावर्णवत् ।

§ ३६८, किं च, अयं विरोधः किं स्वरूपमात्रसद्भावकृतः, उतैककालासंभवेन, आहोस्विदेकद्रव्यायोगेन, किमेककालैकद्रव्याभावतः, उतैककालैकद्रव्यैकप्रदेशासंभवात्, तत्राद्यो न युक्तः; यतो न हि शीतस्पर्शोऽनपेक्षितान्यनिमित्तः स्वात्मसद्भाव एवोष्णस्पर्शेन सह विरुध्यते, उष्णस्पर्शो वेतरेण, अन्यथा त्रैलोक्येऽप्यभावः स्यादनयोरिति । नापि द्वितीयः, एकस्मिन्नपि काले पृथक्

वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों ही प्रतीत हो रहे हैं तब उनमें विरोध कैसा ? विरोध तो उनमें होता है जिन दोनोंकी एक साथ अनुपलब्धि रहती है । जैसे वन्ध्या—बांझ स्त्रीके गर्भमें लड़का नहीं पाया जाता अतः वन्ध्या स्त्रीके गर्भका और बालबच्चे का विरोध है । शीत और उष्ण एक साथ नहीं रह सकते अतः इनमें सहानवस्थान—एक साथ नहीं रहना नामका विरोध माना जाता है । परन्तु वस्तुमें जिस समय स्वरूपकी अपेक्षा सत्त्व रहता है उसी समय पररूपकी अपेक्षा असत्त्वके रहने में कोई आपत्ति तो है ही नहीं जिससे इनमें शीत और उष्णकी तरह सहानवस्थान नामका विरोध माना जाय । यदि सत्त्वके रहते समय असत्त्वकी अनुपलब्धि होती तो कदाचित् उनमें विरोध माना जाता । पर घड़ा जिस समय घट है उसी समय वह पट नहीं है । एक आमके फलमें रूप अपनी स्थितिमें इसकी अपेक्षा नहीं रखता तथा अपनी स्थितिमें रूपकी, अतः इनमें परस्परपरिहारस्थिति—स्वतन्त्रस्थिति—नामका विरोध माना जाता है । यह विरोध तो विद्यमान पदार्थों में ही होता है, जब दोनों अविद्यमान हों, या एक विद्यमान और दूसरा अविद्यमान तब उनमें यह विरोध नहीं हो सकता । अतः यदि रूप और रसकी तरह सत्त्व और असत्त्वमें परस्पर परिहारस्थितिलक्षण विरोध मानना है तो वस्तुमें दोनोंकी सत्ता माननी पड़ेगी । जब वस्तुमें दोनोंकी सत्ता सिद्ध हो गयी तो उसकी अनेकान्तात्मकता अपने ही आप सिद्ध हो जाती है । साँप और नेवलेमें वध्यघातक भाव नामका विरोध होता है । यह विरोध हमेशा बलवान् और कमजोरमें हुआ करता है । सो सत्त्व और असत्त्व तो दोनों ही समान बलशाली हैं इसलिए कोई एक दूसरेका घात नहीं कर सकता । जिस प्रकार मोरके अण्डेके द्रव पदार्थमें स्वभावसे ही अनेक रंग होते हैं उसी तरह वस्तुमें सत्त्व-असत्त्व आदि अनेक धर्म होते हैं ।

§ ३६८. आप यह बताइए कि इन सत्त्व-असत्त्व आदि धर्मोंमें विरोध क्यों होता है ? क्या दोनोंका स्वतन्त्र स्वरूप होनेसे ही उनमें विरोध होता है, या दोनों एक समयमें एक साथ नहीं हो सकते अथवा एक द्रव्यमें दोनों एक साथ नहीं रह सकते, अथवा एक कालमें एक द्रव्यमें नहीं रह सकते, या एक समयमें एक द्रव्यके एक प्रदेशमें नहीं रह सकते ? दोनोंका स्वतन्त्र स्वरूप होनेसे ही तो विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शीतस्पर्श अपने स्वरूपसे ही अन्य किसी समीपदेश संयोग आदि निमित्तके बिना ही यदि उष्ण स्पर्शका विरोधी हो जाय या उष्ण स्पर्श शीतस्पर्शका विरोधी हो जाय; तो संसारसे ही दोनोंका लोप हो जाना चाहिए । शीतस्पर्श अपने स्वरूपके सद्भाव मात्रसे जहाँ कहीं भी रहकर सारे त्रिलोकके उष्णस्पर्शका नाश कर देगा तथा उष्णस्पर्श अपने स्वरूपकी सत्तासे ही त्रिलोकके शीतस्पर्शका लोप कर देगा । एक कालकी अपेक्षा भी विरोध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एक ही समयमें शीत और उष्ण दोनोंका ही पृथक्-पृथक् सद्भाव हो सकता है तथा है भी उसी समय बरफ ठण्डा

पृथग्द्वयोरप्युपलम्भात्। नापि तृतीयः; एकस्मिन्नपि लोहभाजने रात्रौ शीतस्पर्शो दिवा चोष्णस्पर्शः समुपलभ्यते, न च तत्र विरोधः। नापि तुरीयः, धूपकड्डुच्छकादौ द्वयोरप्युपलम्भात्। पञ्चमोऽपि न घटते, यत एकस्मिन्नेव तप्तलोहभाजने स्पर्शापेक्षया यत्रैवोष्णत्वं तत्रैव प्रदेशे रूपापेक्षया शीतत्वम्। यदि हि रूपापेक्षयाप्युष्णत्वं स्यात्, तर्हि जननयनबहनप्रसङ्गः।

§ ३६९. नन्वेकस्य युगपदुभयरूपता कथं घटत इति चेत्, न; यतो यथैकस्यैव पुरुषस्यापेक्षावशाल्लघुत्वगुरुत्वबालत्ववृद्धत्वयुवत्वपुत्रत्वपितृत्वगुरुत्वशिष्यत्वादीनि परस्परविरुद्धान्यपि युगपदविरुद्धानि तथा सत्त्वासत्त्वादीन्यपि। तस्मान्न[1] सर्वथा भावानां विरोधो घटते कथंचिद्विरोधस्तु सर्वभावेषु तुल्यो न बाधकः।

है तथा अग्नि गरम। एक द्रव्यरूप आधारकी अपेक्षा भी विरोध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एक ही लोहेका बर्तन रात्रिमें ठण्डा तथा दिनमें गरम देखा जाता है। उस लोहेके बर्तनमें रहने वाले शीतस्पर्श तथा उष्णस्पर्शमें कोई विरोध नहीं देखा जाता। एक द्रव्यमें एक समयमें भी दो धर्मोंका विरोध नहीं माना जा सकता; क्योंकि धूपदहनी तथा करछुली आदि एक ही अवयवीद्रव्य में उसी समय एक ओर ठण्डापन तथा दूसरी ओर उष्णस्पर्श पाया जाता है। धूपदहनी और करछुलीको जिस तरफसे पकड़ते हैं, वह उस ओर ठण्डी तथा दूसरी ओर गरम रहती है। एक समयमें एक द्रव्यके एक ही प्रदेशकी अपेक्षा भी विरोध नहीं कह सकते, क्योंकि तपे हुए लोहेके बर्तनके जिस प्रदेशमें स्पर्शकी अपेक्षा उष्णता पायी जाती है उसी प्रदेशमें रूपकी अपेक्षा शीतलता सुहावना न मालूम होता है। यदि उसका रूप भी गरम होता तो देखने वालोंकी आँखें जल जानी चाहिए थीं।

§ ३६९. शंका—एक वस्तुमें एक साथ परस्परविरोधी दो धर्म कैसे रह सकते हैं? एक ही वस्तुकी यह युगपत् उभयरूपता तो किसी भी तरह समझमें नहीं आती।

समाधान—देखो, जिस प्रकार एक ही पुरुष एक ही समयमें एक ही साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे छोटा, बड़ा, बच्चा, बूढ़ा, जवान, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य आदि परस्पर विरुद्ध रूपोंको धारण करता है, उसी तरह सत्त्व असत्त्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे वस्तुमें एक ही साथ पाये जाते हैं। जिस समय देवदत्त अपने लड़केका बाप है उसी समय वह अपने बापका बेटा भी तो है, अपने शिष्यका यदि गुरु है तो अपने गुरुका शिष्य भी तो है। यदि किसी कम उमर जवानकी अपेक्षा बूढ़ा है तो किसी अधिक उमरवाले बूढ़ेकी अपेक्षा जवान भी तो है। तात्पर्य यह कि एक ही साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे एक ही वस्तुमें अनेकों विरोधी धर्म रहते हैं। इसलिए पदार्थोंमें सर्वथा अत्यन्तविरोध तो नहीं कहा जा सकता। कथंचित् थोड़ा बहुत विरोध तो सभी पदार्थोंमें पाया जाता है। जो एक वस्तुमें धर्म हैं वह दूसरीमें नहीं हैं। वस्तुओंमें कथंचित् विरोध हुए बिना भेद ही नहीं हो सकता। अतः कथंचित् विरोध तो प्रयत्न करने पर भी नहीं हटाया जा सकता इसलिए वह अपरिहार्य—अवश्यंभावी होनेसे दूषणरूप नहीं है।

१. —त्वपितृत्वपुत्रत्वगुरु—म० २। "यथा एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता भागिनेय इत्येवमादयः संबन्धा जनकत्वजन्यत्वादिनिमित्ता न विरुद्ध्यन्ते; अर्पणाभेदात्। पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः तथा द्रव्यमपि सामान्यापेक्षया नित्यम्, विशेषार्पणयानित्यमिति नास्ति विरोधः।" —सर्वार्थसि० ५।३२। "अर्पणाभेदादविरोधः पितापुत्रादिसंबन्धवत्।" —त० वा० पृ० ३६। २. —न्न भावानां सर्वथा वि—म० २।

§ ३७०. तथा संशयोऽपि न युक्तः, परस्परात्तयोः[1] स्फुटाप्रतीतौ[2] चलितप्रतीत्यभावात्[3]। अचलितप्रतीतौ हि संशयः, यथा क्वचित्प्रदेशे स्थाणुपुरुषयोः। तथा यदुक्तम्—'अनवस्था' इति; तदप्यनुपासितगुरोर्वचः, यतः सत्त्वासत्त्वादयो वस्तुन एव धर्माः, न तु धर्माणां धर्माः, 'धर्माणां धर्मा न भवन्ति' इति वचनात्। न चैवमेकान्ताभ्युपगमादनेकान्तहानिः, अनेकान्तस्य[4] सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात्, अन्यथानेकान्तस्यैवाघटनात् नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात्, तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः।

§ ३७१. किं च, प्रमाणार्पणया सत्त्वेऽपि[5] सत्त्वासत्त्वकल्पनापि भवतु। न च तत्र कश्चनापि दोषः। ननूक्तमनवस्येति चेत्, न, यतः साप्यनेकान्तस्य भूषणं न दूषणं, अमूलक्षि(क्ष)तिकारित्वेन प्रत्युतानेकान्तस्योद्दीपकत्वात्, मूलक्षि(क्ष)तिकरी[6] ह्यनवस्था दूषणम्। यदुक्तम्—

§ ३७०. वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों ही साफ-साफ स्फुट रूपसे प्रतीत हो रहे हैं अतः संशय हो ही नहीं सकता। यदि इनकी दृढ़ प्रतीति न होकर चलित प्रतीति होती तो संशय कहा जा सकता था। जैसे किसी प्रदेशमें 'यह स्थाणु–ठूँठ है या पुरुष' यह चलित प्रतीति संशय रूप हुआ करती है। अनवस्था नामका दूषण तो ऐसे व्यक्तिका दिया हुआ मालूम होता है जिसने गुरुके पास कभी भी नहीं पढ़ा है। सत्त्व और असत्त्व वस्तुके धर्म हैं धर्मोंके धर्म नहीं हैं। कहा भी है—"धर्मोंके धर्म नहीं होते धर्म निर्धर्म होते हैं।" 'धर्म धर्मरूप ही है' इस एकान्तके माननेसे अनेकान्तकी हानि नहीं हो सकती, क्योंकि अनेकान्त सच्चे एकान्तका अविनाभावी होता है। यदि सम्यगेकान्त न हो तो उनका समुदायरूप अनेकान्त ही नहीं बन सकेगा। नयकी दृष्टिसे एकान्त तथा प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्त माना जाता है। जो एकान्त-एकधर्म वस्तुके दूसरे-धर्मोंकी अपेक्षा करता है उनका निराकरण नहीं करता वह सच्चा एकान्त है यह सुनयका विषय होता है। जो एकान्त अन्यधर्मोंका निराकरण करता है वह मिथ्या एकान्त है यह दुर्नयका विषय होता है। सम्यगेकान्तोंके समुदायको ही अनेकान्त—अनेकधर्मवाली वस्तु कहते हैं। यह अनेकान्तात्मक वस्तु प्रमाणका विषय होती है। प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा उक्त व्यवस्थामें कोई भी बाधा तो आती ही नहीं है प्रत्युत ये प्रत्यक्ष और अनुमान इस अनेकान्तके साधक ही हैं।

§ ३७१. प्रमाणकी दृष्टिसे सत्त्व भी वस्तुसे अभिन्न होनेके कारण वस्तुरूप हो जाता है अतः उसमें भी सत्त्व और असत्त्वकी कल्पना खुशीसे कीजिए हमें उसमें कोई आपत्ति नहीं है और न उसमें कोई दोष ही है। इस स्थितिमें अनवस्था दूषणकी बात कहना तो निरर्थक ही है; क्योंकि ऐसी अनवस्था-अनन्तधर्मोंकी कल्पना तो अनेकान्तकी साधक होनेसे भूषणरूप है न कि दूषण। यह अनन्तधर्मकल्पना रूप अनवस्था तो मूलवस्तुका नाश नहीं करनेके कारण उलटी अनेकान्तका उद्दीपन ही करती है इससे अनेकान्तकी पुष्टि ही होती है। जहाँ मूल वस्तुका लोप

१. "संशयहेतुरिति चेन्न, विशेषलक्षणोपलब्धेः।" —त० वा० पृ० ३६। अष्टसह० पृ० २०७। न्यायकुमु० पृ० ३६८। २. "तत एव नानवस्था, स्थित्यात्मनि जन्मविनाशानिष्टेर्जन्मात्मनि स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानयकाशात् प्रत्येकं तेषां भयात्मकत्वानुपगमात्। न चैवमनेकान्ताभ्युपगमादनेकान्ताभावः, सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात् तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः।" —अष्टसह० पृ० २०७। ३. "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणान्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।" —बृ० स्व० श्लो० १०३। त० वा० पृ० ३५। ४. प्रमाणादने–आ०, क०। ५. सत्तासत्त्व–म० २। ६. –तिकारी क०।

"मूलक्षि(क्ष)तिकरीषाद्युरनवस्थां हि दूषणम् ।
वस्त्वानन्त्येऽप्यशक्तौ च [1]नानवस्थापि (स्था वि) वार्यते ॥१॥"

ततो यथा यथा सत्त्वेऽपि सत्त्वासत्त्वकल्पना विधीयते, तथा तथानेकान्तस्यैवोद्दीपनं [2]न तु मूलवस्तुक्षि(क्ष)तिः । तथाहि—इह सर्वपदार्थानां स्वरूपेण सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम् । तत्र जीवस्य तावत्सामान्योपयोगः स्वरूपं, तस्य तल्लक्षणत्वात्, ततो[3]ऽन्योऽनुपयोगः पररूपम्, ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतीयेते । तदुपयोगस्यापि विशेषतो ज्ञानस्य स्वार्थाकारव्यवसायः स्वरूपं, दर्शनस्यानाकारग्रहणं स्वरूपं, तद्विपरीतं तु पररूपम्, ततस्ताभ्यां तत्रापि [4]सत्त्वासत्त्वे । तथा पुनर्ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्यं प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपं, दर्शनस्यापि [5]चक्षुरचक्षुर्निमित्तं चक्षुराद्यालोचनं स्वरूपं, अवधिदर्शनस्याप्यवध्यालोचनं स्वरूपं, अन्यच्च पररूपम् । ततस्ताभ्यां तत्रापि सत्त्वासत्त्वे । परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं स्वार्थाकारग्रहणं स्वरूपं, अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपं, प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनःपर्यायरूपस्य [6]क्षयोपशमापेक्षं स्पष्टार्थग्रहणं स्वरूपं, सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपं, ततोऽन्यत्पररूपम् । ताभ्यां पुनरपि तत्रापि सदसत्त्वे प्रतिपत्तव्ये । एवमुत्तरोत्तरविशेषाणामपि स्वपररूपे तद्वेदिभिरभ्यूह्ये, तद्विशेषप्रतिविशेषा-

---

होता है वहीं अनवस्था दूषणरूप है । कहा भी है—"अनवस्था दूषण मूलवस्तुकी क्षति करने वाला होता है इससे मूल वस्तुका ही लोप हो जाता है । परन्तु जहाँ वस्तुकी अनन्तरूपता होनेके कारण हमारी बुद्धि थक जाय वह उसके अन्ततक न पहुँचे उस वस्तुकी अनन्ततामें अनवस्थाका विचार नहीं किया जा सकता । वस्तुकी अनन्तताके कारण यदि अनवस्था है तो उसका वारण नहीं किया जाता वह तो भूषण है ।" तो सत्त्वको वस्तुसे अभिन्न होनेके कारण वस्तु रूप मानकर उसमें जैसे-जैसे सत्त्व असत्त्व आदि धर्मोंकी कल्पना की जायगी वैसे ही वैसे अनेकान्तका उद्दीपन—पुष्टि होगी । इसमें मूल वस्तुकी क्षति न होकर उसके स्वरूपका सम्पोषण ही होगा । जैसे—सभी पदार्थोंमें स्वरूपसे सत्त्व तथा पररूपसे असत्त्व है । जीवका सामान्यसे ज्ञानदर्शनरूप उपयोग ही स्वरूप है; क्योंकि जीवका असाधारण लक्षण उपयोग ही है । उपयोगसे भिन्न अनुपयोग अचेतनत्व पररूप है । इन उपयोग और अनुपयोगसे सत्त्व और असत्त्वका विचार किया जाता है । उपयोगमें भी विशेषरूपसे ज्ञानोपयोगका स्वरूप है स्व और अर्थका निश्चय करना । दर्शनोपयोगका स्वरूप है निराकार सामान्य आलोचन करना । इनसे विपरीतधर्म पररूप होंगे । अतः इन दोनोंसे सत्त्व और असत्त्वका विचार किया जायगा । ज्ञानमें भी परोक्षका स्वरूप है अस्पष्टज्ञान तथा प्रत्यक्षका स्पष्टज्ञान । दर्शनमें भी चक्षुदर्शनका स्वरूप है चक्षुरिन्द्रियसे होनेवाले ज्ञानके पहले पदार्थका सामान्य अवलोकन करना । अचक्षुदर्शनका स्वरूप है—चक्षुसे भिन्न स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानके पहले सामान्य प्रतिभास करना । अवधिज्ञानके पहले होनेवाला सामान्य प्रतिभास अवधिदर्शन है । ये तो हुए इनके स्वरूप, और इनसे विपरीतधर्म पररूप होते हैं। इनसे इनमें सत्त्व और असत्त्वका विचार करना चाहिए । परोक्षमें भी मतिज्ञानका स्वरूप है इन्द्रिय और मनके द्वारा स्व और अर्थका निश्चय करना श्रुतज्ञानमात्र मनके निमित्तसे ही होता है । प्रत्यक्षमें भी अवधिज्ञान और मनःपर्याय रूप विकल प्रत्यक्षका स्वरूप है—इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना ही तत्तत् ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही पदार्थोंको स्पष्ट जानना । समस्त द्रव्योंको समस्त पर्यायोंको साक्षात् हस्तामलकवत् जानना सकलप्रत्यक्ष है । ये तो इनके स्वरूप हैं और इनसे भिन्न पररूप हैं । इनके द्वारा इनमें फिर भी सत्त्व और असत्त्वका विचार होना

---

१. –वस्थेति वा–म० २ । २. न मूल–म० १, म० २, प० १, प० २, आ०, क० । ३. व्योपयोगः म० २ । ४. सत्त्वासत्त्वं म० १, म० २, प० १, प० २, क० । ५. चक्षुर्निमित्तं चक्षुराद्यालो–म० १, प० १, प० २ । चक्षुर्निमित्तं चक्षुरालो–म० २ । ६. –पर्यय–म० २ ।

णामनन्तत्वात् । एवं घटपटादिपदार्थानामपि स्वपररूपप्ररूपणा कार्या, तदपेक्षया च सत्त्वासत्त्वे प्रतिपाद्ये । एवं च वस्तुनः [1]सत्त्वेऽपि सत्त्वासत्त्वकल्पनायामनेकान्तोद्दीपनमेव, न पुनः कापि क्षि(क्ष)तिरिति ।

§ ३७२. ननु सत्त्वेऽपि सत्त्वान्तरकल्पने 'धर्माणां धर्मा न भवन्ति' इति वचो विरुध्यते । मैवं वोचः । अद्याप्यनभिज्ञो भवान् स्याद्वादामृतरहस्यानां, यतः [2]स्वधर्म्यपेक्षया यो धर्मः सत्त्वादिः स एव स्वधर्मान्तरापेक्षया धर्मी, एवमेवानेकान्तात्मकव्यवस्थोपपत्तेः[3] । ततः सत्त्वेऽपि सत्त्वान्तरकल्पनायां सत्त्वस्य धर्मित्वं, सत्त्वान्तरस्य च धर्मत्वमिति[4] धर्मिण एव धर्माभ्युपगमाश्च पूर्वोक्तदोषावकाशाः । न चैवं धर्मस्यापि धर्मान्तरापेक्षया धर्मित्वप्राप्त्यानवस्था, अनाद्यनन्तत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य, दिवसरात्रिप्रवाहवत्, बीजाङ्कुरपौर्वापर्यवत्, अभव्यसंसारवद्वा । एवं नित्यानित्यभेदाभेदादिष्वपि वाच्यम् ।

§ ३७३. तथा वैयधिकरण्यमप्यसत्[5]; निर्बाधकाध्यक्षबुद्धौ सत्त्वासत्त्वयोरेकाधिकरणत्वेन

है । इस तरह आगे-आगेके धर्मोंके स्व-पररूपका समझदार पुरुषोंको स्वयं ही विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि इनके भेद-प्रभेद तो अनन्त हैं, जिसकी जितनी शक्ति और बुद्धि हो वह उतने ही स्व-पररूपकी कल्पना कर सकता है । इसी तरह घट-पट आदि पदार्थोंके भी स्वरूप और पररूपका विचार करके उनसे सत्त्व और असत्त्वका निरूपण करना चाहिए । इस तरह वस्तुके सत्त्वधर्ममें भी सत्त्व और असत्त्व की कल्पना करनेसे अनेकान्तका उद्दीपन ही होता है इससे कोई हानि तो हो ही नहीं सकती ।

§ ३७२. **शंका**—यदि सत्त्वधर्ममें भी अन्य सत्त्व आदि कल्पना की जायेगी तो आपका 'धर्मोंमें अन्यधर्म नहीं होते' यह सिद्धान्त नष्ट हो जायेगा ।

समाधान—तुम आज तक भी स्याद्वादामृतके रहस्यको नहीं समझ सके हो इसका समझना गूढ़ है । बात यह है जो सत्त्व अपनी आधारभूत वस्तुकी अपेक्षा धर्म है वही अपनेमें रहनेवाले अन्य धर्मोंकी अपेक्षा धर्मी रूप भी होता है । इसी प्रकार हर एक वस्तु तथा वस्त्वंशमें धर्म और धर्मी रूपसे अनेकान्तात्मकता है । अतः सत्त्व भी अन्य सत्त्वधर्मकी कल्पना करनेसे धर्मीरूप हो जाता है और दूसरा सत्त्व धर्म रहता है, इस तरह जो धर्म था वही धर्मी तथा जो धर्मी है वही धर्म भी हो सकता है । जिस समय सत्त्वमें अन्य कोई धर्म रहता है उस समय वह धर्मरूप न होकर धर्मीरूप होता है । अतः कोई दोष नहीं है । सत्त्वधर्मको अन्य किसी धर्मकी अपेक्षा धर्मी माननेसे अनवस्था दूषणकी शंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार दिवसके बाद रात्रि तथा रात्रिके बाद दिन अनन्तकालतक बराबर होता रहता है अथवा जिस तरह बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीजकी परम्परा अनन्तकाल तक चलती है या जिस प्रकार अभव्यजीवके संसारमें एक पर्यायके बाद दूसरी पर्याय क्रमशः अनन्तकाल तक होती जाती है ठीक उसी तरह अनादिसे अनन्तकालतक धर्म-धर्मिव्यवहारकी परम्परा चालू रहती है । जो ज्ञान जीवका धर्म है वही अपनेमें रहनेवाले सत्त्वकी अपेक्षा धर्मी है । सत्त्व ज्ञानकी अपेक्षा धर्म होकर भी अपने प्रमेयत्वकी अपेक्षा धर्मी है । इस तरह धर्मधर्मिभाव अनादि अनन्त है । इसी तरह नित्य अनित्य भेद अभेद आदि धर्मोंकी व्यवस्थाका विचार करना चाहिए ।

§ ३७३. वैयधिकरण–भिन्न आधारोंमें रहना–दूषणकी बात तो सरासर आँखोंमें धूल झोंकना है; क्योंकि निर्बाध प्रत्यक्षसे एक ही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों ही धर्मोंकी प्रतीति होती ही

१. सत्त्वे सत्त्वा–म० २ । २. स्वधर्मापे–म० २ । ३. –वस्योत्पत्तेः म० २ । ४. –ति धर्मिण एव धर्मत्वमिति धर्मिण एव आ०, क० । ५. "नापि वैयधिकरण्यम्, एकाधारतया निर्बाधबोधे तयोः प्रतिभासमानत्वात् ।"—न्यायकुमु० पृ० ६७१ । अष्टसह० पृ० २०६ ।

प्रतिभासनात्। न खलु तथाप्रतिभासमानयोर्वैयधिकरण्यं, एकत्र फले रूपरसयोरपि तत्प्रसङ्गात्।

§ ३७४. [1]संकरव्यतिकरावपि मेचकज्ञानदृष्टान्तेन निरसनीयौ। यथा मेचकज्ञानमेकमप्यनेकस्वभावं, न च तत्र संकरव्यतिकरौ, एवमत्रापि। किं च यथानामिकाया युगपन्मध्यमाकनिष्ठिकासंयोगे ह्रस्वदीर्घत्वे न च तत्र संकरादिदोषः[3] एवमत्रापि।

§ ३७५. तथा यदप्यवादि 'जलादेरप्यनलादिरूपता' इत्यादि; तदपि महामोहप्रभादिप्रलपितप्रायम्; यतो जलादेः स्वरूपापेक्षया जलादिरूपता न पररूपापेक्षया[4], न ततो जलार्थिनामनलादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गः, स्वपरपर्यायात्मकत्वेन [5]सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा वस्तुस्वरूपस्यैवाघटमानत्वात्।

§ ३७६. किं च, भूतभविष्यद्गत्या जलपरमाणूनामपि भूतभाविवह्निपरिमाणापेक्षया वह्निरूपताप्यस्त्येव। तथा तप्तोदके कथंचिद्वह्निरूपतापि जलस्याङ्गीक्रियत एव। प्रत्यक्षादिबुद्धौ प्रति-

है। जिस तरह एक आम आदि फलमें रूप और रस जब स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं तो उनमें वैयधिकरण्य नहीं कहा जा सकता उसी तरह एक ही वस्तुमें जब सत्त्व और असत्त्वका साफ-साफ स्फुट अनुभव होता है तब उनमें वैयधिकरण्यदूषण देना किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता।

§ ३७४. जिस प्रकार अनेक रंगोंका मिश्रित प्रतिभास करानेवाला मेचकरत्नका ज्ञान एक होकर भी अनेक स्वभाव या आकारवाला है पर उसके आकार न तो एक दूसरे रूप ही होते हैं और न सबकी युगपत् प्राप्ति ही होती है उसी तरह एक वस्तुको सत्त्व असत्त्व आदि अनेकधर्मवाली मानने पर भी संकर और व्यतिकर दूषण नहीं हो सकता। देखो छिंगुरीके पासकी अनामिका—बिना नामवाली अंगुली बीचवाली मध्यमा अंगुलीसे छोटी तथा कनिष्ठा—सबसे छोटी छिंगुरीसे बड़ी है, परन्तु उसमें एक साथ छोटापन तथा बड़ापन होनेमें संकर या व्यतिकर दूषण तो नहीं आता? उसी तरह वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दो धर्म माननेमें भी कोई दूषण नहीं है।

§ ३७५. आपने जो 'जलमें भी अग्निरूपताका प्रसंग' दिया है, वह तो अत्यन्त तीव्र मोही-अज्ञानीके प्रलाप जैसा ही है, क्योंकि जल आदि पदार्थोंमें अपने जल स्वरूप आदिकी दृष्टिसे जलादि रूपता है न कि अग्नि आदि पररूपकी अपेक्षासे। अतः जलार्थी—प्यासा अग्निको पीनेके लिए क्यों दौड़ेगा? पानी पानी रूपसे सत् है न कि अग्नि रूपसे। संसारकी समस्त वस्तुएँ किन्हीं पदार्थोंके साथ स्वपर्याय रूपसे तथा किन्हीं पदार्थोंके साथ परपर्याय रूपसे सम्बन्ध रखती हैं अतः किसीसे अस्तित्वरूप और किसीसे नास्तित्वरूप सम्बन्ध होनेसे सभी वस्तुएँ सर्वात्मक मानी जाती हैं। अन्यथा वस्तुकी व्यवस्था ही घट नहीं सकती। जलका अपनी शीतलता आदिके साथ यदि स्वपर्यायरूपसे अस्तित्वात्मक सम्बन्ध है तो अग्नि आदिके साथ परपर्यायरूपसे नास्तित्वात्मक सम्बन्ध भी तो है।

§ ३७६. पुद्गलद्रव्यके विचित्र परिणमन होते हैं। जो परमाणु आज जलरूप हैं सम्भव है कि वे घड़ी भर बाद आग रूप या हवा रूप हो जाय। इनके सदा जल रूप या अग्निरूप ही रहनेका कोई नियम नहीं है। अतः बहुत कुछ सम्भव है कि-यही अग्निके परमाणु जो आज जल हैं, पहले अग्निरूप रहे हों या आगे अग्निरूपसे परिणत होंगे। इसलिए भूत और भविष्यत् अग्नि

१. –मानयो–भ० २। २. "नापि सङ्कर-व्यतिकरौ, स्वस्वरूपेणैव अर्थे तयोः प्रतीयमानत्वात्।" —न्यायकुमु० पृ० ३०१। "एकत्र बहुभेदानां संभवान्मेचकादिवत्॥" —न्यायविनि० २।४५। "यथा कलमापवर्णस्य यथेष्टं वर्णनिग्रहः॥५७॥ चित्रत्वाद्वस्तुनोऽप्येवं भेदाभेदावधारणम्। यदा तु शबलं वस्तु युगपत्प्रतिपद्यते॥६२॥ तदान्यानन्यभेदादि सर्वमेव प्रलीयते॥" —मीमांसाश्लो० आकृतिवाद। "एकाऽनेकस्वभावात्मकत्वं मेचकस्य वा। कथं च एकस्य नरसिंहत्वम् उमेश्वरत्वं वा स्यात्।" —न्यायकुमु० पृ० ३६९। ३. –दोषपोष एव–भ० २। ४. –यत्तो न जला–भ० २। ५. सर्वस्वार्थस्य भ० २।

भासमानयो[1]: सत्त्वासत्त्वयोः का नाम प्रमाणबाधा । न हि वृष्टेऽनुपपन्नं नाम, अन्यथा सर्वत्रापि तत्प्रसङ्गः । प्रमाणप्रसिद्धस्य च नाभावः कल्पयितुं शक्यः, अतिप्रसङ्गात्, प्रमाणविव्यवहारविलोपश्च स्यादिति ।

§ ३७७. एतेन [2]यदप्युच्यते 'अनेकान्ते प्रमाणमप्यप्रमाणं सर्वज्ञोऽप्यसर्वज्ञः सिद्धोऽप्यसिद्धः' इत्यादि, तदप्यक्षरगुणनिकामात्रमेव; यतः प्रमाणमपि स्वविषये प्रमाणं परविषये चाप्रमाणमिति स्याद्वादिभिर्मन्यत एव । सर्वज्ञोऽपि स्वकेवलज्ञानापेक्षया सर्वज्ञः सांसारिकजीवज्ञानापेक्षया त्वसर्वज्ञः । यदि तदपेक्षयापि सर्वज्ञः स्यात्; तदा सर्वजीवानां सर्वज्ञत्वप्रसङ्गः, सर्वज्ञत्वस्यापि छाद्मस्थिकज्ञानित्वप्रसङ्गो वा । सिद्धोऽपि स्वकर्मपरमाणुसंयोगक्षयापेक्षया सिद्धः परजीवकर्मसंयोगापेक्षया त्वसिद्धः । यदि [3]तदपेक्षयापि सिद्धः स्यात्; तदा सर्वजीवानां सिद्धत्वप्रसक्तिः

पर्यायकी अपेक्षा जलको भी अग्निरूप कह सकते हैं । गरम जलमें तो कथंचिद् अग्निरूपता मानी ही जाती है । अतः वर्तमान जल पर्यायसे चलने वाले लोक व्यवहारमें कोई विरोध नहीं आ सकता । जब सत्त्व और असत्त्व प्रत्यक्षबुद्धिमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास होता है तब प्रमाणबाधाका प्रसंग ही कैसे आ सकता है ? प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थमें अनुपपत्ति कैसी ? अन्यथा सभी पदार्थोंमें विवाद हो सकता है । प्रमाणसिद्ध वस्तुका अभाव भी कैसे किया जा सकता है ? अन्यथा संसारके समस्त पदार्थोंका अभाव हो जायगा । और सभी व्यवहारोंका लोप हो जायगा ।

§ ३७७. इस विवेचनसे आपका यह कहना 'अनेकान्तवादमें प्रमाण भी अप्रमाण, सर्वज्ञ भी असर्वज्ञ तथा सिद्ध भी संसारी हो जायगा' भी केवल अर्थशून्य अक्षरोंकी गिनतीके समान ही निरर्थक है । क्योंकि स्याद्वादी प्रमाणको भी अपने विषयमें ही प्रमाण रूप मानते हैं, पर विषयमें तो वह अप्रमाण रूप ही है । घटज्ञान घटविषय में प्रमाण है तथा पटादिविषयोंमें अप्रमाण । अतः एक ही ज्ञान विषयभेदसे प्रमाण भी है तथा अप्रमाण भी । सर्वज्ञ भी अपने केवलज्ञानकी अपेक्षा सर्वज्ञ है तथा संसारी जीवोंके अल्पज्ञानकी अपेक्षा असर्वज्ञ । यदि संसारियोंके ज्ञानकी अपेक्षा भी वह सर्वज्ञ हो जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि संसारके समस्त प्राणी सर्वज्ञ हैं । सर्वज्ञ अपने ज्ञानके द्वारा ही सबको जानता है । यदि वह हम लोगोंके ज्ञानके द्वारा भी पदार्थोंका ज्ञान कर सके तो फिर उसकी आत्मा और हमारी आत्मामें कोई अन्तर ही नहीं रहेगा । जिस तरह हम अपने ज्ञानसे जानते हैं उसी तरह सर्वज्ञ भी हमारे ही ज्ञानसे जानता है । अतः सर्वज्ञ और हमारी आत्मा में अभेद होनेसे या तो सर्वज्ञकी तरह हम सब लोग सर्वज्ञाता हो जायेंगे या हमारी तरह सर्वज्ञ भी अल्पज्ञ ही हो जायगा । सिद्ध–मुक्तजीव भी अपने साथ लगे हुए कर्मपरमाणुओंसे छूटकर सिद्ध हुए हैं अतः वे स्वसंयोगी कर्मपरमाणुओंकी अपेक्षा मुक्त हुए हैं न कि अन्य आत्माओंसे संयुक्त कर्म परमाणुओंकी अपेक्षा । यदि वे अन्य आत्माओंसे संयुक्त कर्म परमाणुओंकी अपेक्षा भी सिद्ध माने जाँय, तो इसका यह अर्थ हुआ कि 'अन्य आत्माओंके धर्म भी सिद्धजीवके स्वपर्याय हैं तभी तो वह अन्य आत्माओंसे संयुक्त कर्म परमाणुओंकी अपेक्षा भी सिद्ध माना जाता है ।' इस तरह अन्य संसारी आत्माएँ तथा सिद्ध आत्माओंमें सीधा स्वपर्यायका सम्बन्ध होनेसे अभेदरूपता हो जायगी और इससे या तो समस्त संसारी जीव सिद्ध हो जांयगे या फिर सिद्ध संसारी हो जांयगे । अभेद

---

१. –नयोः का म० २ । २. "स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः ।"—अष्ट० का० मा० २।२।३३ । "तथा मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्तत इति मुक्तो न मुक्तश्चेति स्यात् । एवं च सति स एव मुक्तः संसारी चेति प्रसक्तेः ।" —प्रश० व्यो० पृ० २० च । ३. तदपि म० २ ।

स्यात्। एवं 'कृतमपि न कृतम्, उक्तमप्यनुक्तम् भुक्तमप्यभुक्तम्' इत्यादि सर्वं यदुच्यते परैः; तदपि निरस्तमवसेयम्।

§ ३७८. ननु सिद्धानां कर्मक्षयः किमेकान्तेन कथंचिद्वा, आद्येऽनेकान्तहानिः। द्वितीये सिद्धानामपि सर्वथा कर्मक्षयाभावादसिद्धत्वप्रसङ्गः, संसारिजीववदिति, अत्रोच्यते—सिद्धैरपि स्वकर्मणां क्षयः स्थित्यनुभागप्रकृतिरूपापेक्षया चक्रे, न परमाण्वपेक्षया। न ह्याणूनां क्षयः केनापि कर्तुं पार्यते, अन्यथा मुद्गरादिभिर्घटादीनां [1]परमाणुशो विनाशे कियता कालेन सर्ववस्त्वभावप्रसङ्गः स्यात्। ततस्तत्राप्यनेकान्त एवेति सिद्धं दृष्टेष्टाविरुद्धमनेकान्तशासनम्।

§ ३७९. एते हि बौद्धादयः स्वयं स्याद्वादवादं युक्त्याभ्युपगच्छन्तोऽपि तं वचनैरेव निरा-

---

पक्षमें एकरूपता हो ही सकती है या तो सब संसारी बने रहें या फिर सब मुक्त हो जांय। इसी तरह अनेकान्तवादमें कहा हुआ भी वचन कथंचित् नहीं कहा हुआ, किया हुआ भी कार्य कथंचित् नहीं किया हुआ, खाया हुआ भी भोजन कथंचित् नहीं खाया हुआ होना चाहिए' इत्यादि दूषण भी असत्य हैं, क्योंकि एक ही वस्तुमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे विरोधी धर्म मानना प्रमाणसिद्ध है। जो कार्य किया गया है उसकी ही अपेक्षा 'कृत' जो बात कही गयी है उसकी ही अपेक्षा 'उक्त' तथा जो भोजन खाया गया है उसकी ही अपेक्षा 'भुक्त' व्यवहार हो सकता है न कि अन्यवस्तुओंकी अपेक्षा। अतः अन्यवस्तुओंकी अपेक्षा 'अकृत अनुक्त या अभुक्त' व्यवहार होनेमें कोई भी बाधा नहीं आती।

§ ३७८. शंका—आपके सिद्ध मुक्त जीवोंने कर्मोंका एकान्तसे सर्वथा क्षय किया है या कथंचित्? यदि सर्वथा क्षय किया है; तो अनेकान्तवाद कहाँ रहा? जहाँ कोई भी बात सर्वथा-'ऐसा ही है'—मानी वहीं एकान्तवादका प्रसंग हो जाता है। यदि सिद्धोंने कर्मोंका क्षय कथंचित् किया है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि आपके सिद्ध सर्वथा कर्मरहित नहीं हैं उनमें भी कथंचित् कर्मका सद्भाव है जैसे कि संसारी जीवोंमें। इस तरह अनेकान्तवाद बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है।

समाधान—सिद्ध जीवोंने भी कर्मपरमाणुओं की स्थिति फल देनेकी शक्ति तथा अपने प्रति कर्मत्वरूपसे परिणमन करनेका नाश किया है न कि कर्मपरमाणुमात्रका समूलनाश। उन्होंने उन परमाणुओंका अपनी आत्मामें कर्मरूपसे सम्बन्ध नहीं रहने दिया। परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य तो नष्ट नहीं किया ही जा सकता। कोई भी अनन्तशक्तिशाली भी किसी द्रव्यका समूलनाश नहीं कर सकता। यदि इस तरह परमाणुओंका नाश होने लगे तो फिर मुद्गर आदि के परमाणुओं तक समूलनाश होनेसे एक न एक दिन संसारसे परमाणुओंका नामोनिशाँ मिट जायगा। उनका सर्वापहारी लोप हो जानेसे संसारके समस्त पदार्थोंका अभाव हो जायगा। अतः जिस तरह मुद्गरकी चोट घड़ेकी पर्यायका नाश करता है और परमाणुओंको पड़े रहने देता है उसी तरह सिद्ध भी कर्मपरमाणुओंकी कर्मत्वपर्यायका नाश करते हैं न कि परमाणुओंका। वे परमाणु जली रस्सीकी तरह सिद्धकी आत्माके ऊपर भी पड़े रहें हैं तब भी बन्धनमें कारण नहीं हो सकते। अतः सिद्धोंके कर्मक्षयमें भी अनेकान्त रूपता है। इस तरह प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणोंसे सर्वथा अबाधित अनेकान्त शासनकी सिद्धि हो जाती है।

§ ३७९. इन अकाट्य युक्तियोंसे बौद्ध आदि वादी स्वयं स्याद्वादको स्वीकार करते हैं, इसके माने बिना उनका शास्त्रव्यवहार या लोकव्यवहार ही गड़बड़ीमें पड़ जाता है। इस तरह अपने

---

१. परमाणुविना—आ०, क०।

कुर्वन्तो नूनं कुलीनताभिमानिनो मानवस्य स्वजननीमाजन्मतोऽप्यसतीमाचक्षाणस्य वृत्तमनुकुर्वन्ति। तथाहि–प्रथमतः सौगताभ्युपगतोऽनेकान्तः प्रकाश्यते। दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात् कुतश्चिद् भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणं, किं तु प्रत्युताप्रमाणं, विपरीताध्यवसायाक्रान्तत्वात्। क्षणिकत्वेऽपि न तत्प्रमाणं अनुरूपाध्यवसायाजननात् नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात्प्रमाणमित्येवं वादिनां बौद्धानामेकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यं,[1] नीलादौ तु प्रामाण्यं प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो[2] बलादापतति। तथा दर्शनोत्तरकालभाविनः स्वाकाराध्यवसायिन एकस्यैव विकल्पस्य बाह्यार्थे सविकल्पकत्वमात्म-

कार्य तथा व्यवहारमें स्याद्वादको स्वीकार करके भी उसे मुँहसे नहीं कहना चाहते उलटे उस व्यवहारनिर्वाहक स्याद्वादका अंटसंट वचनोंसे खण्डन करते हैं। उस समय उनकी दशा उस मूर्ख कुलीनकी तरह दयनीय हो जाती है, जो अपने कुलकी पवित्रताका अभिमान रख कर भी मूर्खतावश अपने ही वचनोंसे अपनी माताको असती—व्यभिचारिणी कहता फिरता हो। सर्व प्रथम बौद्धों ने जिस-जिस प्रकार अनेकान्तवादको अगत्या स्वीकार किया है उसका विवेचन करते हैं—बौद्ध निर्विकल्पकदर्शनको प्रमाण रूप भी मानते हैं तथा अप्रमाणरूप भी। उनका मत है कि—निर्विकल्पकदर्शन—प्रत्यक्ष ऐसे साधारण पदार्थको विषय करता है जो क्षणिक भी हो सकता है तथा अक्षणिक—नित्य भी। [illegible] कारणोंसे वस्तुमें 'यह वही वस्तु है' इस प्रकारका नित्यत्वका आरोप हो जाता है। इस मिथ्या आरोपके कारण वस्तु नित्यरूपमें भासित होने लगती है। निर्विकल्पकदर्शन इस नित्यत्वके आरोपमें प्रमाण नहीं है वह इसका समर्थन नहीं करता। वह तो उलटा इस नित्यत्वारोपमें अप्रमाण ही है। क्षणिकवस्तुमें नित्यत्वरूप विपरीत आरोप होनेके कारण दर्शन इसमें प्रमाण हो ही नहीं सकता, क्योंकि दर्शन तो वस्तुके अनुसार ही उत्पन्न होता है। इस तरह निर्विकल्पदर्शन नित्यत्वके आरोपमें प्रमाण तो है ही नहीं बल्कि अप्रमाण ही है। यद्यपि निर्विकल्पक दर्शन क्षणिक अंशका अनुभव कर लेता है परन्तु 'यह क्षणिक है' ऐसे अनुकूल विकल्पको उत्पन्न न करनेके कारण वह क्षणिकांशमें भी प्रमाण नहीं है। यदि निर्विकल्पक ही क्षणिकांशमें प्रमाण हो जाय; तो अनुमानसे क्षणिकत्वकी सिद्धि करनेकी कोई आवश्यकता ही न होनी चाहिए। और ऐसी हालतमें 'सब क्षणिक हैं सत् होनेसे' यह अनुमान निरर्थक ही हो जायगा। इस तरह निर्विकल्पक क्षणिक अंशमें भी प्रमाण नहीं है। नीलादि अंशोंमें तो 'यह नीला है' इस प्रकारके अनुकूल विकल्पको उत्पन्न करनेके कारण वह प्रमाण माना जाता है। तात्पर्य यह कि एक ही निर्विकल्पक दर्शनको नीलादि अंशोंमें अनुकूलविकल्पकी उत्पत्ति होनेसे प्रमाण रूप तथा क्षणिक और अक्षणिक अंशोंमें अप्रमाणरूप माननेवाले बौद्धोंने अनेकान्तको बलात् अपना ही लिया है। उनका एक ही दर्शनको प्रमाण और अप्रमाण दोनों रूप मानना अनेकान्तवादका ही समर्थन करना है। इसी तरह वे निर्विकल्पकके बाद उत्पन्न होनेवाले सविकल्पकज्ञानको बाह्यार्थमें सविकल्पक तथा स्वरूपमें निर्विकल्पक मानते हैं। निर्विकल्पकदर्शनके बाद 'यह नीला है, यह पीला है' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होते हैं। ये विकल्पज्ञान अपने आकारमात्रका ही निश्चय करने वाले होते हैं। ये बाह्य नीलादि अंशोंमें ही शब्द योजना होनेसे सविकल्पक होते हैं। स्वरूपकी दृष्टिसे तो सभी ज्ञान निर्विकल्पक ही होते हैं। ज्ञान चाहे निर्विकल्पक हो या सविकल्पक, दोनोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक रूप ही होता है। धर्मकीर्ति नामके बौद्धाचार्यने स्वयं न्यायबिन्दुमें कहा है कि—"समस्त चित्त सामान्य अवस्थाको ग्रहण करनेवाले ज्ञान तथा चैत्त विशेष अवस्थाओंके ग्राहक

१. –प्रामाण्यं प्रसक्त–भ० २। २. –गमोऽवपतति भ० २।

स्वरूपे तु सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति वचनान्निर्विकल्पकत्वं च रूपद्वयमभ्युपगतवतां तेषां कथं नानेकान्तवादापत्तिः। तथा हिंसाविरतिदानादिचित्तं यथैव स्वसंवेदनगतेषु सत्त्वबोधरूपस्वसुखादिषु प्रमाणं, तथैव क्षणक्षयित्वस्वर्गप्रापणशक्तियुक्तत्वादिष्वप्रमाणमित्यनेकान्त एव। तथा यद्वस्तु नीलचतुरस्रोर्ध्वतादिरूपतया प्रमेयं तदेव मध्यभागक्षणक्षित्यविनाप्रमेयमिति कथं नानेकान्तः। तथा सविकल्पकं स्वप्नादिदर्शनं वा[1] यद्बहिरर्थापेक्षया भ्रान्तं ज्ञानं, तदेव स्वस्वरूपापेक्षयाभ्रान्तमिति बौद्धाः प्रतिपन्नाः। तथा यन्निशीथिनीनाथद्वयादिकं द्वित्वेऽलीकं, तदपि यद्व-

---

ज्ञानोंका स्वरूपसंवेदन प्रत्यक्ष—निर्विकल्पक होता है" अत एक ही विकल्पज्ञानको बाह्य नीलादिकी अपेक्षा सविकल्पक तथा स्वरूपकी अपेक्षा निर्विकल्पक. इस तरह निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ही रूप माननेवाले बौद्धोंने अनेकान्तवादको स्वीकार कर ही लिया है। उनका एक ही विकल्पको दो रूप मानना अनेकान्तवादके बिना कैसे हो सकता है? इसी तरह वे अहिंसा रूप धर्मक्षणके प्रत्यक्षको अपनी सत्तामें प्रमाण रूप तथा स्वर्गप्राप्त कराने की शक्तिमें अप्रमाण रूप मानते हैं। हिंसासे विरक्त होकर अहिंसक बनना तथा दान देना आदि शुभ क्रियाओंमें स्वर्ग पहुँचाने की शक्ति आगमसे प्रसिद्ध है, इनको बौद्ध क्षणिक भी मानते हैं। जिस समय कोई व्यक्ति किसी पर अहिंसा दया करके उसे कुछ दान देता है उस समयका अहिंसा और दानका प्रत्यक्ष अहिंसा आदिकी सत्ता, उनकी ज्ञानरूपता तथा उनके सुखरूपताका प्रत्यक्ष ही अनुभव कराता है तथा आगे 'मैंने दया की उससे सन्तोष या सुख हुआ' ऐसे अनुकूल विकल्पको उत्पन्न करनेके कारण वह अहिंसा आदिकी सत्ता और सुखरूपतामें प्रमाण माना जाता है। अथवा अहिंसा और दान आदि स्वयं ज्ञानक्षणरूप हैं अतः वे अपनी सत्ता ज्ञानरूपता तथा सुखरूपताका स्वयं ही अनुभव करनेके कारण उक्त अंशोंमें प्रमाण है। परन्तु अहिंसा आदिमें रहनेवाली स्वर्गप्रापणशक्ति में तथा उसकी क्षणिकतामें वह अहिंसा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्षसे उसकी क्षणिकता तथा स्वर्गप्रापण शक्तिका अनुभव हो जाता है परन्तु उनके अनुकूल 'ये क्षणिक हैं ये स्वर्गप्रापक हैं' इत्यादि विकल्पोंकी उत्पत्ति न होनेके कारण प्रत्यक्ष इन अंशोंमें प्रमाण नहीं माना जाता। इस तरह एक ही अहिंसाक्षणको अपनी सत्ता आदिमें प्रमाणात्मक तथा स्वर्गप्रापणशक्ति या क्षणिकतामें अप्रमाणरूप माननेवाले बौद्धोंने अनेकान्तको स्वीकार किया ही है। इसी तरह वे नीलादि वस्तुओंको नीलादिकी अपेक्षा प्रमेय तथा क्षणिकत्व आदिकी अपेक्षा अप्रमेय कहते हैं। जो नीलवस्तु अपने नीलेपन चौकोण और सामने दिखनेवाले ऊपरी आकार आदिकी दृष्टिसे प्रमेय हैं—प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय होता है वही अपने भीतरी अवयवोंकी दृष्टिसे तथा क्षणिकत्व आदि की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं होनेसे अप्रमेय है। इस तरह एक ही नीलादिको प्रमेय तथा अप्रमेय दो रूप मानना क्या अनेकान्त नहीं है? इसी तरह वे स्वप्नादि भ्रान्तज्ञानको बाह्य पदार्थकी प्राप्ति न करानेके कारण भ्रान्त तथा स्वरूपकी दृष्टिसे अभ्रान्त मानते हैं। स्वप्नमें 'मैं धनी हूँ, मैं राजा हूँ' इत्यादि विकल्प ज्ञान होते हैं। ये विकल्पज्ञान बाह्यमें धनीपन या राजापनका अभाव होनेसे जागने पर कंगालीका अनुभव होनेसे भ्रान्त हैं, परन्तु वे अपने स्वरूपकी दृष्टिसे अभ्रान्त हैं। वैसे विकल्पज्ञान स्वप्नमें हुए तो अवश्य ही हैं। इसी तरह सीपमें चाँदीका भान करानेवाली मिथ्या विकल्प चाँदी रूप बाह्य अर्थका प्रापक न होनेसे भ्रान्त है परन्तु वैसा मिथ्याज्ञान हुआ तो अवश्य है, उसका स्वरूप संवेदन तो होता ही है अतः वह स्वरूपकी दृष्टिसे अभ्रान्त है। इस तरह एक ही मिथ्याविकल्पको बाह्य अर्थमें भ्रान्त तथा स्वरूपमें अभ्रान्त मानना स्पष्ट ही अनेकान्तको स्वीकार करना है। इसी तरह वे द्विचन्द्रज्ञानको द्वित्व अंशमें विसंवादी होनेसे

---

१. च म० १।

तानियतदेशचारितादौ तेऽनलीकं प्रतिपद्यन्ते । कथं च भ्रान्तज्ञानं भ्रान्तिरूपतयात्मानमसंविदत् ज्ञानरूपतया चावगच्छत् स्वात्मनि[1] स्वभावद्वयं विरुद्धं न साधयेत् । तथा पूर्वोत्तरक्षणापेक्षयैकस्यैव क्षणस्य जन्यत्वं जनकत्वं चाभ्युपगमन् । तथार्याकारमेव ज्ञानमर्थस्य ग्राहकं नान्यथेति मन्यमानाश्चित्रपटग्राहकं ज्ञानमेकमप्यनेकाकारं संप्रतिपन्नाः । तथा सुगतज्ञानं सर्वार्थविषयं सर्वार्थाकारं चित्रं कथं न भवेत् । तथैकस्यैव हेतोः पक्षधर्मसपक्षसत्त्वाभ्यामन्वयं विपक्षेऽविद्यमानत्वाद् व्यतिरेकं चाभ्यधिरुद्धं ते तात्त्विकमूरीचक्रिरे । एवं वैभाषिकादिसौगताः स्वयं स्याद्वादं स्वीकृत्यापि तत्र विरोधमुद्भावयन्तः स्वशासनानुरागान्धकारसंभारविलुप्तविवेकदृशो विवेकिनामपकर्णनीया एव भवन्ति ।

§ ३८०. किं च, सौत्रान्तिकमत एकमेव कारणमपरापरसामग्र्यन्तःपातितयानेककार्यकार्या-

---

अप्रमाण तथा राफेदी नियतदेशमें गमन करना आदि चन्द्रगत धर्मोंमें उसे प्रमाण मानते हैं । अतः एक ही द्विचन्द्रज्ञानको अंशतः प्रमाण तथा अंशतः अप्रमाण कहना अनेकान्तका ही निरूपण करना है । जिस व्यक्तिको मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है वह उस मिथ्या ज्ञानका ज्ञानरूपसे तो अनुभव करता है परन्तु मिथ्यात्वरूपसे अनुभव नहीं कर पाता। यदि अपनी भ्रान्तताको जानने लगे तो सम्यग्ज्ञान ही हो जायगा अथवा मिथ्याज्ञान अपनी ज्ञानरूपताका तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे साक्षात्कार करता है पर अपनी भ्रान्तताको नहीं जानपाता । अतः एक ही मिथ्याज्ञानका अंशतः ज्ञानरूपसे स्वरूप साक्षात्कार तथा अंशतः मिथ्यारूपसे असाक्षात्कार स्पष्ट ही दो विरोधी भावोंको बताता हुआ अनेकान्तको सिद्ध कर रहा है । इसी तरह वे एक किसी भी क्षणको पूर्व क्षणका कार्य तथा उत्तरक्षणका कारण मानते ही हैं । यदि वह पूर्वक्षणका कार्य न हो तो सत् होकर भी किसीसे उत्पन्न न होनेके कारण वह नित्य हो जायगा । यदि उत्तर क्षणको उत्पन्न न करे तो अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु हो जायगा । तात्पर्य यह कि एक मध्यक्षणमें पूर्वकी अपेक्षा कार्यता तथा उत्तरकी अपेक्षा कारणता रूप विरुद्धधर्म मानना अनेकान्तको खुलेरूपसे ही स्वीकार करना है । बौद्ध 'जो ज्ञान जिस पदार्थके आकार होता है वह उसी पदार्थको जानता है, निराकार ज्ञान पदार्थको नहीं जान सकता' इस तदाकारताके नियमको बौद्धोंने प्रमाणताका नियामक माना है । इस नियमके अनुसार नाना रंग वाले चित्र पटको जाननेवाला ज्ञान भी चित्राकार ही होगा । अतः एक ही चित्र पट ज्ञानको अनेक आकारवाला मानना एकको ही चित्र-विचित्ररूप मानना अनेकान्त नहीं तो और क्या है । इसी नियमके अनुसार संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञ सुगतका ज्ञान सर्वाकार याने चित्र-विचित्राकार होना ही चाहिए । इस तरह सुगतके एक ही ज्ञानको सर्वाकार मानना भी अनेकान्तका ही समर्थन करना है । बौद्ध हेतुके तीन रूप मानते हैं । वे हेतुको पक्षमें रहनेके कारण और सपक्ष दृष्टान्तमें उसकी सत्ता होनेके कारण अन्वयात्मक तथा विपक्षमें उसकी सत्ता न होनेके कारण व्यतिरेकात्मक मानते हैं । अन्वय और व्यतिरेक स्पष्ट ही एक दूसरेके विरोधी हैं । इस तरह एक ओर तो एक ही हेतुको वस्तुतः अन्वय रूप और व्यतिरेक रूप मानना तथा दूसरी ओर अनेकान्तको कोसना कहाँकी बुद्धिमानी है ? इस तरह वैभाषिक आदि बौद्ध उक्त प्रकारसे स्याद्वादको स्वयं स्वीकार करके भी अपने मतके दुराग्रहसे विवेक शून्य होकर अनेकान्तमें विरोध आदि दूषणोंको बताते हैं । सचमुच उनको इस शराबियों-जैसी उन्मत्तदशापर विवेकियोंको दया ही करनी चाहिए । उनकी इस तरहकी स्ववचन विरोधी बातें उपेक्षाके योग्य हैं ।

§ ३८०. सौत्रान्तिक एक ही कारणको भिन्न-भिन्न सामग्रीके सहकारसे एक साथ अनेक कार्योंका उत्पादक मानते हैं । जैसे रूप-रस-गन्ध आदि सामग्रीका एक ही रूपक्षण अपने उत्तर

---

१. –नि भावद्वयं आ०, क० ।

विद्यते, [1]यथा रूपरसगन्धादिसामग्रीगतं रूपमुपादानभावेन स्वोत्तरं रूपक्षणं जनयति, रसादिक्षणांश्च सहकारितया, [2]तदेव च रूपं रूपालोकमनस्कारचक्षुरादिसामग्यन्तरगतं सत्पुरुषस्य ज्ञानं सहकारितया जनयति। आलोकाद्युत्तरक्षणांश्च [illegible] किमेकेन स्वभावेन कुर्यात्, नानास्वभावैर्वा। यद्येकेन स्वभावेन; तर्ह्येकस्वभावेन कृतत्वात्कार्याणां भेदो न स्यात्। अथवा नित्योऽपि पदार्थ एकेन स्वभावेन नानाकार्याणि कुर्वाणः कस्मान्निषिध्यते। अथ नित्यस्यैक[3]स्वभावत्वेन नानाकार्यकरणं न घटते, तर्ह्यनित्यस्यापि तेषां करणं कथमस्तु। निरंशैकस्वभावत्वात्। सहकारिभेदाच्चेत्कुरुते। तर्हि नित्यस्यापि सहकारिभेदात्तदस्तु। अथ नानास्वभावैरनित्यः कुर्यादिति चेत्, नित्यस्यापि तथा तत्करणमस्तु। अथ नित्यस्य नानास्वभावा न संभवन्ति, कूटस्थनित्यस्यैकस्वभावत्वात्, तर्ह्यनित्यस्यापि नानास्वभावा न सन्ति, निरंशैकस्वभावत्वात्। तदेवं नित्यस्यानित्यस्य च समानदोषत्वान्नित्यानित्योभयात्मकमेव वस्तु मानितं वरम्। तथा चैकान्तनित्यानित्यपक्षसंभवं दोषजालं सर्वं परिहृतं भवतीति।

रूपक्षणको उपादान होकर उत्पन्न करता है। वही रूपक्षण उत्तर रसादि क्षणोंकी उत्पत्तिमें सहकारी होता है वही रूपक्षण रूप आलोक मनस्कार चक्षुरादि ज्ञानसामग्रीमें शामिल होकर रूपज्ञानमें आलम्बन कारण होता है तथा आलोक आदिके उत्तरक्षणोंकी उत्पत्तिमें सहकारी। रूपज्ञानकी उत्पत्तिमें मनस्कार-पूर्वज्ञान तो समनन्तर प्रत्यय—उपादान कारण होता है, रूपक्षण आलम्बन प्रत्यय—विषयरूपसे कारण, आलोक-सहकारी कारण तथा चक्षुरादि इन्द्रियां अधिपति प्रत्यय हैं। चक्षुरादि ज्ञानके स्वामी होकर कारण होते हैं। जिस इन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञानका उसी इन्द्रियके नामसे चाक्षुष रासन आदि रूपसे व्यवहार होता है, अतः चक्षु आदि इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय होती हैं। इस तरह एक ही रूपक्षण अनेक कार्योंको एक साथ उत्पन्न करता है। इस विषयमें सौत्रान्तिकोंसे पूछना चाहिए कि—वह रूपक्षण युगपत् अनेक कार्योंको एक स्वभावसे उत्पन्न करता है या अनेक स्वभावोंसे? यदि एक स्वभावसे ही अनेक कार्य उत्पन्न हों, तो उन कार्योंमें स्वभावभेद नहीं हो सकेगा, वे सब एक ही स्वभाववाले हो जायँगे। और इसी तरह नित्य भी यदि एक स्वभावसे अनेक कार्य करता है तो कार्योंमें अभिन्न-स्वभावताका प्रसंग देकर उसका निषेध क्यों किया जाता है? यदि एक स्वभाववाला होनेसे नित्य अनेक कार्योंको नहीं कर सकता तो एकस्वभाववाला क्षणिक भी कैसे उन्हें करता है? नित्य की तरह क्षणिकको भी तो आप निरंश तथा एक स्वभाववाला ही मानते हैं। यदि विभिन्न सहकारियोंकी सहायतासे निरंश और एक स्वभाववाला भी क्षणिक कारण अनेक कार्योंको उत्पन्न करता है; तो इसी तरह विभिन्न सहकारियोंकी मददसे एकस्वभाववाले नित्यको भी अनेक कार्योंका उत्पादक मान लेना चाहिए। यदि क्षणिक पदार्थ अनेक स्वभावोंसे अनेक कार्य उत्पन्न करता है, तो नित्यको भी अनेक स्वभावों-द्वारा अनेक कार्योंका कर्ता मान लेना चाहिए। यदि एकस्वभाववाला होनेके कारण कूटस्थ सदास्थायी नित्यमें अनेक स्वभावोंकी सम्भावना नहीं हो; तो निरंश तथा एक स्वभाववाले क्षणिकमें भी अनेक स्वभाव कहाँसे आयेंगे? वह भी तो नित्यकी ही तरह एक स्वभाववाला है? इस तरह सर्वथा नित्य तथा सर्वथा क्षणिक वस्तुमें बराबर समान दोष आते हैं अतः नित्यानित्यात्मक वस्तुको ही कार्यकारी मानना समुचित है। वस्तुको नित्यानित्यात्मक माननेसे सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य पक्षमें आनेवाले सभी दोषोंका परिहार हो जाता है। इस तरह सौत्रान्तिक एक क्षणको युगपत् अनेक कार्यकारी मानकर भी अपने सर्वथा क्षणिकत्वके आग्रहके कारण उसे हजम नहीं कर सकते।

---

१. यथा स्वरूप–म० २। २. तदेव च रूपा–म० २। ३. –स्वभावेन नाना–म० २।

§ ३८१. ज्ञानवादिनोऽपि ताथागताः स्वार्थाकारयोरभिन्नमेकं[1] संवेदनं संवेदनाच्च भिन्नौ ग्राह्यग्राहकाकारौ स्वयमनुभवन्तः कथं स्याद्वादं निरस्येयुः । तथा संवेदनस्य ग्राह्यग्राहकाकार-विकलता स्वप्नेऽपि भवद्भिर्नानुभूयते, तस्या अनुभवे वा सकलासुमतामधुनैव[2] मुक्ततापत्तेः, तत्त्व-ज्ञानोत्पत्तिर्मुक्तिरिति वचनात् । अनुभूयते च संवेदनं संवेदनरूपतया कथंचित् । तत एकस्यापि संवेदनस्यानुभूताननुभूततयानेकान्तप्रतिभासो दुःशकोऽपह्नोतुमिति । तथा सर्वस्य ज्ञानं स्वसंवेदनेन ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतयात्मानमसंविदत्, संविद्रूपतां चानुभवद्विकल्पेतरात्मकं सदेकान्तवादस्य प्रतिक्षेपकमेव भवेत् । तथा ग्राह्याकारस्यापि युगपदनेकार्थावभासिनश्चित्रैकरूपता प्रतिक्षिपत्येवै-कान्तवादमिति ।

§ ३८२. नैयायिकैर्वैशेषिकैश्च यथा स्याद्वादोऽभ्युपगम्यते तथा प्रदर्श्यते । इन्द्रियसंनिकर्षादि-धूमज्ञानं जायते, तस्माच्चाग्निज्ञानम् । अत्रेन्द्रियसंनिकर्षादि प्रत्यक्षं प्रमाणं तत्फलं धूमज्ञानम्, धूमज्ञानं चाग्निज्ञानापेक्षयानुमानं प्रमाणम्, अग्निज्ञानं त्वनुमानफलम् । तदेवं धूमज्ञानस्य प्रत्यक्ष-फलतामनुमानप्रमाणतां चोभयरूपतामभ्युपगच्छन्ति । एवमन्यत्रापि ज्ञाने फलता प्रमाणता च

---

§ ३८१. ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार ज्ञानाकार और अर्थाकारको अभिन्न मानते हैं । वे ज्ञानसे भिन्न किसी बाह्य अर्थकी सत्ता स्वीकार नहीं करते । ज्ञान ही ग्राह्य-पदार्थके आकारमें तथा ग्राहक-ज्ञानके आकारमें प्रतिभासित होता है । इस तरह एक ही संवेदनमें परस्पर भिन्न ग्राह्या-कार तथा ग्राहकाकारका स्वयं अनुभव करनेवाले ज्ञानवादी स्याद्वादका कैसे निराकरण कर सकते हैं । उनका ग्राह्य-ग्राहकाकार संवेदन ही स्वयं अनेकान्तवादका समर्थन कर रहा है । संवेदनमात्र परमार्थतः ग्राह्य और ग्राहक दोनों ही आकारोंसे सर्वथा शून्य निरंश है । परन्तु संवेदनकी यह वास्तविक ग्राह्याद्याकाररहितता सभीमें भी नहीं दिखाई देती । यदि संवेदनके इस वास्तविक ग्राह्याद्याकारहित निरंश स्वरूपका अनुभव होने लगे तो सभी प्राणियोंको तत्त्वज्ञान होने से अभी ही मुक्ति हो जायगी । "तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति ही मुक्ति है" यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है । संवेदनकी संवेदनरूपताका अनुभव तो सभी प्राणियोंको होता ही रहता है । इस तरह एक ही संवे-दनका ग्राह्यादि आकार शून्यताकी दृष्टिसे अनुभव न होना तथा उसीका संवेदनरूपताकी दृष्टिसे अनुभव होना अनेकान्तवादका ही रूप है । एक ही संवेदनमें अननुभूतता तथा अनुभूतता रूप दो धर्मोंके माननेवालेको अनेकान्तका लोप करना स्ववचन विरोध ही होगा, उसका लोप करनेसे संवेदनके स्वरूपका ही लोप हो जायगा । इसी तरह सभी ज्ञानोंके स्वसंवेदन ज्ञानको ग्राह्याद्याकार रहितता—निरंशताका तो अनुभव नहीं कर पाते पर संवेदनरूपताका अनुभव अवश्य करते हैं । इस तरह एक ही ज्ञानको निरंशताकी दृष्टिसे अनिश्चयात्मक तथा संवेदनरूपताकी दृष्टिसे निश्चयात्मक मानना स्वयं उनके एकान्तवादका खण्डन करके स्याद्वादकी सिद्धि कर देता है । संवेदनका ग्राह्याकार भी एक साथ अनेक पदार्थोंके आकार परिणत हो एक होकर भी चित्र-विचित्र रूपसे प्रतिभासित होता है । एक ग्राह्याकारकी यह चित्ररूपता भी अनेकान्तका स्थापन तथा एकान्तवादका खण्डन कर देती है ।

§ ३८२. अब नैयायिक और वैशेषिकोंने जहाँ-जहाँ जिस जिस पदार्थ व्यवस्थामें अनेकान्त-का उपयोग किया है, वे स्थल बताते हैं—इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे धूमका प्रत्यक्ष होता है तथा धूमज्ञानसे अग्निका अनुमान होता है । यहाँ इन्द्रियसन्निकर्ष आदि प्रत्यक्ष प्रमाणरूप हैं तथा धूमज्ञान है उनका फल । धूमज्ञान अग्निका अनुमान करानेके कारण अनुमान प्रमाणरूप है तथा अग्निका ज्ञान उसका फल है । अब विचार कीजिए कि—एक ही धूमज्ञानमें प्रत्यक्षकी दृष्टिसे फलरूपता तथा अग्निज्ञानकी दृष्टिसे प्रमाणरूपता स्वयं वैशेषिकोंने मानी है । इसी तरह और भी

---

१. –कं संवेदनाच्च म० २ । २. –धुनैवं मु–म० २ ।

पूर्वोत्तरापेक्षया यथार्हमवगन्तव्या। एकमेव चित्रपटादेरवयविनो रूपं विचित्राकारमभ्युपयन्ति। न च विरोधमाचक्षते। तदुक्तं कन्दल्याम्[1]:—

"विरोधादेकमनेकस्वभावमयुक्तमिति चेत् न तथा च प्रावादुकप्रवादः —

एकं चेत्तत्कथं चित्रं चित्रं चेदेकता कुतः। एकं चैव तु चित्रं चेत्येतच्चित्रतरं ततः[2] ॥१॥"

इति को विरोध इत्यादि। चित्रात्मनो रूपस्य नायुक्तता, विचित्रकारणगामर्थ्यभाविनस्तस्य सर्वलोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेणैवोपपादितत्वात्" [प्रश० कन्द० पृ० ३०] इत्यादि। **एकस्यैव धूपकडुच्छकस्यैकस्मिन् भागे शीतस्पर्शः परस्मिंश्च भाग उष्णस्पर्शः। अवयवानां भिन्नत्वेऽप्यवयविन एकत्वादेकस्यैव द्वौ विरुद्धौ तौ स्पर्शौ, यतस्तेषामेवं सिद्धान्तः 'एकस्यैव पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृताऽनावृताद्यनेकविरुद्धधर्मोपलम्भेऽपि दुर्लभो[3] विरोधगन्धः' इति। नित्यस्येश्वरस्य सिसृक्षासंज्ञिहीर्षा च, रजस्तमोगुणात्मकौ स्वभावौ, क्षितिजलाद्यष्टमूर्तिता**

ज्ञानोंमें पूर्व-पूर्व साधकतम अंशोंमें प्रमाणता तथा उत्तरोत्तर साध्य अंशोंमें फलरूपता समझ लेनी चाहिए। एक ही ज्ञान पूर्वकी अपेक्षा फल तथा उत्तरकी अपेक्षा प्रमाणरूप होता है। इस तरह एक ही ज्ञानमें प्रमाणता तथा फलरूपता मानना अनेकान्तका ही समर्थन करना है। एक ही नाना-रंगवाले चित्रपट रूप अवयवीमें चित्र-विचित्र रूप मानते हैं। एक ही अवयवीको चित्र-विचित्र अनेक रूप वाला माननेमें इन्हें कोई विरोध नहीं मालूम होता। वे स्वयं अवयवीकी चित्ररूपतामें आनेवाले विरोधका परिहार करते हैं। न्यायकन्दलीमें श्रीधराचार्यने विरोधपरिहार करते हुए लिखा है कि—"**शंका**—एक अवयवीमें अनेक रूप माननेमें तो विरोध दूषण आता है अतः एक अवयवीको चित्ररूप मानना अयुक्त है। किसी बकवादी वादीने कहा भी है—यदि एक है तो चित्र—अनेकरूपवाला कैसे हो सकता है? यदि चित्र—अनेकरूपवाला है तो उसमें एकता कैसे हो सकती है? एकता और चित्रतामें तो विरोध है। एक भी कहना और चित्र—अनेक भी कहना तो वस्तुतः चित्रतर—अत्यन्त आश्चर्यकी बात है। **समाधान**—इनमें क्या विरोध है? रूपका चित्र मानना किसी भी तरह अयुक्त नहीं है, क्योंकि चित्र रूपवाले कारणोंसे रूप स्वयं ही चित्र रूपसे उत्पन्न होता है। यह बात सब लोगोंको प्रत्यक्षसे ही अनुभवमें आती है। प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुमें विरोध कैसा?" इस तरह एक अवयवीको चित्ररूपवाला मानना अनेकान्तवादके बिना नहीं हो सकता। एक ही धूपदानीका एक हिस्सा ठण्डा तथा दूसरा हिस्सा गरम देखा जाता है। यद्यपि धूपदानीमें अवयवभेद माना जा सकता है; परन्तु धूपदानी नामका अवयवी तो एक ही है और उसी एक धूपदानीरूप अवयवीमें परस्पर विरुद्ध शीत और उष्ण दोनों ही स्पर्श पाये जाते हैं। वैशेषिकों का ही यह सिद्धान्त है कि—एक ही पट आदि अवयवीमें एक हिस्सेसे चलरूपता-क्रिया होना हिलना तथा दूसरे हिस्सेसे अचल—स्थिर रहना, एक हिस्सेमें लालरंगका संयोग होनेसे लाल हो जाना तथा दूसरी ओर बिना रंगा, सफेद ही रहना, एक हिस्सेको किसी दूसरे कपड़ेसे आवृत—ढँका जाना तथा दूसरे हिस्सेसे खुला रहना आदि अनेक विरोधी धर्मोंके रहनेपर भी कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब होता जब एक ही हिस्से की दृष्टिसे विरोधी दो धर्मोंकी सत्ता मानी जाती पर भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंको माननेमें विरोधकी गन्ध भी नहीं है। वे नित्य एक ईश्वरमें जगत्के रचनेकी इच्छा तथा जगत्का प्रलय संहार करनेकी इच्छा, रजोगुण और तमोगुण

---

१. "विरोधादेकमनेकस्वभावमयुक्तमिति चेत् तथा च प्रावदुकप्रवादः। एकं च चित्रं चेत्येतच्च चित्रतरं तत इति। को विरोधो नीलादीनां न तावदितरेतराभावात्मको भावस्वभावानुगमात्। अन्योन्यसंश्रयापत्तेश्च स्वरूपान्यत्वं विरोध इति चेत् सत्यमस्त्येव तथापि चित्रात्मनो रूपस्य नायुक्तता विचित्रकारणसामर्थ्यभाविनस्तस्य सर्वलोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेणैवोपपादितत्वात्।" —प्रश० कन्द० पृ० ३०।

२. -तरं मतं आ०, क०। ३. -लम्भे दुर्ल-म० २।

च, सात्त्विकस्वभावाः परस्परं विरुद्धाः । एकस्यामलकस्य कुवलयबिल्वाद्यपेक्षया महत्त्वमणुत्वं च विरुद्धे । एवमिक्षोः समिद्दंशापेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे अपि । देवदत्तादेः स्वपितृसुतापेक्षया परत्वापरत्वे अपि । अपरं सामान्यं नाम्ना सामान्यविशेष इत्युच्यते । सामान्यविशेषश्च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वलक्षणः । द्रव्यत्वं हि नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात्सामान्यं, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः । एवं गुणत्वकर्मत्वयोरपि सामान्यविशेषता विभाव्या । ततश्च सामान्यं च तद्विशेषश्चेति सामान्यविशेषः । तस्यैकस्य सामान्यता विशेषता च विरुद्धे । एकस्यैव हेतोः पञ्च रूपाणि संप्रतिपद्यन्ते । एकस्यैव पृथिवीपरमाणोः सत्तायोगात्सत्त्वं, द्रव्यत्वयोगाद्द्रव्यत्वं, पृथिवीत्वयोगात्पृथिवीत्वं, परमाणुत्वयोगात्परमाणुत्वं अन्त्याद्विशेषात्परमाणुभ्यो भिन्नत्वं चेच्छतां परमाणोस्तस्य सामान्यविशेषात्मकता बलादापतति, सत्त्वादीनां परमाणुतो भिन्नतायां तस्यासत्त्वाद्रव्यत्वापृथिवीत्वाद्यापत्तेः । एवं देवदत्तात्मनः सत्त्वं द्रव्यत्वम्, आत्मत्वयोगादात्मत्वम्, अन्त्याद्विशेषाद्यज्ञदत्ताद्यात्मभ्यो भिन्नतां चेच्छतां तस्यात्मनः सामान्यविशेषरूपतावश्यं स्यात् । एवमाकाशादिष्वपि सा भाव्या । योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु च प्रत्याधारं विलक्षणोऽयमिति

रूप स्वभाव तथा अनेक सात्त्विक भावोंका मानना स्पष्ट ही परस्पर विरुद्ध है । एक ही ईश्वरको पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश दिशा काल रूप अष्टमूर्ति मानना अनेकान्तवादका ही रूप है । एक ही आँवलेमें कमलकी अपेक्षा महत्त्व—बड़ापन तथा बेलकी अपेक्षा अणुत्व—छोटापन मानना भी अनेकान्तात्मकताका ही सम्पोषण है । इसी तरह वे एक ही ईखको किसी छोटी यज्ञके काम आनेवाली लकड़ीकी अपेक्षा लम्बा तथा बाँसकी अपेक्षा छोटा मानते हैं । देवदत्तको अपने पिताकी अपेक्षा लहुरा तथा अपने लड़केकी अपेक्षा जेठा मानते हैं । अपर सामान्य को सामान्य विशेष कहते हैं, अर्थात् अपर सामान्य एक विशेष प्रकारका सामान्य है । द्रव्यत्व गुणत्व और कर्मत्व सत्ताकी अपेक्षा अपर सामान्य सामान्य विशेष हैं । जो द्रव्यत्व पृथिवी आदि नौ द्रव्योंमें अनुगत होनेसे सामान्यरूप है वही गुण कर्म आदिमें न पाया जानेके कारण इनसे व्यावृत्त होनेके कारण विशेषरूप है । इसी तरह गुणत्व और कर्मत्व भी अपनी रूपादि गुण और उत्क्षेपणादि कर्म व्यक्तियोंमें अनुगत होनेसे सामान्यरूप हैं तथा वे ही द्रव्य आदिसे व्यावृत्त होनेके कारण विशेषरूप हैं । चूंकि ये सामान्यरूप भी हैं तथा विशेषरूप भी हैं अतः इन्हें सामान्य विशेष कहते हैं । इस तरह एक ही पदार्थमें परस्पर विरुद्ध सामान्य रूप तथा विशेषरूप होनेसे वह अनेकान्तका ही समर्थक सिद्ध होता है । वे एक ही हेतुके पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व आदि पाँच रूप मानते हैं । एक ही पृथिवीके परमाणुमें सत्ताके सम्बन्धसे सत्त्व, द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्यत्व, पृथिवीत्वके समवायसे पृथिवीत्व, परमाणुत्वके योगसे परमाणुत्व आदि अनेक सामान्य धर्म पाये जाते हैं । यही परमाणु नित्यद्रव्यमें रहनेवाले विशेष पदार्थसे तथा अन्य परमाणुओंसे व्यावृत्त होनेके कारण विशेषरूप भी है । इस तरह एक ही परमाणुमें सामान्यरूपता तथा विशेषरूपता पायी जाती है जिससे अनेकान्तात्मकताकी पूरी-पूरी सिद्धि हो जाती है । यदि सत्त्व द्रव्यत्व पृथिवीत्व आदिसे परमाणुओंका भेद माना जायेगा; तो वे असत् अद्रव्य तथा अपृथिवी रूप हो जायेंगे । इसी तरह एक ही देवदत्तकी आत्मामें सत्त्व, द्रव्यत्व, आत्मत्वके समवायसे आत्मत्व आदि अनेक सामान्यधर्म पाये जाते हैं, यही आत्मा अन्त्य जगत्के विनाश तथा आरम्भरूप आखिरी अवस्थाओंमें शेष रहनेवाले नित्यद्रव्योंमें रहनेवाले विशेष पदार्थसे तथा यज्ञदत्त आदिकी आत्माओंसे व्यावृत्त—भिन्न भी होती है अतः इसमें विशेषरूपता भी है । इस तरह एक ही आत्मामें सामान्यरूपता और विशेषरूपता पायी ही जाती है । इसी तरह आकाशकाल आदिमें भी सत्ता और द्रव्यत्वकी अपेक्षा सामान्यरूपता तथा अन्य द्रव्य गुण आदिसे भिन्न होनेके कारण विशेषरूपता समझ लेनी चाहिए । विशेषपदार्थका लक्षण करते

---

१. विभाव्यते ततश्च म० १, म० २, प० १, प० २ । २. –पाद्देवदत्ताद्यात्म—म० २ ।

प्रत्ययो येभ्यो भवति तेऽन्त्या विशेषा, इत्यत्र तुल्याकृतिगुणक्रियत्वं[1] विलक्षणत्वं चोभयं प्रत्याधार-मुच्यमानं स्याद्वादमेव साधयेत्। एवं नैयायिकवैशेषिका आत्मनानेकान्तमुररीकृत्यापि तत्प्रति-क्षेपायोद्यच्छन्तः सतां कथं नोपहास्यतां यान्ति।

३८३. किं च, अनेकान्तास्युपगमे सत्येव गुणः परस्परविभक्तेष्ववयवावयव्यादिषु मिथो-वर्तनचिन्तायां यद्दूषणजालमुपनिपतति तदपि परिहृतं भवति। तथाहि-अवयवानामवयविनश्च मिथोऽत्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते नैयायिकादिभिर्न पुनः कथंचित्। ततः पर्यनुयोगमर्हन्ति ते। अवयवे-ष्ववयवी वर्तमानः किमेकदेशेन वर्तते किं वा सामस्त्येन। यद्येकदेशेन, तदयुक्तम्; अवयविनो निरवयवत्वाभ्युपगमात्। सावयवत्वेऽपि तेभ्योऽवयवी यद्यभिन्नः, ततोऽनेकान्तापत्तिः, एकस्य निरंशस्यानेकावयवत्वप्राप्तेः[2]। अथ तेभ्यो भिन्नोऽवयवी; तर्हि तेषु स कथं वर्तत इति वाच्यम्। एकदेशेन, सामस्त्येन वा। एकदेशपक्षे पुनस्तदेवावर्तत इत्यनवस्था। अथ सामस्त्येन तेषु स वर्तते, तदप्यसाधीयः; प्रत्यवयवमवयविनः परिसमाप्तत्वावयवित्वबहुत्वप्रसङ्गात्। ततश्च तेभ्यो भिन्नोऽव-यवी न निष्कलभाग् भवति। अन्यदेशप्रदेशव्यञ्जिकाभ्यवयवमात्रं वा स्यादिति चेत्; न; अभे-

हुए लिखा है कि तुल्य आकार समानगुण तथा एक जैसी क्रियावाले समपरमाणुओंमें, मुक्त जीवों-की निर्गुण आत्माओंमें मुक्तजीवोंसे छूटे हुए मनमें जिसके कारण योगियोंको 'यह इससे विलक्षण है, यह इससे विलक्षण है' ऐसा विलक्षण प्रत्यय होता है उन्हें अन्त्य विशेष कहते हैं। इस लक्षणमें दो बातें बतायी हैं कि परमाणु या मुक्त आत्मा आदि आकृति गुण क्रिया आदिकी अपेक्षा समान हैं तथा इनमें विलक्षण प्रत्यय भी होता है। इस तरह हर एक परमाणुमें समानरूपता तथा विलक्षणताका होना भी स्याद्वादको ही सिद्ध करता है। इस तरह नैयायिक वैशेषिकोंने अनेकों जगह अनेकान्तको स्वयं स्वीकार किया है फिर भी जब ये अनेकान्तका खण्डन करनेके लिए तैयार होते हैं तब इनकी बुद्धिपर समझदारोंको हँसी ही आती है। उस समय इनका स्ववचन विरोध ही इनकी बुद्धिका दिवाला निकाल देता है।

§ ३८३. अनेकान्तवादको माननेसे सबसे बड़ा फायदा तो यह है कि इन नैयायिक और वैशेषिकोंके द्वारा अवयवीको वृत्ति माननेमें बौद्ध जो अनेकों दूषण देते हैं उनका परिहार सहज ही हो जायेगा। केवल अवयवीकी ही बात नहीं है सत्तासामान्य आदि की भी अपनी व्यक्तियोंमें वृत्ति माननेपर बौद्ध इसी प्रकारके अनेक दूषण देते हैं, उनका भी परिहार हो जायेगा। नैयायिक आदि अवयवीका अवयवोंसे अत्यन्त भेद मानते हैं कथंचिद् भेद तो मानते ही नहीं है, अतः बौद्ध उन्हें इस प्रकारके दूषण देते हैं—अवयवी अपने अवयवोंमें एक देशसे रहता है या सर्वदेशसे? अवयवीको तो निरवयव माना है अतः एक देशसे रहना तो नहीं बन सकता। यदि अवयवीके अनेक प्रदेश मानें जाँय; तो वे प्रदेश उससे अभिन्न हैं या भिन्न? यदि अपने अनेक प्रदेशोंसे अवयवी अभिन्न है; तो एक ही अवयवी अनेक प्रदेशात्मक होनेसे अनेकान्तरूप ही हो गया; क्योंकि एक निरंश अवयवीको अनेक प्रदेशी मानना पड़ा। यदि अवयवी अपने अनेक प्रदेशोंसे भिन्न है; तो वह उनमें एकदेशसे रहता है या सर्वदेशसे? एक देशसे वृत्ति मानना तो उचित नहीं है; क्योंकि अवयवीके निरंश होने से उसके प्रदेश ही नहीं है। प्रदेश माने जाँय तो उनमें वह सर्वदेशसे रहेगा या एकदेशसे इत्यादि प्रश्न पुनः चालू हो जायेंगे और इस तरह अनवस्था नामका दूषण होगा। यदि अवयवी अपने प्रत्येक अवयवमें पूरे-पूरे रूपसे—सर्वदेशसे रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतन्त्र अवयवी हो जायेंगे, क्योंकि हरएक अवयवमें अवयवी अपने पूर्णरूपसे रहता है। इस तरह अवयवोंसे भिन्न अवयवीका अपने अवयवोंमें रहना ही कठिन है। सर्वथा अभेद माननेपर या तो अवयवीकी ही सत्ता रह सकती है या

१. -क्रियात्वं आ०, क०। २. -प्राप्तिः म० २।

वस्याप्येकान्तेनानभ्युपगमात् । किं तर्ह्यन्योन्याश्लिष्टस्वरूपो विवक्षया संदर्शनीयभेदोऽवयवेष्ववयवेष्वभ्युपगम्यते, [1]अबाधितप्रतिभासेषु सर्वत्रावयवावयविनां मिथो भिन्नाभिन्नतया प्रतिभासनात्, अन्यथा प्रतिभासमानानामन्ययापरिकल्पने ब्रह्माद्वैतशून्यवादादेरपि कल्पनाप्रसङ्गात् । एवं संयोगिषु संयोगः, समवायिषु समवायः, गुणिषु गुणः, व्यक्तिषु सामान्यं चात्यन्तं भिन्नान्यभ्युपगम्यमानानि तेषु वर्तनचिन्तायां सामस्त्यैकदेशविकल्पाभ्यां दूषणीयानि । तदेवमेकान्तभेदेऽनेकदूषणोपनिपातादनेकान्ते च [2]दूषणानुत्थानादनेकान्ताभ्युपगमात् न मोक्ष इति । अतो वरमादावेव मत्सरितां विहायानेकान्ताभ्युपगमः" किं भेदैकान्तकल्पनया अस्थान एवात्मना परिक्लेशितेनेति ।

§ ३८४. सांख्यः सत्त्वरजस्तमोभिरन्योन्यं विरुद्धैर्गुणैर्ग्रथितं प्रधानमभिदधान एकस्याः प्रकृतेः संसारावस्थामोक्षसमययोः प्रवर्तननिवर्तनधर्मौ विरुद्धौ स्वीकुर्वाणश्च कथं स्वस्यानेकान्तमतवैमुख्यमाख्यातुमीशः स्यात् ।

फिर अवयवकी । अभेद पक्षमें दोकी सत्ता हो ही नहीं सकती । इस प्रकारका सर्वथा अभेद जैन लोग नहीं मानते । वे तो अवयव रूप ही अवयवी मानते हैं, हाँ भेदकी विवक्षा होने पर 'यह अवयवी है, ये अवयव हैं' इस प्रकारका भेद उनमें दिखाया जा सकता है । ताने और बाने रूपसे परस्पर सम्बद्ध तन्तुओंको छोड़कर उनसे भिन्न पट नामका अतिरिक्त अवयवी है ही नहीं । सब जगह अवयव और अवयवीका कथंचिद् भेदाभेद ही निर्बाध प्रतीतिका विषय होता है । हम चाहें कि तन्तुओंसे अतिरिक्त पट मिल जाय, तो नहीं मिल सकता, इसलिए उनमें अभेद है । पटकी पट संज्ञा, तन्तुकी तन्तु संज्ञा, इत्यादि संज्ञा भेद, लक्षण भेद, परिमाण भेद आदिकी दृष्टिसे उनमें भेद है । इस तरह अवयवसे कथंचिद् भिन्न-भिन्न अवयवोंका प्रतिभास होनेपर भी यदि उनमें सर्वथा अप्रतिभासमान अत्यन्त भेद माना जायेगा; तो फिर अप्रतिभासमान ब्रह्माद्वैत या शून्याद्वैत आदिको भी मान लेना चाहिए । इसी तरह दही और घड़ा आदिमें संयोग सम्बन्ध माना जाता है । दो द्रव्योंमें संयोग सम्बन्ध होता है, बशर्ते कि उनमें अवयव-अवयविभाव न हो । गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान्, विशेष और नित्यद्रव्य तथा अवयव और अवयवीमें समवाय सम्बन्ध होता है । अतः संयोगको अपने संयोगियोंमें, समवायकी समवायियोंमें, गुणको गुणीमें, सामान्यकी अपनी व्यक्तियोंमें वृत्ति—रहना एक देशसे होगा या सर्वदेशसे इत्यादि दूषण संयोग और समवाय आदिका संयोगी और समवायी आदिसे सर्वथा भेद माननेमें बराबर लागू होते रहेंगे । इस तरह सर्वथा भेद माननेमें अनेकों दूषण आते हैं और उनका परिहार करना भी असंभव है पर अनेकान्तवादमें किसी भी दूषणको गन्ध तक नहीं आती, वह सर्वथा निर्दोष है । इसलिए आखिरमें जब दूषणोंका परिहार करनेके लिए और वस्तुकी व्यवस्था करनेके लिए अनेकान्तके माने बिना चारा ही नहीं है तब इससे अच्छा तो यही है कि ईर्ष्या तथा दुराग्रहको छोड़कर पहले ही उसे स्वीकार कर लिया जाय । प्रतीतिसे बाधित सर्वथा भेदको मानकर आत्माको व्यर्थ ही क्लेशमें डालना कहाँकी बुद्धिमानी है ।

§ ३८४. सांख्य एक ही प्रधानको त्रिगुणात्मक मानते हैं । यह प्रधान परस्पर विरोधी सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंसे गूँथा गया है—त्रयात्मक है । एक ही प्रकृतिमें संसारी जीवोंकी अपेक्षा उन्हें सुख-दुःखादि उत्पन्न करनेके लिए प्रवृत्त्यात्मक स्वभाव तथा मुक्त जीवोंकी अपेक्षा निवृत्तिरूप स्वभाव माना जाता है । वही प्रकृति संसारियोंके प्रति तो प्रवृत्ताधिकार—सत्ता रखने वाली और मुक्तजीवोंके प्रति निवृत्ताधिकार—नष्ट हो चुकी है, वह उनमें कोई भी सुख-दुःखादि उत्पन्न नहीं कर सकती । इस तरह एक ही प्रधानको त्रिगुणात्मक तथा एक ही प्रकृतिको भिन्न जीवोंकी

---

१. अथेन तत्प्रतिभासेषु सर्वत्रापि च यथावयविनां मिथो भिन्नतया प्रति–म० २ । २. भेदेनैकदू–म० २ ।
३.–कान्तानभ्युप–मु–अशुद्धमेतत् पाठान्तरम् । ४. -कान्तोऽभ्युपगतः किं म० १, प० १, प० २, आ०, क० ।

§ ३८५. मीमांसकास्तु स्वयमेव प्रकारान्तरेणैकानेकाद्यनेकान्तं प्रतिपद्यमानास्तत्प्रतिपत्तये सर्वथा पर्यनुयोगं नार्हन्ति अथवा शब्दस्य तत्संबन्धस्य च नित्यत्वैकान्तं प्रति तेऽप्येवं पर्यनुयोज्याः- त्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका नोदनेति मीमांसकाभ्युपगमः। अत्र कार्यतायास्त्रिकालशून्यत्वेऽभावप्रमाणस्य विषयता स्यात्, अर्थत्वे तु प्रत्यक्षादिविषयता भवेत्, उभयरूपतायां पुनर्नोदनाया विषयतेति।

§ ३८६. अथ बौद्धादि[1]सर्वदर्शनाभीष्टा दृष्टान्ता युक्तयश्चानेकान्तसिद्धये समाख्यायन्ते- बौद्धादिसर्वदर्शनानि संशयज्ञानमेकमुल्लेखद्वयात्मकं प्रतिजानानानि[2] नानेकान्तं प्रतिक्षिपन्ति। तथा स्वपक्षसाधकं परपक्षोच्छेदकं च विरुद्धधर्माध्यस्तमनुमानं मन्यमानाः परेऽनेकान्तं कथं पराकुर्युः। मयूराण्डरसे नीलादयः सर्वेऽपि वर्णा नैकरूपा नाप्यनेकरूपाः, [3]किन्त्वेकानेकरूपा यथावस्थिताः, तथैकानेकाद्यनेकान्तोऽपि। तदुक्तं नामस्थापनाद्यनेकान्तमाश्रित्य—

"मयूराण्डरसे यद्वद्वर्णा नीलादयः स्थिताः।
सर्वेऽप्यन्योन्यसंमिश्रास्तद्वन्नामादयो घटे ॥१॥

अपेक्षा नष्टानष्ट प्रवृत्ताप्रवृत्त आदि विरुद्ध धर्मोंवाली माननेवाले सांख्य कैसे अपनेको अनेकान्तका विरोधी कह सकते हैं। उनका यह मानना ही अनेकान्तका अप्रत्यक्ष रूपसे समर्थन करना है।

§ ३८५. मीमांसकोंमें कुमारिल आदि तो स्वयं ही सामान्य और विशेषमें कथंचित्तादात्म्य धर्म और धर्मीमें भेदाभेद तथा वस्तुको उत्पादादि त्रयात्मक स्वीकार करके अनेकान्तको मानते ही हैं। अतः उनसे इस विषयकी विशेषरूपसे पूछताछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, वे शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे चोदना—श्रुतिवाक्यको कार्यरूप अर्थमें ही प्रमाण मानते हैं। इस कार्यको वे त्रिकाल शून्य कहते हैं। उनका तात्पर्य है कि वेदवाक्य त्रिकालशून्य शुद्ध कार्यरूप अर्थको ही विषय करते हैं। इसी विषयमें उनसे पूछना है कि—यदि कार्यरूपता त्रिकालशून्य है—किसी भी कालमें अपनी सत्ता नहीं रखती, तब वह अभाव प्रमाणका ही विषय हो जायेगी, उसे आगमगम्य मानना अयुक्त है। यदि वह अर्थरूप है; तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ही उसका परिज्ञान हो जायेगा। अतः कार्यको त्रिकालशून्य भी मानना होगा तथा अर्थरूप भी, तभी वह वेद वाक्यका विषय हो सकता है। इसलिए जब अनेकान्तके माने बिना वेदवाक्यका विषय ही सिद्ध नहीं हो सकता तब उसे अगत्या मान ही लेना चाहिए।

§ ३८६. अब अनेकान्तकी सिद्धिके लिए बौद्धादि दर्शनोंमें दिये गये कुछ दृष्टान्त तथा युक्तियाँ उपस्थित करते हैं—बौद्ध आदि सभी दार्शनिक जब एक ही संशय ज्ञानमें परस्पर विरोधी दो आकारोंका प्रतिभास तथा उल्लेख मानते हैं तब वे अनेकान्तका खण्डन कैसे कर सकते हैं? सभी दार्शनिक अपनी युक्ति तथा प्रमाणोंको स्वपक्षका साधक तथा परपक्षका खण्डन करनेवाला मानते हैं। अतः जब वे एक ही हेतुमें स्वपक्ष-साधकता तथा परपक्ष-असाधकता—दूषकता रूप विरुद्ध धर्म मानते ही हैं तब वे अनेकान्तका खण्डन किस मुँहसे करेंगे। मोरके अण्डेके तरल पदार्थमें नीले-पीले आदि अनेक रंग पाये जाते हैं। उन रंगोंको न तो सर्वथा एक रूप ही कहा जा सकता है और न स्वतन्त्र भावसे अनेकरूप ही। अतः जिस प्रकार मोरके अण्डेमें नीलादि सभी रंग कथंचित् एकानेक रूपसे तादात्म्य भावसे रहते हैं उसी तरह वस्तुमें एक अनेक नित्य अनित्य आदि अनेक धर्म भी कथंचित् तादात्म्य रूपसे ही रहते हैं, वे न तो सर्वथा भिन्न ही हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। एक ही वस्तुमें नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपोंसे व्यवहार होता है। इन्हीं नाम स्थापना रूपसे अनेकान्तका समर्थन करते हुए लिखा है कि—"जिस तरह मोरके अण्डेमें नीलादि अनेक रंग परस्पर मिश्रित होकर कथंचित् तादात्म्य रूपसे रहते हैं उसी

---

१. –दि दर्श–म० २। २. –जानन्ति माने–म० २। ३. किन्त्वनेकान्तरूपा म० २।

नान्वयः[1] स हि भेदित्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः ।
मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्ति जात्यन्तरं घटः ॥२॥"

अत्र हिशब्दो हेतौ यस्मादर्थे स घटः ।

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते[2] ॥३॥
न नरः सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः ।
शब्दविज्ञानकार्याणां भेदाज्जात्यन्तरं हि सः[3] ॥४॥"

"त्रैरूप्यं पाञ्चरूप्यं वा ब्रुवाणा हेतुलक्षणम् ।
सदसत्त्वादि सर्वेऽपि कुतः परे न मन्वते ॥५॥"

§ ३८७ यथैकस्यैव नरस्य पितृत्वपुत्रत्वाद्यनेकसंबन्धा भिन्ननिमित्ता न विरुध्यन्ते । तद्यथा– स नरः स्वपित्रपेक्षया पुत्रः, स्वसुतापेक्षया तु पितेत्यादि । अभिन्ननिमित्तास्तु संबन्धा विरुध्यन्ते, तद्यथा–स्वपित्रपेक्षयैव[4] स पिता पुत्रश्चेत्यादि । एवमनेकान्तेऽपि द्रव्यात्मनैकं पर्यायात्मना त्वनेकमित्यादिभिन्ननिमित्ततया न विरुध्यते । द्रव्यात्मनैवैकमनेकं चेत्यादि त्वभिन्ननिमित्तया विरुध्यते ।

तरह एक ही वस्तुमें नामघट स्थापनाघट आदि रूपसे नामादि चार निक्षेपोंका व्यवहार हो जाता है । उसमें चारों ही धर्म परस्पर सापेक्ष भावसे मिलकर रहते हैं ॥१॥ मिट्टीके घड़ेमें न तो मिट्टी और घड़ेका सर्वथा अभेद ही माना जा सकता है और न भेद ही । मिट्टीरूपसे सर्वथा अभेद नहीं कह सकते; क्योंकि वह मिट्टी दूसरी थी यह दूसरी है, अवस्था भेद तो है ही । उनमें सर्वथा भेद भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मिट्टीरूपसे अन्वय पाया जाता है पिण्ड भी मिट्टीका ही था और घड़ा भी मिट्टीका ही है । तात्पर्य यह कि घड़ा सर्वथा अभेद और सर्वथा भेद रूप दो जातियोंसे अतिरिक्त एक कथंचिद् भेदाभेद रूप तीसरी जातिका ही है । न सर्वथा उसी अवस्थावाली मिट्टी-रूप है और न मिट्टीसे सोनेका बन गया है, किन्तु द्रव्यरूपसे उस मिट्टीका उसमें अन्वय है तथा पर्यायरूपसे भेद । इस श्लोकमें 'हि' शब्दका 'यस्मात्–जिस कारणसे' अर्थ है । नरसिंहावतारकी चर्चा संसारमें प्रसिद्ध है । वह ऊपरके मुख आदि अवयवोंमें सिंहके आकारका है तथा अन्य पैर आदि अवयवोंकी दृष्टिसे नर—मनुष्यके आकार है । तात्पर्य यह कि जो उक्त दोनों प्रकारके अवयवोंका अखण्ड अविभागीरूप है वही नरसिंह है । उसमें भेद दृष्टिसे भले ही नर और सिंहकी कल्पना कर ली जाय परन्तु वस्तुतः वह दोनों अवयवोंमें तादात्म्य रखनेवाला अखण्ड पदार्थ है । न तो उसे नर ही कह सकते हैं क्योंकि वह अंशतः सिंहरूप भी तो है और न उसे सिंहरूप ही कह सकते हैं क्योंकि वह अंशतः नररूप भी है । वह तो इन दोनोंसे भिन्न एक तीसरी ही मिश्रित जातिका अखण्ड पदार्थ है जिसमें वे दोनों भाग पाये जाते हैं । नरसिंहका वाचक शब्द, नरसिंहाकार ज्ञान तथा नरसिंहका कार्य मनुष्य और सिंहके वाचक शब्द ज्ञान और कार्योंसे अत्यन्त भिन्न है । जो बौद्ध और नैयायिक एक ही हेतुके तीनरूप तथा पाँच रूप तक मानते हैं वे एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व इन दो रूपोंको माननेमें आनाकानी करते हैं यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥"

§ ३८७. जैसे एक ही पुरुषमें पितापन पुत्रपन आदि अनेक धर्म भिन्न-भिन्न पुरुषोंकी अपेक्षासे बन जाते हैं उनमें कोई विरोध नहीं आता उसी तरह अनेकान्तात्मक वस्तु भी सर्वथा निर्बाध है । वही मनुष्य अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र तथा अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है । यदि एक ही निमित्तसे—पिताकी ही अपेक्षासे वह पिता और पुत्र दोनों रूपसे कहा जाता तो अवश्य ही विरोध होता, पर

१. उद्धृतोऽयम्—अनेकान्तवादप्र० पृ० ३१ । न्यायकुमु० पृ० ३६९ । अनेकान्तजयप० पृ० ११९ । तत्त्वार्थमा० टी० ३०७ । २. उद्धृतोऽयम्—तत्त्वोप० पृ० ७९ । ३. उद्धृतोऽयम्—न्यायावता० वा० वृ० पृ० ८८ । न्यायकुमु० पृ० ३६९ । ४. –श्रया स पिता भ० २ ।

अभिन्ननिमित्तत्वं हि विरोधस्य मूलं, न पुनर्भिन्ननिमित्तत्वमिति। सुखदुःखनरदेवादिपर्याया अप्यात्मनो नित्यानित्यत्वाद्यनेकान्तमन्तरेण नोपपद्यन्ते, यथा सर्पद्रव्यस्य स्थिरस्योत्फणविफणावस्थे मिथो विरुद्धे अपि द्रव्यापेक्षया न विरुद्धे, यथैकस्या अङ्गुल्याः सरलताविनाशो वक्रतोत्पत्तिश्च, यथा वा गोरसे स्थायिनि दुग्धपर्यायविनाशोत्तरवधिपर्यायौ त्यादौ संभवन्तौ प्रत्यक्षादिप्रमाणेनोपलब्धौ, एवं सर्वस्य वस्तुनो द्रव्यपर्यायात्मकतापि।

§ ३८८. किं च, सर्वेष्वपि दर्शनेषु स्वाभिमतसाध्यसाधनायाभिधीयमाना हेतवोऽप्यनेकान्तास्युपगममन्तरेण न समीचीनतामञ्चन्ति, तथाहि-अत्र स्वोपज्ञमेव परहेतुतमोभास्करनामकं[2] वादस्थलं लिख्यते। यथा-इह हि सकलतार्किकचक्रचूडामणीयमानतथात्मानं मन्यमानाः सर्वदापि प्रसभं पोषितस्वाभिमाना गुणवत्सु विद्वत्सु मत्सरं विदधाना मुग्धजनसमाजेऽत्यूर्जितस्फूर्जितमभिदधानाः स्पष्टोद्भवेन स्वानुभवेन समस्तवस्तुस्तोमगतमभ्रान्तमनेकान्तमनुभवन्तोऽपि स्वयं च युक्त्यानेकान्तमेव वदन्तोऽपि प्रकटं वचनमात्रेणैवानेकान्तमनिच्छन्तो यथावस्थितं वस्तुस्वरूपमपश्यन्तो

पिता भिन्न दृष्टिसे है तथा पुत्र भिन्न दृष्टिसे। इसी तरह अनेकान्तात्मक वस्तु भी द्रव्यदृष्टिसे एक तथा पर्यायदृष्टिसे अनेक मानी जाती है। हाँ यदि वह एकरूपसे ही द्रव्यदृष्टिसे ही एक तथा अनेक दोनों धर्मवाली मानी जाती तो अवश्य ही विरोधकी बात होती। एक ही निमित्तसे दो धर्मोंका मानना ही विरोधकी जड़ है, न कि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंका स्वीकार करना। यदि आत्माको कथंचित् नित्यानित्यात्मक—परिणामीनित्य न माना जाय; तो उसमें सुख, दुःख, मनुष्य, देव आदि पर्यायें हो न बन सकेंगी; क्योंकि सर्वथा नित्यमें तो सदा स्थायी रहेगा तथा सर्वथा अनित्यमें अत्यन्त परिवर्तित हो जानेसे आत्माकी सत्ता ही न रहेगी। पर्यायें तो द्रव्यको स्थिर रखकर ही हुआ करती हैं। जैसे साँप कभी अपना फन फैलाकर फुफकारता है तथा कभी फनको सिकोर लेता है। इस तरह अवस्था भेद होनेपर भी सर्प द्रव्यदृष्टिसे एक ही बना रहता है, उसमें इन फनवाली तथा बिना फनकी अवस्थाओंका कोई विरोध नहीं है। अथवा जिस तरह अंगुली अंगुली रूपसे स्थिर रहकर भी सीधीसे टेढ़ी हो जाती है, उसके सीधेपनका विनाश होता है तथा टेढ़ेपनकी उत्पत्ति होती है और अंगुली ध्रुव रहती है। अथवा, जैसे गोरस बना रहकर भी दूध जमकर नष्ट हो जाता है और दही उत्पन्न हो जाता है, गोरसकी पहलेकी दूध पर्याय नष्ट होकर आगेवाली दही पर्याय उत्पन्न होती है और गोरस द्रव्यरूपसे बना रहता है उसी तरह संसारकी समस्त वस्तुएँ द्रव्यरूपसे स्थिर रहकर पर्यायरूपसे उपजती तथा विनष्ट होती रहती है। अतः सभी पदार्थ द्रव्य-पर्यायात्मक हैं।

§ ३८८. सभी दर्शनोंमें अपने इष्ट साध्यकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त हेतु भी वस्तुको अनेकान्तात्मक माने बिना सच्चे प्रामाणिक हेतु नहीं बन सकते। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए स्वयं टीकाकार (गुणरत्न) अपने द्वारा बनाये हुए 'परहेतुतमोभास्कर-' प्रतिवादियोंके हेतुरूपी अन्धकारका विनाशक सूर्य—नामक वादस्थलको लिखते हैं। इस संसारमें अपनेको सकलतार्किकचक्रचूड़ामणि समझनेवाले, हमेशा हठपूर्वक मिथ्याभिमानको पुष्टिमें दत्तचित्त, अन्यगुणी विद्वानोंसे चिढ़कर उनसे ईर्ष्या रखनेवाले, मूर्ख लोगोंमें लम्बी चौड़ी बातें हाँककर फटाटाप जमानेवाले, स्पष्ट अनुभवसे वस्तुकी अनेकान्तात्मकताको समझकर स्वपक्षकी युक्तियोंमें उसका यथेष्ट व्यवहार करके भी सिर्फ अपने श्रीमुखसे अनेकान्तको स्वीकार नहीं करनेवाले, वस्तुके यथार्थस्वरूपकी ओरसे आँखें मूँदकर अपने मनके मिथ्याग्रहका अनुचित रीतिसे पोषण करनेवाले, आप जैसे वादियोंको हेतुके स्वरूपका स्वयं तो परिज्ञान है नहीं और दूसरे गुणवान् विद्वानोंसे पूँछनेमें आप अपना अपमान समझते

---

१. –पर्याया म० २। २. –पर्य–म० २। ३. इदमग्रे विलिख्यमानं 'परहेतुतमोभास्करवादस्थलं' समग्रमपि म० २ प्रतौ नास्ति।

निजमतानुरागमेव पुष्णन्तो विद्वत्समीपे च कदापि सम्यग्धेतुस्वरूपमपृच्छन्तो निजबुद्धया च तदनवगच्छन्तो भवन्तो यत्साध्यसाधनाय साधनमधुनाभ्यधुः, तत्रापि साध्यसिद्धिनिबन्धनं हेतुः। अतोऽनेकान्तव्यवस्थापनार्थं यथावस्थितं वस्तुस्वरूपं दर्शयद्भिः सद्भिरस्माभिः प्रथमतो हेतोरेव स्वरूपं सम्यगनेकान्तरूपं प्रकाश्यते। तावद्यूयमधुना निरस्तस्वपक्षाभिमानाः क्षणं माध्यस्थ्यं भजन्तः शृण्वन्तु भवन्तः तथाहि—युष्मदुपन्यस्तेन हेतुना किमन्वयिना स्वसाध्यं साध्येत व्यतिरेकिणा वा, अन्वयव्यतिरेकिणा वा। यदि तावदन्वयिना, तदा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात्, अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात्। नापि व्यतिरेकिणा; तत्पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसङ्गात्। श्यामत्वाभावेऽन्यत्र गौरपक्षे विपक्षे तत्पुत्रत्वादेरभावात्। अन्वयव्यतिरेकिणा चेत्, तदापि तत्पुत्रत्वादित एव साध्यसिद्धिप्रसक्तिः। न चास्य त्रैरूप्यलक्षणयोगिनो हेत्वाभासताशङ्कनीया; अनित्यत्वसाधने कृतकत्वादेरपि तत्प्रसङ्गात्। अस्ति च भवदभिप्रायेण त्रैरूप्यं तत्पुत्रादावपीति।

§ ३८९. अथ भवत्वयं दोषो येषां पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वरूपे त्रैरूप्येऽविनाभावपरिसमाप्तिः, नास्माकं पञ्चलक्षणहेत्वादिनां, अस्माभिरसत्प्रतिपक्षत्वप्रत्यक्षागमाबाधितविषयत्वयोरपि लक्षणयोरभ्युपगमादिति चेत्।

हैं। इस तरह आपलोग हेतुके स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ रहकर भी स्वपक्ष सिद्धिके लिए यद्वातद्वा हेतुका प्रयोग किया करते हैं। हेतु ही साध्यकी सिद्धिमें मुख्य कारण होता है। अतः हमलोग अनेकान्तकी सिद्धिके लिए यथावत् वस्तुका स्वरूप दिखाते समय सबसे पहले साध्यके प्रमुख साधक हेतुकी ही अनेकान्तरूपताका प्रतिपादन करते हैं। आप कृपाकर कुछ देरके लिए अपने मतका दुरभिमान छोड़कर मध्यस्थ चित्तसे उसे सावधानी पूर्वक सुनिए। आपके हेतु अन्वयी होनेके कारण साध्यके साधक हैं, या व्यतिरेकी होनेके कारण, अथवा अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियोंके मिलनेके कारण? यदि साध्य और साधनका दृष्टान्तमें सद्भाव रहनेके कारण ही वे अन्वयी होकर सच्चे हैं, साध्यके साधक हैं; तो 'गर्भमें रहनेवाला लड़का सांवला है क्योंकि वह उसका लड़का है' इस अनुमानमें 'तत्पुत्रत्व' हेतु भी सच्चा हो जाना चाहिए; क्योंकि उसीके चार काले लड़कोंमें तत्पुत्रत्व और श्यामत्वका अन्वय पाया ही जाता है। यदि किसी व्यतिरेक दृष्टान्तमें साध्याभाव होनेपर साधनाभाव रूप व्यतिरेक व्याप्तिसे ही हेतु सच्चा हो; तो गोरे चैत्रके लड़कोंमें श्यामत्वके अभावमें तत्पुत्रत्वका अभाव बराबर देखा जाता है, अतः तत्पुत्रत्व हेतुको प्रामाणिक मानना चाहिए। यदि अन्वय और व्यतिरेक दोनोंके मिलनेपर हेतु सच्चा होता है; तो भी तत्पुत्रत्व हेतुमें अन्वय और व्यतिरेक दोनोंका सद्भाव होनेसे प्रामाणिकता तथा साध्यसाधकता होनी चाहिए। यह तत्पुत्रत्व हेतु पक्षमें रहता है सपक्षमें भी इसका सत्त्व है तथा विपक्षसे व्यावृत्त भी है इस तरह जब इसमें डटकर त्रिरूपता पायी जाती है तब इसे हेत्वाभास तो आप (बौद्ध) कह ही नहीं सकते। यदि त्रिरूपता होनेपर भी तत्पुत्रत्वको हेत्वाभास माना जाता है; तो 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है' इस कृतकत्व हेतुको भी हेत्वाभास मानना चाहिए। आपके त्रैरूप्यकी व्याख्याके अनुसार तत्पुत्रत्व हेतुमें पूरी-पूरी डटकर त्रिरूपता पायी जाती है।

§ ३८९. **नैयायिक**—तत्पुत्रत्व हेतुमें सचाईका दोष तो उन बौद्धोंके मतमें आ सकता है जो पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व तथा विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपों तक ही अविनाभावको सीमित रखते हैं, इसीमें उनका अविनाभाव परिपूर्ण हो जाता है। पर हमलोग तो पाँचों रूपोंमें अविनाभावकी पूर्णता मानते हैं अतः तत्पुत्रत्व हेतुवाला दोष हमारे मतमें नहीं आ सकता। हम उक्त तीन रूपोंके सिवाय प्रत्यक्ष और आगमसे हेतुका बाधित न होना अर्थात् अबाधित विषयत्व तथा विपरीत साध्यको सिद्ध करनेवाले किसी प्रतिपक्षी हेतुका न होना अर्थात् असत्प्रतिपक्षत्वको भी हेतुका स्वरूप मानते हैं। हमारे मतसे हेतुका अविनाभाव पाँच रूपोंमें पूर्ण होता है।

§ ३९०. तर्हि केवलान्वयकेवलव्यतिरेकानुमानयोः पञ्चलक्षणत्वासंभवेनागमकत्वप्रसङ्गः। न च तयोरगमकत्वं यौगैरिष्टं, तस्मात्प्रतिबन्धनिश्चायकप्रमाणासंभवेन[1], अन्यथानुपपत्तेः अनिश्चय एव तत्पुत्रत्वादेरगमकतानिबन्धनमस्तु, न तु त्रैलक्षण्याद्यभावः।

३९१. अथात्र विपक्षेऽसत्त्वं निश्चितं नास्ति, [2]न हि श्यामत्वाभावे तत्पुत्रत्वेनावश्यं निवर्तनीयमित्यत्र प्रमाणमस्तीति सौगतः। यौगस्तु गर्जति—शाकाद्याहारपरिणामः श्यामत्वेन समव्याप्तिको, न तु तत्पुत्रत्वेनेत्युपाधिसद्भावान्न तत्पुत्रत्वे विपक्षासत्त्वसंभव इति।

§ ३९२. तौ ह्येवं निश्चितान्यथानुपपत्तिमेव शब्दान्तरेण शरणीकुरुत इति सैव हेतोर्लक्षणमस्तु। अपि च, अस्ति नभश्चन्द्रो जलचन्द्रात्, उदेष्यति श्वःसविता, अद्यतनादित्योदयात् इत्यादिषु पक्षधर्मत्वाभावेऽपि, मन्मातेयमेवंविधस्वरान्यथानुपपत्तेः, सर्वं क्षणिकमक्षणिकं वा सत्त्वात्, इत्यादिषु च सपक्षस्याभावेऽपि हेतूनां गमकत्वदर्शनात्किं त्रैरूप्यादिना।

---

§ ३९०. जैन—यदि पाँच रूप होनेसे ही हेतुमें सचाई आती है; तो केवलान्वयी तथा केवल व्यतिरेकी हेतुओंमें पाँच रूप न होनेसे हेत्वाभासता होनी चाहिए। केवलान्वयीमें विपक्षव्यावृत्ति तथा केवल व्यतिरेकीमें सपक्षसत्त्व नहीं पाया जाता है। पर नैयायिक केवलान्वयी तथा केवल व्यतिरेकी हेतुओंको हेत्वाभास नहीं मानते, उनके मतमें ये भी सच्चे ही हेतु हैं। चूँकि तत्पुत्रत्व और श्यामत्वके अविनाभावका ग्रहण करनेवाले प्रमाण नहीं मिलते इसलिए उनके अविनाभावका निश्चय नहीं हो पाता। यही अविनाभावका अनिश्चय तत्पुत्रत्व हेतुको हेत्वाभासतामें कारण है न कि त्रिरूपता या पंचरूपताका अभाव।

§ ३९१. **बौद्ध और नैयायिक**—बौद्ध कहते हैं कि तत्पुत्रत्व हेतुमें विपक्षासत्त्वका निश्चय नहीं है। यदि इसकी विपक्षव्यावृत्ति निश्चित होती तो श्यामत्वकी निवृत्तिमें तत्पुत्रत्वकी निवृत्ति अवश्य ही होनी चाहिए थी। पर 'श्यामत्वके अभावमें तत्पुत्रत्व अवश्य ही निवृत्त होता है' इसका निश्चय करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। इस तरह विपक्षासत्त्वका निश्चय न होनेसे तत्पुत्रत्व हेतु हेत्वाभास है। नैयायिक तो इस प्रकार गरजकर कहते हैं कि गर्भिणी माताका हरे पत्तेकी शाक खाना आदि ही गर्भके लड़केके सांवले होनेमें कारण है। इस तरह शाकाद्याहारपरिणामको ही श्यामत्वके साथ समान व्याप्ति है न कि तत्पुत्रत्वकी। अतः तत्पुत्रत्व हेतुमें शाकाद्याहार परिणाम रूप उपाधि होनेसे यह हेतु विपक्षसे व्यावृत्त नहीं है, व्याप्यत्वासिद्ध है। जो धर्म साध्यका व्यापक हो तथा साधनका अव्यापक उसे उपाधि कहते हैं, जैसे 'यह धूमवाला है क्योंकि अग्निवाला होनेसे' यहाँ गीले ईंधनका संयोग उपाधि है। गीले ईंधनका संयोग साध्यभूत धूएँके साथ सदा रहता है पर साधनभूत अग्निके साथ उसके रहनेका नियम नहीं है। तपे हुए लोहेके गोलेमें अग्निके रहनेपर भी उसमें गीले ईंधनका संयोग नहीं पाया जाता। शाकाद्याहार परिणाम सांवलेपनके साथ तो रहता है पर तत्पुत्रत्वके साथ रहनेका उसका नियम नहीं है। तात्पर्य यह कि अकेले तत्पुत्रत्वको श्यामत्वसे व्याप्ति नहीं है किन्तु जब वह शाकाद्याहारपरिणामसे विशिष्ट हो जाता है तभी उसकी सांवलेपनसे व्याप्ति हो सकती है।

§ ३९२. **जैन**—विपक्षासत्त्वको ऐसी व्याख्या करके तो आपने अविनाभावको ही दूसरे शब्दों में स्वीकार कर लिया है। आप घूम-फिरकर अविनाभावकी ही शरणमें जा पहुँचे हैं अतः अविनाभावको ही हेतुका प्रधान और निर्दोष लक्षण मानना चाहिए। देखो, 'आकाशमें चन्द्र है क्योंकि जलमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, जलचन्द्र दिखाई देता है,' 'कल सूर्यका उदय होगा क्योंकि आज सूर्यका उदय हो रहा है' इत्यादि हेतुओंमें पक्षधर्म नहीं पाया जाता, फिर भी सोलह आने सच्चे हैं। 'यह मेरी माता मालूम होती है क्योंकि इस प्रकारकी आवाज अन्यथा आ ही नहीं

---

१. –प्रमाणसंभवेन आ०। २. तर्हि आ०, क०।

§ ३९३. निश्चितान्यथानुपपत्तिरेवैकं लिङ्गलक्षणमक्षूणं तत्त्वमेतदेव, प्रपञ्चः पुनरयमिति चेत्, तर्हि सौगतेनानाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं ज्ञातत्वं च योगेन च ज्ञातत्वं लक्षणमाख्यानीयम् ।

§ ३९४. अथ[1] विपक्षान्निश्चितव्यावृत्तिमात्रेणाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च ज्ञापकहेत्वधिकाराज्ज्ञातत्वं च लब्धमेवेति चेत्, तर्हि गमकहेत्वधिकारादशेषमपि लब्धमेवेति किं शेषेणापि प्रपञ्चेनेति । अत एव नान्वयमात्राद्धेतुर्गमकः, अपित्वाक्षिप्तव्यतिरेकादन्वयविशेषात् । नापि व्यतिरेकमात्रात्, किन्वङ्गीकृतान्वयाद्व्यतिरेकविशेषात् । न चापि परस्परानुविद्धतदुभयमात्रात्, अपि तु परस्परस्वरूपाजहद्वृत्तान्वयव्यतिरेकत्वात्, निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणस्य हि हेतोर्यथाप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकरूपत्वात् । न च जैनानां हेतोरेकलक्षणताभिधानमनेकान्तस्य विघातकमिति वक्तव्यं, प्रयोगनियम एवैकलक्षणो हेतुरित्यभिधानात्, न तु स्वभावनियमे, नियतैकस्वभावस्य शशशृङ्गादेरिव निःस्वभावत्वात्, इति कथं न हेतोरनेकान्तात्मकता ।

सकती थी' 'सब पदार्थ क्षणिक या नित्य हैं क्योंकि वे सत् हैं' इत्यादि हेतुओंमें सपक्षसत्त्व न रहने पर भी पूरी-पूरी सचाई है। ये सच्चे हेतु माने जाते हैं। अतः अविनाभावको ही हेतुका एकमात्र असाधारण लक्षण मानना चाहिए—त्रैरूप्य आदि दूषित लक्षणोंका मानना निरर्थक ही है।

§ ३९३. **बौद्धादि**—भाई, तत्त्वकी बात यही है कि—निश्चित अविनाभावको ही एकमात्र हेतुका मुख्यतया तथा निर्दोष लक्षण माना जाय। पर उसी अविनाभाव के प्रपंचके लिए विस्तारसे समझने और समझानेके लिए त्रैरूप्य और पांचरूप्य मान लिये जाते हैं।

जैन—यदि विस्तार और स्पष्टता ही इष्ट है, तो बौद्धोंको चाहिए कि वे अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्वको भी हेतुका स्वरूप मानें तथा नैयायिक ज्ञातत्व नामके रूपको भी स्वीकार कर षड्रूप हेतु मानें। हेतुका 'ज्ञातत्व' रूप तो नितान्त आवश्यक है; क्योंकि जब तक हेतु ज्ञात नहीं होता तब तक अनुमिति हो ही नहीं सकती।

§ ३९४. **बौद्धादि**—हेतुका विपक्षसे निश्चित व्यावृत्तिका ज्ञान होनेपर अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व अपने ही आप फलित हो जाते हैं तथा ज्ञापक हेतुका प्रकरण होनेसे हेतुको ज्ञात तो होना ही चाहिए, क्योंकि अज्ञात पदार्थ ज्ञापक नहीं होता। इस तरह त्रैरूप्यसे ही अन्य अबाधितविषयत्व आदि अर्थात् ही फलित हो जाते हैं इसलिए उनके पृथक् कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जैन—तब गमक हेतुका अधिकार होनेसे केवल अविनाभावके कथनसे ही अन्य सब पक्षधर्मत्वादि अपने आप ही फलित हो जायेंगे, उनका भी कथन निरर्थक है। अतः एकमात्र अविनाभावको ही हेतुका लक्षण मानना चाहिए। अविनाभावी ही हेतु साध्यका गमक हो सकता है। अतः त्रैरूप्य आदिका आग्रह छोड़कर उसे ही मानना चाहिए। इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि हेतु मात्र अन्वयके बलपर गमक नहीं हो सकता, किन्तु उसमें व्यतिरेक—विपक्षव्यावृत्तिका बल अवश्य होना चाहिए। विपक्षव्यावृत्ति और व्यतिरेकका सीधा अर्थ अविनाभाव है। अतः अविनाभाव विशिष्ट अन्वयसे ही हेतु साध्यका वस्तुतः साधक हो सकता है। इसी तरह केवल व्यतिरेकसे भी हेतुमें गमकता नहीं है किन्तु गमकता तो अन्वयकी अपेक्षा रखनेवाले ही व्यतिरेकसे होती है। परस्पर निरपेक्ष अन्वय और व्यतिरेक भी हेतुकी गमकतामें कारण नहीं हो सकते। गमकताके लिए तो अन्वय और व्यतिरेकको परस्पर सापेक्ष होकर तादात्म्य रखना चाहिए। अविनाभावी हेतुमें अन्वय और व्यतिरेक परस्पर सापेक्ष हैं तथा तादात्म्य रखते हैं। साध्यके अभावमें नहीं होना साध्यके होनेपर ही होनेसे सम्बद्ध है। इस तरह यदि जैन लोग एकमात्र

---

१. अथ विवक्षा—आ०, क० ।

§ ३९५. तथा ननु भोः भोः सकर्णाः प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणप्रतिष्ठितानेकान्तविरुद्धबुद्धिभिर्भवद्भिरन्यैश्च कणभक्षाक्षपादबुद्धादिशिष्यकैरुपन्यस्यमानाः सर्व एव हेतवो विपक्षयासिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकतां श्लोकुर्वन्तीत्यवगन्तव्यम्। तथाहि—पूर्वं तावत्तेषां विरुद्धतामिधीयते। यदि ह्येकस्यैव हेतोस्त्रीणि पञ्च वा रूपाणि वास्तवान्यभ्युपगम्यन्ते, तदा सोऽनेकधर्मात्मकमेव वस्तु साधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः, एकस्य हेतोरनेकधर्मात्मकस्याभ्युपगमात्। न च यदेव पक्ष-धर्मस्य सपक्षएव सत्त्वं तदेव विपक्षात्सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति वाच्यं, अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभाव-रूपयोः सर्वथा तावदैक्यायोगात्, तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न तु त्रिरूपः पञ्चरूपो वा, तथा च साधनाभासोऽपि गमकः स्यात्।

§ ३९६. अथ न विपक्षासत्त्वं नाभ्युपेयते किं तु साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव साध्याभावे नास्तित्वमभिधीयते न तु ततस्तद्भिन्नमिति चेत्, तदसत्। एवं हि विपक्षासत्त्वस्य तास्विकस्या-भावाद्धेतोस्त्रैरूप्यादि न स्यात्। अथ ततस्तदन्यद्धर्मान्तरं; तर्ह्येकरूपस्यानेकात्मकस्य हेतोस्तथाभूत-साध्याविनाभूतत्वेन निश्चितस्यानेकान्तवस्तुप्रसाधनात्कथं न परोपन्यस्तहेतूनां सर्वेषां विरुद्धता, एकान्तविरुद्धानेकान्तेन व्याप्तत्वात्।

अविनाभाव ही को हेतुका लक्षण मानते हैं तो भी अनेकान्त सिद्धान्तकी कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि हमलोग हेतुके प्रयोगको मात्र अविनाभावकी दृष्टिसे नियमित करना चाहते हैं न कि उसके स्वभावको। यदि हेतुका कोई भी एक स्वभाव नियत कर दिया जाय, उसमें कोई परिवर्तन और अनेकरूपता न मानी जाय, तो वह असत् स्वभाववाले खरगोशके सींगकी तरह निःस्वभाव ही हो जायगा। अतः जो हेतु अनुमान प्रयोगकी दृष्टिसे मात्र अविनाभाव लक्षणवाला है वही स्वभावकी दृष्टिसे अनेक रूप होता है। इस तरह हेतुमें अनेकान्तात्मकता स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाती है।

§ ३९५. तथा और भी आप लोग कान खोलकर सुन लो कि प्रमाणप्रसिद्ध तथा सर्वानुभव सिद्ध अनेकान्तवादके विरुद्ध अपना खोटा अभिप्राय रखनेवाले आपने तथा अन्य कणाद अक्षपाद तथा बुद्ध आदिके कुत्सित शिष्योंने स्वपक्षसिद्धिके लिए जितने भी हेतु दिये हैं वे सब असिद्ध विरुद्ध तथा अनैकान्तिक हैं। सबसे पहले उन हेतुओंकी विरुद्धता दिखाते हैं। यदि एक ही हेतुके वास्तविक तीन या पाँच रूप माने जाते हैं तो वह अनेकान्तात्मक हेतु एकान्तके विरुद्ध अनेकान्तको ही सिद्ध करेगा। इस तरह एक ही हेतुको अनेकरूप माननेसे तथा उसको अनेकान्तका ही साधक होनेसे आपके हेतु विरुद्ध हो जाते हैं।

शंका—आप बार-बार हेतुको अनेकान्त रूप कह देते हैं। वस्तुतः वह अनेकान्त रूप है ही नहीं। पक्षधर्म हेतुका जो सपक्षमें रहना है वही विपक्षमें नहीं रहना है। हेतुकी विपक्षव्यावृत्ति ही सपक्षसत्त्व रूप है। अतः एकरूप ही हेतु है न कि अनेक रूप।

समाधान—भावरूप अन्वय और अभावरूप व्यतिरेकको सर्वथा एक नहीं माना जा सकता। यदि ये दोनों वस्तुतः एक हों, तो फिर सभी हेतु या तो केवलान्वयी हो जायेंगे या फिर केवलव्यतिरेकी। ऐसी हालतमें कोई भी हेतु त्रिरूपी या पंचरूपी नहीं रह सकेगा। और इस तरह जो केवलान्वयी या केवलव्यतिरेकी हेतु त्रिरूपता और पंचरूपता न होनेके कारण आपके मतसे साधनाभास हुए वे भी साध्यके गमक सिद्ध करनेवाले हो जायेंगे।

§ ३९६. **शंका**—विपक्षासत्त्वको हम मानते ही नहीं हैं यह बात नहीं, किन्तु साध्यके सद्भावमें हेतुका होना ही उसका साध्यके अभावमें नहीं होना है। अर्थात् सपक्षसत्त्वका फलितरूप ही विपक्षासत्त्व है, इनसे भिन्न नहीं है।

§ ३९७. तथासिद्धतापि सर्वसाधनधर्माणामुन्नेया, यतो हेतुः सामान्यं वा भवेत्, विशेषो वा, तदुभयं वा अनुभयं वा । न तावत्सामान्यं हेतुः, तद्धि सकलव्यापि सकलस्वाश्रयव्यापि वा हेतुत्वेनोपादीयमानं प्रत्यक्षसिद्धं वा स्यात्, तदनुमानसिद्धं वा । न तावत्प्रत्यक्षसिद्धम्; प्रत्यक्षं ह्यक्षानुसारितया प्रवर्तते । अक्षं च नियतदेशादिनैव[1] संनिकृष्यते । अतोऽक्षानुसारि ज्ञानं नियतदेशादावेव प्रवर्तितुमुत्सहते, न सकलकालदेशव्यापिनि ।

§ ३९८. अथ नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेकात्तन्निश्चये तस्यापि निश्चय इति चेत्; न; नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेके नियतदेशतैव स्यात्, न व्यापिता, तत्र व्यापिसामान्यरूपो हेतुः प्रत्यक्षसिद्धः । अनुमानसिद्धतायामनवस्याराक्षसी दुर्निवारा । अनुमानेन हि लिङ्गग्रहणपूर्वकमेव प्रवर्तमानेन सामान्यं साध्यते लिङ्गं च न विशेषरूपमिष्यते, अननुगमात् । सामान्यरूपं तु लिङ्गमवगतं वानवगतं वा भवेत् । न तावदनवगतं, अनिष्टत्वादतिप्रसङ्गाच्च । अवगतं चेत्, तदा तस्यावगमः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा । न प्रत्यक्षेण, संनिकृष्टग्राहित्वात्तस्य । नाप्यनुमानेन,, तस्याप्यनुमानमन्तरेण लिङ्गग्रहणे पुनस्तदेवावर्तते । तथा चानुमानानामानन्त्याद्युगसहस्रैरप्येकलिङ्गिग्रहणं न भवेत् । अपि च, अशेषव्यक्त्याधेयस्वरूपं सामान्यं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां निश्चीयमानं स्वाधारनिश्चयमुत्पादयेत् । स्वाधारनिश्चयोऽपि निजाधारनिश्चयमिति सकलो जनः सर्वज्ञः प्रसज्यते ।

समाधान—यदि विपक्षासत्त्व वास्तविक रूप न हो, तो हेतुमें त्रिरूपता या पंचरूपता कैसे बन सकेगी ? यदि त्रिरूपताकी सिद्धिके लिए विपक्षासत्त्वको पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्वसे अतिरिक्त रूप माना जाता है, तो एक ही हेतु अनायास ही अनेकरूप–अनेकान्तात्मक सिद्ध हो जाता है । और यह अनेकान्तात्मक हेतु अनेकान्तात्मक साध्यके साथ ही अविनाभाव रखनेके कारण अनेकान्तका ही साधक होगा । इस तरह एकान्तके विरुद्ध अनेकान्तके अविनाभावी होनेके कारण अनेकान्तके ही साधक होनेसे सभी हेतु विरुद्ध हैं ।

§ ३९७. इसी तरह परवादियोंके सभी हेतु असिद्ध हैं । बताइए—आपके हेतु सामान्य रूप हैं, या विशेषरूप, या उभयात्मक अथवा इन सबसे विलक्षण अनुभय रूप ? यदि हेतु सामान्यरूप है, तो वह सकल पदार्थ व्यापी है या मात्र अपनी व्यक्तियोंमें ही रहता है ? जैसा भी हो, वह सामान्यरूप हेतु प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध है या अनुमानसे ? उसे प्रत्यक्ष सिद्ध तो नहीं कह सकते; क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियोंके अधीन है, और इन्द्रियोंका सन्निकर्ष नियतदेशवाली स्थूल व्यक्तियों तक ही सीमित है । इसलिए इन्द्रियोंके अनुसार चलनेवाला ज्ञान नियतदेश वर्तमानकाल तथा स्थूल पदार्थोंमें ही प्रवृत्ति कर सकता है । उसमें सकलदेश तथा त्रिकालवर्ती व्यक्तियोंमें रहनेवाले सामान्यको जाननेकी शक्ति नहीं है ।

§ ३९८. शंका—जो सामान्य नियतदेशवाली व्यक्तियोंमें रहता है वही तो दूर देश तथा अतीतादिकालवर्ती व्यक्तियोंमें पाया जाता है । अतः नियत देशमें उसका प्रत्यक्ष होनेसे उसके दूर देश और अतीतादिकालवर्ती व्यक्तियोंमें रहनेवाले स्वरूपका भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है ।

समाधान—यदि सामान्य नियतदेशवर्ती व्यक्तियोंमें रहनेवाले सामान्यसे सर्वथा अभिन्न है, तो फिर वह भी नियतदेशवाला ही हो जायगा । ऐसी हालतमें वह सर्वव्यापी या सर्वस्वव्यक्तिव्यापी नहीं रह सकेगा । इस तरह व्यापी सामान्य रूप हेतु प्रत्यक्षसिद्ध तो नहीं है । उसे अनुमानसिद्ध माननेमें तो अनवस्था राक्षसी तुम्हारे पक्षको खा जायगी । जो अनुमान सामान्यको सिद्ध करनेके लिए तैयार होगा वह लिंगज्ञान पूर्वक ही प्रवृत्ति करेगा । और लिंग विशेषरूप तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि विशेषका तो दूसरी व्यक्तियोंमें अनुगम नहीं होता । अब रहा सामान्य रूप, सो यह ज्ञात होकर लिंग बनेगा या अज्ञात रहकर ही ? अज्ञात तो लिंग हो ही नहीं सकता;

---

१. –व निकृ–म०, १, प० १, प० २ ।

§ ३९९. किं च, स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात्प्राक् स्वज्ञानमजनयत्सामान्यं पश्चादपि न तज्जनयेत्, अविचलितरूपत्वात् परैरनाधेयातिशयत्वाच्च, विचलितत्वे आधेयातिशयत्वे च क्षणिकतापत्तिः।

§ ४००. अन्यच्च, तत्सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नं, भिन्नाभिन्नं वा हेतुर्भवेत्। न तावद्भिन्नम्; व्यक्तिभ्यः पृथगनुपलम्भात्।

§ ४०१. समवायेन व्यक्तिभिः सह सामान्यस्य संबन्धितत्वात् पृथगनुपलम्भ इति चेत्; न; समवायस्येहबुद्धिहेतुत्वं गीयते, इहेदमिति बुद्धिश्च भेदग्रहणमन्तरेण न भवेत्। किं च, अतोऽश्वत्वादिसामान्यं स्वाश्रयसर्वगतं वा, सर्वसर्वगतं वेष्यते। यदि स्वाश्रयसर्वगतम्; तदा कर्कादिव्यक्तिशून्ये देशे प्रथमतरमुपजायमानाया व्यक्तेरश्वत्वादिसामान्येन योगो न भवति, व्यक्तिशून्ये देशे सामान्यस्यानवस्थानाद्व्यक्त्यन्तरावनागमनाच्च। अथ सर्वसर्वगतं तत्स्वीक्रियते; तदा कर्कादि-

---

अन्यथा जिस व्यक्तिने धूमादि लिंगोंको नहीं जाना है उन्हें भी अग्नि आदिका अनुमान होना चाहिए, तथा जिस किसी व्यक्तिको जिस किसी लिंगसे जिस किसी भी साध्यका ज्ञान हो जाना चाहिए। यदि वह सामान्य रूप लिंग ज्ञात है; तो उसका ज्ञान प्रत्यक्षसे होगा या अनुमानसे? प्रत्यक्ष तो इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले स्थूल पदार्थोंमें ही प्रवृत्ति करता है, अतः उससे तो सर्वव्यापी सामान्यका परिज्ञान हो ही नहीं सकता। अनुमानसे भी उसका ज्ञान सम्भव नहीं है; क्योंकि यह अनुमान भी लिंगग्रहणपूर्वक होगा, लिंग विशेषरूप नहीं होकर सामान्यरूप होगा, इस सामान्यका ज्ञान प्रत्यक्षसे होगा या अनुमानसे इस तरह वही प्रश्न बराबर चालू रहेगा। इस तरह हजारों अनुमानोंकी कल्पना करके भी हजारों वर्षोंमें भी एक साध्यका ज्ञान नहीं हो सकेगा। सामान्य अपनी समस्त व्यक्तियोंमें रहता है। यदि इस सर्वव्यापी सामान्यका प्रत्यक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाणसे निश्चय होता है; तो समस्त व्यक्तिरूप आधारमें रहनेवाले सामान्यका निश्चय होनेसे आधारभूत समस्त व्यक्तियोंका भी निश्चय हो ही जायगा। इस तरह समस्त आधारभूत व्यक्तियोंका निश्चय होनेसे सभी प्राणी सहज ही सर्वज्ञ हो जायेंगे।

§ ३९९. सामान्य नित्य और एक रूप माना जाता है। अतः यदि वह अपनी आधारभूत व्यक्तिसे इन्द्रिय सम्बन्ध न होने तक ज्ञान उत्पन्न नहीं करता है तो वह बादमें भी ज्ञानोत्पादक नहीं हो सकेगा; क्योंकि उसका स्वरूप अविचलित—सदा स्थायी है, उसमें किसी दूसरे पदार्थसे कोई नया अतिशय या सामर्थ्य उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि उसका स्वरूप विचलित—परिवर्तनशील माना जाय और उसमें किसी सहकारीसे किसी नयी शक्तिके उत्पन्न होनेकी सम्भावना हो, तो वह नित्य नहीं रह सकेगा। क्षणिक हो जायगा।

§ ४००. वह सामान्य रूप हेतु व्यक्तियोंसे भिन्न है या अभिन्न, अथवा कथंचिद् भिन्नाभिन्न? भिन्न तो नहीं कह सकते, क्योंकि विशेष व्यक्तियोंसे पृथक् सत्ता रखनेवाले सामान्य की उपलब्धि नहीं होती।

§ ४०१. **नैयायिक**—यद्यपि सामान्य व्यक्तियोंसे भिन्न है, परन्तु उसका व्यक्तियोंसे नित्य समवाय रहनेके कारण व्यक्तियोंसे भिन्न स्वतन्त्र रूपसे उपलब्धि नहीं होती।

जैन—समवाय 'इहेदम्—इसमें यह है' इस बुद्धिका कारण होता है। जब तक सामान्य और विशेषका स्वतन्त्र भावसे ज्ञान नहीं होगा तब तक इहेदं बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकती। 'इह–विशेषमें इदं–सामान्य है' यह बुद्धि स्पष्ट ही भेदको ग्रहण करती है। अच्छा, यह बताइए कि इस इहेदं बुद्धिसे अश्वत्व आदि सामान्यकी वृत्ति–रहना समस्त अश्व रूप स्वाश्रयोंमें सिद्ध की जायगी, या सर्वसर्वगत–संसारमें सर्वत्र? यदि अश्वत्व सामान्य कर्क—सफेद घोड़ा पीला घोड़ा

भिरिव शाबलेयादिभिरपि तदभिव्यज्येत । न च कर्काद्यानामेव तदभिव्यक्तौ सामर्थ्यं न शाबलेयादीनामिति वाच्यं, यतः किरूपं तत्कर्काद्यानां सामर्थ्यम् । साधारणरूपत्वमिति चेत्; न; स्वतश्चेत्साधारणरूपा व्यक्तयः, तदा स्वत एव ता अश्वोऽश्व इत्यनुवृत्तं प्रत्ययं जनयिष्यन्तीति किं तद्भिन्नसामान्यपरिकल्पनया । यदि च स्वतोऽसाधारणरूपा व्यक्तयः, तदापरसामान्ययोगादपि न साधारणा भवेयुः, स्वतोऽसाधारणरूपत्वात्, इति व्यक्तिभिन्नस्य सामान्यस्याभावादसिद्धस्तल्लक्षणो हेतुः । कथं ततः साध्यसिद्धिर्भवेत् ।

§ ४०२. अथ व्यक्त्यभिन्नं सामान्यं हेतुः, तदप्ययुक्तं, व्यक्त्यभिन्नस्य व्यक्तिस्वरूपवद्व्यक्त्यन्तराननुगमात्सामान्यरूपतानुपपत्तेर्व्यक्त्यभिन्नत्वस्य सामान्यरूपतायाश्च मिथोविरोधात् । अथ भिन्नाभिन्नमिति चेत्, न, विरोधात् । अथ केनाप्यंशेन भिन्नं केनाप्यभिन्नमिति । तदपि न युक्तं, सामान्यस्य निरंशत्वात् । तन्न एकान्तसामान्यरूपो हेतुः साकल्येन सिद्धः ।

आदि अपनी व्यक्तियोंमें ही रहता है; तो जिस समय घुड़सालमें कोई नया घोड़ा उत्पन्न होता है उस समय उसमें अश्वत्वसामान्यका सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस घुड़सालके उस खाली भागमें तो अश्वत्व रहता ही नहीं था जिससे वह वहींका वहीं नवजात घोड़ेसे चिपट जाता। सामान्य निराश्रय तो रहता ही नहीं है । सामान्य निष्क्रिय है अतः अश्वत्व दूसरे घोड़ेसे निकल कर इस नये घोड़ेमें आ भी नहीं सकता । तात्पर्य यह कि नवजात घोड़ेमें अश्वत्वका सम्बन्ध हो ही नहीं सकेगा । यदि अश्वत्वको समस्त जगत्में व्याप्त माना जाय; तो सफेद घोड़े आदिकी तरह खंडी मुंडी गायोंमें भी अश्वत्वका प्रतिभास होना चाहिए, क्योंकि अश्वत्व सामान्य तो सर्वगत है अतः घोड़ोंकी तरह गाय आदिमें रहता ही है । 'घोड़ोंमें ही अश्वत्वको प्रकट करनेकी सामर्थ्य है गौओंमें नहीं है' यह नियम करना ही कठिन है । घोड़ोंमें ही अश्वत्वको प्रकट करनेकी ऐसी कौन-सी विशेषता है जो गाय आदिमें नहीं पायी जाती हो ? 'घोड़ोंमें परस्पर समानता है अतः वे ही अश्वत्वको प्रकट कर सकते हैं न कि घोड़ोंसे अत्यन्त विलक्षण गाय आदि' यह दलील भी अत्यन्त लचर है, क्योंकि यदि समस्त घोड़े स्वभावसे ही सदृश हैं परस्परमें अत्यन्त समान हैं तो इसी सदृशतासे ही 'अश्वः अश्वः' ऐसा अनुगताकार ज्ञान हो जायगा, तब 'अश्वः अश्वः' इस अनुगताकार ज्ञानके लिए एक अश्वत्व नामके सामान्यकी कल्पना करना निरर्थक ही है । यदि समस्त घोड़े स्वभावसे असाधारण-विलक्षण हैं एक दूसरेके समान नहीं हैं; तो अश्वत्व नामके सामान्यमें भी यह शक्ति नहीं है कि वह उनमें 'अश्वः अश्वः' इस साधारण सदृश प्रत्ययको उत्पन्न कर सके । जो स्वतः विलक्षण हैं उनमें दूसरा पदार्थ समानता या सदृशता कैसे ला सकता है । इस तरह व्यक्तियोंसे सर्वथा भिन्न सामान्यकी तो जब सत्ता ही नहीं सिद्ध होती तब उसे हेतु बनाकर उससे साध्यकी सिद्धि करना आकाशके फूलकी माला बनाकर उसकी महकमें आनन्द लेनेके समान कल्पनाकी ही वस्तु है ।

§ ४०२. यदि सामान्य व्यक्तियोंसे अभिन्न है, तो वह व्यक्ति स्वरूप ही हुआ, अतः जिस तरह एक व्यक्तिका दूसरी व्यक्तिमें अन्वय नहीं पाया जाता उसी तरह सामान्यका भी दूसरी व्यक्तिमें अन्वय नहीं होगा । जब वह दूसरी व्यक्तिमें अनुगत ही नहीं है तब उसे सामान्य ही कैसे कह सकते हैं ? सामान्य तो अनेकानुगत होता है । 'व्यक्तिसे अभिन्न भी होना तथा सामान्य भी होना' ये तो परस्पर विरोधी बातें हैं । भिन्नाभिन्न पक्षमें तो आप स्वयं विरोध कहते थे । तथा एक सामान्य भिन्न भी हो और अभिन्न भी यह सचमुच विरोधी है ही । सामान्यको किसी अंशसे भिन्न तथा किसी अंशसे अभिन्न माननेकी बात तो कही ही नहीं जा सकती;

१. –व्यज्यते आ० । २. –न्यासामान्यं म० १, प० १, प० २ ।

§ ४०३. नापि विशेषरूपः, तस्यासाधारणत्वेन गमकत्वायोगात्, साधारणत्व एवान्वयोपपत्तेः। नापि सामान्यविशेषोभयं परस्परानुविद्धं हेतुः उभयदोषप्रसङ्गात्। नाप्यनुभयं, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात्। बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यमवस्तुरूपत्वात्साध्येनाप्रतिबद्धत्वादसिद्धत्वाच्च न हेतुः। तदेवं सामान्यादीनामसिद्धत्वे तल्लक्षणाः सर्वेऽपि हेतवोऽसिद्धा एव।

§ ४०४. तथा प्रतिबन्धविकलाः समस्ता अपि परोपन्यस्ता हेतवोऽनैकान्तिका अवगन्तव्याः। न चैकान्तसामान्ययोर्विशेषयोर्वा साध्यसाधनयोः प्रतिबन्ध उपपद्यते। तथाहि-सामान्ययोरेकान्तेन नित्ययोः परस्परमनुपकार्योपकारकभूतयोः कः प्रतिबन्धः, मिथः कार्यकारणाविभावेनोपकार्योपकारत्वे त्वनित्यत्वापत्तेः। विशेषयोस्तु नियतदेशकालयोः प्रतिबन्धग्रहेऽपि तत्रैव तयोर्ध्वंसात्साध्यधर्मिण्यगृहीतप्रतिबन्ध एवान्यो विशेषो हेतुत्वेनोपादीयमानः कथं नानैकान्तिकः।

क्योंकि सामान्यके अंश ही नहीं हैं, वह तो सर्वथा निरंश है। इस तरह हेतु सर्वथा सामान्य रूप तो सिद्ध नहीं हो सकता।

§ ४०३. हेतुको विशेष रूप तो कह ही नहीं सकते; क्योंकि विशेष तो असाधारण—परस्पर विलक्षण होते हैं उनमें परस्पर अन्वय नहीं पाया जाता अतः वे साध्यका अनुमान नहीं करा सकेंगे। अन्वय तो साधारण—सदृशवस्तुओंमें ही हो सकता है। परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेषको हेतु माननेमें तो सामान्य और विशेष दोनों ही पक्षोंमें आनेवाले दूषणोंका प्रसंग होगा। अनुभय रूप तो संसारमें कोई पदार्थ ही नहीं हो सकता। सामान्य और विशेष एक दूसरेका निषेध करके रहते हैं। जो सामान्य होगा वह विशेषका व्यवच्छेद करेगा तथा जो विशेष होगा वह सामान्यका। अतः यदि उसे सामान्यरूप नहीं मानते तो वह विशेष रूप अवश्य ही होगा और यदि वह विशेषरूप नहीं है तो सामान्यरूप अवश्य होगा। एकका निषेध करने में दूसरेका विधान अवश्यंभावी है, दोनोंका एक साथ निषेध नहीं किया जा सकता। बौद्धोंके द्वारा माना गया बुद्धिकल्पित अन्यापोहरूप सामान्य तो अवस्तु है, उसका साध्यके साथ अविनाभावी सम्बन्ध भी नहीं है। इस तरह वह सर्वथा असिद्ध होनेके कारण हेतु बनकर साध्य साधक नहीं हो सकता। इस तरह सामान्य आदिके असिद्ध होनेके कारण सामान्य आदि रूप हेतु भी असिद्ध ही हैं।

§ ४०४. प्रतिवादियोंके द्वारा प्रयुक्त हेतुओंका अपने साध्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतः वे सभी हेतु अविनाभावशून्य होनेसे अनैकान्तिक हैं। परवादी साध्य और हेतुको या तो सामान्यरूप मान सकते हैं या फिर विशेष रूप, सामान्यविशेषात्मक तो वे मान ही नहीं सकते। अतः सर्वथा सामान्य या विशेषरूप हेतु और साध्यमें अविनाभावसम्बन्ध ही नहीं बन सकता। यदि हेतु और साध्य सामान्य रूप हैं; तो सामान्य नित्य होनेके कारण एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते और न वे अविकारी नित्य होनेके कारण एक दूसरेका उपकार ही कर सकते हैं। अतः परस्पर उपकार शून्य साध्य सामान्य और हेतु सामान्यमें सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। जो पदार्थ एक दूसरेके कार्य या कारण होकर उपकार करते हैं उन्हींमें सम्बन्ध होता है। परन्तु नित्य सामान्य तो न किसीके कारण ही हो सकते हैं और न कार्य ही। ज्यों ही उनमें कार्यकारणभाव आया त्यों ही उनकी नित्यरूपता समाप्त हो जायगी और वे अनित्य हो जायेंगे। साध्यविशेष और साधनविशेष तो अपने नियत देश तथा नियत कालमें रहनेवाले हैं अतः उनमें सम्बन्ध ग्रहण कर भी लिया जाय तो भी जब वे दूसरे क्षणमें नष्ट ही हो जानेवाले हैं तो उनमें सम्बन्धका ग्रहण करना और न करना बराबर ही है; क्योंकि जिनमें सम्बन्ध ग्रहण किया था वे तो नष्ट हो हो गये हैं, इस समय तो पक्ष एक नया ही हेतु विशेष दिखाई दे रहा है। जब इस नये हेतु विशेष का साध्यके साथ सम्बन्ध ही ग्रहण नहीं किया तब वह साध्यका अनुमान कैसे करा सकता

§ ४०५. किं च प्रतिबन्धः पक्षधर्मत्वादिके लिङ्गलक्षणे सति संभवी, न च साध्यसाधनयोः परस्परतो धर्मिणश्चैकान्तेन भेदेऽभेदे वा पक्षधर्मत्वादिधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमान्, संबन्धासिद्धेः ।

§ ४०६. संबन्धो हि साध्यसाधनयोर्धर्मिणश्च किं समवायः, संयोगः, विरोधः, विशेषण-विशेष्यभावः, तादात्म्यं, तदुत्पत्तिर्वा भवेत् । न तावत्समवायः, तस्य धर्मधर्मिद्वयातिरिक्तस्य प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात्, इह तन्तुषु पट इत्यादेस्तत्साधकस्य प्रत्ययस्यालौकिकत्वात्, पांसुलपादानामपीह पटे तन्तव[1] इत्येवं प्रतीतिदर्शनात्, इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात् । सत्त्वे वा समवायस्य स्वत एव धर्मधर्म्यादिषु वृत्त्यभ्युपगमे तद्वत्साध्यादिधर्माणामपि स्वत एव धर्मिणि वृत्तिरस्तु किं व्यर्थया समवायकल्पनया । समवायस्य समवायान्तरेण वृत्त्यभ्युपगमे तु तत्राप्यपर-समवायकल्पनेऽनवस्थानदी दुस्तरा । अस्तु समवायस्य स्वतः परतो वा वृत्तिः, तथापि तस्य प्रति-नियतानामेव संबन्धिनां संबन्धकत्वं न स्यात् अपि त्वन्येषामपि व्यापकत्वेन, तस्य सर्वत्र तुल्यत्वा-देकस्वभावत्वाच्च ।

है ? और यदि इस नये अगृहीत सम्बन्धवाले पदार्थको हेतु बनाया जायगा तो वह अनैकान्तिक हो जायगा ।

§ ४०५. जब हेतुका पक्षमें रहना आदि सिद्ध हो तभी अविनाभाव सम्बन्ध बन सकता है । परन्तु साध्य साधन और धर्मीमें सर्वथा भेद मानने पर तो पक्ष आदिका स्वरूप ही नहीं बन पाता, उनमें सर्वथा अभेद माननेसे कोई एक पदार्थ ही बचेगा । एक पदार्थमें तो धर्मधर्मिभाव का होना असम्भव ही है । इस तरह धर्मी साध्य और साधनका सम्बन्ध न होनेके कारण हेतुके पक्षधर्मत्व आदि रूपोंकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

§ ४०६. आप ही बताइए कि—धर्मी साध्य और साधनमें कौन-सा सम्बन्ध होगा ? उनमें समवाय माना जाय, या संयोग, अथवा विरोध, किंवा विशेषणविशेष्यभाव, या तादात्म्य या तदुत्पत्ति ? साध्यधर्म और पर्वतादिधर्मीमें समवाय सम्बन्ध तो नहीं माना जा सकता; क्योंकि धर्म और धर्मीको छोड़कर उन दोनोंमें रहनेवाला कोई तीसरा संम्बन्ध किसी भी प्रमाणसे अनुभव में नहीं आता । 'यदि यह धर्म है, यह धर्मी है और यह उनका समवाय है' इस तरह समवायका धर्म और धर्मीसे भिन्न प्रतिभास होता तो उसकी सत्ता मानी जा सकती थी । पर उसका अनुभव ही नहीं होता । 'इन तन्तुओंमें कपड़ा है' इत्यादि इहेदंप्रत्यय, जो समवायकी सिद्धिके लिए पेश किये जाते हैं, वे सबमुचमें अलौकिक ही हैं । नंगे पैर चलनेवाले गाँवड़ेके किसान भी 'कपड़ेमें तन्तु हैं' यही कहते हैं न कि तन्तुओंमें कपड़ा । यदि 'इहेदं' प्रत्ययसे ही समवायकी सिद्धि होती हो; तो 'इस पृथिवीमें घड़ेका अभाव है' इस प्रत्ययसे भी भूतल और घटाभावमें समवायकी सिद्धि हो जानी चाहिए । समवायकी सत्ता मान भी ली जाय परन्तु वह धर्म और धर्मीमें यदि दूसरे सम्बन्धके बिना ही अपने आप रह जाता है; तो समवायकी तरह साध्य आदि धर्मोंकी ही अपने धर्मीमें स्वतः वृत्ति मान लेनी चाहिए, व्यर्थ ही उनमें समवायकी कल्पना करनेसे क्या फायदा है ? यदि समवाय अन्य किसी दूसरे समवायसे धर्म और धर्मीमें रहता है; तो वह समवाय भी अपने सम्बन्धियोंमें किसी तीसरे समवायसे रहेगा, तीसरा भी चौथेसे, इस तरह अनेकों समवायों की कल्पना करनेसे अनवस्था नामका दूषण होगा । इस अनवस्था नदीका तैरना कठिन हो जायगा । अस्तु समवायकी स्वतः या परतः किसी भी रूपसे वृत्ति मान भी ली जाय तो भी 'वह अमुक सम्बन्धियोंमें ही सम्बन्ध कराता है' यह नियम करना कठिन है । समवाय नित्य व्यापक और एकस्वभाववाला है, अतः उसे तन्तुका पटकी तरह घटमें भी समवाय करा देना चाहिए ।

1. इत्येव प्रतौ–म० १, प० १, प० २ ।

§ ४०७. नापि संयोगः, स हि साध्यसाधनादीनां भवन् किं ततो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा। प्राद्धि पक्षे कथं विवक्षितानामेवैष किं नान्येषामपि। भेवाविशेषात्, न च समवायोऽत्र नियामकः तस्य सर्वत्र सदृशत्वात्। द्वितीये तु साध्यादीन्येव स्युः न कश्चित्संयोगो नाम कथंचिद्भिन्नसंयोगाङ्गीकारे तु परवादाश्रयणं भवेत्।

§ ४०८. नापि विरोधोऽभिधातव्यः, तस्याप्येकान्तमतेऽसंभवात्। [1]स हि सहानवस्थानं परस्परपरिहारो वा भवेत्। [2]तत्राद्ये किं कदाचिदप्येकत्रानवस्थानमुत कियत्कालं स्थित्वा पश्चादनवस्थानम्। आद्ये पक्षेऽहिनकुलादीनां न विरोधः स्यात् अन्यथा त्रैलोक्येऽप्युरगादीनामभावः। द्वितीये तु नरयोषितावेरपि विरोधः स्यात्, तयोरपि किंचित्कालमेकत्र[3] स्थित्वापगमात्। किं च वडवानलजलधिजलयोर्विद्युदम्भोदाम्भसोश्च चिरतरमेकत्रावस्थातः कथमयं विरोधः। परस्परपरिहारस्तु सर्वभावानामविशिष्टः कथमसौ प्रतिनियतानामेव भवेत्।

---

§ ४०७. यदि साध्य और साधनका परस्पर संयोग सम्बन्ध माना जाय; तो वह संयोग उनसे भिन्न होगा या अभिन्न ? यदि भिन्न है; तो 'वह इन्हीं साध्य साधनका संयोग है अन्यका नहीं' यह नियम नहीं हो सकेगा। जब संयोग विवक्षित साध्य-साधनोंसे उतना ही भिन्न है जितना कि अविवक्षित साध्य और साधनोंसे; तो क्या कारण है कि वह इन्हींका कहा जाय और अन्य साध्य-साधनोंका नहीं कहा जाय। समवाय तो नित्य और व्यापी होनेसे सभीके प्रति समान दृष्टि रखने वाला है, अतः वह भी संयोगका अमुक साध्य-साधनोंसे ही गठबन्धन नहीं करा सकता। यदि साध्य आदिसे संयोग अभिन्न है; तो साध्य और साधनकी ही सत्ता रहेगी न कि संयोगकी, अभेद में तो एक ही वस्तु बच सकती है। कथंचिद् भेद मानने पर तो अनेकान्तवादकी शरणमें पहुँचना होगा।

§ ४०८. साध्य और साधनमें परस्पर विरोध भी नहीं कह सकते; क्योंकि सर्वथा एकान्त पक्षमें विरोधका सिद्ध करना भी असम्भव है। बताइए साध्य और साधनमें सहानवस्थान रूप विरोध होगा या परस्परपरिहारस्थिति रूप ? उनमें सहानवस्थान रूप विरोध भी क्यों माना जाता है—क्या वे कभी भी एक जगह नहीं रह सकते या कुछ देर तक साथ रहकर पीछे अलग हो जाते हैं ? यदि कभी भी एक जगह न रहनेवालोंमें ही सहानवस्थान रूप विरोध माना जाय; तो साँप और नेवला आदि भी कभी-कभी एक साथ भी रहते हैं अतः उनमें सहानवस्थान विरोध नहीं कहना चाहिए। यदि उनमें सहानवस्थान विरोध हो तो संसारसे साँपोंका लोप ही हो जायगा। स्त्री और पुरुष भी कुछ देर तक इकट्ठे रह कर पीछे अलग हो जाते हैं; अतः उनमें भी सहानवस्थान विरोध मानना चाहिए। यदि कुछ देर तक एक साथ रह कर पीछे तुरन्त ही अलग हो जानेवालोंमें ही विरोध माना जाय; तो बड़वानल—समुद्री आग और समुद्रका जल, बिजली और बादलोंमें रहनेवाला पानी, ये सभी बहुत देर तक एक साथ रहते हैं अतः इनमें विरोध नहीं होना चाहिए। परस्पर परिहार स्थिति रूप विरोध तो सभी पदार्थोंमें साधारण रूपसे हुआ ही करता है। हर एक पदार्थ दूसरे पदार्थोंसे भिन्न अपनी स्थिति रखता ही है। अतः इस सर्व साधारण विरोधका अमुक साध्य-साधनोंसे ही सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है ?

---

१. "द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः। अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद् विरोधगतिः। शीतोष्णस्पर्शवत्। परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया वा भावाभाववत्।"—न्यायवि० ३।७२-७५। २. तत्राद्यः कि म० १, प० १, प० २। ३. -कत्रमिति स्थि -म० १, प० १, प० २।

§ ४०९. नापि विशेषणविशेष्यभावो घटामियर्ति, तस्य संयोगाद्यसंभवेऽभावात्[1] तस्य तु प्रागेव निरासात् ।

§ ४१०. नापि साध्यसाधनयोस्तादात्म्यं घटते, साध्यसाधनयोरसिद्धसिद्धयोर्भेदाभ्युपगमेन तादात्म्यायोगात्, तादात्म्ये च [2]साध्यं साधनं चैकतरमेव भवेन्न द्वयं कथंचित्तादात्म्ये तु जैनमतानुप्रवेशः स्यात् ।

§ ४११. तदुत्पत्तिस्तु कार्यकारणभावे संभविनी कार्यकारणभावश्चार्थक्रियासिद्धौ सिध्येत् । अर्थक्रिया च नित्यस्य क्रमाक्रमाभ्यां सहकारिषु सत्स्वसत्सु च जनकाजनकस्वभावद्वयानभ्युपगमेन नोपपद्यते । अनित्यस्य तु सतोऽसतो वा सा न घटते [3]सतः समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात्, व्यापारे वा स्वस्वकारणकाल एव जातानामुत्तरोत्तरसर्वक्षणानामेकक्षणवर्तित्वप्रसङ्गात्, सकलभावानां मिथः कार्यकारणभावप्रसक्तेश्च, असतश्च सकलशक्तिविकलत्वेन कार्यकारणासंभवात्,

---

§ ४०९. साध्य और साधनमें विशेषणविशेष्यभाव भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि विशेषणविशेष्यभाव तो उन पदार्थोंमें होता है जिनमें पहलेसे परस्पर कोई संयोग या समवाय आदि सम्बन्ध रहते हैं । पर जब साध्य और साधनमें संयोगादि सम्बन्धोंका अभाव सिद्ध किया जा चुका है तब उनमें विशेषणविशेष्यभावकी बात बिलकुल अप्रासंगिक है ।

§ ४१०. साध्य और साधनमें तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि साध्य असिद्ध होता है तथा साधन सिद्ध । इस तरह जब उनमें जमीन-आसमान-जैसा भेद है तो तादात्म्य सम्बन्ध कैसे बन सकता है ? यदि उनमें तादात्म्य माना जायगा; तो जब तादात्म्य होनेसे साध्य और साधनमें अभेद हो जायगा तब या तो साध्य ही बचेगा या फिर साधन ही । तादात्म्य सम्बन्धमें दो नहीं बच सकते । कथंचित्तादात्म्य माननेसे तो जैन मतको स्वीकार करना होगा ।

§ ४११. साध्य और साधनमें कार्यकारणभाव होने पर ही तदुत्पत्ति सम्बन्धकी बात उठ सकती है । कार्य-कारण भाव अर्थ क्रिया करनेवाले पदार्थोंमें होता है । सर्वथा नित्य तथा अनित्य साध्य-साधनोंमें जब अर्थक्रिया ही नहीं हो सकती तब उनमें कार्यकारणभाव या तदुत्पत्ति सम्बन्ध की चर्चा ही व्यर्थ है । नित्य पदार्थ सदा एक स्वभाववाला होता है, अतः उसमें क्रमसे तथा युगपत् सहकारियोंकी मददसे तथा उनकी मददके बिना, किसी भी तरह कोई भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि हर हालतमें अनेक कार्योंको उत्पन्न करनेके लिए अनेक स्वभावोंकी आवश्यकता है, जिनका कि नित्यमें सर्वथा अभाव है । सर्वथा क्षणिक पदार्थ भी अपने सद्भावमें तथा असद्भावमें अर्थक्रिया नहीं कर सकता । यदि वह अपनी मौजूदगीमें ही अपने कार्यको उत्पन्न करता है; तो पहली बात तो यह है कि—समान समय वालोंमें कार्यकारणभाव नहीं होता । यदि एक साथ रहनेवालोंमें भी कार्यकारणभाव हो जाय; तो समस्त उत्तरोत्तर कार्य पूर्व पूर्व क्षणमें उत्पन्न हो जायँगे । नवाँ क्षण दसवें क्षणको अपनी मौजूदगीमें अर्थात् नवें क्षणमें ही उत्पन्न करता है, इसी तरह आठवाँ नवेंको अपनी मौजूदगी अर्थात् आठवें क्षणमें, सातवाँ आठवेंको अपनी सातवें क्षणकी सत्तामें, छठवाँ सातवेंको अपने छठे क्षणमें, इस तरह समस्त उत्तरोत्तरक्षण खिसकते-खिसकते प्रथमक्षणमें ही उत्पन्न होंगे और दूसरे क्षणमें नष्ट होकर संसारको शून्य बना देंगे । ऊपर यदि सहभावियोंमें कार्यकारणभाव हो, तो समस्त सहभावी पदार्थोंमें परस्पर कार्यकारण भाव हो जाना चाहिए । कोई भी कारण असत् होकर तो कार्यको उत्पन्न ही नहीं कर सकता; क्योंकि असत् पदार्थ जब समस्त शक्तियोंसे रहित होता है तो उसमें कार्यको उत्पन्न करने

---

१. °भावेऽभावा–भ० १, प० १, प० २ । २. वा भ० १, प० १, प० २ । ३. सतः समवायवर्ति–आ०, क० । सतसमयवर्ति –प० १, प० २ ।

अन्यथा शशविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात्। तदित्थं साध्यसाधनां संबन्धानुपपत्तेरेकान्तमते पक्षधर्मत्वादि हेतुलक्षणमसंगतमेव स्यात्, तथा च प्रतिबन्धो दुरुपपाद एव।

§ ४१२. तथैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि न जाघटीति, अविचलितस्वरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याभावात्, प्रतिक्षणध्वंसिन्यपि कार्यकारणाद्युभयग्रहणानुवृत्त्येकचैतन्याभावात्।

§ ४१३. न च कार्याद्यनुभवानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावादिः प्रतिबन्धोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यं अनुभूत एव स्मरणप्रादुर्भावात्। न च प्रतिबन्धः केनचिदनुभूतः, तस्योभयनिष्ठत्वात्। उभयस्य पूर्वापरकालभाविन एकेनाग्रहणादिति न प्रतिबन्धनिश्चयोऽपि।

§ ४१४. तदेवमेकान्तपक्षे परैरुच्चार्यमाणः सर्वोऽपि हेतुः प्रतिबन्धस्याभावादनिश्चयाच्चानैकान्तिक एव भवेत्।

की शक्ति भी नहीं रह सकती। यदि असत् पदार्थ भी कार्य करने लगे तो, खरगोशके सींगको भी कुछ कार्य करना चाहिए और कार्यकारी होनेसे सत् हो जाना चाहिए। इस तरह जब साध्य-साधन आदिका एकान्तमतमें सम्बन्ध ही नहीं बन पाता तब हेतुके पक्षधर्मत्व आदि रूप कैसे सिद्ध हो सकते हैं? उन्हें हेतुका स्वरूप मानना अप्रसंगत है। अतः साध्य और साधन आदिका सम्बन्ध सिद्ध करना वस्तुतः कठिन है।

§ ४१२. एकान्त नित्यवादी आत्माको सर्वथा अपरिवर्तनशील नित्य मानते हैं। वह सर्वथा अविचलित स्वभाववाला है इसलिए उसमें ज्ञानकी पर्यायें भी नहीं बदलतीं। जब ऐसा कूटस्थ नित्य आत्मा है; तो उसे साध्य और साधनके सम्बन्धको ग्रहण करना ही कठिन है। जिस आत्माके ज्ञानमें साध्य-साधन और उनका सर्वोपसंहारी अविनाभाव क्रमशः प्रतिभासित हो वही आत्मा सम्बन्धको ग्रहण कर सकता है। जो सदा एकरस है उसमें इतना क्रमिक परिणमन हो ही नहीं सकता। बौद्ध आत्माको क्षणिक ज्ञान प्रवाह रूप मानते हैं उनका यह क्षणिक आत्मा भी साध्यसाधनके सम्बन्धको ग्रहण नहीं कर सकता जिस ज्ञानक्षणने साधनको जाना है वह साध्यको नहीं जानता, साध्यको जाननेवाला ज्ञानक्षण साधनको नहीं जानता। इस तरह कार्यकारण या साध्यसाधन दोनोंके जाननेवाले किसी अन्वयी चैतन्यका सद्भाव न होनेसे उनके सम्बन्धका जानना नितान्त असम्भव है।

§ ४१३. **बौद्ध**—कार्यकारण या साध्यसाधनके अनुभवसे उत्पन्न होनेवाले स्मरणके द्वारा कार्यकारण भाव तथा अविनाभाव आदि सम्बन्धोंका ज्ञान भलीभाँति किया जा सकता है।

जैन—स्मरण तो अनुभवके अनुसार होता है। जिस पदार्थका अनुभव होगा उसीका स्मरण आता है। जब कार्यकारणभाव या अविनाभाव आदि सम्बन्धोंका अनुभव ही नहीं हुआ है तब उनका स्मरण कैसे आ सकता है? सम्बन्ध तो दोमें रहता है। जब आपका कोई भी क्षणिक ज्ञानक्षण पूर्वोत्तर कालभावी दो पदार्थोंको नहीं जानता तब वह कैसे उन दोमें रहनेवाले सम्बन्धका परिज्ञान कर सकेगा? कार्यकारण भाव तो क्रमभावी कारण और कार्यमें रहता है। आपके किसी एक ज्ञानक्षणके द्वारा क्रमभावी कार्य और कारणका ग्रहण करना नितान्त असम्भव है। अतः उससे उनके सम्बन्धका ग्रहण भी नहीं हो सकता।

§ ४१४. इस तरह एकान्तपक्षमें प्रतिवादियोंके सभी हेतु अनैकान्तिक हैं; क्योंकि एक तो उनमें सम्बन्ध ही नहीं बनता, किसी तरह बन भी जाय तो उसका निश्चय करना ही असम्भव है।

§ ४१५. एवं च केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य च द्वयोर्वा परस्परविविक्तयोस्तयोर्हेतुत्वाघटनादनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययनिबन्धनपरस्परसंबलितसामान्यविशेषात्मनो हेतोरनेकान्तात्मनि साध्ये गमकत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

§ ४१६. न च यदेव रूपं रूपान्तराद्व्यावर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमासादयति, यच्चानुवर्तते तत्कथं व्यावृत्तिमाश्रयति इति वक्तव्यं, अनुवृत्तव्यावृत्तरूपतयाध्यक्षतः प्रतीयमाने वस्तुरूपे विरोधासिद्धेः, सामान्यविशेषवच्चित्रज्ञानवच्चित्रपटस्यैकचित्ररूपवद्वा ।

§ ४१७. किं च एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतोः साध्यं किं सामान्यमात्रं विशेष उतोभयं परस्परविविक्तमुतस्विदनुभयमिति विकल्पाः । न तावत्सामान्यम्, केवलस्य तस्यासंभवादर्थक्रियाकारित्ववैकल्याच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायित्वेन साधयितुमशक्यत्वात् । नाप्युभयम्; उभयदोषानतिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्; तस्यासतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात् । तस्माद्विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्मस्य साध्यधर्मिणि साधनायान्योन्यानुविद्धान्वयव्यतिरेकस्वभावद्वयात्मैकहेतोः प्रदर्शने लेशतोऽपि नैकान्तपक्षोक्तदोषावकाशः संभवी, अतोऽनेकान्तात्मकं हेतुस्वरूपं

---

§ ४१५. इस तरह हेतु न तो केवल सामान्यरूप हो सकता है न केवल विशेषरूप और न परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र सामान्य विशेष रूप ही । अतः परस्पर सापेक्ष सामान्य विशेषात्मक रूप ही हेतु अनेकान्तात्मक साध्यका अनुमापक हो सकता है । परस्पर तादात्म्य रखनेवाले सामान्य और विशेष ही अनुगताकार साधारण प्रत्यय तथा व्यावृत्ताकार विलक्षण प्रत्यक्षमें कारण होते हैं ।

§ ४१६. शंका—जो पदार्थ विशेषात्मक है दूसरोंसे व्यावृत्त होता है वही अनुवृत्त-साधारण प्रत्ययमें कारण कैसे हो सकता है । इसी तरह जो साधारण सामान्यरूप होकर अनुगत प्रत्ययमें कारण होता है वही व्यावृत्त प्रत्ययमें कारण कैसे हो सकता है ? ये दोनों ही रूप परस्पर विरोधी हैं, अतः एक वस्तुमें कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—जिस तरह सामान्य विशेष—पृथिवीत्व आदि अपर सामान्य जलादिसे व्यावर्तक होनेके कारण विशेष रूप होकर भी पृथिवी व्यक्तियोंमें अनुगत—एकाकार प्रत्यय करानेके कारण सामान्यरूप भी है । अथवा जिस प्रकार चित्रज्ञान एक होकर भी अनेक नील पीतादि आकारोंको धारण करता है । अथवा जैसे एक ही रंग-बिरंगे चित्रपटमें अनेक नीले पीले रंग रह जाते हैं उसी तरह एक ही वस्तु सामान्य और विशेष दो आकारोंको भी धारण कर सकती है । जब एक ही वस्तुका अनुगताकार तथा व्यावृत्ताकार प्रत्ययमें कारण होना प्रत्यक्ष सिद्ध है तब उनमें विरोध कैसे हो सकता है ? विरोध तो उनमें होता है जिनकी एक साथ उपलब्धि न हो सकती हो ।

§ ४१७. अच्छा, आप सब एकान्तवादी कृपया यह बतावें कि—आप अपने हेतुओंका साध्य केवल सामान्यरूप ही मानते हैं, या विशेषरूप, अथवा परस्पर निरपेक्ष उभयरूप, किंवा अनुभयरूप ? केवल सामान्य पदार्थ तो गधेके सींगकी तरह असत् है, वह कोई भी अर्थ-क्रिया नहीं कर सकता । अतः उसे साध्य बनाना निरर्थक ही है । केवल विशेष तो दूसरी व्यक्तिमें अनुगत नहीं होता अतः उसका सम्बन्ध अगृहीत रहनेके कारण वह साध्य नहीं बनाया जा सकता । परस्पर निरपेक्ष उभयपक्षमें तो सामान्य और विशेष दोनों पक्षोंमें आनेवाले दूषणोंका प्रसंग होगा । अनुभयरूप तो कोई पदार्थ हो नहीं हो सकता, या तो वह सामान्यरूप होगा या विशेषरूप । परस्पर व्यवच्छेदात्मक सामान्य और विशेष दोनोंका युगपत् निषेध नहीं किया जा

चावश्यमङ्गीकर्तव्यं, अन्यथा सकलानुमानेषु साध्यसाधनानामुक्तन्यायत उच्छेद एव भवेत्। तस्माद्भो एकान्तवादिन्, निजपक्षाभिमानत्यागेनाविषादिनोऽक्षिणी निमील्य बुद्धिदृशमुन्मील्य मध्यस्थवृत्त्या युक्त्यानुसारैकप्रवृत्त्या तत्तत्त्वं जिज्ञासन्तो भवन्तो [1]ऽनेकान्तं कान्तं विचारयन्तु, प्रमाणैकमूलसकलयुक्तियुक्तं प्रागुक्तनिखिलदोषविप्रमुक्तम् तत्तत्त्वं चाधिगच्छन्तु। इति परहेतुतमोभास्करनामकं वादस्थलम्। ततः सिद्धं सर्वदर्शनसंमतमनेकान्तमतम् ॥५७॥

§ ४१८. अथ जैनमतं [3]संक्षेपयन्नाह—

जैनदर्शनसंक्षेप इत्येष गदितोऽनघः।
पूर्वापरविरोधो यत्र क्वापि न विद्यते ॥५८॥

§ ४१९. व्याख्या—जैनदर्शनस्य संक्षेपो विस्तरस्यागाधत्वेन वक्तुमशक्यत्वादुपयोगसारः समास इत्यमुनोक्तप्रकारेणैव—प्रत्यक्षो गदितो—अभिहितोऽनघो—निर्दूषणः सर्ववक्तव्यस्य सर्वज्ञमूलत्वे दोषकालुष्यानवकाशात्। यत्र—जैनदर्शने क्वापि क्वचिदपि जीवाजीवादिरूपविचारणाविषयसूक्ष्ममतिचर्चायामपि पूर्वापरयोः—पूर्वपश्चाद्भिहितयोः पराघातः—परस्परव्याहतत्वं न विद्यते, अयं

सकता है। इस तरह जब अनुभय पदार्थकी सत्ता ही नहीं तब वह हेतुका व्यापक होकर साध्य नहीं बन सकता। इस तरह पक्षमें सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी सिद्धिके लिए सामान्यविशेषात्मक ही हेतुका प्रयोग करना युक्ति तथा अनुभवसे सिद्ध है। इस सामान्य विशेषात्मक पक्षको एकान्त पक्षमें दिये जानेवाले दूषणोंकी हवा भी नहीं लग सकती। अतः हेतुका स्वरूप अनेकान्तात्मक ही मानना चाहिए। उसे एकान्त रूप माननेसे समस्त साध्य-साधनोंका लोप होकर अनुमान मात्रका उच्छेद हो जायगा। इसलिए हे एकान्तवादियो, यदि आप लोग अपने पक्षका मिथ्याभिमान छोड़कर शान्तचित्तसे योगीकी तरह इन चंचल आँखोंको मूँदकर ज्ञान नेत्रोंको खोलकर, तटस्थवृत्तिसे युक्तियोंका आलोडनकर, तत्त्वजिज्ञासापूर्वक अनेकान्तका थोड़ी देर भी विचार करेंगे तो आप पहले कहे गये समस्त दूषणोंसे रहित प्रमाण प्रसिद्ध अनेकान्ततत्त्वको सहज ही पा सकेंगे। इस तरह यह परहेतुतमोभास्कर नामका वादस्थल पूर्ण हुआ। ऊपरके विवेचनसे अनेकान्ततत्त्व सर्वदर्शनसम्मत सिद्ध हो जाता है ॥५७॥

§ ४१८. अब जैनमतका उपसंहार करते हैं—

इस तरह सर्वथा निर्दोष जैनदर्शनका संक्षेपसे कथन किया है। इनकी मान्यताओंमें कहीं भी पूर्वापर विरोध नहीं है ॥५८॥

§ ४१९. जैनदर्शन अगाध है, उसका विस्तारसे वर्णन करना तो समुद्रको तैरनेके समान असम्भव है। अतः सारभूत उपयोगी पदार्थोंका इस प्रकरणमें कथन किया गया है। जैनदर्शनके मूलवक्ता सर्वज्ञ हैं, अतः उसमें दोषकी कालिमा हो ही नहीं सकती। यह वर्णन भी उन्हींके वचनोंके अनुसार है अतः इसमें किसी भी तरहके दोषकी सम्भावना नहीं है। इस जैनदर्शनको जीव अजीवादिविषयक गहनतम सूक्ष्म चर्चाओंमें कहींपर भी पूर्वापर विरोध नहीं देखा जाता। पहले कुछ और कहा जाय और बादमें कुछ और ही तब पूर्वापर विरोध होता है। परन्तु जैनदर्शनमें पहले और पीछे सर्वत्र प्रमाणसिद्ध अबाधित वस्तुनिरूपण है। तात्पर्य यह कि जिस तरह अन्यमतोंके मूलशास्त्रोंमें ही पहले कुछ कहा तथा बादमें कुछ निरूपण होनेसे पूर्वापर विरोध है

---

१. —गेष्यविषादि—भ० १, प० १, प० २। २. —नेकान्तं विचारयन्त प्र—आ०।—नेकान्तं विचारयन्तु प्र— क०। ३. संक्षिपन्नाह भ० १, भ० २, प० १, प० २। ४. विषये सूक्ष्ममपि पूर्वापरयोः पराघातः भ० २।

भावः–[1]यथा अपरदर्शनसंबन्धिषु मूलग्रन्थेष्वपि हि पुनः पश्चात्कालिकप्रक्षेपकल्पितग्रन्थकथासु[2] प्रथमपश्चाद्भिहितयोर्मिथोविरोधोऽस्ति, तथा जैनदर्शने क्वापि केवलिप्रणीतद्वादशाङ्गेषु पारम्पर्यग्रन्थेषु च [3]सुसंबद्धार्थत्वात्सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षितोऽपि स नास्ति । यत्तु परदर्शनेष्वपि क्वचन सहृदयहृदयंगमानि वचनानि कानिचिदाकर्ण्यामः तान्यपि जिनोक्तसूक्तसुधासिन्धुसमुद्गतान्येव संगृह्य मुधा स्वात्मानं बहु मन्यते । यच्छ्रीसिद्धसेनपादाः—

"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥१॥" [द्वात्रिंश०] इति ।

§ ४२०. अत्र परे प्राहुः—अहो आर्हताः, अर्हद्भिहिततत्त्वानुरागिभिर्युष्माभिरिदमसंबद्धमेवाबिभ्रद्वचोजातमभूवे यदुत युष्मद्दर्शनेष्वपि पूर्वापरयोर्विरोधोऽस्तीति । न ह्यस्मन्मते सूक्ष्मेक्षणैरीक्ष-[4]माणोऽपि विरोधलेशोऽपि क्वचन निरीक्ष्यते, अमृतकरकरनिकरेष्विव कालिमेति चेत् । उच्यते । भोः, स्वमतपक्षपातं परिहृत्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्यमानैर्निरभिमानैः[5] प्रतिभाबुद्धिकर्णावधानं विदधानैर्निशम्यते, तदा वयं भवतां सर्वं दर्शयामः ।

उस तरह जैन दर्शनमें केवली भगवान्के द्वारा प्रणीत द्वादशांगमें तथा इनके आधारसे बने हुए उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें कहींपर भी पूर्वापर विरोध नहीं देखा जाता । सूक्ष्मदृष्टिसे अच्छी तरह विचारनेपर जैनदर्शन आगे पीछे सर्वत्र निर्विरोध प्रतीत होता है, उसका कथन सर्वत्र सम्बद्ध है । अन्यमतोंके मूलग्रन्थ ही जब इस तरह पूर्वापर विरोधसे भरे पड़े हैं तब उत्तरकालीन विप्रलम्भक लोगों द्वारा गूँथे गये ग्रन्थोंकी तो बात ही क्या कहना ? अन्य मतोंमें भी जो कुछ सहृदय विद्वत्समाजके चित्तमें फबनेवाले सुन्दर हृदयहारी वचन सुने जाते हैं, वे सब वस्तुतः जैनवचन रूपी समुद्रसे ही निकाल-निकालकर अपने-अपने शास्त्रोंमें सजा लिये गये हैं । अतः परवादी उन मँगनीमें आये हुए पराये सुन्दर वचनोंके बलपर अपने शास्त्रोंको व्यर्थ ही बड़े महत्त्वशाली कहनेका ढोंग करते हैं । वस्तुतः रत्नोंकी उत्पत्ति तो रत्नाकर—समुद्रमें ही होती है जौहरियोंकी दुकानपर तो वे माँगकर या उठाकर ही लाये जाते हैं । श्री सिद्धसेनदिवाकरने स्पष्ट कहा है कि—"हे भगवन्, यह बात सुनिश्चित है कि—परशास्त्रोंमें जो कुछ भी थोड़े-से सुन्दर सूक्त—सुवचन या सुयुक्तियाँ चमक रही हैं वे सब मूलतः तुम्हारी ही हैं । वे जिनवचनरूपी समुद्रको उछटी हुई बूँदें हैं । अतः जैनवाक्य ही सूक्तियों तथा सुयुक्तियोंके समुद्र हैं और प्रमाण रूप हैं । संसार इस बातको अच्छी तरह जानता है कि जलबिन्दुओंका सबसे बड़ा भण्डार समुद्र ही होता है ।"

§ ४२०. **परवादी**—अय जैनियो, जिन शासनके अनुरागसे आपलोग यह मिथ्या और असम्बद्ध ही बकते रहते हो कि—हम लोगोंके मतोंमें आगे-पीछे असम्बद्धता है उनमें पूर्वापर विरोध है । किसीके मतका इस तरह मिथ्या अपवाद करना आपको शोभा नहीं देता । हमारे मत तो पूर्णचन्द्रकी धवल चाँदनीकी तरह दूधके धुले हुए स्वच्छ तथा निर्दोष हैं, उनमें विरोधकी कालिमा जरा भी नहीं है । आप कितनी ही बारीकीसे खोज क्यों न करें, पर आपको कहीं भी विरोध या असम्बद्धताकी गन्ध तक नहीं आ सकती । अतः इस पूर्वापर विरोधकी व्यर्थ बकवादको बन्द कर देना चाहिए ।

जैन—आप घबड़ाइए नहीं, यदि आप लोग अपने मतका मिथ्या पक्षपात छोड़कर मध्यस्थ भावसे निरभिमान होकर अपनी बुद्धि तथा प्रतिभाके कान खड़े करके सावधानीसे सुनना चाहते हैं तो हम एक एक करके समस्त विरोधोंको गिनाते हैं ।

---

१. यथा पर आ० । २. ग्रन्थकंथासु म० १, प० १, प० २, –ग्रन्थसंकथासु म० २ । ३. च संच–म० १ । ४. –क्षणैरीक्षणैरी –म० । ५. –क्षमा– –म० २, प० १, प० २ । ६. –मानैर्धीप्रधानैः प्रतिभाद्यवधानं आ०, क०, –मानैः प्रतिभाद्यवधानं म० २ ।

§ ४२१. तथाहि प्रथमं तावत्तायागतसंमते मते पूर्वापरविरोध उद्भाव्यते। पूर्वं सर्वं क्षणभङ्गुरमभिधाय पश्चादेवमभिदधे "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं, नाकारणं विषयः" [ ] इति। अस्यायमर्थः—ज्ञानमर्थे सत्येवोत्पद्यते नासतीत्यनुकृतान्वयव्यतिरेकोऽर्थो ज्ञानस्य कारणम्। यतश्चार्थाज्ज्ञानमुत्पद्यते तमेव तद्विषयीकरोतीति। एवं चाभिदधानेनार्थस्य क्षणद्वयं स्थितिरभिहिता। तद्यथा—अर्थात्कारणाज्ज्ञानं कार्यं जायमानं द्वितीये क्षणे जायते न तु समसमये कारणकार्ययोः समसमयत्वायोगात्। तच्च ज्ञानं स्वजनकमेवार्थं गृह्णाति नापरम् "नाकारणं विषयः" [ ] इति वचनात्। तथा चार्थस्य क्षणद्वयं स्थितिर्बलादायाता सा च क्षणक्षयेण विरुद्धेति पूर्वापरविरोधः।

§ ४२२. तथा नाकारणं विषय इत्युक्त्वा योगिप्रत्यक्षस्यातीतानागतादिरप्यर्थो विषयोऽभ्युपगम्यते। अतीतानागतश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेन तस्य कारणं न भवेत्। अकारणमपि च तं विषयतयाभिदधानस्य पूर्वापरविरोधः स्यात्।

§ ४२३. एवं साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहकस्य ज्ञानस्य कारणत्वाभावेऽपि त्रिकालगतमर्थं

---

§ ४२१. सबसे पहले हम बौद्धमतको कुछ असम्बद्ध तथा पूर्वापर विरुद्ध बातोंका वर्णन करते हैं। बौद्ध एक ओर तो संसारके समस्त पदार्थोंको क्षणभंगुर मानते हैं और दूसरी ओर क्षणिकताके विरुद्ध भी बोल जाते हैं। वे कहते हैं कि—"जो पदार्थ कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं रखता वह कारण नहीं हो सकता, जो ज्ञान कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं हो सकता।" ज्ञान पदार्थके रहनेपर ही उत्पन्न होता है न कि पदार्थके अभावमें। अतः ज्ञानके साथ अन्वयव्यतिरेक रखनेके कारण, पदार्थ ज्ञानमें कारण होता है। जिस पदार्थसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह उसी पदार्थको जानता है। इस तरह उसी पदार्थको ज्ञानका कारण तथा उसी पदार्थको ज्ञानका विषय माननेके लिए पदार्थकी दो क्षणतक स्थिति माननी आवश्यक है। देखो, पदार्थ ज्ञानका कारण है। कार्य कारणके दूसरे क्षणमें उत्पन्न होता है तथा कारण कार्यसे एक क्षण पहले रहता है। अतः यदि ज्ञान पदार्थरूप कारणसे उत्पन्न होता है तो वह दूसरे क्षणमें ही उत्पन्न होगा। पदार्थ ज्ञानको अपने समान समयमें तो उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि कार्य और कारण समान समयवर्ती नहीं होते, वे नियमसे आगे पीछे—पूर्वोत्तर कालवर्ती होते हैं। यह भी नियम है कि ज्ञान अपने कारणभूत पदार्थको ही जानता है। "जो ज्ञानका कारण नहीं है वह ज्ञानका विषय नहीं होता" यह उन्हींका वचन है। तब वही अर्थ कारण होनेसे तो ज्ञानसे एक क्षण पहले रहेगा और विषय होनेके कारण ज्ञानके साथ रहेगा। इस तरह पदार्थको दो क्षण तक जबरदस्ती ठहरना ही पड़ेगा। पदार्थोंको दो क्षण तक स्थिति माने बिना उन्हें ज्ञानका विषय नहीं बना सकते। इस तरह एक ओर तो पदार्थको दो क्षण तक स्थिति मानना और दूसरी ओर संसारको क्षणिक कहना सरासर विरोधी बातें हैं।

§ ४२२. 'जो ज्ञानके कारण नहीं वे ज्ञानके विषय भी नहीं' इस नियमके अनुसार तो त्रिकालवर्ती यावत् पदार्थोंको जाननेवाले योगियोंके ज्ञानमें अतीत अनागत और वर्तमान सभी पदार्थोंको कारण मानना ही होगा। अब विचार कीजिए कि जब अतीत तो अतीत हैं विनष्ट हो चुके हैं तथा अनागत आये नहीं है, उत्पन्न ही नहीं हुए हैं तब वे योगिज्ञानमें कारण कैसे हो सकते हैं। यदि अतीत और अनागत पदार्थ योगिज्ञानमें कारण न होकर भी उसके विषय माने जाते हैं तो उक्त नियमका विरोध होनेसे स्पष्ट ही पूर्वापर विरोध है।

§ ४२३. इसी तरह त्रिकालवर्ती साध्य और साधनोंको जाननेवाले व्याप्ति ग्राहक ज्ञानमें

विषयं व्याहरमाणस्य कथं न पूर्वापरव्याघातः, अकारणस्य[1] प्रमाणविषयत्वानभ्युपगमात् ।

§ ४२४. तथा क्षणक्षयाभ्युपगमेऽन्वयव्यतिरेकयोर्भिन्नकालयोः प्रतिपत्तिर्न संभवति । ततः साध्यसाधनयोस्त्रिकालविषयं व्याप्तिग्रहणं मन्वानस्य कथं न पूर्वापरव्याहतिः ।

§ ४२५. तथा क्षणक्षयमभिधाय ।

"इत एकनवतौ[2] कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
[3]तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव. ॥१॥"

इत्यत्र श्लोके जन्मान्तरविषये मेशब्दास्मिशब्दयोः प्रयोगं क्षणक्षयविरुद्धं ब्रुवाणस्य बुद्धस्य कथं न पूर्वापरविरोधः ।

§ ४२६. तथा निरंशं सर्वं वस्तु प्राग्प्रोच्य हिंसाविरतिदानचित्तस्वसंवेदनं तु स्वगतं सद्द्रव्यचेतनत्वस्वर्गप्रापणशक्त्यादिकं[4] गृह्णदपि स्वगतस्य सद्द्रव्यत्वादेरेकस्यांशस्य निर्णयमुत्पादयति न पुनः स्वगतस्यापि द्वितीयस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेरंशस्येति सांशतां पश्चाद्वदतः सौगतस्य कथं पूर्वापरविरुद्धं वचो न स्यात् ।

त्रिकालवर्ती अर्थ कारण न होकर भी विषय हो रहे हैं। अतः 'जो ज्ञानका कारण नहीं वह ज्ञानका विषय नहीं' इस नियमका सर्वसंग्राही व्याप्ति ज्ञानसे भी विरोध होता है ।

§ ४२४. संसारके पदार्थोंको क्षणक्षयी माननेपर अन्वय और व्यतिरेकका ज्ञान नहीं हो सकेगा । जो ज्ञान पहले साधनका सद्भाव ग्रहण कर उसकी सत्तामें ही साध्यकी सत्ताको तथा साध्यके अभावमें साधनके अभावको जाननेका इतना—दस बीस क्षण लम्बा व्यापार कर सकता है उसी ज्ञानसे अन्वय-व्यतिरेक जाने जा सकते हैं । पर क्षणभंगवादमें किसी भी ज्ञानक्षणका इतना लम्बा व्यापार होना असम्भव है । अतः क्षणभंग मानकर अन्वय-व्यतिरेकके ग्रहणको असम्भव बना देना तथा सर्वसंग्राही अन्वय-व्यतिरेकमूलक व्याप्तिज्ञानसे व्यवहार भी चलाना क्या परस्पर विरोधी नहीं हैं ।

§ ४२५. आत्माको क्षणभंगुर भी मानना और "आजसे एकानवे कल्प पहले मैंने भालेसे एक पुरुषको मारा था । हे भिक्षुओ, उसी हिंसा कर्मके फलस्वरूप आज मेरे पैरमें काँटा चुभा है।" यह एकानवे कल्पसे लेकर आज तक ठहरनेवाले आत्माका स्पष्ट कथन करना परस्पर विरोधी नहीं तो क्या है ? इसमें एकानवेवाँ कल्प और आज इन दोनों कालों तक स्थायी 'मे और अस्मि' शब्दका वाच्य, जन्मान्तरोंमें अपनी सत्ता रखनेवाला आत्मा सिद्ध होता है जो क्षणभंगवादको समूल नष्ट कर देगा । यह वाक्य और किसीका नहीं है । स्वयं बुद्धने ही जन्मान्तर—परलोककी सत्ता सिद्ध करनेके लिए यह श्लोक कहा था । इसमें 'जो मैं भालेसे पुरुषको मारनेवाला था वही मैं आज काँटेसे छिद रहा हूँ' इस प्रत्यभिज्ञानसे आत्माका स्थायित्व साफ साफ जाहिर हो रहा है ।

§ ४२६. इसी तरह पहले वस्तुको सर्वथा निरंश मानकर पीछे उसका सांश रूपसे कथन करना भी स्ववचन विरोध है । वे कहते हैं कि अहिंसाक्षण या दानक्षण रूप चित्त अपने सत्ता, द्रव्यत्व, चेतनत्व, स्वर्ग-प्राप्ति करानेकी शक्ति आदि अनेक अंशोंको जानकर भी सत्त्व, द्रव्यत्व और चेतनत्व आदि अंशोंका तो निश्चय कर पाता है पर अपने ही स्वर्गप्रापण शक्ति आदि अंशोंका निश्चय नहीं कर सकता । इस तरह एक ओर वस्तुकी निरंशताकी घोषणा करना और दूसरी ओर वस्तुके विभिन्न अंशोंका निरूपण भी करना स्पष्ट ही वदतोव्याघात—स्ववचन विरोध है ।

---

१. –स्य विषय– । २. –नवते कल्पे म० १, म० २, प० १, प० २, क० । उद्धृतोऽयम्–स्या० मं० पृ० २४७ । ३. तेन कर्मवि– म० १, म० २, प० १, प० २ । ४. –कं तदपि म० २ ।

§ ४२७. एवं निर्विकल्पकमध्यक्षं नीलादिकस्य वस्तुनः सामस्त्येन ग्रहणं कुर्वाणमपि नीलांशे निर्णयमुत्पादयति न पुनर्नीलाद्यर्थगते क्षणक्षयेऽंश इति सांशतामभिदधतः सौगतस्य पूर्वापरवचोविरोधः सुबोध एव।

§ ४२८. तथा हेतोस्त्रैरूप्यं संशयस्य चोल्लेखद्वयात्मकतामभिदधानोऽपि स सांशं वस्तु यन्न मन्यते तदपि पूर्वापरविरुद्धम्।

§ ४२९. तथा परस्परानाश्लिष्टा एवाणवः प्रत्यासत्तिभाजः समुदिता [1]घटादिरूपतया प्रतिभासन्ते न पुनरन्योन्यमङ्गाङ्गिभावरूपेणारब्धस्कन्धकार्यास्ते इति हि बौद्धमतम्। तत्र चामी दोषाः। परस्परपरमाणूनामनाश्लिष्टत्वाद्घटस्यैकदेशे हस्तेन धार्यमाणे कृत्स्नस्य घटस्य धारणं न स्यात्, उत्क्षेपावक्षेपापकर्षाश्च तथैव न भवेयुः। धारणादीनि च घटस्यार्थक्रियालक्षणं सत्त्वमङ्गीकुर्वाणैः सौगतैरभ्युपगतान्येव[3] तानि च तन्मतेऽनुपपन्नानि। ततो भवति पूर्वापरयोर्विरोधः।

§ ४३०. अत्र नैयायिकवैशेषिकमतयोः पूर्वापरतो व्याहतत्वं [4]दर्श्यते। सत्तायोगः सत्त्व-

---

§ ४२७. इसी तरह निर्विकल्प प्रत्यक्षको नीलादिवस्तुओंके समस्त धर्मोंका ग्राहक मानकर भी उसे नीलांशमें विकल्प-निश्चयका उत्पादक कहना तथा उसी नीलपदार्थके क्षणक्षयांशमें निश्चयका उत्पादक न मानना ही वस्तुकी सांशताका स्पष्ट निरूपण करना है। जो निरंश सिद्धान्तका विरोधी है।

§ ४२८. इसी तरह वस्तुको निरंश मानकर भी हेतुके तीन रूप मानना तथा संशयज्ञानमें दो विरोधी आकारोंको स्वीकार करना बौद्धोंके परस्पर विरोधको समझनेके लिए पर्याप्त है।

§ ४२९. बौद्धोंका यह सिद्धान्त है कि—घट आदि स्थूलपदार्थोंकी वास्तविक सत्ता नहीं है। यह तो परस्पर असम्बद्ध पर अत्यन्त निकट रखे हुए परमाणुओंका एक पुंज—समुदाय है। परमाणु परस्पर सापेक्ष होकर स्कन्ध नहीं बनते। यही परमाणुओंका ढेर हम लोगोंको घट पट आदि स्थूल पदार्थोंके रूपमें प्रतिभासित होता है। ये परमाणु असम्बद्ध होकर भी एक दूसरेके इतने इतने निकट हैं कि उनका स्वतन्त्र प्रतिभास न होकर स्थूल और स्थिर रूपसे प्रतिभास होता है। उनके इस परमाणुपुंजवादमें ये दूषण आते हैं—यदि घट नामका एक स्कन्ध नहीं है, तो घड़ेको मुखकी ओरसे उठानेपर पूरा घड़ा नहीं उठना चाहिए। उसके उतने ही परमाणु हाथमें आने चाहिए जिन्हें कि हाथसे पकड़ रखा है न कि पूरा घड़ा। इसी तरह घड़ेको ऊपर नीचे या तिरछे फेंकनेपर परमाणुओंके ढेरको बिखरकर घड़ेकी सत्ता नष्ट कर देनी चाहिए। उसमें पानी तो हरगिज नहीं भरा जाना चाहिए। क्योंकि परमाणुओंके ढेरको न तो उठा सकते हैं न ऊपर नीचे या तिरछे फेंक सकते हैं और न उसमें पानी आदि ही भर सकते हैं। इस तरह एक ओर तो परमाणुपुंजवाद मानना और दूसरी ओर घड़े आदिसे पानी भरने आदि अर्थक्रियाओंके होनेकी बात कहना परस्पर विरोधी बातें हैं। घड़ेकी सत्ता जलधारण आदि अर्थक्रियाके बिना हो ही नहीं सकती। इस तरह अर्थक्रियाको सत्ताका लक्षण कहना तथा परमाणुपुंजवाद मानना, जिसमें किसी भी अर्थक्रियाकी सम्भावना नहीं है, साफ-साफ स्ववचन विरोध है। यह तो उस मौनीके समान है जो अपनेको 'मौनी' कहता भी जाता है और मौन व्रती होनेका ढोंग भी रचता है।

§ ४३०. अब नैयायिक और वैशेषिकमतमें पूर्वापर विरोध दिखाते हैं। इन्होंने सत् पदार्थका लक्षण तो किया है कि—'जिसमें सत्ताका समवाय हो वह सत्' पर सामान्य, विशेष

---

१. –परविरो –म० २। २. घटस्कन्धकार्यास्ते म० २। ३. –गतानि च तन्मते म० २। ४. दर्श्यते, आ०, क०।

मित्युक्त्वा सामान्यविशेषसमवायानां सत्तायोगमन्तरेणापि सद्भावं भावमाणानां कथं न व्याहतं वचो भवेत् ।

§ ४३१. ज्ञानं स्वात्मानं न वेत्ति स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्यभिधायेश्वरज्ञानं स्वात्मनि क्रियाविरोधाभावेन स्वसंवेदितमिच्छतां कथं न स्ववचनविरोधः । प्रदीपोऽप्यात्मानमात्मनैव प्रकाशयन् स्वात्मनि क्रियाविरोधं व्यपाकरोति ।

§ ४३२. परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतोऽक्षपादर्षेर्वैराग्यव्यावर्णनं तमसः प्रकाशात्मकताप्रख्यापनमिव कथं न व्याहन्यते ।

§ ४३३. आकाशस्य निरवयवत्वं स्वीकृत्य तद्गुणः शब्दस्तदेकदेश एव श्रूयते न सर्वत्रेति सावयवतां ब्रुवाणस्य कथं न विरोधः ।

§ ४३४. सत्तायोगः सत्त्वं योगश्च सर्वैर्वस्तुभिः सांशतायामेव भवति सामान्यं च निरंशमेकमभ्युपगम्यते, ततः कथं न पूर्वापरतो व्याहतिः ।

§ ४३५. समवायो नित्य एकस्वभावश्चेष्यते सर्वैः समवायिभिः संबन्धश्च नैयत्येन जाय-

---

और समवायको सत्तासम्बन्धके बिना ही स्वरूप सत् मान लिया है। इस तरह सत्का लक्षण कुछ दूसरा ही है और पदार्थ किसी दूसरे प्रकारसे भी सत् माने जाते हैं यह तो स्पष्ट ही स्ववचन विरोध है।

§ ४३१. इन्होंने ज्ञानको अस्वसंवेदी माना है। वे कहते हैं कि—ज्ञान अपने स्वरूपको नहीं जानता क्योंकि स्वात्मामें क्रियाका विरोध है, कोई कितना ही कुशल नट क्यों न हो, वह अपने ही कन्धेपर चढ़कर नृत्य नहीं कर सकता, तेजसे तेज भी दुधारी तलवार अपने आपको नहीं काट सकती। इस तरह ज्ञानको अस्वसंवेदी कहकर ईश्वरके ज्ञानको स्वसंवेदी मानना स्ववचन विरोध नहीं तो क्या है? ईश्वरके ज्ञानको स्वसंवेदी मानते समय स्वात्मामें क्रियाका विरोध कहाँ गया? दीपक अपनी ही लौसे अपने स्वरूपका भी प्रकाश करता है तथा पर पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है, अतः स्वात्मामें क्रियाके विरोधकी बात कहना निरर्थक है। दीपकके दृष्टान्त से ही वह खण्डित हो जाती है।

§ ४३२. अक्षपाद ऋषि एक ओर तो दोषनिवृत्ति और तत्त्वज्ञानके द्वारा वैराग्य दृढ़ करनेका उपदेश देते हैं और दूसरी ओर शास्त्रार्थमें वादियोंको ठगनेके लिए उन्हें भुलावेमें डालनेके लिए छल जाति और निग्रहस्थान-जैसे षड्यन्त्रके कूट उपायोंको तत्त्व मानते हैं। क्या यह उनका अन्धकारको ही प्रकाश कहनेके समान स्ववचनविरोध नहीं है?

§ ४३३. आकाशको निरंश भी कहना तथा 'शब्द आकाशके एक देशमें ही सुनाई देता है सब देशोंमें नहीं' इस तरह उसके देशों—हिस्सोंका वर्णन भी करना क्या स्ववचनविरोध नहीं है। ये लोग शब्दको आकाशका गुण मानते हैं और उसकी आकाशके अमुक देशोंमें ही उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

§ ४३४. ये सत्ताके सम्बन्धको सत्त्व कहते हैं। एक सत्तासामान्यका सभी विभिन्न देशवर्ती सत् पदार्थोंसे युगपत् सम्बन्ध तो तब बन सकता है जब सामान्यको सांश—हिस्सोंवाला सावयव माना जाय। परन्तु सामान्यको निरंश और एक भी मानना तथा समस्त सत् पदार्थोंसे उसका युगपत् सम्बन्ध भी मानना दोनों बातें कैसे हो सकती हैं? यह तो स्पष्ट ही पूर्वापर विरोध है।

§ ४३५. इसी तरह समवायको नित्य तथा एक स्वभाववाला भी कहना और समस्त समवायियोंमें नियत सम्बन्ध करानेवाला भी मानना स्ववचन विरोध है। घट और रूपका समवाय

मानोऽनेकस्वभावतायामेव भवति, तथा च पूर्वापरविरोधः सुबोधः ।

§ ४३६. अर्थवत्प्रमाणमित्यत्रार्थः सहकारी यस्य तदर्थवत्प्रमाणमित्यभिधाय योगिप्रत्यक्षमतीताद्यर्थविषयमभिदधानस्य पूर्वापरविरोधः स्यात्, अतीतादेः सहकारित्वायोगात् ।

§ ४३७. तथा स्मृतिर्गृहीतग्राहित्वेन[1] न प्रमाणमिष्यते अनर्थजन्यत्वेन वा । गृहीतग्राहित्वेन स्मृतेरप्रामाण्ये धारावाहिज्ञानानामपि गृहीतग्राहित्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गः । न च धारावाहिज्ञानानामप्रामाण्यं नैयायिकवैशेषिकैः स्वीक्रियते, अनर्थजन्यत्वेन तु स्मृतेरप्रामाण्येऽतीतानागतादिविषयस्यानुमानस्याप्यनर्थजन्यत्वेनाप्रामाण्यं भवेत्, त्रिकालविषयं ते चानुमानं शब्दवदिष्यते, धूमेन हि वर्तमानोऽग्निरनुमीयते मेघोन्नत्या भविष्यन्ती वृष्टिर्नदीपूरेण च सैव भूतेति, तदेवं धारावाहिज्ञानैरनुमानेन[2] च स्मृतेः सादृश्ये सत्यपि यत्स्मृतेरप्रामाण्यं धारावाहिज्ञानादीनां च प्रामाण्यमिष्यते स पूर्वापरविरोधः ।

§ ४३८. ईश्वरस्य सर्वार्थविषयं प्रत्यक्षं किमिन्द्रियार्थसंनिकर्षनिरपेक्षमिष्यत आहोस्विदिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नम् । यदीन्द्रियार्थसंनिकर्षनिरपेक्षं तदेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्य-

---

तथा ज्ञान और आत्माका समवाय एकस्वभाववाला नहीं हो सकता । भिन्न समवायियोंमें नियमपूर्वक सम्बन्धव्यवस्था करनेवाला समवाय एक स्वभाववाला रह ही नहीं सकता, अन्यथा सभीमें एक ही प्रकारका समवाय होगा । पर घट और रूपका समवाय आत्मा और ज्ञानके समवायसे जुदा ही है ।

§ ४३६. 'प्रमाण अर्थवाला होता है' यहाँ 'अर्थवत्' की व्याख्या यह की गयी है कि—'चूँकि प्रमाण ज्ञानमें अर्थ सहकारी कारण होता है अतः प्रमाण अर्थवाला कहा जाता है ।' इस तरह अर्थकारणतावादको स्वीकार करके भी योगियोंके प्रत्यक्षको अतीत और अनागत आदि विनष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंको विषय करनेवाला मानना स्पष्ट ही स्ववचन विरोध है । अतीतादिपदार्थ तो असत् होनेके कारण योगिज्ञानमें सहकारी कारण हो ही नहीं सकते । अर्थकारणतावादका अतीतादिपदार्थोंके ज्ञानके साथ सीधा विरोध है ।

§ ४३७. आप यह बताइए कि स्मृति अप्रमाण क्यों है क्या वह गृहीत—जाने गये पदार्थको जानती है या वह पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती—अनर्थज है ? यदि गृहीतग्राही होनेसे स्मृति अप्रमाण है; तो 'यह घड़ा है यह घड़ा है' इस प्रकारके एक सरीखे धारावाही ज्ञानोंको भी अप्रमाण कहना होगा । पर नैयायिक और वैशेषिक धारावाही ज्ञानोंको प्रमाण मानते हैं । यदि पदार्थसे उत्पन्न न होनेके कारण स्मृति अप्रमाण हो; तो अतीत और अनागतपदार्थोंके अनुमान भी अप्रमाण हो जायेंगे । अतीत और अनागत पदार्थ विनष्ट तथा अनुत्पन्न होनेसे असत् हैं, अतः उससे अनुमानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । नैयायिक और वैशेषिक आगमकी तरह अनुमानको भी त्रिकालविषयक मानते हैं । धूमसे मौजूदा वर्तमान अग्निका अनुमान होता है, विशिष्ट काले घने मेघोंको देखकर आगे होनेवाली वर्षाका अनुमान किया जाता है तथा नदीके पूरको देखकर अतीत वृष्टिका अनुमान होता है । इस तरह धारावाही ज्ञान तथा अनुमानसे स्मृतिकी पूरी-पूरी समानता है, फिर भी धारावाही ज्ञान और अनुमानको प्रमाण माना जाना तथा स्मृतिको अप्रमाण, यह स्ववचनविरोध या मूर्खतापूर्ण पक्षपात ही है ।

§ ४३८. यह बताइए कि—आपलोग सब पदार्थोंको जाननेवाले ईश्वरके प्रत्यक्षको इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पत्ति मानते हैं, या सन्निकर्षके बिना ही ? यदि ईश्वरका प्रत्यक्ष सन्निकर्षके बिना ही हो जाता है, तो 'इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेवाले, अव्यप-

---

१. –त्वेन प्रामा–म० २, प० १, प० २, । २. –न स्मृतेः म० २, प० २ ।

मित्यत्र सूत्रे संनिकर्षोपादानं निरर्थकं भवेत्, ईश्वरप्रत्यक्षस्य संनिकर्षं विनापि भावात् । अथेश्वर-प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमेवाभिप्रेयत इति चेत्; उच्यते–'नहीश्वरसंबन्धिमनसोऽणुपरिमाण-त्वाद्युगपत्सर्वार्थैः संयोगो[2] भवेत्, ततश्चैकमर्थं स यदा वेत्ति तदा नापरान् ततोऽप्यर्थान् ततोऽस्मदादि-वन्न तस्य कदापि सर्वज्ञता, युगपत्संनिकर्षासंभवेन सर्वार्थानां युगपद्वेदनात् । अथ सर्वार्थानां क्रमेण संवेदनात्[3] स सर्वज्ञ इति चेत्, न, बहुना कालेन सर्वार्थसंवेदनस्य खण्डपरशाविवास्मदादि-ष्वपि[4] संभवात्तेऽपि सर्वज्ञाः [5]प्रसज्येयुः । अपि च अतीतानागतानामर्थानां विनष्टानुत्पन्नत्वादेव मनसा संनिकर्षो न भवेत्, सतामेव संयोगसंभवात्तेषां च तदानीमसत्त्वात्, ततः कथं महेश्वरस्य ज्ञानमतीतानागतार्थग्राहकं स्यात्, सर्वार्थग्राहकं च तज्ज्ञानमिष्यते ततः पूर्वापरो विरोधः सुबोधः ।

§ ४३९. एवं योगिनामपि सर्वार्थसंवेदनं दुर्धरविरोधरुद्धमवबोद्धव्यम् ।

§ ४४०. कार्यद्रव्ये प्रागुत्पन्ने सति तस्य रूपं पश्चादुत्पद्यते निराश्रयस्य रूपस्य गुणत्वात्प्राग-नुत्पादनेति पूर्वमुक्त्वा पश्चाच्च कार्यद्रव्ये विनष्टे[7] सति तद्रूपं विनश्यतोत्पद्यमानं पूर्वापरविरुद्धं

देश्य—निर्विकल्पक, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं' इस प्रत्यक्षसूत्रमें 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' विशेषण निरर्थक ही है; क्योंकि ईश्वरका प्रत्यक्ष तो सन्निकर्षके बिना ही हो गया । *यदि ईश्वरका प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे ही उत्पन्न होता है; तो ईश्वर-*के इन्द्रियाँ तो आपलोग मानते ही नहीं, रहा मन, सो उसके सन्निकर्षसे वह सर्वज्ञ नहीं बन सकता । ईश्वरका मन अणुरूप है, अतः उसका एक साथ समस्तपदार्थों से संयोग नहीं हो सकता । वह जिस समय एक अर्थको जानेगा उस समय वह अन्य विद्यमान भी पदार्थों को नहीं जान सकेगा । तात्पर्य यह कि वह हम लोगोंकी तरह कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकेगा; क्योंकि जब समस्त पदार्थों के साथ युगपत् सन्निकर्ष ही नहीं हो सकता तब उनका परिज्ञान तो दूरकी बात है । यदि क्रमसे सभी पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष करके महेश्वर सर्वज्ञ बनते हैं, तो इस तरह क्रमिक सर्वज्ञता तो हम लोगोंको भी हो सकती है । धीरे-धीरे संसारके सभी पदार्थों का ज्ञान महेश्वरकी तरह हम लोगोंको भी हो सकता है । इस तरह सन्निकर्षके द्वारा वर्तमान पदार्थों के परिज्ञानकी समस्या किसी तरह सुलझ भी जाय; पर अतीत और अनागत पदार्थ तो विनष्ट तथा अनुत्पन्न हैं अतः उनके साथ मनका सन्निकर्ष तो हो ही नहीं सकता । संयोग तो मौजूद पदार्थोंसे होता है न कि अविद्यमान पदार्थों के साथ । अतीत और अनागत तो वर्तमान कालमें असत् हैं अतः उनके साथ सन्निकर्षकी सम्भावना ही नहीं है । अतः महेश्वर अतीत और अनागत पदार्थों के ज्ञाता कैसे हो सकते हैं ? इस तरह एक ओर तो महेश्वरको सर्वज्ञ मानना और दूसरी ओर उसके ज्ञानको सन्निकर्षज मानना स्पष्टतः विरोधी है ।

§ ४३९. इसी तरह अन्य योगियोंके ज्ञान भी यदि सन्निकर्षज होंगे तो वे सर्वज्ञ नहीं हो सकेंगे ।

§ ४४०. वे मानते हैं कि कार्यद्रव्य प्रथमक्षणमें उत्पन्न हो जाता है उसके बाद द्वितीय क्षणमें उसमें रूप उत्पन्न होता है । इसका कारण वे यह बताते हैं कि—रूपादि गुण निराधार नहीं रह सकते । प्रथम क्षणमें तो कार्यद्रव्य उत्पन्न ही नहीं है तब उस क्षणमें रूपादि गुणोंकी निराधार उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । इस तरह रूपादिकी निराधारताके भयसे गुणोंकी उत्पत्ति द्वितीय क्षणमें मानकर भी वे कार्य द्रव्यके नाश होनेपर द्वितीय क्षणमें रूपादिका नाश

---

१. तर्हीश्वर–म० १, म० २, प० १, प० २ । २. –गो न भवेत् म० १, म० २, प० १, प० २ ।
३. –नात् सर्वज्ञः आ०, क० । ४. –वाते (अस्मदादयः)ऽपि आ० । ५. प्रसज्येयुः म० २ ।
६. –द्धमेवाव–म० २ । ७. –नष्टे तद्रूपं आ० ।

भवेत्, यतोऽत्र रूपं कार्ये विनष्टे सति निराश्रयं स्थितं सत् पश्चाद्विनश्येदिति ।

§ ४४१. साङ्ख्यस्य स्वेवं स्ववचनविरोधः । प्रकृतिर्नित्यैका निरवयवा निष्क्रियाव्यक्ता चेष्यते । सैवानित्यादिभिर्महदादिविकारैः परिणमत इति[1] चाभिधीयते, तच्च पूर्वापरतोऽसंबद्धम् । अर्थाध्यवसायस्य बुद्धिव्यापारत्वाच्चेतनाविषयपरिच्छेदरहितार्थं न बुध्यत इत्येतत्सर्वलोकप्रतीतिविरुद्धम् । बुद्धिर्महदाख्या जडा न किमपि चेतयत इत्यपि स्वपरप्रतीतिविरुद्धम् । आकाशादिभूतपञ्चकं स्वरादितन्मात्रेभ्यः सूक्ष्मसंज्ञेभ्य उत्पन्नं यदुच्यते तदपि नित्यैकान्तवादे पूर्वापरविरुद्धं कथं स्यादित्याह । यथा पुरुषस्य कूटस्थनित्यस्यैकस्वभावस्य[2] विकृतिर्भवति नापि बन्धमोक्षौ तथा प्रकृतेरपि न ते संभवन्ति[3] कूटस्थनित्यत्वाविशेषे, कूटस्थनित्यं चैकस्वभावमिष्यते ततो ये प्रकृतेर्विकृतिबन्धमोक्षौ चाभ्युपगम्यन्ते परैः, ते नित्यत्वं च परस्परविरुद्धानि ।

§ ४४२. मीमांसकस्य पुनरेवं स्वमतविरोधः ।
"न हिंस्यात्सर्वभूतानि" [ ] इति "न वै हिंस्रो भवेत्" [ ] इति चाभिधाय ।

मानते हैं। यह स्पष्ट ही पूर्वापर विरोध है; क्योंकि जिस तरह उत्पत्तिके समय रूपादि में निराधारताका भय था उसी तरह नाशके समय कार्यके नष्ट हो जानेपर कमसे कम एक क्षण तक तो उन्हें निराश्रय रहना ही होगा। तात्पर्य यह कि निराधारताके भयसे यदि रूपादि गुणोंकी उत्पत्ति कार्योत्पत्तिके एक क्षण बाद मानी जाती है तो उनका नाश भी कार्यके साथ ही मानना चाहिए जिससे उन्हें निराश्रय न रहना पड़े न कि एक क्षण बाद ।

§ ४४१. सांख्योंके मतमें स्ववचन विरोध अर्थात् पूर्वापर विरोध इस प्रकार है—वे जिस प्रकृति—प्रधानको निरवयव निष्क्रिय नित्य एक तथा अव्यक्त—कारणरूप मानते हैं, उसी प्रकृतिका अनित्य सावयव सक्रिय अनेक तथा कार्यरूप महान् अहंकार आदिरूपसे परिणमन मानते हैं। यह स्पष्ट ही स्ववचन विरुद्ध है--नित्य निष्क्रिय आदि धर्मोंवाली प्रकृतिका अनित्य और सक्रिय आदि धर्मवाले महान् आदिरूपसे परिणमन कैसे हो सकता है ? अर्थके निश्चयको—जड़ बुद्धिका धर्म कहना तथा चैतन्यको बाह्य विषयोंके परिज्ञानसे शून्य कहना—चैतन्यको अर्थका ज्ञाता नहीं कहना, लोकप्रतीति तथा अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। संसार यही मानता है तथा अनुभव भी ऐसा ही है कि चैतन्य बुद्धि उपलब्धि आदि पर्यायवाची हैं, एक हैं। चैतन्य ही पदार्थोंका मुख्यतः परिज्ञान करनेवाला है। महान्—बुद्धितत्त्व जड है, चैतन्यशून्य है, उसमें चेतना शक्ति नहीं है। यह बुद्धिको जड़ कहना भी प्रतीतिविरुद्ध है। ऐसी प्रतीति न तो स्वयं सांख्योंको ही हो सकती है और न हम लोगोंको ही होती है। फिर, बुद्धि तो स्व और पर दोनोंका अनुभव करती है। यदि वह जड़ और चैतन्यशून्य है तो उसके द्वारा स्व तथा परका अनुभव नहीं हो सकेगा। शब्द रूप रस आदि सूक्ष्मसंज्ञक तन्मात्राओंसे आकाश अग्नि जल आदि पांच महाभूतों की उत्पत्ति मानना सर्वथा नित्यत्वके विपरीत है। सर्वथा नित्य मानने में उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती। जिस तरह कूटस्थनित्य—सदा एक स्वभाव वाले पुरुषमें विकार तथा बन्ध मोक्ष आदि नहीं होते क्योंकि वह कूटस्थ नित्य है, उसी तरह प्रकृतिमें भी विकार और बन्ध मोक्ष नहीं बन सकते; क्यों कि वह भी नित्य है। सदा एक स्वरूप रहनेवाला पदार्थ कूटस्थनित्य कहलाता है। अतः प्रकृतिको नित्य भी मानना तथा उसमें विकार और बन्ध मोक्ष भी मानना परस्पर विरोधी है।

§ ४४२. मीमांसकोंके मतमें पूर्वापरविरोध इस प्रकार है—वेदमें एक स्थानपर तो "किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए, कभी भी हिंसक नहीं होना चाहिए" इन अहिंसक

---

१. इत्येवादि- म० २ । २. -नित्यचित्त्वान्न म० २ । ३. -वन्ति कूटस्थनित्यं म० २ ।

"महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्" [याज्ञ० स्मृ० १९९] इति जल्पतो वेदस्य कथं न पूर्वापरविरोधः । तथा "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" [ ] इति प्रथममुक्त्वा पश्चात्तदागमे पठितमेवम्—

"षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥" [ ]

तथा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" [ऐतरेय आ० ६।१३] "सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभेत" [तैत्ति० सं० १।४] इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते ।

§ ४४३. तथानृतभाषणं प्रथमं निषिध्य पश्चादुक्तं "ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात्" [ ] इत्यादि । तथा

"न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।" [वसि० धर्म० १६।३६]

§ ४४४. तथादत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तम् । यद्यपि [3]ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते बलेन वा, तथापि तस्य नादत्तादानं, यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तं ब्राह्मणानां तु दौर्बल्या-

---

वाक्योंका कथन है तथा अन्यत्र "श्रोत्रिय ब्राह्मणके आतिथ्यके लिए साँड़ या बड़े बकरेका भी उपयोग करे" इस साँड़ या बकरोंकी महाहिंसाका विधान है । इससे वेदका पूर्वापर विरोध साफ-साफ मालूम हो जाता है । इसी तरह पहले "किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिए" यह कहकर भी पीछे "अश्वमेध यज्ञके मध्यम दिनमें तीन कम छह सौ अर्थात् ५९७ पशुओंका वध किया जाता है"; "अग्निषोम यज्ञ सम्बन्धी पशुका वध करना चाहिए"; "प्रजापति यज्ञ सम्बन्धी सत्रह पशुओंका वध करना चाहिए" इत्यादि हिंसाका क्रूर विधान करना क्या पूर्वापर विरोध नहीं है ?

§ ४४३. इसी तरह पहले असत्य भाषणका निषेध करके पीछे "ब्राह्मणोंके लाभ के लिए झूठ बोलनेमें कोई दोष नहीं है" तथा "हे राजन्, हँसी-दिल्लगीमें झूठ बोलनेमें कोई हानि नहीं है, इसीतरह स्त्रियोंकी विलास गोष्ठीमें, विवाहके समय हँसी-खुशीमें, प्राणोंके नाशका समय उपस्थित होनेपर तथा समस्तधन के लुटने के मौकेपर झूठ बोलनेमें कोई दोष नहीं है । ये पाँच असत्यवचन क्षम्य हैं, पापरूप नहीं हैं ।" इत्यादि रूपसे असत्यभाषणका विधान करना मीमांसकोंके पूर्वापर विरोधको साफ-साफ प्रकट कर रहा है ।

§ ४४४. इसी तरह चोरीका अनेक प्रकारसे निषेध करके भी "यदि कोई हठसे या छलसे दूसरेके धनका हरण करता है, तो भी उसे चोरीका पाप नहीं लगता, क्योंकि संसारकी समस्त सम्पत्ति ब्राह्मणोंको ही दी गयी थी, ब्राह्मण ही इस जगत् की सम्पत्तिके वस्तुतः स्वामी हैं, ब्राह्मणोंकी कमजोरीसे ही यह सम्पत्ति शूद्रोंके हाथमें पहुँची है, शूद्र इसका उपभोग कर रहे हैं, इसलिए यदि कोई ब्राह्मण दूसरोंके या खासकर शूद्रोंके धनको छीनता है तो वह अपने ही धनको लेता है,

---

१. "तथाहि "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति प्रथममुक्त्वा, पश्चात् तत्रैव पठितम्—"षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥" तथा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत", "सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत" इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते । तथा 'नानृतं ब्रूयात्" इत्यादिना अनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य, "ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात्" इत्यादि तथा—"न नर्मयुक्तं"""—स्या० मं० पृ० ५१ । २. इत्यादीनि वचनानि म० २ । ३. "सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् । श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च । आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥"—मनु० १।१००–१०१ ।

दूषणाः परिभुञ्जते, तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते 'स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददातीति।

§ ४४५. [2]तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति [ ] इति लपित्वोक्तम्—

"अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥१॥" इत्यादि ॥ तथा

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥" [मनु० ५।५६]

इति स्मृतिगते श्लोके। यदि प्रवृत्तिर्निर्दोषा, तदा कथं ततो निवृत्तिस्तु महाफलेति व्याहतमेतत्।

§ ४४६. वेदविहिता हिंसा धर्महेतुरित्यत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः, तथाहि—धर्महेतुश्चेद्धिंसा कथम्। हिंसा चेद्धर्महेतुः कथम्। न हि भवति माता च वन्ध्या चेति। धर्मस्य च लक्षणमिदं श्रूयते।

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥१॥ [चाणक्य १।७]

इत्यादि अर्चिमार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिर्गर्हिता चेयं हिंसा।

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥१॥" [3]इति॥

अपने ही धनका उपभोग करता है, अपना ही पहनता-ओढ़ता है और अपना ही देता है, यह सब उसीका है।" इन वाक्योंसे ब्राह्मणोंको चोरीमें केवल दोषका अभाव ही नहीं बताया है किन्तु उन्हें अप्रत्यक्ष रूपसे चोरी करनेकी प्रेरणा भी की है।

§ ४४५ इसी तरह एक जगह "जिसके पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ उस अपुत्री व्यक्तिकी गति नहीं होती वह तिरता नहीं है" यह कहकर भी अन्यत्र "हजारों ब्रह्मचारी विप्रकुमार अपनी कुल परम्परा चलाये बिना ही स्वर्ग गये हैं।" इस वाक्यसे ब्राह्मणोंकी अपुत्रताको स्वर्गमें कारण कहा है। "मांस खानेमें, शराब पीनेमें तथा मैथुनभोग-विलासमें कोई दोष नहीं है। इनमें तो प्राणियोंकी प्रवृत्ति स्वभावतः होती ही है, हाँ इनका त्याग करना अवश्य ही महान् फलको देता है।" इस मनुस्मृतिके श्लोकमें साफ-साफ विरोधी बातोंका प्रतिपादन किया है। यदि जीवोंकी मांसभक्षणादि प्रवृत्ति निर्दोष है तो उससे निवृत्त होनेमें पुण्य कैसे हो सकता है! कौन ऐसा मूर्ख होगा जो मांसभक्षणादिको निर्दोष जानकर भी उनसे निवृत्त होगा और उनका परित्याग करेगा। प्रवृत्तिमें यदि दोष नहीं है तो निवृत्तिका बहुत फल कैसे हो सकता है?

§ ४४६. वेदविहित याज्ञिक हिंसाको धर्म कहना तो सरासर स्ववचन विरोध है। यदि वह धर्म हेतु है तो हिंसा कैसे हो सकती है। यदि वह हिंसा है तो धर्म हेतु कैसे हो सकता है। 'माता भी हो और वन्ध्या भी' यह तो असम्भव बात है। हिंसा त्रिकालमें भी धर्मका कारण नहीं हो सकती। देखो, आपके ही शास्त्रोंमें धर्मका अहिंसात्मक ही लक्षण बताया है—"जो व्यवहार हमको प्रतिकूल मालूम होता हो अच्छा न लगता हो दुःखदायक हो वैसा व्यवहार दूसरोंके साथ नहीं करना चाहिए, यही सब धर्मोंका सार है, यह धर्म सर्वस्व है, इसे अच्छी तरह सुनकर धारण करो।" अर्चिमार्गीवेदान्तियोंने इस वैदिकी हिंसाको बड़े ही कठोर और मार्मिक शब्दोंमें निन्दा की है—"यदि हम पशुओंका वध करके ईश्वरकी पूजा करते हैं तो घोर अन्धकारमें डूबते हैं। हिंसा कभी भी धर्मरूप न हुई है और न होगी।"

---

१. —ब मुद्रके म० २। २. "तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" इति लपित्वा, "अनेकानि सहस्राणि·····" —स्या० मं० पृ० ५१। ३. उद्धृतोऽयम्—स्या० मं० पृ० १३०।

§ ४४७. [1]तथा भवान्तरं प्राप्तानां तृप्तये च श्राद्धादिविधानं तवप्यविचारितरमणीयम् । तथा च तद्यूथिनः पठन्ति—

"मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
[2]तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ॥१॥" इति[3]

एवमन्यान्यपि पुराणोक्तानि पूर्वापरविरुद्धानि संदेहसमुच्चयशास्त्रादवतार्य वक्तव्यानि ।

§ ४४८. तथा नित्यपरोक्षज्ञानवादिनो भट्टाः स्वात्मनि क्रियाविरोधाज्ज्ञानं [5]स्वप्रकाशक-मभ्युपगच्छन्तः प्रदीपस्य परं (स्व) प्रकाशकमनङ्गीकुर्वन्तश्च कथं सद्भूतार्थभाषिणः ।

§ ४४९. तथा ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतियन्तोऽपि न निषेधकं प्रत्यक्षमिति ब्रुवाणाः कथं न विरुद्धवादिनः, अविद्यानिरासेन सन्मात्रस्य ग्रहणात् ।

§ ४५०. तथा पूर्वोत्तरमीमांसावादिनः कथमपि देवमनङ्गीकुर्वाणा अपि सर्वेऽपि ब्रह्म-विष्णुमहेश्वरादीन्देवान्पूजयन्तो ध्यायन्तो वा दृश्यन्ते । तदपि पूर्वापरविरुद्धम् इत्यादि ।

§ ४५१. अथवा ये ये बौद्धादिदर्शनेषु स्याद्वादाभ्युपगमाः प्राचीनश्लोकव्याख्यायां [6]प्रद-र्शिताः ते सर्वेऽपि पूर्वापरविरुद्धतयात्रापि सर्वदर्शनेषु यथास्वं दर्शयितव्याः, यतो बौद्धादय उक्त-

---

§ ४४७. परलोकमें पहुँचे हुए मृतव्यक्तियोंकी तृप्तिके लिए श्राद्ध आदि करना तो सचमुच बड़ी भारी मूर्खता है । तुम्हारे ही साथियोंने कहा है कि—"यदि मरे हुए प्राणी श्राद्धमें दिये गये अन्न-जलसे तृप्त होते हों तो बुझा हुआ दीपक भी तेल डालने मात्रसे जलने लगना चाहिए ।" इसी तरह पुराणोंमें तो अनेकों पूर्वापरविरोधी कथन भरे पड़े हैं । इनके विवरणके लिए 'सन्देह समुच्चय शास्त्र' देखना चाहिए ।

§ ४४८. ज्ञानको सदा परोक्ष माननेवाले भाट्ट लोग ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानते । ये भी 'स्वात्मामें क्रियाका विरोध है' यही दलील देते हैं । ये लोग दीपकको सरासर स्वपर-प्रकाशक देखते हुए भी ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानते । यह इनका दुराग्रह तथा सर्वसिद्ध बातका हठात् लोप करना है । इस तरह इनको यथार्थवादी कैसे कह सकते हैं ? इनका प्रदीपको प्रकाशकताका लोप करना तो सचमुच आँखोंमें धूल झोंकना ही है ।

§ ४४९. ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यक्षसे अविद्या रहित सन्मात्र ब्रह्मको साक्षात्कार करते हैं परन्तु प्रत्यक्षको निषेधक—निषेध करनेवाला नहीं मानते । जब प्रत्यक्ष अविद्याका निषेध करके सन्मात्र ब्रह्मका अनुभव कर रहा है तो वह निषेधक तो अपने ही आप सिद्ध हो जाता है । प्रत्यक्षसे अविद्याका निषेध भी करना और उसे निषेधक भी नहीं मानना क्या स्ववचन विरोध नहीं है ?

§ ४५०. इसी तरह सभी पूर्वमीमांसा या उत्तरमीमांसा मतवाले शास्त्रोंमें किसी भी ईश्वरको स्वीकार नहीं करते, बल्कि ईश्वरका निषेध ही करते हैं; फिर भी वे व्यवहारमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवोंकी पूजा-उपासना करते हैं । इन देवोंका ध्यान करते हैं । यह इनका स्वशास्त्र विरोध है ।

§ ४५१. अथवा पहले श्लोककी व्याख्यामें बौद्धादिदर्शनोंने जितने प्रकारसे स्याद्वादको स्वीकार करना बताया है वे सब प्रकार उनके पूर्वापर विरोधको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ दिखाये जा सकते हैं । बौद्ध आदि उक्त प्रकारसे स्याद्वादको स्वीकार करके भी स्याद्वादका खण्डन करनेके

---

१. तथा च म– म० २ । २. तन्निर्वाणस्य प्र—प० १, प० २ । निर्वाणस्य प्र० म० २ । ३. उद्धृतोऽयम्—स्या० मं० पृ० १३४ । ४. –दवतार्य म० २ । ५. स्वप्रका– म० २, आ० । ६. प्रकल्पिताः म० २ ।

प्रकारेण स्याद्वादं स्वीकुर्वन्तोऽपि तन्निरासाय च युक्तीः स्फोरयन्तः [1]पूर्वापरविरुद्धवादिनः कथं न भवेयुः। कियन्तो वा वधिमाषभोजनात्कृष्णा (कृपणा) विविच्यन्त इत्युपरम्यते।

§ ४५२. चार्वाकस्तु वराक आत्मतदाश्रितधर्माधर्मानेकान्तस्वर्गापवर्गादिकं सर्वं कुग्रहग्रहिलतयैवाप्रतिपद्यमानो [2]ऽवज्ञोपहत एव कर्तव्यः, न पुनस्तं प्रत्यनेकान्ताभ्युपगमोपन्यासेन पूर्वापरोक्तविरोधप्रकाशनेन वा किमपि प्रयोजनं, सर्वस्य तदुक्तस्य सर्वलोकशास्त्रैः सह विरुद्धत्वात्। मूर्तेभ्यो भूतेभ्योऽमूर्तचैतन्योत्पादस्य विरुद्धत्वाद्भूतेभ्य उत्पद्यमानस्यान्यत आगच्छतो वा चैतन्यस्यादर्शनात्, आत्मवच्चैतन्यस्याप्यैन्द्रियकप्रत्यक्षाविषयत्वात् इत्यादि।

§ ४५३. तदेवं बौद्धादीनामन्येषां सर्वेषामागमाः प्रत्युत स्वप्रणेतॄणामसर्वज्ञत्वमेव साधयन्ति न पुनः सर्वज्ञमूलताम्, पूर्वापरविरुद्धार्थवचनोपेतत्वात्। जैनमतं तु सर्वं पूर्वापरविरोधाभावात्तस्य सर्वज्ञमूलतामेवावेदयतीति स्थितम्।

§ ४५४. अथानुक्तमपि किमपि लिख्यते। प्राप्यकारोऽप्येवेन्द्रियाणीति कणभक्षाक्षपादमीमांसकसाङ्ख्याः समाख्यान्ति। चक्षुःश्रोत्रेतराणि तथेति तथागताः। चक्षुर्वर्जानीति स्याद्वादावतारहृदयाः।

लिए कुछ कुतर्क उपस्थित करते हैं, यह भी उनका स्ववचन विरोध है। सच तो यह है कि स्याद्वादको माने बिना किसीको तत्त्वव्यवस्था या व्यवहार सिद्धि हो ही नहीं सकती। इस तरह दही और उड़दसे बने हुए भोजनमें-से काले उड़द (जन्तु) बीननेके समान कहाँतक दोषोंकी कालिमाको ऊपर लावें, अतः इतना कहकर ही इस पूर्वापरविरोध रूपी दोषान्वेषणके प्रसङ्गको समाप्त करते हैं।

§ ४५२. चार्वाक तो विचारा अत्यन्त तुच्छ है। वह तो किसी कुग्रहके आवेशसे बेसुध होकर आत्मा और आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले पुण्य-पाप, स्वर्ग-मोक्ष, अनेकान्त आदि सभीका लोप करके संसारकी हँसीका पात्र बना हुआ है, लोग उसकी बुरी तरह उपेक्षा करते हैं, उसको चर्चा करना पाप समझते हैं। अतः उसके मतमें स्याद्वादका स्वीकारकरना और पूर्वापर विरोध दिखाना निरर्थक ही है। उसके सिद्धान्तोंका सभी अन्य दर्शनवालोंने खण्डन किया है। लोक व्यवहार भी उसके नास्तिक विचारोंका समर्थन नहीं करता। मूर्त पृथिवी आदिसे अमूर्त चैतन्यकी उत्पत्ति माननेमें सरासर विरोध है। चैतन्य न तो कहींसे आता ही है और न पृथिवी आदि भूतोंसे उत्पन्न ही होता है वह तो आत्मामें रहनेवाला उसीका निजधर्म है। आत्माकी तरह चैतन्य भी इन्द्रिय प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। वह तो अहंप्रत्ययके द्वारा मानसिक ज्ञानका विषय होता है।

§ ४५३. इस तरह बौद्ध आदि दार्शनिकोंके पूर्वापर विरोधसे भरे हुए आगम अपने प्रणेताओंकी असर्वज्ञताको ही खुले तौरसे जाहिर कर रहे हैं। ऐसे बाधित आगम सर्वज्ञमूलक नहीं हो सकते। सर्वज्ञके वचनोंमें पूर्वापर विरोध हो ही नहीं सकता। जैन दर्शनमें कहो भी पूर्वापर विरोध या स्ववचन बाधाका न होना उसकी सर्वज्ञमूलकताको सिद्ध करता है। यदि जैनदर्शनको सर्वज्ञने न कहा होता तो वह इस तरह सर्वथा निर्बाध तथा प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकता था। अतः जैनमत ही सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित है तथा सत्य है।

§ ४५४. अब मूल ग्रन्थमें जिन बातोंका कथन नहीं है, उनका भी थोड़ा निरूपण करते हैं। वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य चक्षु आदि सभी इन्द्रियोंको प्राप्यकारी—पदार्थोंको प्राप्त करके उनसे सन्निकर्ष करके ज्ञान उत्पन्न करनेवाला—मानते हैं। बौद्ध चक्षु और श्रोत्रके सिवाय बाकी स्पर्शन आदि तीन इन्द्रियोंको प्राप्यकारी कहते हैं। पर स्याद्वादी जैन चक्षुके सिवाय सभी श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको प्राप्यकारी मानते हैं।

---

१. पूर्वापराविरुद्धवादिनः कथं भवेयुः म० १, प० १, प० २। २. –मानो वज्ञोपहत म०२।

§ ४५५. श्वेताम्बराणां संमतिर्नयचक्रवालः स्याद्वादरत्नाकरो रत्नाकरावतारिका तत्त्वार्थ-प्रमाणवार्त्तिकं प्रमाणमीमांसा न्यायावतारोऽनेकान्तजयपताकानेकान्तप्रवेशो[1] धर्मसंग्रहणी[2] प्रमेयरत्न-कोशश्चेत्येवमादयोऽनेके तर्कग्रन्थाः । दिगम्बराणां तु प्रमेयकमलमार्तण्डो न्यायकुमुदचन्द्र आप्तपरी-क्षाऽष्टसहस्री सिद्धान्तसारो न्यायविनिश्चयटीका चेत्यादयः ॥५८॥

इति[3] श्रीतपागगनभोङ्गणदिनमणि श्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्य-दीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चय[4]टीकायां[5] जैनमतस्वरूपनिर्णयो नाम चतुर्थोऽधिकारः[6] ॥

---

§ ४५५. श्वेताम्बरोंके सन्मतितर्क, नयचक्रवाल, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, तत्त्वार्थप्रमाणवार्तिक, प्रमाणमीमांसा, न्यायावतार, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तप्रवेश, धर्मसंग्रहणी, प्रमेयरत्नकोश इत्यादि अनेकों तर्कग्रन्थ हैं। दिगम्बरोंके प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री, सिद्धान्तसार तथा न्यायविनिश्चय टीका आदि प्रमुख तर्क ग्रन्थ हैं ॥५८॥

इति श्री तपागणरूपी आकाशके सूर्य श्री देवसुन्दर सूरिके चरण सेवक श्री गुणरत्नसूरिके
द्वारा रची गयी षड्दर्शन समुच्चयकी तर्करहस्य दीपिका नामकी टीकामें
जैनमतके स्वरूपका निर्णय करनेवाला चौथा अधिकार पूर्ण हुआ ।

---

१. –कान्तजयप्र– म० २, । २. संग्रहणी आ०, क०, म० १, प० १, प० २ । ३. इति श्रीमत्तपोगण-गगनांगणतरणिश्रीदेवसुन्दरसूरिक्रमकमलोपजीविश्रीगुणरत्नाचार्य –म० २ । ४. –र्यां स्याद्वादसुधाकुंडो नाम चतुर्थः प्रकाशः म० २ । ५. पुष्पिकेयं प० १ प० २ प्रत्योः नास्ति ।

अर्हम्

अथ पञ्चमोऽधिकारः

§ ४५६. अथ वैशेषिकमतविवक्षया प्राह—

देवताविषयो भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणां तत्त्वे तु विद्यतेऽसौ निदर्श्यते ॥५६॥

§ ४५७. व्याख्या—अस्य लिङ्गवेषाचारदेवादिनैयायिकप्रस्तावे प्रसङ्गेन प्रागेव प्रोचानम् । मुनिविशेषस्य कापोतीं वृत्तिमनुष्ठितवतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादायादाय कृताहारस्याहार-निमित्तात्कणाद इति संज्ञा अजनि । तस्य कणादस्य मुनेः पुरः शिवेनोलूकरूपेण मतमेतत्प्रकाशितम् । तत औलूक्यं प्रोच्यते । पशुपतिभक्तत्वेन पाशुपतं चोच्यते । कणादस्य शिष्यत्वेन वैशेषिकाः काणादा भण्यन्ते । आचार्यस्य च [1]प्रागभिधानोपरिकर इति नाम समाम्नायते ।

§ ४५८. अथ प्रस्तुतं प्रस्तूयते । देव एव देवता तद्विषयो भेदो—विशेषो वैशेषिकाणां नैयायिकैः समं नास्ति एतेन यादृग्विशेषण ईश्वरो देवो नैयायिकैरभिप्रेतः, तादृग्विशेषणः स एव वैशेषिकाणामपि देव इत्यर्थः । तत्त्वे तु तत्त्वविषये पुनर्विद्यते भेदः । असौ तत्त्वविषयो भेदो [2]निदर्श्यते—प्रदर्श्यते ॥५९॥

---

§ ४५६. अब वैशेषिक मतका निरूपण करते हैं—

वैशेषिकोंके देवताके स्वरूपमें नैयायिकोंसे कोई मतभेद नहीं है । हां, तत्त्वोंकी संख्या तथा स्वरूपका विषयमें जितना मतभेद है वह दिखाते हैं ॥५९॥

§ ४५७. वैशेषिकोंके लिंग वेष आचार तथा देवता आदिका स्वरूप नैयायिकमतके निरूपणके समय प्रसंगसे बता दिया गया है । एक विशिष्ट मुनि कापोती वृत्तिसे मार्गमें पड़े हुए चावलोंको उठा-उठाकर अपनी उदरपूरणा करते थे । अतः उनकी कणाद—कणको आद-खानेवाला संज्ञा थी । लोग उन निस्पृही साधुको कणाद कहते थे । जिस तरह कबूतर रास्तेमें पड़े हुए चावलोंकी कनीको चोंचसे बीन-बीनकर खाते हैं उसी तरह किसी गृहस्थसे याचना किये बिना रास्तेमें पड़े हुए निकम्मे अन्नसे भोजन करना कापोती वृत्ति है । उन कणाद ऋषिके सामने शिवजीने उल्लूके शरीरको धारण करके इस वैशेषिक मतका आदिमें निरूपण किया था, अतः इस मतको औलूक्य दर्शन भी कहते हैं, वैशेषिक लोग पशुपति—शिवके भक्त होते हैं, अतः यह दर्शन पाशुपतदर्शन भी कहा जाता है । उन कणाद-ऋषिने सर्वप्रथम 'कणादसूत्र' की रचना की तथा वैशेषिक कणादके ही शिष्य हैं अतः इन्हें काणाद भी कहते हैं । आचार्यका 'प्रागभिधानोपरिकर' यह नाम कहते हैं ।

§ ४५८. देवको ही देवता कहते हैं । जिस प्रकार नैयायिक लोग नित्य सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता आदि रूपसे ईश्वरको देवता मानते हैं वैशेषिक भी उसी तरह ईश्वरको ही देवता मानते हैं । अतः नैयायिक और वैशेषिकोंमें देवताके विषयमें कोई मतभेद नहीं है । तत्त्वविषयक मतभेद काफी है अतः वही तत्त्वविषयक मतभेद दिखाया जाता है—

---

१. प्रागभिधानोपकरिकरः म० २ । प्रागभिधानोपरिकरः म० १, प० १, प० २, क० । २. निदर्श्यते तमेवाह म० २ ।

तमेवाह—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं तु तन्मते ॥६०॥

§ ४५९. व्याख्या—द्रव्यं प्रथमं तत्त्वं गुणो द्वितीयम् । तथाशब्दो भेदान्तरसूचने । कर्म तृतीयं सामान्यं च चतुर्थमेव । चतुर्थकम् स्वार्थे कप्रत्ययः । विशेषसमवायौ च पञ्चमषष्ठे तत्त्वे । उभयत्र चकारौ समुच्चयार्थौ । तुशब्दस्यावधारणार्थत्वे तत्त्वषट्कमेव न न्यूनाधिकं षडेव पदार्था इत्यर्थः । तन्मते वैशेषिकमते । अत्र पदार्थषट्के द्रव्याणि गुणाश्च, केचिन्नित्या एव केचित्त्वनित्याः, कर्मानित्यमेव, सामान्यविशेषसमवायास्तु नित्या एवेति । केचित्त्वभावं सप्तमं पदार्थमाहुः[1] ॥६०॥

§ ४६०. अथ द्रव्यभेदानाह—

तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि ।
कालदिगात्ममनांसि च गुणाः पुनः पञ्चविंशतिधा ॥६१॥

४६१. व्याख्या—तत्र-तेषु षट्सु पदार्थेषु द्रव्यं नवधा, अवच्छेदफलं वाक्यमिति न्यायान्नवधैव न तु न्यूनाधिकप्रकारम् । अत्र द्रव्यमिति जात्यपेक्षमेकवचनम्, एवं प्रागग्रे च ज्ञेयम्, ततो नवैव द्रव्याणीत्यर्थः । एतेन[2] छायातमसो आलोकाभावरूपत्वान्न द्रव्ये भवत इत्युक्तम् । [3]भूः पृथिवी,

---

वैशेषिक मतमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह तत्त्व हैं ॥६०॥

§ ४५९. वैशेषिक मतमें पहला द्रव्य, दूसरा गुण । तथा शब्द अन्य भेदोंकी सूचना करता है । तीसरा कर्म, चौथा सामान्य । स्वार्थमें 'क' प्रत्यय करनेसे चतुर्थको ही चतुर्थक कहते हैं । पाँचवाँ विशेष और छठवाँ समवाय है । च शब्द समुच्चयार्थक है । तु शब्द निश्चयवाचक है, अर्थात् छह ही तत्त्व हैं कम-बढ़ नहीं न तो पांच ही हैं और न सात ही । इन छह पदार्थोंमें कुछ द्रव्य और कुछ गुण तो नित्य हैं तथा कुछ द्रव्य और गुण अनित्य । कर्मपदार्थ अनित्य ही है । सामान्य, विशेष और समवाय नित्य ही हैं । कोई आचार्य अभावको भी सातवाँ पदार्थ मानते हैं ।

§ ४६०. अब द्रव्यके भेदोंको कहते हैं—

उनमें द्रव्यपदार्थ नौ प्रकारका है—१ पृथिवी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिशा, ८ आत्मा, ९ मन । गुणपदार्थ पच्चीस प्रकार का है ॥६१॥

§ ४६१. उन छह पदार्थोंमें द्रव्य नौ प्रकारका है । प्रत्येक वाक्य निश्चयात्मक होता है, अतः नौ ही द्रव्य हैं न कम और न बढ़ते । द्रव्य न तो आठ ही हो सकते हैं और न दस ही । यद्यपि द्रव्य नौ हैं फिर भी 'द्रव्यम्' यह एकवचनका प्रयोग द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा समझना चाहिए । पहले श्लोकमें तथा आगे भी जहाँ कहीं एकवचनान्त द्रव्य शब्दका प्रयोग हो वह द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा समझना चाहिए । इसलिए द्रव्य नौ ही हैं । इस तरह द्रव्यकी नौ संख्या नियत हो जानेसे

---

१. "धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।"—वैशे० सू० १।१।४ । २. "भावपरिज्ञानापेक्षित्वादभावस्य पृथगनुपसंख्यानम्'''"—प्रश० व्यो० पृ० २० । "अभावस्य पृथगनुपदेशः भावपारतन्त्र्यात् न स्वभावात् ।"—प्रश० कन्दली० पृ० ७ । "अभावस्य च समानतन्त्रसिद्धस्याप्रतिषिद्धस्य न्यायदर्शने मानसेन्द्रियतासिद्धिवदत्राप्यविरोधाद् अभ्युपगमसिद्धान्तसिद्धत्वात् ।"—न्यायकं० पृ० ३ । ३. "पृथिव्यापस्तेजो-वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।" —वैशे० सू० १।१।५ । ४. "भासामभावरूपत्वाच्छायायाः ।" —प्रश० व्यो० पृ० ४६ । "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ।"—वैशे० सू० ५।२।१० । "उद्भूतरूपवद्द्रव्यसंसर्गाभावस्तमः ।"—वैशे० उप० ५।१।२० । ५. "पृथिवीत्वाभिसंबन्धात् पृथिवी ।''' विषयस्तु द्व्यणुकादिकमेणारब्धस्त्रिविधो मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः । तत्र भूप्रदेशाः—प्राकारेष्टकादयो मृत्प्रकाराः । पाषाणा—उपलमणिवज्रादयः । स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतय इति ।"—प्रश० भा० पृ० १३ ।

काठिन्यलक्षणा मृत्पाषाणवनस्पतिरूपा। [1]जलमापः तच्च [2]सरित्समुद्रकरकादिगतम्। [3]तेजोऽग्निः, [4]तच्च चतुर्धा, भौमं काष्ठेन्धनप्रभवम्, दिव्यं सूर्यविद्युदादिजम्, आहारपरिणामहेतुरौदर्यम्, आकरजं च सुवर्णादि। [5]अनिलो वायुः। एतानि चत्वार्यनेकविधानि।

§ ४६२. अन्तरिक्षमाकाशम्। तच्चैकं नित्यममूर्तं विभु च द्रव्यम्। विभुशब्देन विश्वव्यापकम्। इदं च शब्देन लिङ्गेनानुमीयते, आकाशस्य गुणः शब्द इति [6]। द्वन्द्वे भू कलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि।

§ ४६३. [7]कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गो द्रव्यम्। तथाहि-परः [8]पितापरः पुत्रो युगपद्युगपद्वा चिरं क्षिप्रं कृतं करिष्यते वेति यत्परापरादिज्ञानं तदादित्यादिक्रियाद्रव्यव्यतिरिक्तकपदार्थनिबन्धनं तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, घटादिप्रत्ययवत्। योऽस्य हेतुः स

छाया और अन्धकार द्रव्य नहीं हैं। छाया और अन्धकार तेजोद्रव्यके अभाव रूप हैं, अतः वे अभावपदार्थ हैं न कि द्रव्यपदार्थ। भू—पृथिवी। पृथिवी कठोर होती है, जैसे मिट्टी, पत्थर, वृक्ष आदि। जल-पानी, नदी, समुद्र, बरफ आदि अनेक रूपोंमें मिलता है। तेज-आग। पानी आग चार प्रकार की है—१ लकड़ी आदि ईंधनसे सुलगनेवाली भौम जातिकी, २. सूर्य, बिजली आदिमें दिव्य जाति की, ३. जठराग्नि, इससे भोजन आदि पचते हैं। ४. आकरज—खनिज सुवर्णादि पदार्थोंमें रहनेवाली। अनिल—वायु। ये चारों द्रव्य अनेक रूपोंमें देखे जाते हैं।

§ ४६२. अन्तरिक्ष—आकाश। आकाश नित्य एक अमूर्त तथा व्यापक द्रव्य है। विभुका अर्थ है विश्वव्यापक। शब्द आकाशका गुण है, अतः शब्द नामक लिंगसे ही आकाशका अनुमान होता है। भू जल आदि का द्वन्द्व समास करना चाहिए।

§ ४६३. दिशा गुण जातिकी अपेक्षा जिस समीपवर्ती अधमजातीय मूर्ख बूढ़े पुरुषमें अपर प्रत्यय होता है उसीमें काल द्रव्य जवान विद्वान् युवककी अपेक्षा पर प्रत्यय कराता है। तथा जिस दूरदेशवर्ती जवान विद्वान् युवकमें दिशा आदिकी अपेक्षा परप्रत्यय होता है उसीमें काल, द्रव्य, अधमजातीय मूर्ख बूढ़ेकी अपेक्षा अपर प्रत्यय कराता है। इस तरह यह पर और अपर प्रत्ययोंकी विपरीतता दिशा आदिसे भिन्न काल द्रव्यकी सत्ता सिद्ध करती है। 'यह कार्य एक साथ किया गया, यह क्रम से किया गया, यह जल्दी किया गया, यह देरीसे किया गया' इत्यादि काल सम्बन्धी प्रत्यय भी कालकी सत्ता सिद्ध करते हैं। 'पिता जेठा है, पुत्र लहुरा है, युगपत् क्रमसे, शीघ्र, धीरे-धीरे कार्य किया या किया जायगा' इत्यादि परापरादिप्रत्यय, सूर्यकी गति तथा अन्य द्रव्योंसे उत्पन्न नहीं होकर किसी दूसरे द्रव्यकी अपेक्षासे होते हैं, क्योंकि सूर्यकी गति आदिमें होनेवाले प्रत्ययोंसे ये प्रत्यय विलक्षण प्रकारके हैं। जिस प्रकार घटसे होनेवाला 'यह घट है' यह प्रत्यय सूर्यकी गति आदिसे भिन्न घट नामक पदार्थकी अपेक्षा रखता है उसी तरह परापरादि प्रत्यय भी सूर्यकी गति आदिसे भिन्न काल द्रव्यकी अपेक्षा रखते हैं। सूर्यकी गतिमें तो 'यह सूर्यकी गति है' यह प्रत्यय होगा, सफेद बालोंमें या मुँहपर पड़ी हुई झुर्रियोंमें भी 'सफेद बाल, झुर्रियाँ'

---

१. "अप्त्वाभिसंबन्धादाप।...विषयस्तु सरित्समुद्रहिमकरकादिः।"—प्रश० भा० पृ० १४। २. समुद्र-सरित्करका- म० २। ३. "तेजस्त्वाभिसंबन्धात् तेजः।...विषयसंज्ञकं चतुर्विधम्...सुवर्णादि।"—प्रश० भा० पृ० १५। ४. तच्चतुर्धा म० १, म० २, प० १, प० २। ५ "वायुत्वाभिसंबन्धाद्वायुः।"—प्रश० भा० पृ० १६। ६. तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः... शब्दलिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम्...विभववचनात् परममहत्परिमाणम्।" —प्रश० भा० पृ० २३-२५। ७. कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम्।...काललिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम्।...कारणे काल इति वचनात् परममहत्परिमाणम्।"—प्रश० भा० पृ० २६। ८. परः पिता पुत्रात्परः पुत्रः पितुः युग- म० २।

पारिशेष्यात्कालः स चैको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च ।

§ ४६४. [1]दिगपि द्रव्यमेका नित्यामूर्ता विभुश्च (विम्बी च)। मूर्तेष्वेव हि द्रव्येषु मूर्तं द्रव्यमवधिं कृत्वेदमस्मात्पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणापरोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दशप्रत्यया यतो भवन्ति, सा दिगिति । एतस्याश्चैकत्वेऽपि प्राच्यादिभेदेन नानात्वं कार्यविशेषाद्व्यवस्थितम् ।

§ ४६५. [2]आत्मा जीवोऽनेको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च ।

§ ४६६. [3]मनश्चित्तं, तच्च नित्यं द्रव्यमणुमात्रमनेकमाशुसंचारि प्रतिशरीरमेकं च । [4]युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्, आत्मनो हि सर्वगतत्वाद् युगपदनेकेन्द्रियार्थसंनिधाने सत्यपि क्रमेणैव ज्ञानोत्पत्युपलम्भादनुमीयते । आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षेभ्यो व्यतिरिक्तं कारणान्तरं मनोऽस्तीति, यस्य

यही प्रत्यय होंगे । अतः इनसे भिन्न निमित्त सिवाय कालके दूसरा नहीं हो सकता । इस तरह अन्य सब सम्भवित निमित्तोंका निषेध होनेपर अन्तमें परिशेष न्यायसे कालद्रव्यकी सिद्धि होती है । यह कालद्रव्य नित्य एक अमूर्त तथा व्यापक है ।

§ ४६४. दिग् द्रव्य भी नित्य अमूर्त एक तथा व्यापक है । मूर्त पदार्थोंमें एक दूसरेकी अपेक्षा यह इससे पूर्वमें, दक्षिणमें, पश्चिममें, उत्तरमें, आग्नेय कोणमें, नैर्ऋत्य कोणमें, वायव्य कोणमें, ईशान कोणमें, ऊपर या नीचे है । ये दस प्रत्यय जिसके निमित्तसे होते हैं वही दिशा है । यद्यपि यह एक है फिर भी मेरुके चारों ओर घूमनेवाले सूर्यका जब भिन्न-भिन्न दिशाके प्रदेशोंमें रहनेवाले लोकपालोंके द्वारा ग्रहण किये गये दिशाके प्रदेशोंसे संयोग होता है तब उसमें पूर्व पश्चिम आदि व्यवहार होने लगते हैं । दस प्रकारके प्रत्ययोंसे भी दिशा—पूर्व आदि दश भेदोंका अनुमान भलीभाँति किया जा सकता है ।

§ ४६५. आत्मा जीव, यह नित्य अमूर्त तथा व्यापक होकर भी अनेक हैं ।

§ ४६६. मन—चित्त, यह नित्य है, परमाणु रूप है, अनेक है, तथा हर एक शरीरमें एक-एक रहता है तथा बहुत ही शीघ्र सारे शरीरमें गति करता है । एक साथ अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति न होना ही मनके सद्भावका प्रबल साधक है । आत्मा तो सर्वव्यापक है, अतः उसका एक साथ सभी इन्द्रियोंके साथ संयोग है ही । पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका भी युगपत् संयोग हो ही सकता है । एक गरम पूड़ीको खाइए, उसके रूप, रस, गन्ध आदि सभीके साथ इन्द्रियोंका युगपत् सम्बन्ध हो रहा है । फिर भी रूपादि पाँचों ज्ञान एक साथ उत्पन्न न होकर क्रमसे ही होते हैं । इस क्रमोत्पत्तिसे ज्ञात होता है कि कोई ऐसा सूक्ष्म पदार्थ अवश्य है जिसके क्रमिक संयोगसे ज्ञान एक साथ

---

१. "दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा । मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्तेष्वेव द्रव्येष्वेतस्मादिदं पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेण अपरोत्तरेण उत्तरपूर्वेण चाधस्तादुपरिष्टाच्चेति दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति, अन्यनिमित्तासंभवात् ।....दिग् लिङ्गविशेषाद्व्यञ्जकैकत्वेऽपि दिशः; परमर्षिभिः श्रुतिस्मृतिलोकसंव्यवहारार्थं मेरुं प्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्यं संयोगविशेषाः लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशानामन्वर्थाः प्राच्यादिभेदेन दशधिष्ण्याः संज्ञाः कृताः अतो भक्त्या दश दिशः सिद्धाः ।" —प्रश० भा० पृ० २८ । २. "आत्मत्वाभिसंबन्धादात्मा । ... तथा चात्मेति वचनात्परममहत्परिमाणम् । —प्रश० भा० पृ० १० । ३. "मनस्त्वयोगान्मनः । सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसन्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते । श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम् ।"....प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम् । पृथक्त्वमप्यत एव । तदभाववचनादणुपरिमाणम् ।....प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशादाशुसंचारि चेति ।" —प्रश० भा० पृ० ३१ । ४. न्यायसू० ४।१।१० ।

संनिधानाज्ज्ञानानामुत्पत्तिरसंनिधानाच्चानुत्पत्तिरिति । तस्य च मनसो मृतशरीरान्निर्गतस्य मृतशरीरप्रत्यासन्नमदृष्टवशादुपजातक्रियैरणुभिर्द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धमतिसूक्ष्ममनुपलब्धियोग्यं शरीरं संपद्यैव स्वर्गादौ मतस्य स्वर्गाद्युपभोग्यशरीरेण संबन्धो भवति । केवलस्य त्वेतावद्दूरं गतिर्न स्यात् । तच्च मरणजन्मनोरान्तरालं गतं शरीरं मनसः स्वर्गनारकादिदेशं प्रतिवहनधर्मकत्वादातिवाहिकमित्युच्यते । ततो द्वन्द्वे कालदिगात्ममनांसि । चः समुच्चये ।

§ ४६७. तत्र पृथिव्यापस्तेजोवायुरित्येतच्चतुःसङ्ख्यं द्रव्यं प्रत्येकं नित्यानित्यभेदाद्द्विप्रकारम् । तत्र परमाणुरूपं नित्यं "सदकारणवन्नित्यम्" [वैशे० सू० ४।१।१] इति वचनात् । तत्कार्यं तु द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यमनित्यम् । आकाशादिकं नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात् ।

§ ४६८. एषां च द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद् द्रव्यरूपता । द्रव्यत्वाभिसंबन्धश्च द्रव्यत्वसामान्योपलक्षितः समवायः । तत्समवेतं वा सामान्यम् । एतच्च द्रव्यत्वाभिसंबन्धादिकमितरेभ्यो गुणादिभ्यो व्यवच्छेदकमेषां लक्षणम् । एवं पृथिव्यादिभेदानामपि पाषाणादीनां पृथिवीत्वाभिसंबन्धादिकं

उत्पन्न न हो कर क्रमसे ही उपजते हैं । आत्मा, इन्द्रिय और पदार्थका संयोग इनसे भिन्न एक मन नामका कारण अवश्य है, जिसका जिस इन्द्रियसे संयोग होता है उसी इन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न होता है अन्यसे नहीं है । इसीका संयोग ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है । यदि मनका संयोग न हो तो ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता । यही मन मृत शरीरसे निकलकर स्वर्ग आदिमें जाता है और वहाँ स्वर्गीय दिव्य शरीरसे सम्बन्ध करके उसका उपभोग करता है । जब मनुष्य मरता है तब मनका स्थूल शरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है । वह उस समय अदृष्ट-पुण्य-पापके अनुसार वहीं बने हुए अत्यन्त सूक्ष्म आतिवाहिक लिंग शरीरमें घुस जाता है और उसीके द्वारा वह स्वर्ग आदि तक पहुँचता है । जीवके पुण्य-पापके अनुसार मरनेके बाद ही परमाणुओंमें क्रिया होकर द्व्यणुक त्र्यणुक आदि क्रमसे अत्यन्त सूक्ष्म आतिवाहिक शरीर बन जाता है । यह शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि आँखोंसे नहीं दिखाई देता और न किसी अन्य इन्द्रियसे भी इसका परिज्ञान हो पाता है । अकेला मन इस आतिवाहिक शरीरके बिना इतनी दूर तक नहीं जा सकता । यह मरण और नूतन जन्मके बीचमें रहनेवाला सूक्ष्म शरीर मनको स्वर्ग और नरक आदि तक ढोता है—पहुँचा देता है अतः इसे ढोनेवाला आतिवाहिक शरीर कहते हैं । काल आदिका द्वन्द्व समास करना चाहिए । 'च' शब्द समुच्चयार्थक है ।

§ ४६७. पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार द्रव्य नित्य भी होते हैं तथा अनित्य भी । परमाणु रूप पृथिवी आदि नित्य हैं । कहा भी है—"सत् होकर भी जो वस्तु कारणोंसे उत्पन्न न हो उसे नित्य कहते हैं ।" परमाणु रूप द्रव्य सत् तो हैं ही और किसी अन्य कारणसे उत्पन्न भी नहीं होते अतः वे नित्य हैं । इन परमाणुओंके संयोगसे बने हुए द्व्यणुक आदि स्थूल कार्य द्रव्य अनित्य हैं । आकाश आदि द्रव्य किसी कारण से उत्पन्न न होनेके कारण नित्य ही हैं ।

§ ४६८. द्रव्यत्व नामक जातिका सम्बन्ध ही इनमें द्रव्यरूपता लाता है तथा 'द्रव्य द्रव्य यह अनुगत व्यवहार कराता है' द्रव्यत्वका द्रव्यके साथ समवाय सम्बन्ध होता है । समवाय तो नित्य और एक है अतः द्रव्यत्व विशेषणवाला समवाय या समवायसे सम्बद्ध द्रव्यत्व द्रव्योंमें द्रव्यरूपताके प्रयोजक होते हैं । यह द्रव्यत्वका समवाय गुणादि पदार्थोंसे द्रव्यको व्यावृत्त करता है तथा उनमें 'द्रव्य द्रव्य' व्यवहार कराता है । अतः यह द्रव्यका व्यवच्छेदक लक्षण – असाधारण स्वरूप है । इसी तरह पृथिवीमें पृथिवीत्वका समवाय, जलमें जलत्वका समवाय, वायुमें वायुत्वका समवाय

[1]लक्षणमितरेभ्योऽविभक्तो भेदव्यवहारहेतुर्द्रष्टव्यम्। अभेदवतां स्वाकाशकालदिग्द्रव्याणामनन्तिमत्वच्छब्दवाच्यता[2] द्रष्टव्या।

§ ४६९. इदं च नवविधमपि द्रव्यं सामान्यतो द्वेधा, अद्रव्यं द्रव्यं अनेकद्रव्यं च द्रव्यम्—तत्राद्रव्यमाकाशकालदिगात्ममनःपरमाणवः कारणद्रव्यानारब्धत्वात्। अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः। तत्र च द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धेऽणुरिति व्यपदेशः, परमाणुद्वयारब्धस्य [3]द्व्यणुकस्याणुपरिमाणत्वात्। त्रिचतुरैः परमाणुभिरारब्धस्यापि [4]'कार्यद्रव्यस्याणुपरिमाणतैव स्यात्, परं द्व्यणुकव्यपदेशो न स्यात्। त्रिभिर्द्व्यणुकैश्चतुर्भिर्वारब्धे त्र्यणुकमिति व्यपदेशः, न तु द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यामारब्धे, द्वाभ्यामारब्धस्य ह्यूपलब्धिनिमित्तं महत्त्वं न स्यात्। त्र्यणुकं च

तथा अग्निमें अग्नित्वका समवाय उनकी इतर द्रव्योंसे व्यावृत्ति कराके 'पृथिवी' आदि अनुगत व्यवहारमें कारण होता है। आकाश काल और दिशा ये एक-एक ही द्रव्य हैं। इसलिए इनमें आकाशत्व आदि जातियाँ नहीं पायी जातीं। अतः इनकी 'आकाश, काल और दिशा' ये संज्ञाएँ तथा व्यवहार अनादि कालीन हैं।

§ ४६९. ये नवों द्रव्य सामान्यसे दो प्रकारके हैं—एक अद्रव्य द्रव्य और दूसरे अनेक द्रव्य द्रव्य, जिनको उत्पन्न करनेवाला कोई अन्य द्रव्य रूप समवायिकारण न हो वे अद्रव्य द्रव्य हैं अर्थात् नित्य द्रव्य। जैसे आकाश काल दिशा आत्मा मन और पृथिवी आदिके परमाणु। इनको उत्पन्न करनेवाला कोई कारण द्रव्य नहीं है जिनकी उत्पत्तिमें अनेक द्रव्य समवायिकारण होते हैं वे अनेक द्रव्य द्रव्य अर्थात् अनित्य द्रव्य कहलाते हैं जैसे परमाणुओंसे बननेवाले द्व्यणुक आदि। मतलब यह कि द्रव्य या तो अद्रव्य नित्य होंगे या अनेक द्रव्य अनित्य। कोई भी द्रव्य 'एकद्रव्य'—जिसकी उत्पत्तिमें एक ही द्रव्य समवायिकारण हो जैसे ज्ञानादि गुण—नहीं हो सकता। दो परमाणुओंसे उत्पन्न होनेवाले कार्य द्रव्यको 'अणु' कहते हैं; क्योंकि दो परमाणुओंसे उत्पन्न द्रव्यमें अणुपरिमाण ही रहता है। इसी तरह तीन चार परमाणुओंसे उत्पन्न होनेवाले कार्य द्रव्य भी 'अणु' ही कहे जाते हैं उन्हें द्व्यणुक नहीं कहते। तीन या चार द्व्यणुकसे उत्पन्न होनेवाला कार्य द्रव्य त्र्यणुक कहलाता है। दो द्व्यणुकोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्यद्रव्यको त्र्यणुक नहीं कह सकते; क्योंकि दो द्व्यणुकोंसे उत्पन्न कार्यमें इन्द्रियोंसे ग्रहण करने लायक महत्त्व परिमाण नहीं होता। त्र्यणुक द्रव्य ही इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने लायक होता है। इस तरह आगे आगे महान् परिमाणवाले कार्य द्रव्योंकी उत्पत्ति होती जाती है। विशेष कारण द्रव्यका परिमाणको कार्यमें स्वसजातीय उत्कृष्ट परिमाण उत्पन्न करनेका नियम है। यदि परमाणुके परिमाणका द्व्यणुकके परिमाणमें कारण माना जायगा तो उसमें अणु परिमाणके सजातीय उत्कृष्ट अणुतर परिमाणकी उत्पत्ति होगी। अतः परमाणुके अणुपरिमाणको कार्यके परिमाणमें कारण नहीं मान कर परमाणुकी संख्याको कारण मानते हैं। जिससे द्व्यणुकमें अणुपरिमाणकी ही उत्पत्ति होती है न कि अणुतर परिमाणकी। इसी तरह यदि द्व्यणुकके अणुपरिमाणको त्र्यणुकके परिमाणमें कारण मानेंगे, तो इसमें भी अणुजातीय उत्कृष्ट-अणुतर परिमाणकी ही उत्पत्ति होगी। अतः द्व्यणुकोंमें रहनेवाली बहुत्व संख्याको कारण

---

१. "लक्षणं च भेदार्थं व्यवहारार्थं चेति। तथाहि पृथिव्यादीनि इतरस्माद् भिद्यन्ते द्रव्याणीति वा व्यवहर्तव्यानि द्रव्यत्वयोगात्।" —प्रश० व्यो० पृ० ५०। "पृथिव्यादीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः।" —प्रश० भा० पृ० २०। "एतेन द्रव्यादिपदार्थस्य इतरेभ्यो भेदलक्षणमुक्तम्।" —प्रश० कन्दली पृ० २०। २. "आकाशकालदिशामेककत्वापरत्वाभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति आकाशं कालो दिगिति।" —प्रश० भा० पृ० ५८। ३. कस्याणु परमाणुत्वात् म० १, म० २, प० १, प० २।—कस्यापरमाणुत्वात् क०। ४. कार्यस्याणुप – म० १, प० १, प० २।—कार्यस्याणुपरमाणुतैव म० २।

द्रव्यमुपलब्धियोग्यमिष्यते । ततश्चापरापरारब्धत्वेऽपरापरद्रव्योत्पत्तिर्ज्ञेया । गुणः पुनः पञ्चविंशतिधा स्पष्टम् ॥६१॥

§ ४७०. [1]गुणस्य पञ्चविंशतिविधत्वमेवाह—

स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः संख्या विभागसंयोगौ ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥६२॥
बुद्धिः सुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥६३॥ [4]युग्मम् ॥

§ ४७१. व्याख्या—[5]स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः । [6]रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः । चक्षुर्ग्राह्यं रूपं[7] पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति, तच्च रूपं जलपरमाणुषु तेजःपरमाणुषु च नित्यं, पार्थिवपरमाणुरूपस्य त्वग्निसंयोगो विनाशकः । सर्वकार्येषु च कारणरूपपूर्वकरूपमुत्पद्यते, उत्पन्नेषु हि द्व्यणुकादिकार्येषु पश्चात्तत्र रूपोत्पत्तिः, निराश्रयस्य कार्यरूपस्यानु-

---

मानने पर ही त्र्यणुकमें महापरिमाणकी उत्पत्ति हो सकती है। यही कारण है कि तीन द्वयणुकसे त्र्यणुककी उत्पत्ति बताया है न कि दो द्वयणुकसे। दो द्वयणुकमें बहुत्व संख्या न होकर द्वित्व संख्या ही रहती है। गुण पच्चीस प्रकारका है यह स्पष्ट है।

§ ४७०. अब पचीस गुणोंका निरूपण करते हैं—

स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग, ये पच्चीस गुण हैं ॥६२-६३॥

§ ४७१. स्पर्शन इन्द्रिय का विषयभूत गुण स्पर्श है। यह स्पर्शनेन्द्रियसे छुआ जाता है और पृथिवी जल अग्नि और वायुमें रहता है। जीभके द्वारा चखा जानेवाला गुण रस है। यह पृथिवी और जलमें रहता है। आँखसे दिखाई देनेवाला गुण रूप है। यह पृथिवी जल और अग्निमें पाया जाता है। जल तथा अग्निके परमाणुओंका रूप नित्य है परन्तु पृथिवीके परमाणुओंका रूप अग्निके संयोगसे नष्ट हो जाता है। पृथिवीमें अग्निके संयोगसे पूर्वरूप नष्ट होकर नया पाकजरूप उत्पन्न होता है। कारणके रूपसे ही सभी कार्योंमें रूपकी उत्पत्ति होती है। जब पहले द्वयणुकादिकार्य उत्पन्न हो जाते हैं तब उनमें रूपादि गुणोंकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि रूपादि गुण हैं, अतः वे निराधार उत्पन्न नहीं हो सकते, उनका आधारभूत द्रव्य होना ही चाहिए। इस तरह जब गुण निराधार उत्पन्न नहीं होते तब उनका नाश भी आधारके नाशसे ही होगा। कार्यद्रव्यरूपी आधारके नष्ट होते ही द्वितीयक्षणमें रूपादि गुणोंका नाश होता है। क्षण इतना सूक्ष्म है कि वह हम लोगोंकी

---

१. परत्र – म० २। २. गुणपञ्च – म० २। ३. "रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः।" वैशे० सू० १।१।६। "इति कण्ठोक्ताः सप्तदश। षडन्वयसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः।" —प्रश० भा० पृ० ३। ४. युगलम्। म० २। ५. "स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः। पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः।" —प्रश० म० पृ० ४५। ६. "रसो रसनग्राह्यः। पृथिव्युदकवृत्तिः।" —प्रश० भा० पृ० ४५। ७. 'तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्। पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति द्रव्याद्युपलम्भकं नयनसहकारि शुक्लाद्यनेकप्रकारं सलिलादिपरमाणुषु नित्यं पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति।" —प्रश० भा० पृ० ४४।

त्पादात् । तथा कार्यरूपविनाशस्याश्रयविनाश एव हेतुः । पूर्वं हि कार्यद्रव्यस्य नाशः, तदनु च रूपस्य, आशुभावाच्च क्रमस्याग्रहणमिति । [1]गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः । स्पर्शादेश्च गुणत्वे सति स्वेन्द्रियग्राह्यादिकं लक्षणमितरव्यवच्छेदकम् ।

§ ४७२. [2]शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो गगनवृत्तिः क्षणिकश्च । श्रोत्रेन्द्रियं चाकाशात्मकम् । अथाकाशे निरवयव इदमात्मीयं श्रोत्रमिदं च परकीयमिति विभागः कथमिति चेत् । उच्यते– यदीयधर्माधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धं [3]यन्नभस्तत्तस्य श्रोत्रमिति विभागः, अत एव नासिकाविरन्ध्रान्तरेण न शब्दोपलम्भः संजायते । तत्कर्णशष्कुलीविधातादाधिर्यादिकं च व्यवस्थाप्यत[4] इति ।

§ ४७३. संख्या तु [5]एकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च तत्रैकसंख्यैकद्रव्या, [6]अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसंख्या । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाण्वादिगत-

---

स्थूलदृष्टिमें नहीं झलकता । यही कारण है कि हमलोग कार्यद्रव्यके नाशको तथा उसके गुणोंके नाशको एक ही क्षणमें मान लेते हैं । क्षण होते क्या देर लगती है ? वह बहुत ही जल्दी होता है इसीलिए हम द्रव्यनाश और गुणनाशके क्रमको नहीं जान पाते । नाकसे सूँघा जानेवाला गुण गन्ध है । गन्ध मात्र पृथिवीमें ही रहती है । स्पर्श आदिके इतर व्यावर्तक असाधारण लक्षण इस प्रकार हैं । स्पर्शनेन्द्रियसे छुआ जाकर जो गुण हो वह स्पर्श, रसनेन्द्रियसे चखा जाकर जो गुण हो वह रस, आँखोंसे देखा जाकर जो गुण हो वह रूप और नाकसे सूँघा जाकर जो गुण हो वह गन्ध । यद्यपि रूपत्व रसत्व गन्धत्व और स्पर्शत्व जातियाँ भी चक्षु आदि इन्द्रियोंसे देखी, चाटी सूँघी और छुई जाती हैं तो भी वे गुण नहीं हैं अतः उनमें पूरा लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो सकता । जिस इन्द्रियसे जो पदार्थ जाना जाता है उसी इन्द्रियसे उसकी जाति और उसके अभावके परिज्ञान होनेका नियम है । अतः 'गुण' विशेषणसे रूपत्व आदि सामान्योंमें लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो सकता ।

§ ४७२. कानसे सुनाई देनेवाला गुण शब्द है । यह आकाशमें रहता है तथा क्षणिक है । कान इन्द्रिय आकाश रूप ही है ।

शंका—आकाश तो निरवयव है, अतः यह हमारा श्रोत्र है और यह पराया यह विभाग कैसे हो सकेगा ?

समाधान—स्व-पर विभागमें कोई कठिनाई नहीं है । जिसके पुण्य-पापसे संस्कृत कर्ण-शष्कुलि—कानका तारा—में आकाशका जो भाग आता है वह उसीका श्रोत्र कहा जायगा । इसीलिए नाकके छेदमें समाये हुए आकाशसे शब्द नहीं सुनाई देता । जिसके कानका तारा फट जाता है या उसमें छेद हो जाता है वही व्यक्ति बहरा या कम सुननेवाला हो जाता है ।

§ ४७३. एक दो तीन आदि व्यवहार करानेवाला गुण एकत्व द्वित्व आदि संख्या है । यह एक द्रव्यमें भी रहती है और अनेक द्रव्योंमें भी । एकत्वसंख्या एकद्रव्यमें रहती है तथा द्वित्व त्रित्व आदि संख्याएँ अनेक द्रव्योंमें । एक द्रव्यमें रहनेवाली एकत्व संख्या जल आदिके परमाणुओंमें तथा कार्यद्रव्यमें रहनेवाले रूपादि गुणोंकी तरह नित्य भी है और अनित्य भी । परमाणुओंमें नित्य तथा कार्यद्रव्यमें अनित्य । कार्यद्रव्यकी एकत्वसंख्या कारणकी एकत्वसंख्यासे उत्पन्न होती है । अनेक द्रव्यमें रहनेवाली द्वित्व आदि अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न होते हैं तथा अपेक्षाबुद्धिके नाशसे ही नष्ट हो जाते हैं, कहीं आधारभूत द्रव्यके नाशसे भी इनका नाश होता है । दो या तीन

---

१. "गन्धो घ्राणग्राह्यः । पृथिवीवृत्तिः ।"—प्रश० भा० पृ० ४५ । २. "शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः कार्यकारणोभयविरोधी संयोगविभागशब्दजः प्रदेशवृत्तिः ।" —प्रश० भा० पृ० १२४ । ३. भो मूर्तस्याश्रोत्र–म० २ । ४. –यते स–म० २ । ५. एकादिकाव्य –म० २ । "एकादिव्यवहारहेतुसंख्या···"—प्रश० भा० पृ० ४८ । ६. अनेकद्रव्यादिषु तु म० २ । अनेकसंख्या तु आ०, क० ।

रूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः। अनेकद्रव्यावास्त्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो विष्पत्तिः। अपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च विनाशः क्वचित्स्वाश्रयविनाशादिति।

§ ४७४. प्राप्तिपूर्विका ह्यप्राप्तिर्विभागः,[1] अप्राप्तिपूर्विका च प्राप्तिः संयोगः। [2]एतौ च द्रव्येषु यथाक्रमं विभक्तसंयुक्तप्रत्ययहेतू। अन्यतरोभयकर्मजौ विभागसंयोगौ च यथाक्रमम्।

§ ४७५. परिमाणव्यवहारकारणं परिमाणम्[3]। तच्चतुर्विधं, महदणु दीर्घं ह्रस्वं च। तत्र महद्द्विविधं, नित्यमनित्यं च। नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम्। अनित्यं द्व्यणुकादिषु द्रव्येषु। अण्वपि नित्यानित्यभेदाद्द्विविधम्। परमाणुमनःसु पारिमाण्डल्यलक्षणं[4] नित्यम्। अनित्यं द्व्यणुक एव। बदरामलकबिल्वादिषु बिल्वामलकबदरादिषु च क्रमेण यथोत्तरं महत्त्वस्याणुत्वस्य च व्यवहारो[5] भाक्तोऽवसेयः, आमलकादिष्वभस्यापि व्यवहारात्। एवमिध्मो समिद्दंशाद्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वयो[6]र्भाक्तत्वं ज्ञेयम्।

पदार्थों को देखकर 'यह एक यह एक और यह एक' ऐसी अनेक पदार्थों के एकत्वको विषय करने-वाली अपेक्षाबुद्धि होती है। इस अपेक्षाबुद्धिसे उन पदार्थों से द्वित्व आदि संख्याएँ उत्पन्न होती हैं। जब यह अपेक्षा बुद्धि नष्ट हो जाती है तब संख्याका भी नाश हो जाता है। तात्पर्य यह कि द्वित्व आदि संख्याएँ रूपादिकी तरह घड़ेके पूरे समय तक स्थिर नहीं रहतीं। वे तो जो व्यक्ति देखता है उसको उपेक्षा बुद्धिसे उत्पन्न हो कर उपेक्षा बुद्धिके समाप्त होते ही नष्ट हो जाती है। जिन दो जलके बुद्बुदोंमें किसी व्यक्तिकी अपेक्षा बुद्धिसे द्वित्व संख्या उत्पन्न हुई थी और वे बुद्बुद अब दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो गये तब वह द्वित्व संख्या भी आधारभूत द्रव्यके नाशसे ही नष्ट हो जायगी।

§ ४७४. जो पदार्थ आपसमें संयुक्त थे—मिले हुए थे, उनका बिछुड़ जाना—अलग-अलग हो जाना विभाग है। जो पदार्थ बिछुड़े हुए हैं उनका आपसमें मिल जाना संयोग है। ये पदार्थों में क्रमसे 'विभक्त—बिछुड़े हुए और संयुक्त—मिले हुए' यह प्रत्ययव्यवहार कराते हैं। संयोग और विभाग किसी एक पदार्थमें क्रिया होनेसे भी होते हैं जैसे ठूँठपर पक्षीका बैठ जाना और उड़ जाना तथा दोनों पदार्थों में क्रिया होनेसे भी होते हैं जैसे दो पहलवानों का कुश्ती लड़ते समय आपसमें मिलना तथा बिछुड़ना।

§ ४७५. हलका, भारी, छोटा, बड़ा, लम्बा आदि माप और नापके व्यवहारमें कारणभूत गुण परिमाण है। महत्—बड़ा, अणु—छोटा, दीर्घ—लम्बा, और ह्रस्व—ठिगनाके भेदसे परिमाण चार प्रकारका है। महापरिमाण दो प्रकारका है—एक नित्य और दूसरा अनित्य। आकाश काल दिशा और समस्त आत्माओंमें सर्वोत्कृष्ट नित्य महापरिमाण है। द्व्यणुक आदि द्रव्योंमें अनित्य महापरिमाण है। अणुपरिमाण भी नित्य और अनित्य दोनों ही प्रकारका होता है। परमाणु और मनमें नित्य अणुपरिमाण होता है। इसकी 'पारिमाण्डल्य' संज्ञा है अर्थात् अणुपरिमाण गोल होता है। अनित्य अणुपरिमाण केवल द्व्यणुकमें ही होता है बेर आँवला बेल आदि मध्यम परिमाणवाले द्रव्योंमें एक दूसरेकी अपेक्षा जो छोटा और बड़ा या दोनों प्रकारके व्यवहार होते हैं वे गौण हैं मुख्य नहीं हैं, अनियत हैं। वही आँवला बेरकी अपेक्षा बड़ा भी है और बेलकी अपेक्षा छोटा भी। इसी तरह ईंधमें समित्मज्ञमें जलायी जानेवाली छोटी-छोटी छिपटियोंकी अपेक्षा लम्बापन होनेपर भी लम्बे बाँसकी अपेक्षा ठिगना—छोटापन भी है अतः उसमें लम्बी और छोटी दोनों ही व्यवहार गौण हैं अनियत हैं।

---

१. प्राप्तिपूर्वकाप्राप्तिर्विभागः।"—प्रश० भा० पृ० ६७। २. "अप्राप्तयोः प्राप्तिसंयोगः।"—प्रश० भा० पृ० ६१। ३. "परिमाणं मानव्यवहारकारणम्...।" —प्रश० भा० पृ० म० २। ४. नित्यं द्व्यणुक—म० २। ५.–रो विभक्तो आ०, क०,–रो भक्तो म० २। ६. –योर्भक्तत्वं म० २।

§ ४७६. ननु महद्दीर्घयोरेकाश्रयसमवायिनोः कार्यद्रव्ययोर्द्व्यणुके चाणुत्वह्रस्वत्वयोः को विशेषः । महत्त्वं दीर्घमानीयतां दीर्घेषु महदानीयतामिति व्यवहारभेदप्रतीतेरस्ति तयोः परस्परतो भेदः । अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिनां तद्दर्शिनामध्यक्ष एव ।

§ ४७७. संयुक्तमपि द्रव्यं यद्वशाद्वस्तेदं पृथगित्यपोद्ध्रियते, तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वम्[1]। इदं परमिदमपरमिति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतः, तद्यथाक्रमं परत्वमपरत्वं[2] च। [3]द्वितयमप्येतत् दिक्कृतं कालकृतं च। तत्र दिक्कृतस्येत्थमुत्पत्तिः–एकस्यां दिशि स्थितयोरेकस्य द्रष्टुरपेक्षया संनिकृष्टमवधिं कृत्वैतस्माद्विप्रकृष्टस्य परेण दिक्प्रदेशेन योगात्परत्वमुत्पद्यते, विप्रकृष्टं चावधिं कृत्वैतस्मात्संनिकृष्टस्यापरेण दिक्प्रदेशेन योगादपरत्वमुत्पद्यते। कालकृतं त्वेवमुत्पद्यते–वर्तमानकालयोरनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युवस्थविरयोर्मध्ये युवानमवधिं कृत्वा चिरकालीनस्य स्थविरस्य परेण कालप्रदेशेन योगात्परत्वमुत्पद्यते, स्थविरं चावधिं कृत्वाल्पकालीनस्य यूनोऽपरेण कालप्रदेशेन योगादपरत्वमुत्पद्यते ।

§ ४७८. [4]बुद्धिर्ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम्। सा द्विविधा–विद्याविद्या च। तत्राविद्या[5]

---

§ ४७६ **शंका**—अणुक आदिमें रहनेवाले महत्त्व और दीर्घत्वमें तथा द्वयणुकमें रहनेवाले अणुत्व और ह्रस्वत्वमें परस्पर क्या भेद है ?

समाधान—'बड़ोंमेंसे लम्बेको ले आओ, लम्बोंमेंसे बड़ेको ले आओ' ऐसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे महत्त्व और दीर्घत्वमें विशेषता है। दीर्घत्व केवल लम्बेपनकी अपेक्षा है जब कि महत्त्वमें लम्बाई चौड़ाई दोनों ही विवक्षित हैं। द्वयणुकका प्रत्यक्ष तो योगियोंको ही होता है अतः वे ही उसमें रहनेवाले ह्रस्वत्व और अणुत्वकी विशेषताको साक्षात् देखते हैं। वह शब्दोंसे कही जाने लायक नहीं है।

§ ४७७. आपसमें संयुक्त भी द्रव्य जिसके कारण 'ये दोनों स्वरूपसे पृथक् हैं' इस पृथक्-भेद व्यवहारके विषय होते हैं वह अपोद्धारव्यवहार भेदव्यवहार करानेवाला गुण पृथक्त्व है। 'यह पर—दूर या जेठा, अपर—समीप या लहुरा' इस परापर शब्दके प्रयोगमें तथा परापरज्ञानमें कारण भूत गुण क्रमशः परत्व और अपरत्व हैं। परत्व और अपरत्व दोनों ही दिशा और कालकी अपेक्षासे उत्पन्न होते हैं। दिशाके द्वारा परत्वापरत्वकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—एक कोई देखनेवाला व्यक्ति जब एक ही दिशामें दो आदमियोंको क्रमसे खड़ा हुआ देखता है तो समीपवर्ती पुरुषकी अपेक्षा दूरवर्ती पुरुषको पर—अधिक दिशाके प्रदेशोंका संयोग होनेसे पर—दूर समझता है तथा दूरवर्तीकी अपेक्षा निकटवर्तीको अपर—कम दिशाके प्रदेशोंका संयोग होनेसे अपर—निकट समझता है। अतः क्रमशः दूरवर्ती और निकटवर्ती पदार्थमें पर और अपर दिशाके प्रदेशोंके संयोगसे परत्व और अपरत्व गुणोंकी उत्पत्ति होती है। इन्हींके कारण 'यह इससे दूर है या यह इससे पास है' यह दूर निकट-व्यवहार होता है। कालकृत परत्वापरत्वकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—जिस किसी भी दिशा या देशमें मौजूद जवान और बूढ़ेमें जवानकी अपेक्षा चिरकालीन बूढ़ेमें पर—अधिककालका संयोग होनेसे परत्व—जेठापन—की उत्पत्ति होती है तथा बूढ़ेकी अपेक्षा लहुरे जवानमें अपर—कम कालका संयोग होनेसे अपरत्व—लुहरापन—की उत्पत्ति होती है।

§ ४७८ बुद्धि ज्ञानको कहते हैं। ज्ञान स्वयं अपने स्वरूपको नहीं जानता किन्तु वह

---

१. —मक्षममेव म० २ । २. रका – म० २ । ३. पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम् ।" —प्रश० भा० पृ० ५९ । ४. परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम् । तत् द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च ।"—प्रश० भा० पृ० ७६ । ५. द्वितीयम –म० २ । ६. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः ।" —प्रश० भा० पृ० ८३ । ७. "अविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा।"—प्रश० भा० पृ० ८४।

चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा। [1]विद्यापि चतुर्विधा—प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा। प्रत्यक्षलैङ्गिके प्रमाणाधिकारे व्याख्यास्येते। अतीतविषया स्मृतिः[2]। सा च गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणम्। ऋषीणां व्यासादीनामतीतानागतविप्रकृष्टेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु यत्प्रातिभं तदार्षम्[3]। तच्च प्रकृष्टारेणर्षीणां, कदाचिदेव तु लौकिकानां, यथा कन्यका ब्रवीति 'श्वो मे भ्राता (आ) गन्तेति हृदयं मे कथयति' इति। आर्षं च प्रत्यक्षविशेषः।

§ ४७९. अनुग्रहलक्षणं सुखम्[4]। आत्मन उपघातस्वभावं [5]दुःखं, [6]तच्चामर्षदुःखानुभवविच्छायताहेतुः। स्वार्थं परार्थं वाप्राप्तप्रार्थनमिच्छा[7]। तस्याश्च कामोऽभिलाषो रागः संकल्पः कारुण्यं वैराग्यं वञ्चनेच्छा [8]गूढभाव इत्यादयो भेदाः।

§ ४८०. कर्तुः फलदाय्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माधर्मरूपतया भेदवान्

ज्ञानान्तर-अनुव्यवसायके द्वारा गृहीत होता है। बुद्धि दो प्रकारकी है—१ विद्या, २ अविद्या। संशय विपर्यय अनध्यवसाय और स्वप्नके भेदसे अविद्या चार प्रकारकी है। प्रत्यक्ष, लैङ्गिक-अनुमान, स्मृति और आर्षरूपसे विद्याके भी चार ही भेद हैं। प्रमाणकी चर्चामें प्रत्यक्ष और अनुमानका निरूपण करेंगे। अतीत पदार्थको जाननेवाली स्मृति होती है। यह अनुभवके द्वारा गृहीत पदार्थको जाननेके कारण गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण नहीं है। व्यास आदि महर्षियोंको अतीत अनागत आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका तथा परमसूक्ष्म पुण्य पाप आदिका जो प्रतिभासे ही इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही स्पष्ट ज्ञान होता है उसे आर्षज्ञान कहते हैं। यह प्रातिभज्ञान प्रायः ऋषियोंको ही होता है। कभी साधारण लोगोंको भी होता है। जैसे कोई कन्या एकाएक कहे कि 'कल हमारा भाई आयगा, मेरा हृदय कहता है कि वह अवश्य आयगा।' आर्षज्ञान प्रत्यक्षरूप ही है।

§ ४७९. अनुग्रह-अनुकूल अनुभवको सुख कहते हैं। जिससे आत्माको आघात हो धक्का लगे वह दुःख है। यह दुःख क्रोध असहिष्णुता दुःखानुभव मनमलीनता तथा निस्तेजपन आदिमें कारण होता है। अपने लिए या दूसरेके लिए अप्राप्त पदार्थके प्राप्त होनेकी चाहको इच्छा कहते हैं। काम अभिलाष राग संकल्प कारुण्य वैराग्य ठगनेकी इच्छा गूढ़ भाव आदि इच्छाके ही नाना रूप हैं।

§ ४८०. कर्ताको क्रियेका फल देनेवाला, आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला, परोक्ष, पुण्य और पाप रूपसे विभक्त, तथा अपना फल देकर नष्ट होनेवाला—अपने कार्यभूत

---

१. "विद्यापि चतुर्विधा प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा।" —प्रश० भा० पृ० ९४। २. "लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसो संयोगविशेषात् षट्त्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शीघ्रानुध्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति।" —प्रश० भा० पृ० १२८। ३. "आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु प्रत्योपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते।" —प्रश० भा० पृ० १२९। ४. अनुग्रहलक्षणं सुखम्।" —प्रश० भा० पृ० १३०। ५. "उपघातलक्षणं दुःखम्।" —प्रश० भा० पृ० १३१। ६. तच्चामर्ष – भ० २। ७ स्वार्थं परार्थं वाप्राप्तप्रार्थनेच्छा।""मैथुनेच्छा कामः। अन्यव्यवहारेच्छाभिलाषः। पुनःपुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः। अनागतक्रियेच्छा संकल्पः। स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम्। दोषदर्शनात्तद्विषयत्यागेच्छा। परवञ्चनेच्छा उपधा। अन्तर्निगूढेच्छा भावः।" —प्रश० भा० पृ० १३१। ८. मूढ़भाव भ० २।

परोक्षोऽनुमेयश्च गुणः । [1]अथ धर्मः [2]पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञान-विरोधी, अन्त्यस्यैव सुखस्य सम्यग्विज्ञानेन धर्मो नाश्यते, अन्त्यसुखकालं यावत् धर्मस्यावस्थानात् । स च पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसंधिजो वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः, साधनानि तु श्रुतिस्मृतिविहितानि सामान्यतोऽहिंसादीनि, विशेषतस्तु ब्राह्मणादीनां पृथक्पृथग्यजनाध्ययनादीनि ज्ञातव्यानि ।

§ ४८१. अधर्मोऽप्यात्मगुणः[3] कर्तुरहितः प्रत्यवायहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यदुःखसंविज्ञानविरोधी ।

§ ४८२. प्रयत्न[4] उत्साहः, स च सुप्तावस्थायां प्राणापानप्रेरकः[5] प्रबोधकालेऽन्तःकरणस्येन्द्रियान्तरप्राप्तिहेतुर्हिताहितप्राप्तिपरिहारोद्यमः शरीरविधारकश्च ।

§ ४८३. [6]संस्कारो द्वेधा, भावना स्थितिस्थापकश्च । भावनाख्य आत्मगुणो ज्ञानजो ज्ञान-हेतुश्च दृष्टानुभूतश्रुतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानकार्योपलीयमानसद्भावः । स्थितिस्थापकस्तु मूर्तिमद्द्रव्य-गुणः स च घनावयवसंनिवेशविशिष्टे स्वमाश्रयं कालान्तरस्थायिनमन्यथाव्यवस्थितमपि प्रयत्नतः

सुख-दुःखादि फलसे हो जिसका विनाश होना है आत्माका गुण अदृष्ट कहलाता है। अदृष्ट दो प्रकारका है एक धर्म और दूसरा अधर्म। धर्म पुरुषका गुण है, कर्ताके प्रिय हित तथा मोक्षमें कारण होता है, अतीन्द्रिय है, अन्तिम सुखका यथार्थ विज्ञान होनेसे इसका नाश होता है, जब तक तत्त्वज्ञानकी पूर्णता नहीं होती तब तक धर्मका कार्य सुख बराबर चालू रहता है, तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी प्रारब्धकर्मोंके फलरूप अन्तिमसुख तक बराबर धर्म ठहरता है। अन्तिमसुखको उत्पन्न करनेके बाद धर्मका तत्त्वज्ञानसे नाश हो जाता है। यह पुरुष और अन्तःकरणके संयोगसे विशुद्ध विचारोंके द्वारा वर्णाश्रमधर्मका श्रुतिस्मृति विहित मार्गसे पालन करनेपर उत्पन्न होता है। इसके साधन सामान्यरूपसे तो श्रुति और स्मृतियोंमें बताये गये अहिंसा आदि हैं और विशेषरूपसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदिके पूजन अध्ययन शस्त्रधारण आदि भिन्न-भिन्न आचार हैं।

§ ४८१. अधर्म भी आत्माका गुण है, कर्ताको अहित रूप है तथा विघ्न एवं आपत्तियोंमें कारण होता है, अतीन्द्रिय है और अन्तिम दुःखके सम्यग्ज्ञानसे नष्ट होनेवाला है। तत्त्वज्ञानके बाद प्रारब्धकर्मके फलस्वरूप अन्तिम दुःखको उत्पन्न करके तत्त्वज्ञानके द्वारा अधर्मका नाश हो जाता है।

§ ४८२. प्रयत्न—उत्साह कार्य करनेका उद्यम। यह सोते समय श्वासोच्छ्वास लिवाता है, जागते समय अन्तःकरणको भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे संयोग कराता है, हितकी प्राप्ति तथा अहितके परिहारके लिए उद्यम कराता है तथा शरीरको धारण करनेमें सहायक होता है।

§ ४८३. संस्कार—असर दो प्रकारका है—१ भावना, २ स्थितिस्थापक। अनुभव आदि ज्ञानोंसे उत्पन्न होनेवाला तथा स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानोंको उत्पन्न करनेवाला भावना नामक संस्कार है। देखे गये सुने गये तथा जाने गये पदार्थोंके स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिसे इस संस्कारका अस्तित्व सिद्ध होता है। इस संस्कारके बिना स्मरण आदि नहीं हो सकते। स्थिति-स्थापक संस्कार मूर्तिमान् पदार्थोंका गुण है। जिसके कारण घने अवयव वाली स्थायी वस्तुको दूसरी तरह रखने पर भी फिर जैसीकी तैसी हो जाती है वह जैसी वस्तु स्थित थी उसी तरह

---

१. गुणः धर्मः म० २। २. "धर्मः पुरुषगुणः···" —प्रश० भा० पृ० ११८। ३. "अधर्मोऽप्यात्मगुणः···"—प्रश० भा० पृ० १४१। ४. "प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः। स द्विविधो—जीवनपूर्वकः इच्छाद्वेषपूर्वकश्च।"—प्रश० भा० पृ० १३२। ५. म प्रकरः म०२। ६. "संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च।" —प्रश० भा० पृ० १३६।

पूर्ववद्यथावस्थितं स्थापयतीति स्थितिस्थापक उच्यते। दृश्यते तालपत्रादेः प्रभूततरकालसंवेष्टितस्य प्रसार्यमुक्तस्य पुनस्तथैवावस्थानं संस्कारवशात्। एवं धनुःशाखाप्रभृङ्गदन्तादिषु [1]भुग्नापवर्तितेषु च वस्त्रादिषु तस्य कार्यं परिस्फुटमुपलभ्यते।

§ ४८४. प्रज्वलनात्मको द्वेषः[2] यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते। द्रोहः क्रोधो मन्युरक्षमामर्षं इति द्वेषभेदाः।

§ ४८५. स्नेहोऽप्यां[3] विशेषगुणः संग्रहमृद्वादिहेतुः। अस्यापि गुरुत्ववत् नित्यानित्यत्व-निष्पत्तयः।

§ ४८६. गुरुत्वं[4] जलभूम्योः पतनकर्मकारणमप्रत्यक्षम्। तस्याब्वादिपरमाणुरूपादिवत् नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः।

§ ४८७. [5]द्रवत्वं [6]स्यन्दनकर्मकारणं त्रिद्रव्यवृत्तिः। तद्द्वेधा-सहजं नैमित्तिकं च। सहजमपां द्रवत्वम्। नैमित्तिकं तु पृथिवीतेजसोरग्निसंयोगजं यथा सर्पिषः सुवर्णत्रपुसादेश्चाग्निसंयोगाद्द्रव-त्वमुत्पद्यते।

वस्तुका स्थापन करानेवाला संस्कार स्थितिस्थापक है। जैसे बहुत दिनों तक लपेट कर रखे हुए ताड़पत्र आदिको फैला कर छोड़ने पर संस्कारके कारण वे फिर जैसेके तैसे लिपट जाते हैं। धनुष-को खींचकर छोड़ने पर वह जैसा का तैसा इसी संस्कारके कारण हो जाता है। वृक्षकी डाली को नीचेसे पकड़कर हिलाकर छोड़ दीजिए, वह इसी संस्कारके कारण जहाँकी तहाँ स्थित हो जायगी। सींग या दाँतको हिलाकर छोड़ दीजिए वह जहाँका तहाँ जम जायगा। लिपटे हुए कपड़े-को उकेलकर छोड़ दीजिए इस संस्कारमें वैसा ही फिर लिपट जायगा। इन उदाहरणोंमें स्थिति-स्थापक संस्कारका कार्य साफ-साफ दिखाई देता है।

§ ४८४. द्वेष प्रज्वलनात्मक होता है। द्वेषके कारण आत्मा क्रोधसे तमतमा उठता है—भीतर ही भीतर जलने लगती है। द्रोह क्रोध अहंकार अक्षमा असहिष्णुता आदि द्वेषके ही रूपान्तर हैं।

§ ४८५. स्नेह—चिकनाई, जलका विशेष गुण है। यह आटे आदिकी पिण्डी बनानेमें तथा पदार्थोंको माँजनेमें उन्हें स्वच्छ करनेमें कारण होता है। यह गुरुत्वकी तरह नित्य भी है तथा अनित्य भी है। परमाणुओंके स्नेह नित्य हैं तथा कार्यद्रव्योंका अनित्य।

§ ४८६. गुरुत्व—भारीपन जल और पृथिवीको नीचे गिरनेमें कारण होता है। यह अतीन्द्रिय होता है। जिस तरह जल आदि परमाणुओंके रूपादि नित्य तथा कार्यद्रव्य अनित्य हैं उसी तरह गुरुत्व भी परमाणुगत नित्य है तथा कार्य द्रव्यगत अनित्य है।

§ ४८७. स्यन्दन—चूने या बहनेमें कारण भूत गुण द्रवत्व है। यह पृथिवी जल और अग्नि तीन द्रव्योंमें रहता है। द्रवत्व दो प्रकारका है—एक तो सहज—स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक। जलमें स्वाभाविक द्रवत्व है। पृथिवी और तेजमें अग्निके संयोगसे द्रवत्व उत्पन्न होता है। घी सोना लाख सीसा आदि अग्निके संयोगसे पिघलकर बहने लगते हैं। इनमें नैमित्तिक द्रवत्व है।

---

१. भुग्ना (भुक्ता) प—आ०। २. "प्रज्वलनात्मको द्वेषः।"—प्रश० भा० पृ० १३२। ३. "स्नेहोऽप्यां विशेषगुणः।"—प्रश० भा० पृ० १३५। ४. "गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम्।" —प्रश० भा० पृ० १३३। ५. "द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्।" —प्रश० भा० पृ० १३४। ६. स्पन्दन—आ० २।

§ ४८८. वेगः[1] पृथिव्यप्तेजोवायुमनःसु[2] मूर्तिमद्द्रव्येषु प्रयत्नाभिघातविशेषापेक्षात्कर्मणः समुत्पद्यते, नियतदिक्क्रियाकार्यप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविरोधी च। तत्र शरीरादिप्रयत्नाविर्भूतकर्मोत्पन्नवेगवशाविषोरपान्तरालेऽपातः, स च नियतदिक्क्रियाकार्यसंबन्धोन्नीयमानसद्भावः। लोष्टाद्यभिघातोत्पन्नकर्मोत्पाद्यस्तु शाखादौ वेगः।

§ ४८९. केचित्तु[3] संस्कारस्य त्रिविधस्य भेदतया वेगं प्राहुः। तन्मते चतुर्विंशतिरेव गुणाः। [4]शौर्यौदार्यकारुण्यदाक्षिण्यौन्नत्यादीनां च गुणानामेष्वेव प्रयत्नबुद्ध्यादिषु गुणेष्वन्तर्भावान्नाधिक्यम्।

§ ४९०. स्पर्शादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसंबन्धो द्रव्याश्रितत्वं निष्क्रियत्वमगुणत्वं च। तथा स्पर्शरसगन्धरूपपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगा मूर्तगुणाः। बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नभावनाद्वेषशब्दा अमूर्तगुणाः। [5]संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणा इत्यादि गुणविषयं विशेषस्वरूपं स्वयं [6]समवसेयम् ॥६३॥

§ ४९१. अथ कर्मण्याक्षिप्यासुराह—

[7]उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम्।
पञ्चविधं कर्म[8] तत्परापरे द्वे तु सामान्ये ॥६४॥

---

§ ४८८. पृथिवी जल अग्नि वायु और मन रूप मूर्त द्रव्योंमें प्रयत्न पूर्वक अभिघात—टक्कर लगानेसे क्रिया होती है और क्रियासे वेग उत्पन्न होता है। इसी वेगके कारण फेंके गये पत्थर आदि निश्चित दिशामें ही जाते हैं इधर-उधर नहीं। यह वेग पदार्थोंकी नियत दिशामें ही गति कराता है। किसी स्पर्शवाले पृथिवी आदि मूर्त पदार्थोंसे टकरानेके कारण वेग रुककर नष्ट हो जाता है। शरीर आदिकी चेष्टासे उत्पन्न होनेवाली क्रियासे बाणमें क्रिया और वेग उत्पन्न होता है। इस वेगके कारण बाण बीचमें नहीं गिरकर सीधा लक्ष्य तक पहुँच जाता है। धनुषको खींचकर जब बाण छोड़ा जाता है तब वह वेगके कारण लक्ष्य तक जा पहुँचता है। इस तरह बाण आदिकी नियत दिशामें क्रिया होना ही वेगकी सत्ता सिद्ध कर देता है। पत्थर आदिकी चोटसे वृक्षोंकी डालियोंमें क्रिया होकर वेग उत्पन्न होता है।

§ ४८९. कोई आचार्य संस्कारके ही वेग, भावना और स्थितिस्थापक ये तीन भेद करते हैं, वेगको स्वतन्त्र गुण नहीं मानते। इनके मतसे चौबीस ही गुण हैं। शूरता उदारता करुणा कुशलता उन्नति आदिका इन्हीं प्रयत्न बुद्धि आदि गुणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः चौबीससे अधिक गुण नहीं हैं।

§ ४९०. स्पर्श आदि सभी गुणोंमें गुणत्वका समवाय है, ये सभी द्रव्याश्रित हैं, निष्क्रिय तथा निर्गुण हैं। स्पर्श रस गन्ध रूप परत्वापरत्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह और वेग ये मूर्त द्रव्योंके गुण हैं। बुद्धि सुख दुःख इच्छा धर्म अधर्म प्रयत्न भावना द्वेष और शब्द अमूर्त द्रव्योंके गुण हैं। संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग और विभाग ये मूर्त और अमूर्त दोनों ही द्रव्योंके खण्ड हैं। इस तरह गुणोंका विशेष स्वरूप स्वयं समझ लेना चाहिए ॥६३॥

§ ४९१. अब कर्मपदार्थका व्याख्यान करते हैं—

उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुञ्चन प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म हैं। परसामान्य और अपरसामान्यके भेदसे दो प्रकारके सामान्य हैं ॥६४॥

---

१. "वेगो मूर्तिमत्सु पञ्चसु····" —प्रश० भा० पृ० १३६। २. मनोमूर्ति – म० २। ३. प्रशस्तपाद-भाष्यकाराः।—प्रश० भा० पृ० १३६। ४. कारुण्यौन्नत्यादि – म० २। ५. परिणाम – म० २। ६. द्रष्टव्यम्—प्रश० भा० पृ० ३८–४३। ७. "उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि।"—वैशे० सू० १।१।७। ८. "सामान्यं द्विविधम् परमपरञ्च।"—प्रश० भा० पृ० १६०।

§ ४९२. व्याख्या—उत्क्षेपः—ऊर्ध्वं क्षेपणं मुशलादेरूर्ध्वं नयनमुत्क्षेपणं [1]कर्मेत्यर्थः। तद्विपरीतोऽवक्षेपोऽधोनयनमित्यर्थः। ऋजुनोऽङ्गुल्यादिद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं कर्माकुञ्चनम्। स्वार्थे कप्रत्यय आकुञ्चनकम्। येन वक्रोऽवयव्यृजुः संपद्यते तत्कर्म प्रसारणम्। यदनियतविशेषैः संयोगविभागकारणं तद्गमनम्। अनियतग्रहणेन [2]भ्रमणपतनस्यन्दनरेचनादीनामपि गमन एवान्तर्भावो विभावनीयः। पञ्चविधमेव कर्म क्रियारूपमेतदनन्तरोक्तम्।

§ ४९३. अथ सामान्यमुच्यते। तुशब्दस्य व्यस्तसंबन्धात्सामान्ये तु द्वे परापरे—परमपरं च द्विविधं सामान्यमित्यर्थः ॥६४॥

§ ४९४. अथ परापरे व्याख्याति—

तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥६५॥

§ ४९५. व्याख्या—तत्र—तयोः परापरयोर्मध्ये परं—सामान्यं सत्ताख्यम्[3]। इदं सदिदं सदित्यनुगताकारज्ञानकारणं सत्तासामान्यमित्यर्थः। तच्च त्रिषु द्रव्यगुणकर्मसु पदार्थेषु सत्सदित्यनु-[4]वृत्तिप्रत्ययस्यैव कारणत्वात्सामान्यमेवोच्यते, न तु विशेषः। अथापरमुच्यते 'द्रव्यत्वादि' द्रव्यत्वं

---

§ ४९२. उत्क्षेप—ऊपरकी ओर फेंकना। मूसल आदिको ऊपरकी ओर ले जानेवाली क्रिया उत्क्षेपण है। उत्क्षेपणसे उल्टी अर्थात् नीचे पटकनेवाली क्रिया अवक्षेप—अवक्षेपण है। सीधी अँगुली आदिको टेढ़ा करनेवाली क्रिया आकुंचन—सिकोड़ना है। स्वार्थमें 'क' प्रत्यय होनेसे आकुंचनको ही आकुंचनक कहते हैं। जिस क्रियासे टेढ़ी चीज—सिकुड़ी हुई वस्तु फिर सीधी हो जाय उसे प्रसारण—फैलाना कहते हैं। अनियत—जिस किसी भी दिशामें टेढ़े-मेढ़े तिरछे आदि रूपसे होनेवाली सभी क्रियाएँ गमन हैं। उत्क्षेपणमें ऊपरके आकाश प्रदेशों से संयोग तथा नीचेके आकाश प्रदेशों-से विभाग होता है। अवक्षेपणमें ऊपरी प्रदेशोंसे विभाग तथा नीचेके प्रदेशोंसे संयोग होता है। आकुंचनमें वस्तुके मूल प्रारम्भके अपने ही प्रदेशोंसे संयोग होकर अन्य आकाश प्रदेशोंसे विभाग होता है। प्रसारणमें मूल प्रदेशोंसे विभाग हो कर अन्य अग्रभागके आकाश प्रदेशोंसे संयोग होता है। गमनमें अनियत दिशावादी सभी तरफके आकाश प्रदेशोंसे संयोग विभाग होते हैं। गमनके लक्षणमें 'अनियत' शब्द होनेसे भ्रमण, पतन, स्यन्दन, चूंना, रेचन—झरना आदि विविध क्रियाओंका गमनमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। यह पाँच प्रकारका कर्म क्रिया रूप है।

§ ४९३. 'तु' शब्दका सम्बन्ध 'सामान्य' शब्दसे करना चाहिए। अर्थात्—सामान्य तो पर और अपरके भेदसे दो प्रकारका है ॥६४॥

§ ४९४. अब पर और अपर सामान्यका निरूपण करते हैं—

उनमें सत्ता तो परसामान्य है तथा द्रव्यत्व गुणत्व आदि अपर परमार्थ दृष्टिसे नित्य द्रव्यमें रहनेवाले अन्त्य विशेष हैं ॥६५॥

§ ४९५. पर और अपर सामान्यमें सत्ता परसामान्यरूप है। सत्ता 'यह सत् है यह सत् है' इस सद्रूपसे अनुगतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है। द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें 'सत् सत्' इस सदाकार अनुगतका ही कारण होनेसे सत्ता केवल सामान्यरूप ही है न कि विशेषरूप भी। द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व आदि अपरसामान्य हैं। द्रव्यत्व पृथिवी आदि नौ ही द्रव्योंमें

१.—प्रश० भा० पृ० १४८। २. -स्यन्दन भ० २। ३. "तत्र सत्तासामान्ये परमनुवृत्तिप्रत्यय-कारणमेव।" —प्रश० भा० पृ० १६५। ४. वृत्तिप्रयोगस्यैव भ० १, भ० २, प० १, प० २।

गुणत्वं कर्मत्वं चापरं [1]सामान्यम्, तत्र नवसु द्रव्येषु द्रव्यं द्रव्यमिति बुद्धिहेतुर्द्रव्यत्वम् । एवं गुणेषु गुणत्वबुद्धिविषायि गुणत्वं, कर्मसु च कर्मत्वबुद्धिकारणं कर्मत्वम् । तच्च द्रव्यत्वादिकं स्वाश्रयेषु द्रव्यादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात्सामान्यमप्युच्यते, स्वाश्रयस्य च विजातीयेभ्यो गुणादिभ्यो व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुतया विशेषोऽप्युच्यते । ततोऽपरं सामान्यमुभयरूपत्वात्सामान्यविशेषसंज्ञां लभते । अपेक्षाभेदादेकस्यापि सामान्यविशेषभावो न विरुध्यते । एवं पृथिवीत्वस्पर्शत्वोत्क्षेपणत्वगोत्वघटत्वादीनामप्यनुवृत्तिव्यावृत्ति[2]हेतुत्वात्सामान्यविशेषभावः सिद्ध इति । अत्र सत्तायोगात्सत्त्वं यद्विष्यते तद्द्रव्यगुणकर्मस्वेव न पुनराकाशादिषु, आकाशकालदिक्षु हि वस्तुत्वरूपमेवास्तित्वं[3] स्वीक्रियते व्यक्त्येकत्वादिकारणैः । तथा चोदयनः—

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥१॥" [प्रश० किरणा० पृ० ३३]

§ ४९६. अस्य व्याख्या—व्यक्तेरभेद "एकमनेकवृत्ति सामान्यम् । आकाशे व्यक्तेरभेदान्न जातित्वम् । पृथिवीत्वे जातौ यदि भूमित्वमुच्यते, तदा तुल्यत्वम्" । परमाणुषु जातित्वेऽङ्गीकृते[4] पार्थिवाप्यतैजसवायवीयत्वयोगात्सङ्करः । सामान्ये यदि सामान्यमङ्गीक्रियते, तदा मूलक्षि(क्ष)ति-

---

'द्रव्य द्रव्य' इस अनुगत बुद्धिमें कारण होता है । गुणत्वसे स्पर्श आदि गुणोंमें 'गुण गुण' यह अनुगताकार बुद्धि होती है । कर्मत्व उत्क्षेपणादि कर्मोंमें 'कर्म कर्म' इस अनुगत बुद्धिमें कारण होता है । द्रव्यत्व आदि अपने आधारभूत द्रव्य आदिमें अनुगत प्रत्यय करानेके कारण सामान्य रूप होकर भी उनको विजातीय गुण आदिसे व्यावृत्ति भी कराते हैं अतः ये विशेष भी कहलाते हैं । अपरसामान्य सामान्य और विशेष दोनों रूप होनेके कारण 'सामान्यविशेष' भी कहलाता है । भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे एक ही सामान्यमें सामान्यरूपता तथा विशेषरूपता दोनों ही धर्म निर्विरोध सिद्ध हो जाते हैं । इसी तरह पृथिवीत्व स्पर्शत्व उत्क्षेपणत्व गोत्व घटत्व आदि भी स्वव्यक्तियोंमें अनुगतप्रत्यय तथा विजातीय व्यक्तियोंसे व्यावृत्त प्रत्यय करानेके कारण अपरसामान्य या सामान्यविशेष हैं । द्रव्य गुण और कर्म तीन ही पदार्थ सत्ताके समवायसे सत् माने जाते हैं । आकाश आदिमें जाति नहीं मानते, आकाश काल और दिशामें स्वरूपात्मक अस्तित्व रहता है क्योंकि आकाश आदि एक एक ही व्यक्तियाँ हैं । उदयनाचार्यने निम्नलिखित कारण जातिके बाधक बताये हैं—"व्यक्तिका एक—अकेला होना, तुल्यत्व, संकर, अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध ये जातिके बाधक कारण हैं ।"

§ ४९६. **व्याख्या**—व्यक्तिका अकेलापन जातिमें बाधक है; क्योंकि सामान्य तो अनेक व्यक्तियोंमें रहता है । आकाश काल आदि एक एक हैं अतः इनमें आकाशत्व कालत्व आदि जातियाँ नहीं रहतीं । पृथिवीमें पृथिवीत्व और भूमित्व नामकी समानार्थक दो जातियाँ नहीं रहतीं; क्योंकि—दोनोंकी व्यक्तियाँ तुल्य हैं तथा वे दोनों समानार्थक हैं । अतः पृथिवीत्वसे तुल्यता होनेके कारण भूमित्व अतिरिक्त जाति नहीं है । एक दूसरेके अत्यन्ताभावमें पायी जानेवाली जातियोंका एक स्थानपर समावेश होना संकर है जैसे घटमें परमाणुत्वका अत्यन्ताभाव है, इसमें पृथिवीत्व जाति पायी जाती है । जलपरमाणुओंमें पृथिवीत्वका अत्यन्ताभाव है इसमें परमाणुत्व पाया जाता है । परन्तु पार्थिव परमाणुओंमें परमाणुत्व और पृथिवीत्व दोनोंका समावेश है अतः संकर दोष

---

१. "अपरं द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात्स.मान्यं विशेषश्च भवति । प्रश० भा० पृ० १९५ । २. वृत्तिहेतु – भ० १, भ० २, प० १, प० २, क० । ३. -त्वमङ्गीक्रियते भ० २ । ४. -कवृत्ति सा – भ० २ । ५. 'तुल्यत्वम् तुल्यत्वात् न जातित्वम् इत्यधिकम् क्वचित् आ० टि० । ६. -ङ्गीक्रियमाणे वा – भ० २ ।

कारिणी अनवस्थितिः । विशेषेषु यदि सामान्यं स्वीक्रियते, तदा विशेषस्य रूपहानिः । यदि समवाये जातित्वमङ्गीक्रियते, तदा संबन्धाभावः । केन हि संबन्धेन तत्र सत्ता संबध्यते । समवायान्तराभावादिति ।

§ ४९७. परे पुनः प्राहुः—सामान्यं त्रिविधं, महासामान्यं सत्तासामान्यं सामान्यविशेषसामान्यं च । तत्र महासामान्यं षट्स्वपि पदार्थेषु पदार्थपदबुद्धिहेतुः । सत्तालक्षणसत्यं त्रिपदार्थसद्बुद्धिविधायि । [1]सामान्यविशेषसामान्यं तु द्रव्यत्वादि । अन्ये त्वाचक्षते त्रिपदार्थसत्कारी सत्ता, सामान्यं द्रव्यत्वादि, सामान्य-विशेषः पृथिवीत्वादिरिति । लक्षणभेदादेतेषां सत्तादीनां द्रव्यगुणकर्मभ्यः[2] पदार्थान्तरत्वं सिद्धम् ।

§ ४९८. 'अथ' इत्यानन्तर्ये । विशेषस्तु निश्चयतः—तत्त्ववृत्तित एव विनिर्दिष्टः, न पुनर्घटपटकटादिरिव व्यवहारतो विशेषः । तुशब्दोऽनन्तरोक्तसामान्यादस्यात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वेन भृशं वैलक्षण्यं सूचयति । यत एव निश्चयतो विशेषः[3], तत एव 'नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यः' इति । तत्र नित्य-

होनेसे परमाणुत्व जाति नहीं मानी जाती । परमाणुत्वको जाति माननेसे उसका पृथिवीत्व जलत्व अग्नित्व और वायुत्व इन सभीसे सांकर्य होता है, अतः परमाणुत्व एक धर्मविशेष है न कि जाति । जातिमें जाति माननेसे अनवस्था दूषण आता है । यह अनवस्था मूलतः सामान्यपदार्थका ही लोप कर देगी । विशेष पदार्थमें यदि जाति मानी जाय; तो विशेष पदार्थका 'स्वतः व्यावर्तक होना' यह स्वरूप ही नष्ट हो जायगा । क्योंकि जिन पदार्थों में जाति रहती है वे जातिके द्वारा ही अन्य पदार्थों से व्यावृत्त होते हैं, स्वतः नहीं । यदि विशेषमें भी जाति मानी जायगी तो यह भी स्वतः व्यावृत्त नहीं हो सकेगा किन्तु जातिके द्वारा व्यावृत्त होगा । अतः 'स्वतः व्यावर्तकत्व' रूप स्वरूपकी हानि होनेसे विशेषपदार्थमें जाति नहीं मानी जाती । समवायमें जाति माननेमें सम्बन्धाभाव नामक दूषण आता है । सत्ता अन्य पदार्थों में समवाय सम्बन्धसे रहती है । समवाय तो एक ही है, तब सत्ता किस सम्बन्धसे समवायमें रहेगी ? इस तरह द्रव्यादि तीन पदार्थों में ही सत्ता समवाय सम्बन्धसे रहती है । बाकी सामान्य आदि पदार्थ स्वरूपसत् हैं ।

§ ४९७. कोई आचार्य तीन प्रकारका सामान्य मानते हैं—१ महासामान्य, २ सत्तासामान्य, ३ सामान्यविशेषसामान्य । महासामान्य छहों पदार्थोंमें रहता है तथा उनमें 'पदार्थ पदार्थ' इस पदार्थत्व बुद्धिको उत्पन्न करता है । सत्तासामान्य 'द्रव्य गुण और कर्म' इन तीन पदार्थोंमें सत् सत्' बुद्धि उत्पन्न करता है । द्रव्यत्व आदि अपरसामान्य सामान्यविशेष हैं ये प्रतिनियत द्रव्य आदिमें 'द्रव्य द्रव्य' आदि अनुगत बुद्धि करते हैं । किन्हीं आचार्योंका मत है कि—सत्ता 'द्रव्य गुण कर्म' इन तीन पदार्थोंमें 'सत् सत्' बुद्धि करती है अतः यह सत्तारूप महासामान्य है । द्रव्यत्व आदि सामान्य रूप हैं तथा पृथिवीत्व आदि सामान्यविशेष रूप हैं । द्रव्य गुण और कर्मसे सत्ता आदिके लक्षण भिन्न हैं अतः ये द्रव्य आदिसे भिन्न हैं, स्वतन्त्र पदार्थ हैं ।

§ ४९८. 'अथ' —'इसके बाद' । विशेष पदार्थ निश्चयतः—तात्त्विक दृष्टिसे ही कहा गया न कि घट, पट, चटाई आदिकी तरह व्यावहारिक दृष्टिसे । 'तु' शब्दसे सूचित होता है कि यह विशेष पदार्थ अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि करानेके कारण सामान्य पदार्थसे अत्यन्त विलक्षण है । जिस कारणसे विशेषका निरूपण तात्त्विक दृष्टिसे किया जा रहा है उसी कारणसे वह नित्य द्रव्यमें रहने वाला तथा अन्त्य है । जिनका न तो कभी उत्पाद ही होता है और न विनाश ही, उन सदा उत्पाद विनाश रहित परमाणु आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मनमें इस विशेष पदार्थकी वृत्ति—निवास

---

१. सामान्यं तु म० २ । २. –भ्यः अपदार्था म० १ म० २ । ३. 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः । ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषा एव ।" —प्रश० भा० पृ० ४ ।

द्रव्येषु विनाशारम्भरहितेष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु वृत्तिर्वर्तनं यस्य स नित्यद्रव्यवृत्तिः । तथा परमाणूनां जगद्विनाशारम्भकोटिभूतत्वात् मुक्तात्मनां मुक्तमनसां च संसारपर्यन्तरूपत्वादन्तत्वम्, अन्तेषु भवोऽन्त्यो विशेषो विनिर्दिष्टः—प्रोक्तः, अन्तेषु स्थितस्य विशेषस्य स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात् । वृत्तिस्तु तस्य सर्वस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्ये द्रव्ये विद्यत एव । अत एव नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्य इत्युभयपदोपादानम् । विशेषश्च द्रव्यं द्रव्यं प्रत्येकैक एव वर्तते नानेकः, एकेनैव विशेषेण स्वाश्रयस्य व्यावृत्तिसिद्धेरनेकविशेषकल्पनावैयर्थ्यात् । सर्वनित्यद्रव्याण्याश्रित्य पुनर्विशेषाणां बहुत्वेऽपि जातावेकवचनम् । तथा च प्रशस्तकरः—

§ ४९९. "अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयस्य [1]विशेषकत्वात् विशेषाः, विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु प्रतिद्रव्यमेकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः, यथास्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावय[2]वसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा, यथा गौः शुक्लः, शीघ्रगतिः [3]पीनककुद्मान्, [4]महाघण्ट इति । तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु [5]परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु चान्यनिमित्तासंभवाद्येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्ष-

---

है । अन्त—आखिरी चीजोंमे रहनेवाला अन्त्य कहलाता है । संसारका प्रलय होनेपर तथा संसारकी शुरूआतमें परमाणु ही परमाणु पाये जाते हैं अतः इनको 'अन्त' कहते हैं । इसी तरह मुक्त जीवोंकी आत्माएँ तथा मुक्त जीवोंके मन भी संसारका अन्त कर चुके हैं अतः ये भी 'अन्त' कहे जाते हैं । इन सभी अन्त—आखिरी चीजों में विशेष पदार्थ व्यावृत्त बुद्धि कराता है, इनमें उसका रहना है अतः यह 'अन्त्य' कहा जाता है । इन अन्त—आखिरी अवस्थामें मिलनेवाले परमाणु आदिमें विशेष पदार्थका कार्य साफ-साफ मालूम होता है; क्योंकि ये सभी परमाणु आदि तुल्यगुण, तुल्य क्रिया तथा तुल्य आकृति आदि वाले हैं, अतः इनमें अन्य निमित्तोंसे व्यावृत्त बुद्धि तो हो ही नहीं सकती । इसलिए इनमें विशेषपदार्थ ही व्यावृत्त बुद्धि कराता है और योगियोंको वह इनमें साफ साफ दिखाई देता है । यह विशेष पदार्थ सभी परमाणु आदि नित्य द्रव्योंमें रहता है पर 'अन्त'—आखिरी पदार्थोंमें इसका स्फुटतर प्रतिभास होता है अतः 'नित्यद्रव्यवृत्ति और अन्त्य' दोनों विशेषण दिये गये हैं । प्रत्येक नित्य द्रव्यमें एक-एक ही विशेष पदार्थ रहता है अनेक नहीं । जब इस एक ही विशेषसे उस नित्य द्रव्यको अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति हो जाती है तब उसमें अनेक विशेष मानना निरर्थक ही है । इस तरह सभी नित्य द्रव्योंमें एक-एक के हिसाबसे कुल विशेष अनन्त हैं फिर साधारण रूपसे कथन करनेके लिए 'विशेष' इस एकवचनका प्रयोग संग्रहकी अपेक्षा किया है ।

§ ४९९. प्रशस्तपाद भाष्यकारने कहा है कि—"विशेष अन्त—आखिरी वस्तुओंमें रहनेके कारण अन्त्य हैं । अपने आश्रयभूत पदार्थकी अन्यसे व्यावृत्ति कराते हैं इसलिए विशेष—भेदक हैं । ये उत्पाद और विनाशसे रहित परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नित्यद्रव्योंमें प्रत्येकमें एक-एक करके रहते हैं और अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि करानेमें कारण होते हैं । जिस तरह हम लोगोंको गो आदिमें अश्व आदिसे जाति, आकृति, गुण, क्रिया, विशिष्ट अवयव, गलेमें घण्टी आदिके संयोग आदिसे विलक्षण बुद्धि होती है कि 'यह गौ है, सफेद है, जल्दी चलती है, इसके बड़ी काँधोर है, इसके गलेमें घण्टा बँधा है' उसी तरह हम लोगोंसे विशिष्ट ज्ञानवाले योगियोंको समानआकृति, समानगुण तथा समानक्रिया वाले नित्य परमाणुओंमें मुक्तात्माओं तथा मुक्तजीवोंके मनोंमें अन्य जाति आदि व्यावर्तक निमित्तोंका अभाव होनेसे जिनके कारण प्रत्येक परमाणु

---

१. -त्वात् भ० २ । २. -वविसंयोगिनि- भ० २ । यवसंयोगिनि- भ० १, प० १, प० २ । ३. पीनः ककु- भ० १, भ० २, प० १, प० २ । ४. महाघण्डः भ० २ । ५. -णु मु- भ० २ ।

णोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः।" [प्रश० भा० पृ० १६८] इति।

§ ५००. अन्ये तु 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः' इति सूत्रमेवं व्याचक्षते। नित्यद्रव्येष्वेव वृत्तिरेव येषामिति सावधारणं वाक्यमेतत्। नित्यद्रव्यवृत्तय इति पदमन्त्यपदस्य विवरणमेतत्, तथा चोक्तम्[2]—"नित्यद्रव्याण्युत्पत्तिविनाशयोरन्ते व्यवस्थितत्वादन्तशब्दवाच्यानि तेषु भवास्तद्वृत्तयो विशेषा अन्त्याः [ ] इत्याख्यायन्ते[3] इति। अमी पदार्थाः द्रव्यादिभ्यो वैलक्षण्यात्पदार्थान्तरम् ॥६५॥

§ ५०१. अथ समवायं स्वरूपतो निरूपयति—

य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्।
संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः स हि भवति समवायः[4] ॥६६॥

§ ५०२. व्याख्या—केचिद्धातुपारायणकृतो 'यु अमिश्रणे' इति पठन्ति, तत एवायुतसिद्धानामित्यादि वैशेषिकीयसूत्रे अयुतसिद्धानामपृथक्सिद्धानामिति व्याख्यातम्। तथा लोकेऽपि भेदाभिधायी युतशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते, द्वावपि भ्रातरावेतौ युतौ जातावित्यादि। ततोऽयमत्रार्थः। 'इह' वैशेषिकदर्शने 'अयुतसिद्धानाम्' अपृथक्सिद्धानां, तन्तुषु समवेतपटवत् पृथगाश्रयानाश्रिता-

आदिमें 'यह विलक्षण है यह विलक्षण है' यह विलक्षण बुद्धि होती है उन्हें अन्त्य विशेष कहते हैं। इसी विशेष पदार्थके कारण पहले देखे गये परमाणुमें देशान्तर तथा कालान्तरमें 'यह वही परमाणु है' यह प्रत्यभिज्ञान भी निर्बाध रूपसे होता है।

§ ५००. कोई व्याख्याकार "नित्यद्रव्यमें रहनेवाले अन्त्य विशेष हैं; इस सूत्रमें 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' को अन्त्यपदका विवरण मानकर ऐसा व्याख्यान करते हैं—" नित्यद्रव्यमें ही इन विशेषोंकी वृत्ति ही है, इस तरह 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' पद उभयतः अवधारणात्मक—निश्चयात्मक है। 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' पद अन्त्यपदका विवरण—खुलासा अर्थ बताता है। कहा भी है—नित्यद्रव्य उत्पाद और विनाशसे परे हैं अतः इन्हें 'अन्त' कहते हैं। 'अन्त'में रहनेवाले अर्थात् नित्यद्रव्यमें रहनेवाले विशेष पदार्थ 'अन्त्य' भी कहे जाते हैं।" ये विशेष पदार्थ अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि करानेके कारण द्रव्यादिपदार्थोंसे विलक्षण हैं, स्वतन्त्र पदार्थ हैं ॥६५॥

§ ५०१. अब समवायके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

अयुतसिद्ध और आधाराधेयभूत पदार्थोंके 'यह इसमें है' इस इहेदं प्रत्ययमें कारणभूत सम्बन्ध समवाय कहलाता है ॥६६॥

§ ५०२. कोई धातुपाठी 'यु' धातुका अमिश्रण अर्थमें भी पाठ करते हैं। इसीलिए वैशेषिक सूत्रके 'अयुतसिद्धानाम्' पदका व्याख्याकारोंने 'अपृथक् सिद्ध' अर्थ किया है। लोक व्यवहारमें भी युतशब्दका फलित अर्थ भेद ही होता है। जैसे 'ये दोनों भाई युत—इकट्ठे उत्पन्न हुए हैं' इसका अर्थ यही है कि दोनोंकी सत्ता पृथक्-पृथक् है दोनों भिन्न-भिन्न हैं। युत—संयुक्त तो दो भिन्न सत्तावाले ही पदार्थ हो सकते हैं एकमें तो संयुक्त या युत व्यवहार नहीं देखा जाता। इसलिए श्लोकका

---

१. -णोऽयमिति म० २, क०। २. "उत्पादविनाशयोरन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्या नित्यद्रव्याणि तेषु भवन्तीत्यन्त्या विशेषा इति वृत्तिकृतः।"—वैशे० उप० १।२।६। ३. -न्ते नित्यं द्रव्यवृत्तय इति हेतवो म० २। ४. "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः। एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः।" —प्रश० भा० पृ० ५।

नामिति यावत् आधाराश्चाधेयाश्च आधाराधेया ते भवन्ति स्म । 'आधाराधेयभूताः' ते च ते भावाश्चार्थाः तेषां यः 'संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः' इह तन्तुषु पटः इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं 'स हि' स एव 'भवति समवायः' संबन्धः । यतो हीह तन्तुषु पटः, इह पटद्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वं, इह गुणे गुणत्वं, इह कर्मणि कर्मत्वं, इह द्रव्येष्वन्त्या विशेषा इत्यादि विशेषप्रत्यय उत्पद्यते, स पञ्चभ्यः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरं समवाय इत्यर्थः । स चैको विभुर्नित्यश्च विज्ञेयः ॥६६॥

§ ५०३. तदेवं षट्पदार्थस्वरूपं प्ररूपितम् । संप्रति प्रमाणस्य सामान्यतो लक्षणमाख्यायते । अर्थोपलब्धिहेतुः [1]प्रमाणमिति । अस्यायमर्थः—अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका [2]सामग्री तदेकदेशो वा[3] बोधरूपोऽबोधरूपो वा ज्ञानप्रदीपादिः साधकतमत्वात्प्रमाणम् । एतत्कार्यभूता[4] वा यथोक्तविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिः प्रमाणस्य सामान्यलक्षणं, तया स्वकारणस्य प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यमानत्वात् । इन्द्रियजत्वलिङ्गजत्वादिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिः प्रमाणस्य विशेषलक्षणमिति ।

यह अर्थ हुआ कि—वैशेषिक दर्शनमें अयुतसिद्ध—अपृथक्सिद्ध—जिन पदार्थोंकी भिन्न-भिन्न स्थिति नहीं है, जो तन्तु और पटकी तरह अभिन्न आश्रयमें ही रहते हैं भिन्न-भिन्न आधारोंमें नहीं रहते उन आधार-आधेयभूत पदार्थोंमें 'इन तन्तुओंमें कपड़ा है' इत्यादि प्रत्ययका जो सम्बन्ध असाधारण कारण होता है उसे समवाय कहते हैं । इस समवायसे ही 'इन तन्तुओंमें कपड़ा है, इस पटमें गुण और क्रिया है, इन द्रव्य-गुण-कर्ममें सत्ता है, इस द्रव्यमें द्रव्यत्व है, इस गुणमें गुणत्व है, इस कर्ममें कर्मत्व है, इन नित्य द्रव्योंमें विशेष हैं' इत्यादि इहेदं प्रत्यय उत्पन्न होते हैं । अतः अवयव-अवयविभूत द्रव्योंमें गुण और गुणीमें, क्रिया और क्रियावान्में, सामान्य और सामान्यवान्में, विशेष और विशेषवान् पदार्थोंमें रहनेवाला नित्य सम्बन्ध द्रव्यादि पाँच पदार्थोंसे पृथक् है । यह एक, नित्य तथा व्यापक है ॥६६॥

§ ५०३. इस तरह षट् पदार्थोंके स्वरूपका निरूपण करके अब प्रमाणका सामान्य लक्षण कहते हैं । अर्थोपलब्धिमें जो पदार्थ कारण होते हैं वे सभी प्रमाण हैं। अव्यभिचारी आदि विशेषणोंसे युक्त अर्थोपलब्धिको उत्पन्न करनेवाली ज्ञानरूप या अज्ञानरूप पूरी सामग्री या सामग्रीका एकदेश साधकतम होनेसे प्रमाण है । इस सामग्रीमें बोधरूप ज्ञान आदि तथा अचेतन दीपक आदि सभी शामिल हैं । पूरी सामग्री तथा उसका एक एक भी हिस्सा अर्थोपलब्धिमें साधकतम होनेसे प्रमाणभूत है । अथवा इस सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाली निर्दोष अर्थोपलब्धि ही प्रमाणका सामान्यलक्षण है । यह निर्दोष अर्थोपलब्धि अपनी कारणभूत सामग्रीको प्रमाणाभाससे व्यावृत्त कराती है । यही अर्थोपलब्धि जब इन्द्रियोंसे उत्पन्न होती है तब प्रत्यक्ष कही जाती है तथा जब यह लिंगसे उत्पन्न होती है तब अनुमान कही जाती है । तात्पर्य यह कि सामान्य अर्थोपलब्धि ही इन्द्रियजत्व और लिंगजत्व विशेषणसे विशिष्ट होकर प्रत्यक्ष और अनुमानरूप प्रमाणविशेषका लक्षण हो जाती है ।

---

१. "उपलब्धिहेतुत्व प्रमाणं ।" —न्यायभा० पृ० ९९ । न्यायवा० पृ० ५ । २. "अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् ।" —न्यायमं० प्रमाण० पृ० १२ । ३. वा बोधरूपो वा म० २, क० । ४. –सा यथोक्त – म० २ । ५. –जत्वादिविशेषिता सैं —प० १, प० २ । –जत्वादिविशेषणविशिष्टा सैं – म० १, म० २ ।

§ ५०४. अथ प्रमाणसंख्यां प्राह—

प्रमाणं च द्विधामीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
वैशेषिकमतस्यैष संक्षेपः परिकीर्तितः ॥६७॥

§ ५०५. व्याख्या—अमीषां-वैशेषिकाणां प्रमाणं द्विधा-द्विविधम् । चः पुनरर्थे । कथमित्याह 'प्रत्यक्षं' । तथेति समुच्चये । लिङ्गादागतं लैङ्गिकं च तत्र प्रत्यक्षं द्वेधा, ऐन्द्रियं योगजं च । [1]ऐन्द्रियं-घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनःसंनिकर्षजमस्मदादीनां प्रत्यक्षम् । तद्द्वेधा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च । तत्र वस्तुस्वरूपालोचनमात्रं निर्विकल्पकम् । तच्च[2] न सामान्यमात्रं गृह्णाति भेदस्यापि प्रतिभासनात्, नापि स्वलक्षणमात्रं सामान्याकारस्यापि संवेदनात्, व्यक्त्यन्तरदर्शने प्रतिसंधानाच्च, किं तु सामान्यं विशेषं चोभयमपि गृह्णाति, [3]परमिदं सामान्यमयं विशेष इत्येवं विविच्य न प्रत्येति, सामान्यविशेषसंबन्धिनोरनुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मयोरग्रहणात् । सविकल्पकं तु सामान्यविशेषरूपतां विविच्य प्रत्येति, वस्त्वन्तरैः सममनुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मौ प्रतिपद्यमानस्यात्मन इन्द्रियद्वारेण तथाभूतप्रतीत्युपपत्तेः ।

§ ५०५. अब प्रमाणकी संख्या बताते हैं—

वैशेषिक लोग प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं । इस तरह वैशेषिक मतका संक्षेपसे निरूपण हुआ ॥६७॥

§ ५०५. इन वैशेषिकोंके यहाँ दो प्रकारके प्रमाण हैं । च = फिर । 'तथा' शब्द समुच्चयार्थक है । प्रत्यक्ष तथा लिंगसे उत्पन्न होनेवाला लैंगिक-अनुमान ये दो प्रमाण हैं । प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१ इन्द्रियज २ योगज । हम लोगोंको नाक, जीभ, आँख, कान, मन और स्पर्शन इन्द्रियोंके सन्निकर्षसे होनेवाला इन्द्रिय प्रत्यक्ष है । इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—१ निर्विकल्पक २ सविकल्पक । वस्तुके स्वरूपका साधारणरूपसे आलोचन करनेवाला ज्ञान निर्विकल्पक है । यह केवल सामान्य या मात्र विशेषको ही विषय नहीं करता । इसमें सामान्यकी तरह विशेष आकारका भी भान होता है । दूसरी व्यक्तिको देखकर 'यह उस जैसी है' इत्यर प्रत्यभिज्ञानसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निर्विकल्पकमें स्वलक्षण विशेषकी तरह सामान्य—साधारण धर्मोंका भी प्रतिभास होता है । इस तरह निर्विकल्पकमें सामान्य और विशेष दोनोंका भान होनेपर भी 'यह सामान्य है तथा यह विशेष है'; 'यह इसके समान है तथा इससे विलक्षण है' इस तरह सामान्य और विशेषका पृथक्-पृथक् प्रतिभास नहीं होता । इसमें सामान्य और विशेष सम्बन्धी अनुगत धर्म तथा व्यावृत्तधर्मोंका परिज्ञान नहीं होता । यही कारण है कि निर्विकल्पकमें 'यह घड़ा है' इत्यादि शब्दात्मक व्यवहार नहीं होते । सविकल्पक प्रत्यक्ष सामान्य और विशेषका पूरा-पूरा पृथक्करण करता है । 'यह उससे समान है यह उससे विलक्षण है' इस रूपसे अनुगत और व्यावृत्त धर्मोंको जाननेवाले आत्माको इन्द्रियोंसे सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है ।

---

१. "द्रव्ये तावद् त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूपप्रकाशचतुष्टयसंनिकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपालोचनमात्रम् सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्मनः संनिकर्षात् प्रत्यक्षमुत्पद्यते यद् द्रव्यं पृथिवी विषाणी शुक्लो गौरश्वश्छतीति ।" —प्रश० भा० पृ० ९५ । २. तच्च सा – म० २ । ३. ति (यदि) परमिदं आ०,–ति यदि परमिदं म० १, प० १, प० २, क०,—ति यदपरमिदं म० २ ।

§ ५०६. [1]योगजमपि प्रत्यक्षं द्वेधा, युक्तानां प्रत्यक्षं वियुक्तानां च[2]। तत्र युक्तानां समाधिमैकाग्र्यमाश्रितानां योगजधर्मबलाबन्तःकरणे शरीरादबहिर्निर्गत्यातीन्द्रियार्थैः समं संयुक्ते सति यदतीन्द्रियार्थदर्शनं तद्युक्तानां प्रत्यक्षम्[3]। ये चात्यन्तयोगाभ्यासोचितधर्मातिशयादसमाधि प्राप्या अप्यतीन्द्रियमर्थं पश्यन्ति, ते वियुक्ताः। तेषामात्ममनोऽहन्द्रियार्थसंनिकर्षाद्देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकं यत्प्रत्यक्षं तद्वियुक्तानां प्रत्यक्षम् एतच्चोत्कृष्टयोगिनोऽवसेयं, योगिमात्रस्य तदसंभवादिति। विस्तरस्तु न्यायकन्दलीतो विज्ञेयः।

§ ५०७. लैङ्गिकस्य पुनः स्वरूपमिदम्। लिङ्गदर्शनाद्यदव्यभिचारित्वादिविशेषणं ज्ञानं तद्यतः परामर्शज्ञानोपलक्षितात्कारकसमूहादुद्भवति तल्लैङ्गिकमनुमानमिति यावत्। तच्चैवं भवति। "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्।" [वैशे० सू० ९।२।१] तत्र कार्यं कारणपूर्वकत्वेनोपलभ्यमानं कारणस्य गमकं, यथायं नदीपूरो वृष्टिकार्यो[4]विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धविशिष्टनदीपूरवत्। कारणमपि कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धेरुपलभ्यमानं कार्यस्य लिङ्गं यथा विशिष्टमेघोन्नतिर्वर्षकर्मणः। तथा धूमोऽग्नेः संयोगी। समवायी चोपल-

§ ५०६. योगज प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—एक तो युक्त योगियोंका और दूसरा वियुक्त योगियोंका। समाधिमें अत्यन्त तल्लीन एकाग्रध्यानी योगियोंका चित्त योगसे उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट धर्मके कारण शरीरसे बाहर निकलकर अतीन्द्रिय पदार्थोंसे संयुक्त होता है। इस संयोगसे जो उन युक्त—ध्यान मग्न योगियोंको अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान होता है उसे युक्तयोगि प्रत्यक्ष कहते हैं। जो योगी समाधि—उपयोग लगाये बिना ही चिरकालीन तीव्र योगाभ्यासके कारण सहज ही अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखते जानते हैं वे वियुक्त कहलाते हैं। इन पुराने योगियोंके अपने दीर्घ योगाभ्याससे ऐसी विशिष्ट शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे वे सदा अतीन्द्रियार्थोंका दर्शन करते हैं। उन्हें इसके लिए किसी समाधि आदिके लगानेकी आवश्यकता नहीं होती। इन वियुक्त—समाधिमें लीन न होकर भी विशिष्ट शक्ति रखनेवाले—योगियोंको आत्मा मन इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे दूर देशवर्ती अतीत और अनागतकालीन तथा सूक्ष्म परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह वियुक्त-योगिप्रत्यक्ष है। यह उत्कृष्ट योगियोंके ही होता है, योगिमात्रको इसके होनेका नियम नहीं है। इसका विस्तृत वर्णन न्यायकन्दलीमें देखना चाहिए।

§ ५०७. लिंगको देखकर जो अव्यभिचारी—निर्दोष ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमिति कहते हैं। यह अनुमिति जिस परामर्श-व्याप्ति-विशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञान-आदि कारक समुदायसे उत्पन्न होती है उस अनुमितिके करणको लैंगिक-अनुमान कहते हैं। यह अनुमान कार्य कारण आदि अनेक प्रकारका होता है। 'यह इसका सम्बन्धी है' इस नियत सम्बन्धिसापूर्वक होनेवाले कार्य कारण संयोगी समवायी विरोधी आदि अनेक प्रकारके अनुमान हैं। कार्य सदा कारणपूर्वक देखा जाता है, बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती अतः कार्यको देखकर कारणका अनुमान होता है। जैसे—यह नदीकी बाढ़ वृष्टिके कारण आयी है क्योंकि यह विशिष्ट वृष्टिसे होनेवाली तिनके लकड़ी आदिको बहानेवाली फेनयुक्त बाढ़ है जैसे गत बरसातमें आयी हुई नदीकी बाढ़। कारण भी कार्यको उत्पन्न करता है। कई बार अविकल तथा अप्रतिबद्ध सशक्त कारणको कार्य उत्पन्न करते हुए देखा है। अतः आज भी कारणको देखकर कार्यका अनुमान हो

---

१. अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशादिनकालपरमाण्वादिमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसंनिकर्षयोगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते।" —प्रश० भा० पृ० ९०। २. च समाधि – म० २। ३. ये त्वत्यन्तयोगाभ्यासी धर्मा – म० २, ये त्वत्यन्तयोगाभ्यसंसेवितधर्मा – म० १, ये त्वत्यन्तयोगाभ्यासोचितधर्मा – प० १, प० २। ४. पूरत्वात् कारणमपि म० २।

स्पर्शो वारिस्थं तेजो गमयतीति। विरोधी च 'यथाऽहिर्विस्फूर्जनविशिष्टो नकुलावेलिङ्गं वह्निर्वा शीताभावस्येति। 'अस्येदम्' इति सूत्रे च कार्यादीनामुपादानं लिङ्गनिदर्शनार्थं कृतं न पुनरेतावन्त्येव लिङ्गानीत्यवधारणार्थम्। यतः कार्यादिव्यतिरिक्तान्यपि लिङ्गानि सन्ति, यथा चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य च लिङ्गम्, न च चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धिकुमुदविकाशौ च मिथः कार्यं कारणं वा भवन्ति, विशिष्टदिग्देशकालसंयोगात्कल्लोलपत्रविस्तारलक्षणानामुदकवृद्धिविकाशानां[2] स्वस्वकारणेभ्य एवोत्पत्तेः। शरदि च जलस्य नैर्मल्यमगस्त्योदयस्य[3] लिङ्गमित्यादि तत्सर्वं 'अस्येदम्' इति पदेन गृहीतं विज्ञेयम्। अस्य साध्यस्येदं संबन्धीति कृत्वा यद्यस्य[4] देशकालाद्यविनाभूतं तत्तस्य लिङ्गमित्यर्थः। ततः 'अस्येदम्' इति सूत्रस्य नाव्याप्तकतेति। विशेषार्थिना तु न्यायकन्दली विलोकनीया। शब्दादीनां तु प्रमाणानामनुमान एवान्तर्भावात् कन्दलीकाराभिप्रायेणैतत्प्रमाणद्वितयमत्राधीयवाचार्यः। व्योमशिवस्तु प्रत्यक्षानुमानशाब्दानि त्रीणि प्रमाणानि प्रोचिवान्। उपसंहरन्नाह—'वैशेषिकमतस्य' इत्यादि। वैशेषिकमतस्येयोऽनन्तरोक्तः संक्षेपः परिकीर्तितः—कथितः।

जाता है। वर्षा होगी क्योंकि बरसनेवाले काले-काले विशिष्ट मेघ घिर आये हैं। धूम अग्निका संयोगी है अतः धूमको देखकर अग्निका अनुमान संयोगी अनुमान है। गरमजलके उष्ण स्पर्शसे जलमें प्रविष्ट अग्निका अनुमान समवायी अनुमान है। उष्णस्पर्श अग्निका समवायी है। फुफकारते हुए साँपको देखकर समीपमें नौलेका अनुमान अथवा अग्निसे ठण्डके अभावका अनुमान विरोधी अनुमान है। 'अस्येदम्' इस सूत्रमें कार्य-कारण आदि कुछ हेतुओंका नाम तो उदाहरणके निमित्त ही लिये गये हैं, उससे यह नियम नहीं करना चाहिए कि—कार्य आदि पाँच ही लिंग हैं; क्योंकि कार्य आदि हेतुओंसे भिन्न भी सैकड़ों हेतु होते हैं जो अपने अविनाभावी साध्यका यथार्थ अनुमान कराते हैं। जैसे चन्द्रका उदय समुद्रके ज्वार-भाटे तथा कुमुदके प्रफुल्लित होनेका अनुमान कराता है। यह चन्द्रोदय न तो समुद्रवृद्धि और कुमुद विकासका कार्य ही है और न कारण ही। अमुक दिशा देश काल आदिके संयोगसे चन्द्रका उदय समुद्रकी लहरें तथा कमलके पत्तोंका फैलाव स्वतन्त्रभावसे अपने-अपने कारणोंसे ही उत्पन्न होते हैं। हाँ, इनमें अविनाभाव अवश्य है अतः इसीके बलसे चन्द्रोदयसे उनका अनुमान हो जाता है। इसी तरह शरद् ऋतुमें जलकी निर्मलतासे अगस्त्यके उदयका अनुमान होता है। यह जलकी निर्मलता अमुक वायु आदि कारणोंसे उत्पन्न होकर भी अविनाभाव सम्बन्धके कारण अगस्त्योदयका अनुमान करा देती है। अगस्त्योदय और शरत्कालीन जलकी निर्मलतामें परस्पर कोई कार्य-कारण भाव नहीं है, दोनों ही अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। ये सभी कार्य-कारण आदिसे अतिरिक्त लिंग 'अस्येदम्'—यह इसका सम्बन्धी है' इस सामान्य अविनाभाव सूचक पदसे गृहीत हो जाते हैं। 'इस साध्यका यह सम्बन्धी है' इस रूपसे जो जिसके देश काल आदिसे अविनाभाव रखता है वह उसका लिंग होता है। 'अतः अस्येदम्' सूत्रसे समस्त लिंगोंका संग्रह हो जानेके कारण यह अव्याप्त—अपर्याप्त नहीं है किन्तु सर्वथा पूर्ण है। इनका विशेष विवरण प्रशस्तपाद भाष्यको न्यायकन्दली टीकासे देखना चाहिए। आगम-आदि प्रमाण भी अपने सम्बन्धी पदार्थसे परोक्ष अर्थकी प्रतिपत्ति करानेके कारण अनुमानमें ही अन्तर्भूत हैं। प्रमाणोंकी यह दो संख्या कन्दलीकार श्रीधर आचार्यके मतसे कही गयी है। व्योमवती टीकाकार व्योमशिवाचार्य तो प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंको मानते हैं। इस तरह यह वैशेषिक मतका संक्षिप्त कथन है।

---

१. यथाऽग्रहविर्विस्फू – म० २। २. कवृष्टिविका – म० २। ३. दयलि – म० २। ४. यद्यविनाभूतं म० २।

§ ५०८. अथात्राप्यनुक्तं किंचिदुच्यते । व्योमादिकं नित्यम् । प्रदीपादि कियत्कालावस्थायि । बुद्धिसुखादिकं च क्षणिकम् । चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्माः आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसंबन्धेन संबद्धाः, स च समवायो नित्यः [1]सर्वगत एकश्च । सर्वगत आत्मा । बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नभावनाख्यसंस्कारद्वेषाणां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदो मोक्षः । परस्परविभक्तौ सामान्यविशेषौ द्रव्यपर्यायौ च प्रमाणगोचरः । द्रव्यगुणादिषु षट्सु पदार्थेषु स्वरूपसत्त्वं वस्तुत्वनिबन्धनं विद्यते । द्रव्यगुणकर्मसु च सत्तासंबन्धो वर्त्तते सामान्यविशेषसमवायेषु च स नास्तीति ॥६७॥

§ ५०९. [2]षट्पदार्थी कणादकृता तद्भाष्यं प्रशस्तकरकृतं तट्टीका कन्दली श्रीधराचार्योया, किरणावली तूदयनसंबुद्धा, व्योमवतिव्योंमशिवाचार्यविरचिता, लीलावतीतर्कः श्रीवत्साचार्योयः, आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयो वैशेषिकतर्काः ।

[3]इति श्रीतपागणनभोगणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिकृतायां तर्करहस्यदीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां वैशेषिकमतनिर्णयो नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥

---

§५०८. मूल ग्रन्थकारने जिन बातोंका निर्देश नहीं किया है, उनका भी कुछ वर्णन इस प्रकार है—आकाश आदि नित्य हैं। दीपक आदि कुछ काल तक ठहरनेवाले—कालान्तरस्थायी हैं। बुद्धि, सुख आदि क्षणिक हैं। चैतन्य आदि धर्म आत्मासे तथा रूपादि धर्म घट आदिसे अत्यन्त भिन्न होकर भी उनमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं। समवाय नित्य, एक तथा सर्वगत है। आत्मा सर्वव्यापी है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, भावना नामक संस्कार और द्वेष इन आत्माके नौ विशेष गुणोंका अत्यन्त उच्छेद होना मोक्ष है। सामान्य और विशेष-द्रव्य गुण कर्म परस्पर भिन्न हैं। ये ही द्रव्य-सामान्य और पर्याय-विशेष परस्पर विभिन्न रहकर भी प्रमाणके विषय होते हैं। द्रव्य, गुण आदि छहों पदार्थोंमें 'वस्तु' व्यवहार करानेवाला स्वरूप सत्त्व होता है। सत्ताका समवाय मात्र द्रव्य, गुण और कर्ममें ही होता है। सामान्य विशेष और समवायमें सत्ताका समवाय नहीं होता, ये स्वरूप सत् हैं।

§५०९. कणादकृत षट्पदार्थी—वैशेषिकसूत्र, प्रशस्तकरकृत प्रशस्तपादभाष्य, श्रीधराचार्यविरचित प्रशस्तभाष्यकी न्यायकन्दली टीका, उदयनाचार्यरचित किरणावली टीका, व्योमशिवाचार्यकृत व्योमवती टीका, श्रीवत्साचार्यकृत लीलावती तर्क, आत्रेयतन्त्र आदि वैशेषिकोंके प्रमुख तर्कग्रन्थ हैं ॥ ६७ ॥

इति तपागणरूपी आकाशके सूर्य श्रीदेवसुन्दरसूरिके चरणोपासक श्रीगुणरत्नसूरिके द्वारा रची गयी षड्दर्शनसमुच्चयकी इस तर्करहस्यदीपिका नामकी टीकामें वैशेषिकमतनिर्णय नामक पाँचवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ।

---

१. सर्वगतश्च मां० २ । २. सप्तपदार्थी मां० २ । ३ इति तर्करहस्यदीपिकायां गुणरत्नसूरिविरचितायां वैशेषिकमतप्रकटनो नाम पञ्चमः प्रकाशः मां० २ ।

अर्हम्

अथ षष्ठोऽधिकारः

§ ५१०. अथ मीमांसकमतं जैमिनीयापराह्वयं प्रोच्यते। जैमिनीया वेषेण सांख्या इवैक-दण्डास्त्रिदण्डा धातुरक्तवाससो मृगचर्मोपवेशनाः कमण्डलुधरा मुण्डशिरसः संन्यासिप्रभृतयो द्विजाः। तेषां वेद एव गुरुर्न पुनरन्यो वक्ता गुरुः। ते एव स्वयं तव संन्यस्तं संन्यस्तमिति भाषन्ते। यज्ञोपवीतं च प्रक्षाल्य त्रिर्जलं पिबन्ति।

§ ५११. ते द्विधा, एके याज्ञिकादयः पूर्वमीमांसावादिनः, अपरे तूत्तरमीमांसावादिनः। तत्र पूर्वमीमांसावादिनः कुकर्मविवर्जिनो, यजनादिषट्कर्मकारिणो, ब्रह्मसूत्रिणो गृहस्थाश्रमसंस्थिताः शूद्रान्नादिवर्जका भवन्ति। ते च द्वेधा भाट्टाः प्राभाकराश्च षट् पञ्च प्रमाणप्ररूपिणः।

§ ५१२. ये तूत्तरमीमांसावादिनः, ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यन्ते। "सर्वमेतदिदं ब्रह्म" [छान्दो० ३।१४।१] इति भाषन्ते प्रमाणं च यथा तथा वदन्ति। एक एवात्मा सर्वशरीरेषूपलभ्यत इति जल्पन्ति।

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥ [त्रि० म० ना० ५।१२]

---

§५१०. अब मीमांसक—जैमिनीय मतका वर्णन करते हैं। ये सांख्य परिव्राजकोंकी तरह एक-दण्डधारी और त्रिदण्डधारी होते हैं, ये गेरुआ वस्त्र पहनते हैं, मृग चर्म पर बैठते हैं, कमण्डलु रखते हैं तथा सिर मुँड़ाते हैं। इनके संन्यासी आदि द्विज होते हैं। इनका वेद ही गुरु है, वेदके सिवाय अन्य कोई वक्ता सर्वज्ञ आदि गुरु नहीं है। इसलिए ये अपने-आप संन्यासदीक्षा लेते हैं। स्वयं संन्यास लेते समय ये 'तुम्हें संन्यास दीक्षा दी गयी' इस वाक्यका उच्चारण करते हैं। यज्ञोपवीतको धोकर तीन बार जल पीते हैं।

§ ५११. ये पूर्व मीमांसावादी तथा उत्तर मीमांसावादीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। पूर्व-मीमांसावादी यज्ञ आदि क्रियाकाण्डमें मुख्य रूपसे प्रवृत्ति करते हैं, याज्ञिक क्रियाकाण्डी हैं। ये कुकर्मोंसे निवृत्त होकर यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छह ब्राह्मण कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले तथा ब्रह्मसूत्रको धारण करनेवाले होते हैं। ये गृहस्थाश्रममें रहते हैं तथा शूद्रके अन्न, जल आदिका परहेज रखते हैं। मीमांसकोंमें कुमारिल भट्टके शिष्य भाट्ट प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोंको मानते हैं तथा प्रभाकर गुरुके शिष्य प्राभाकर अभाव प्रमाणके सिवाय बाकी पाँच प्रमाणोंको स्वीकार करते हैं।

§५१२. उत्तरमीमांसावादी वेदान्ती मात्र अद्वैत ब्रह्मको मानते हैं। उनका कौमी नारा है 'सर्वमेतदिदं ब्रह्म—यह सब कुछ ब्रह्मरूप है'। अपनी शक्ति-भर इस अद्वैतको युक्तियोंसे सिद्ध करनेका प्रयत्न भी करते हैं। उनका कहना है कि एक ही ब्रह्म सभी प्राणियोंके शरीरमें भासमान होता है। कहा भी है—"एक ही भूतात्मा सिद्ध ब्रह्म प्रत्येक भूत—प्राणी आदिमें रम रहा है। वही

---

१. तत एव भा० १, म० २, प० १, प० २। २. यजिता यज – म० २। ३. कर्मणां का – म० २। ४. "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति....." —छान्दोग्योप० ३।१४।१। त्रि० म० ना० १।२। "ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्....।" —मैत्र्युप० ४।६।३।

इति वचनात् । "पुरुष एवेदं[2] सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" [ऋक्० १०।९०।२] इति वचनाच्च । आत्मन्येव लयं मुक्तिमाचक्षते, न लयपरां कामपि मुक्तिं मन्यन्ते । ते च द्विजा एव भगवन्नामधेयाश्चतुर्धाभिधीयन्ते कुटीचर–बहूदक–हंस–परमहंस–भेदात् । तत्र त्रिदण्डी सशिखो ब्रह्मसूत्री गृहत्यागी यजमानपरिग्रहो सकृत्पुत्रगृहेऽश्नन् कुटयां निवसन् कुटीचर" उच्यते । कुटीचरतुल्यवेषो विप्रगेहनैराश्यभिक्षाशनो विष्णुजापपरो नदीनीरस्नायी बहूदकः कथ्यते । ब्रह्मसूत्रशिखाभ्यां रहितः कषायाम्बरदण्डधारी ग्रामे चैकरात्रं नगरे च त्रिरात्रं निवसन् विधूमेषु विगताग्निषु विप्रगेहेषु भिक्षां भुञ्जानस्तपःशोषितविग्रहो देशेषु भ्रमन् हंसः समुच्यते । हंस एवोत्पन्नज्ञानश्चातुर्वर्ण्यगेहभोजी स्वेच्छया[4] दण्डधार ईशानीं[5] दिशं गच्छन् शक्तिहीनतायामनशनग्राही वेदान्तैकध्यायी परमहंसः

एक रूपसे तथा अनेक रूपसे जलमें चन्द्रमाकी तरह चमचमाता है।" "जो कुछ हो चुका तथा जो होनेवाला है वह सब ब्रह्म ही है" ब्रह्ममें लय हो जाना ही मुक्ति है। इस ब्रह्मलयावस्थाके सिवाय अन्य किसी प्रकारकी मुक्ति वेदान्तियोंको इष्ट नहीं है। ये ब्राह्मण ही होते हैं तथा 'भगवत्' शब्दसे पुकारे जाते हैं। इनके कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार भेद होते हैं। त्रिदण्डधारी, शिखा रखनेवाले, ब्रह्मसूत्रको धारण करनेवाले, यजमानोंके यहाँ भोजन करनेवाले, घरको त्यागकर कुटिया बनाकर रहनेवाले कुटीचर कहे जाते हैं। ये एकाध बार अपने पुत्रके यहाँ भी भोजन कर लेते हैं। बहूदकोंका वेष कुटीचरोंके समान ही होता है। ये ब्राह्मणोंके घर भिक्षावृत्तिसे नीरस भोजन करते हैं, विष्णुको जपते हैं। बहूदक—बहुत जलवाली नदीमें स्नान करनेके कारण बहूदक कहे जाते हैं। हंस साधु ब्रह्मसूत्र तथा शिखा नहीं रखते, ये कषायले वस्त्र पहनते हैं, दण्ड धारण करते हैं, गाँवमें एक रात तथा नगरमें तीन रात निवास करते हैं, धुआँ निकलना बन्द हो जाने पर, आग बुझ जाने पर ब्राह्मणोंके घर भिक्षावृत्तिसे भोजन करते हैं। ये कठिन तपस्याओंसे शरीरको कृश करके देश-विदेश विहार करते रहते हैं। हंस साधुओंको जब तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब वे ही परमहंस कहे जाते हैं। परमहंस साधु ब्राह्मण-शूद्र चारों वर्णोंके यहाँ भिक्षाभोजन करते हैं। ये इच्छानुसार कभी दण्ड ले भी लेते हैं कभी नहीं भी लेते। जब ये अशक्त हो जाते हैं तब ईशान दिशामें जाकर अनशन—उपवास ग्रहण कर लेते हैं। इनके अध्ययनका एकमात्र

१. ब० वि० १। २. एवेदं सर्वं क०। ३. मन्वते म० २। ४. "कुटीचरो ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत्। पात्रं विसृजेत्। शिखिनं विसृजेत्। दण्डोल्लोकांश्च विसृजेदिति होवाच। अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत्। ऊर्ध्वगमनं विसृजेत्। औपवसथानमाचरेत्। त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत्। संधिं समाधावात्मन्याचरेत्। सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति ॥"—आरुणि० २। "कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसः तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति। कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पित्रमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपरः एकत्राशनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः। बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोऽर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधुकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी। परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्राशनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटोधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी। तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी। अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः। अवधूतस्तन्नियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः। आतुरो जीवति चेत् क्रमसंन्यासः कर्तव्यः कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत् कुटीचकादीनां संन्यासविधिः। परमहंसादित्रयाणां च कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः सार्ववर्णिकभैक्षाशनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः।" —ना० प० उ० ५।१। शाट्यायनी० ११। ५. दण्डधार आ०। ६. ऐशानीं म० २।

समाख्यायते। एतेषु चतुर्षु परः परोऽधिकः। एते च चत्वारोऽपि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनैकव्यसनिनः शब्दार्थयोर्निरासामानेकां युक्तीः स्फोरयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वं यथा व्यवस्थापयन्ति तथा खण्डनतर्कादभियुक्तैरवसेयम्। नात्र तन्मतं वक्ष्यते इह तु सामान्येन शास्त्रकारः पूर्वमीमांसावाविमतमेव विभणिषुरेवमाह—

§ ५१३. जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥

§ ५१४. व्याख्या—जैमिनीयास्तु ब्रुवते। सर्वज्ञादीनि विशेषणानि यस्य स सर्वज्ञादिविशेषणः सर्वज्ञः सर्वदर्शी वीतरागः सृष्ट्यादिकर्ता चेत्यादिविशेषणवान् कोऽपि प्रागुक्तदर्शनसंमतदेवानामेकतरोऽपि देवो—दैवतं न विद्यते, यस्य देवस्य वचो—वचनं मानं—प्रमाणं भवेत्। प्रथमं तावदेव एव वक्ता न वर्तते, कुतस्तत्प्रणीतानि वचनानि संभवेयुरिति भावः। तथाहि—पुरुषो न सर्वज्ञः मानुषत्वात् रथ्यापुरुषवत्।

§ ५१५. अथ किंकरायमाणसुरासुरसेव्यमानता त्रैलोक्यसाम्राज्यसूचकछत्रचामरादिविभूत्यन्यथानुपपत्तिरस्ति सर्वज्ञे विशेष इति चेत्; मायाविभिरपि कौतिपूजालिप्सुभिरिन्द्रजालवशेन तत्प्रकटनात्। यदुक्तं त्वद्भूयेनैव समन्तभद्रेण—

विषय है वेदान्त। दिन-रात ब्रह्मके स्वरूपका विचार करते रहते हैं। इन चारोंमें क्रमशः कुटीचरसे बहूदक, बहूदकसे हंस तथा हंससे परमहंस उत्कृष्ट होते हैं। ये चारों ही मात्र ब्रह्माद्वैतकी सिद्धिमें अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। इन्हें ब्रह्माद्वैतके साधनको चिरकालीन आदत हो जाती है। ये ब्रह्मके सिवाय अन्य शब्द या पदार्थोंके निराकरणके लिए अनेकों युक्तियोंका जाल फैलाकर आखिरमें अनिर्वचनीय ब्रह्मकी सिद्धिमें वादकी समाप्ति करते हैं। अनिर्वचनीय तत्त्वकी सिद्धि तथा परपदार्थ खण्डनका युक्तिजाल खण्डनखण्डखाद्य नामक तर्क ग्रन्थ देखना चाहिए। यहाँ उनके मतका कथन नहीं किया जायेगा। यहाँ तो ग्रन्थकार सामान्य रूपसे पूर्वमीमांसक मतके व्याख्यान की इच्छासे उसीका निरूपण करते हैं—

§५१३. जैमिनीय मतानुयायी कहते हैं कि सर्वज्ञत्व आदि गुणोंका धारक कोई देवता ही नहीं है, जिसके वचन प्रमाण माने जा सकें ॥ ६८ ॥

§५१४. जैमिनीय तो कहते हैं कि—सर्वज्ञत्व आदि विशेषणोंवाले कोई सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग या सृष्टिकर्ता आदि विशेषणशाली, जैन आदि दर्शनोंमें बताये हुए एक भी देवकी सत्ता नहीं है जिसके वचनोंको सच्चा प्रमाणभूत माना जाय। जब बोलनेवाला अतीन्द्रियार्थका प्रतिपादन करनेवाला यथार्थवक्ता कोई देव ही नहीं है तब कोई भी आगम सर्वज्ञ प्रणीत कैसे कहा जा सकता है? अतः यह अनुमान स्पष्ट ही किया जा सकता है कि—कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह मनुष्य है जैसे कि गली-गली चक्कर काटनेवाला कोई अवारा मूर्ख आदमी।

§५१५. शंका—भाई, साधारण गलीके घुमक्कड अवारेको हम भी सर्वज्ञ नहीं कहते। हम तो उस महान् व्यक्तिको सर्वज्ञ मानते हैं, जिसकी सुर और असुर सेवा—चाकरी करते हैं तथा जिसके पास त्रिलोकके साम्राज्यका सूचन करनेवाली छत्र, चमर, सिंहासन आदि विभूतियाँ पायी जाती हैं। देव और दानवोंका सेवक होना तथा छत्र, चमर आदि लोकोत्तर विभूतियाँ सर्वज्ञताके बिना हो ही नहीं सकतीं। अतः इस अविनाभावी विभूतियोंके आधारसे आप सर्वज्ञकी सत्ता क्यों नहीं मानते?

---

१. शब्दाशब्दयोर्निरासानिरासयोरनेका म० २। २. कश्चित् यस्य म० २। ३. वान् कोऽपि म० २। ४. —वतं विद्य — म० १। ५. तावदेव वक्ता म० २।

"देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥" [आप्तमी. श्लो. १]

अथ यथानादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया विशोध्यमानस्य निर्मलत्वम्, एवमात्मनोऽपि निरन्तरज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलस्वात्सर्वज्ञत्वं किं संभवेदिति मतिः, तदपि न; अभ्यासेन हि शुद्धेस्तारतम्यमेव भवेत्, न पुनः परमः प्रकर्षः । न हि नरस्य लङ्घनमभ्याससतस्तारतम्यवत्प्युपलभ्यमानं सकललोकविलङ्घनपर्यन्तं दृष्टमस्ति । यदुक्तं च—

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥१॥"

§ ५१६. अथ मा भून्मानुषस्य सर्वज्ञत्वं, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनां तु तदस्तु । ते हि देवाः, संभवत्यपि तेष्वतिशयसंपत् । यदुक्तं कुमारिलैः—

"अथापि दिव्यदेहत्वाद्ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ॥१॥"

समाधान—आपकी बुद्धि बाहरी चमत्कारोंसे चमत्कृत हो रही है । मायावी इन्द्रजालिया जादूगर भी अपनी कीर्ति, पूजा आदिके लोभसे इन्द्रजालके द्वारा छत्र-चमर आदि विभूतियोंको प्रकट कर सकते हैं तथा करते भी हैं । वे देवोंके द्वारा अपनी सेवा-टहल भी दिखा सकते हैं । तो क्या इन बाहरी चमत्कारोंसे उन्हें भी सर्वज्ञ मान लिया जाय ? आपके ही आचार्य श्रीसमन्तभद्रने कहा है कि—"देवोंका आना, आकाशमें अधर विहार करना तथा छत्र, चमर आदि विभूतियाँ तो मायावी जादूगरोंमें भी पायी जाती हैं । अतः मात्र इन विभूतियोंसे आप हम जैसे परीक्षकोंके महान् पूज्य नहीं हो सकते ।"

शंका—जिस तरह कोई अनादिकालका मलीन भी सोना, सुहागा, तेजाब आदिसे मिट्टीको घरियामें,पकानेसे साफ करते-करते सौटंचका निर्मल आबदार सोना हो जाता है उसी तरह सतत ज्ञानाभ्यास तथा योग आदि प्रक्रियाओंसे आत्मा भी धीरे-धीरे कर्ममलसे रहित होकर शुद्ध हो सकती है । ऐसी शुद्ध आत्मा ज्ञानावरणरूप मलके हट जानेसे क्या सर्वज्ञ नहीं बन सकती ? सर्वज्ञताके लिए ज्ञानावरणका नाश ही मुख्य रूपसे अपेक्षित होता है ।

समाधान—अभ्याससे शुद्धिकी तरतमता—कमोवेशी तो हो सकती है पर उसका परम प्रकर्ष होना अत्यन्त असम्भव है । अभ्यास करनेसे थोड़ा-बहुत हेर-फेर ही सम्भव है । कोई मनुष्य ऊँचा कूदनेका कितना ही अभ्यास क्यों न करे, पर वह कभी भी सारे लोकको नहीं लाँघ सकता । यह तो हो सकता है कि उसकी ऊँचा कूदनेकी शक्तिमें तरतमता—कुछ अधिक विकास हो जाय, वह चार हाथकी जगह आठ हाथ कूदने लगे, पर सारे लोकके कूदनेका परम प्रकर्ष कभी भी नहीं हो सकता । कहा भी है—"जो मनुष्य अभ्यास करते-करते दस हाथ ऊँचा उछल जाता है, वह सैकड़ों अभ्यास करनेपर भी सौ योजन ऊँचा नहीं कूद सकता ।"

§ ५१६. शंका—अच्छा, यदि साधारण मनुष्योंको अभ्याससे सर्वज्ञता उत्पन्न नहीं हो सकती, तो न सही; पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि तो देव हैं, उनमें तो सर्वज्ञतारूपी अतिशय हो ही सकता है । वे अलौकिक दिव्य पुरुष हैं । कुमारिलने स्वयं ही कहा है कि "यदि दिव्य देहवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि सर्वज्ञ हो भी जायें तो भी साधारण मनुष्यमें सर्वज्ञता कैसे सिद्ध

---

१. -भ्यासेन भ. १, प. १, २ ।—भ्यासेन भ. २ । २. श्लोकोऽयं कुमारिलोक्तमिति कृत्वा तत्त्वसंग्रहे (पृ. ८२६) उद्धृतः । ३. अथ मानुष्यस्य न सर्वज्ञत्वं भ. २ । ४. श्लोकोऽयं कुमारिलोक्तत्वेन तत्त्वसंग्रहे (का. ३२०८) उद्धृतः । प्रमाणमी. पृ. १२ ।

इति तदपि न रागद्वेषमूलनिग्रहानुग्रहप्रस्तानां कामासेवनविहस्तानामसंभाव्यमिवमेषामिति ।

§ ५१७. न च प्रत्यक्षं तत्साधकम् "संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" [मी. प्रत्यक्ष. सू. श्लो. ८४] इति वचनात् । न चानुमानम्; प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवृत्तेः । न चागमः, सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तदागमस्यापि विवादास्पदत्वात् । न चोपमानम्, तदपरस्यापि सर्वज्ञस्याभावादेव । न चार्थापत्तिरपि, सर्वज्ञसाधकस्यान्यथानुपपन्नपदार्थस्यादर्शनात् । ततः प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेरभावप्रमाणगोचर एव सर्वज्ञः । प्रयोगश्चात्र—नास्ति सर्वज्ञः, प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्, शशशृङ्गवदिति ॥६८॥

§ ५१८. यदि देवस्तद्वचनानि च न सन्ति, तर्हि कुतोऽतीन्द्रियार्थज्ञानमित्याशङ्क्याह—

तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद्द्रष्टुरभावतः ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥६९॥

§ ५१९. व्याख्या—तस्मात् ततः कारणात् । कुतो हेतुतः । इत्याह—अतीन्द्रियार्थानाम् इन्द्रिय-

---

हो सकती है?" तात्पर्य यह कि कुमारिलका झुकाव स्पष्ट रूपसे ब्रह्मा, विष्णु आदि दिव्य शरीरियोंको सर्वज्ञ माननेकी ओर है। अतः इन्हें सर्वज्ञ मान ही लेना चाहिए।

समाधान—राग-द्वेष मूलक शिष्टानुग्रह तथा दुष्ट निग्रह करनेवाले कामसेवन आदि विकारोंसे युक्त सरागी ब्रह्मा, विष्णु आदिमें सर्वज्ञताकी बात करना सचमुच सर्वज्ञताका परिहास करना ही है।

§ ५१७. सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध करनेकी शक्ति प्रत्यक्ष आदि किसी भी सदुपलम्भक प्रमाणमें नहीं है। प्रत्यक्ष तो असम्बद्ध तथा अवर्तमान सर्वज्ञमें सत्ता नहीं साध सकता; क्योंकि "सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थ ही चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गृहीत होते हैं।" यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। प्रत्यक्षके द्वारा देखे गये पदार्थमें ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है अतः अत्यन्त परोक्ष सर्वज्ञको माननेकी हिम्मत अनुमान भी नहीं कर सकता। जब सर्वज्ञ ही विवादाधीन है तब सर्वज्ञप्रणीत आगम असिद्ध होनेके कारण सर्वज्ञका साधक नहीं हो सकता। दूसरा कोई सर्वज्ञ नहीं दिखाई देता, जिससे उपमान सर्वज्ञको सदृशता मिलाकर उसकी सत्ता साध सके। सर्वज्ञका साधक कोई अविनाभावी पदार्थ भी नहीं दिखाई देता, जिसके बलपर अर्थापत्ति सर्वज्ञकी सत्ता साधनेको तैयार हो सके। इस तरह सद्भावको साधनेवाले प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाणोंका विषय न होनेके कारण प्रमाणपंचकाभावमूलक अभाव प्रमाण ही सर्वज्ञको विषय करके उसकी सत्ता समूल उखाड़ फेंकेगा। इस तरह यह निर्बाध रूपसे कहा जा सकता है कि—सर्वज्ञ है ही नहीं, क्योंकि वह सदुपलम्भक प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाणोंका विषय नहीं होता, जैसे कि खरगोशका सींग ॥६८॥

§ ५१८. यदि सर्वज्ञ और सर्वज्ञप्रणीत आगम नहीं हैं तब अतीन्द्रिय पदार्थोंका परिज्ञान कैसे होगा? इस शंकाका परिहार करते हुए कहते हैं—

इस तरह जब अतीन्द्रिय पदार्थोंको कोई साक्षात्कार करनेवाला है ही नहीं, तब नित्य वेदवाक्योंसे ही अतीन्द्रियार्थोंका यथावत् परिज्ञान हो सकता है ॥६९॥

§ ५१९. जब इन्द्रियोंके अगोचर अतीत अनागतकालीन पदार्थ, आत्मा, पुण्य-पाप, काल, स्वर्ग, नरक, परमाणु आदि देश काल स्वभावसे विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार करने-

---

१. "सर्वज्ञो दूष्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । निराकरणवच्छक्त्या न चासीदिति कल्पना ॥ न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् । नरान्तर प्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥"—मी. श्लो. चोदनासू. श्लो. ११७-८।

विषयातीतपदार्थानामात्मधर्माधर्मकालस्वर्गनरकपरमाणुप्रभृतीनां साक्षात् [1]स्पष्टप्रत्यक्षावबोधेन द्रष्टुः ज्ञातुरभावतः अलङ्घ्यत्वाद्धेतोः नित्येभ्यः अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावेभ्यः अवधारणस्येष्ट-विषयत्वाद्वेदवाक्येभ्य एव यथार्थत्वविनिश्चयः अर्थानामनतिक्रमेण यथार्थं तस्य भावो यथार्थत्वं यथावस्थितपदार्थत्वं तस्य विशेषेण निश्चयो भवति । नित्यत्वेनापौरुषेयेभ्यो वेदवचनेभ्य एव यथावदतीन्द्रियाद्यर्थज्ञानं भवति, न पुनः सर्वज्ञप्रणीतागमादिभ्यः सर्वज्ञादीनामेवाभावादिति भावः । यथाहुस्ते [2]—

"अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते ।
वचनेन हि नित्येन यः पश्यति स पश्यति ॥१॥"

§ ५२०. [3]नन्वपौरुषेयाणां वेदानां कथमर्थपरिज्ञानमिति चेत् । अव्यवच्छिन्नानादिसंप्रदाये-नेति ॥६९॥

§ ५२१. अथैतदेव दृढयन्नाह—

अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः यत्नतः ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या धर्मसाधनी ॥७०॥

§ ५२२. व्याख्या—अत एव सर्वज्ञाद्यभावादेव पुरा पूर्वं वेदपाठः ऋग्यजुःसामाथर्वणानां पाठः प्रयत्नतः कार्यः । ततः किं कर्तव्यमित्याह—'ततो धर्मस्य' इति । ततो वेदपाठादनन्तरं धर्मस्य

वाला कोई पुरुषविशेष ही नहीं है तब उत्पाद-विनाशसे रहित सदा स्थिर रहनेवाले वेदवाक्योंसे ही जिस प्रकार पदार्थ स्थित हैं ठीक उसी रूपसे उनका यथावत् वास्तविक निश्चय होता है। सभी वाक्य इष्टका अवधारण करते हैं अतः वेदवाक्योंका ही अतीन्द्रियार्थ प्रतिपादनमें एकमात्र अधिकार समझना चाहिए। वेद अपौरुषेय हैं, इन्हें किसी पुरुषने नहीं बनाया है, ये नित्य हैं। इन सदा एकरूप रहनेवाले अपौरुषेय नित्य वेदवाक्योंसे ही धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका यथावत् परिज्ञान हो सकता है न कि सर्वज्ञके द्वारा कहे गये किसी आगमसे; क्योंकि जब सर्वज्ञ ही नहीं है तब तत्प्रणीत आगमकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। कहा भी है—"अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाला कोई सर्वद्रष्टा नहीं है। अतः नित्य वेदवाक्योंसे जो अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखता है, जानता है वही सच्चा देखनेवाला है—अतीन्द्रियदर्शी है।"

§ ५२०. यद्यपि वेद अपौरुषेय हैं उनका कोई आदि प्रणेता नहीं है फिर भी उनके अर्थ तथा पाठकी परम्परा अनादिकालसे अविच्छिन्न रूपसे बराबर चली आती है, उसमें कभी कोई व्यवधान या विच्छेद नहीं पड़ा अतः उसके अर्थका यथार्थ निर्णय हो जाता है।

§ ५२१. इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं—

इसीलिए सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक वेदोंका स्वरोंके अनुसार पाठ करना चाहिए। इसके बाद धर्मको सिद्ध करनेके लिए धर्मकी जिज्ञासा—जाननेकी इच्छा उत्पन्न करनी चाहिए ॥७०॥

§ ५२२. चूँकि सर्वज्ञ आदिका अभाव है इसलिए सर्वप्रथम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदोंका ह्रस्वदीर्घादि स्वरोंके अनुसार पाठ करना चाहिए, इन्हें कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। वेदोंको घोक लेनेके बाद धर्मको जाननेकी इच्छा करनी चाहिए। धर्म तो अतीन्द्रिय

---

१. स्पष्टं प्र-म. २। २. "तस्मादतीन्द्रियार्थानां...." इति पाठभेदेन श्लोकोऽयं कुमारिलोक्तमिति कृत्वा तत्त्वसंग्रहे (पृ. ८२८) उद्धृतः। ३. नन्वपौरुषेयाणां कथं परि-म. २। ४. सामाथर्वणां वेदानां म. १, २, प. १, २।

जिज्ञासा कर्तव्या। धर्मो ह्यतीन्द्रियः, ततः स कीदृक्केन प्रमाणेन वा ज्ञास्यत इत्येवं ज्ञातुमिच्छा कार्या। सा कीदृशी धर्मसाधनो-धर्मसाधनस्योपायः ॥७०॥

§ ५२३. यतश्चैवं ततस्तस्य निमित्तं परीक्ष्यं निमित्तं च नोदना[2]। निमित्तं हि द्विविधं जनकं ग्राहकं च। अत्र तु ग्राहकं ज्ञेयम्। एतदेव विशेषिततरं प्राह—

नोदनालक्षणो [3]धर्मो नोदना तु क्रियां प्रति।
प्रवर्तकं वचः प्राहुः स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत् ॥७१॥

§ ५२४. व्याख्या—नोद्यन्ते प्रेर्यन्ते श्रेयःसाधकद्रव्यादिषु प्रवर्त्यन्ते जीवा अनयेति नोदना-वेदवचनकृता प्रेरणेत्यर्थः। धर्मो नोदनया लक्ष्यते ज्ञाप्यत इति नोदनालक्षणः। धर्मो ह्यतीन्द्रियत्वेन नोदनयैव लक्ष्यते नान्येन प्रमाणेन, प्रत्यक्षादीनां विद्यमानोपलम्भकत्वात्, धर्मस्य तु कर्तव्यतारूपत्वात्, कर्तव्यतायाश्च त्रिकालशून्यार्थरूपत्वात्, त्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका 'चो-दनेति [4]मीमांसकाभ्युपगमात्। अथ नोदनां व्याख्याति 'नोदना तु क्रियां' प्रति इत्यादि। नोदना पुनः[5] क्रियां हवनसर्वभूतार्हसनादानादिक्रियां प्रति प्रवर्तकं वचो वेदवचनं प्राहुर्मीमांसका भाषन्ते।

है अतः वह 'किस प्रमाणसे कैसे जाना जा सकता है ?' यह जिज्ञासा करनी चाहिए। यहाँ धर्म-जिज्ञासा, धर्मसाधनका आद्य उपाय है। जब धर्म-जिज्ञासा हो जायेगी तब धर्मके जाननेके उपायों-की खोज की जानी चाहिए। अतीन्द्रिय धर्मके जाननेके उपाय प्रत्यक्ष आदि तो हो ही नहीं सकते ॥७०॥

§ ५२३. उसके जाननेका एकमात्र निमित्त है नोदना—वेद। निमित्त दो प्रकारके होते हैं—एक तो जनक—उत्पन्न करनेवाले और दूसरे ग्राहक—ज्ञान करानेवाले। यहाँ वेद धर्मका ग्राहक-निमित्त ही विवक्षित है।

अब इसीका विशेष विवेचन करते हैं—

धर्म नोदना रूप है। क्रियाके प्रवर्तक वचनोंको नोदना या चोदना कहते हैं। जैसे 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र यज्ञ करे' यह वचन अग्निहोत्र यज्ञरूपी क्रियामें पुरुषको प्रवृत्ति कराता है अतः यह वचन नोदना—प्रेरणात्मक है ॥७१॥

§ ५२४. जिसके द्वारा जीव कल्याणकारी द्रव्य आदिमें प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं उस वैदिक वचनोंसे होनेवाली प्रेरणाको नोदना या चोदना कहते हैं। नोदनाके द्वारा धर्म लक्षित होता है अतः धर्मको नोदना लक्षण कहा है। धर्म अतीन्द्रिय होनेके कारण नोदना—वैदिक वचनोंसे ही जाना जाता है, अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण विद्यमान पदार्थों-के जाननेवाले हैं। धर्म कर्तव्यतारूप है तथा कर्तव्यता त्रिकालशून्य अर्थरूप है। मीमांसकोंने स्वयं बताया है कि चोदना—नोदना त्रिकालशून्य शुद्ध कार्यरूप अर्थका ज्ञान उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह कि कर्तव्यता शुद्ध कार्यरूप है उसमें भूत-भविष्यत् या वर्तमान कालका कोई सम्पर्क नहीं है; अतः वह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं हो सकती, वह तो वेदवाक्योंके द्वारा ही जानी जा सकती है। हवन, सब प्राणियोंपर दया, दान आदि क्रियाओंमें प्रवर्तक—प्रवृत्ति करानेवाले वेद वचनोंको नोदना या चोदना कहते हैं। तात्पर्य यह कि हवन आदि क्रियाओंमें उनकी सामग्री जुटानेमें जो वेदवाक्य प्रेरक होते हैं उन्हें नोदना कहते हैं। वचनोंकी प्रवर्तकता दृष्टान्तसे बताते

---

१. न विज्ञास्य-ब. १, २, प. १, २। २. चोदना ब. २। ३. "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥ चोदना—इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः। आचार्यचोदितः करोमि—इति दृश्यते।" —मी. सू. शाबरभा. १।१।२। ४. नोदनेति ब. २। ५. मीमांसाभ्युप-ब. १, २, प. १, २, क.। ६. पुनर्हवन ब. २।

हवनादिक्रियाविषये यदेव प्रेरकं वेदस्य वचनं तदेव नोदनेति भावः । प्रवर्तकं तद्वचनमेव निदर्शनेन दर्शयति 'स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत्' इति । यथेत्युपदर्शनार्थः । स्वः स्वर्गो कामो यस्य स स्वःकामः पुमान् स्वःकामः सन् । अग्निं-वह्निं यजेत्-तर्पयेत् । अत्रैवं श्लोकबन्धानुलोम्येनेत्थमुपन्यस्तम् । अन्यथा त्वेवं भवति । "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" [मैत्र्यु. ६।२] इति प्रवर्तकवचनस्योपलक्षणत्वात् । निवर्तकमपि वेदवचनं नोदना ज्ञेया, यथा "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" [ ] इति । एवं न वै हिंसो भवेत् इत्याद्यपि । आभिर्नोदनाभिर्नोदितो यदि यथा नोदनं यैर्द्रव्यगुणकर्मभिर्यो हवनादौ प्रवर्तते निवर्तते वा, तदा तेषां द्रव्यादीनां तस्याभीष्टस्वर्गादिफलसाधनयोग्यतैव धर्म इत्यभिधीयते । एतेन वेदवचनैः प्रेरितोऽपि यदि न प्रवर्तते[3] न निवर्तते वा विपरीतं वा प्रवर्तते, तदा तस्य नरकाद्यनिष्टफलसंसाधनयोग्यतैव द्रव्यादिसंबन्धिनी पापमित्युच्यत इत्यपि ज्ञापितं[4] द्रष्टव्यम् । इष्टानिष्टार्थसाधनयोग्यतालक्षणौ धर्माधर्माविति हि मीमांसकाः । उक्तं च शाबरे—"य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते" [शाबरभा. १।१।२] अनेन द्रव्यादीनामिष्टार्थसाधनयोग्यता धर्मः इति प्रतिपादितं शबरस्वामिना । भट्टोऽप्येतदेवाह—

"श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः ।
नोदनालक्षणैः साध्या तस्मादेष्वेव धर्मता ॥१॥" [मी. श्लो. चोदना सू. श्लो. १९१]

है । 'यथा' शब्द उदाहरण दिखानेके लिए प्रयुक्त होता है । स्वः—स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष अग्निका तर्पण करे । श्लोकमें अक्षरोंकी संख्या नियत रहती है अतः 'स्वःकामोऽग्निं यजेत्' यह कह दिया है । वास्तविक रूपमें वह कथन 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—स्वर्गाभिलाषी अग्निहोत्र यज्ञ करे, इस प्रवर्तक वेदवाक्यका ही द्योतक है । वेदवचन निवर्तक भी होते हैं अतः नोदना प्रवर्तक तथा निवर्तक दोनों ही रूप होती है । जैसे 'किसी प्राणीको न मारे', 'हिंसक न बने' इत्यादि । इन नोदना—प्रेरणात्मक वाक्योंसे प्रेरित होकर जो पुरुष प्रेरणाके अनुसार जिन द्रव्य, गुण और क्रियाओंसे हवन आदिमें प्रवृत्ति तथा हिंसा आदिसे निवृत्ति करता है उन द्रव्य, गुण और क्रियाओंमें रहनेवाली इष्ट स्वर्गादिफलोंके साधन होनेकी योग्यता ही धर्म है । पुरुष रूप द्रव्य, जिन बुद्धि आदि गुणोंसे समिध तथा हवनीय द्रव्यको इकट्ठा करनेकी हलन-चलन क्रिया करता है उन सब द्रव्य, गुण और क्रियाओंमें स्वर्गादिफलके साधन होनेकी जो योग्यता—शक्ति है वही धर्म कहलाती है । इससे यह भी सूचित होता है कि वैदिक वचनोंको सुनकर उनसे प्रेरणा पाकर भी जो पुरुष जब हवन आदिमें प्रवृत्ति या हिंसा आदिसे निवृत्ति नहीं करता अथवा अन्य कार्योंमें प्रवृत्ति करता है तब उसको अन्यथा प्रवृत्तिमें साधनभूत द्रव्य, गुण और क्रियाओंकी जो नरक आदि अनिष्ट फलोंमें साधन होनेकी योग्यता—शक्ति है उसे पाप या अधर्म कहते हैं । तात्पर्य यह कि इष्ट साधन पदार्थोंकी योग्यताको धर्म तथा अनिष्ट साधन पदार्थोंकी योग्यता—शक्तिको अधर्म कहते हैं । यह शक्ति तो अतीन्द्रिय होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय न होकर वेदसे ही जानी जाती है । शाबर-भाष्यमें कहा है कि—"जो श्रेयस्कर हो वही धर्म है ।" इस वाक्यसे शबर स्वामीने द्रव्य, गुण आदिकी इष्ट अर्थको सिद्ध करनेकी योग्यता ही धर्म शब्दके द्वारा प्रतिपादित की है । कुमारिल भट्टने भी यही कहा है कि—"पुरुषकी प्रीतिको श्रेय कहते हैं । यह प्रीति नोदना—वेदवाक्यके द्वारा प्रतिपादित यागादिमें उपयुक्त होनेवाले द्रव्य, गुण और क्रियाओंसे उत्पन्न होती है अतः स्वर्गादिरूप प्रीतिके साधन द्रव्य, गुण आदिमें ही धर्मरूपता है । यद्यपि ये द्रव्य, गुण और क्रियाएँ इन्द्रियगम्य

---

१. -वा तेषां तदा द्र-म. १ । २. -इष्टफलस्वर्गादिफल म. १, २, प. २, क । -३. ते विप -म. २ ।
४. ज्ञातव्यं म. १ । ५. तदाह म. २ ।

"एषामैन्द्रियकत्वेऽपि न तादृप्येण धर्मता ।
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते ॥२॥
तादृप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचराः ।" [मी. श्लो. चोदना सू. श्लो. १३-१४]

इति ॥७१॥

§ ५२५. अथ विशेषलक्षणं प्रमाणस्याभिधानीयं, तच्च सामान्यलक्षणाविनाभूतम्, ततः प्रथमं प्रमाणस्य सामान्यलक्षणमभिधीयते । 'अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्' इति । अनधिगतः अगृहीतो योऽर्थो बाह्यः स्तम्भादिस्तस्याधिगन्तृ आधिक्येन संशयादिव्युदासेन परिच्छेदकम् । अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रागज्ञातार्थपरिच्छेदकम्, समर्थविशेषणोपादानाज्ज्ञानं विशेष्यं लभ्यते, अगृहीतार्थग्राहकं ज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः । अत्र 'अनधिगत' इति पदं धारावाहिज्ञानानां गृहीतग्राहिणां प्रामाण्यपराकरणार्थम् । 'अर्थं' इति ग्रहणं संवेदनं स्वसंविदितं भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, किन्तु, नित्यं परोक्षमेवेति ज्ञापनार्थम् । तच्च परोक्षं ज्ञानं [3]भाट्टमतेऽर्थप्राकट्यफलानुमेयम्[4] प्राभाकरमते संवेदनाख्यफलानुमेयं वा प्रतिपत्तव्यम् ।

हैं फिर भी उनका इन्द्रियगम्य रूप धर्म नहीं है । किन्तु वेदके द्वारा प्रतिपादित उनकी श्रेयःसाधनता ही धर्म है । वेद द्रव्यगुणादिकी श्रेयःसाधनताका सदा प्रतिपादन करता है अतः द्रव्य, गुण आदि श्रेयःसाधन रूपसे ही धर्म कहे जाते हैं । यही कारण है कि उनकी वह श्रेयःसाधनता रूप शक्ति, जिसे धर्म कहते हैं, इन्द्रियोंका विषय नहीं होती" ॥७१॥

§ ५२५. प्रमाणोंके विशेष लक्षणका कथन सामान्य लक्षणके कथन पूर्वक होता है, पहले प्रमाणका सामान्य लक्षण कहते हैं । "नहीं जाने गये अनधिगत पदार्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है" अनधिगत—नहीं जाने गये खम्भा आदि बाह्य पदार्थोंको संशय आदिका निराकरण कर अधिकतासे विशेषताके साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है । यद्यपि लक्षण वाक्य में 'ज्ञान' पद नहीं है फिर 'अगृहीत पदार्थको जाननेवाला' इस समय विशेषणकी सामर्थ्यसे विशेष्यभूत ज्ञानका बोध हो जाता है । तात्पर्य यह कि अगृहीत पदार्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है । अनधिगत पदसे गृहीत —जाने गये पदार्थोंको जाननेवाले गृहीतग्राहिधारावाहि ज्ञानोंकी प्रमाणताके निराकरणके लिए दिया गया है । 'अर्थं' पदसे सूचित होता है कि ज्ञान केवल अर्थको ही जानता है अपने स्वरूपको नहीं । ज्ञान स्वसंवेदी नहीं है, क्योंकि अपने-आपमें क्रियाका विरोध है । वह तो नित्य ही परोक्ष है । भाट्टमतमें इस परोक्ष ज्ञानका अर्थ प्राकट्य नामक फलसे अनुमान होता है । ज्ञानके द्वारा जब पदार्थ जाना जाता है तब वह ज्ञात होता है और उसमें ज्ञातता या प्राकट्य नामका धर्म उत्पन्न होता है । इसी प्राकट्यसे ज्ञानके स्वरूपका अनुमान होता है । यदि ज्ञान न होता तो पदार्थमें ज्ञातता या प्राकट्य उत्पन्न नहीं हो सकता । प्राभाकर मतमें उस परोक्ष ज्ञानका प्रमाणके संवेदन रूप फलसे अनुमान होता है ।

---

१. °पाभिन्द्रिय —ब. २ । २. "एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम् ।"—शाबरी. पृ. १५२ । "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाण इति भट्टमीमांसका आहुः ।"—सि. चन्द्रोदय, पृ. २० । ३. मते प्राकट्य —ब, २ । ४. यं भाट्टमा —ब, १, प. १, २, आ., क. । "अप्रत्यक्षा मे बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः, न हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुसूपपद्यते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम् ।" —शाबरभा. १।१।५ "अर्थापत्तिः ज्ञानस्य प्रमाणम्, सा च अर्थस्य ज्ञातत्वान्यथानुपपत्तिप्रभवा । प्रागर्थस्य ज्ञातत्वाभावान्नोत्पद्यते । ज्ञाते त्वर्थे पश्चात्तज्ज्ञातत्वानुपपत्त्या अर्थापत्तिप्रमाणमुपजायते" —मी. श्लो. टी. सू. १।१।५। शून्यवाद श्लो. १८१-१८१ । "ज्ञानक्रिया हि सकर्मिका कर्मभूतेऽर्थे फलं जनयति पाकादिवत् ।...तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्पयतीति सिद्धयत्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानम् ।" —शास्त्रदी. १।१।५ । ५. "तस्माच्च बुद्धिविषयं प्रत्यक्षम्, अर्थविषयं हि तत् अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः फलतः ।" —शाबरभा., पृ. १७ । बृहती. १।१।५ ।

§ ५२६. अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षुः प्रथमं तन्नामानि तत्संख्यां चाह[1]—

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥७२॥

§ ५२७. व्याख्या – प्रत्यक्षानुमानशाब्दोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणानि[2] षट् प्रमाणानि जैमिनिमुनेः संमतानीत्यध्याहारः । चकाराः समुच्चयार्थाः । तत्राद्यानि पञ्चैव प्रमाणानीति प्रभाकरोऽभावस्य प्रत्यक्षेणैव ग्राह्यतां मन्यमानोऽभिमन्यते । षडपि तानीति भट्टो भाषते ॥७२॥

§ ५२८. अथ प्रत्यक्षस्य लक्षणमाचष्टे—

तत्र प्रत्यक्षमक्षाणां संप्रयोगे सतां सति ।
आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः ॥७३॥

§ ५२९. व्याख्या—'तत्र' इति निर्धारणार्थः । इयमत्राक्षरघटना–सतां संप्रयोगे सति आत्मनोऽक्षाणां बुद्धिजन्मप्रत्यक्षमिति ।[3] श्लोके तु बन्धानुलोम्येन व्यस्तनिर्देशः । सतां विद्यमानानां वस्तूनां संबन्धिनि [4]संप्रयोगे संबन्धे सति आत्मनो जीवस्येन्द्रियाणां यो बुद्ध्युत्पादः तत्प्रत्यक्षमिति । सतामित्यत्र सत इत्येकवचनेनैव प्रस्तुतार्थसिद्धौ षष्ठीबहुवचनाभिधानम् बहूनामप्यर्थानां संबन्ध इन्द्रियस्य संयोगः क्वचन भवतीति ज्ञापनार्थम् । अत्र जैमिनीयं सूत्रमिदम्—"सत्संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् ।" [मी. सू. १।१।४] इति । व्याख्या—सता विद्यमानेन वस्तुनेन्द्रियाणां संप्रयोगे संबन्धे सति पुनरस्य यो ज्ञानोत्पादः, तत्प्रत्यक्षम् ।

---

५२६. अब प्रमाण विशेषके लक्षणोंको या प्रमाणके विशेष लक्षणोंको कहनेकी इच्छासे पहले उनके नाम तथा उनकी संख्या बताते हैं—

जैमिनिमतमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण हैं ॥७२॥

§ ५२७. जैमिनि मुनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंको माना है । 'च' शब्द समुच्चयार्थक है । प्रभाकर अभावको प्रत्यक्षके द्वारा ग्राह्य मानकर अर्थापत्ति पर्यन्त पाँच ही प्रमाण स्वीकार करते हैं । भाट्ट अभावको भी प्रमाण मानते हैं, इनके मतमें छह ही प्रमाण हैं ॥७२॥

§ ५२८. अब प्रत्यक्षका लक्षण कहते हैं—

विद्यमान पदार्थोंसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध—सन्निकर्ष होनेपर आत्माको जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । लैङ्गिक—लिंगसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको अनुमान कहते हैं ॥७३॥

§ ५२९. तत्र—जैमिनि मतमें । श्लोकमें छन्द रचनाके अनुरोधसे प्रत्यक्षके लक्षण शब्दोंका बेसिलसिले निर्देश किया है, पर वस्तुतः उनका क्रम इस प्रकार है--'सतां संप्रयोगे सति आत्मनोऽक्षाणां बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्' विद्यमान वस्तुओंके सम्बन्ध होनेपर आत्माको इन्द्रियोंके द्वारा जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष है । यद्यपि 'सतः' ऐसा एकवचनका प्रयोग करनेसे भी वर्तमान पदार्थोंसे इन्द्रियोंके सन्निकर्षका सूचन हो सकता था फिर भी 'सताम्' यह बहुवचनका प्रयोग इस बातकी खास सूचना देता है कि—कभी-कभी, कहीं-कहीं बहुत पदार्थोंके साथ भी इन्द्रियोंका सम्बन्ध होता है । जैमिनिका प्रत्यक्षसूत्र यह है—"सत्संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" विद्यमान वस्तुसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर पुरुषको जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ।

---

१. च आह म. २ । २. –नि जै–म २ । ३. श्लोकेऽनुबन्धानु–भ. २ । ४. —नि प्रयोगे म. १, २, प. १, २, क. । ५. इन्द्रियसं –म. २ ।

§ ५३०. अयमत्र भावः—यद्विषयं विज्ञानं तेनैवार्थेन संप्रयोगे इन्द्रियाणां प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षाभासं त्वन्येसंप्रयोगजं यथा मरुमरीचिकादिसंप्रयोगजं जलाविज्ञानमिति। अथवा सत्संप्रयोगजत्वं विद्यमानोपलम्भनत्वमुच्यते। तत्र सति—विद्यमाने सम्यक्प्रयोगः अर्थेष्विन्द्रियाणां व्यापारो योग्यता वा, न तु नैयायिकाभ्युपगत एव संयोगादिः। तस्मिन्सति शेषं प्राग्वत्। इतिशब्दः प्रत्यक्षलक्षणसमाप्तिसूचकः।

§ ५३१. अथानुमानं लक्षयति पुनःशब्दस्य अर्थैक्यसंबन्धात्। अनुमानं पुनर्लैङ्गिकम् लिङ्गाङ्कितं लैङ्गिकम्। लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानमित्यर्थः। तत्रेदमनुमानलक्षणस्य सूचनामात्रमुक्तम्। संपूर्णं त्वित्थं तल्लक्षणम् "ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्" [शाबर भा. १।१।५] इति शाबरमनुमानलक्षणम्। व्याख्या—अवगतसाध्यसाधनाविनाभावसंबन्धस्य पुंस एकदेशस्य साधनस्य दर्शनादसंनिकृष्टे परोक्षेऽर्थे बुद्धिर्ज्ञानमनुमानमिति ॥७३॥

§ ५३२. अथ शाब्दमाह—

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थमुपमानं तु कीर्तितम्।
प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ॥७४॥

§ ५३३. व्याख्या—शाश्वतः अपौरुषेयत्वान्नित्यो यो वेदः तस्मादुत्था उत्थानं यस्य तच्छाश्वतवेदोत्थम्। अर्थाद्वेदशब्दजनितं ज्ञानं शाब्दं प्रमाणम्। अस्येवं लक्षणम्—"शब्दज्ञानादसंनि-

---

§ ५३० भावार्थ—जिस पदार्थका ज्ञान होता है उसी अर्थसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर प्रत्यक्ष होता है। अन्य पदार्थसे सम्बन्ध होनेपर अन्य पदार्थका ज्ञान होना प्रत्यक्षाभास है जैसे मरुस्थलको रेत और सूर्यकी किरणों आदिसे सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न होनेवाले भ्रान्त जल ज्ञान आदि। अथवा, सत्सम्प्रयोगजका अर्थ है विद्यमान पदार्थोंकी उपलब्धि करनेवाला। विद्यमान पदार्थमें इन्द्रियोंके सम्यक् प्रयोग-व्यापार या योग्यताको सत्सम्प्रयोग कहते हैं न कि नैयायिकके द्वारा माने गये संयोग आदि सन्निकर्षोंको ही। श्लोकमें आया हुआ 'इति' शब्द प्रत्यक्षके लक्षणकी समाप्तिका सूचक है।

§ ५३१. पुनः शब्द पहले कहे गये अनुमानका सूचन करता है। लिंगसे उत्पन्न होनेवाले लैंगिक ज्ञानको अनुमान कहते हैं। लिंगसे लिंगी—साध्यका ज्ञान अनुमान है। यह अनुमानके लक्षण की साधारण सूचना है। पूरा लक्षण तो शाबर भाष्यमें इस प्रकार बताया है—'ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्'—साध्य और साधनके अविनाभावका यथार्थ परिज्ञान रखनेवाले पुरुषको एकदेश-साधनके देखनेसे असन्निकृष्ट—परोक्ष साध्य अर्थका ज्ञान होना अनुमान कहलाता है ॥७३॥

§ ५३२. अब आगमका लक्षण कहते हैं—

नित्य वेदसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको शाब्द-आगम कहते हैं। प्रसिद्ध अर्थकी सदृशतासे अप्रसिद्धकी सिद्धि करना उपमान है ॥७४॥

§ ५३३. शाश्वत—अपौरुषेय नित्य वेदसे उत्पन्न होनेवाला, अर्थात् वेदके शब्दोंसे होनेवाला ज्ञान शाब्द प्रमाण है। शाबरभाष्यमें शब्दका यह लक्षण किया है—'शब्दज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे

---

१. —संयोगजं म. १, २, प. १, २। २. सत्प्रयोग—म. २। ३. व्यस्तं—म. २। ४. —कं यल्लिंगिज्ञानमनु—म. २। ५. सूत्रामात्र—प. १, २; सूत्रमात्र—म. २। ६. —कृष्टे परोक्षेऽर्थे बुद्धिरनुमानलक्षणम् म. २। ७. परोक्षार्थे म. २।

कृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दम्" [शाबरभा. १।१।५] इति[1]। अयं शब्दोऽस्यार्थस्य वाचक इति यज्ज्ञानं तच्छब्दज्ञानम्। तस्मादनन्तरं शब्दे श्रुते ज्ञानावसंनिकृष्टेऽर्थे अप्रत्यक्षेऽप्यर्थे घटादौ बुद्धिज्ञानं शाब्दं प्रमाणम्। शब्दादप्रत्यक्षे वस्तुनि यज्ज्ञानमुदेति तच्छाब्दमित्यर्थः। अत्र मते शब्दस्येदं स्वरूपं प्ररूप्यते। नित्या आकाशवत्सर्वगताश्च वर्णाः। ते च तालवोष्ठादिभिरभिव्यज्यन्ते न पुनरुत्पाद्यन्ते। विशिष्टानुपूर्वीका वर्णाः शब्दः। नित्यः[2] शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकसंबन्ध इति।

§ ५३४. अथोपमानमाह 'उपमानं तु' इत्यादि। उपमानं पुनः कीर्तितम्। तत्किरूपमित्याह 'प्रसिद्धार्थस्य' इत्यादि। प्रसिद्ध उपलब्धोऽर्थो गवादिर्यस्य पुंसः स प्रसिद्धार्थः ज्ञातगवादिपदार्थ इत्यर्थः। तस्य गवयदर्शने साधर्म्यादुगवयगतसादृश्यात्परोक्षे गवि अप्रसिद्धस्य पुरानुपलब्धस्य सादृश्यसाधनं ज्ञानम्। अस्येदं सूत्रं "उपमानमपि सादृश्यादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य" [शाबरभा. १।१।८] इति। गवयसादृश्यावसंनिकृष्टेऽर्थे परोक्षस्य गोः सादृश्ये गौरनयास्येति। यस्मिन् पुरुषे [illegible] तस्य गोस्मरणवत इत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। तत्रेदं तात्पर्यम्—येन प्रतिपत्रा गौरुपलब्धो न गवयो न चातिदेशवाक्यं 'गौरिव गवय' इति श्रुतम्, तस्यारण्ये पर्यटतो गवयदर्शने प्रथम उपजायते परोक्षे गवि सादृश्यज्ञानं यदुत्पद्यते 'अनेन सदृशो गौः' इति, तदुपमानमिति। तस्य[3] विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौः, तद्विशिष्टं वा

बुद्धिः शाब्दम्' 'यह शब्द इस अर्थका वाचक है' इस संकेतज्ञानको शब्दज्ञान कहते हैं। इस संकेत ग्रहणके बाद शब्दको सुननेपर जो परोक्ष अर्थका भी ज्ञान होता है उसे शाब्द प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष भी घट-पटादि पदार्थोंका शाब्द ज्ञान होता है। तात्पर्य यह कि शब्दसे होनेवाले अप्रत्यक्ष वस्तुविषयक ज्ञानको शाब्द कहते हैं। मीमांसक लोग वर्णोंको आकाशकी तरह नित्य तथा सर्वगत मानते हैं। तालु, मुख, नासिका आदिसे ये वर्ण प्रकट होते हैं, इनकी उत्पत्ति नहीं होती। विशिष्ट आनुपूर्वी-रचनावाले वर्ण ही शब्द कहलाते हैं। शब्द भी नित्य हैं। शब्द और अर्थका वाच्यवाचक सम्बन्ध भी नित्य है।

§ ५३४. उपमानका लक्षण—प्रसिद्ध—उपलब्ध हैं गौ आदि पदार्थ जिसको उस प्रसिद्धार्थ—गौ आदिको अच्छी तरहसे जाननेवाले पुरुषको गवय—रोझको देखते ही गवयमें रहनेवाली समानतासे परोक्ष गौमें गवयके सादृश्यका ज्ञान होना उपमान है। यद्यपि गौमें गवयकी समानता मौजूद थी परन्तु उपमानके पहले पुरुषको उसकी समानताका ज्ञान नहीं था। उपमान प्रमाणसे 'गौ इस गवयके समान है' यह सादृश्य ज्ञान हो जाता है। उपमानका लक्षणसूत्र यह है 'उपमानमपि सादृश्यादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य'—गवयकी सदृशतासे परोक्ष—सामने अविद्यमान गौके सादृश्यका ज्ञान होना उपमान है। यह उपमान गौका स्मरण करनेवाले पुरुषको ही होता है। तात्पर्य—जिस प्रतिपत्ता—जाननेवाले ज्ञाताने गौको तो देखा है पर आज तक गवयको नहीं देखा और न 'गायके समान गवय होता है' इस अतिदेश—परिचय वाक्यको ही सुना है उस पुरुषको एक दिन जंगलमें घूमते समय एकाएक गवय दिखाई देता है। वह पहले ही पहले गवयको देखकर उससे परोक्ष गौकी समानता मिलाता है और समझ लेता है कि—'इसके समान गौ है' यह परोक्ष गौमें होनेवाला गवय-सादृश्यज्ञान उपमान कहलाता है।

---

१. "शास्त्रं शब्दविज्ञानात् असन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्।"—शाबर भा. १।१।५। २. "अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्धः।" —शाबरभा. १।१।५। ३. "तस्माच्चित्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। विशिष्टस्याप्यतोऽसिद्धेरुपमान-प्रमाणता॥"—मी. श्लो. उपमान. श्लो. ३७–३८।

सादृश्यमिति । अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यमुपपन्नं, यतोऽत्र गवयविषयेण प्रत्यक्षेण गवय एव विषयीकृतो न पुनरसंनिहितस्य गोः सादृश्यम् । यद्यपि तस्य पूर्वं गौरिति प्रत्यक्षमभूत्, तस्यापि गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एवेति कथं गवि तदपेक्षं तत्सादृश्यज्ञानम् । तदेवं गवयसदृशो गौरिति प्रागप्रतिपत्तेरनधिगतार्थाधिगन्तृपरोक्षे गवि गवयदर्शनात्सादृश्यज्ञानम् ॥७४॥

§ ५३५. अथार्थापत्तिलक्षणमाह—

दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य कल्पना ।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ॥७५॥

§ ५३६. व्याख्या—प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैर्दृष्टः प्रसिद्धो योऽर्थः, तस्यानुपपत्त्या-अन्यथासंभवेन तु-पुनः कस्याप्यन्यस्य अदृष्टस्यार्थस्य कल्पना यद्बलेन यस्य ज्ञानस्य बलेन सामर्थ्येन क्रियते । 'दृष्टाद्यनुपपत्त्या' इति पाठे तु दृष्टः प्रमाणपञ्चकेन आदिशब्दात् श्रुतः शाब्दप्रमाणेन तस्य दृष्टस्य श्रुतस्य चार्थस्यानुपपत्त्या कस्याप्यर्थस्य कल्पना यद्बलेन क्रियत इति प्राग्वत् । असावदृष्टार्थकल्पनारूपं ज्ञानमेवार्थापत्तिरुदाहृता । अत्रैवं सूत्रम्—"अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पना" [शाबरभा. १।१।५] इति । अत्र प्रमाणपञ्चकेन दृष्टः शब्देन श्रुतश्चार्थौ मिथोवैलक्षण्यज्ञापनार्थं पृथक्कृत्योक्तौ स्तः । शेषं तुल्यम् । इदमुक्तं भवति—प्रत्यक्षादिप्रमाणषट्कविज्ञातोऽर्थो येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिः ।

§ ५३७. तत्र प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तिः यथाग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्पर्शमुपलभ्य दाहकशक्तियोगोऽ-

---

सादृश्यविशिष्ट गौ या गौविशिष्ट सादृश्य उपमानका प्रमेय—विषय है । यह उपमान अनधिगत—अभी तक अज्ञात—पदार्थको जाननेके कारण प्रमाण है; क्योंकि गवयको जाननेवाले प्रत्यक्षने तो मात्र गवयको ही जाना है, वह परोक्ष गौकी सदृशताको नहीं जानता । पहले जो गोविषयक प्रत्यक्ष हुआ था उसने तो गवयको स्वप्नमें भी नहीं जाना था । गोविषयक प्रत्यक्षके लिए जब गवय अत्यन्त परोक्ष था, तब उसके द्वारा गवयकी अपेक्षा गौमें सादृश्यज्ञान हो ही नहीं सकता था । इस तरह 'गवयके समान गौ है' यह प्रतीति न तो गवय प्रत्यक्षके द्वारा ही पहले हुई है और न गो प्रत्यक्षके द्वारा ही । अतः गवयको देखकर परोक्ष गौमें होनेवाला सादृश्य ज्ञान अगृहीतग्राही होनेसे प्रमाण है ॥७४॥

§ ५३५. अब अर्थापत्तिका लक्षण कहते हैं—

दृष्ट पदार्थकी अनुपपत्तिके बलसे किसी अदृष्ट अर्थकी कल्पनाको अर्थापत्ति कहते हैं ॥७५॥

§ ५३६. प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोंसे प्रसिद्ध अर्थके अविनाभावसे किसी अन्य अदृष्ट—परोक्ष पदार्थकी कल्पना जिस ज्ञानके बलपर की जावे वह अर्थापत्ति है । 'दृष्टाद्यनुपपत्त्या' ऐसा पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है । इसका अर्थ है—दृष्टप्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाणोंसे प्रसिद्ध तथा आदि शब्दसे श्रुत—शाब्द प्रमाणसे प्रसिद्ध किसी भी अर्थकी अनुपपत्ति-असम्भवता दिखाकर जिस किसी अर्थकी कल्पना जिस ज्ञानसे की जाय उसे अर्थापत्ति कहते हैं । इस पाठमें प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंसे प्रसिद्ध दृष्ट पदार्थ तथा शाब्दप्रमाणसे प्रसिद्ध श्रुतपदार्थकी परस्पर विलक्षणता बतायी है । तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोंसे जाना गया पदार्थ जिसके बिना नहीं होता उस अविनाभावी परोक्ष पदार्थकी कल्पना अर्थापत्ति कहलाती है ।

§ ५३७. प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति—स्पर्शन प्रत्यक्षसे उष्णताका अनुभव कर अग्निको

---

१. तथापि तस्य गव—आ. क. । २. —न तु पुनः आ. । —न पुनः क. । ३. "तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानाद्दाहादहनशक्तता ।"—मी. श्लो. अर्थापत्ति. श्लो. ३ ।

र्थापत्त्या प्रकल्प्यते । न हि शक्तिरध्यक्षपरिच्छेद्या नाप्यनुमानादिसमधिगम्या[1] अप्रत्यक्षया शक्त्या सह कस्यचिदर्थस्य संबन्धासिद्धेः । अनुमानपूर्विकार्थापत्तिः यथादित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमाने ततोऽनुमानाद्गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्यावसीयते । [2]उपमानपूर्विकार्थापत्तिः यथा 'गवयवद्गौः' इत्युक्तेरर्थाद्वाहदोहादिशक्तियोगस्तस्य प्रतीयते, अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात् । शब्दपूर्विकार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिरितीतरनामिका यथा शब्दार्थप्रतीतौ शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धिः । अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिः यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन[3] संबन्धसिद्धावर्थान्नित्यत्वसिद्धिः पौरुषेयत्वे शब्दस्य संबन्धायोगात् । अभावपूर्विकार्थापत्तिः यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽदर्शनादर्थाद्बहिर्भावः । अत्र च चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते, पञ्चम्या नित्यता, षष्ठ्या गृहाद्बहिर्भूतो देवदत्त एव साध्यत इत्येवं षट्प्रकारार्थापत्तिः । अन्ये तु श्रुतार्थापत्तिमन्यथोवाहरन्ति, पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त इति वाक्यश्रवणात्रात्रिभोजनवाक्यप्रतीतिः[10], श्रुतार्थापत्तिः ।[11] § गवयोपमितस्य गोस्त-

---

छू करके अग्निमें दाहक—जलानेकी शक्तिकी कल्पना 'अग्निमें दाहक शक्ति है अन्यथा दाह नहीं हो सकता था' इस अर्थापत्तिसे भी आती है । अतीन्द्रिय शक्तिका प्रत्यक्षसे तो परिज्ञान हो ही नहीं सकता । अतीन्द्रिय परोक्ष शक्तिके साथ किसी पदार्थका अविनाभाव भी पहलेसे गृहीत नहीं है, अतः शक्तिका अनुमान भी नहीं किया जा सकता । अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति—देवदत्तका एक देशसे दूसरे देशमें पहुँचना गतिपूर्वक देखकर सूर्यके भी एक देशसे देशान्तर पहुँचनेसे गमन करनेका अनुमान होता है । इस अनुमित गतिके द्वारा गमन शक्तिकी कल्पना 'सूर्यमें गमन शक्ति है अन्यथा वह गति नहीं कर सकता' इस अर्थापत्तिसे की जाती है । उपमानपूर्विका अर्थापत्ति—'गवयकी तरह गौ है' इस उपमानवाक्यके अर्थसे गौमें बोझा ढोना तथा दूध देने आदिकी शक्तिकी कल्पना करना । यदि उसमें बोझा ढोने और दूध देनेकी शक्ति नहीं है तो वह गाय ही नहीं हो सकती । शब्दपूर्विका अर्थापत्ति—शब्दसे अर्थकी प्रतीति देखकर शब्द और अर्थके वाच्यवाचक सम्बन्धकी कल्पना करना । इसे श्रुतार्थापत्ति भी कहते हैं । अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति—शब्दपूर्विका अर्थापत्तिसे शब्द और अर्थके सम्बन्धको जानकर उस सम्बन्धके बलसे शब्दको नित्य और अपौरुषेय सिद्ध करना । शब्द यदि पौरुषेय—पुरुषकृत होगा तो उसमें नित्यसम्बन्ध नहीं बन सकेगा । अभावपूर्विका अर्थापत्ति—जीवित देवदत्तको घरमें न देखकर उसके बाहर होनेकी कल्पना करना । इनमें उपमानपूर्विका अर्थापत्तिपर्यन्त चार श्रुतार्थापत्तियोंसे शक्तिकी सिद्धि की जाती है । पाँचवीं अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्तिसे नित्यता तथा छठी अभावपूर्विका

---

१. –गम्या प्रत्यक्षया –म. २ । –गम्या प्रत्यक्षया श –प. १, २, क., आ. । २. "वह्नेरनुमिता सूर्ये मानात्तच्छक्तियोग्यता ।" —मी. श्लो. अर्थापत्ति. श्लो. ३ । ३. "गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता ।" —मी. श्लो. अर्थापत्ति. श्लो. ४ । ४. –शब्दयो म. २ । ५. "अभिधानप्रसिद्धयर्थमर्थापत्त्यावबोधितात् । शब्दे बोधकसामर्थ्यात्सिध्यत्तत्प्रकल्पनम् ॥ अभिधा नान्यथा सिद्धयेदितिवाचकशक्तताम् । अर्थापत्यावगम्यैवं तदनन्यगते पुनः ॥ अर्थापत्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः ॥" —मी. श्लो. अर्थापत्ति. श्लो. ५–७ । ६. –न सिद्धा– म. २ । ७. "प्रमाणाभावनिर्णीतपौरुषेयत्वभावतः । गेहाभावेन बहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता ॥ सामर्थ्यादेतदन्यार्थापत्तिमुदाहरेत् ।" —मी. श्लो. अर्थापत्ति. श्लो. ८–९ । ८. "पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ । रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥" —मी. श्लो. अर्थापत्ति श्लो. ५१ । ९. –त्तिमेवेदा– म. १ । १०. –प्रतिपत्तिः म. १, २, प. १, २ । ११. § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति म. १, २, प. १, २ ।

उपमानाद्गृहीतशक्तिकस्यानुपमेयस्यार्थस्याभिधानमिति § । इत्थं च षट्प्रकारापि अर्थापत्तिर्नाध्यक्षम्, अतीन्द्रियशक्त्यादेरर्थस्य विषयत्वात् । अत एव नानुमानमपि, प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्तस्य, ततः प्रमाणान्तरमेवार्थापत्तिः सिद्धा ॥७५॥

§ ५३८. अथाभावप्रमाणं स्वरूपतः प्ररूपयति—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥७६॥

§ ५३९. व्याख्या—सदसदंशात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादीनि पञ्चैव प्रमाणानि सदंशं गृह्णन्ति न पुनरसदंशम् । प्रमाणाभावलक्षणस्त्वभावोऽसदंशं गृह्णीते न पुनः सदंशम् । "अभावोऽपि प्रमाणाभावलक्षणो नास्तीत्यर्थस्यासंनिकृष्टस्य प्रसिद्धयर्थं प्रमाणम् [शा. भा. १।१] इति वचनात् ।

§ ५४०. अन्ये पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति[1] प्रमाणपञ्चकाभावलक्षणोऽनन्तरोऽभावः प्रतिषिध्यमानाद्वा तदन्यज्ज्ञानम्, आत्मा वा विषयग्रहणरूपेणानभिनिर्वृत्तस्वभाव इति । ततः प्रस्तुतश्लोकस्यायमर्थः—प्रमाणपञ्चकं प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकं यत्र भूतलादावाधारे घटादेराधे-

---

अर्थापत्तिसे घरसे बाहर देवदत्तकी सत्ता सिद्ध की जाती है । कुछ आचार्य श्रुतार्थापत्तिका दूसरा ही उदाहरण देते हैं—'मोटा देवदत्त दिनको भोजन नहीं करता' इस वाक्यको सुनकर उसके रात्रिमें भोजन करनेकी कल्पना करना श्रुतार्थापत्ति है । इसी तरह गवयसे उपमित होनेवाली गायमें उपमान ज्ञानके ग्राह्य होनेकी शक्तिकी कल्पना करना उपमानपूर्विका अर्थापत्ति मानते हैं । यह छहों प्रकारकी अर्थापत्ति अतीन्द्रियशक्ति आदिको विषय करनेके कारण प्रत्यक्ष रूप नहीं हो सकती । चूँकि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है, अतः यह अनुमान रूप भी नहीं है । इस तरह अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण ही है ॥७५॥

§ ५३८. अब अभाव प्रमाणका स्वरूप बताते हैं—

वस्तुकी सत्ताके ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस वस्तुमें प्रवृत्ति नहीं करते उसमें अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति होती है ॥७६॥

§ ५३९. वस्तु भावाभावात्मक है, उसमें सदंशकी तरह असदंश भी रहता है । प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाण वस्तुके सदंशको ही ग्रहण करते हैं असदंशको नहीं । प्रत्यक्षादि प्रमाण पंचकके अभावमें प्रवृत्त होनेवाला अभावप्रमाण वस्तुके असदंशको ही जानता है सदंशको नहीं । कहा भी है—"प्रमाणोंके अभावको अभावप्रमाण कहते हैं । यह 'नास्ति—नहीं है' इस अर्थकी सिद्धि करता है । इसे अभावको जाननेके लिए किसी प्रकारके सन्निकर्षकी आवश्यकता नहीं होती ।"

§ ५४०. कोई आचार्य अभावप्रमाणको तीन रूपसे मानते हैं—१. प्रमाणपंचकका अभाव, २. जिसका निषेध करना है उस पदार्थके मात्र आधारभूत पदार्थका ज्ञान, ३. आत्माका विषयज्ञान रूपसे परिणत ही न होना । वे इस श्लोकका यह अर्थ करते हैं—प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जिस

---

१. तुलना—"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥" —मी. श्लो. अभाव. श्लो. १ । २. "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । सात्मकः परिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि ॥" —मी. श्लो. अभाव. श्लो. ११ । "तत्र कुमारिलेन त्रिविधोऽभावो वर्णितः—आत्मनोऽपरिणामः एकः पदार्थान्तरविशेषज्ञानं द्वितीयः...प्रमाणनिवृत्तिमात्रात्मकस्तृतीयः" —तत्त्वसं. पं. पृ. ४२६ ।

३. तदज्ञानं म. १ । ४. आत्मा वि —म. २ । ५. —णामिनि —म. १ ।

यस्य ग्रहणाय न जायते न प्रवर्तते, तत्र आधेयवर्जितस्याधारस्य ग्रहणेऽभावप्रमाणता अभावस्य प्रामाण्यम् । एतेन निषिध्यमानात्तदन्यज्ञानमुक्तम् । तथा 'प्रमाणपञ्चकं यत्र' इति पदस्यात्रापि संबन्धाद्यत्र [1]वस्तुरूपे घटादेर्वस्तुनो रूपेऽसदंशे ग्राहकतया न जायते, तत्रासदंशेऽभावस्य प्रमाणता । एतेन प्रमाणपञ्चकाभाव उक्तः । तथा प्रमाणपञ्चकं 'वस्तुसत्तावबोधार्थं' घटादिवस्तुसत्ताया अवबोधाय न जायते[2]–असदंशे न व्याप्रियते तत्र सत्तानवबोधेऽभावस्य प्रमाणता । अनेनात्मा विषयग्रहणरूपेणापरिणत उक्तः । एवमिहाभावप्रमाणं त्रिधा प्रदर्शितम् । तदुक्तम्—

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
सात्मनो [ऽ] परिणामो वा, विज्ञ नं वान्यवस्तुनि ॥१॥

[मी. श्लोक. अभाव. श्लो ११]

§ ५४१. अत्र साशब्दोऽनुत्पत्तेर्विशेषणतया योज्य इति [5]सन्मतिटीकायामभावप्रमाणं यथा त्रिधोपवर्णितं तथेहापि तद्दर्शितम् ।

§ ५४२. रत्नाकरावतारिकायां तु प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिरित्यस्यैवोक्तस्य बलेन द्विधा तद्वर्णितमास्ते । तत्र सशब्दः पुल्लिङ्गः प्रमाणाभावस्य विशेषणं कार्यं इति । तत्त्वं तु बहुश्रुता जानते ।

§ ५४३ अथ येऽभावप्रमाणमेकधाभिदधति तन्मतेन प्रस्तुतश्लोको व्याख्यायते । प्रमाण-

---

भूतल आदि आधारमें घटादि रूप आधेयके ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त नहीं होते उस घटादि आधेयसे शून्य शुद्ध भूतलके ग्रहण करनेके लिए अभावकी प्रमाणता है । इस अर्थसे निषिध्यमान घटसे अन्य—भिन्न शुद्ध भूतलका ज्ञान ही अभाव प्रमाण होता है । 'प्रमाणपञ्चकं यत्र' इस पदका सम्बन्ध यहाँ भी होता है । अर्थात्—जिस वस्तुरूप-घटादि वस्तुके असदंशमें पांच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं होती उस असदंशमें अभाव प्रमाण होता है । इससे पाँच प्रमाणोंके अभावरूप अभाव प्रमाणका कथन हुआ । इसी तरह घटादि वस्तुओंकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिए जब पाँच प्रमाण उत्पन्न नहीं होते तब सत्ताका अनवबोध—अज्ञान रहनेपर अभावको प्रमाणता है । इस अर्थमें आत्माकी विषय ग्रहण रूप परिणति न होना ही अभाव प्रमाण है । इस तरह अभाव प्रमाण तीन प्रकारका कहा गया है । कहा भी है—प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंकी अनुत्पत्तिको प्रमाणाभाव—अभाव प्रमाण कहते हैं । अथवा आत्माको विषय ग्रहण रूपसे परिणति न होना या घटादि निषेध्य पदार्थोंसे भिन्न शुद्ध भूतल आदि वस्तुओंका परिज्ञान होना भी अभाव प्रमाण है ।"

§ ५४१. श्लोकमें 'सा' शब्द अनुत्पत्तिका विशेषण है । सन्मति-तर्ककी टीकामें अभाव प्रमाणका इसी तरह तीन प्रकारसे व्याख्यान किया है । हमने भी उन्हींके अनुसार यहाँ तीनों प्रकार बता दिये हैं ।

§ ५४२. रत्नाकरावतारिकामें प्रत्यक्षादिकी अनुत्पत्तिको ही दो रूप मानकर उसी श्लोकसे अभाव प्रमाणके दो ही प्रकार बताये हैं । 'सः' शब्द पुल्लिंग है अतः वह प्रमाणाभावका विशेषण है । अभाव प्रमाण दो प्रकारका है या तीन प्रकारका इसका मर्म तो बहुश्रुत आचार्योंके ग्रन्थोंसे ही समझ लेना चाहिए ।

§ ५४३. अब जो अभाव प्रमाणको एक ही प्रकारका मानते हैं उनके मतसे इस श्लोकका

---

१. –रूपेऽसदंशे म. २ । २. –ते तत्र सत्ता –म. १ । –ते न व्याप्रि –म. १, प. १, १ । ३. –रूपेण परि–आ. । ४. अत्र सशब्दो आ., क. । ५. सन्मति. टी., पृ. ५८० । ६. –स्यैवानुक्तस्य म. २ । ७. तत्र शब्दः म. २ ।

पञ्चकं प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकं यत्र यस्मिन् वस्तुरूपे[1] घटादिवस्तुरूपे न जायते न व्याप्रियते। वस्तुरूपं द्वेधा, सदसद्रूपभेदात्। अतो [2]द्वयो रूपयोरेकतरव्यक्तये प्राह 'वस्तुसत्ता' इत्यादि। वस्तुनो घटादेः सत्ता सद्रूपता सदंश इति यावत्, तस्या अवबोधार्थं सदंशो हि[3] प्रत्यक्षादिपञ्चकस्य विषयः, स चेत्तेन न गृह्यते, तदा तत्र वस्तुरूपे शेषस्यासदंशस्य ग्रहणाभावस्य प्रमाणतेति।

§ ५४४. 'वस्त्वसत्तावबोधार्थं' इति क्वचित्पाठान्तरम्। तत्रायमर्थः—प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुनो रूपे न व्याप्रियते, तत्र वस्तुनो यासत्ता असदंशः, तदवबोधार्थमभावस्य प्रमाणतेति। अनेन च[4] त्रिविधेनैकविधेन वाभावप्रमाणेन प्रदेशादौ घटाभावो गम्यते। न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, [5]भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात्।

§ ५४५. अथ घटानुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाभावः साध्यत इत्यनुमानग्राह्योऽभाव इति चेत्, न; साध्यसाधनयोः कस्यचित्संबन्धस्याभावात्। तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव।

§ ५४६. अभावश्च प्रागभावादिभेदैर्भिन्नो वस्तुरूपोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा कारणादिव्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

"न च स्याद् व्यवहारोऽयं कारणादिर्विभागतः।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते ॥१॥

व्याख्यान करते हैं। जब घटादि वस्तुके सदंशमें प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका व्यापार नहीं होता तब उस वस्तुके शेष—अभावांशमें अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। वस्तुके दो रूप होते हैं—एक सदात्मक और दूसरा असदात्मक। वस्तुका सदात्मक अंश प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका विषय होता है। जब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण उस सदंशको ग्रहण नहीं करते तब बचे हुए असदंशको अभाव प्रमाण विषय करता है।

§ ५४४. कहीं-कहीं 'वस्त्वसत्तावबोधार्थम्' यह पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ यह होता है—जिस वस्तुके स्वरूपको ग्रहण करनेके लिए प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका व्यापार नहीं होता, उस वस्तुके असदंशको जाननेके लिए अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। इस तरह तीन प्रकारके या एक ही प्रकारके अभाव प्रमाणसे किसी भूतल आदि प्रदेशमें घड़ेका अभाव जाना जाता है। इन्द्रियोंका संयोग वस्तुके भावांशसे ही होता है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा अभावांश नहीं जाना जा सकता। प्रत्यक्षके द्वारा अभावका विषय किया जाना बाधित है।

§ ५४५. घड़ेकी अनुपलब्धि रूप लिंगसे किसी भूतल आदि प्रदेशरूपी धर्मीमें घड़ेके अभावको साध्य मानकर 'इस प्रदेशमें घड़ा नहीं है क्योंकि अनुपलब्ध है' इस अनुमानसे अभावको ग्रहण करना भी असम्भव है; क्योंकि साध्य और साधनका अविनाभाव पहलेसे गृहीत नहीं हो पाता तथा साध्य-साधनमें कोई कार्य-कारण भाव आदि सम्बन्ध भी नहीं है। इसलिए अभावको स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए।

§ ५४६. अभाव प्रमाणका विषयभूत अभाव पदार्थ वस्तुरूप है तथा वह चार प्रकारका है—१ प्रागभाव, २ प्रध्वंसाभाव, ३ अन्योन्याभाव, ४ अत्यन्ताभाव। यदि ये चार अभाव न हों तो संसारमें कारण-कार्य तथा घट-पट, जीव-अजीव आदिकी प्रतिनियत व्यवस्थाका लोप होकर

---

१. —रूपे न जायते न व्या —म. १, २, प. १, २। २. द्वयोरेकतर—म. २। ३. —हि प्रमाणप—म. २। ४. रूपेण व्या—मा. २। ५. त्रिविधेनैवाभा—म. २। ६. भावांशेनैव इन्द्रियाणां म. २। "न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युपलभ्यते मतिः। भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि।" —मी. श्लो. अभाव. श्लो. १८। ७. —विभि—म. २।

यद्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यौ यतस्त्वयम्।
तस्माद्गवादिवद्वस्तुप्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥२॥
न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता।
कार्यादीनामभावः को भावो यः [1]कारणादिना ॥३॥
[2]वस्तु (स्तु) सिद्धिनिबन्धनप्रमाणविषयं समाश्रिता।
[3]क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥४॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम्।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥५॥
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥६॥" [मी. श्लो. अभाव. श्लो. २-६]

यदि चैतद्व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत् तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात्।

"क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥७॥

समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जायगा। ये समस्त कार्यकारण आदि व्यवहार सर्वलोक प्रसिद्ध हैं इनका लोप करनेसे वस्तुमात्रका अभाव हो जायगा। कहा भी है—"यदि प्रागभाव आदिके भेदसे अभावके चार भेद न होते तो संसारमें यह कार्य है, यह कारण है इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकते थे। कार्यके प्रागभावको कारण तथा प्रागभावके प्रध्वंसको ही कार्य कहते हैं। यदि प्रागभाव और 'प्रध्वंसाभाव न हों तो कारण-कार्य व्यवहार किसके बलपर किया जायगा? अथवा, अभाव वस्तु है, क्योंकि उसमें गौ आदिकी तरह 'अभाव अभाव' यह अनुवृत्त—सामान्य प्रत्यय और 'प्रागभाव' प्रध्वंसाभाव' यह व्यावृत्त—विशेष प्रत्यय होते हैं तथा वह प्रमाणका विषय है प्रमेय है। अवस्तुके तो ये प्रागभाव आदि भेद हो ही नहीं सकते। अतः चूंकि इसके प्रागभाव आदि अवान्तर भेद हैं इसीलिए यह वस्तु है। घट आदि कार्योंका अभाव ही मृत्पिण्ड आदि कारणोंका सद्भाव है। तात्पर्य यह कि अभाव सर्वथा तुच्छ न होकर भावान्तर रूप है। घड़ेका अभाव शुद्ध भूतल रूप है। कार्यका अभाव कारणके सद्भाव रूप है। वस्तुओंका अपने-अपने नियत स्वरूपमें स्थिर रहना उनका आपसमें नहीं मिलना ही अभावकी सत्ताका सबसे जबरदस्त प्रमाण है। दूध आदि कारणोंमें दही आदि कार्योंका न होना ही प्रागभाव है। यदि प्रागभाव न होता तो दूधमें भी दही मिलना चाहिए था। दही आदि कार्योंमें दूध आदि कारणोंका नहीं मिलना प्रध्वंसाभाव है। यदि प्रध्वंसाभाव न होता तो दूधका नाश न होकर दही अवस्थामें भी उसका सद्भाव रहना चाहिए था। गाय आदिमें घोड़े आदिका अभाव अन्योन्याभाव है। खरगोशके सिरके अवयवोंमें वृद्धि तथा कठिनता न होकर निम्न—समतलमें रहना ही सींगका अत्यन्ताभाव है। सिरके अवयवोंका कठिन होकर बढ़ने लगना आगेको निकल आना ही सींग कहलाते हैं। जब सिरके अवयव समतलमें रहेंगे कठिन तथा बढ़ेंगे नहीं तब वही सिरकी समतलता ही शशशृंगका अत्यन्ताभाव कही जाती है। यदि इनका व्यवस्थापक अभाव प्रमाण न हो तो वस्तुको नियत व्यवस्थाकी आशा ही नहीं की जा सकती। अभावोंका लोप करनेसे तो सभी पदार्थ सब रूप हो जायेंगे उनका कोई नियामक ही नहीं रहेगा। उस समय तो—"दूधमें दही, दहीमें दूध, घड़ा हो कपड़ा, खरगोशके मस्तकपर सींग, पृथिवीमें चेतनता, आत्मामें मूर्तत्व, जलमें गन्ध, अग्निमें रस, वायुमें रूप, रस, गन्ध,

---

१. —दि न भ. १, प. १, १। २—दितः म. २। २. वस्त्वसंकरसिद्धिश्च"—मी. श्लो.। ३. क्षीरोदध्यादि आ, क.।

अप्सु गन्धो रसवच्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह ।
व्योम्नि [1]संस्पर्शिता ते च न चेदस्य प्रमाणता ॥८॥" [मी. श्लो. अभाव. श्लो. ५-६] इति ।

§ ५४७. अथ निरंशसदेकरूपत्वाद्वस्तुनोऽप्यनेन सर्वात्मना ग्रहणे कोऽपरो सदंशो यत्राभावः प्रमाणं भवेदिति चेत्; न; स्वपररूपाभ्यां सदसदात्मकत्वाद्वस्तुनः[2], अन्यथा वस्तुत्वायोगात् । न च सदंशासदंशस्याभिन्नत्वात्तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति वाच्यम्, सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि [3]भेदाभ्युपगमात् । तदेवं प्रत्यक्षार्थे गृहीतप्रमेयाभावग्राहकत्वात् प्रमाणाभावः प्रमाणान्तरमिति ।

§ ५४८. अथोक्तमपि किंचिद्व्यक्तये लिख्यते—अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम् । पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरं तु फलम् [4]सामान्यविशेषात्मकं वस्तु प्रमाणगोचरः[5] । [6]विषयश्चेयं सदा हि भाट्टप्राभाकरमतयोरर्थप्राकट्याख्यसंवेदनाख्यफलानुमेयम् । वेदोऽपौरुषेयः । वेदोक्ता हिंसा धर्माय । सर्वज्ञो नित्यः ।

आकाशमें स्पर्श आदिका प्रसंग होनेसे सारी लोकव्यवस्था नष्ट हो जायगी । यदि अभावकी सत्ता न मानी जायगी तो यह प्रतिनियत लोकव्यवहार नहीं हो सकेगा ।"

§ ५४७. शंका—वस्तु तो मात्र सद्रूप है । उसमें एक ही सदंश है अन्य असदंश है ही नहीं । अतः जब वह निरंश वस्तु पूरे रूपसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ही गृहीत हो जाती है तब उसमें ऐसा कौन-सा असदंश बचता है जिसे जाननेके लिए अभावको प्रमाण माना जाय ?

समाधान—वस्तु न तो निरंश है और न केवल सदंशवाली ही । वस्तुमें तो सत् और असत् दोनों ही अंश हैं । वस्तुमें स्वरूपकी दृष्टिसे सदंश है तथा परवस्तुओंकी दृष्टिसे असदंश । यदि वस्तु स्वरूपसे सत् न हो तो फिर वह कुछ भी नहीं रहेगी, सर्वथा असत् हो जायगी । इसी तरह यदि वस्तु पररूपसे असत् न हो तो स्व और परका विभाग ही नहीं रहेगा । तात्पर्य यह कि सदसदात्मक माननेपर ही उसमें वस्तुत्व रह सकता है ।

शंका—जब सदंशसे असदंश अभिन्न है तब प्रत्यक्षादिसे सदंशका ग्रहण होनेपर असदंशका ग्रहण तो अपने ही आप हो जायगा, उसको जाननेके लिए अभाव प्रमाणकी क्या आवश्यकता है ? धर्म और धर्मीमें तादात्म्य होनेसे धर्मोंका भी परस्पर तादात्म्य हो ही जाना चाहिए ।

समाधान—यद्यपि सदंश और असदंश रूप धर्मोंका धर्मी अभिन्न है एक ही है परन्तु उनका परस्पर भेद भी है । अतः धर्मीकी दृष्टिसे परस्पर तादात्म्य होनेपर भी स्वरूपकी दृष्टिसे दोनों ही धर्म जुदे-जुदे हैं । अतः सदंशका प्रत्यक्षादिसे ग्रहण होनेपर भी असदंश अगृहीत रहता है और इसी असदंशके ग्रहणके लिए अभाव प्रमाणकी आवश्यकता है । इस तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगृहीत प्रमेयाभाव—अभाव नामक प्रमेयको ग्रहण करनेवाला प्रमाणाभाव—अभाव नामक प्रमाण स्वतन्त्र सिद्ध हो जाता है ।

§ ५४८. मूल ग्रन्थकारके द्वारा कही गयी कुछ बातें स्पष्ट करते हैं—अगृहीत अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है । पूर्व-पूर्व साधकतम अंश प्रमाण तथा उत्तरोत्तर साध्य अंश फल रूप हैं । सामान्य विशेषात्मक वस्तु प्रमाणका विषय होती है । ज्ञान सदा परोक्ष है । वह भाट्टमतमें अर्थप्राकट्य रूप फलसे तथा प्राभाकर मतमें संवेदन रूप फलसे अनुमित होता है । वेद अपौरुषेय है । वेदविहित हिंसासे धर्म होता है । सर्वज्ञ नहीं है । वेदान्तमतमें यह सब दृश्यमान जगत् जाल अविद्या या मायासे प्रतिभासित होता है पारमार्थिक नहीं है, इसकी मात्र प्रातिभासिकी सत्ता है ।

---

१. संस्पर्शना ते म. २ । २. "स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके । वस्तुनि ज्ञायते केनचिद्रूपं किंचित्कदा वन ॥"—मी. श्लो. अभाव. श्लो. १९ । "धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते ॥" मी. श्लो. अभाव. श्लो. २० । ४. -धिगृहीत —म. २ । ५. मी. श्लो. प्रत्यक्ष. श्लो. ७०-७२ । ६. "सामान्यं वा विशेषो वा ग्राह्यं मानेऽत्र कल्प्यते ।"—मी. श्लो. प्रत्यक्ष. श्लो. १४ । ७. चिरं आ. ।

सर्वज्ञो नास्ति अविद्यापरनाममायावशात्प्रतिभासमानः सर्वः प्रपञ्चोऽपारमार्थिकः । परब्रह्मैव परमार्थसत् ॥७६॥

§ ५४९. उपसंहरन्नाह—

जैमिनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम् ॥७७॥

§ ५५०. व्याख्या—अपिशब्दान्न केवलमपरदर्शनानां संक्षेपो निवेदितो जैमिनीयमतस्याप्ययं संक्षेपो निवेदितः । वक्तव्यस्य बाहुल्यादल्पीयस्यस्मिन् सूत्रे समस्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्संक्षेप एवं प्रोक्तः । अथ प्रागुक्तमतानां सूत्रकृन्निगमनमाह[2] 'एवं' इत्यादि । एवम् इत्थमास्तिकवादानां जीवपरलोकपुण्यपापाद्यस्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिकसांख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपेण कीर्तनं वक्तव्याभिधानं संक्षेपकीर्तनं कृतम्[3] ॥७७॥

§ ५५१. अत्रैव विशेषमाह—

नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥७८॥

§ ५५२. व्याख्या—अन्ये केचनाचार्या नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं पार्थक्यं न मन्यन्ते । एकदेवतत्वेन तत्त्वानां निष्प्रत्यूहमन्तर्भावेनैक्यस्य एव भेदस्य भावाच्च नैयायिकवैशेषिकाणां मिथो

जिस तरह सीपमें चांदीकी सत्ता न होकर उसका प्रतिभास होता है उसी तरह यह जगत् अपनी वास्तविक सत्ता न रखकर भी अविद्यासे प्रतिभासित होता है । जगत्प्रपंच मिथ्या है । ब्रह्म ही परमार्थ सत् है ॥ ७६ ॥

§ ५४९. उपसंहार—

इस तरह जैमिनि मतका संक्षिप्त कथन समाप्त हुआ । इसके साथ ही साथ आस्तिकदर्शनोंका निरूपण भी समाप्त होता है ॥ ७७ ॥

§ ५५०. अपिशब्दसे सूचित होता है कि केवल अन्य दर्शनोंका ही कथन नहीं किया है किन्तु जैमिनिदर्शनका भी यह संक्षिप्त कथन किया गया है । कहना तो बहुत कुछ था, परन्तु ग्रन्थकी मर्यादाको देखते हुए इस संक्षिप्त सूत्र ग्रन्थमें संक्षिप्त कथन करना ही उचित है । पहले कहे गये मतों का उपसंहार करते हैं—इस तरह जीव, परलोक, पुण्य, पाप आदिके अस्तित्वको माननेवाले बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इन छह आस्तिकदर्शनोंका संक्षेपसे कथन किया गया है ॥७७॥

§ ५५१. विशेष वक्तव्य—

कोई आचार्य नैयायिक और वैशेषिक दर्शनको दो नहीं मानकर इन्हें एक ही मानते हैं, इनमें भेद नहीं करते, उनकी दृष्टिसे पांच ही आस्तिकवादी दर्शन हैं ॥७८॥

§ ५५२. कोई-कोई आचार्य नैयायिक मतसे वैशेषिक मतको पृथक् नहीं मानते । उनका तात्पर्य है कि—दोनों ही एक देवताको मानते हैं, दोनों ही एक-दूसरेके तत्त्वोंका अन्तर्भाव कर

---

१. प्रोक्तमतानां म० २ । २. –ह एवमित्थमा –म० २ । ३. कृतं ॥७७॥ इति तर्करहस्यदीपिकायां गुणरत्नसूरिविरचितायां मीमांसकमतदर्शनो नाम षष्ठः प्रकाशः । न वैशेषिका नाप्यपादा न सांख्या न लोकायिता मापि सांख्या भवन्ति । न मीमांसकास्त्वालुमेतं पतन्तं विशुद्धस्वनेकान्तरूपस्वमीशः ॐ नमः पार्श्वपरमेश्वराय । अथार्थव विशेषमाह म० २ ।

पतेऽन्तर्भवन्ति । तेषामन्तर्भावे सति आस्तिकवादिनः पञ्चैव न पुनः षट् ॥७८॥

§ ५५३. अथ दर्शनानां संख्या षडिति या जगत्प्रसिद्धा सा कथमुपपादनीयेत्याशङ्क्याह—

षड्दर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल ।
लोकायतमतक्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम् ॥७९॥

§ ५५४. व्याख्या—ये नैयायिकवैशेषिकयोर्मतमेकमाचक्षते तन्मते षड्दर्शनसंख्या तु—षण्णां दर्शनानां संख्या पुनर्लोकायता नास्तिकास्तेषां यन्मतं तस्य [2]क्षेपे मीलन एव । किलेत्याप्तवादे । पूर्यते [3]पूर्णीभवेत् । तेन कारणेन तन्मतं चार्वाकमतं कथ्यते स्वरूपतः प्ररूप्यते । अत्राद्यपादे सप्ताक्षरं छन्दोऽन्तरमिति न छन्दःशास्त्रविरोधः शङ्कनीयः ॥७९॥

■

अथ लोकायतमतम्

§ ५५५. प्रथमं नास्तिकस्वरूपमुच्यते[4] । कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजान्ताश्च[5] केचन नास्तिका भवन्ति । ते च जीवपुण्यपापादिकं न मन्यन्ते । चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते । केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पञ्चमं भूतमभिमन्यमानाः पञ्चभूतात्मकं जगदिति

लेते हैं, अतः इनमें बहुत थोड़ा ही भेद रह जाता है । अतः यही उचित है कि इनको पृथक् न मानकर एक ही मानना चाहिए । इन आचार्योंके मतसे आस्तिकदर्शन पाँच ही होते हैं न कि छह ॥७८॥

§ ५५३. 'जब आस्तिकदर्शन पाँच ही हैं तब दर्शनोंकी जगत्प्रसिद्ध षट् संख्या कैसे बनेगी ? संसारमें तो 'षड्दर्शन' ही प्रसिद्ध हैं' इस शंकाका समाधान करते हैं—

इन आचार्यों के मतमें पाँच आस्तिकदर्शनोंमें छठवाँ नास्तिक चार्वाकदर्शन मिलानेपर दर्शनोंकी छह संख्या पूर्ण होती है, इसीलिए चार्वाक मतका भी निरूपण करते हैं ॥७९॥

§ ५५४. जो आचार्य नैयायिक मत और वैशेषिक मतको एक ही मानते हैं उनके मतसे दर्शनोंकी छह संख्या पाँच आस्तिकदर्शनोंमें लोकायत इस दृश्य लोकको ही माननेवाले नास्तिकदर्शनके मिलानेपर ही पूर्ण होती है । इसीलिए चार्वाकमतका स्वरूप कहते हैं । इस श्लोकके पहले पादमें सात अक्षर हैं अतः ऐसा ही कोई आर्षछन्द मानना चाहिए । इसे अनुष्टुप् छन्द मानकर छन्दःशास्त्रके विरोधकी सम्भावना नहीं करनी चाहिए । यह आर्षग्रन्थ है ॥७९॥

■

§ ५५५. सर्वप्रथम नास्तिकोंका स्वरूप कहते हैं—चार्वाक साधु कापालिकोंकी तरह हाथमें एक कपाल—खप्पर रखते हैं और शरीरमें भस्म लगाते हैं । ब्राह्मणोंसे लेकर अन्त्यज—शूद्र तक सभी जातिके लोग चार्वाकयोगियोंमें मिलते हैं । ये आत्मा, पुण्य, पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके झगड़ेमें न पड़कर इनकी सत्ताका सर्वथा लोप करते हैं । इस संसारको पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयरूप ही मानते हैं । इनसे अतिरिक्त किसी पाँचवें तत्त्वकी सत्ता इन्हें मान्य नहीं है, कोई चार्वाक आचार्य आकाशको भी पाँचवाँ भूत मानकर जगत्को पाँचभौतिक

---

१. पुनर्लोकायिता म० १ । पुनर्लोकायिता म० २ । २. क्षेपेण मीलनत एव म० २ । ३. पूर्णीभावात् म० २ । ४. –पं प्रोच्यते म० २ । ५. –जान्ताश्च आ०, प० १, प० २ ।

निगदन्ति । तन्मते भूतेभ्यो [1]मदशक्तिवच्चैतन्यमुत्पद्यते । [2]जलबुद्बुदवज्जीवाः । चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति । ते च मद्यमांसे भुञ्जते [3]मात्राद्यगम्यागमनमपि कुर्वते । वर्षे वर्षे कस्मिन्नपि दिवसे[4] सर्वे संभूय यथाकामनिर्गमं [5]स्त्रीभिरभिरमन्ते । धर्मं कामादपरं न मन्यते । तन्नामानि चार्वाका लोकायता इत्यादीनि । 'गल चर्व अदने' चर्वन्ति भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः । "मयाकस्यामाक" [ ] इत्यादिसिद्धहैमौणादिदण्डकेन शब्दनिपातनम् । लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकास्तत्त्ववाचरन्तिस्मेति लोकायता लोकप्रतिका इत्यपि । बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति ।

§ ५५६. अथ तन्मतमेवाह—

कहते हैं । इनके मतमें इन भूतोंके विशिष्ट संयोगसे ही महुआ आदिके सड़ानेपर शराबमें मादकशक्तिकी तरह भूतोंमें ही चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है । जिस तरह जलमें बुलबुले उत्पन्न होते और विलीन होते रहते हैं उसी तरह जीव भी इन्हीं भूतोंसे उत्पन्न होकर इन्हींमें लीन होते रहते हैं । चैतन्य विशिष्ट शरीरका नाम ही आत्मा है । ये शराब पीते हैं, मांस खाते हैं तथा माता आदि अगम्या स्त्रियोंसे व्यभिचार करनेमें नहीं चूकते । ये लोग वाममार्गियोंकी तरह अगम्यागमन, शराब पीना तथा मांस भक्षण आदि धर्मबुद्धिसे करते हैं । ये लोग प्रतिवर्ष किसी नियत दिनमें इकट्ठे होते हैं । और जिस स्त्रीका नाम जिस पुरुषके साथ निकल आवे वह उसके साथ रमण करता है । ये सब स्त्री और पुरुषोंके नाम एक-एक कागजके टुकड़े पर लिखकर दो पृथक् कूड़ोंमें रख देते हैं और आंख मूंदकर एक स्त्रीका नाम और एक पुरुषका नाम निकालते हैं । इस विधिसे जिस स्त्रीका जिस पुरुषके साथ नाम निकल आता है वे दोनों चाहे माँ बेटे हो क्यों न हों शराब पीकर मैथुन सेवन करते हैं । यह इनका सामूहिक व्यभिचारका पर्व दिन माना जाता है । काम सेवनके सिवाय इनका और कोई दूसरा धर्म नहीं है । चार्वाक लोकायत आदि नामोंसे व्यवहृत होते हैं । गल और चर्व धातुएँ भक्षणार्थक हैं । अतः चर्वन्ति—खाना-पीना मौज उड़ाना ही जिनका एक मात्र लक्ष्य है, जो पुण्य-पाप आदि अतीन्द्रिय वस्तुओंको वास्तविक नहीं मानते वे चार्वाक हैं । 'मयाकस्यामाक' आदि सिद्ध हेमव्याकरणके औणादिक सूत्रसे 'चार्वाक' शब्द निपात संज्ञक सिद्ध होता है । साधारण विचारशून्य मूर्ख लोगोंकी तरह आचरण करनेवाले लोकायत या लौकायतिक कहलाते हैं । चार्वाकोंके गुरु बृहस्पति हैं । अतः बृहस्पतिके द्वारा प्रणीत मतका अनुसरण करनेके कारण ये बार्हस्पत्य भी कहे जाते हैं ।

§ ५५६. अब इनके मतका निरूपण करते हैं—

१. "मदशक्तिवच्चैतन्यमिति ।" —प्रकरण पं० पृ० १४६ । न्यायमं० पृ० ४७ । ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३ । न्यायकुमु० पृ० ३४२ । "चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते । किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ॥" —सर्वदर्शनसं० पृ० ५ । "तेभ्य एव तथा ज्ञानं जायते व्यज्यतेऽथवा ।" —तत्त्वसं० "तेभ्यश्चैतन्यमिति, तत्र केचिद् वृत्तिकारा व्याचक्षते उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्, अन्ये अभिव्यज्यते इति ।" —तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० । ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३। प्रमेयक० पृ० ११७ । २. "यतः "जलबुद्बुदवज्जीवाः ।" यथैव हि समुद्रादौ नियामिकादृष्टरहिताः पदार्थसामर्थ्यवशाद् वैचित्र्यभाजो बुद्बुदाः प्रादुर्भवन्ति यथा सुखदुःखवैचित्र्यभाजो जीवाः; पुनः कायाकारपरिणतभूतव्यतिरिक्ता नित्यादिस्वभावाः तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् ।"—न्यायकुमु० पृ० ३४२ । ३. मात्राद्यगम्यगमन –आ०, मात्राद्यगम्यागमन –म० २, मात्राद्यगमन –प० १, प० २ । ४. दिने सर्वे म० २ । ५. स्त्रीभी रमन्ते म० २ ।

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥८०॥

§ ५५७. व्याख्या—[1]लोकायता नास्तिका एवम् इत्थं वदन्ति । कथमित्याह । जीवश्चेतनालक्षणः परलोकयायी नास्ति, पञ्चमहाभूतसमुदभूतस्य चैतन्यस्येहैव भूतनाशे नाशात्परलोकानुसरणसंभवात् । जीवस्थाने देव इति पाठे तु देवः सर्वज्ञादिर्नास्ति । तथा न निर्वृतिर्मोक्षो नास्तीत्यर्थः । अन्यच्च धर्मश्चाधर्मश्च धर्माधर्मौ न विद्येते पुण्यपापे सर्वथा न स्त इत्यर्थः । न नैव पुण्यपापयोः फलं स्वर्गनरकादिरूपमस्ति, धर्माधर्मयोरभावे कुतस्त्यं तत्फलमिति भावः ॥८०॥

§ ५५८. सोल्लुण्ठं यथा ते स्वशास्त्रे प्रोचिरे तथैव दर्शयन्नाह—तथा च तन्मतम् ।

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥८१॥

§ ५५९. 'तथा च' इत्युपदर्शने । तन्मतं प्रक्रमान्नास्तिकमतम् । तत्कीदृगित्याह अयं-प्रत्यक्षो लोको मनुष्यलोकः । एतावानेव एतावन्मात्र एव । यावान् यावन्मात्रः । इन्द्रियगोचरः इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च तेषां गोचरो विषयः, पञ्चेन्द्रियविषयीकृतमेव वस्तु विद्यते

लोकायत—चार्वाक कहते हैं कि जीव, मोक्ष, धर्म, अधर्म तथा पुण्य और पापका फल आदि कुछ भी नहीं है ॥८०॥

§ ५५७. नास्तिक लोग कहते हैं कि—इस लोकसे परलोकमें जानेवाला चेतनालक्षणवाला कोई जीव नामका स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। पृथिवी आदि पाँच महाभूतोंके विशिष्ट मिश्रणसे उत्पन्न होनेवाला जीव इन भूतोंके साथ यहीं इसी लोकमें नष्ट हो जाता है, परलोक तक उसका जाना असम्भव है। कहीं 'जीवः' की जगह 'देवः' पाठ है। सर्वज्ञ आदि विशेषणोंवाला कोई देव नहीं है। इसी तरह निर्वृति—मोक्ष भी नहीं है, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप आदि कुछ भी नहीं हैं और न पुण्य-पापके फल स्वर्ग-नरक आदि हैं। जब धर्म-अधर्म ही नहीं हैं तब स्वर्ग-नरक कहाँसे आयेंगे ? जड़ ही नहीं है तब फलकी बात निरर्थक ही है ॥८१॥

§ ५५८. चार्वाक लोग जिस तरह दूसरोंकी हँसी करते हुए अपने शास्त्रोंमें तत्त्वनिरूपण करते हैं उसका थोड़ा नमूना बताते हैं—

जितना आँखोंसे दिखाई देता है इन्द्रियोंसे गृहीत होता है उतना ही लोक है। जो मूर्ख लोग अनुमानकी चर्चा करते हैं उन्हें भेड़ियेके पैरके कृत्रिम चिह्नोंसे उसकी व्यर्थता बता देनी चाहिए ॥८१॥

§ ५५९. कई चार्वाक अपनी धर्मभीरु स्त्रीको भेड़ियेके पैरके कृत्रिम चिह्नोंसे अनुमानकी व्यर्थता बताकर उसे प्रत्यक्ष सुखदायी विषय-भोगोंमें अनुरक्त रहनेकी प्रेरणा करते हैं। यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला मनुष्यलोक स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियोंके द्वारा ही विषय होनेवाले पदार्थों तक ही सीमित है। इनसे परे कोई अतीन्द्रिय वस्तु नहीं है। आस्तिकवादी जिन जीव, पुण्य, पाप, उनके फल स्वर्ग नरक आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको मानते हैं वे वस्तुतः हैं ही नहीं क्योंकि उनका प्रत्यक्ष-साक्षात्कार नहीं होता। यदि इस तरह काल्पनिक और अप्रत्यक्ष पदार्थोंको मानने लगें; तो खरगोशके सींग तथा वन्ध्या—बाँझके भी लड़केका सद्भाव मान लेना चाहिए। पाँच प्रकारकी इन्द्रियोंके विषयोंको छोड़कर संसारमें अन्य किसी अतीन्द्रिय पदार्थ-

---

१. लोकायिता म० १, म० २, प० १, प०२ । २. नास्ति अन्यच्च म०२ । ३. –दि च म० २ ।

नापरं किमपि । लोकग्रहणाल्लोकस्थाः पदार्थसार्था ग्राह्याः । ततो यत्परे जीवं पुण्यपापे तत्फलं स्वर्गनरकादिकं च प्राहुः, तन्नास्ति, अप्रत्यक्षत्वात् । अप्रत्यक्षमप्यस्तीति चेत् । शशशृङ्ग-वन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । न हि पञ्चविधेन प्रत्यक्षेण भूवुकठोरादिवस्तूनि तिक्तकटुकषायादिद्रव्याणि सुरभिदुरभिभावान् भूभूधरभुवनभूरुहस्तम्भाम्भोरुहादिनरपशुश्वापदा-दिस्थावरजङ्गमपदार्थसार्थान् विविधवेणुवीणादिध्वनींश्च विमुच्य जातुचिदप्यन्यदनुभूयते । यावता च भूतोद्भूतचैतन्यव्यतिरिक्तश्चैतन्यहेतुतया परिकल्प्यमानः परलोकयायी जीवः प्रत्यक्षेण नानुभूयते, तावता जीवस्य सुखदुःखनिबन्धनौ धर्माधर्मौ तत्प्रकृष्टफलभोगभूमी स्वर्गनरकौ पुण्यपापक्षयोत्थ-मोक्षसुखं चोपवर्ण्यमानानि आकाशे विचित्रचित्रविरचनमिव कस्य नाम न हास्यावहानि । ततो येऽत्रास्पृष्टमनास्वादितमनाघ्रातमदृष्टमश्रुतमपि जीवादिकमाद्रियमाणाः स्वर्गापवर्गादिसुखलिप्सया[1] विप्रलब्धबुद्धयः शिरस्तुण्डमुण्डनदुश्चरतरतपश्चरणाचरणसुदुःसहतपनातपसहनादिक्लेशैर्यत्सौवं जन्म क्षपयन्ति, तत्तेषां महामोहोद्रेकविलसितम् । तदुक्तम्—

"तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चना ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥१॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेन्नास्त्यृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥२॥"

का सद्भाव है ही नहीं। कोमल कठोर आदि छूने लायक पदार्थ, तीता कड़वा कषायला आदि चखने लायक पदार्थ, सुगन्धित और दुर्गन्धित आदि सूँघे जानेवाले पदार्थ, पृथिवी पहाड़ जगत् वृक्ष खम्भा कमल आदि, मनुष्य पशु श्वापद आदि स्थावर—स्थित रहनेवाले और जंगम—चलने-फिरनेवाले, आँखोंसे दिखने लायक पदार्थ तथा अनेक प्रकारके वीणा बाँसुरी आदिके सुनने लायक शब्दोंको छोड़कर संसारमें बचता ही क्या है? इन्हीं पदार्थोंका ही समुदाय जगत् है, इनसे अतिरिक्त किसी भी अतीन्द्रिय पदार्थकी सत्ता नहीं है। जब पृथिवी आदिसे उत्पन्न होनेवाले चैतन्यसे भिन्न कोई स्वतन्त्र अतीन्द्रिय परलोकगामी जीव ही प्रत्यक्ष अनुभवमें नहीं आता उसका साक्षात्कार नहीं होता तब उसके सुख-दुःखके कारण धर्म और अधर्म, उत्कृष्ट धर्म और अधर्मके फल भोगनेके स्थान स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप दोनोंके नाशसे होनेवाला मोक्ष सुख इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी कल्पना तो उसी तरह हास्यास्पद तथा उपेक्षणीय है जिस तरह आकाशमें अनेक रंगोंसे विचित्र चित्र बनानेकी खयाली कल्पना। इस तरहकी अननुभूत बातोंको सुनकर किस समझदारको हँसी न आयगी? इसीलिए जो लोग छूने चाटने सूँघने देखने तथा सुननेके अयोग्य—जिन्हें न छू सकते हैं न चाट सकते हैं न सूँघ सकते हैं न देख सकते हैं और न सुन ही सकते हैं ऐसे अतीन्द्रिय जीवादि पदार्थोंकी कल्पना करके स्वर्ग मोक्ष आदिके सुखकी चाहसे ठगे जाकर भ्रष्ट बुद्धिसे शिर दाढ़ी मुड़ाकर कठोर तप तपते हैं, दुश्चर व्रत धारण करते हैं, गरमीकी कठोर धूप आदिको सहन करते हैं तथा और भी नाना प्रकारके क्लेशोंको सहकर इस मनुष्य जन्मको बिगाड़ते हैं उनकी मूर्खता तथा महामोहके तीव्र उदयको देखकर उन बेचारों पर दया आती है। कहा भी है—विविध तप केवल निरर्थक दारुण यातनाएँ सहना ही है। संयम भोगोंसे वञ्चित रह जाना है तथा अग्निहोत्र आदि क्रियाएँ लड़कोंके खिलवाड़ जैसी ही मालूम होती हैं। इसलिए जब तक जियो तब तक सुखसे जियो, खूब विषय सुख भोगो। जब यह देह जल जायगी शरीर

---

१. लिप्साविप्रल-मे० १, प० १, प० २, आ०, क०। २. तथा चाभाणकः—अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् । बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥" —सर्वदर्शनसं० पृ० ५। ३. "यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ इति लोकगाथाम्....।"—सर्वदर्शनसं० पृ० २।

इत्यादि ततः सुस्थितमिन्द्रियगोचर एव तात्त्विक इति ॥

§ ५६०. अथ ये परोक्षे विषयेऽनुमानादीनां प्रामाण्येन जीवपुण्यपापादिकं व्यवस्थापयन्ति न जातुचिद्विरमन्ति तान् प्रबोधयितुं वृष्टान्तं प्राह 'भद्रे वृकपदं पश्य' इति। अत्रायं संप्रदायः—कश्चित्पुरुषो नास्तिकमतवासनावासितान्तःकरणो निजां जायामास्तिकमतनिबद्धमतिं स्वशास्त्रोक्तयुक्तिभिरभियुक्तः प्रत्यहं प्रतिबोधयति। सा तु यदा न प्रतिबुध्यते तदा स इयमनेनोपायेन प्रतिबोत्स्यत इति स्वचेतसि विचिन्त्य निशायाः पश्चिमे यामे तया समं नगरान्निर्गत्य तां प्रत्यवादीत्। 'प्रिये! य इमे नगरवासिनो नराः परोक्षविषयेऽनुमानादिप्रामाण्यमाचक्षाणा लोकेन च बहुश्रुततया व्यवह्रियमाणा विद्यन्ते, पश्य तेषां चारुविचारणायां चातुर्यम्' इति। ततः स नगरद्वारादारभ्य चतुष्पथं यावन्मन्थरतरप्रसृमरसमीरणसमीभूतपांशुप्रकरे राजमार्गे द्वयोरपि स्वकरयोरङ्गुलित्रयं मीलयित्वा स्वशरीरस्योभयोः पक्षयोः पांशुषु न्यासेन वृकपदानि प्रचक्रे। ततः प्रातस्तानि पदानि निरीक्ष्यास्तोको लोको राजमार्गेऽमिलत्। बहुश्रुता अपि तत्रागता जनान् प्रत्यबोचन् 'भो भो वृकपदानामन्यथानुपपत्त्या नूनं निशि [५]वृकः कश्चन वनतोऽत्रागच्छत्' इत्यादि। ततः स तांस्तथा-

छूट कर रास्ता हो जायगा तब इसका फिर मिलना कठिन है। इसलिए आगेके सुखकी झूठी इच्छासे मौजूद अवसरको नहीं चूकना चाहिए। इसलिए यह बात सुनिश्चित है कि इन्द्रियगोचर पदार्थ ही तात्त्विक हैं उन्हींकी वास्तविक सत्ता है।

§ ५६०. जो आस्तिकवादी जीव पुण्य पाप आदि परोक्ष अतीन्द्रिय पदार्थोंको परोक्ष विषयक अनुमान आगम आदिको प्रमाण मानकर सिद्धि करते हैं और अपने इस निर्मूल तथा निरर्थक प्रयत्नसे विरत नहीं होते, मूढ़ लोगोंको अतीन्द्रिय सुखका लोभ देकर ठगते हैं उनके अनुमानकी व्यर्थता दिखानेके लिए उनको बुद्धिसे ठिकाने लानेके लिए वृक पदका दृष्टान्त दिया है। एक परमनास्तिक चार्वाक था। उसकी पत्नी परम धार्मिक तथा आस्तिक थी। वह प्रतिदिन अपनी स्त्रीको नास्तिक युक्तियोंसे धार्मिक कार्य और अनुमान आदिकी व्यर्थता समझाया करता था। परन्तु स्त्रीकी धार्मिक और परलोक आदि पर दृढ़ विश्वास रखनेवाली बुद्धिमें परिवर्तनके कोई लक्षण नहीं दिखाई दिये। स्त्री हमेशा यही कहती थी कि प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थोंके सिवाय अनुमान और आगमसे सिद्ध होनेवाले स्वर्ग नरक परलोक आदि भी हैं। मतलब यह कि जब उसकी स्त्रीकी आस्तिक बुद्धि नहीं पलटी तब उसने एक उपाय सोचा। वह एक दिन रात्रिके पिछले पहर अपनी स्त्रीको लेकर नगरके बाहर गया। नगरके बाहर पहुँचकर अपनी स्त्रीसे प्रेमपूर्वक बोला—प्रिये, इस नगरमें बहुत-से बहुश्रुत पण्डित हैं, जो सदा परोक्ष पदार्थोंके लिए अनुमान और आगमकी प्रमाणताकी घोषणा किया करते हैं और नगरमें अपने थोथे पल्लवग्राहिज्ञानसे बहुश्रुत विद्वान् बने हुए हैं। इनके प्रभावमें आकर तुम जैसे मूढ़ लोग परलोक परलोक चिल्लाया करते हैं। आज हम उनकी बुद्धि तथा विचार करनेकी शक्तिकी परीक्षा करते हैं और उनकी पोलीलाका दिवाला खोलते हैं। यह कहकर उसने नगरके दरवाजेसे लेकर चौराहे तक सारे राजमार्गमें भेड़ियेके पैरके निशान बना दिये। प्रातःकाल हो रहा था, अतः वायुके मन्द मन्द झकोरोंसे नगरकी मुख्य सड़कको धूल बिलकुल एक-सी समतल हो गयी थी। उसने उस समतलवाली धूलिमें अपने हाथके अँगूठा प्रदेशिनी—अँगूठेके पासकी अंगुली तथा बीचकी अँगुलीको मिलाकर दोनों हाथोंके बल चल कर ठीक भेड़ियेके पैरोंके समान चिह्न बड़ी ही कुशलतासे बना दिये। जब प्रातःकाल हुआ, और रास्तेसे लोग आने-जाने लगे तब उन भेड़ियोंके पैरके निशानोंको देखकर बहुत-से लोग उस रास्तेपर इकट्ठे हो गये। इसी समय नगरके बहुश्रुत पण्डित भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने अपनी थोथी

१. जायां नास्तिकमतिनिबद्धमतिस्व -म० २। २. -त्यावादीत् म० २। ३. चारुविचारविचारणायां म० १, म० २। ४. -मन्थरप्रसृ -म० २। ५. वृकपशुः वन - म० २।

भाषमाणास्तिरोक्ष्य निजां भार्यां जजल्प। हे भद्रे प्रिये वृकपदं 'अत्र आतावैकवचनं' पश्य निरीक्षस्व किं तदित्याह। यद्-वृकपदं वदन्ति जल्पन्त्यबहुश्रुता लोकरूढ्या बहुश्रुता अप्येते परमार्थमजानन्तो भाषमाणा अबहुश्रुता एवेत्यर्थः। 'यद्वदन्ति बहुश्रुताः' इति पाठे त्वेवं व्याख्येयम्—लोकप्रसिद्धा बहुश्रुता इति, तथा ह्येते वृकपदविषये सम्यगविदितपरमार्था बहवोऽप्येकसदृशमेव भाषमाणा अपि बहुमुग्धजनैरन्यान्यमुत्पादयन्तोऽपि च ज्ञाततत्त्वानामादेयवचना न भवन्ति। तथा बहवोऽप्यमी वादिनो धार्मिकच्छद्मधूर्ताः परवञ्चनैकप्रवणा यत्किञ्चिदनुमानागमादिभिर्दार्ढ्यमादृश्यं जीवाद्यस्तित्वं सदृशमेव भाषमाणा अपि मुधैव मुग्धजनान् स्वर्गादिप्राप्तिभक्ष्यसुखसंततिप्रलोभनया भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यहेयोपादेयादिसंकटे पातयन्तो बहुमुग्धधार्मिकव्यामोहमुत्पादयन्तोऽपि च शतामवधीरणीयवचना एव भवन्तीति। ततः सा पत्युर्वचनं सर्वं मानितवती ॥८१॥

§ ५६१. तवनु च तस्याः स पतिर्यदुपविष्टवान् तदेव दर्शयन्नाह—

पिब खाद च चारुलोचने, यदतीतं वरगात्रि तन्न ते ।
न हि भीरु गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥८२॥

बुद्धिसे विचारकर उपस्थित लोगोंसे कहा कि—भाइयो, रातमें कोई भेड़िया जंगलसे नगरमें अवश्य आया है, यदि नहीं आया होता तो उसके पैरके चिह्न कहाँसे आते? पासमें खड़ा हुआ चार्वाक उन पण्डितोंकी इस अंट-संट बातचीतको और अपनी पत्नीका ध्यान खींचता हुआ हँसीसे बोला कि—हे भद्रे प्रिये, इन भेड़ियेके पैरोंको देखो! ये यद्यपि पैरके चिह्न बहुत हैं फिर सामान्य रूपसे कथन करनेके लिए एकवचनका प्रयोग किया। बहुश्रुत रूपसे प्रसिद्ध होकर भी वस्तुतः अब बहुश्रुत पोंगा पण्डित इन्हें भेड़ियाके पैर बता रहे हैं। ये तत्त्वको नहीं समझनेके कारण वस्तुतः अबहुश्रुत ही हैं। 'यद्वदन्ति बहुश्रुताः' ऐसा भी पाठ मिलता है। इस पाठका अर्थ यह करना चाहिए—ये लोकमें बहुश्रुत रूपसे प्रसिद्ध पण्डित इन्हें भेड़ियाके पैर बता रहे हैं। जिस प्रकार ये लोग भेड़ियाके पैर और मनुष्यके द्वारा किये गये कृत्रिम चिह्नोंका भेद नहीं समझकर जो एकने कह दिया उसीका अनुगमन कर गतानुगतिक हो इन्हें भेड़ियाके पैर ही मानकर स्वयं ठगे जा रहे हैं तथा बहुत-से मूर्ख लोगोंको अज्ञानके गड्ढेमें ढकेल रहे हैं और जिस तरह ये इस प्रकारकी मूर्खतापूर्ण बातोंसे भेड़ियाके पैर और कृत्रिम चिह्नोंके भेदको समझनेवालोंकी हँसी और उपेक्षाके पात्र होते हैं ठीक उसी तरह ये बहुत-से धर्मकी आड़में स्वार्थ साधन करनेवाले धूर्त लोग दूसरोंको ठगनेके लिए तथा अपना स्वार्थ साधनेके लिए स्वर्ग आदिके सुखोंका लोभ दिखाकर इन भोले प्राणियोंको 'यह भक्ष्य है यह अभक्ष्य है, यह गम्य है यह अगम्य है, यह हेय है यह उपादेय है,' इत्यादि अपनी बुद्धिसे कल्पित भक्ष्याभक्ष्य आदिकी भूलभुलैयामें डाल कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। इस तरह ये बहुत-से मूर्ख धार्मिकोंकी बुद्धिको अपनी कुशलतासे काबूमें करके इन्हें अनेक तरहसे ठगते हैं, परन्तु जिन्हें वास्तविक तत्त्वज्ञान है उन समझदारोंके तो उपेक्षा एवं तिरस्कारके पात्र ही होते हैं। इस तरह चार्वाकने अपनी स्त्रीकी आस्तिक बुद्धिको पलट दिया। वह मूढ़ स्त्री अपने पतिके वचनोंपर ठीक उसी तरह विश्वास करने लगी जैसे कि वह स्वर्ग और नरक आदिपर करती थी।

§ ५६१. इसके बाद उसके पतिने उस स्त्रीको जो उपदेश दिया, उसे ध्यानसे सुनिए—

हे सुलोचने, इसलिए आनन्दसे जो चाहो पियो और जो मनमें आये खाओ। हे सुन्दरि, यह चार दिनकी जवानी बीत जानेपर वापिस नहीं आयगी। जो गया वह फिर तुम्हें नहीं मिल सकता। स्वर्ग और नरकके चक्करमें पड़कर इस परोसे हुए थालको मत छोड़ो। यह शरीर

१. —स्व भ —म० २। २. —जनानामात्मम् —म० २। ३. सतामनवधारणीय —म० २।

§ ५६२. **व्याख्या**—हे **चारुलोचने** शोभनाक्षि **पिब पेयापेयव्यवस्थालोपेन मदिरादेः पानं कुरु। न केवलं पिब खाद च भक्ष्याभक्ष्यनिरपेक्षतया मांसादिकं भक्षय च। पिबखादक्रियायोरुपलक्षणत्वाद्गम्यागम्यविभागत्यागेन भोगानामुपभोगेन स्वयौवनं सफलीकुर्वित्यपि अधोऽत्र ज्ञातव्यम्। यद् यौवनाद्यतीतम् अतिक्रान्तं हे प्रधानाङ्गि तदभूयस्ते तव न भविष्यतीत्यध्याहार्यम्। चारुलोचने वरगात्रीति संबोधनद्वयस्य समानार्थस्याप्यावरानुरागातिरेकान्न पौनरुक्त्यदोषः। यदुक्तम्—**

"अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु।
ईषत्संभ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥११॥" [ ]

§ ५६३. **अथ स्वेच्छाविरचिते पाने खादने [1]भोगसेवने च सुप्रापा परलोके कष्टपरम्परा, सुलभं च सति सुकृतसंचये भावान्तरे भोगसुखयौवनादिकमिति पराशङ्कां पराकर्तुं प्राह। नहि—** नैव हे भीरु! परोक्तमात्रेण नरकादिप्राप्यदुःखभयाकुले! गतम्—इह भवादतिक्रान्तं सुखयौवनादि निवर्तते परलोके[2] पुनरप्युपढौकते। परलोकसुखलिप्सया तपश्चरणादिकष्टक्रियाभिरित्यसुखोपेक्षणं व्यर्थमित्यर्थः।

§ ५६४. **अथ शुभाशुभकर्मपारतन्त्र्येण जीवेनामुं कायमधुनाधिष्ठाय स्थितेनावश्यं परलोकेऽपि स्वकर्महेतुकं सुखदुःखादिवेदितव्यमेवेत्याशङ्क्य[3] प्राह। समुदयमात्रं समुदयो भूतचतुष्टयसंयोग-**

पृथिवी आदिका समुदाय है और यहीं खतम हो जानेवाला है। परलोक तक नहीं आयेगा। अतः निर्भय होकर बिल खोलकर खाओ, पियो और मौज करो ॥८२॥

§ ५६२. हे चारुलोचने, पेय और अपेयका विचार छोड़कर खूब शराबके प्यालेपर प्याले ढालो। भक्ष्य अभक्ष्यके विचारको परवाह न करके मांस आदि जो मनमें आवे सो खाओ। खाना पीना ये क्रियाएँ अन्य बातोंकी भी सूचक हैं, अर्थात्—गम्य-अगम्यका विचार छोड़कर खूब तबियतसे भोग भोगो और अपनी इस चार दिनकी जवानीको सफल करो। जो जवानी या शरीरकी सुन्दरता लुनाई या गठन आदि चले जायेंगे, हे सुन्दरि, फिर वे तुम्हारे नहीं हो सकते। यद्यपि 'चारुलोचने और वरगात्रि' ये दोनों सम्बोधन पद समानार्थक हैं, फिर भी अत्यन्त आदर और अनुरागके सूचनके लिए प्रयुक्त होनेसे पुनरुक्त नहीं हैं। कहा भी है—"अनुवाद, आदर, वीप्सा-भृशार्थ-बहुलता, विनियोग, हेतु, असूया, ईषत्, संभ्रम, विस्मय, गणना तथा स्मरण, इन अर्थोंमें शब्दका दुबारा प्रयोग पुनरुक्त नहीं होता।"

§ ५६३. **आस्तिक स्त्री**—इच्छानुसार स्वच्छन्दता पूर्वक खाने-पीने तथा मजा मौज करनेसे तो पाप होगा और परलोकमें दुःख मिलेगा। यदि यहाँ थोड़ा खान पान आदिका विवेक रखकर संयत प्रवृत्ति करेंगे, तो पुण्यका संचय होनेसे परलोक भोग सुख यौवन आदि इससे भी अधिक मिलेंगे अतः विचारपूर्वक परलोकके सुख-दुःखका ध्यान रखकर ही प्रवृत्ति करना उचित है।

नास्तिक पति—हे इन धूर्तोंके बहकावमें आकर नरक आदिके दुःखोंसे डरनेवाली भीरु प्रिये, इस लोकका गया हुआ यौवन और सुख परलोकमें वापस नहीं आयेंगे। जो गया सो गया। इसलिए परलोकके सुखकी मिथ्या चाहसे तपश्चरण आदि क्रियाओंसे इस लोकके मौजूद भोगोंकी उपेक्षा करना बड़ी भारी मूर्खता है। यह तो बादल देखे बिना ही मौजूदा पानीका घड़ा फोड़ देना है।

§ ५६४. **आस्तिक स्त्री**—जो जीव अपने पूर्वकृत शुभ अशुभ कर्मोंके फलको इस शरीरमें भोग रहा है उसे आज किये गये कर्मोंके फलको भी परलोकमें दूसरा शरीर धारण करके भोगना ही पड़ेगा। कर्म तो भोगे बिना छूट ही नहीं सकते।

---

१. भोगासेव –म० २। २. –केषु पुन –म० २। ३. –व्याह समु –म० २।

स्तन्मात्रम् । मात्रशब्दोऽवधारणे । इदं प्रत्यक्षं कलेवरं शरीरम् एवास्तीत्यध्याहारः, न पुनर्भूतचतुष्टयसंयोगमात्रावपरो भवान्तरयायी शुभाशुभकर्मविपाकभोक्ता कायेे कश्चन जीवो विद्यते । भूतचतुष्कसंयोगश्च विद्युद्द्योत इव क्षणतो दृष्टो नष्टः । तस्मात्परलोकानपेक्षया यथेच्छं पिब खाद चेत्यर्थः ॥८२॥

§ ५६५. अथ प्रमेयं प्रमाणं चाह— किं च,

पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।
आधारो भूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ॥८३॥

§ ५६६. व्याख्या—'किं च' इत्यभ्युच्चये । पृथ्वी भूमिः, जलम् आपः, तेजो वह्निः, वायुः पवनः, भूतचतुष्टयम् । एतानि भूतानि चत्वारि आधारो भूमिरेतेषां भूतानामाधारोऽधिकरणं भूमिः पृथ्वी । 'चैतन्यभूमिरेतेषाम्' इति पाठे तु भूतचतुष्टयं किंविशिष्टं चैतन्यभूमिः चैतन्योत्पत्तिस्थानम्, भूतानि संभूयैकं चैतन्यं जनयन्तीत्यर्थः । एतेषां चार्वाकाणां मते 'प्रमाणभूमिरेतेषाम्' इति पाठान्तरे तु भूतचतुष्टयं प्रमाणभूमिः प्रमाणगोचरस्तात्त्विक एतेषां मते । मानं तु प्रमाणं पुनरक्षजमेव प्रत्यक्षमेवैकं न पुनरनुमानादिकं प्रमाणम् । हिशब्दोऽत्र विशेषणार्थो वर्तते । विशेषः पुनश्चार्वाकैर्लोक[5]यात्रानिर्वाहणप्रवणं धूमाद्यनुमानमिष्यते कश्चन न पुनः स्वर्गादृष्टादिप्रसाधकमलौकिकमनुमानमिति ॥८३॥

नास्तिक पति—मुग्धे, पृथिवी जल आग और हवाके विशिष्ट संयोगसे बने हुए शरीरको छोड़कर अन्य कोई जीव नामका पदार्थ है ही नहीं, जो इस लोकसे परलोक जाकर शुभ और अशुभ कर्मोंके फलको भोगेगा । जो कुछ है सो यह शरीर ही है । और यह शरीर क्या है, बिजलीकी चमकको तरह हम हमेशा इसे नष्ट होता हुआ देखते हैं । कितने ही शरीर प्रतिदिन नष्ट होते हैं, चितामें जले और खाक हो गये । इस शरीरमें भूतोंके संयोगसे उत्पन्न हुई चेतना भी बिजलीकी चमकको तरह जब कभी भी समाप्त हो सकती है । इसलिए परलोकका झगड़ा छोड़ो । उसे किसने देखा है ? जो सामने है, सो खाओ पीओ और मस्तीसे भोग भोगो ॥८२॥

§ ५६५. अब इनके प्रमाण और प्रमेयका निरूपण करते हैं—

किञ्च-और भी । पृथिवी जल अग्नि और वायु ये भूतचतुष्टय ही तत्त्व हैं । पृथिवी सबकी आधार है । इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है ॥८३॥

§ ५६६. किञ्च शब्द–अभ्युच्चय–'और भी' अर्थमें प्रयुक्त होता है । पृथिवी जल आग और हवा ये चतुष्टय ही तत्त्व हैं । पृथिवी इन भूतोंका आधार है । 'चैतन्यभूमिरेतेषाम्' यह पाठ भी देखा जाता है । चार्वाकोंके मतमें ये भूतचतुष्टय चैतन्यकी भूमि–उत्पत्तिके स्थान हैं । ये सब मिलकर एक चैतन्यको उत्पन्न करते हैं 'प्रमाणभूमिरेतेषाम्' इस पाठका 'इन चार्वाकोंके मतमें भूतचतुष्टय ही प्रमाणभूमि–प्रमाणके विषय अर्थात् प्रमेय हैं तत्त्व हैं ।' यह अर्थ होगा । ये लोग इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षको ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं अनुमान आदिको नहीं । 'हि' शब्द विशेष बातको सूचित करता है । वह विशेष बात यह है कि–चार्वाक लोक व्यवहारके निर्वाहके लिए धूम आदिसे अग्नि आदि लौकिक पदार्थोंके अनुमानको प्रमाण मान लेते हैं । हाँ, स्वर्ग अदृष्ट आदि अतीन्द्रिय अलौकिक पदार्थोंके अनुमानको व्यभिचारी तथा अप्रमाण कहते हैं ॥८३॥

---

१. जलं तेजो म० २ । २. पाठान्तरे तु म० २ । ३. मते तु प्रमाणं म० २ । ४. –कनिर्वा –म० २ । ५. –कमथ म० २ ।

§ ५६७. अथ भूतचतुष्टयीप्रभवा[1] देहे चैतन्योत्पत्तिः कथं प्रतीयताम् । इत्याशङ्क्याह—

पृथ्व्यादिभूतसंहत्या तथा देहपरीणतेः ।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि ॥८४॥

§ ५६८. व्याख्या—पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणानि यानि भूतानि तेषां संहतिः समवायः संयोग इति यावत् [2]तया हेतुभूतया । तथा तेन प्रकारेण या देहस्य परीणतिः [3]परिणामस्तस्याः सकाशात् चिदिति योगः । यद्वद्यथा सुराङ्गेभ्यो गुडधातक्यादिभ्यो[4] मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिः उन्मादकत्वं भवति, तद्वत्तथा चित् चैतन्यमात्मनि शरीरे। अत्रात्मशब्देनानेकार्थेन शरीरमेव ज्ञातव्यं, न पुनर्जीवः । अयं भावः—भूतचतुष्टयसंबन्धाद्देहपरीणामः, ततश्च देहे चैतन्यमिति । अत्र परीणतिशब्दे [5]परशब्दस्यैकस्यापि द्वाभ्यां सकाराभ्यां [6]दीर्घत्वं सिद्धम् । पाठान्तरं वा—

"पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां तथा देहादिसंभवः ।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्थितात्मता ॥" पृथिव्यादिभूतसंहत्यां[5] सत्यां तथा शब्दः पूर्वश्लोकापेक्षया समुच्चये, देहादिसंभवः । [7]आदिशब्दाद्भूभूधरादयो भूतसंयोगजा ज्ञेयाः । सुराङ्गेभ्यो यद्वन्मदशक्तिर्भवति, तद्वद् भूतसंबन्धाच्छरीर आत्मता सचेतनता स्थिता व्यवस्थितेति। यदुवाच वाचस्पतिः—"पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रियसंज्ञा,[8] तेभ्यश्चैतन्यम्" इति ॥८४॥

---

§ ५६७. अब भूतचतुष्टयसे उत्पन्न होनेवाले शरीरमें चैतन्यकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया बताते हैं—

जिस तरह महुआ आदि मादक सामग्रीसे मदशक्ति उत्पन्न होती है उसी तरह पृथिवी आदि भूतोंके विशिष्ट संयोगसे देहाकार परिणमनसे शरीरमें चैतन्य उत्पन्न होता है ॥८४॥

§ ५६८. पृथिवी जल अग्नि और वायु इन भूतोंके विशिष्ट संयोगसे भूतोंका शरीराकार रूपसे परिणमन होता है । जिस प्रकार गुड़ धातकी आदि शराबकी सामग्रीसे मादकशक्ति होती है उसी तरह शरीरमें चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है । 'आत्मा' शब्दके अनेक अर्थ होते हैं । अतः यहाँ आत्मा शब्दका शरीर अर्थ ही लेना चाहिए न कि जीव । तात्पर्य यह कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयके विशिष्ट संयोगसे देह बनती है फिर देहमें चैतन्य उत्पन्न होता है । परीणति शब्दमें परि उपसर्गको विकल्पसे दीर्घ हो गया है। इस श्लोकका यह पाठान्तर भी देखा जाता है—पृथिव्यादिभूतसंहत्यां तथा देहादिसंभवः । मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्थितात्मता ॥' अर्थात् पृथिवी आदि भूतोंका संयोग होनेपर देह आदि उत्पन्न होते हैं । पृथिवी पहाड़ आदि सभी पदार्थ भूतोंके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार मदिराकी सामग्रीसे मदशक्ति होती है उसी तरह भूतोंके विशिष्ट सम्बन्धसे शरीरमें आत्मता या सचेतनता आदि है । वाचस्पतिने कहा है—"पृथिवी जल अग्नि और वायु ये चार तत्त्व हैं । इनके समुदाय—विशिष्ट संयोगसे शरीर इन्द्रिय और विषयसंज्ञक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनसे चैतन्य होता है" ॥८४॥

---

१. प्रभावाद्देहे आ०, क० । २. तद्धेतुभूतया म० २ । तया हेतुतया प० १, प० २ । ३. परीणामः म० २ । ४. –विभ्यो मद –भ० १ । ५. यद्भावे –आ० । ६. –र्यां तथा भ० २ । ७. –शब्दादभूधरा –भ० १, भ० २, प० १, प० २ । ८. ताभ्यश्चैं –भ० २ । 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ।' –तत्त्वोप० पृ० १ । शां० भा० भामती १।३।५४ । तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० । तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २८ । युक्त्यनुशा० टी० पृ० ७३ । न्यायकुमु० पृ० ४४१ । न्यायवि० वि० द्वि० पृ० ५३ । स्या० रत्ना० पृ० १८६ । "ततो निराकृतमेत –'शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेभ्यः पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्तिः, पिष्टोदकगुडधातक्यादिभ्यो मदशक्तिवत् ।" – प्रमेयकम० पृ० ११५ ।

§ ५६९. एवं स्थिते तथोपदिशन्ति तथा वक्ष्यन्नाह—

तस्माद्दृष्टपरित्यागाद्यददृष्टे प्रवर्तनम् ।
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥८५॥

§ ५७०. व्याख्या—यस्माद्भूतेभ्यश्चैतन्योत्पत्तिः तस्मात्कारणाद्दृष्टपरित्यागात्—दृष्टं प्रत्यक्षानुभूतमैहिकं[1] लौकिकं यद्विषयजं सुखं तस्य परित्यागाददृष्टे परलोकसुखादौ तपश्चरणादिकष्टक्रियासाध्ये यत्प्रवर्तनं प्रवृत्तिः तल्लोकस्य विमूढत्वम् अज्ञानमेवेति चार्वाकाः प्रतिपेदिरे प्रतिपन्नाः । यो हि लोको विप्रतारकवचनोपन्यासत्रासितसंज्ञानो हस्तगतमिहत्यं सुखं विहाय स्वर्गापवर्गसुखप्रेप्सया तपोजपध्यानहोमादौ यद्यतते, तत्र तस्याज्ञानतैव कारणमिति [2]सन्मतोपदेशः ॥८५॥

§ ५७१. अथ ये शान्तरसपूरितस्वान्ता निरुपमं शमसुखं वर्णयन्ति, तानुद्दिश्य यच्चार्वाका ब्रुवते तदाह—

साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात्परो न हि ॥८६॥

§ ५७२. व्याख्या—साध्यं ध्यानं द्वेधा, उपादेयं हेयं च । उपादेये धर्मशुक्लध्यानयुगे हेये चार्तरौद्रध्यानयुगे । अथवा साध्ये साधनीये [3]कार्ये, उपादेये पुण्यकृत्ये तपःसंयमादौ, हेये च पापकृत्ये विषयसुखादिके क्रमेण वृत्तिनिवृत्तिभ्यां प्रवर्तननिवर्तनाभ्यां जने लोके या प्रीतिः मनःसुखं जायते समुत्पद्यते सा तेषां चार्वाकाणां मते [4]निरर्था निःप्रयोजना निःफलातास्विकीत्यर्थः । हि यस्मात् धर्मः

---

§ ५६९. इस तरह तत्त्वोंका व्याख्यान करके चार्वाक लोग जो कर्त्तव्य बताते है उसे ध्यानसे सुनिए—

चार्वाक कहते हैं कि—इसलिए दृष्ट-भोगोंको छोड़कर जो लोग अदृष्ट परलोकके सुखके लिए प्रवृत्ति करते हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं ॥८५॥

§ ५७०. चूंकि भूतोंसे ही चैतन्य उत्पन्न होता है अतः दृष्ट—प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक विषय-सुखोंको छोड़कर अदृष्ट परलोकके सुखके लिए तपश्चरण आदि कष्टकर क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना महामूढ़ता तथा अज्ञानकी पराकाष्ठा है । चार्वाक लोग सदा यही कहते हैं कि भविष्यत्की आशासे वर्तमानको छोड़ना मूर्खता है । जो लोग इन धूर्तोंके बहकावमें आकर अपने सम्यग्ज्ञानको तिलांजलि देकर सामने उपस्थित विषय भोगोंकी छोड़कर स्वर्ग मोक्षके सुखकी झूठी चाहसे तप जप ध्यान होम आदि करनेका प्रयत्न करते हैं उनकी इस निरर्थक प्रवृत्तिका सबसे बड़ा कारण उनकी मूढ़ बुद्धि या बुद्धिभ्रंश ही है । यही उनके मतके उपदेशका सार है ॥८५॥

§ ५७१. जो शान्त रससे आप्लावित हृदय होकर तप जप आदि कार्योंसे निरुपम शान्ति सुखकी प्राप्ति बताते हैं उनके प्रति चार्वाकोंका यह उपदेश है—

कर्त्तव्यमें प्रवृत्ति तथा अकर्त्तव्यसे निवृत्ति होनेपर जो मनुष्योंको आत्म-सन्तोष होता है उसे चार्वाक लोग निरर्थक बताते हैं । उनके यहाँ तो कामसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है ॥८६॥

§ ५७२. साध्य-ध्यान दो प्रकारका होता है—एक उपादेय, दूसरा हेय । धर्मध्यान और शुक्लध्यान उपादेय हैं तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान हेय । अथवा साधनीय उपादेय तप संयम आदि उपादेय कार्योंमें प्रवृत्ति तथा विषय सुख आदि हेय पाप कर्मोंसे निवृत्ति करनेपर मनुष्योंको जो आत्मसुख या मनःसन्तोष होता है वह चार्वाकोंकी दृष्टिमें निरर्थक है, नाचीज है, मिथ्या है ।

---

१. –मैहलौकि –म० २ । २. तन्मते उप –म० २ । ३. द्वे स्वान्तरस –म० २ । ४. कार्ये पुण्य– –म० २ । ५. –र्था निःफला म० २ ।

कामात्–विषयसुखसेवनान्न परः काम एव परमो धर्मः, तज्जनितमेव च परमं सुखमिति भावः। अथवा ये धर्मप्रभावादिह लोकेऽपीष्टानिष्टकार्ययोः सिद्ध्यसिद्धी वदन्ति, तान्प्रति चार्वाका जल्पन्ति तद्दर्शयन्नाह—'साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्याम्' इत्यादि। तपोजपहोमादिभिः साध्यस्य प्रेप्सितकार्यस्य या वृत्तिः सिद्धिर्या[1] च तैरेव तपोजपादिभिरनिष्टस्य साध्यस्य विघ्नादेर्निवृत्तिः असिद्धिरभाव इति यावत्ताभ्यां साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या जने प्रीतिर्जायते सा निरर्था। अर्थशब्दस्य हेत्वर्थस्यापि भावान्निर्हेतुका निर्मूला। तेषां मते हि यस्माद्धर्मः कामान्न पर इति प्राग्वत् ॥८६॥

§ ५७३. उपसंहरन्नाह—

[2]लोकायतमतेऽप्येवं संक्षेपोऽयं निवेदितः।
अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः ॥८७॥

§ ५७४. व्याख्या—एवम् अमुना प्रकारेण अपेः समुच्चयार्थत्वान्न केवलमन्यमतेषु संक्षेप उक्तो [3]लोकायतमतेऽप्ययमनन्तरोक्तः संक्षेपो निवेदितः। ननु बौद्धादिमतेषु सर्वेष्वपि संक्षेप एवात्र यद्युच्यत तर्हि विस्तरेण तत्परमार्थः कथमवभोत्स्यते। इत्याशङ्क्याह—'अभिधेय' इत्यादि। अभिधेयस्य–सर्वदर्शनवाच्यस्यार्थस्य तात्पर्यार्थः–अशेषविशेष[4]विशिष्टः परमार्थः परि समन्तात्पौर्वापर्येणालोच्यः स्वयं विमर्शनीयः। अथवा '[5]लोचृङ् दर्शने' इति धातुपाठात्तस्य दर्शनार्थत्वात्पर्यालोच्यः शास्त्रेभ्योऽवलोकनीयः सुबुद्धिभिः सुनिपुणैमतिभिः संज्ञिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वादस्य सूत्रकरणस्येति।

क्योंकि उनके मतमें काम–विषयभोग भोगनेसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और न विषयसुखसे बढ़कर कोई दूसरा सुख ही। अथवा, जो लोग धर्मके प्रभावसे ही इस लोकमें व्यापारमें लाभ पुत्रोत्पत्ति आदि कार्योंकी सिद्धि तथा पापसे व्यापारमें हानि एवं अन्य शुभ कार्योंमें विघ्न मानते हैं उनके प्रति चार्वाक लोग कहते हैं कि आप लोगोंकी यह कल्पना निर्मूल तथा निष्फल है। तप जप होम आदिसे इच्छित मनोरथोंकी पूर्ति तथा मरी रोग आदि विघ्नोंका अभाव मानना और उन तप जप आदि कार्योंके करनेसे मनःसन्तोष मानना निरर्थक है। तप संयम धर्म आदि करनेपर भी बहुत लोग दुःखी देखे जाते हैं तथा परम अधार्मिक लोग सुखी देखे जाते हैं अतः धर्मसे सुख आदि कहना निर्हेतुक तथा निर्मूल है। चार्वाकोंके मतमें विषयसेवन ही सबसे बड़ा धर्म है ॥८६॥

§ ५७३. उपसंहार—

इस तरह लोकायत मतका भी संक्षेपसे कथन किया है। सुबुद्ध विचारकोंको चाहिए कि वे सभी दर्शनोंके अभिधेय वक्तव्यके तात्पर्य और विस्तारको अच्छी तरह पर्यालोचना करके जो युक्तिसंगत हो उसका अनुसरण करें ॥८७॥

§ ५७४. इस तरह अन्य मतोंके साथ ही साथ लोकायत मतका भी संक्षिप्त कथन किया गया है। अपिशब्द समुच्चयार्थक है। यहाँ तो सभी बौद्धादिदर्शनोंका संक्षेपसे ही कथन किया है इनके विस्तार और तात्पर्यका गहराई और सूक्ष्मताके साथ सुबुद्ध दर्शनप्रेमियोंको स्वयं विचार कर लेना चाहिए। हर एक दर्शनकी बातोंका पूर्वापर सन्दर्भ तत्तत् दर्शनोंके मूल और टीका ग्रन्थोंसे अच्छी तरह देख लेना चाहिए। लोचृ धातु दर्शनार्थक है। अतः 'पर्यालोच्यः'का अर्थ तत्तत् दर्शनग्रन्थोंसे पूर्वापर सन्दर्भका देखना भी होता है। यह मूल ग्रन्थ तो संक्षेपसे दर्शनोंको रूपरेखा समझनेवाले जिज्ञासुओंके अनुग्रहके लिए बनाया गया है। अथवा, सभी दर्शनोंके पदार्थोंके परस्पर विरोधको सुनकर किंकर्त्तव्यमूढ़ प्राणियोंसे आचार्य कहते हैं कि–समस्त दर्शनोंके वक्तव्यका

---

१. –र्यावत्तैरेव म० १। २. लोकायित म० १, म० २, प० १, प० २। ३. –मतेऽप्येवमनन्त –म० २। ४. –षणवि – म० २। ५. लोचृङ् म० २, लोचृट् क०। ६.–णबुद्धिभिः म० २।

अथवा सर्वदर्शनसंमतानां[1] स(त)त्त्वानां परस्परं विरोधमाकर्ण्य । किं कर्तव्यता मूढानां प्राणिनां यत्कर्तव्योपदेशमाह 'अभिधेय' इत्यादि–अभिधेयं सर्वदर्शनसंबन्धी प्रतिपाद्योऽर्थः तस्य यस्तात्पर्यार्थः सत्यासत्यविभागेन व्यवस्थापितस्तत्त्वार्थः स पर्यालोच्यः । सम्यग्विचारणीयो न पुनर्यथोक्तमात्रो निर्विचारं ग्राह्यः । कैः । सुबुद्धिभिः सुष्ठु शोभना मार्गानुसारिणी पक्षपातरहिता बुद्धिः मतिर्येषां ते सुबुद्धयः, [2]तैर्न पुनः कदाग्रहग्रहिलैः । यदुक्तम्—

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र[3] तत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥१॥" [ ] इति ।

§ ५७५. अयमत्र भावार्थः—सर्वदर्शनानां परस्परं[4] मतविरोधमाकर्ण्य मूढस्य प्राणिनः सर्वदर्शनस्पृहयालुतायां निजदर्शनैकपक्षपातितायां वा दुर्लभं स्वर्गापवर्गसाधकत्वम्, अतो मध्यस्थवृत्तितया विमर्शनीयः सत्यासत्यार्थविभागेन तात्त्विकोऽर्थः, विमृश्य च श्रेयस्करः पन्थाभ्युपगन्तव्यो यतितव्यं च तत्र कुशलमतिभिः ।

खूब गहराईके साथ विचार करके उनका सत्यासत्य निर्णय करना चाहिए । यह नहीं कि जिसने कह दिया उसे आँख मूँद कर बिना विचारे ही मान लिया । जो समझदार हैं दुराग्रहसे मुक्त हैं उनका कर्तव्य है कि वे सभी दर्शनोंका मध्यस्थ भावसे अध्ययन और विचार करके उनका सत्यासत्य निर्णय करें । किसी भी दर्शनकी बातको 'अमुक आचार्यने कहा है' इसीलिए आँख मूंदकर बिना विचारे नहीं मानना चाहिए । कहा भी है—"जो दुराग्रही है साम्प्रदायिक ग्रहसे जिसकी बुद्धि विकृत हो रही है वह उसकी बुद्धिने जिस पदार्थको जिस रूपसे ग्रहण कर रखा है वहीं युक्तियोंको यद्वा तद्वा खींचतान करता है । उसका मूलमन्त्र होता है कि 'जो मेरा है या मैंने जाना है वही अन्तिम सत्य है ।' इसलिए वह युक्तियोंको खींचतान करके अपने मतको सिद्ध करनेका अनुचित प्रयत्न करता है । परन्तु जो मत पक्षपातसे रहित हैं, मध्यस्थ भावसे अपनी बुद्धिका समतोलन कर उपयोग करते हैं उन समझदारोंकी बुद्धि तो जिस पदार्थको युक्तियाँ जिस रूपसे सिद्ध करती हैं उसको उसी रूपसे माननेके लिए सदा प्रस्तुत रहती है । इनका सिद्धान्त होता है कि 'जो सत्य सिद्ध हो वही मेरा है, युक्ति सिद्ध वस्तुको पूर्वग्रहसे सर्वथा मुक्त होकर स्वीकार करने के लिए सदा प्रस्तुत रहना चाहिए । तात्पर्य यह कि—सभी दर्शनोंके परस्पर विरोधको सुनकर मूढ़ प्राणी या तो सभी दर्शनोंको आँख मूंदकर सत्य मान बैठेगा या फिर साम्प्रदायिक भावसे अपने मतका दुराग्रह कर बैठेगा । दोनों ही अवस्थाओंमें स्वर्ग मोक्षका साधन अत्यन्त कठिन है, क्योंकि सभी दर्शनोंको परस्पर विरोधी क्रियाओंका अनुष्ठान असम्भव होनेके कारण या तो वह क्रियाशून्य होकर निरुद्योगी हो जायगा या फिर अपने सम्प्रदायकी अपरीक्षित क्रियाओंका आचरण करके मिथ्या चारित्री हो जायगा । निश्चेष्ट होना तथा मिथ्या आचरण करना दोनों ही लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकते ।

§ ५७५. इसलिए समझदार व्यक्तियोंका यह आद्यकर्तव्य है कि वे मध्यस्थ भावसे तात्त्विक अर्थका अच्छी तरह विचार करें और सत्यासत्यका निर्णय करके श्रेयस्कर मार्गको चुनें तथा उसके अनुसार आचरण करके अपना और परका कल्याण करें । ॥८७॥

---

१. –तानां परस्य –म० २, क० । २. तैस्कदाग्रह –म० २ । ३. तत्र यत्र म० २ ।
४. –परमत म० २ ।

इति श्री[1]तपागणगगनाङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां जैमिनीयचार्वाकीयमतस्वरूपनिर्णयो नाम षष्ठोऽधिकारः ॥

तत्समाप्तौ च समाप्तेयं तर्करहस्यदीपिकानाम्नी षड्दर्शनसमुच्चयवृत्तिः ॥

इति श्री तपागणरूपी आकाशके सूर्य श्री देवसुन्दरसूरिके चरणोपजीवी श्री गुणरत्न सूरि द्वारा रची गयी षड्दर्शनसमुच्चयकी तर्करहस्यदीपिका नामकी टीकामें जैमिनीय और चार्वाकके मतके स्वरूपका निर्णय करनेवाला छठवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ।

इस अधिकारकी समाप्तिके साथ ही साथ यह तर्करहस्यदीपिका नामकी षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति भी समाप्त होती है ॥

---

१. तपागणनभोंगण –प० १, प० २ ।

परिशिष्ट १
श्रीसोमतिलकसूरिकृता
लघुवृत्तिः

सज्ज्ञानदर्पणतले विमलेऽत्र यस्य ये केचिदर्थनिवहाः प्रकटीबभूवुः ।
तेऽद्यापि भान्ति कलिकालजदोषभस्मप्रोद्दीपिता इव शिवाय स मेऽस्तु वीरः ॥१॥
जैनं यदेकमपि दोषविघायि वाक्यमेवं श्रुतिः फलवती भुवि येन चक्रे ।
चारित्रमाप्य वचनेन महत्तरायाः श्रीमान् स नन्दतु चिरं हरिभद्रसूरिः ॥२॥
संनिधेहि तया वाणि षड्दर्शनाङ्कषड्भुजे । यथा षड्दर्शनव्यक्तिस्पष्टनं प्रभवाम्यहम् ॥३॥
व्यासं विहाय संक्षेपरुचिसत्त्वानुकम्पया । टीका विधीयते स्पष्टा षड्दर्शनसमुच्चये ॥४॥

इह[1] हि श्रीजिनशासनप्रभावनैकविभावकप्रभोदयसूरिपदाश्चतुर्दशशतप्रकरणकरणोपकृतजिनधर्मो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः षड्दर्शनप्रमाणपरिभाषास्वरूपजिज्ञासुशिष्यहितहेतवे प्रकरणमारिप्समानो [3]निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्त्यर्थं स्वपरश्रेयोऽर्थं च समुचितेष्टदेवतानमस्कारपूर्वकमभिधेयमाह[4]—

सद्दर्शनं जिनं नत्वा वीरं स्याद्वाददेशकम् ।
सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः संक्षेपेण निगद्यते ॥१॥

[5]अर्थो निगद्यतेऽभिधीयत इति संबन्धः । अर्थशब्दोऽत्र अभिधेयवाचको ग्राह्यः ।

"अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" [ ] इत्यनेकार्थवचनात् । 'मया' इत्यनुक्तस्यापि गतार्थत्वात् । किंविशिष्टोऽर्थः । सर्वदर्शनवाच्य इति । सर्वाणि च तानि दर्शनानि बौद्धनैयायिकजैन[6]-वैशेषिकसांख्यजैमिनीयादीनि समस्तमतानि वक्ष्यमाणानि तेषु वाच्यः कथनीयः । किं कृत्वा । जिनं नत्वा । सामान्यमुक्त्वा विशेषमाह । कं जिनम् । वीरं वर्द्धमानस्वामिनम् । वीरमिति साभिप्रायम् । प्रमाणवक्तव्यस्य परपक्षोच्छेदादिसुभटवृत्तित्वात् । भगवतश्च दुःसहसंगमादिविषमोपसर्गसहिष्णुत्वेन सुभटरूपत्वात् । तथा चोक्तम्—

"विदारणात्कर्मततेर्विराजनात्तपःश्रियः विक्रमतस्तथाद्भुतात् ।
भवत्प्रमोदः किल [7]नाकनायकश्चकार ते वीर इति स्फुटाभिधाम् ॥" [ ] इति ।

युक्तिपूर्वं 'ग्रन्थारम्भे वीरजिननमस्करणं प्रकरणकृतः । यद्वा आसन्नोपकारित्वेन युक्ततरमेव श्रीवर्द्धमानतीर्थकृतो नमस्करणम् । तमेव विशिनष्टि । किंभूतम् । सद्दर्शनं सत् शोभनं[8] दर्शनं शासनं सामान्यावबोधलक्षणं ज्ञानं सम्यक्त्वं वा यस्य स तमिति । ननु दर्शनचारित्रयोरुभयोरपि मुक्तिहेतुत्वात् किमर्थं सद्दर्शनमित्येकमेव विशेषणमाविष्कृतम् । न[9], दर्शनस्यैव प्राधान्यात् । यतः सूत्रम्—

"सद्दहणे चरित्ताउ[10] दंसणमिह दिढयरं गहेयव्वं ।
सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति ॥" [ ]

इति तद्विशेषणमेव युक्तम् । पुनः [11]किंभूतम् । स्याद्वाददेशकम् । स्यात् विकल्पितो वादः स्याद्वादः सदसन्नित्यानित्याभिलाप्यानभिलाप्यसामान्यविशेषात्मकस्तं दिशति भविकेभ्य उपदिशति [12]स्तम् । अत्रादिमार्द्धे

---

१. इह हि श्री—म० १ । २. नाविर्भाव—प० १,२ । ३. निर्विघ्नं प० १, २ । ४.—ह तथाहि प० १,२ । ५. व्याख्या अ—प० १, २ । ६. —कसांख्यजैनवै—प० १, २ । ७. नाकिना—मु०, म० २ । ८. ग्रन्थप्रारम्भे म० २ । ९. शोभमानं मु०, म० १, २ । १०. ननु प० २ । ११. सुट्ठु-अरं दंसणं च गहियव्वं प० २ । १२. —नः कथम्भू—प० २ ।

भगवतोऽतिशयचतुष्टयमाक्षिप्तम् । सद्दर्शनमिति दर्शनज्ञानयोः[1] सहचारित्वाज्ज्ञानातिशयः । जिनं वीरमिति सुरासुरादिजेतृत्वात् अष्टकर्मारिघातनिराकर्तृत्वाच्च अपायापगमातिशयः । स्याद्वाददेशकमिति वचनातिशयः । ईदृग्विधस्य निरन्तरभक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनिषेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति पूजातिशयः, इति प्रथमश्लोकार्थः ॥१॥

कानि तानि दर्शनानीति व्यक्तितस्तत्संख्यामाह—

दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया ।
देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥२॥

अत्र जगति प्रसिद्धानि षडेव दर्शनानि । एवशब्दोऽवधारणे । यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि । यदुक्तं सूत्रे—

"असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण हुंति चुलसीई ।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइआणं च बत्तीसं ॥" [`]

इति त्रिषष्ट्यधिका त्रिशती [2]पाषण्डिकानाम् । बौद्धानां चाष्टादश निकायभेदाः, वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकादयो भेदाः । जैमिनेरपि शिष्यकृता बहवो भेदाः ।

"उत्पलः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः ।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किंचिदपि रेवणः ॥"

अपरेऽपि बहुदकुटीचरहंसपरमहंसभाट्टप्राभाकरादयो बहवोऽन्तर्भेदाः । अपरेषामपि दर्शनानां देवतातत्त्वप्रमाणादिभिन्नतया बहुभेदाः प्रादुर्भवन्ति, तथापि परमार्थतस्तेषामेष्वेवान्तर्भावात् षडेवेति साकधारणं पदम् । ननु संघटमानानियतो भेदानुपेक्ष्य किमर्थं षडेवेत्याह । मूलभेदव्यपेक्षया । मूलभेदास्तावत् षडेव षट्संख्यास्तेषा व्यपेक्षया तानाश्रित्येत्यर्थः । [5]तानि च दर्शनानि मनीषिभिः पण्डितैर्ज्ञातव्यानि बोद्धव्यानि । केन प्रकारेणेति । देवतातत्त्वभेदेन । देवता दर्शनाधिष्ठायिकाः, तत्त्वानि च मोक्षसाधनानि रहस्यानि, तेषां भेदस्तेन पृथक्-पृथक् दर्शनदेवतादर्शनतत्त्वानि च ज्ञेयानीत्यर्थः ॥२॥

तेषामेव दर्शनानां नामान्याह—

बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा ।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ॥३॥

अहो इति इष्टामन्त्रणे । दर्शनानां मतानामममूनि नामानीति संग्रहः । ज्ञेयानीति क्रिया, अस्तिभवत्यादिपदमनुक्ताप्यवगन्तव्या । तत्र बौद्धमिति बुद्धो देवतास्येति बौद्धं सौगतदर्शनम् । नैयायिकं पाशुपतदर्शनम् । तत्र न्यायः प्रमाणमार्गस्तस्मादनपेतं नैयायिकमिति [6]व्युत्पत्तिः । सांख्यमिति कापिलदर्शनम् । आदिपुरुषनिमित्तेयं संज्ञा । जैनमिति जिनो देवतास्येति जैनमार्हतं दर्शनम् । वैशेषिकम् इति काणाददर्शनम् । दर्शनदेवतादिसाम्येऽपि नैयायिकेभ्यो द्रव्यगुणादिसामग्र्या विशिष्टमिति वैशेषिकम् । जैमनीयं जैमनिऋषिमतं भाट्टदर्शनम् । यः समुच्चयस्य[7] दर्शकः । एवं तावत् षड्दर्शननामानि ज्ञेयानि शिष्येणेत्यवसेयम् ॥३॥

अथ द्वारश्लोके प्रथममुपन्यस्तत्वाद्बौद्धदर्शनमेवादावाचष्टे—

तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किल ।
चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः ॥४॥

---

१. दर्शनज्ञानयोः प० १, २, मु० । २. –रित्वेन ज्ञा–प० २ । ३. –भेदेन ब–म० १ । ४. पाषण्डिनां प० १, २ । ५. तानि द–मु०, म० १, २, प० २ । ६. इदं चिन्त्यम् । इत्थं हि न्याय्यमिति स्यात् । नैयायिकेति पदं तूक्थादिगणघटकन्यायशब्दादध्यवर्वेदित्यन्यतरार्थकठका निष्पद्यते । मु० टि० । ७. –स्यदर्शकः प० १, २ ।

तत्र तस्मिन् बौद्धमते सौगतशासने । तावदिति प्रक्रमे सुगतो देवता बुद्धो देवता बुद्धभट्टारको दर्शनादिकरः किलेत्याप्तप्रवादे । तमेव विशिनष्टि[1] । कथंभूतस्तत्त्वनिरूपकत्वेन । प्ररूपको दर्शकः कथयितेति यावत् । केषामित्याह—आर्यसत्यानाम् । आर्यसत्यनामधेयानां तत्त्वानाम् । कतिसंख्यानामिति चतुर्णां चतूरूपाणाम् । किरूपाणामित्याह । दुःखादीनां दुःखसमुदयमार्गनिरोधलक्षणानाम् । आदिशब्दोऽवयवार्थोऽत्र । यदुक्तम्—

"सामीप्येऽथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा ।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत् ॥" [ ]

एवंविधः सुगतो बौद्धमते देवता ज्ञेय इत्यर्थः ॥४॥

आदिमेव तत्त्वं विवृण्वन्नाह—

दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥५॥

दुःखं किमुच्यत इत्याशङ्क्यां संसारिणः स्कन्धाः । संसरन्तीति संसारिणो विस्तरणशीलाः स्कन्धाः प्रचयविशेषाः । संसारेऽमी चयापचयरूपा भवन्तीत्यर्थः । ते च स्कन्धाः पञ्च प्रकीर्तिताः पञ्चसंख्याः कथिताः । के त इत्याह । विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव चेति । तत्र विज्ञानमिति-विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं सर्वक्षणिकस्वज्ञानम् । यदुक्तम्—

"यत् सत्तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे
सत्ताशक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा च सा ।
नान्येनैव विधानमप्यपि परैरन्येव क्रिया वा भवेद्
द्वेधापि क्षणभङ्गसंगतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ॥" [ ] इति ।

विज्ञानम् । वेदनेति-वेद्यत इति वेदना पूर्वभवपुण्यपापपरिणामबद्धाः सुखदुःखानुभवरूपाः । तथा च भिक्षुभिक्षामटंश्चरणे कण्टके लग्ने प्राह—

"इत पूकलवतेः कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन[2] कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥" [ ] इत्यादि ।

संज्ञेति-संज्ञानामकोऽर्थः । सर्वमिदं सांसारिकं सचेतनाचेतनस्वरूपव्यवहरणं संज्ञामात्रं नाममात्रम् । नात्र कलत्रपुत्रमित्रभ्रात्रादिसंबन्धो घटपटादिपदार्थसार्थो वा पारमार्थिकः । तथा च तत्सूत्रम् । "तावन्मात्रमिदं भिक्षवः संज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं कल्पनामात्रं संवृति-मात्रमनीतोऽध्वानागतोऽध्वा सहेतुको विनाश आकाशं पुद्गलाः" [ ] इति । संस्कार इति-इह परभवविषयः संतानपदार्थनिरीक्षणप्रबुद्धपूर्वानुभूतसंस्कारस्य प्रमातुः स एवायं देवदत्तः, सैवेयं दीपकलिका साधाकारेण ज्ञानोत्पत्तिः संस्कारः । यदाह—

"यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव संधत्ते कार्पासे रक्तता यथा ॥" [ ] इति

रूपमिति-रंगरंगायमाणपरमाणुप्रचयः । बौद्धमते हि स्थूलरूपस्य जगति विवर्तमानपदार्थजातस्य तद्दर्शनोपपत्तिभिर्निराक्रियमाणत्वात् परमाणव एव तात्त्विकाः । च पुनरर्थः[4] । एवेति पूरणार्थः[4] ॥५॥

दुःखनामधेयमार्यसत्यं पञ्चभेदतया निरूप्य अथ समुदयतत्त्वस्य स्वरूपमाह—

समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स संमतः ॥६॥

यतो यस्माल्लोके रागादीनां रागद्वेषमोहानामखिलः समस्तो गणः समुदेत्युद्भवति । [5]कीदृगित्याह ।

---

१. –ष्टि तत्त्वनिरूपकत्वेन कथंभूतो देवता प्रक्र–प० १, २ । २. तत्कर्मणो विपा–प० १, २ । ३. पूर्वभवानुरूपसं० म० १, २, मु० । ४. र्थे– प० १, २ । ५. –यभावा– ब० १, २ । ६. कीदृक्ष इ– प० १, २ ।

अहमात्मीयस्वभावाख्यः। अयमात्मा, अयं मदीयः, पदे पदसमुदायोपचारादयं परः अयं च परकीय इत्यादिभावो रागद्वेषनिबन्धनं तदाख्यस्तन्मूलो रागादीनां गणः। आत्मात्मीयरूपेण रागरूपः, परपरकीयपरिणामेन च द्वेषरूपो **यतः समुदेति स समुदयः** समुदयो नाम तत्त्वं संमतो बौद्धदर्शनेऽभिमत इति ॥६॥

अथ तृतीयचतुर्थतत्त्वे प्रपञ्चयन्नाह—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना तु या।
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥७॥

सर्वसंस्काराः क्षणिकाः। सर्वेषां निरन्वयविनश्वरनिर्वर्त्यमानानां घटपटस्तम्भाम्भोरुहादीनां द्वितीयादिक्षणेषु स एवायं स एवायमित्याद्युल्लेखेन ये संस्कारा ज्ञानसंताना उत्पद्यन्ते ते विचारगोचरमताः क्षणिकाः। यत्प्रमाणयन्ति, सर्वं सत् क्षणिकम्, अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति वादस्थलमभ्यूह्यं क्षणिकत्वाविशेषकम्। विशेषोपपत्तिश्च समयं तावदौत्पत्तिकं पदार्थकदम्बकं घटपटादिकं मुद्गरादिसामग्रीसाकल्ये विनश्वरमाकलय्यते।[1] तत्र योऽस्य प्रान्त्यावस्थायां विनाशस्वभावः स पदार्थोत्पत्तिसमये विद्यते, न वा। अथ विद्यते चेत्; आपतितं तदुत्पत्तिसमयानन्तरमेव विनश्वरत्वम्। अथेदृश एव स्वभावो यत्किंयन्तमपि कालं स्थित्वा विनष्टव्यम्। एवंचेन्मुद्गरादिसंनिधानेऽप्येष एव तस्य स्वभाव इति भूयोऽपि तावत्कालं स्थेयम्। एवं मुद्गरादिघातशतपातेऽपि न विनाशो जातु कल्पान्तस्थायित्वं घटस्य। तथा च जगद्व्यवहारव्यवस्थालोपपातकपङ्किलतेत्यभ्युपेयमनिच्छताऽपि[2] क्षणक्षयित्वं पदार्थानाम्। प्रयोगस्त्वेवम्।[3] वस्तु उत्पत्तिसमयेऽपि विनश्वररूपं, विनश्वरस्वभावत्वाद्, यद्विनश्वरं तदुत्पत्तिसमयेऽपि तत्स्वरूपं यथा अन्त्यक्षणवर्त्तिघटस्य स्वरूपम्, विनश्वरस्वभावं च रूपरसादिकमुदयत आरभ्येति स्वभावहेतुः।

ननु यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि स एवायमिति वासनाज्ञानम्। उच्यते—निरन्तरसदृशापरापरक्षणनिरीक्षणचैतन्योदयादविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणप्रलयकाल एव दीपकलिकायामिव सैवेयं दीपकलिकेति संस्कारमुत्पाद्य तत्सदृशमपरक्षणान्तरमुदयते। तेन समानाकारज्ञानपरम्परापरिचयचिरतरपरिणामान्निरन्तरोदयाच्च पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्यवसायः प्रसभं प्रादुर्भवति। दृश्यते[4] चावलूनपुनरुत्पन्नेषु नखकेशकलापादिषु स एवायमिति प्रतीतिः। तथेहापि किं न संभाव्यते सुजनेन। तस्मात्सिद्धं साधनमिदं यत्सत्तत् क्षणिकमिति। युक्तियुक्तं च **क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना** इति। प्रस्तुतार्थमाह। एवं या **वासना स मार्गो** नामार्यसत्यम्; **इह बौद्धमते, विज्ञेयोऽवगन्तव्यः**। तुशब्दः पाश्चात्यार्थसंग्रहः पूर्वसमुच्चयार्थे। चतुर्थमार्यसत्यमाह। **निरोधः** किमित्याशङ्क्यायां **मोक्ष उच्यते**। मोक्षोऽपवर्गः। सर्वक्षणिकत्वसर्वनैरात्म्यवासनारूपो निरोधो नामार्यसत्यमभिधीयत इत्यर्थः ॥७॥

अथ तत्त्वानि व्याख्याय तत्संलग्नान्येवायतनान्याह—

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥८॥

पञ्चसंख्यानीन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि। **शब्दाद्या विषयाः पञ्च**, शब्दरूपरसस्पर्शगन्धरूपाः पञ्च विषया इन्द्रियव्यापारा इत्यर्थः। **मानसं** चित्तम्। **धर्मायतनमिति** धर्मप्रधानमायतनं[5] धर्मायतनं चैत्यस्थानमिति। **एतानि** द्वादशसंख्यानि ज्ञातव्यानि न केवलमेतानि **द्वादशायतनानि** जातिजरामरणभवोपादानतृष्णावेदनास्पर्शनामरूपविज्ञानसंस्कारा[6] अविद्यारूपाणि द्वादशायतनानि। **च**ः समुच्चये। अमी सर्वेऽपि संस्काराः क्षणिकाः। शेषं तदेवेति ॥८॥

---

१. —कल्प्यते प० १, २। २. —निच्छतापि प० १, २। ३. —वम्—वस्तु उत्पत्तिसमयेऽपि विनश्वररूपं विनश्वरस्वभावत्वात् यद्विन—मु०। ४. च खलु— प० १, २। ५. 'धर्मायतनं' नास्ति प० १, प० २, मु०। ६. षडायत— म० १, म० २। ७. स्पर्शषडायतननाम—म० १, म० २, प० १। ८. —कारादि— म० १, म० २।

तत्त्वानि व्याख्यायाधुना प्रमाणमाह—

प्रमाणे द्वे च विज्ञेये यथा सौगतदर्शने ।
प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा यतः ।।९।।

तथेति प्रस्तुतानुसंधाने । सौगतदर्शने बौद्धमते । द्वे प्रमाणे विज्ञेये । च शब्दः पुनरर्थे । तदेवाह—प्रत्यक्षमनुमानं च । अक्षमक्षं प्रति गतं प्रत्यक्षमैन्द्रियकमित्यर्थः । अनुमीयत इत्यनुमानं लैङ्गिकमित्यर्थः । यतः सम्यग्ज्ञानं निश्चितावबोधो द्विधा द्विप्रकारः[1] । सम्यग्ग्रहणं मिथ्याज्ञाननिराकरणार्थम् । प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेवेत्यर्थः ।।९।।

पृथक्पृथग्दर्शनापेक्षलक्षणसांकर्यभीरुः कीदृक् प्रत्यक्षमत्र ग्राह्यमित्याशङ्क्यायमाह—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुध्यताम् ।
त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिज्ञानं त्वनुमानसंज्ञितम् ।।१०।।

तत्र प्रमाणोभय्यां[2] प्रत्यक्षं बुध्यतां ज्ञायतां शिष्येणेति । किंभूतं कल्पनापोढं शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना, तयापोढं रहितं निर्विकल्पकमित्यर्थः । अन्यच्चाभ्रान्तं भ्रान्तिरहितं रभसरागायमाणपरमाणुलक्षणं[3] स्वलक्षणं हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमभ्रान्तं च तद् घटपटादिबाह्यस्थूलपदार्थप्रतिबद्धं च ज्ञानं सविकल्पकम् । तच्च बाह्यस्थूलार्थानां[4] तत्त्वमतानुमानोपप्लविनिराकरिष्यमाणत्वात् । नीलाकारपरमाणुस्वरूपस्यैव तात्त्विकत्वात् ।

ननु यदि बाह्यार्था न सन्ति, किंविषयस्तर्ह्ययं [5]घटपटशकटादि[6]बाह्यस्थूलप्रतिभास इति चेत्; निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितो ऽभवहाराभासो निर्विषयत्वादाकाशकेशवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति ।

यदुक्तम्—

"ग्राह्योऽर्थो ग्राह्यरूपे तुल्ययोक्ति तस्या नान्यभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ।।" [ ] इति ।
"बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनाच्छुरितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते ।।" [ ] इति ।
[7]तदुक्तम्—निर्विकल्पकमभ्रान्तं च प्रत्यक्षम् । [ ] इति ।

अनुमानलक्षणमाह—तु पुनः त्रिरूपात् पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपाल्लिङ्गतो धूमादेरुपलक्षणाद्यल्लिङ्गिनो वैश्वानरादेर्ज्ञानं तदनुमानं[8] संज्ञितमनुमानप्रमाणमित्यर्थः । सूत्रे लक्षणं नान्वेषणीयमिति चरमपादस्य[9] नवाक्षरत्वेऽपि न दोष इति ।।१०।।

रूपत्रयमेवाह—

रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता ।
विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि [10]विभाव्यन्ताम् ।।११।।

हेतोरनुमानस्य त्रीणि रूपाणि [11]विभाव्यन्तामिति संबन्धः । तत्र पक्षधर्मत्वमिति । साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः । यथा 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्' अत्र पर्वतः पक्षः, तत्र धर्मत्वम् । [12]धूमवत्त्वं वह्निमत्त्वेन व्याप्तं धूमोऽग्निं न व्यभिचरतीत्यर्थः[13]। सपक्षे [14]सत्त्वमिति योयो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसप्रदेशः ।

---

१. –रः प्रत्य– म० १, म० २ । २. –णोभये प० १ । ३. –क्षणस्व– प० १ । ४. –लपदार्थानां मानतोप– प० २ । ५. घटकटश– प० १, म० १, म० २ । ६. –दिस्थूल– म० १, म० २, प० १ । ७. युक्त– म० १ । यदुक्त– म० २ । ८. –संज्ञकम– म० २ । ९. –मपास्य म० १, प० १, प० २, मु० । १०. –भाव्यताम् म० १, म० २ । ११. –भाव्यतामिति म० १, म० २ । १२. वह्निमत्त्वं धूमवत्त्वेन म० १, म० २, प० १, प० २ । १३. –तीति पक्ष इत्य–प० १, प० २, म० १, म० २ । १४. सत्त्वं यो मु० ।

अत्र धूमवत्त्वेन हेतुना सपक्षे महानसे [विद्यमानता] सत्त्वं वह्निमत्त्वमस्तीत्यर्थः । विपक्षे नास्तितेति यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा जलाशये । जलाशये हि वह्निमन्त्वं व्यावर्तमानं व्याप्यं धूमवत्त्वमादाय व्यावर्तते[1] इति एवं प्रकारेण हेतोः[2] अनुमानस्य त्रीणि रूपाणि [3]ज्ञायन्तामित्यर्थः ॥११॥

उपसंहरन्नाह—

बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
नैयायिकमतस्येतः कथ्यमानो निशम्यताम् ॥१२॥

अयं संक्षेपो निवेदितः कथितः निष्ठां[4] नीत इत्यर्थः । कस्य । बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य बौद्धानां राद्धान्तः सिद्धान्तस्तत्र वाच्योऽभिधातव्योऽर्थस्तस्य । इतोऽनन्तरं नैयायिकमतस्य [5]शैवशासनस्य कथ्यमानो निशम्यतां संक्षेपः कथ्यमानः श्रूयतामित्यर्थः ॥१२॥

[6]तदेवाह—

आक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः ।
विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः ॥१३॥

[7]आक्षपादा नैयायिकास्तेषां मते शासने देवो दर्शनाधिष्ठायकः शिवो महेश्वरः । स कथंभूतः । सृष्टिसंहारकृत् सृष्टिः प्राणिनामुत्पत्तिः, संहारस्तद्विनाशः, सृष्टिश्च संहारश्चेति द्वन्द्वः तौ करोतीति क्विपि-[8]तोऽन्तः । [9]तथा हि । अस्य प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणचराचरस्वरूपस्य जगतः कश्चिदनिर्वचनीयमाहात्म्यः पुरुषः स्रष्टा ज्ञेयः । केवलसृष्टौ च निरन्तरोत्पद्यमानापारप्राणिगणस्य [10]भुवनत्रयेऽप्यमातृत्वमिति संहारकर्तापि कश्चिदभ्युपगन्तव्यः । यत्प्रमाणम्[11] सर्वं धरणिधरणीधरतरुपुरप्राकारादिकं बुद्धिमत्पूर्वकम्, कार्यत्वात्, यद्यत् कार्यं तत्तद्बुद्धिमत्पूर्वकं[12], यथा घटः, कार्यं चेदम्, तस्माद् बुद्धिमत्पूर्वकमिति प्रयोगः । [13]स च भगवानीश्वर एवेत्यर्थः[14] । व्यतिरेके गगनम् । न चायमसिद्धो हेतुः, भूभूधरादीनां स्वकारणकलापजन्यत्वेनावयवितया वा कार्यत्वस्य जगत्प्रसिद्धत्वात् । नापि विरुद्धानैकान्तिकदोषौ; विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः; प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाबाध्यमानधर्मधर्मित्वात् । नापि प्रकरणसमः; [15]तत्परिपन्थिपदार्थस्वरूपसमर्थनः प्रथितप्रत्यनु[16]मानोदयाभावात्। अथ निर्वृतात्मवदशरीरत्वादेव न संभवति सृष्टिसंहारकर्तेश्वर इति प्रत्यनुमानोदयात् कथं प्रकरणसमदूषणाभाव इति चेत्; उच्यते; अत्र साध्यमान ईश्वररूपो धर्मी प्रतीतः अप्रतीतो वानुमन्यते सुहृदा। अप्रतीतश्चेत्; भवत्परिकल्पितहेतोरेवाश्रयासिद्धि[17]दोषप्रसङ्गः । प्रतीतश्चेत्; तर्हि येनैव प्रमाणेन प्रतीतस्तेनैव स्वयमुद्भाविस्वतनुरपि किमर्थं नाभ्युपगम्यत इति कथमशरीरत्वम् । अतो न दुष्टो हेतुरिति साधूक्तं सृष्टिसंहारकृच्छिवः ।

तथा विभुः सर्वव्यापकः । एकनियतस्थान[18]वृत्तित्वे ह्यनियतप्रदेश[19]निष्ठितानां पदार्थानां प्रतिनियतयथावन्निर्माणानुपपत्तेः । न ह्येकस्थानस्थितः कुम्भकारोऽपि [20]दूरदूरतरवटघटनायां व्याप्रियते । तस्माद्विभुर्भगवान् । तथा नित्यैकः । नित्यश्चासावेकश्चेति । यतो नित्योऽत एव एकोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम् । भगवतो ह्यनित्यत्वे पराधीनोत्पत्तिसव्यपेक्ष[21]तया कृतकत्वप्राप्तिः । स्वोत्पत्तावपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक इष्यत इति । अथ चेत् कश्चिज्जगत्कर्तारमपरमभिदधाति; स एवानुयुज्यते । सोऽपि नित्योऽनित्यो वा ।

---

१. –ते एवं म० १, म० २, प० १, मु० । २. –तोस्त्रीणि म० १, म० २, प० १, मु० । ३. ज्ञायतामि–म० १, म० २ । ४. नीतः कस्य । ५. शिवशा–मु०, प० १, प० २ । ६. तदाह म० १, म० २ । ७. अक्षपा–म० १, म० २ । ८. तौ तः म० १, म० २ । ९. तथाह म० २ । १०. –मातस्व–म० १, म० २ । ११. –णं धर–म० १, म० २ । १२. –कं दृष्टं य–प० २ । १३. स भग–प० १, प० २, मु० । १४. एवेत्यन्वयः म० १, म० २ । १५. तत्प्रतिप–म० १, म० २ । १६. –प्रत्यक्षानुमानोद–प० २ । १७. –द्धदो–प० २ । १८. –न वर्तित्वे प० २ । १९. –श प्रतिष्ठानां प० २ । –श प्रतिष्ठितानां म० १, म० २ । २०. दूरतो घट–प० २ । २१. –क्षय प० १ ।

नित्यश्चेत्; अत्रिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्; तस्याप्यन्येनोत्पादकान्तरेण भाव्यमनित्यत्वादेव तस्याप्यन्येनेति नित्यानित्यवादविकलाविल्पशतस्वीकारे कल्पान्तेऽपि न [1]जल्पसमाप्तिः । तस्मान्नित्य एव भगवान् । अन्यच्च, एकोऽद्वितीयो बहूनां हि जगत्कर्तृत्वस्वीकारे परस्परं पृथक् पृथगन्योन्यमसदृशमतिव्यापारतयैकैकपदार्थस्य विसदृशनिर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति भगवानेक एवेति युक्तियुक्तं नित्यैकेति विशेषणम् ।

तथा सर्वज्ञ इति सर्वपदार्थानां सर्वविशेषज्ञाता । सर्वज्ञत्वाभावे[2] हि विधित्सितपदार्थोपयोगयोग्यजगत्प्रसुप्तरविप्रकीर्णपरमाणुकणप्रचयसम्यक्सामग्रीमीलनाक्षमतया यथातथ्येन पदार्थनिर्माणरचना दुर्घटा । सर्वज्ञश्च सन् सकलप्राणिनां [3]संमीलितसमुचितकारणकलापानुरूपपारिमाण्डल्यानुसारेण कार्यवैस्तु[4] निर्मिमाणः स्वार्जितपुण्यपापानुमानेन च स्वर्गनरकयोः सुखदुःखोपभोगं[5] च ददानः केषां नाभिमतः । तथा [6] चोक्तम्—

"[7]ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
[8]अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥" [ ] इति ।

भूयोऽपि विशेषयन्नाह 'नित्यबुद्धिसमाश्रयः' इति शाश्वतबुद्धिस्थानम् । क्षणिकबुद्धिमतो हि पराधीनकार्यापेक्षितया[9] मुख्यकर्तृत्वाभावादनीश्वरत्वप्रसक्तिरिति[10] । ईदृग्गुणविशिष्टः शिवो [11]नैयायिकमतेऽभ्युपगन्तव्यः ॥१३॥

अथ तत्त्वानि प्ररूपयन्नाह—

तत्त्वानि षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा ।
प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् ॥१४॥
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवास्तर्कनिर्णयौ ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च ॥१५॥
जातयो निग्रहस्थानान्येषामेवं[12] प्ररूपणा ।
अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम् ॥१६॥

अमुष्मिन् प्रस्तुते नैयायिकमते **षोडश तत्त्वानि प्रमाणादीनि** प्रमाणप्रभृतीनि । **तद्यथेति** । बालावबोधाय नामान्यप्याह—प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयससिद्धिरिति षोडश । **एषामेवं प्ररूपणेति** । [13]तत्त्वानामेवम् अमुना प्रकारेण प्ररूपणा नाममात्रप्रकटनमित्यर्थः ।

[14]अथैकैकस्वरूपमाह । तत्रादौ प्रमाणस्वरूपं प्रकटयन्नाह—**अर्थोपलब्धिहेतुः**[15] **प्रमाणं स्यात्** । अर्थस्य पदार्थस्योपलब्धिज्ञानं तस्य हेतुः कारणं प्रमाणं [16]स्याद् भवेत् । परापरदर्शनापेक्षया प्रमाणानामनियतत्वात्संदिहानस्य संख्यामुपदिशन्नाह-**तच्चतुर्विधमिति** । तत्प्रमाणं [17]चतुर्विधं ज्ञेयमिति ॥१४–१६॥

प्रत्यक्षमनुमानं [18]चोपमानं शाब्दिकं तथा ।

व्याख्या [19]—प्रमाणनामानि निगदसिद्धान्येव, केवलमुपमया सह इत्युपमानं प्रमाणम् । अथ प्रत्यक्षानुमानस्वरूपमाह—

तत्रेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमव्यभिचारिकम् ॥१७॥

---

१. –त्यपरिस–म० १, म० २ । २. –गन्यान्यसदृश–प० १, प० २ । –गन्योन्यासदृश–प० २ । –गन्योन्यसदृश–म० १, म० २ । ३. –भताभावे प० १ । ४. संमीलित–प० १ । ५. कार्ये प० १ । ६. –गं द–मु०, म० १, म० २ । ७. –था च त्वद्भ्योक्त–म० १, म० २ । ८. अन्यो मु०, प० १, प० २ । ९. –पेक्षतया प० २ । १०. –क्तेरिति प० १ । ११. –ते देवोऽभ्यु–प० २ । १२. –मेय प० १ । १३. –नाममु–प० १, प० २, मु० । १४. –कस्य स्व–म० १, म० २ । १५. –नुस्त्या–प० २ । १६. स्यादिति मु० प० १, प० २, । १७. चतुर्भेदं प० २ । १८. च शाब्दं चोपमया सह प० २ । च शाब्दमुपमया सह प० १ । १९. इयं व्याख्या नास्ति मु०, प० १, प० २ ।

व्यवसायात्मकं ज्ञानं व्यपदेशविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षमितरन्मानं तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत् ॥१८॥

तत्र प्रमाणचातुर्विध्ये प्रत्यक्षं कीदृमिति संबन्धः । विशेषणान्याह—इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमिति । इन्द्रियं चार्थश्चेति द्वन्द्वः, तयोः संनिकर्षसंयोगादुत्पन्नं जातम् । इन्द्रियं हि सैकट्यात् पदार्थं संयुज्यते । इन्द्रियार्थसंयोगाज् ज्ञानमुत्पद्यते । यदुक्तम्—

"आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण,
स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष [4]शीघ्रम् ।
योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति
यस्मिन्मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥" [ ]

[5]तत्राव्यभिचारिकं[6] ज्ञानान्तरेण नान्यथाभावि । शुक्तिशकले कलधौतबोधो हीन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नोऽपि व्यभिचारी दृष्टोऽतोऽव्यभिचारिकं[7] ग्राह्यम् । तथा व्यवसायात्मकं व्यवहारसाधकम् । सजलधरणितले हि बहलजाद्वलवृक्षावल्यामिन्द्रियार्थसंनिध्योद्गतमपि जलज्ञानं तत्प्रदेशसंगमेऽपि स्नानपानादिव्यवहारासाधकत्वादप्रमाणम् । अतः सफलं व्यवसायात्मकमिति विशेषणम् । तथा व्यपदेशविवर्जितमिति । व्यपदेशो विपर्ययस्तेन रहितम् । तथाहि-आजन्मकाचकामलादिदोषदूषितचक्षुषः पुरुषस्य धवलशङ्खे पीतज्ञानमुदेति तच्चापि सकलकालं तन्नेत्रदोषविरामादिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमस्ति तथाप्यन्यवस्तुनोऽन्यथाबोधान्न तच्चयोक्तलक्षणं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षसाधकं विशेषणचतुष्टयमुक्त[10]म् ।

साम्प्रतमनुमानमाह । इतरदन्यन्मानमनुमानमुपदिशति तदनुमानं पूर्वं प्रथमं त्रिविधं त्रिप्रकारकं भवेज्जायेत । पूर्वमितिपदेनानुमानान्तरभेदानन्त्यमाह । तत्पूर्वं प्रत्यक्षपूर्वं चेति श्लोकद्वयार्थः ॥१७–१८॥

अनुमानत्रैविध्यमाह[11]—

पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतस्तथा ।
तत्राद्यं कारणात्कार्यमनुमानमिह[12] गीयते ॥१९॥

पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चेत्यनुमानत्रयम्[13] । चः समुच्चये । एवेति पूरणार्थे । तथेति उपदर्शने । तत्र त्रिषु मध्ये, आद्यमनुमानमिह शास्त्रे कारणात्कार्यमनुमानमुदितं[14] कारणान्मेघात् कार्यं वृष्टिलक्षणं यतो ज्ञायते तत्कारणकार्य[15]नामानुमानं कथितमित्यर्थः ॥१९॥

निदर्शनेन तमेवार्थं द्रढयन्नाह[16] यथा—

रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तोह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥२०॥

यथेति दृष्टान्तकथनारम्भे । रोलम्बाः भ्रमराः, गवलं माहिषं शृङ्गम्, व्यालाः गजाः, [17]सर्पा वा, तमाला वृक्षविशेषाः, सर्वेऽप्यमी [18]कृष्णाः पदार्थाः स्वभावतो ज्ञेयाः । द्वन्द्वसमासो बहुव्रीहिश्च । पूर्वंप्राया एवंविधाः पयोमुचो मेघा वृष्टिं न व्यभिचरन्तीति । एवंप्राया इत्युपलक्षणेन परेऽपि वृष्टिहेतवोऽभ्युन्नत्यादि[19]विशेषा ज्ञेयाः । यदुक्तम्—

---

१. –र्थेषु सं–प० २ । –र्थेन सं–म० १, म० १ । २. –र्थयोर्हि सं–म० १, म० २ । ३. –नान्च ज्ञा– म० २, म० १ । ४. शीघ्रः म० १, म० १ । ५. तथाव्य–म० १, म० २ । ६. –चारकम् प० २, म० १ । ७. चारकम् प० १ । ८. –नावगाहनादि म० १, म० २ । ९. –ले श–प० १, प० २ । १०. –मुक्त्वा सा–म० १, म० १ । ११. –व्यमेवाह प० १ । १२. –मिहोदितम् म० १, म० २ । १३. –त्रितयम् म० १, म० २ ।१४. –र्थमुदितम् म० १, म० २। १५. –र्य नामा–म० १, म० २ । १६. –ह रो–मु०, प० १, प० २ । १७. सर्पो वा प० १ । १८. कृष्णप–प० १, म० १, म० १ । १९. –प्रतादि–प० १ ।

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
तुङ्गस्खलितसङ्कल्पशङ्कोत्सङ्गविग्रहाः ॥" [न्यायम०]

इत्यादयोऽपि वृष्टिं न व्यभिचरन्ति ॥२०॥

शेषवन्नामधेयं द्वितीयमनुमानभेदमाह—

कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम् ।
तथाविधनदीपूरान्मेघो वृष्टो यथोपरि ॥२१॥

[1]यत्कार्यात् फलात्कारणानुमानं फलोत्पत्तिहेतूपदार्थादिगमनं तच्छेषवदनुमानं मतं कथितं नैयायिकशासने । यथा तथाविधनदीपूरादुपरि मेघो वृष्टस्तथाविधप्रवहत्सलिलसंभारभरितो यो नदीपूरः सरित्प्रवाहस्तस्मादुपरि शिखरिशिखरोपरि जलधराभिवर्षणज्ञानं तच्छेषवत् । अत्र कार्यं नदीपूरः कारणं च पर्वतोपरि मेघो वृष्ट इति । उक्तं च नैयायिकैः—

"आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।
कल्लोलविकटोत्फालस्फुटफेनच्छटाङ्कितः ॥
बहुदग्धहलग्रोवालफलशाद्वलसंकुलः ।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न[3] निवेदितुम् ॥" [ ] इति ॥२१॥

तृतीयानुमानमाह—

यच्च सामान्यतो दृष्टं तदेवं गतिपूर्विका ।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा ॥२२॥

यः पुनरर्थः । यत् सामान्यतो दृष्टमनुमानं तदेवममुना[4]वक्ष्यमाणप्रकारेण । यथा पुंसि पुरुषे देवदत्तादौ देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका । एकस्माद्देशान्तरप्राप्तं [5]गतिपूर्वकमित्यर्थः । यज्ञोपवितिनः प्रस्थितो देवदत्तो माहिष्मतीं पुरीं प्राप्तः । सूर्येऽपि सा तथेति, यथा पुंसि तथा सूर्येऽपि सा गतिरभ्युपगम्यते । यद्यपि गगने संचरतः सूर्यस्य नेत्रावलोकप्रसरणाभावेन गतिर्नोपलभ्यते, तथाप्युदगाचलात् सायमस्ताचलचूलिकावलम्बनं गतिं सूचयति । एवं सामान्यतोदृष्टमनुमानं ज्ञेयमित्यर्थः ॥२२॥

अथ क्रमायातमपि शाब्दप्रमाणं स्वल्पवक्तव्यत्वादुपेक्ष्यादावुपमानलक्षणमाह—

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानं तदाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥२३॥

[10]तदुच्यमानमुपमानमाख्यातं कथितम्। मत्तदोर्नित्य[11]संबन्धात्। [12]यत्किंचित् अप्रसिद्धस्य साधनम् अज्ञायमानस्यार्थस्य ज्ञापनं क्रियते । प्रसिद्धधर्मसाधर्म्यादिति[13], प्रसिद्धा (द्धः) आबालगोपालाङ्गनाविदितोऽसौ धर्मोऽसाधारणलक्षणं[14] तस्य साधर्म्यं समानधर्मत्वं[15] तस्मादित्युपमानमाख्यातम् । दृष्टान्तमाह—यथा गौर्गवयस्तथेति । यथा कश्चिदरण्यवासी [16]नागरिकेण कीदृग्गवय इति पृष्टः, स च परिचितगोगवयलक्षणो नागरिकं प्राह यथा गौस्तथा गवयः, खुरककुदलाङ्गूलसास्नादिमान् यादृशो गौस्तथा जन्मसिद्धो [17]गवयोऽपि[18] ज्ञेय इत्यर्थः । अत्र प्रसिद्धो गौस्तत्साधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयस्य साधनमिति ॥२३॥

---

१. यच्च का –म० १, म० २। २. –णं प–प० १। ३. नो प० २। ४. –ना प्र–म० २, प० १, प० २, मु०। ५. –प्रसराभा–म० १। ६. –दं नामानु–म० १। ७. –व्यक्तत्वा–मु०, प० १, प० २, म० २। ८. –द्धधर्मसा–म० १। ९. समाख्या–म० २, प० १, प० २, मु०। १०. तदुपमान-प्रमाणमा–प० १। ११. –त्याभिस–म० १। १२. यत्किमप्र–मु०, प० २, म० १, म० २। १३. –ति आ–मु०, प० १, प० २, म० १। १४. –णं ल–प० १, प० २। १५. –त्वं सत इति तदुप– म० १। –त्वमिति तदुप–प० २। १६. नागरकेण प० २। १७. –नमप्रति–प० २। १८. –पि तादृशो ज्ञे– प० १, प० २, म० १।

उपमानं व्याख्यायं शब्दप्रमाणमाह—

शाब्दमाप्तोपदेशस्तु मानमेवं चतुर्विधम् ।
प्रमेयं[1] त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि च ॥२४॥

तु पुनराप्तोपदेशः शाब्दम्[2] । अवितथवादी हितश्चाप्तः[3] प्रत्ययितजनस्तस्य य उपदेश[4] आदेशवाक्यं तच्छाब्दम् आगमप्रमाणं ज्ञेयमिति । एवमुक्तप्रकारेण मानं प्रमाणं चतुर्विधं चतुष्प्रकारं निश्चितमित्यर्थः ।

अथ प्रमेयलक्षणमाह—'प्रमेयं त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि चेति' प्रमाणग्राह्योऽर्थः प्रमेयं, तु पुनरर्थे । आत्मा च देहश्चेति[5] द्वन्द्वः । आदिशब्देन शेषाणामपि षण्णां प्रमेयार्थानां संग्रहः । तच्च नैयायिक[6]सूत्र आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गैस्तु द्वादशविधम् । तत्र सचेतनत्वकर्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मैरात्मा प्रमीयते । एवं देहादयोऽपि प्रमेयता ज्ञेयाः । अत्र तु ग्रन्थविस्तारभयान्न प्रपञ्चिता[7] इतरग्रन्थेभ्योऽपि सुज्ञेयत्वाच्चेति ॥२४॥

संशयादिस्वरूपमाह—

किमेतदिति संदिग्धः प्रत्ययः संशयो मतः ।
प्रवर्तते यदर्थित्वात्तत्तु साध्यं प्रयोजनम् ॥२५॥

दूरावलोकनेन पदार्थपरिच्छेदक[10]धर्मेषु संशयानः प्राह—किमेतदिति । एतत्किं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति यः संदिग्धः प्रत्ययः[11] स संशयो नाम तत्त्वविशेषो मतः संमतः तच्छासन इति । प्रयोजनमाह—तत्तु तत्पुनः प्रयोजनं नाम तत्त्वं यत्किमित्याह—अर्थित्वात्प्राणी साध्यं कार्यं प्रति प्रवर्तते । प्रतीत्यध्याहार्यम् । न हि निष्फलकार्यारम्भ इत्यर्थित्वादुक्तम् । एवं यत्प्रवर्तनं तत्प्रयोजनमित्यर्थः ॥२५॥

दृष्टान्तस्तु भवेदेष विवादविषयो न यः ।
सिद्धान्तस्तु चतुर्भेदः सर्वतन्त्रादिभेदतः ॥२६॥

व्याख्या—तु पुनरेष दृष्टान्तो नाम तत्त्वं भवेत् । यत्किमिति । विवादविषयो[12] नयः यस्मिन्नुपन्यस्ते वचने वादगोचरो न भवति । इदमित्थं भवति न वेति विवादो न भवतीत्यर्थः । तावच्चान्वयव्यतिरेकयुक्तोऽर्थः स्खलति यावत[13] स्पष्टं दृष्टान्तोपष्टम्भः । उक्तं च—

"तावदेव चलत्यर्थो[14] मन्तुर्गोचरमागतः ।
यावन्नोक्तन्नयेनैव दृष्टान्तेनावलम्ब्यते ॥"

एष दृष्टान्तो ज्ञेयः ।

सिद्धान्तः पुनश्चतुर्भेदो भवेत् । कथमित्याह—सर्वतन्त्रादिभेदत इति । सर्वतन्त्रासिद्धान्त इति प्रथमो भेदः । आदिशब्दाद्भेदत्रयमिदं ज्ञेयम् । यथा प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति । अमी चत्वारः सिद्धान्तभेदाः । नाममात्रकथनमिदम्, विस्तरग्रन्थेभ्यस्तु[15] विशेषो ज्ञेयः ॥२६॥

अवयवादितत्त्वत्रयस्वरूपमाह—

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया[16] निगमस्तथा ।
अवयवाः पञ्च तर्कः संशयोपरमो भवेत् ॥२७॥
यथा काकादिसंपातात् स्थाणुना भाव्यमत्र हि ।
ऊर्ध्वं संदेहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः ॥२८॥

---

१. चात्म—प० १, प० २, मु० । २. —म् आप्त इति अ—प० १, प० २, म० १ । ३. प्रत्ययिता ज—प० २ । ४. —देशो देशनावा—प० १, प० २, म० १ । ५. —दश्चेत्यादि व—म० १, प० १, प० २ । ६. —वं तच्च आ—प० १, प० २, म० १ । ७. —स्तरम—प० १, प० २, म० १ । ८. —त इ—मु० । ९. —त्वादिति म० १ । १०. —कविज्ञेयध— प० १, म० १ । ११. —यः सं— प० १, प० २ । १२. नयस्मि—प० १, म० १, म० २ । १३. स्पष्टदृष्टान्तावष्टम्भः म० १ । १४. मन्तुर्विषयमा— प० १, प० २, म० १ । १५. विशेषार्थो ज्ञेयः म० १, प० १ । १६. —गमनं तथा प० १, म० १ ।

अवयवाः पञ्चेति संबन्धः । पूर्वार्द्धमाह—[1]**प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमनं चेति** पञ्चावयवाः । तत्र प्रतिज्ञा पक्षः, **कृशानुमानयं**[2] सानुमानित्यादि । हेतुर्लिङ्गवचनम्, [3]धूमवत्त्वादित्यादि । दृष्टान्त उदाहरणवचनम्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा [4]महानसप्रदेश इत्यादि । उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनम्, धूमवांश्चायमित्यादि । निगमनं हेतूपदेशेन पुनः साध्यधर्मोपसंहरणं तस्माद्वह्निमानित्यादि । इति पञ्चावयवस्वरूपनिरूपणम्, इति अवयवतत्त्वं ज्ञेयमिति । **तर्कः संशयोपरमो भवेत्** । **यथा काकेत्यादि** । दूराद्दृग्गोचरे स्पष्टप्रतिभासाभावात् किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयस्तस्योपरमेऽभावे सति तर्को भवेत् तर्को नाम तत्त्वं स्यात् । **कथमित्याह—यथेति** । दूरादूर्ध्वस्थं पदार्थं विलोक्य स्थाणुपुरुषयोः संविहानोऽवहितीभूय विमृशति । **काकादिसंपातादादिशब्दाद्भ्रुत्सर्पणादयः** स्थाणुधर्मा ग्राह्याः । वायसप्रभृतिसंबन्धादत्र **स्थाणुना**[5] **भाव्यं कीलकेन भवितव्यम्** । पुरुषे हि शिरःकम्पनहस्तचालनादिभिः[6] काकपातानुपपत्तेः । एवं संशयाभावे तर्कतत्त्वं ज्ञेयमिति । **ऊर्ध्वमित्यादि** पूर्वोक्तलक्षणाभ्यां **संदेहतर्काभ्यामूर्ध्वमुत्तरं**[7] यः **प्रत्ययः स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति** प्रतीतिविषयः, स **निर्णयः** निर्णयनामा तत्त्वविशेषो ज्ञेयः । यत्तदावर्थसंबन्धादनुक्तावपि ज्ञेयौ ॥२८॥

वादतत्त्वमाह—

आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् ।
यः कथाभ्यासहेतुः स्यादसौ वाद उदाहृतः ॥२९॥

असौ वाद उदाहृतः कथितस्तज्ज्ञै[8]रित्यर्थः । यः कः । इत्याह—**कथाभ्यासहेतुः** । कथा प्रामाणिकी तस्या [9]अभ्यासहेतुः कारणम् । **कयोः आचार्यशिष्ययोः** । आचार्यो गुरुरध्यापकः, शिष्यश्चाध्येता [10]विज्ञेय इति । **कस्मात् । पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्** । पक्षः पूर्वपक्षः साधनाद्यवयवः, प्रतिपक्षश्च उत्तरपक्षः पूर्वपक्षादिप्रयुक्तप्रतिज्ञादिः [11]प्रतिपन्थिकोपन्यासप्रौढिः तयोः परिग्रहात्संग्रहादित्यर्थः । आचार्यः पूर्वपक्षमङ्गीकृत्याचष्टे । शिष्यश्चोत्तर[12]पक्षमुररीकृत्य पूर्वपक्षं खण्डयति । एवं निग्राहकजयपराजयच्छलजात्यादि[13]निरपेक्षतया अभ्यासनिमित्तम् । पक्षप्रतिपक्ष[14]परिग्रहेण यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः स वादो ज्ञेयः ॥२९॥

अथ तद्विशेषमाह—

विजिगीषुकथायां[15] तु च्छलजात्यादिदूषणम् ।
स जल्पः सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षविवर्जिता ॥३०॥

स जल्प इति संबन्धः । [16]**यत् तु विजिगीषुकथायां** विजयाभिलाषिवादिप्रतिवादिप्रारब्धप्रमाणोपन्यासगोष्ठ्यां सत्यां **छलजात्यादिदूषणम्** । छलं त्रिप्रकारम्—**वाक्छलं, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति, जातयश्चतुर्विंशतिभेदाः, आदिशब्दान्निग्रहस्थानादिपरिग्रहः, एतैः कृत्वा दूषणं परोपन्यस्तपक्षादेर्दूषणजालमुत्पाद्य निराकरणम् । अभिमतं च स्वपक्ष[17]स्थापनेन सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्ततया छलजात्याद्युपन्यासैः परप्रयोगस्य दूषणोत्पादनम् । तथा चोक्तम्—**

---

१. प्रतिज्ञा हेतुदृष्टान्त उपनयो **म० १, प० १** । २. —यं पर्वत इत्यादि **प० १** । ३. —त्वादिति **प० २** । ४. —स इत्यादि **प० १, प० २, म० १** । ५. —णम् अत्र—**मु०, प० १, म० १, म० २** । ६. —णुना कीलकेन भाव्यं पुरु— **म० २** । ७. —दिभिया का—**म० १** । ८. —र्ध्वमनन्तरं यः **प० १, प० २, म० २** । ९. —तज्ज्ञैरिति यः किमित्याह **प० १, प० २, म० २** । १०. —सः का—**मु०** । —सका—**प० १** । —से का —**म० २** । ११. विज्ञेय **मु०, म० १, म० २** । १२. —दिसंग्रहः **प० १, प० २** । १३. —पञ्चको—**मु०, प० १, प० २, म० १** । १४—क्षमङ्गीकृत्य **प० २** । १५. —यमपेक्षितया **म० २** । १६. —क्षसंग्रहेण **म० २** । १७. —या तु **मु०, म० १, म० २** । १८. यत् वि—**मु०, प० १, प० २, म० १** । १९. —पनमेव स—**म० २** ।

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालितानना: ।
शक्या: किमन्यथा जेतुं वितण्डा[1]दोषमण्डिता: ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥" इति ।

संकटे प्रस्तावे च सति छलादिभिरपि स्वपक्षस्थापनमनुमतम् । परविजये हि धर्मध्वंसादिदोषसंभवस्तस्माद्वरं छलादिभिरपि जयः । सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षविवर्जिता[2] । सा पुनर्वितण्डा, या । किम् । विजिगीषुकथेव प्रतिपक्षविवर्जिता । वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिरोधकः प्रतिवाद्युपन्यासः प्रतिपक्षस्तेन विवर्जिता रहितेति प्रतिपक्षसाधनविहीनो वितण्डावादः । वैतण्डिको हि स्वाभ्युपगतपक्षमस्थापयन् यत्किञ्चिद्वादेन परोक्तमेव[3] दूषयतीत्यर्थः ॥३०॥

हेत्वाभासा असिद्धाद्याश्छलं कूपो नवोदकः ।
जातयो दूषणाभासाः पक्षादिर्दूष्यते न यैः ॥३१॥

हेत्वाभासा ज्ञेया इति । के ते । इत्याह—असिद्धाद्याः, असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पञ्च हेत्वाभासा ज्ञेयाः । तत्र पक्षे धर्मत्वं यस्य नास्ति सोऽसिद्धः । विपक्षे सन् सपक्षे चासन् विरुद्धः । पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः । [4]प्रत्यक्षानुमानागमविरुद्धपक्षवृत्तिः कालात्ययापदिष्टः । [5]विशेषाग्रहणे हेतुत्वेन प्रयुज्यमानः[6] प्रकरणसमः । उदाहरणानि स्वयमभ्यूह्यानि ।

छलं कूपो नवोदक इति परोक्तस्यार्थस्य [7]दूषणाभासत्वेन [8]वचनविघातश्छलम् । कथमित्याह—वादिना कूपो नवोदक इति कथायां प्रत्ययार्थवाचकतया नवशब्दप्रयोगे[9] छलवादी नवसंख्यामारोप्य दूषयति । कुत एक एव कूपो नवसंख्योदक इति वाक्छलम् । प्रस्तावागतत्वेन शेषच्छलद्वयमप्याह—संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति—संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति । तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वमारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते । यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद्भवति व्रात्येऽपि सा भवेद्व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम्, उपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति छलत्रयस्वरूपं ज्ञेयमिति ।

जातय इत्यादि । दूषणाभासा जातयः । अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः । [10]यैः, किम् । पक्षादिर्न दूष्यते, आभासमात्रत्वान्न पक्षदोषः[11] समुद्भावयितुं शक्यते केवलं सम्यगहेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते अगिति तद्दोषतत्त्वानवभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः । सा चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन । यथा साधर्म्य—वैधर्म्य—उत्कर्ष-अपकर्ष-वर्ण्य-अवर्ण्य-विकल्प-साध्य-प्राप्ति-अप्राप्ति-प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्त-अनुत्पत्ति-संशय-प्रकरण - अहेतु-अर्थापत्ति-अविशेष-उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धि-नित्य-अनित्य-कार्यसमाः । तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति । 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' इति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्—नित्यः शब्दो निरवयवत्वात् आकाशवत् । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् अनित्यः शब्दः न पुनः आकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वात् नित्य इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् इत्यत्रैव प्रयोगे स एव हेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते नित्यः शब्दो निरवयवत्वात् अनित्यं हि सावयवं दृष्टं [12]घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् अनित्यः शब्दः न पुनस्त-

---

१. —ण्डादोषम—मु०, प० १, प० २, म० १ । २. —क्षवर्जिता म० २ । ३. —नाहो—म० २ । ४. —र्कं दू—म० १, म० २, मु० । ५. प्रत्यक्षादिवि—प० २ । प्रत्यक्षाणमवि—प० १, म० २ । ६. विशेषाग्रहणं म० २ । ७. —नं प्र—म० २ । ८. गे कृते छ—म० २ । ९. न्यस्य हे—म० २ । १०. यैः प—मु०, प० १, प० २, म० १ । ११. —प उ—म० १, म० २ । १२. —ष्टं यथा घ—म० १, म० २, प० १ ।

र्द्वयम्यात् निरवयवत्वान्नित्य इति । उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः । तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं [1]कंचित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत्कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव [2]मूर्तोऽपि भवेद्, न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्टः एवं शब्दोऽपि भवेद्, [3]नो चेद् मूर्तो घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्टः एवं शब्दोऽपि भवेत्[4]। नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे [5]श्रावणत्वं धर्ममपकर्षति । वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती भवतः । व्याप्यनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यस्तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते । यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादि[6] न तादृग् घटधर्मो यादृग् घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति साध्यधर्मदृष्टान्तधर्मौ हि तुल्यौ कर्तव्यौ । अत्र तु विपर्यासः, यतो यादृग्घटधर्मः कृतकत्वादि न तादृक् शब्दधर्मः । घटस्य ह्यन्यादृशं कुम्भकारादिजन्यं कृतकत्वम् । शब्दस्य हि तालवोष्ठादिव्यापारजमिति । धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः । यथा कृतकं किंचिन्मृदु दृष्टं राङ्कव[7]शय्यादि, किंचित्कठोरं[8] कुठारादि एवं कृतकं किंचिदनित्यं भविष्यति घटादिकम्, किंचिन्नित्यं शब्दादीति । साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः । यदि यथा[9] घटः तथा शब्दः[10]प्राप्तः तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति । शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न [11]साध्यं साध्यस्य[12]दृष्टान्तः स्यात् । न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात् सुतरामदृष्टान्त इति । प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती । यथा मदेतत्कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं[13]प्राप्य साधयत्यप्राप्य[14] वा। प्राप्य[15]चेत् द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति न तत्सदसतोरिति, द्वयोश्च सत्त्वात्किं कस्य साध्यं साधनं वा । [16]अप्राप्य तु साधनमयुक्तम्; अतिप्रसङ्गादिति । अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाह—यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं कृतकत्वे [17]इदानीं किं साधनं तत्साधने किं साधनमिति । प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाह—यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टं कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति । न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनं भङ्गयन्तरेण प्रत्यवस्थानात् । अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानम् अनुत्पत्तिसमा जातिः । यथानुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते, तदेव हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति[18] । साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा[19] या जातिर्यथा पूर्वमुदाहृता, सैव संशयेनोपसंहियमाणा संशयसमा जातिर्भवति । यथा किं घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, [20]किं वा तद्वैधर्म्येणाकाशसाधर्म्यान्[21]नित्यावयवत्वान्नित्य इति । द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या[22] प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति । तत्रैवानित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति, उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम् । नैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थापनमहेतुसमा जातिः । यथा हेतुः साधनम्, तत्साध्यात्पूर्वं पश्चाद्वा सह वा भवेत् । यदि पूर्वम्, असति साध्ये तत्कस्य साधनम् । अथ पश्चात्साधनम्; पूर्वं तर्हि 'साध्यं तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन । अथ युगपत्साध्यसाधने; तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न [23]भवेदिति । अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् अर्थापत्तिसमा

---

१. –किं–म० २ । २. मूर्तो भ–प० १ । ३. न प० २ । ४. –त्रणध–मु०, प० १, प० २, म० १ । ५. –दिना न तादृग् घटधर्मो न ता–मु०, प० १, प० २, म० १ । ६. –तरे वि- मु०, प० १, प० २, म० १ । ७. वस्त्रादि म० २ । ८. कठिनं कु–म० २ । ९. –साधर्म्यापा–प० १ । १०. यथा घ–मु०, प० २, म० १ । ११. प्राप्तं म० २ । १२. साध्यः म० २ । १३. –स्य दृष्टान्तो विरुद्धलक्षणत्वान्न दृष्टा–मु० । १४. –प्यं प० २, म० १, मु० । १५. –कत्वमिदा–मु०, प० १, प० २, म० १ । १६. –त्यस्ये–म० २ । १७. वा जातिपूर्व–प० १, म० १, म० २ । १८. उत तद्वैधर्म्यादाका–म० १, म० २ । १९. –साम्या–म० १, म० २ । २०. –पनाबु–प० १ । २१. –त्वात् सह वा म० १, म० २ । २२. भवति म० २ ।

जातिः यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दोऽर्थादापद्यते, नित्य साधर्म्यान्नित्य इति । अस्ति चास्य नित्येनाकाशेन[1] साधर्म्य निरवयवत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति । अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः । यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति । उपपत्त्या[2] प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः । यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वं निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति पक्षद्वयोपपत्त्या अनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् । उपलब्ध्या[3] प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम्, साधनं तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते, उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनापि विद्युदादावनित्यत्वम्, शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये [4]तथेति । अनुपलब्ध्याप्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः । यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते, [5]सत्याह जातिवादी न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासौ, आवरणयोगात्तु नोपलभ्यते । आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येव शब्द इति चेत्; न; आवरणानुपलम्भेऽप्य[6]नुपलम्भसद्भावादावरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः, तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति । ततश्च [7]मृदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नकार्याभाव[8]नित्यः शब्द इति । साध्यसमनित्यत्वेऽपि[9]कल्पेन साध्यनित्यत्वात्सं नित्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति योयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या, नित्या वेति । यद्यनित्या; तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यतायाः [10]अभावान्नित्यः शब्दः । [11]अथ अनित्यता नित्यैवेति [12]तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च [13]निराश्रितस्यानुपपत्तेः तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्य [14]एव [15]भवेत् । स चेन्न; तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथापि[16] नित्यः शब्द इति । एवं [17]सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः । यथा घटसाधर्म्यमनित्यत्वेन[18] शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते तद् घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात् । अथ पदार्थान्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वं तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति अनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविशेषोद्भावनाच्चाविशेषसमातो भिन्नेयं जातिः । प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः । यथानित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह—प्रयत्नस्य हैरूप्यं दृष्टं किंचिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादिकम्, किंचित्सदेवावरणव्युदासादिना अभिव्यज्यते[19] यथा मृदन्तरितमूलकीलादि । एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेव प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति संशयापादनप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते । तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्ये [अ]संकीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिजातिभेदा एते दर्शिता इति ।

दूषणाभासानुक्त्वा निग्रहस्थानमाह—

निग्रहस्थानमाख्यातं परो येन निगृह्यते ।
प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवद्[20] ॥३२॥

---

१. –काशादिना सा–म० २ । २. लब्धेन प्र–म० २ । ३. तर्पवेति म० २ । ४. –लब्धेन प्रत्यवस्थानादनु–मु०, म० १ । ५. –कत्वमनित्यत्वे हे–प० । ६. स प्राह मु०, म० २, प० १ । ७. –पलम्भोप्य–प० १ । ८. तदन्त–मु०, प० २, म० १, म० २ । ९. –त्यत्वापा–म० २, प० १, प० २ । १०. अपायान्नि–प० १, प० २, म० २ । ११. अथ नित्यैव म० १, प० १, प० २, मु० । १२. –त्यैव तथा–प० १, प० २ । १३. निराश्रयस्या–म० १ । १४. –एव स–प० १, म०१, म० २, मु० । एव चेत्तदनि–प० १, म० १, म० २ । १५. –तु तद–प० २ । १६. –था नि–मु० । १७. –वानामनि–प० २ । १८. –त्वेन म० १, म० २, प० १, प० २ । १९. व्यज्य–मु० । २०. –दतः प० २ ।

येन केनचिद्रूपेण[1] परो विपक्षो निगृह्यते तत्स्वयं अननुनिगृह्य परानन्यथानुपपन्नत्वं कथितमिति । कतिचिद्भेदान्[2] नामतो निर्दिशन्नाह—प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेद[3]वत् । ज्ञानिसंन्यासविरोधाः प्रतिज्ञाशब्देन संबध्यन्ते । आदिशब्देन शेषानपि भेदान् परामृशति । एतद्दूषणजालमुत्पाद्यते येन तन्निग्रहस्थानम् । यदुक्तं—"विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" [न्यायसू०] । तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति । अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं दूषणस्य चानुद्धरणम् । [4]तद्धि निग्रहस्थानं द्वाविंशतिभेदम् । तद्यथा—प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपो मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासश्च[5] । तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यु[6]पगतवतः प्रतिज्ञाहानिनामि निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः, ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियिकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकी कृते यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवत् घटोऽपि नित्यो भवति, स एवं ब्रुवाणः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरसाधनमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनैव व्यभिचारेणोद्भिते यदि ब्रूयाद् युक्तं सामान्यमैन्द्रियिकं नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति, सोऽयमनित्यः शब्द इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति । प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधो यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति तदयं प्रतिज्ञा[7]विरुद्धाभिधानात्पराजीयते । पक्षसाधने परेण दूषिते [8]तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात् क एवमाह 'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति । अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्येऽस्य[9] व्यभिचारेण दूषिते जातिमत्त्वे सतीत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति । प्रकृतादर्थादर्थान्तरं तदी(तदनी)यमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति हेतुः । [10]हेतुरिति हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्, पदं च नामतद्धितनिपातोपसर्गा इति प्रस्तुत्य[11] नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तरेण निगृ[12]ह्यत इति । अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबवत्त्वाद् घझढधभवदित्येतदपि सर्वथा अर्थशून्यत्वान्निग्रहाय[13] कल्पेत, साध्यानुपयोगाद्वा । यत्साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा [14]त्रिवारमभिहितमपि पर्षत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते [15]तदाविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति । पूर्वापरासंगतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति, दश दाडिमानि षडपूपा इति । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्य अवयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति । स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमानक्रमस्यापगमात् । पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये [16]तदेकतमेनानुमानावयवेन हीनं न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात् प्रतिज्ञादीनां पञ्चानामपि साधनत्वात् । एकेनैव

---

१. –द्रव्येण म० २, प० १, प० २ । २. –दानेव ना–प० १, प० २, म० २ । ३. निदर्शयन्नाह प० २ । ४. –दतः प० २ । ५. तच्च म० १, म० २ । ६. –सः प० २, म० १, मु० । –साद्य प० २ । ७. –गच्छतः म० २, प० १, प० २ । ८. –धनीयम–म० १, म० २ । ९. –न्येन व्य–प० १, प० २, म० २ । १०. –ज्ञाहेत्वोर्वि–प० १, प० २, म० २ । ११. –द्धारणा– म० २ । १२. –न्यस्य व्य–प० १, प० २, म० २ । १३. हेतुर्हि–म० १, मु० । १४. प्रस्तुतार्थपरिहारेण ना–प० २ । १५. –गृहीतो भवति प० २ । १६. –हणाय प० १, प० २, मु०, म० १ । १७. त्रिरभि–म० २ । १८. तदवि–प० १, प० २, म० २ । १९. तदन्यतमेनाप्यवयवेन प० १, प० २, म० २ ।

हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति । शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानं भवति । अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते यथा अनित्यः शब्दोऽनित्यः शब्द इति । अर्थपुनरुक्तं तु यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोच्चार्यते पुनः पर्यायान्तरेणोच्यते यथा अनित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति । अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोषः । यथा [2]हेतूपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति । [3]पर्षदाविदितस्य वादिभिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति । पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञानं नाम निग्रहस्थानं भवति । अविदितोत्तरविषयो हि किमुत्तरं ब्रूयात् । न चाननुभाषणमेवेदम्, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् । परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम निग्रहस्थानं भवति । कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपो नाम निग्रहस्थानं भवति । सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्तीदं [4]मम करणीयं परिहीयते, पीनसेन कण्ठ उपरुद्ध इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते । स्वपक्षे [5]परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे [6]प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवति । चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते, भवानपि चोरः पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मनः [7]परापादितचौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते । निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानं भवति । पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीयः 'इदंते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसि' इत्येवं वक्तव्यस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते । अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगोऽनिरनुयोज्यानुयोगो नाम निग्रहस्थानं भवति । उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि निगृहीतोऽसीति यो ब्रूयात्स [8]एवाभूतदोषोद्भावनान्निगृह्यत इति । सिद्धान्तमभ्युपेत्य[अ]नियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानम्[9]। यः प्रथमं कंचित्सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते,[10] तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपालम्भाय[11] वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते । हेत्वाभासाश्च यथोक्ता असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम् इति । भेदान्तरानन्त्येऽपि निग्रहस्थानानां द्वाविंशतिर्मूलभेदा निवेदिता इति[12] ।

अथोपसंहरन्नाह—

नैयायिकमतस्येवं समासः कथितोऽधुना ।
सांख्याभिमतभावानामिदानीमयमुच्यते ॥३३॥

एवम् इत्थंप्रकारतया नैयायिकमतस्य [13]शैवशासनस्य समासः संक्षेपोऽधुना कथितो निवेदितः साम्प्रतमेव निष्ठित इत्यर्थः । इदानीं पुनरयं समासः सांख्याभिमतभावानाम् उच्यते । सांख्याः कापिला इत्यर्थः । तदभिमता [14]तदभीष्टा ये भावाः पञ्चविंशतितत्त्वादयस्तेषां संक्षेपोऽतः परं कथ्यत इत्यर्थः ॥

तदेवाह[15]—

एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते ।
प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या नित्यस्वरूपिका ॥३४॥

एतेषां सांख्यानां प्रकृतिः प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्मणा[16] परस्परोपकाराणां सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि गुणानां या साम्यावस्था समतयावस्थितिः सा किल प्रकृतिरुच्यते, किलेत्याप्तप्रवादे, सा प्रकृतिः कथ्यते । अन्यच्च सा प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या [17]प्रधानशब्देन अव्यक्तशब्देन च

---

१. –क्त्वे तु–म० १ । २. हेतुनिर्दे–प० १ । ३. –दावेदि–मु० । ४. मे म० १, म० २ । ५. परोत्पादि–प० १, प० २ । ६. प्रतीतिमा–मु० । ७. परोत्पादि–प० १ । ८. –वासद्भूत प० १, प० २ । ९. –नं भवति प० १, म० १, म० २ । १०. –मुपक्र–मु० । ११. –लम्भो यथा सि–मु० । १२. इत्यर्थः प० १, प० २ । १३. शिव–मु०, म० २ । १४. तद्दर्शनाभी–प० १, प० २, म० १ । १५. एतदेवाह म० १ । १६. –मणां स–मु०, म० २ । १७. प्रधानाव्य–प० २, मु०, भ० २ ।

प्रकृतिराख्यायते । शास्त्रे प्रकृतिः प्रधानमव्यक्तं चेति [1]पर्याया न तत्त्वान्तरमित्यर्थः ।[2] तथा नित्यस्वरूपिका शाश्वतभावतया प्रसिद्धेत्यर्थः । उच्यते च नित्या नानापुरुषाश्रया च तद्दर्शनेन प्रकृतिर्यदाह—

"तस्माच्च [3]बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥" इति ।

दर्शनस्वरूपमाह—

सांख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः ।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ॥३५॥

केचित्सांख्या निरीश्वरा ईश्वरं देवतया न मन्यन्ते [4]केवलाध्यात्मवेदिनः । केचित्पुनरीश्वरदेवता महेश्वरं स्वशासनाधिष्ठातारमाहुः । [5]सर्वेषामपि । तेषां केवलनित्यात्म[6]वादिनामीश्वरदेवतानां च सर्वेषां सांख्यमतानुसारिणां शासने तत्त्वानां पञ्चविंशतिः स्यात् । तत्त्वं ह्यपवर्गसाधकं बीजमिति सर्ववादिसंवादः । यदुक्तम् ।

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥"

तन्मते पञ्चविंशतिस्तत्त्वानीत्यर्थः ।

गुणत्रयमाह—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम् ।
प्रसादतोषदैन्यादिकार्य[7]लिङ्गं क्रमेण तत् ॥३६॥

तावदिति प्रक्रमे । तेषु तत्त्वेषु सत्त्वं सुखलक्षणं रजोदुःखलक्षणं तमश्चेति मोहलक्षणं प्रथमं तावत् गुणत्रयम् सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयं ज्ञेयम् । तद् गुणत्रयं क्रमेण परिपाट्या, प्रसादतोषदैन्यादिकार्यलिङ्गं गुणत्रयेणेदं लिङ्गत्रयं क्रमेण जन्यते । सत्त्वगुणेन प्रसादकार्यलिङ्गं वदननयनादिप्रसन्नता सत्त्वगुणेन स्यादित्यर्थः । रजोगुणेन तोषः स चानन्दपर्यायः, तल्लिङ्गानि स्फूर्त्यादीनि रजोगुणेनाभिव्यज्यन्त इत्यर्थः । तमोगुणेन च दैन्यं जन्यते 'हा दैव नष्टोऽस्मि, वञ्चितोऽस्मि' इत्यादिवचनविच्छायतानेत्रसंकोचादिव्यङ्ग्यं दैन्यं तमोगुणलिङ्गमिति । दैन्यादीत्यादिशब्देन दुःखत्रयमाक्षिप्यते, तद्यथा आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वाद्राध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा[8], आधिभौतिकम् आधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्,[9] आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकमिति ।

अनेन दुःखत्रयेणाभिहतस्य प्राणिनस्तत्त्वजिज्ञासोत्पद्यते अतस्तान्येव तत्त्वान्याह—

ततः संजायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते ।
अहंकारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः ॥३७॥

ततो गुणत्रयाभिघातात् बुद्धिः संजायते यका बुद्धिर्महानिति उच्यते महच्छब्देन कीर्त्यत इत्यर्थः । एवमेतन्नान्यथा, गौरयं[11] नायः, [12]स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येवं निश्चयस्तेन पदार्थप्रतिपत्तिहेतुर्योऽध्यवसायः सा

---

१. पर्यायान्तरमि–प० १, प० २, म० १ । २. यथा प० १, प० २ । ३. –ते नापि मु– प० १, म० १ । ४. केवलात्म प० १ । ५. सर्वेषामिति प० २, म० १, म० २ । ६. –त्मवेदि–प० २ । ७. कार्यं लि–म० २ । ८. –दचोवि–प० २, म० १ । ९. द्विधा प० २ । १०. –निमित्तम् प० १, प० २, म० १, म० २ । ११. गौरेवायं प० १, प० २, म० १ । १२. स्थाणुरेवायं प० १, प० २, म० १ ।

बुद्धिरिति । तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि तद्दर्शनविश्रुतानि । यदाह—धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि, अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानीत्यष्टौ । सतो बुद्धेरहंकारः स चामिमानात्मको यथा [1]अहं शब्दे, अहं रूपे, अहं रसे, अहं स्पर्शे, अहं गन्धे, अहं स्वामी, अहम् ईश्वरः, असौ मया हतः, अहं त्वां हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपः तस्मादहंकाराद्योडशको गणो 'जायते' इत्यध्याहारः अस्ति भवतीत्यादिवत् । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः पञ्च भूतानि षोडशको गणः । तथाह ईश्वरकृष्णः—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥" इति ।

षोडशकगणमेवाह—

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुस्तथा कर्मेन्द्रियाणि च ॥३८॥
पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि मनस्तथा ।
अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणीति षोडश ॥३९॥ युग्मम् ।

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणीति संबन्धः । स्पर्शनं त्वगिन्द्रियम्, रसनं जिह्वा, घ्राणं नासिका, चक्षुर्नेत्रं, [2]पञ्चमं च श्रोत्रं कर्ण इति, एतानि पञ्चवृत्तिज्ञानानि वृत्तिमच्चरार्थत्वेन ज्ञानं जनयन्तीति कृत्वा बुद्धीन्द्रियाण्याहुः कथयन्ति तन्मतीया इति । तथा कर्मेन्द्रियाणि चेति । [3]तथा पूर्वोद्दिष्टपञ्चसंख्यामात्रमपि परामृशति । तान्येवाह—पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानीति । पायुरपानम्, उपस्थः प्रजननम्, वचो वाक्यम्, पाणिर्हस्तः, पादश्चरणस्तदाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, कर्म[4] कार्यव्यापारस्तस्य साधनानीन्द्रियाणीति कर्मेन्द्रियाणि । तथा मन एकादशमिन्द्रियमित्यर्थः । अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणि चेति । [5]रूपरसगन्धशब्दस्पर्शाख्यानि तन्मात्राणीति षोडश ज्ञेयाः ।

पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतोत्पत्तिमाह—

रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद्भूमिः स्वरान्नभः ।
स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च [6]पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ॥४०॥

पञ्चभ्य इति, पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतकमिति संबन्धः । रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्राद् भूमिः, [7]स्वरतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, एवं पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्युत्पद्यन्ते । असाधारणैकैकगुणकथनमिदम्, उत्पत्तिश्च शब्दतन्मात्रावाकाशं शब्दगुणम्, शब्दो ह्रस्वगुण इति । शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणमिति । शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणमिति । शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणा इति । शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति पञ्चभूतकमित्यर्थः ।

प्रकृतिविस्तरमेवोपसंहरन्नाह—

एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं सांख्यमते प्रधानम् ।
अन्यस्त्वकर्ता विगुणस्तु भोक्ता तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः ॥४१॥

---

१. अत्र क्रमेण प्रतीतिपञ्चकाकारस्थाने, अहं शृणोमि, अहं रूपयामि, अहं रसयामि, अहं स्पृशामि, अहं जिघ्रामि, इत्येवाकारपञ्चकं ज्ञेयम् इति भाति, मूले निर्दिष्टाकारकप्रतीतीनामननुभविकत्वाद् । ग्रन्थकारलेखानुपूर्वीभङ्गभिया तु मूलस्थपाठो न परावर्त्ति । —मु० टि० । १. —मं श्रो—मु०, म० १ । ३. तथेति पू०—प० १, प० २, म० १ । ४. —र्मक्रियाव्या—प० १, प० २, म० १ । ५. शब्दरूपरसगन्धस्पर्शा—प० १, प० २, म० १ । ६. तथा चैवं प० १, प० २, म० १ । ७. —भ्यः पञ्चभूतकम् प० १, प० २, म० १ । ८. —त्राद् आका—म० २ ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सांख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं निवेदितम् । [1]प्रकृतिर्महानहंकारश्चेति त्रयम्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, [2]मनश्चैकम्, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्चभूतानि, चेति चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि रूपं यस्येति, एवंविधा प्रकृतिः कथितेत्यर्थः । पञ्चविंशतितमं तत्त्वमाह—अन्यस्त्विति । अन्योऽकर्ता पुरुषः, प्रकृतेरेव संसरणादिधर्मत्वात् । यदुक्तं—प्रकृतिः करोति प्रकृतिर्बध्यते प्रकृतिर्मुच्यते, न तु पुमान्, पुरुषोऽबद्धः पुरुषो मुक्तः । पुरुषस्तु—

"अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने ॥"

पुरुषगुणानाह—विगुण इति । सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयविकलः । तथा भोक्ता भोगी, एवंप्रकारः पुमान् तथा पञ्चविंशतितमं तत्त्वमित्यर्थः । तथा नित्यश्चिदभ्युपेतः, नित्या चासौ चिच्चैतन्यशक्तिस्तथाभ्युपेतः सहितः । आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते । सुखदुःखादयश्च विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति । बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा । ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते । ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचर्यते । आह च [3]पातञ्जले, "बुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि सदात्मक इव प्रतिभासते" [योगभा०] इति मुख्यतस्तु चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या, बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदस्वभावत्वात् चिच्छक्तिसंनिधानाच्चाचेतनापि बुद्धिश्चेतनावतीवावभासते । वादमहार्णवोऽप्याह—

"बुद्धिदर्पणसंक्रान्तम्[4] अर्थप्रतिबिम्बितम् ।
द्वितीयदर्पणकल्पं[5] पुरुषे ह्यधिरोहति ॥"

तदेव भोक्तृत्वमस्य न तु [6]विकारोत्पत्तिरिति । तथा पञ्चशिखः—

"विविक्ते परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः [7]स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥"

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

"पुरुषोऽविकृतात्मैव[8] स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधेः स्फटिकं यथा ॥" [ ] इति

नित्यचिज्ज्ञानयुक्तः ।

बन्धमोक्षसंसाराश्च नित्येऽप्यात्मनि भृत्यगतयोर्जयपराजययोरिव तत्फलकौशलाभादिसंबन्धेन स्वामिन्युपचारवदत्रान्युपचर्यन्त इत्यदोषः ।

तत्त्वोपसंहारमाह—

पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्यस्यैव[10] भवन्ति च ।
प्रधाननरयोश्चात्र वृत्तिः पङ्ग्वन्धयोरिव ॥४२॥

पूर्वार्धं निगदसिद्धम् । अत्र सांख्यमते प्रधाननरयोः प्रकृतिपुरुषयोर्वृत्तिर्वर्तनं पङ्ग्वन्धयोरिव पङ्गुश्चरणविकलः, अन्धश्च नेत्रविकलः । यथा पङ्ग्वन्धौ संयु[11]क्तावेव कार्यसाधनाय प्रभवतो न पृथग्भूतौ । प्रकृतिपुरुषयोरपि तथैव कार्यकर्तृत्वम् । प्रकृत्युपासं पुरुषो भुङ्क्ते इत्यर्थः ।

मोक्षं प्रमाणं चाह—

प्रकृतिवियोगो मोक्षः [12]पुरुषस्यैवान्तरज्ञानात् ।
मानत्रितयं च[13] भवेत् प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दम् ॥४३॥

---

१. प्रकृतेर्म—प० १, प० २ । २. मनश्चैकम् प० १, प० २, म० १ । ३. पातञ्जलिः म० १ । ४. —र्थप्रतिबिम्बके प० २ । ५. पुंस्यध्यवरोहति प० १, प० २, म० १ । ६. —कारापत्ति—प० १, प० २, म० १ । ७. स्वच्छो मु०, प० १, प० २, म० २ । ८. —त्मैवं म० १ । ९. १ एवम् म० १ । १०. संख्यस्यैव प० १ । संख्ययैव प० २ । ११. संयुतावेव म० १, प० १, प० २ । १२. —स्य वतीतदन्तरं ज्ञा— प० २ । —स्यान्तरज्ञा— म० १, म० २, प० १ । १३. चात्र प्र— म० १ ।

मोक्षः किमुच्यत इत्याह। पुरुषस्यात्मन आन्तरज्ञानात् त्रिविधबन्धविच्छेदात्प्रकृतिवियोगो यः स मोक्षः प्रकृत्या सह वियोगे विरहे सति पुरुषस्यापवर्ग इति। आन्तरज्ञानं च बन्धविच्छेदादुद्भवति। बन्धस्य प्राकृतिकवै[1]कृतिकदाक्षिणभेदात् त्रिविधः। तद्यथा, प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः। ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः। इष्टापूर्ते दाक्षिणः, इष्टापूर्तं जनभोजनदानादिकं तस्मिन्, पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी[2] कामोपहतमना बध्यत इति।

"इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यत् श्रेयो वेऽभिनन्दन्ति मूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥" [ ]

इति वचनात्।

इति त्रिविधबन्धविच्छेदात्परमब्रह्मज्ञानानुभवस्ततः प्रकृतिवियोगः पुरुषस्य, प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनाभ्यां निवृत्तायां प्रकृतौ, पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति श्लोकपूर्वार्द्धार्थः। मानत्रितयं च प्रमाणत्रयं च, भवेत् स्यात्, प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दं च, चकारः सर्वत्र संबध्यते। प्रत्यक्षमिन्द्रियोपलभ्यम्, लैङ्गिकमनुमानगम्यम्, शाब्दं चागमस्वरूपमिति प्रमाणत्रयम्।

अथोपसंहै[3]रवाह—

एवं सांख्यमतस्यापि समासः [4]कथितोऽधुना।
जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते सुविचारवान् ॥४४॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सांख्यमतस्यापि समासः संक्षेपः कथितः। अपि समुच्चयार्थे न केवलं बौद्धनैयायिकयोः संक्षेप उक्तः, सांख्यमतस्याप्यधुना कथित इति। सांख्य इति पुरुषनिमित्तेयं संज्ञा। [5]संख्यस्य इमे सांख्याः। [6]तालव्यो वा शकारः, शङ्खनामाऽऽदिपुरुषः।

अथ क्रमायातं जैनमतोद्देशमाह—अधुनेत्युत्तरार्द्धेन वा संबध्यते। अधुना इदानीं जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते कथंभूत इति। सुविचारवान्। सुष्ठु शोभनो विचारोऽर्थोऽस्यास्तीति मत्वर्थीये मतुप्। सुविचारवानिति साभिप्रायं पदम्। अपरदर्शनानि हि।

"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥" [ ]

इत्याद्युक्त्या न विचारपदवीमाद्रियन्ते। जैनस्त्वाह—

"अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं न विचार्यते।
निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात्परीक्षायां बिभेति किम् ॥" [ ]

इति युक्तियुक्तविचारपरम्परापरिचयपथपथिकत्वेन जैनो युक्तिमार्गमेवावगाहते। न च पारम्पर्यादिपक्षपातेन युक्तिमुल्लङ्घयति परमार्हतः। उक्तं च—

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥" [ ]

इत्यादिहेतुहेसिशतनिरस्तविपक्षप्रसरत्वेन 'सुविचारवान्' इत्यसाधारणं विशेषणं ज्ञेयमिति।

---

१. वैकारिक– प० १, प० २, म० १। २. होष्टकारी मु०, म० २। ३. –संहारमाह म० १। ४. गदितो– म० १। ५. संख्यस्य प० १, प० २, म० १। ६. अप्रामाणिकोऽयं कल्पः। प्रथमकल्पस्तु कथमपि संगमनीयः। वस्तुतस्तु, "शुद्धान्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते" इति व्यासस्मृत्या भावार्थकाण्प्रत्ययनिष्पन्नज्ञानवाचकसंख्याशब्दात्संबन्धिबोधकठीपिकाणा "सांख्य" शब्दः सिद्धः। यद्वा "संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः" इति भारतात्, संख्याशब्दाट्टेदार्थकाणां निष्पन्नः "सांख्य" शब्दः। उभयथाऽपि योगरूढः। मु० टि०। ७. –स्तीत्यर्थे म– मु०। ८. –पविशेषणप्रसरणं मु०।

तदेवाह—

जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः ।
हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः ॥४५॥
सुरासुरेन्द्रसंपूज्यः सद्भूतार्थोपदेशकः ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संप्राप्तः परमं पदम् ॥४६॥

तत्र तस्मिन् जैनमते **जिनेन्द्रो देवता** कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा परमं पदं समाप्त इति संबन्धः । जिनेन्द्र इति जयन्ति रागादीनिति जिनाः सामान्यकेवलिनस्तेषामिन्द्रः स्वामी तादृशासदृशचतुस्त्रिंशदतिशय[1]संपत्सहितो जिनेन्द्रो देवता दर्शनप्रवर्तक आदिपुरुषः, एष कीदृक्[2] सन् शिवं संप्राप्त इति परासाधारणानि विशेषणान्याह—**रागद्वेषविवर्जित** इति रागः सांसारिकस्नेहोऽनुग्रहलक्षणः, द्वेषो वैराग्याद्यनुबन्धानिग्रहलक्षणः, ताभ्यां विवर्जितो रहितः । एतावेव दुर्जयौ दुरन्तभवसंपातहेतुकतया च मुक्तिप्रतिरोधिनौ समये प्रसिद्धौ । यदाह—

"को दुक्करं पविज्जा कस्स न सुक्खेहिं विग्गहो हुज्जा ।
को व न लभेज्ज सुक्खं रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥" [ ] इति ।

तथा **हतमोहमहामल्लः** मोहनीयकर्मोदयात्[6] हिंसात्मकशास्त्रेभ्योऽपि मुक्तिकाङ्क्षणादिभ्यामोहो मोहः स एव दुर्जेयत्वान्महामल्ल इव महामल्लः, हतो[7] मोहमहामल्लो येनेति स तथा । रागद्वेषमोहसङ्भावादेव न चान्यतीर्थाधिष्ठातारो मुक्तयङ्गतया प्रतिभासन्ते, तत्सद्भावश्च तेषु सुज्ञेय एव । यदुक्तम्—

"रागोऽङ्गनासङ्गमनानुमेयो द्वेषो[8] द्विषाद् वारणहेतिगम्यः ।
मोहः कुशास्त्रागमदोषसाध्यो नो यस्य देवस्य[9] स वैद्यमहन् ॥"

इति रागद्वेषमोहरहितो भगवान् । **तथा केवलज्ञानदर्शनः** । धवखदिरपलाशादिव्यक्तिविशेषावबोधो ज्ञानम् । वनमिति सामान्यावबोधो दर्शनम् । केवलशब्दश्चोभयत्र संबध्यते । केवलमिन्द्रियादिज्ञानानपेक्षं ज्ञानं दर्शनं च यस्येति । केवलज्ञानकेवलदर्शनात्मको हि भगवान् करतलकलितविमलमुक्ताफलवद्द्रव्यपर्यायविशुद्धमखिलमिदमनवरतं जगत्स्वरूपं पश्यतीति केवलज्ञानदर्शन इति पदं साभिप्रायम् । छद्मस्थस्य[9] हि प्रथमं दर्शनमुत्पद्यते, ततो ज्ञानं, केवलिनस्त्वादौ ज्ञानं ततो दर्शनमिति । **तथा सुरासुरेन्द्रसंपूज्यः** । [10]सेवाविधानसावधाननिरन्तरौत्सुक्यमानदासायमानदेवदानवनायक[11]वन्दनीयः । तादृशैरपि पूज्यस्य मानयतियंक्खेचरकिंनरनिकर[12] संसेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति । **तथा सद्भूतार्थोपदेशकः** । सद्भूतार्थान् द्रव्यपर्यायरूपान् नित्यानित्यसामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यानन्तधर्मात्मकान् पदार्थानुपदिशति यः स इति ।

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं च सदिति अभिमन्यमानो जैनः एकान्तनित्यपक्षमेकान्तानित्यपक्षं चेत्थं विघटयति । तथा हि—वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम् । तच्च नित्यैकान्ते न घटते । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः, स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीताक्रमेण वा । अन्योन्यव्यतिरिक्तभर्माणामर्थानां प्रकारान्तरेणोत्पादाभावात् । तत्र न क्रमेण; स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो[13]वासामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि हि तत्तत्सहकारिसमवधाने सं तमर्थं करोतीति चेद्, न तर्हि तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् **'सापेक्षमसमर्थम्'** [ ] इति न्यायात् । न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते, अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत्तानपेक्षत इति चेत् तर्हि स भावोऽसमर्थः समर्थो वा । समर्थश्चेत्किं [14]सहकारिमुखप्रेक्षणधीमान्, तान्यपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति । ननु समर्थमपि बीजमिलाजलाद[15]निलादि-

---

१. –र्यप्रका– प० २ । २. –म्पन्महि–म० १, प० १, प० २ । ३. –क् शिवं मु०, म० २ । ४. –माच्च मु०, प० १, प० २, म० २ । ५. दुर्जय– प० १ । ६. मोहो महा– मु०, म० २ । ७. द्विषां दा –मु०, म० २ । ८. देवः स स वैद्य– प० १, प० २, म० १ । ९. अन्यस्य मु०, म० २ । १०. सेवाविधान– मु०, प० १, प० २, म० २ । ११. नवद–मु०, म० २ । १२. करसरसरसे– प० १, म० २ । १३. वा सामर्थ्यप्राप्तेः मु०, म० २ । १४. सहकारिप्रेक्षणादीनि मु० । १५. –लजलादि– प० १, प० २, म० १ ।

सहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति नान्यथा, तर्हि [1]बीजस्य सहकारिभिः किंचिदुपक्रियते, न वा। यदि नोपक्रियते तदा सहकारिसंनिधानात्प्रागिव किं न सोऽर्थक्रियायामुदास्ते, उपक्रियते चेत्, स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते[2] इति वाच्यम्। अभेदे, स एव क्रियत इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता, कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्तेः। भेदे सति कथं तस्योपकारः किं न सह्यविन्ध्यादेरपि। तत्संबन्धात्तस्यायमिति चेत्, उपकार्योपकारकयोः कः संबन्धः। न तावत्संयोगः, द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। अत्र तूपकार्यं द्रव्यमुपकारश्च क्रियेति न संयोगः। नापि समवायः, तस्यैकत्वाद्व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वान्न नियतैः संबन्धिभिः संबन्धो युक्तः। नियतसंबन्धिसंबन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृतोपकारोऽस्य समवायस्याप्युपगन्तव्यः, तथा च सत्युपकारस्य भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव। उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात् भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसंबन्धे संबन्धत्वम्। तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते। नाप्यक्रमेण; न ह्येको भावः सकल[3]कालकलाभाविनीर्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रतीतिकम्, कुर्वंतां वा तथापि स द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्। करणे वा[4] क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाभावादवस्तुत्वप्रसंग इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति। अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयतीति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः।

एकान्तानित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः। अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी, स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थो देशकृतस्य कालकृतस्य च [5]क्रमस्यैवाभावात्। क्रमो हि पौर्वापर्यम् [6]तच्च क्षणिकस्यासम्भवि अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिर्देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते। न [7]चैकान्तविनाशिनि सास्ति। यदाहुः—

"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते॥"

न च संतानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः संभवति। संतानस्यावस्तुत्वात्। वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वम्; न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाक्षणिकत्वम्; तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः। नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके संभवति; स ह्येको बीजपुरादिरूपादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन्नेकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा। यद्येकेन; तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यादेकस्वभावजन्यत्वात्। अथ नानास्वभावैर्जनयति किंचिद्रूपादिकमुपादानभावेन किंचिद्रसादिकं सहकारित्वेनेति; ते तर्हि स्वभावास्तस्यात्मभूताः, अनात्मभूता वा। अनात्मभूताश्चेत्; स्वभावत्वहानिः। यद्यात्मभूताः; तर्हि तस्यानेकत्वमनेकस्वभावत्वात् तेषाम्, स्वभावानां चैकत्वं प्रसज्येत। तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषां तस्य चैकत्वात्। अथ य एवैकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते; तर्हि नित्यस्यैकरूपस्य क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसांकर्यं च कथमिष्यते, क्षणिकवादिना। अथ नित्यमेकस्वरूपत्वादक्रमम्, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिरिति चेत्; अहो स्वपक्षपक्षपाती देवानांप्रियः। यः खलु स्वयमेकस्मात्सिर्रंशाद्रूपादिक्षणलक्षणात्कारणात्, युगपदनेककारणसाध्यान्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति। तस्मात्क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रिया व्यावर्तते। तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलम्भबलेनैव निवर्तत इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीयः। स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा। न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसत् स्याद्वाद इति वाच्यम्। नित्यपक्षानित्यपक्षविलक्षणस्य कथंचित्सदसदात्मकस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात् तथैव च सर्वैरनुभवादिति। तथा च पठन्ति—

---

१. तस्य प० १, प० २, म० १। २. क्रियेत इति प० १, प० २। ३. कालभा— मु०। —कालकलापभा— प० २। ४. वाक्रम— प० १, प० २, म० १। ५. —मस्याभा— प० १। ६. तत्क्ष— मु०, म० २। ७. चैतस्मिन् वि— मु०, म० २।

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्धो भागद्वयात्मकः ।
तत्त्रिभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥" [ ] इति ।

तथा सामान्यैकान्तं, विशेषैकान्तं, भिन्नौ सामान्यविशेषौ चेत्थं निराचष्टे । तथा हि—विशेषाः सामान्यान्निष्क्रान्ताः अभिन्ना वा । भिन्नाश्चेत्; मण्डूकजटाभारानुकाराः । अभिन्नाश्चेत्; तदेव तत्स्वरूपवदिति सामान्यैकान्तः । सामान्यैकान्तवादिनस्तु द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः सांख्याश्च ।

पर्यायनयान्वयिनस्तु[1] भाषन्ते विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थास्ततो विश्वम्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात् । न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्ण[सं]स्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहायान्यत्किंचिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते तादृशस्यानुभवाभावात् । तथा च पठन्ति—

"एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥"

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यत इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम् । किं च यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते तदेकम्, अनेकं वा । एकमपि सर्वगतम्, असर्वगतं वा । सर्वगतं चेत्; किं न व्यक्तयन्तरालेष्वपलभ्यते । सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति, एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरप्यविशेषात् । असर्वगतं चेत्; विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च । अथानेकगोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदभिन्नत्वात्, तर्हि विशेषा एव स्वीकृता अन्योन्यव्यावृत्तिहेतुत्वात् । न हि यद्गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति । अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणं तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं [2]लक्ष्यते । न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते, तस्य निष्क्रियत्वात् । बाह्यदोहादिकासु[3] अर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात् । तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो किमभिन्नं भिन्नं वा । भिन्नं चेत्; अवस्तु, विशेषविश्लेषेणार्थक्रियाकारित्वाभावात् । अभिन्नं चेत्; विशेषा एव तत्स्वरूपवदिति विशेषैकान्तवादः ।

नैगमनयानुगामिनस्त्वाहुः । स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ, तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात् । तथा हि—सामान्यविशेषावत्यन्तं भिन्नौ विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्, यावेवं तावेवं यथा पाथःपावकौ, तथा चेतौ, तस्मात्तथा । सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतं तद्विपरीताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषाः ततः कथमेषामैक्यं युक्तम् । न सामान्यात् पृथग् विशेषस्योपलम्भ इति चेत्; कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम् । सामान्यव्याप्तस्येति चेत्; न तर्हि स विशेषोपलम्भः, सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात् । ततश्च तेन बोधेन विवक्षितविशेषग्रहणाभावात् तद्वाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत् प्रमाता, न चैतदस्ति विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात्; तस्माद्विशेषमभिलषता तत्र व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको [4]बोधोविविक्ततोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको [5]बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः । तस्मात्स्वस्वग्राहिणी ज्ञाने पृथक् प्रतिभासमानत्वात् द्वावपीतरेतरविशकलितौ, ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटत इति स्वतन्त्रः सामान्यविशेषवादः । स्वतन्त्रसामान्यविशेषदेशका नैगमनयानुरोधिनः काणादा आक्षपादाश्च । तदेतत्पक्षत्रयमपि क्षोदं न क्षमते । प्रमाणबाधितत्वात् । सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात् । वस्तुनो हि लक्षणमर्थक्रियाकारित्वम्, तच्चानेकान्तवाद एवाविकलं कलयन्ति परीक्षकाः । तथा हि— गौरित्युक्ते खुरककुदलाङ्गूलसास्नाविषाणाद्यवयवसंपन्नं वस्तुरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते, तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते । यत्रापि च [6]शबला गौरित्युच्यते, तत्रापि [7]च यथा विशेषप्रतिभासस्तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव । शबलेति केवलविशेषोच्चारणेऽप्यर्थात्प्रकरणाद्वा गोत्वमनुवर्तते । अपि च शबलत्वमपि नानारूपम्; तथा दर्शनात् । ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशबलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वं व्यवस्थाप्यते । तदेवमाबालगोपालं प्रतीतप्रसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे

---

१. –यिनो भा–मु० । २. प्रतीयते–म० १, म० २ । ३. –दिव्यर्थ–मु०, म० १ । ४. बोधोऽङ्गी–मु० । ५. बोधोऽङ्गी–प० २ । ६. शबलेत्यु–प० १ । ७. पि यथा–प० १ ।

तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम् । न हि क्वचित्कदाचित्केनचित् किंचित्सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते, विशेषा वा तद्विनाकृताः । यदाहुः—

"द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन[1] वा ॥" [ ] इति ।

केवलं दुर्णयबलप्रभावितप्रबलमतिव्यामोहादेकमपलप्यान्यतरद् व्यवस्थापयन्ति कुमतयः । सोऽयमन्धगजन्यायः । येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्तदोषास्तेऽप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वान्नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः ।

स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः- सामान्यं प्रतिव्यक्ति [2]कथंचिद्भिन्नम्; कथंचित्तदात्मकत्वाद्विसदृशपरिणामवत् । यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात्सिमानेति, तेन समानो गौरयं, सोऽनेन समान इति प्रतीतेः । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः । [3]यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति । न च तेषां गुणरूपताव्याघातः । कथंचिद्व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव पृथग्व्यपदेशादिभाक्त्वात् । विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात्पृथग् भवितुमर्हन्ति । यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत्; तदा तेषामसर्वगतत्वेन[4] ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् । न च तस्य तत्सिद्धं, प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । सामान्यस्य विशेषाणां च परस्परं कथंचिदव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वात् । विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते । सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकात् तेऽप्येकरूपा इति । एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात्सर्वत्र विज्ञेयम् । अनेकत्वं च प्रमाणार्पणात्तस्य सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिणामवत् प्रतिव्यक्तिभेदात् । एवं चासिद्धं सामान्यविशेषयोः सर्वथा विरुद्धधर्माध्यासितत्वम् । कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद्विवक्षितम्; तदास्मत्पक्षप्रवेशः[5] । कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथंचिद्भेदाविनाभूतत्वात् । पाथःपावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः; तयोरपि कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकारात्, पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्विपरीत्यमिति । तथा च कथं न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटत इति । उक्तं च—

"दोहिं वि णएहिं णीयं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खं ॥" तथा ।
"निर्विशेषं हि सामान्यं [6]भवेत्खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥"

तथैकान्तसत्त्वमेकान्तासत्त्वं च वार्त्तमेव । तथा हि सर्वभावानां हि सदसदात्मकत्वमेव स्वरूपम् । एकान्तसत्त्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात् । एकान्तासत्त्वे च निःस्वभावता भावानां स्यात् । तस्मात्स्वरूपेण सत्त्वात्, पररूपेण चासत्त्वात् सदसदात्मकं वस्तु सिद्धम् । यदाहुः—

"सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः ॥" [ ] इति ।

तत्त्वैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेस्त्वेकान्तात्मकत्वं घटस्य सूपपादम् । एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तद्विपेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात् । आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः ।

---

१. केनचेति—मु० । २. –चिद्भिन्नं—प० २ । ३. यदि—प० १ । ४. गतत्वं तसां मु०, प० १, प० २, म० २ । ५. –त्पक्षाप्र—प० १, प० २, म० १ । ६. –त्शशवि—प० १, प० २, म० १ ।

"जे एगं जाणइ से[1] सव्वं जाणइ जे[2] सव्वं जाणइ [3]से एगं जाणइ ।" तथा—

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥" [ ] इति ।

सुघटं सदसदनेकान्तात्मकं वस्तु । अनयैव भङ्ग्या स्यादस्तिस्याच्चास्तिस्यादवक्तव्यादिसप्तभङ्गीविस्तरस्य अगत्—पदार्थमात्रव्यापकत्वाद् अभिलाप्यानभिलाप्यात्मक[4]मप्यूह्यमिति ।

सद्भूतार्थोपदेशक इति, कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वेति । कृत्स्नानि सर्वाणि घात्यघात्यादीनि यानि कर्माणि जीवभोग्यवेद्यपुद्गलास्तेषां क्षयं निर्जरणं विधाय । परमं पदं मोक्षपदं संप्राप्तः । अपरे हि सौगतादयो मोक्षमवाप्यापि तीर्थनिकारादिसंभवे भूयो भूयो भवमवतरन्ति । यदाहुः—

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥" [ ] इति ।

न ते परमार्थतो मोक्षगतिभाजः, कर्मक्षयाभावात् । न हि तत्त्वतः कर्मक्षये पुनर्भवावतारः । यदुक्तम्—

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ [ ] इति ।

उक्तं च श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैरपि भवाभिनामुकानां प्रबलमोहविजृम्भितम् । यथा—

"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य निर्वाणमप्यमवधारितभी[5]रनिष्टम् ।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रणिहतेष्विह मोहराज्ञः ॥" [ ] इति ।

अर्हन्नेव भगवान् कर्मक्षयपूर्वमेव शिवपदं प्राप्त इति ।

तत्त्वान्याह—

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमाश्रवसंवरौ ।
बन्धश्च[6] निर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते ॥४७॥

तन्मते जैनमते नव तत्त्वानि सम्भवन्तीति ज्ञेयम् । नामानि निगदसिद्धान्येव ।

जीवाजीवपुण्यतत्त्वमेवाह[7]—

तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान् ।
कर्त्ता शुभाशुभं[8] कर्म भोक्ता कर्मफलस्य च ॥४८॥
चैतन्यलक्षणो जीवो, यश्चै[9]तद्विपरीतवान् ।
अजीवः स समाख्यातः, पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः ॥४९॥ युग्मम् ।

तत्र जैनमते, चैतन्यलक्षणो जीव इति संबन्धः । विशेषणान्याह—ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्न इति । ज्ञानमादिर्येषां धर्मिणामिति ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा [10]धर्मा गुणास्तेभ्योऽयं जीवश्चतुर्दशभेदोऽपि कथंचिद्भिन्नः कथंचिदभिन्न इत्यर्थः । एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु स्वापेक्षया ज्ञानवत्त्वमस्त्येवेत्यभिन्नत्वं ज्ञानादिभ्यः परापेक्षया पुनरज्ञानवत्त्वमिति भिन्नत्वम् । लेशतश्चेत्सर्वजीवेषु न ज्ञानवत्त्वं तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात् । तथा च सिद्धान्तः—

---

१. सो मु० प० १, प० २, म० १ । २. जो मु०, प० १, प० २, म० १ । ३. सो मु० प० १, प० २, म० १ । ४. -कमप्यू-म० २ । ५. -भीरु न-म० २ । ६. बन्धो विनि-प० १, प० २ । बन्धो नि- म० २ । ७. -तत्त्वमाह- प० १, म० २ । ८. शुभाशुभकर्मकर्त्ता म० १ । ९. तद्विपरीतवान् प० २, म० २ । १०. धर्मगुणा- ।

"सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणन्तओ भागो निच्चुग्घाडिओ ।
जइ सो वि आवरेज्जा तो जीवो अजीवत्तं पाविज्जा ।
सुट्ठु वि मेहसमुदये होइ पहा चन्दसूराणम् ॥"

तथा निवृत्तिमानिति । विवृत्तिः परिणामः सास्यास्तीति मत्वर्थीयो मतुप् । सुरनरनारकतिर्यङ्क्षु एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तजातिषु विविधोत्पत्तिरूपान् परिणामाननुभवति जीव इत्यर्थः । अन्यच्च **शुभाशुभं कर्म कर्त्ता** । शुभं सातवेद्यम्, अशुभमसातवेद्यम् । शुभं चाशुभं चेति द्वन्द्वः । एवंविधं कर्म भोक्तव्यफलकर्तृभूतं कर्त्ता, स्वोत्मसाद्विधाता उपार्जयितेति यावत् । न च सांख्यवदकर्त्ता आत्मा शुभाशुभबन्धकश्चेति । तथा **कर्मफलं भोक्ता** । न च केवलं कर्त्ता, किं तु भोक्तापि स्वोपार्जितपुण्यपापकर्मफलस्य वेदयिता । न चान्यकृतस्यान्यो भोक्ता । तथा चागमः—

"जीवाणं भन्त ! किं अत्तकडे दुक्खे, परकडे दुक्खे, तदुभयकडे दुक्खे ।
गोयम ! अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे दुक्खे, नो तदुभयकडे दुक्खे ॥" [ ] इति ।

कर्त्तैव भोक्ता । तथा **चैतन्यलक्षण** इति । चैतन्यं चेतनास्वभावत्वं, तदेव लक्षणं मूलगुणो यस्येति । सूक्ष्मबादरभेदा एकेन्द्रियास्तथा विकलेन्द्रियास्त्रयः संज्ञ्यसंज्ञिभेदाश्च पञ्चेन्द्रियाः, सर्वेऽपि पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति चतुर्दशापि जीवभेदाश्चैतन्यं न व्यभिचरन्तीति ।

अथाजीवमाह—'**यश्चैतद्वैपरीत्यवानजीवः स समाख्यातः**' इति । यः पुनरस्माज्जीवलक्षणाद्वैपरीत्यमन्यथात्वमस्यास्तीति तद्वैपरीत्यवान् विपरीतस्वभावोऽचेतनः सोऽजीवः समाख्यातः कथितः पूर्वसूरिभिरिति । भेदाश्च धर्माधर्माकाशपुद्गलाः स्कन्धदेशप्रदेशगुणा अद्धाकेवलपरमाणुश्चेति चतुर्दश अजीवभेदाः । **पुण्यं सत्कर्मपुद्गला** इति । पुण्यं नाम तत्त्वं कीदृगित्याह—सत्कर्मपुद्गला इति । सच्छोभनं सातवेद्यं कर्म, तस्य पुद्गला दलपाटकानि पुण्यप्रकृतय इत्यर्थः । ताश्च द्वाचत्वारिंशत्तद्यथा—

"सुरतिरिसुराउउच्चं सायं परघायआयवुज्जोयं ।
सित्थुस्सासनिमाणं पणिंदिवइरुरलसमचउरंसं ॥
तसदसचउवण्णाई सुरमणुदुगपंचतणुउवंगतिअं ।
अगुरुलहुपढमसगाई बायालीसंति सुहपयडी ॥"

भावार्थस्तु ग्रन्थविस्तरभयान्नोच्यत इति श्लोकार्थः ।

दोषतत्त्वमाह—

पापं तद्विपरीतं तु मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः ।
[२]यस्तैर्बन्धः स विज्ञेय आस्रवो जिनशासने ॥५०॥

तु पुनस्तद्विपरीतं पुण्यप्रकृतिविसदृशं **पापं** पापतत्त्वमित्यर्थः । **मिथ्यात्वाद्याश्चेति** । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायायोगा **हेतवः** । पापस्य कारणानि तत्प्रकृतयश्च द्वयशीतिस्तद्यथा—

"थावरदसचउजाई अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिनिरयदुगुवघाई वन्नचउक्कनामचवतीसा ॥

मरयाउनीयअस्सा—

यघाइपणयालसहियवासीइं" इति ।

पुण्यप्रकृतिव्यतिरिक्ताः पापप्रकृतयो द्वयशीतिः ।

वर्णचतुष्कस्य तु शुभाशुभरूपेणोभयत्रापि संग्रह्यमानत्वान्न दोषः । **यस्तैर्बन्ध** इति यस्तैर्मिथ्यादर्शनादिभिर्बन्धः स कर्मबन्धः स जिनशासने **आस्रवो विज्ञेयः**, आस्रवतत्त्वं[3] ज्ञेयमित्यर्थः । तत्प्रकृतयश्च द्वाचत्वारिंशत् । तथा हि—पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वारः कषायाः, [4]पञ्च[अ]व्रतानि, मनोवचनकायाः, पञ्चविंशतिक्रियाश्च कायिक्यादय, इत्यास्रवः ।

---

१. आत्म— प० २ । २. यो बन्धः प० १ । ३. —तत्त्वमित्यर्थः प० २ । ४. पञ्चाणुव्रतानि भ० २ ।

संवरस्तन्निरोधस्तु बन्धो जीवस्य कर्मणः ।
अन्योन्यानुगमात्कर्मसंबन्धो [2]यो द्वयोरपि ॥५१॥

तु पुनस्तन्निरोध आस्रवद्वारप्रतिरोधः संवरः[3] तत्त्वम् । संवरप्रकृतयस्तु समवप्त्याशत्तथा—

"समिइगुत्तिपरीसहजइधम्मभावणाचरित्ताणि ।
पणतिगदुबीसदसवार पञ्चभेएहिं सगवण्णा ॥"

पञ्च समितयस्तिस्रो गुप्तयो द्वाविंशतिः परीषहा दशविधो यतिधर्मः द्वादश भावनाः पञ्च चारित्राणीति प्रकृतयः । बन्धो नाम जीवस्य प्राणिनः कर्मणो [4]वर्द्धमानस्यान्योन्यानुगमात् परस्परं क्षीरनीरन्यायेन लोलीभावाद् यो द्वयोरपि जीवकर्मणोः संबन्धः संयोगः स बन्धो नाम तत्त्वमित्यर्थः । स च चतुर्विधः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् ।

"स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसंचयः ॥" [ ] इति

इत्यादिः स बन्धो ज्ञेयः ।

निर्जरामोक्षौ चाह—

बद्धस्य कर्मणः [5]शाटो यस्तु सा निर्जरा मता ।
आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते ॥५२॥

यः पुनर्बद्धस्य स्पृष्टबद्धनिधत्तनिकाचितादिरूपेणार्जितस्य कर्मणस्तपश्चरणध्यानजपादिभिः शाटः कर्मक्षपणं सा निर्जरा मता पूर्वसूरिभिरिति । सा पुनर्द्विविधा, सकामाकामभेदेन । तु पुनर्देहादेरात्यन्तिको वियोगो मोक्ष उच्यते । स च नवविधो यथा—

'संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य ।
कालो य अंतरं भागो भावो अप्पाबहुं चेव ॥" [ ] इति

नवप्रकारो हि करणीयः । बाह्यप्राणानामात्यन्तिकापुनर्भावित्वेनाभावः शिव इत्यर्थः । ननु सर्वथा प्राणाभावादजीवत्वप्रसङ्गः, तथा च द्वितीयतत्त्वान्तर्भूतत्वात् मोक्षतत्त्वाभाव इति चेत्; न; मोक्षे हि द्रव्यप्राणानामेवाभावः । भावप्राणास्तु नैष्कर्मिकावस्थायामपि सन्त्येव । यदुक्तम्—

"यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्वकेवलीर्यसिद्धत्वदर्शनज्ञानैः ।
आत्यन्तिकैः [8]संयुक्तो निर्द्वन्द्वेनापि च सुखेन ॥
ज्ञानादयस्तु भावप्राणा मुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि[9] ।
[10]तस्मात्सञ्जीवत्वं हि नित्यं सर्वस्य जीवस्य ॥" [ ] इति ।

सञ्जं देहवियोगान्मोक्षः, आदिशब्दाद्देहेन्द्रियधर्म[11]विरहोऽपीति पदार्थः ।

एवं नामोद्देशेन तत्त्वानि सङ्कीर्त्य फलपूर्वकमुपसंहारमाह—

एतानि तत्र तत्त्वानि यः श्रद्धत्ते स्थिराशयः ।
सम्यक्त्वज्ञानयोगेन तस्य चारित्रयोग्यता ॥ ५३ ॥

एतानि पूर्वोक्तानि, तत्र [12]जिनमते, तत्त्वानि यः कश्चित् स्थिराशयो धृतचित्तः सन् श्रद्धत्ते, अवैपरीत्येन [13]मन्यते । एतावता जानन्नपि अश्रद्दधानो मिथ्यादृगेव । यथोक्तं—श्रीगन्धहस्तिमहाभाष्ये—"द्वादशाङ्गमपि श्रुतं विदन्नपि अस्य मिथ्या" [ ] इति । तस्य दृढमानसस्य सम्यक्त्वज्ञानयोगेन चारित्रयोग्यता

---

१. –गमात्मा च यः म० १ । २. यः संबन्धो द्वयो– प० १, प० २, म० २ । ३. –वरत– मु०, म० १ । ४. वेद्यस्या– मु० । ५. निर्जरां मोक्षं चा– । ६. साटो म० १ । ७. –ष्टबद्धनिध– प० १, प० २, म० १ । –ष्टनिध–म० २ । ८. संयुक्तो मु० । ९. तर्हि मु०, प० १, प० २ । १०. तस्माज्जी– मु० । ११. वियोगोऽपी–प० २ । १२. जैनमते प० १, प० २, म० २ । १३. मन्यते म० २ ।

चारित्राहंता । सम्यक्त्वज्ञानयोगेभ्यति । सम्यक्त्वं च ज्ञानं च सम्यक्त्वज्ञाने तयोर्योगस्तेन । ज्ञानदर्शनविनाकृतस्य हि चारित्रस्य सम्यक्चारित्रव्यवच्छेदार्थं सम्यक्त्वज्ञानग्रहणमिति ।

फलमाह—

तथा भव्यत्वपाकेन यस्यैतत् त्रितयं भवेत् ।
[1]सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम् ॥ ५४ ॥

तथेत्युपदर्शने । भव्यत्वपाकेन परिपक्वभव्यत्वेन तद्भव एवावश्यं [2]मोक्षं गन्तव्यमिति । भव्यत्वस्य परिपाकेन यस्य पुंसः[3]स्त्रियो एतत् त्रितयं दर्शनज्ञानचारित्ररूपं भवेत् । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् सोऽनुक्तोऽपि संबध्यत इति । स पुमान्मोक्षभाजनं जायते निर्वाणश्रियं भुङ्क्त इत्यर्थः । कस्मात् सम्यग्ज्ञानक्रियायोगात् । सम्यगिति । सम्यक्त्वं दर्शनं ज्ञानमागमादबोधः क्रिया च चरणकरणात्मिकास्तासां योगः संबन्धस्तस्मात् । न च केवलं दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा मोक्षहेतुकम् । यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः—

"सुबहुं पि सुयमहीयं किं काही चरणविप्प[4]मुक्कस्स ।
अन्धस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि ॥

तथा

"नाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं ।
संजमहीणं च तवं जो चरइ निरत्थयं तस्स ॥"

दर्शनज्ञानचारित्राणि हि समुदितान्येव मोक्षकारणानि । यदुवाच वाचकमुख्यः—"[5]दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १।१] इति ।

प्रमाणे आह—

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते ।
अनन्त[6]धर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह ॥ ५५ ॥

तथेति प्रस्तुतमतानुसंधाने द्वे प्रमाणे मते अभिमते । के ते । इत्याह—प्रत्यक्षं च परोक्षं चेति । अश्नुते अक्ष्णोति[7] वा व्याप्नोति सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानित्यक्षो जीवः, अश्नुते विषयमित्यक्षमिन्द्रियं च अक्षमक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् । इन्द्रियाण्याश्रित्य[8] व्यवहारसाधकं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षमित्यर्थः । अवधिमनःपर्यय-केवलज्ञानानि, तद्भेदाश्च प्रत्यक्षमेव अत एव सांव्यवहारिकपारमार्थिकैन्द्रियिका[9]तीन्द्रियिकादयो भेदा अनु-माना[10]दधिकज्ञानविशेषप्रकाशकत्वादत्रैवान्तर्भवन्ति । परोक्षं चेति । अक्षाणां परं परोक्षम् । अक्षेभ्यः परतो वर्तत इति वा । परेणेन्द्रियादिना क्षीयते परोक्षं स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् । [11]अमुयैव भङ्ग्या मतिश्रुतज्ञाने अपि परोक्षमेवेति द्वे प्रमाणे ।

प्रमाणमुक्त्वा तद्गोचरमाह—तु पुनः, इह जिनमते, प्रमाणविषयः प्रमाणयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्विषयो गोचरो ज्ञेय इत्यध्याहारः । किं तदित्याशङ्क्यामनन्तधर्मकं वस्त्विति । वस्तुतत्त्वं पदार्थस्वरूपम् । किंविशि-ष्टम्[12] । अनन्तधर्मकम्—अनन्तादिप्रकालविषयत्वादपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्याया यत्रेति । अनेन साधनमपि दर्शितम् । तथा हि [13]तत्त्वमिति धर्मि, अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः, सत्त्वान्यथा-नुपपत्तेरिति हेतुः । अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोरन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धत्वात् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्, यदनन्तधर्मात्मकं[14] न भवति तत् सदपि न भवति यथा वियदिन्दीवरमिति केवलव्यतिरेकी हेतुः । साधर्म्य-

---

१. –त्रस्य व्यव–प० १, प० २, म० १ । २. सम्यक्त्वज्ञा–प० १, प० २ । ३. मोक्षं म० २ । ४. पुंस एतत् मु० । ५. –विप्पहीणस्स–प० २ । ६. "सम्यग्दर्शनज्ञान····"–त०सू० । ७. धर्मात्मकं म० २ । ८. –ति व्या–म०२ । ९. –तव्य–म० २, प० १, प० २ । १०. –कातीन्द्रि–मु०, प० १, प० २ । ११. नाधिक–प० १, प० २ । १२. अनयैव प० १ । १३. –ष्टस्वरूपम् प० १ । १४. सत्त्वमि–मु०, म० १ । १५. –धर्मकं मु०, म० १ ।

दृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात् । अनन्तधर्मात्मकत्वं चात्मनि तावत्साकारानाकारोपयोगिता कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिष्कलता अमूर्तत्वमसंख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः, हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनारकतिर्यङ्नरत्वाद्यस्तु क्रमभाविनः । धर्मास्तिकायादिष्वप्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्याद्युपग्रहकारित्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेदत्वमवस्थितत्वमरूपित्वमेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वमित्यादयः । घटे पुनरामत्वं पाकजरूपादिमत्त्वं पृथुबुध्नोदरकम्बुग्रीवत्वं जलाद्याहरणसामर्थ्यं मत्यादिज्ञान[1]विषयत्वं नवत्वं पुराणत्वमित्यादयः । एवं सर्वपदार्थेषु नानानयमतानुसारेण शाब्दानार्थादिच पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम् । शब्देष्वप्युदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृत[2]घोषनादाघोषाल्पप्राणमहाप्राणतादयः, तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्याद्यश्रवसेयाः । अस्य हेतोरनेकान्तप्रचण्डमुद्गर[3]घातदलितशक्तित्वेनासिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादीनां कण्टकानामनवकाश एवेत्येवं [4]विधपर्यायानन्यसुभगं वस्तु जिनशासने प्रमाणविषय इत्यर्थः ।

लक्ष्यनिर्देशं कृत्वा लक्षणमाह—

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ ५६ ॥

तत्र प्रत्यक्षमिति लक्ष्यनिर्देशः । अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशमिति लक्षणनिर्देशः । परोक्षोऽक्षगोचरातीतः, ततोऽन्योऽपरोक्षस्तद्भावस्तत्ता तया साक्षात्कृततयेति यावत् । [5]अर्थ्यते इत्यर्थो गम्यत इति हृदयम्, अर्थ्यत इति वाऽर्थो दाहपाकाद्यर्थक्रियार्थिभिरभिलष्यत इति तस्य । ग्राहकं, व्यवसायात्मकतया परिच्छेदकं यज् ज्ञानं तदीदृशमिति ईदृगेव प्रत्यक्षमिति संटङ्कः । अपरोक्षतयेत्यनेन परोक्षलक्षणसंकीर्णतामप्यक्षस्य परिहरति । तस्यामाक्षात्कारितयाऽर्थग्रहणरूपत्वादिति । ईदृशमिति । अमुना[6] तु पूर्वोक्तन्यायात् सावधारणत्वेन विशेषणकदम्बकसंचिवज्ञानोपदर्शनात् परपरिकल्पितलक्षणयुक्तस्य प्रत्यक्षतां प्रतिक्षिपति । एवं च यदाहुः "इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" [ ] तथा "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् ।" [ ] इत्यादि । तदयुक्तमित्युक्तं भवति । अपूर्वप्रादुर्भावस्य प्रमाणबाधितत्वादत्यन्तासतां शशविषाणादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । तस्मादिदमात्मरूपतया विद्यमानमेव विशेषकुड्यैतुकलापसंनिधानात् साक्षादर्थग्रहणपरिणामरूपतया[10] विवर्तते[11], तथा चोत्पन्नजन्म[12]त्वादिविशेषणं न संभवेत् । अथैवंविधार्थसूचकमेवैतदित्यादरणीयास्तथा सत्यविगानमेवेत्यास्तां तावत् ।

अधुना परोक्षलक्षणं दर्शयति इतरदित्यादि । अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तम् । तस्मादितरदसाक्षादर्थग्राहकं ज्ञानं परोक्षमिति शेषमवगन्तव्यम् । [13]तदपि स्वसंवेदनापेक्षतया प्रत्यक्षमेव, बहिरर्थापेक्षया तु परोक्षव्यपदेशमश्नुत इति दर्शयन्नाह—ग्रहणेक्षयेति । इह ग्रहणं प्रक्रमाद्बहिः प्रवर्त्तनमुच्यते, अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात्, तस्येक्षा अपेक्षा तया बहिःप्रवृत्तिपर्यालोचनयेति यावत् । तदममर्थो यद्यपि स्वयं प्रत्यक्षं तथापि लिङ्गशब्दादिद्वारेण बहिर्विषयग्रहणे असाक्षात्कारितया व्याप्रियत इति परोक्षमित्युच्यत इत्यर्थः ।

पूर्वोक्तमेव वस्तुतत्त्वमनन्तधर्मात्मकतया दृढयन्नाह—

येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं [14]यत्सत्तदिष्यते ।
अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः ॥५७॥

---

१. ज्ञानज्ञेयत्व—प० १, प० २, म० १, म० २ । २. —घवदघोषतात्व- प० १, प० २, म० १, म० २ । ३. —रापातघात—प० २, —रावातपात—प० २ । ४. —यं धर्मपर्याया—प० २ । —वंविधपर्यायात्यन्तसु—मु० । —यं विधपर्यायानयसु—म० १ । ५. अर्थ्यत म० १, म० २ । ६. —ना पु—म० २ । ७. —रणेन म० २, प० १, प० २ । ८. —कदम्बसंचिवलक्षणज्ञा—मु० । ९. —तस्य युक्तेरयं मु० । १०. —पा निव—मु० । ११. विवर्तेत प० १, प० २, म० २ । १२. न्मादिवि—म० १ । १३. एतदपि म० १, म० २, प० १, प० २ । १४. यत्तत्सदि— म० १ ।

येन कारणेन यदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तत्सत्सत्त्वरूपमिष्यते तेन कारणेनानन्तधर्मकं वस्तु मानगोचरः, प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणविषय उक्तः कथितमिति संबन्धः । उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यं च, उत्पादव्ययध्रौव्याणि तेषां युक्तं मेलस्तदेव सत्त्वमिति प्रतिज्ञा इष्यते केवलज्ञानिभिरभिलप्यत इति । वस्तुतत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् । तथा हि—उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते, वा परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः; सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्—

"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सस्थोश्चित्यपचित्योराकृतिजात्यन्वयस्थानात् ॥" [ ]

इति वचनात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च, अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्लशङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशोऽजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा । यदि भिद्यन्ते; कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् । न भिद्यन्ते चेत्; तथापि कथमेकं[1] वस्तु त्र्यात्मकम् । तथा च यद्युत्पादादयो भिन्नाः, कथमेकं [2]त्र्यात्मकम् । अथोत्पत्त्यादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्र्यात्मकमिति चेत्; तदयुक्तम्; कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथंचिद्भेदाभ्युपगमात् । तथा हि—उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात् रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्, अनुभवतः आत्मलाभः, सतः [3]सत्त्वाविप्रयोगो द्रव्यरूपतयानुवर्त्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथा ह्युत्पादः केवलो नास्ति [4]स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्देवमन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तं—

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥" [आप्तमी० ५९–६०] इति

व्यतिरेकश्च यदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं न भवति, तद्वस्त्वेव न यथा खरविषाणं यथेदं तथेदमिति । अत एवानन्तधर्मकं वस्तु मानगोचरः प्रोक्तम् । अनन्ता धर्माः पर्यायाः सामान्यविशेषलक्षणा यत्रेत्यनन्तधर्मकं वस्त्विति । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्यैवानेकधर्मकत्वं युक्तियुक्ततामनुभवतीति ज्ञापनायैव, भूयोऽनन्तधर्मकपद-प्रयोगो न पुनः पादद्वात्यपद्योक्तानन्तधर्मकपदेन[5] पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयमिति पदार्थः ।

ग्रन्थस्य बालावबोधार्थफलत्वा[6]दुपसंहरन्नाह—

जैनदर्शनसंक्षेप [7]इत्येष कथितोऽनघः ।
[8]पूर्वापरविघातस्तु यत्र क्वापि न विद्यते ॥५८॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण, एष प्रत्यक्षलक्ष्यो जैनदर्शनसंक्षेपः कथितः, विस्तरस्यागाधत्वेन वक्तुमगोचरत्वात् । उपयोगसारः संक्षेपो निवेदितः । [9]किंभूतोऽनघो निर्दूषणः सर्ववक्तव्यस्य सर्वज्ञमूलत्वेन दोषकालुष्याभवकाशात् । तु समुच्चयार्थे । अत्र पुनः पूर्वापरविघातः क्वापि न विद्यते, पूर्वस्मिन्नादौ परस्मिन्[10] अन्ते च

---

१. –कं त्र्या– म० १, प० १, प० २ । २. त्रया– प० । ३. सत्तावियो– म० १, म० २ । ४. –तिविनाश– प० २ । ५. –धर्मपदेन प० १, प० २, म० १, म० २ । ६. –फलकत्वा–मु० । ७. गदितोऽधुना म० १, म० २ । ८. –पराधा– म० १, म० २ । ९. किंविशिष्टोऽन– प० १, प० २, म० १ । १०. स्मिंश्च प्रान्ते वि– प० १, प० २, म० १ ।

विघातो विरुद्धार्थता यत्र दर्शने क्वापि पर्यन्तग्रन्थेऽपि परस्परविसंवादो[1] नास्ति, आस्तां तावत्केवलिभाषितेषु द्वादशाङ्गेषु पारम्पर्यग्रन्थेष्वपि सुसंबद्धार्थत्वाद् विरुद्धार्थदौर्गन्थ्याभावः[2]। अयं भावो, यत् [3]परतीर्थिकानां मूलशास्त्रेष्वपि न युक्तियुक्तता पश्यामः किं पुनः पाश्चात्यविप्रलम्भकग्रथितग्रन्थकथासु[4], यच्च[5] क्वापि कारुण्यादिपुण्यकर्मण्यानि च वचांसि क्वचिच्चिरन्तनाकर्णग्रामस्तान्यपि त्वदुक्तसूक्तसुधापयोधिमन्थोद्गतान्येव रत्नानीव संगृह्य [6]स्वात्मानं रत्नपतय इव बहु मन्वाना मुधा प्रगल्भन्ते [7]यदाहुः श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः—

"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु
स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः ।
तथैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥" [ ] इति परमार्थः ।

अथ वैशेषिकमतस्य देवतादिसाम्येन नैयायिकेभ्यो यं विशेषं न मन्यन्ते तान् बोधयन्नाह—

देवताविषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणां [8]तत्त्वेषु विद्यतेऽसौ [9]निदिश्यते ॥५९॥

शिवदेवतात्साम्येऽपि, तत्त्वादिविशेषविशिष्टत्वाद् वैशेषिकास्तेषां **वैशेषिकाणां** काणादानां **नैयायिकैः** राक्षपादैः **समं** सार्द्धं **देवताविषये** शिवदेवताभ्युपगमे **भेदो** विशेषो **नास्ति**, **तत्त्वेषु** शासनरहस्येषु **भेदो विद्यते**। तुशब्दोऽध्याहार्यः । **असौ** विशेषो **नैयायिकेभ्यः** पृथग्भावो **निर्दिश्यते**[10] प्रकाश्यत इत्यर्थः ।

तान्येव तत्त्वान्याह—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं हि तन्मते ॥६०॥

तन्मते वैशेषिकमते **हि** निश्चयेन **तत्त्वषट्कं** ज्ञेयमिति संबन्धः । कथमित्याह—**द्रव्यं गुण** इत्यादि । आदिमतत्त्वं **द्रव्यं** नाम, भेदबाहुल्येऽपि सामान्यादेकम्[11]। द्वितीयतत्त्वं **गुणो नाम** तथेति भेदान्तरसूचने । तृतीयं तत्त्वं **कर्मसंज्ञम्**। **चतुर्थकं** च तत्त्वं **सामान्यम्**। चतुर्थमेव चतुर्थकं [12]स्वार्थे कः प्रत्ययः । **च**: समुच्चये । अन्यच्च **विशेषसमवायौ** । विशेषश्च समवायश्चेति द्वन्द्वः । इति तद्दर्शने तत्त्वानि षड् ज्ञेयानि ।

भेदानाह—

तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि ।
कालदिगात्ममनांसि च, [13]गुणाः पुनश्चतुर्विंशतिधा ॥६१॥
स्पर्शरस[14]रूपगन्धाः शब्दः संख्या विभागसंयोगौ ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥६२॥
बुद्धिः सुखदुःखेच्छा [15]धर्माधर्मौ प्रयत्नसंस्कारौ ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥६३॥

नवद्रव्याणि चतुर्विंशतिगुणाश्च, निगदसिद्धान्येव । संस्कारस्य वेगभावनास्थिति[16]स्थापकभेदात् त्रिविधत्वेऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षयैकत्वम् । शौर्यौदार्यादीनां च गुणानामेष्वेव चतुर्विंशतिगुणेष्वन्तर्भावाभ्राधिक्यम् ।

---

१. –दोऽपि ना– प० १ । २. –भावात् प० १, प० २, म० १ । ३. परतीर्थि–प० १, प० २, म० १, म० २ । ४. –ग्रथकन्थासु प० १, प० २, म० २ । ५. यच्च क्वापि क्वापि का– सु०, म० २ । ६. स्वात्मनि प० २ । ७. यत् श्रीदिवाकरपादाः प० १, प० २, म० १, म० २ । ८. तत्त्वे तु म० १, म० २ । ९. निदर्शते म० १, म० २ । १०. –दैक्यं प० १, प० २ । ११. –र्थे क इति क–प्रत्य– प० १, प० २, म० १, म० २ । १२. गुणः पुनः पञ्चविंशतिधा प० १, प० २, म० १, म० २ । १३. –गन्धरूपाः म० १, म० २ । १४. धर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः प० २ । १५. –तस्थापकभेदात् त्रैविध्येऽपि प० १, म० १, म० २ ।

कर्मसामान्यभेदानाह—

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम् ।
पञ्चविधं कर्मैतत् परापरे द्वे तु सामान्ये ॥६४॥

पञ्चापि कर्मभेदाः स्पष्टा एव । गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यवरोधः । तु पुनः, सामान्ये द्वे द्विसंख्ये । के ते इत्याह—परापरे । परं चापरं च परापरे, परसामान्यमपरसामान्यं चेत्यर्थः ।

एतद्व्यक्तिं विशेषव्यक्तिं चाह—

तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिशेत्[1] ॥६५॥

तत्र तयोर्मध्ये परं सत्ता भावो महासामान्यमिति चोच्यते, द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात् । [2]अपरसामान्यं द्रव्यत्वादि, एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते । तथा हि । द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात्सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः, ततः कर्मयारभ्ये सामान्यविशेष इति । एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं तदपेक्षया घटत्वादिकम् । एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यं द्रव्यकर्मभ्यो [3]व्यावृत्तेश्च विशेषः । एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं तदपेक्षया नीलत्वादिकम् । एवं पञ्चसु कर्मसु वर्तमानत्वात् कर्मत्वं सामान्यं, द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः । एवं कर्मत्वापेक्षयोत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम् । तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कथा युक्तार्थेति चेत्, उच्यते—न द्रव्यं सत्ता, द्रव्यादन्येत्यर्थः, एकद्रव्यत्वाद् एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः । द्रव्यत्ववद्, यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं भवति, किं तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव, एवं सत्तापि । वैशेषिकाणां हि, अद्रव्यं वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम् । तत्राद्रव्यं द्रव्यमाकाशं दिगात्मा कालो मनः परमाणवः, अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः, एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति, एकद्रव्यवती च सत्ता इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वान्न द्रव्यम् । एवं न गुणः सत्ता, गुणेषु भावाद्-गुणत्ववत् । यदि हि सत्ता गुणः स्यात् न तर्हि गुणेषु वर्तेत, निर्गुणत्वाद् गुणानाम्, वर्तते च गुणेषु सत्ता, 'सन् गुण' इति प्रतीतेः । तथा न सत्ता कर्म, कर्मसु भावात्, कर्मत्ववत् । यदि च सत्ता कर्म स्यान्न तर्हि कर्मसु वर्तेत, निष्कर्मत्वात्कर्मणाम्, वर्तते च कर्मसु भावः, 'सत्कर्मे'ति प्रतीतेः । तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता । अथ विशेषपदार्थमाहाचार्यस्तेन—विशेषस्त्विति । निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिशेत् । विनिर्दिशेत् कथयेद् आचार्य इति ज्ञेयम् । कथमित्याह—अन्त्यो विशेषो नित्यद्रव्यवृत्तिरिति । तथा हि । नित्यद्रव्यवृत्त-योऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवस्ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम् । तथा च प्रशस्तकारः[4], अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः । विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वप्याकाशकालदिगात्ममनःसु प्रतिद्रव्यमेक-कशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । [5]यथा अस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिक्रियावयवो-पचयापचय अवयवविशेषसंयोगनिमित्तासंभवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिर्देशकालविप्रकर्षदृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति तेभ्यो विशेषा इति । अमी च विशेषा एव, न तु द्रव्यत्वादिवत् सामान्यविशेषोभयरूपा व्यावृत्तेरेव हेतुत्वादित्यर्थः[6] ।

समवायपदार्थव्यक्तिलक्षणमाह—

य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।
संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः प्रोक्तः स समवायः ॥६६॥

इह प्रस्तुतमते, अयुतसिद्धाना[7]माधाराधेयभूतभावानामिह प्रत्ययहेतुर्यः संबन्धः स समवायः । यथेह तन्तुषु पट इत्यादि प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः । यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं

---

१. –दिष्टः म० १, म० २ । २. अपरं सा मु०, म० १, प० १, प० २ । ३. व्यावृत्तित्वाद्वि–प० १ । व्यावृत्तस्वाच्च वि– प० २ । ४. -करः म० १ । ५. तथा मु०, म० २ । ६. –दिति पदार्थः म० १, प० १, प० २ । ७. –माधेयाधारभू– म० १, म० २ । ८. धार्याधारभू– म० १ ।

तन्त्वाद्याधारे संबध्यते, यथा छिदिः क्रिया छेद्येनेति । अयुतसिद्धानामिति । परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाणामाश्रितानामाश्रयाश्रयिभाव इति । परस्परवैलक्षण्यं तु विविक्तैरवयवैः । षण्णामपि पदार्थानां स्वरूपकथनमात्राभिप्रेतत्वाद् ग्रन्थस्य नेह प्रसज्यत इति ।

प्रमाणव्यवस्थितमाह—

प्रमाणं च द्विधामीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
वैशेषिकमतस्यैवं संक्षेपः परिकीर्तितः ॥६७॥

यद्यप्यौलूक्यदर्शनेन व्योमशिवाचार्यकेनानि त्रीणि प्रमाणानि, तथापि श्रीधरमतापेक्षयात्रोभे एव निगदिते । अमीषां वैशेषिकाणां प्रमाणं द्विधा द्विप्रकारम् । चः पुनरर्थे । कथमित्याह प्रत्यक्षमेकं प्रमाणं, तथेति द्वितीयभेदपरामर्शार्थं, लैङ्गिकमनुमानम् । उपसंहरन्नाह—एवमिति । एवमिति प्रकारसूचनं, यद्यपि प्रमातृफलभेदापेक्षया बहु वक्तव्यं, तथाप्येवममुना प्रकारेण वैशेषिकमतस्य संक्षेपः परिकीर्तितः कथित इति ।

षष्ठं दर्शनमाह—

जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः ।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥

जैमिनिमुनेरमी इति जैमिनीयाः । गुरुपौवर्यार्थे तद्धित ईयप्रत्ययः । जैमिनिशिष्यावधिके उत्तरमीमांसावादिनः, एके पूर्वमीमांसावादिनः । तत्रोत्तरमीमांसावादिनो वेदान्तिनस्ते हि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनव्यसनिनः शब्दार्थखण्डनाय युक्तीः वेदयन्तोऽनिर्वाच्यितत्वे व्यवतिष्ठन्ते । यदाहुः—

"अन्तर्भावितसत्यं चेत्कारणं[1] सदसत्ततः ।
नान्तर्भावितसत्यं चेत्कारणं[2] तदसत्ततः ॥
यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।
यद्येतत्स्यमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ।
एकं ब्रह्माक्षमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न [3]वीरवीरस्य मङ्कः सङ्करकेलिषु ॥

एवं वादिप्रतिवादिनोः

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य मूढयोः ।
का सदस्तु गतिस्तद्वद्वस्तुशून्यव्यवहारयोः ॥
उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशक्नुवतोर्यथोः[4] ।
अनिर्वाक्यतायादुपादेया गतिस्तयोः ॥

इत्यादिप्रलयकालानिलक्षुभितचरमसलिलराशिकल्लोलमालानुकारिणः परब्रह्माद्वैतसाधकहेतूपन्यासाः प्रोच्छलन्तश्चतुरचमत्कारं जनयन्ति. क्व पर्यवस्यन्ति तास्तु युक्तयः सूत्रकृतानुल्लिङ्गितत्वाद् ग्रन्थविस्तरभयाच्च नेह प्रपञ्च्यन्ते, अभियुक्तैस्तु खण्डनमहातर्कादवसेयाः । पूर्वमीमांसावादिनश्च द्विधा प्राभाकरा भाट्टाश्च क्रमेण पञ्चषट्प्रमाणप्ररूपकाः । अत्र तु सामान्येन सूत्रकृत् पूर्वमीमांसावादिन एव जैमिनीयानुद्दिष्टवान् । ते पुनर्जैमिनीयाः, प्राहुः कथयन्ति, कथमित्याह—सर्वज्ञादिविशेषणः कोऽपि देवो न विद्यते यस्य वचो वचनं आप्तं प्रमाणं भवेत् । सर्वज्ञादिविशेषण इति । सर्वज्ञादिना गुणेन विशेष्य[5] इति । आदिशब्दाद्विभुत्वनित्यत्वचिदात्मकत्वादिगुणविशिष्टः कोऽपि देवो नास्ति यद्वचनं प्रमाणतामनुभवेत्, [6]मानुषतनुत्वाविशेषेण विप्रलम्भकत्वाद् वुष्टपुरुषवत् । सर्वज्ञादिगुणविशिष्टपुरुषाद्यभाव इत्यर्थः । अथ किञ्चूरायमाणसुरासुरसेव्यमानताद्युपलक्षणेन

---

१. —करणं प० १, प० २ । २. तदस— म० १, म० २ । ३. —करणं प० १, प० २ । ४. धीरवीरस्य प० १, प० २ । ५. दशकलीमयोः प० १, प० २ । ६. —ष्यत इ— म० १, म० २, प० १, प० २ । ७. मानुषत्वादि —प० १, प० २, म० १, म० २ ।

त्रैलोक्यसाम्राज्यसूचकच्छत्रचामरादिविभूत्यन्यथानुपपत्तेश्चास्ति[1] कश्चित् पुरुषविशेषः सर्वज्ञ इति चेत्; स्वयूथ्योक्तवचनप्रपञ्चोपन्यासैरेव निरस्तत्वात्। यथा—

"देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥" [ ]

अथ यथानादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया [2]शोध्यमानस्य निर्मलत्वमेवमात्मनोऽपि निरन्तरज्ञानाभ्यासेन विगतमलत्वात्[त्वं] किं न संभवेदिति मतिः, तदपि न ह्यभ्यासमात्रसाम्ये शुद्धेरपि[3] तदेव तादवस्थ्यम्। यदुक्तम्—

"गरुत्मच्छ्वासवातृगयोर्लङ्घनाभ्याससंभवे।
समानेऽपि समानत्वं लङ्घनस्य न विद्यते॥" [ ]

न च सुतरां चरणधावितमानपि पङ्गुरत्नवर्षपर्वतशिखर[4]मधिरोढुं क्षमः। उक्तं च—

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि॥"

अथ मा भवतु मानुषस्य सर्वज्ञत्वं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामस्तु। ते हि देवाः, संभवत्यपि सेध्यति-[5]शायिसंपत्। यदाह कुमारिलः—

"अथापि [6]वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम्॥"

[7]एतदपि न; रागद्वेषमूलनिग्रहानुग्रहग्रस्तानामसंभाव्यमिदमेषामिति। न च प्रत्यक्षं तत्साधकम्, 'संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना' [ ] इति वचनात्। न चानुमानम्, प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवृत्तेः"। न चागमः, सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तस्यापि विवादास्पदत्वात्। न चोपमानम् तदभावादेव। अर्थापत्तिरपि न; सर्वज्ञसाधकस्यान्यथानुपपत्त्यलिङ्गस्यादर्शनात्। यदि परमभावप्रमाणगोचरः सर्वज्ञ इति स्थितम्। प्रयोगश्चात्र—नास्ति सर्वज्ञः, प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्, शशशृङ्गवदिति।

अथ कथं यथावस्थिततत्त्व[10]निर्णय इत्याह—

तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः[11] ॥६९॥

तस्मात्प्रामाणिकपुरुषाभावादतीन्द्रियार्थानां चक्षुरगोचरपदार्थानां साक्षाद् द्रष्टुशक्तेः सर्वज्ञादेः पुरुषस्याभावाद् नित्येभ्यः शाश्वतेभ्यो वेदवाक्येभ्योऽपौरुषेयवचनेभ्यो यथार्थत्वविनिर्णयो यथावस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूपविवेचनं 'भवति' इत्यध्याहारः। अपौरुषेयत्वं च वेदानाम्—

"अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥" [ ]

इत्यादिभावनया रागद्वेषादिदोषतिरस्कारपूर्वकं भावनीयमिति।

---

१. –श्चास्ति विशिष्टः सर्वज्ञः प० २। –श्चास्ति विशेषः सर्वज्ञः प० १, म० १। २. –या विशो– प० १, प० २, म० १। ३. –पि तादृ– प० १, प० २, म० १, म० २। ४. –शिखामधि– प० १, प० २, मु०। ५. –शयसम्प– प० १, प० २, म० १, म० २। ६. देवदेहत्वात् प० २। वेदहेतुत्वात् मु०। ७. तदपि न म० १, म० २, प० १, प० २। ८. तत्प्रवर्तनात् प० २। ९. –पपत्तिलि– प० १। १०. –तत्त्वज्ञानेनि –प० १, प० २ म० १, म० २। ११. –निर्णयः म० १, म० २।

अथ यथावस्थितार्थव्यवस्थापकं तत्त्वोपदेशमाह—

अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या धर्मसाधनी ॥ ७० ॥

यतो हेतोर्वेदाभिहितानुष्ठानादेव तत्त्वनिर्णयः, अत एव पुरा पूर्वं प्रयत्नतो यत्नाद्वेदपाठः कार्यः 'ऋग्यजुःसामाथर्वाणो वेदास्तेषां पाठः कण्ठपीठलुठत्पाठप्रतिष्ठा, [1]नानुश्रवणमात्रेण सम्यगवबोधस्थिरता[2], ततोऽनन्तरं[3] साधनीयपुण्योपचयहेतुधर्मस्य हेयोपादेयस्वरूपस्य वेदाभिहितस्य जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा कर्तव्या विधेया वेदोक्ताभिधेयविधाने यतितव्यमित्यर्थः ।

वेदोक्तधर्मोपदेशमेवाह—

नोदनालक्षणो धर्मो, नोदना तु क्रियां प्रति ।
प्रवर्तकं वचः, प्राहुः स्वःकामोऽग्निं[4] यजेद्यथा ॥ ७१ ॥

नोदनैव लक्षणं यस्य स नोदनालक्षणो धर्मः । तत्स्वरूपमेव सूत्रकृदाह । तु पुनर्[5]नोदनाक्रियां प्रति प्रवर्तकं वचः प्राहुः । वेदोक्तस्वर्गादिसाधकाम्नायस्य क्रियाप्रवर्तकं वचनं नोदनामाहुरित्यर्थः । शिष्यानुकम्पया तत्सूत्रेणैव दृष्टान्तमप्याह—स्वःकामोऽग्निं यजेद्यथा । यथा येन प्रकारेण स्वःकामः स्वर्गाभिलाषी जनोऽग्निं यजेद् अग्निकार्यं कुर्यात् । यथाऽङ्गस्तत्सूत्रम् । अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति ।

प्रमाणान्याह—

प्रत्यक्षमनुमानं च[6] शाब्दश्चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७२ ॥

जैमिनेः पूर्ववेदान्तवादिनः, षट् प्रमाणानि ज्ञेयानीति संबन्धः । यद्यपि प्राभाकराणां मते पञ्च[7] प्रमाणानि, भाट्टानामेव षट्, तथाप्यत्र ग्रन्थकृत्सामान्यतः षट्संख्यामाचष्टे । प्रमाणनामानि निगदसिद्धान्येव ।

निरुक्तमाह—

तत्र प्रत्यक्षमक्षाणां संप्रयोगे सतां मतिः ।
आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः ॥ ७३ ॥

तत्र प्रमाणषट्के, अक्षाणामिन्द्रियाणां, संप्रयोगे पदार्थैः सह संयोगे, सतामनुपहतेन्द्रियाणां या मतिर्बुद्धिरिदमित्यवबोधः, तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं 'भवति' इत्यध्याहारः । यत्तदावनुक्तान्वयसंबन्धात् ज्ञेयौ । सतामिति—विदुषामदुष्टेन्द्रियाणामित्यर्थः । एतावता मरुमरीचिकायां जलभ्रमः, शुक्तौ रजतभ्रमश्चेन्द्रियार्थसंप्रयोगजोऽपि द्रष्टुरविकलेन्द्रियत्वाभावान्न प्रत्यक्षं तत्प्रमाणकोटिमधिशेते । अनुमानमाह—आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः । आत्मा यदनुमिमीते स्वयं तदनुमानमित्यर्थः । अनुमानलैङ्गिकयोः [9]शाब्दभेदेऽप्यनुमीयत इत्यनुमानं लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकमिति व्युत्पत्तिभेदाद्भेदो ज्ञेय उभयशब्दकथनं तु बालावबोधार्थमेवेति ।

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थमुपमानं प्रकीर्तितम् ।
प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यात्प्रसिद्धस्य [10]भाजनम् ॥ ७४ ॥

शाब्दमागमप्रमाणं शाश्वतवेदोत्थं शाश्वतत्वान्नित्यार्थवेदाज्जातम् । आगमप्रमाणमित्यर्थः । शाश्वतत्वं च वेदानामपौरुषेयत्वादेव । उपमानमाह—यत्प्रसिद्धार्थस्य प्रतीतपदार्थस्य साधर्म्यात् साम्यादप्रसिद्धस्य वस्तुनः साधनं तदुपमानं प्रमाणं प्रकीर्तितं कथितम् । यथा प्रसिद्धगोगवयस्वरूपो वनेचरोऽप्रसिद्धगवयस्वरूपं नागरिकं प्राह—'यथा गौस्तथा गवयः' इति । यथा भोः खुरककुदलाङ्गूलशास्नादिमन्तं पदार्थं गामिति जानासि, गवयोऽपि तथास्वरूपो ज्ञेय इत्युपमानम् । अत्र सूत्रानुक्तावपि यत्तदावर्थसंबन्धार्थमध्याहार्यौ ।

---

१. ननु अ–म० १, म० २ । न तु ब–प० १ । न तु श्रवणस्य–प० २ । २. –स्थिरत्वं म० १, म० २ । ३. –स्तरं धर्मसा–प० १, प० २, म० १, म० २ । ४. यथा यजेत् प० २, म० १, म० २ । ५. –दनादि क्रिया प० १ । ६. तु शाब्दश्चो–म० १, म० २ । ७. पञ्चैव म० १, म० २ । ८. सति प० २ । ९. शब्दाभे–मु०, म० १, म० २ । १०. भाजनम्–मु० ।

अर्थापत्तिमाह—

दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य[1] कल्पना ।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ॥ ७५ ॥

असौ पुनरर्थापत्तिरुदाहृता कथिता, अर्थापत्तिप्रमाणं प्रोक्तमित्यर्थः । यद्बलेन [1]कस्याप्यदृष्टस्यार्थस्य कल्पना क्रियते संघटना विधीयते, कया दृष्टार्थानुपपत्त्या दृष्टः परिचितः प्रत्यक्षलक्ष्यो योऽर्थो देवदत्ते पीनत्वादिः तस्यानुपपत्त्या अघटमानतया अन्यथानुपपत्त्या इत्यर्थः । यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनत्वस्यान्यथानुपपत्त्या रात्रावश्यं भुङ्क्त इत्यर्थ इत्यत्र, दृष्टं पीनत्वं विना भोजनं दुर्घटं, दिवा च न भुङ्क्ते, अतो रात्राववश्यमदृष्टं भोजनं ज्ञापयतीत्यर्थापत्तिः प्रमाणम् ।

अथाभावप्रमाणमाह—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तु[2]सत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥ ७६ ॥

यत्र वस्तुरूपे, अभावादौ पदार्थे प्रमाणपञ्चकं पूर्वोक्तं न जायते, तत्राभावप्रमाणता ज्ञेयेति संबन्धः । किमर्थमित्याह—[2]वस्तुसत्तावबोधार्थम् । वस्तुनोऽभावरूपस्य मुण्डभूतलादेः सत्ता घटाद्यभावसद्भावः तस्यावबोधः प्रामाणिकपथावतारणं तदर्थं तद्धेतोरित्यर्थः । ननु कथमभावस्य प्रामाण्यम् । प्रत्यक्षं तावद्भूतलमेवेदं घटादि न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकाकारेण वस्तुपरिच्छिन्दत् तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति किं विषयमाश्रित्याभावप्रामाण्यं स्यात् । मुण्डभूतले घटाभावमाश्रित्येति चेत्, मैवम्, घटाभावप्रतिबद्धभूतलग्रहणासिद्धेः ।

तदुक्तम्—

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥" [ ] इति ।

नास्तिताज्ञानग्रहणावसरे प्रामाण्यमेवाभावस्य, केवलं भावांश इन्द्रियसंनिकर्षजत्वेन पञ्चप्रमाणगोचरसंचरिष्णुतामनुभवन्नाबालगोपालाङ्गनाप्रसिद्धं व्यवहारं प्रवर्तयति । अभावांशस्तु प्रमाणपञ्चकविषयबहिर्भूतत्वात् केवलभूतलग्रहणाद्युपयोगित्वादभावप्रमाणव्यपदेशमश्नुत इति सिद्धमभावस्यापि युक्तियुक्ततया प्रामाण्यमिति ।

उपसंहरन्नाह—

जैमिनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम् ॥ ७७ ॥

अपिशब्दान्न केवलमपरदर्शनानां जैमिनीयमतस्याप्ययं संक्षेपो निवेदितः कथितः । वक्तव्यस्य बाहुल्याद्वीकामात्रे सामस्त्यकथनायोगात् संक्षेप एव प्रोक्तोऽस्ति । अथ सूत्रकृत्सम्मत[3]संक्षेपमुक्त्वा निगमनमाह । एवमिति । एवमित्थम्, आस्तिकवादिनामिह परलोकगतिपुण्यपापास्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिकसांख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपकीर्तनं कृतं, संक्षेपेण वक्तव्यमभिहितमित्यर्थः ।

विशेषान्तरमाह—

नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥ ७८ ॥

अन्ये आचार्या नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते दर्शनाधिष्ठात्रेकदेवतत्वात् पृथग्दर्शनं नाम्नुवाञ्छन्ति तेषां मतापेक्षया आस्तिकवादिनः पञ्चैव ।

---

१. कस्याप्यर्थ—म० २ । २. वस्तुसत्ता—प० २ । ३. —रूपमु—प० २ । ४. —मतं सं—म० १, म० २ ।

दर्शनानां षट्संख्या जगति प्रसिद्धा[1] सा कथं फलवतीत्याह—

षष्ठदर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल ।
लोकायतमतक्षेपात्कथ्यते तेन तन्मतम् ॥ ७९ ॥

ये नैयायिकवैशेषिकयोरेकरूपत्वेनाभेदं मन्यमाना दर्शनपञ्चकमेवाचक्षते, तन्मते षष्ठदर्शनसंख्या लोकायतमतक्षेपात्पूर्यते । तु पुनरर्थे, किलेति परमाप्तास्नाये, तेन कारणेन तन्मतं चार्वाकमतं कथ्यते तत्स्वरूपमुच्यत इति ।

तदेवाह—

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निर्वृतिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥ ८० ॥

लोकायता नास्तिका[2] एवममुना प्रकारेण वदन्ति कथमित्याह देव.—सर्वज्ञादिर्नास्ति, निर्वृतिर्मोक्षो नास्ति, अन्यरूप, न विद्येते, नौ धर्माधर्मौ, धर्मश्चाधर्मश्चेति द्वन्द्वः । पुण्यपापे सर्वथा न स्त इत्यर्थः । पुण्यपापयोर्धर्माधर्मयोः फलं स्वर्गनरकादिरूपं नेति नास्ति, तदपि[3] पुण्यपापयोरभावे कौतस्त्यं तत्फलमित्यादि । तच्छास्त्रोक्तमेव सोल्लुण्ठं दर्शयन्नाह—तथा च तन्मतम् ।

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः ॥ ८१ ॥

तथा चेत्युपदर्शने । तन्मतं प्रस्तावाप्रास्तिकमतम् । कथमित्याह—

अयं लोकः संसार एतावानेव एतावन्मात्र एव नान्यत्किञ्चिदस्ति[4] यावानिन्द्रियगोचरः । इन्द्रियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रभेदात् पञ्चविधं तस्य गोचरो विषयः । पञ्चेन्द्रियव्यक्तीकृतमेव वस्त्वस्ति नापरं किञ्चन[5] । अत्र लोकग्रहणाल्लोकस्यपदार्थसार्थस्य संग्रहः । तथा परे पुण्यपापमाख्यं स्वर्गनरकाद्याहुः, तदप्रमाणं प्रत्यक्षाभावादेव । अप्रत्यक्षमप्यस्तीति चेच्छशशृङ्गवन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । तथा हि—स्पर्शनेन्द्रियेण तावन्मृदुकठोरशीतोष्णस्निग्धरूक्षादिभावा उपलभ्यन्ते । रसनेन्द्रियेण तिक्तकटुकषायाम्लमधुरास्वादलेह्यचूष्य[6]पेयादयो वेद्यन्ते । घ्राणेन्द्रियेण मृगमदमलयजघनसारागुरुप्रभृतिसुरभिवस्तुपरमलोद्गारपरम्पराः परिच्छिद्यन्ते । चक्षुरिन्द्रियेण भूभूधरपुरप्राकारघटपटस्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिगुणपर्यायद्रव्यजङ्गमपदार्थसार्था अनुभूयन्ते । श्रोत्रेन्द्रियेण तु प्रथितगाथकपथपथिकप्रथ्यमानतालमानमूर्च्छनाप्रेङ्खोल्लासेलमधुरध्वनय आकर्ण्यन्ते । इति पञ्चप्रकारप्रत्यक्षदृष्टमेव वस्तुतत्त्वं प्रमाणपदवीमवगाहते । शेषप्रमाणानामनुभवाभावादेव निरस्तत्वाद् गगनकुसुमवत् । ये चास्पृष्टमनास्वादितमनाघ्रातमदृष्टमश्रुतमप्यादियमाणाः स्वर्गमोक्षादिसुखपिपासानुबन्धचेतोवृत्तयो दुश्चरतरतपश्चरणादिकष्टपिष्टिकया स्वजन्म क्षपयन्ति, तन्महासाहसं तेषामिति । किं चाप्रत्यक्षमप्यस्तितयाभ्युपगम्यते चेज्जगद्[10]नपद्धतमेव स्यात् । दरिद्रो हि स्वर्णराशिमेऽस्तीत्यनुध्याय हेलयैव दौःस्थ्यं दलयेत्, दासोऽपि स्वचेतसि स्वामितामवलम्ब्य स्वस्य किङ्करतां निराकुर्यादिति, न कोऽपि स्वातन्त्र्यमालिन्यमनुभवेत् । एवं न कश्चित्सेव्यसेवकभावो दरिद्रिधनिभावो वा स्यात् । तथा च जगद्व्यवस्था[11]विलोपप्रसंग इति सुस्थितमिन्द्रियगोचर एव प्रमाणम् । ये चानुमानागमादिप्रामाण्यमनुमन्वानाः पुण्यपापव्यापारप्राप्यस्वर्गनरकादिसुखासुखं व्यवस्थापयन्तो वाचाटा न विरमन्ति, तान् प्रति दृष्टान्तमाह । भद्रे वृकपदं पश्येति । यथा हि कश्चित्पुरुषो वृकपददर्शन[12]समुद्भूतकुतूहलां दयितां मन्थरतरप्रसृमरसमीरणसमीकृतपांशुप्रकरे स्वकराङ्गुलिन्यासेन वृकपदाकारतां विधाय प्राह—हे भद्रे! वृकपदं पश्य । कोऽर्थः । यथा तस्या अविदितपरमार्थाया मुग्धाया

---

१. –द्धा कथं फलती–प० १, प० २, मु० । २. एवमनुमानेन–प० १ । ३. मृतदपि–प० १, प० २, म० १, म० २ । ४. –त्र इ–प० १, प० २ । ५. किञ्चित्–म० १ । ६. –धेयं–प० १, प० २, म० १, म० २ । ७. तथचापरे–प० १, प० २, म० १, म० २ । ८. पानाद्–प० १, प० २ । ९. –ष्टमदृष्टमप्यादियमाणाः प० २ । –दिसुखपिष्टिकाः प० १, प० २, म० १, म० २ । १०. –नपहुत– मु० अनुपहुत– प० १, प० २ । ११. स्थालोप– प० १, प० २ । १२. समुत्पन्नकु– म० १, म० २ ।

विदग्धो बल्लभो वृकचरणनिरीक्षणाग्रहं कराङ्गुलिन्यासमात्रेण प्रलोभ्य पूरितवान्, एवममी अपि [1]धर्मच्छद्मधूर्ताः परवञ्चनप्रवणा यत् किंचिदनुमानागमादिदाढर्ढ्यमादर्श्य व्यर्थं मुग्धजनान् स्वर्गादिप्राप्तिलम्पटभोगाभोगप्रलोभनया भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यहेयोपादेयादिसंकटे पातयन्ति, मुग्धधार्मिकछद्मान्धं चोत्पादयन्ति । एवमेवार्थं प्रमाणकोटिमधिरोपयन्तश्च यद्बहुश्रुताः परमार्थवेदिनो वदन्ति, वक्ष्यमाणपद्येनेत्यर्थः ।

पिब खाद च [2]जातशोभने ! यदसीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
नहि भीरु ! गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥८२॥

हे जातशोभने, भावप्रधानत्वान्निर्देशानां, जातं शोभनत्वं वदननयनादित्वं यस्याः [3]सेति तत्संबोधनम् । पिब पयापेयव्यवस्थावैसंख्ल्येन मदिरादेः पानं कुरु न केवलं पिब, खाद च भक्ष्याभक्ष्यनिरपेक्षतया मांसादिकं भक्षय । यद्वा पिबेति अधरादिपानं कुरु, खादेति भोगानुपभुङ्क्ष्वेति काम्युपदेशः, स्वयौवनं सफलीकुर्वित्यर्थः । अथ सुलभमेव पुण्यानुभावाज्जन्मान्तरेऽपि शोभनत्वमिति परोक्तमाशङ्क्याह—यदतीतं वरगात्रि तन्न ते । हे प्रधानाङ्गि[4] ! यदतीतम्, अतिक्रान्तं यौवनादि तन्ते तव भूयो न, किं तु जराजीर्णत्वमेव भविष्यतीत्यर्थः । जातशोभने-वरगात्रीतिसंबोधनयोः समानार्थयोरप्यादरानुरागातिरेकात्र [5]पौनरुक्त्यदोषः । यदुक्तम्—

"अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु ।
ईषत्संभ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥"

ननु स्वेच्छयाविच्छिन्ने खादने पाने दुस्तरा परलोके कष्टपरम्परा, सुलभं[6] च सति सुकृतसंचये भवान्तरेऽपि यौवनादिकमिति पराशङ्कां दूषयन्नाह—न हि भीरु गतं निवर्तते । हे भीरु ! परोक्तमात्रेण नरकादिप्राप्यदुःखभयाकुले ! गतम्, इह भवातिक्रान्तं सुखं यौवनादि न निवर्तते परलोके नाप्नोकते परलोकसुखाकाङ्क्षया तपश्चरणादिकष्टक्रियाभिरिहत्यसुखोपेक्षा व्यर्थेत्यर्थः । अथ जन्यजनकसंबन्धसद्भावादमुना कायेन परलोकेऽपि सहेतुकं सुखदुःखादिकं वेदितव्यमवश्यमेवेति चेत्; आह—समुदयमात्रमिदं कलेवरम् । इदं कलेवरं शरीरं समुदयमात्रं समुदयो मेलः वक्ष्यमाणचतुर्भूतानां संयोगस्तन्मात्रं मात्रशब्दोऽवधारणे भूतचतुष्टयसंबन्ध एव कायो न च पूर्वभवादिसंबद्धशुभाशुभकर्मविपाकवेद्यसुखदुःखादिसव्यपेक्ष इत्यर्थः । संयोगाश्च तरुशिखरावलीलीनशकुनिगणवत्, क्षणतो विनश्वरास्तस्मात् परलोकानपेक्षया यथेच्छं पिब खाद चेति वृत्तार्थः ।

चैतन्यमाह—

किं च पृथ्वी जलं तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।
[7]चैतन्यभूमिरेतेषां[8] मानं स्वक्षजमेव हि ॥८३॥

किं चेत्युपदर्शने, पृथ्वी भूमिः, जलमापः, तेजो वह्निः, वायुः पवनः, इति भूतचतुष्टयं तेषां चार्वाकाणां चैतन्यभूमिः [9]चैतन्योत्पत्तिकारणं चत्वार्यपि भूतानि संभूय सपिण्डं चैतन्यं जनयन्तीत्यर्थः । [10]तु पुनर्मानं प्रमाणं हि निश्चितम् । अक्षजमेव प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यर्थः ।

ननु भूतचतुष्टयसंयोगजा देहचैतन्योत्पत्तिः कथं प्रतीयतामित्याशङ्क्याह—

पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां तथा [11]देहादिसंभवः ।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्यतात्मता ॥८४॥

पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाणि यानि भूतानि तेषां संहत्यां मेले संयोगे सति, तथेत्युपदर्शने, देहादिसंभवः, आदिशब्दादितरे भूभूधरादिपदार्था अपि भूतचतुष्टयसंयोगजा एव ज्ञेयाः । दृष्टान्तमाह—यद्वद् येन प्रकारेण सुराङ्गेभ्यो गुडधातक्यादिभ्यो मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिरुन्मादकत्वं भवति, तद्वत्तथा भूतचतुष्टयसंबन्धात् शरीरे आत्मता स्थिता सचेतनत्वं जातमित्यर्थः ।

---

१. धार्मिकछ—प० १, प० २, म० १, म० २ । २. चारुलोचने प० १, प० २ । ३. सा तत्स—प० २ । ४. प्रधानगात्रि प० २ । ५. –क्यं दो– मु० । ६. –भं भवति मु० । ७. –स्यानुबन्धस—प० १, प० २, म० १, म० २ । ८. आधारो भू– प० १, प० २, म० १, म० २ । ९. –भिरित्येषां प० १, प० २ । १०. चेतनस्योत्पत्ति—प० १, प० २, म० १, म० २ । ११. –हपरीणतेः म० १, म० २ ।

इति स्थिते यदुपदेशपूर्वकमुपसंहारमाह—

तस्माद् दृष्टपरित्यागा[1]ददृष्टे यत् प्रवर्तनम् ।
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥८५॥

तस्मादिति पूर्वोक्तानुस्मारणं पूर्वं तस्मात्ततः कारणाद् **दृष्टपरित्यागाद्** दृष्टं पथ्यापथ्यखाद्याखाद्यगम्यागम्यानुरूपं प्रत्यक्षानुभाव्यं यत्सुखं तस्य **परित्यागाददृष्टे** तपश्चरणादिकष्टक्रियासाध्यपरलोकसुखादौ **प्रवर्तनं** प्रवृत्तिः । **चः** समुच्चये । यत्तदोर्नित्यत्वात् पूर्वार्द्धे यत्संबन्धो ज्ञेयः । **तल्लोकस्य विमूढत्वमज्ञानत्वं चार्वाकाः** लौकायतिकाः **प्रतिपेदिरे** प्रतिपन्नाः । मूढलोका हि विप्रतारकवचनोपन्यासत्रासितज्ञानाः सांसारिकं सुखं परित्यज्य व्यर्थं स्वर्गं मोक्षपिपासया तपोजपध्यानहोमादिभिर्दुःखं सुखं हस्तगतमुपेक्षन्त इति ।

[2]साध्यावृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मते तेषां [3]सा चाकाशात् परा न हि ॥८६॥

साध्यस्य मनोपितस्य कस्यचिद्वस्तुन **आवृत्तिः** प्राप्तिः, कस्यचिद्वस्तुनोऽनभीष्टस्य **निवृत्तिरभावः**, **ताभ्यां जने** लोके **या प्रीतिर्जायते** उत्पद्यते **सा तेषां** चार्वाकाणां **निरर्थिका** निरभिप्राया शून्या **मताभीष्टा** । परभवार्जितपुण्यपापसाध्यं सुखदुःखादिकं सर्वथा न विद्यत इत्यर्थः । **सा च प्रीतिराकाशात्** गगनात् **परा न हि** यथा आकाशं शून्यं तथैषापि प्रीतिरभावरूपैवेत्यर्थः ।

[4]उपसंहारमाह—

लोकायतमतेऽप्येवं संक्षेपोऽयं [5]निवेदितः ।
अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः ॥८७॥

एवममुना प्रकारेण **लोकायतमतेऽप्ययं संक्षेपो निवेदितः** । **अपिः** समुच्चये । न केवलं परमते संक्षेप उक्तो लोकायतमतेऽपि । अथ सर्वदर्शनसंमतसंग्रहे परस्परकल्पितानल्पविकल्पजल्परूपे निरूपिते किंकर्तव्यमूढानां प्राणिनां कर्तव्योपदेशमाह—**अभिधेयेति** । **सुबुद्धिभिः** पण्डितैरभिधेयतात्पर्यार्थः **पर्यालोच्यः** । अभिधेयं कथनीयं मुक्तधङ्कृतया प्रतिपाद्यं यद्दर्शनस्वरूपं तस्य तात्पर्यार्थः सारार्थो विचारणीयः । **सुबुद्धिभिरिति** । शुद्धा पक्षपातरहिता बुद्धिर्येषामिति । न तु कदाग्रहग्रहिलैः । यदुक्तम्—

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥" [ ] इति ।

दर्शनानां पर्यन्तैकसारूप्येऽपि पृथक् पृथगुपदेष्टव्यादिमतिसंभवे विमूढस्य प्राणिनः सर्वस्यैवोक्तया दुर्लभं स्वर्गापवर्गसाधकत्वम् । अतो विमर्शनीयस्तात्त्विकोऽर्थः । यथा च विचारितं चिरन्तनैः ।

"श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः ।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः ॥"

इत्यादि विमृश्य श्रेयस्करं रहस्यमभ्युपगन्तव्यं कुशलमतिभिरिति पर्यन्तश्लोकार्थः । तत्समाप्ता चेयं षड्दर्शनसमुच्चयसूत्रटीका ।

खेलतो मूढराजहंसौ यावद्विशालसरस्तटे ।
तावद्बुधैर्वाच्यमानं पुस्तकं नन्दतादिति ॥
सप्तार्धाशीतिः श्लोकसूत्रं टीकामानं विनिश्चितम् ।
सहस्रमेकं द्विशती द्वापञ्चाशदनुष्टुभाम् ॥

इति श्रीहरिभद्रसूरिकृतषड्दर्शनसमुच्चये मणिभद्रकृता लघुवृत्तिः समाप्ता ।

शम् ।

---

१. –गाद्यदृष्टे प्र–म० १, म० २ । २. साध्यवृ–प० १, प० २, म० १, म० २ । ३. स्वर्गः कामात् परो न हि प० १, प० २ । ४. उपसंहरन्नाह म० १, म० २ । ५. प्ररूपि– प० १, प० २, म० १, म० २ ।

परिशिष्टम् २

षड्दर्शनसमुच्चयावचूर्णिः

श्रीमद्वीरजिनं नत्वा हरिभद्रगुरुं तथा । किञ्चिदर्थ्यते मुक्त्या षड्दर्शनसमुच्चयम् ॥

सत् शोभनं दर्शनं सामान्यावबोधलक्षणं ज्ञानं सक्तं [सम्यक्त्वं] लोचनं वा यस्य, जिनो रागादिजेतृत्वात्, वीरमिति सामिप्रायं प्रमाणवक्तव्यस्य पक्षेच्छेदादि [परपक्षोच्छेदादेः] सुभटवृत्तित्वात् भगवतश्च दुःखसंपादिविषमोपसर्गसहिष्णुस्तन[त्वेन]सुभटत्वात् । यदुक्तम् —"विदारणात् कर्मक्षतेर्विराजनात्तपःश्रिया [रूपश्रिया] विक्रमतस्तथाद्भुतात् । भवत्प्रमोदः किल नाकिनायकश्चकार ते वीर इति स्फुटाभिधानम् (धा तम्) ॥ स्याद्विकल्पितो वादः स्याद्वादः, सदसन्नित्यानित्यादिः तं दिशति यस्तम् । सर्वाणि च तानि दर्शनानि च बौद्धादीनि तद्वाच्यः अर्थाभिधेयः अर्थाभिधेय वस्तु [अर्थोऽभिधेयरे] वस्तुप्रयोजननिवृत्तिस्त्रि[स्थि]त्यनेकार्थः संक्षेपेणैव, विस्तरकरणं दुरवगाहम् ॥१॥ प्रसिद्धानि दर्शनानि षडेव । एवावधारणे । यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि । यदुक्तम्—"असियसयं किरियाणं अक्किरियवाईणमाहु चुलसीए । अन्नाणी सत्तट्ठी वेणइआणञ्च बत्तीसं ।" इत्यादि । मूलभेदापेक्षया मूलभेदानाश्रित्य, वैभाषिकसू(सौ)त्रान्तिकबहुद[क]कुटोत्तरदंसपरमहसश्रा[भ]ट्टप्रभाकरादिसंग्रहश्चैतदन्तर्गत एव । देवता दर्शनाधिष्ठायकः । तत्त्वानि रहस्यानि मोक्षसाधकानि ॥२॥ बुद्धो देवतास्येति बौद्धम् । न्यायादनपेतं नैयायिकम् । सांख्यं कापिलदर्शनम् । जैनो देवतास्येति जैनम् । वैशेषिकं कणादि[द]दर्शनम् । जैमिनिऋषिमतं जैमिनीयं भाट्टं दर्शनम् । चः समुच्चये ॥३॥ चतुर्णां दुःखसमुदय:(य)मार्गनिरोधलक्षणानाम् आर्यसत्यानां तत्त्वानां प्ररूपकः कथयिता सुगतो नाम । आदिशब्दोऽत्र प्रवयवार्थः, यदुक्तम्—"सामीप्येऽप व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा । चतुर्ष्वेषु मेधावी [धीमत] आदिशब्दं तु लक्षयेत् [योजयेत्] ॥४॥ संसरन्तीति संसारिणो विस्तरणशीलाः । स्कन्धाः प्रचयविशेषाः । दुःखं ते पञ्च [च] पञ्च । विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं सर्वक्षणिकत्वज्ञानम् । यदुक्तम् "यत्सत्तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे ।" वेदत इति वेदना, पूर्वभवपुण्यपापपरिणामबद्धाः सुखदुःखानुभवरूपा । तथोक्तम्—"इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः । तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भ(भि)क्षवः ॥" संज्ञेति सर्वं वा चेतनाचेतनं [सचेतनाचेतनं] संज्ञामात्रं नाममात्रम्, नात्र पुत्रकलत्रभ्रातृत्वादि [तादिः] घटपटादिर्वा पारमार्थिकाः[कः] । पूर्वानुभूतरूपः संस्कारः, स एवायं देवदत्त इत्याद्याकारेण ज्ञानोत्पत्तिः संस्कारः सैवेयं दीपकलिकेति रूपम् इति रागरागायमाणपरमाणुपरमाणुप्रचयः, बौद्धमते हि स्थूलरूपपदार्थस्य निराक्रियमाणत्वाद चेतन[त्वेन]परमाणव एव तात्त्विकाः । रागद्वेषमोहानां समस्तो गणो यस्मात् समुदेति समुद्भवति । अयमात्मा अयमात्मीयः पदे पदसमुदायोपचारात्, अपरः[अयं परः] परकीयः इति भावो रागद्वेषनिबन्धनं स समुदयः ॥६॥ सर्वेषां घटपटादीनां स एवायमिति ये संस्कारा ज्ञानसंतानास्ते क्षणिकाः, सर्वं सत् क्षणिकम् अक्षणिके क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, एवं या वासना स मार्गः । तुशब्दः पक्षा(पाक्षा)त्यार्थसंग्रहार्थं पूर्वं समुच्चयार्थे । निरोधो मोक्षः । सर्वक्षणिकत्वनैरात्म्यवासनारूपः [मार्गः] ॥७॥ पञ्चेन्द्रियाणि प्रसिद्धानि । शब्दरूपरसगन्धस्पर्शरूपाः विषयाः । मानसं चित्तम् धर्मायतनं धर्मप्रधानमायतनं चेत्यादि । एतानि द्वादशायतनानि तत्त्वानन्तरं निरूप्यन्ते ॥ ८ ॥ तथा सौगतदर्शने द्वे प्रमाणे । चः पुनरर्थे । अक्षमक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् ऐन्द्रियकम् । अनुमीयतेऽनुमानं लैङ्गिकम् । सम्यग्ज्ञानं निश्चितावबोधो द्विविध एव [द्विधा यतः] ॥ ९ ॥ शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना तमापोढं रहितं निर्विकल्पकम्, अभ्रान्तं भ्रान्तिरहितम्, रागरागायमाणपरमाणुलक्षणस्वरूपं [स्व] लक्षणं हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्, बाह्ये स्थूलपदार्थ[र्थगं तज्ज्ञानं] गतं ज्ञानं सविकल्पकं भ्रान्तं च । तु पुनः त्रिरूपात् पक्षधर्मत्वं-सपक्ष[क्षे]सत्त्व[त्वं]विपक्षव्यावृत्तिरूपात् लिङ्गतो धूमादेः धी[यत्] लिङ्गिनो वैश्वानरादेर्ज्ञानं तदनुमानम् । सूत्रे लक्षणं नेक्षणं[णोयं] तेन चरमपदस्य नवाक्षरत्वेऽपि न दोषः ॥१०॥ साध्यधर्मवि-

शिष्टो धर्मी पक्षः, यथा 'अद्रिरयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्' अत्र पर्वतः पक्षः धर्मत्वं वह्निमत्त्वं धूमवत्त्वेन व्याप्तम् । सपक्षे[ऽ]सत्त्वमिति, यो यो धूमवान् स स अग्निमान् यथा महानसे, धूमवत्त्वेन हेतुना सपक्षे महानसे सत्त्वं वह्निमत्त्वम् । विपक्षे नास्तिता यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा जलाशये वह्निमत्त्वं व्यावर्त्तमानं व्याप्यं धूमवत्त्वमाश्रित्य व्यावर्तते ॥११॥ अयं संक्षेपो निवेदितः कथितः, बौद्धानां सिद्धान्तः सिद्धान्तः [तस्य] [तद्वाक्यः] यद्वाक्यम्, इतो नैयायिकस्य विशेषदर्शनप्रकाशनस्य ॥१२॥ अक्षपादा नैयायिकाः । सृष्टिः प्राणो(णि)नां सम्[नाम्] त्पत्तिः, संहारः तद्विनाशः तत्करोतीति । विश्वस्य हि कश्चित् स्रष्टा संहर्त्ता विशेषः, केवलसृष्टौ च निरन्तरोत्पद्यमानापारप्राणिगणस्य भुवनत्रयेऽप्यमात्वमिति [प्राणिगणस्यापारत्वात्] संहारकर्त्तापि कश्चिदभ्युपगन्तव्यः अगतः कार्यत्वाच्च । शिव ईश्वरः । विभुः [सर्व]व्यापकः । नित्यश्चासौ एकश्चेति, [अ]प्रच्युतानुत्पन्नस्थिर-[रैक]स्वभावं हि नित्यम्, एकोऽद्वितीयः बहूनां घटाना[घटनां]युक्तेः । सर्वज्ञः स सर्वविशेषज्ञानात्[तात्] शाश्वतबुद्धिस्थानम्, क्षणिकबुद्धित्वे हि पराधीनता ॥१३॥ अत्र नैयायिकमते प्रमाणादीनि षोडशपदार्थानि यथाक्रमं व्याक्रियमाणानि । नामानि सुगमानि । एवम् अमुना प्रकारेण प्रकटनमर्थस्य[मर्थस्य]पदार्थस्योपलब्धिर्ज्ञानं तस्य हेतुः कारणं प्रमाणं चतुर्विधम् । १४-१६॥ चतुः प्रमाणि[ण] (णानां) नामानि । अस्य प्रत्यक्षानुमानस्वरूपमाह— इन्द्रियं चार्थश्चेति तयोः संनिकर्षात् संयोगादुत्पन्नम्, इन्द्रियार्थयोर्हि नैकट्या (दर्थात्) संयोगाज्ज्ञानम् । यदुक्तम्—"आत्मा जहे(हं)ति मनसा मन इन्द्रियेण, ज्ञानेन चे द्[न्द्रियम [मि]तिक्रम एव शीघ्रः ।

योगोऽयमेव मनसा किमगम्यमस्ति यस्मिन् मनो व्रजति तत्र यतोऽयमात्मा ॥"

अव्यभिचारि[र]कं ज्ञानान्तरेण नान्यथाभावि, शुक्तिशकले कलधौतबोधो व्यभिचारी । व्यवसायात्मकं व्यवहारसाधकं सजलधरणितले जलहार[ज्ञानं] व्यवहारासाधकत्वादप्रमाणम् । व्यपदेशो विपर्ययस्तेन रहितम् । तु पुनरनुमानं तत्पूर्वं (वं) प्रत्यक्षपूर्वं त्रिप्रकारम् ॥१७-१८॥ पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टम् । तत्र त्रिषु मध्ये कारणात् मेया[धात् कार्यं]तद्वृत्तिलक्षणं यतो ज्ञायते तत्कारणकार्यमनुमानं निदर्शनेन दर्शयति ॥१९॥ रोलम्बा भ्रमराः, गवलं माहिषं शृङ्गम्, व्यालाः सर्पाः सर्प[वा], तमालो वृक्षाः, मलिना अर्थात् कृष्णा त्विट् येषाम् । एवंप्राया इत्युपलक्षणेन परेऽप्युक्तसदृशवर्णवृत्तित्वा[ता]दयो विशेषा ज्ञेयाः ॥ २० ॥ यथा[यच्च] कार्यात्कलात् कारणानुमानं फलोत्पत्तिहेतुपदार्थागमनं तच्छेषवत् । यथाविधप्रवहत्सलिलनदीपूरात् उपरिशिखरिशिखरोपरि जलाभिवर्षणज्ञानम् ॥ २१ ॥ चः पुनरर्थे । सामान्यतोदृष्टं तदनुमानं यथा पुंसि देवदत्तादौ देशान्तरत्वाप्तिर्गतिपूर्विका दृष्टा यथा उज्जयिन्याः प्रस्थिना[तो] माहिष्मतीं प्राप्[तः] । तथा सूर्योदया (सूर्यस्य उदया) [सूर्येपि उदया]चलात् सायमस्ताचलगमनं [गमनं] ज्ञापयति ॥ २२ ॥ क्रमागतमपि शाब्दप्रमाणमुपेक्ष्य उपमानमाह— तदुपमानं यत्तदोनित्याभिसंबन्धात् । यत्, किंचिद् अप्रसिद्धस्य अज्ञायमानस्य अर्थस्य ज्ञापनं प्रसिद्धधर्मसाधर्म्यादाबालगोपालाङ्गनाविदितात् क्रियते । साधर्म्यं समानधर्मत्वम् । यथा अरण्यवासी चिरपरिचितगोगवयलक्षणो नागरिकेण गवा[गवोप]लक्षणवता पृष्टो दृष्टान्तमतात् ॥ २३ ॥ तु पुनः । आप्तोऽवितथवादी हितश्च यो जनताभ्यो[जनस्तस्य तथ्यो] हितोपदेशो देशनावाक्यं तच्छाब्दमागमप्रमाणम् । अथ प्रमाण (प्रमेय) लक्षणमाह [प्रमेयलक्षणमाश्रित्याह—अथ] प्रमाणग्राह्योऽर्थः प्रमेयम् । तुः पुनरर्थे । आत्मा च देहश्चेति द्वन्द्वः । आदिशब्देन पञ्चानां प्रमेयार्थानां परिग्रहः । तत्र सचेतनत्वकर्तृत्वसर्वगतत्वादिना आत्मा अनुमीयते एवं देहादयः, अत्र तु ग्रन्थविस्तरत्रासेन नात्र प्रपञ्चिताः ॥२४॥ संशयादिस्वरूपमाह । दूरावलोकनेन पदार्था[र्थ]परिच्छेदकधर्मेषु किमेतदिति सन्देहो वः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयः । अर्थक्रियार्थी (?) साध्यं कार्यं प्रति प्रवर्त्तते प्रतीत्य अध्याहार्यम् । न हि निष्फलः कार्यारम्भः इति ॥ २५ ॥ यस्मिन्नुपन्यस्ते वचने वादगोचरो न भवति उभयसम्मतत्वात्[संशयत्वात्] । उक्तं च—"ज्ञानदेव चलत्यर्थो मनो विषयमागतः । तावन्नोत्तम्भते नैव दृष्टान्तो नावलम्ब्यते[दृष्टान्तोनावलम्ब्यते] ।" एष दृष्टान्तः । सिद्धान्तः पुनश्चतुर्धा— सर्वतन्त्रप्रतितन्त्र-अधिकरण-अभ्युपगमभेदात् । विशेषार्थो विस्तरग्रन्थादवसेयो नाममात्र-कथनम् ॥ २६ ॥ प्रतिज्ञापक्षः वह्निमानयं सानुमान् । हेतुर्लिङ्गवचनं धूमवत्त्वात् । दृष्टान्त उदाहरणम्, यथा महानसमिति । उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनम्, धूमवांश्चायम् । निगमनं हेतूपदेशेन पुनः साध्यर्मोपसंहरणम्, तद्यस्मिं तस्माद् वह्निमान् पर्वत इत्यादि पञ्चावयवस्वरूपनिरूपणमवयवसरकम्[क्षेपमिति]। दूराद् दृगगोचरे स्पष्टप्रतिभासाभावात् 'किमयं

स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति संशयः, तदुपरमे काकादिपतनावलोकनेन आदिशब्दात् स्थाणुधर्मो[र्मा] ग्राह्यः, अत्र कीलकेन भाव्यम्, पुरुषस्य शिरःकम्पनहस्तचालनादिभावात् । स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति यः प्रतीतिविषयः । [स निर्णयः] ॥२७-२८॥ कथा प्राश्निकी तस्या अभ्यासकारणं या सा वादः पक्षः प्रतिज्ञा प्रतिपक्षः प्रतिज्ञोपन्यासप्रतिषेधौ तयोः संग्रहात्, निग्राह्यकजयपराजयानपेक्षगुरुविनेययोः ॥२९॥ विजयाभिलाषिणो वादिनः प्रतिवादिनश्च प्रारब्धप्रमाणोपन्यासगोष्ठी छलं त्रिधा—वाक्छलम्, सामान्यछलम्, उपचारछलम् । जातयः २४ भेदाः । आदे[विशब्दात्] निग्रहस्थानानि[दि] । एतैः कृत्वा परपक्षनिराकरणं दूषणोत्पादेन[पादनेन] स्वमात[मत]स्थापनेन स्व[स]जल्पः । सा वितण्डा, या वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिरोधकप्रतिवादिन्यस्तप्रतिपक्षरहिता ॥३०॥ हेतुरूपवदाभासन्ते हेत्वाभासाः पञ्च । पक्षे[क्ष] धर्मत्वं नास्ति सोऽसिद्धः । विपक्षे सन् प्रतिपक्षे [सपक्षे] वा [चा] सन् विरुद्धः । पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः । प्रत्यक्षागमविरोधः कालात्ययापदिष्टः । विशेषाग्रहणं हेतुत्वेन प्रयुज्यमानं प्रकरणसमः । परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतकल्पनया यत्नमविघातः छलम् । नवोदकः प्रत्यग्रोदकः नवसंख्यामारोप्य दूषयति । मञ्चाः क्रोशन्तीति छलम् । अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्ते आरासमात्रत्वादेव पक्षं न दूषयन्ति जातयः [जाति] साधर्म्यादि । 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' वादिनेत्युक्ते प्रतिवाद्याह—नित्यः शब्दो निरवयवत्वाद्याकाशवत् । न चात्र हेतुः घटवदनित्यत्वे आकाशवन्नित्यत्वे नित्यत्वेऽप्याकाशवत् वास्ति ॥३१॥ येन केनचिद्दूषणेन विपक्षो निगृह्यते तन्निग्रहस्थानम् । प्रतिज्ञाशब्दः संबध्यते – प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञासंन्यासः प्रतिज्ञाविरोध इत्यादि । हेतौ अनैकान्तिके कृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तधर्मेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानम्, यथा अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वात् घटवदिति प्रतिज्ञा साधनाभासवादी ब्रुवन् परेण 'सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टम्' इति हेतावनैकान्ते कृते यद्येवं ब्रूयात् 'सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवति' इति ब्रुवाणः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञां त्यजेत् 'पक्षसाधनदूषणोद्धाराशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो निग्रहस्थानम् । यथानित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वेन तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात् क एवमाह अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञासंन्यासः । प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः निग्रहस्थानम् । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । यदि गुणद्रव्यातिरिक्तं तदेयं प्रतिज्ञा विरुद्धाभिधानात् पराजीयते ॥३२॥ पूर्वार्धं सुगमम् । सांख्याः क(का)पिलाः, अपि[आदि]पुरुषनिमित्तेयं संज्ञा । तदभीष्ट[भीष्टाश्च]पञ्चविंशतितत्त्वादिभावानां संक्षेपः कथ्यते ॥३३॥ ईश्वरं देवता ये [तया] न मन्यन्ते केवलाध्यात्मवादिनः । केचित्पुनः ईश्वरदेवताः । तेषामुभयेषामपि तत्त्वानां पञ्चविंशतिर्भवति । तत्त्वं ह्यापवर्गसाधकम् । यदुक्तम्—पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतिः । जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥ ३४ ॥ तावदिति प्रक्रमे । गुणत्रयम्, क्रमेण परिपाट्या विशेषयति । सत्त्वं प्रसाद[दः]कार्यलिङ्गम्, वदननयनादिप्रसन्नता अनिरजसि [त] सदा आनन्दपर्यायः । तमोगुणे वा[च] दैन्यं नयो विषता [चो विच्छायता] नेत्रसंकोचादि । एतेनैव[न च] आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक[दैव]लक्षणं दुःखत्रयमाक्षिप्यते ॥ ३५ ॥ एतेषां सत्त्वरजस्तमसां[मोगुणानां] प्रीत्यप्रीतिरूपविषयरूपाणां[विषादरूपाणां] समतयावस्थितिः सा किल प्रकृतिरुच्यते । प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या [शब्दवाच्याः-] प्रकृतिः प्रधानमव्यक्तं वेति नामान्तरम् । शाश्वतभावतया प्रसिद्धा नित्या, नानापुरुषाश्रया या च प्रकृतिः ॥ ३६ ॥ ततो गुणत्रयाभिधातान्महानिति बुद्धिरुत्पद्यते । एवमेतन्नान्यथा, गौरेवायं नाश्वः स्थाणुरेवायं न पुरुष इति निश्चयेन पदार्थप्रतिपत्तिः । तस्याः ८ रूपाणि—धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि सत्त्वभूतानि अधर्मादीनि च-अस्थास्थिकानि । ततो बुद्धेरहंकारोऽभिमानात्मकः तस्मादहंकारात् षोडशकगणमाह ॥ ३७ ॥ बुद्धिप्रधानानि बुद्धिसहचराण्येवेति कृत्वा बुद्धीन्द्रियाणि । स्पर्शनं त्वगिन्द्रियम् । कर्म-क्रियासाधनानि इन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि । पायुरपानम् । उपस्थः प्रजननम् । वचःपाणिपादाः (हस्ताः) प्रसिद्धाः । मन एकादशम् । पञ्चतन्मात्राणि शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाख्यानि । एवं षोडशको गु(ग)णः ॥ ३८-३९ ॥ पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यो भूतपञ्चकम् । शब्दतन्मात्रादाकाशम्, शब्दो ह्याकाशगुणः । स्पर्शतन्मात्राद्वायुः । रसतन्मात्रादापः । रूपतन्मात्रात्तेजः । गन्धतन्मात्राद्भूमिः । शब्दतन्मात्रासहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः । शब्दस्पर्शसहितरूपतन्मात्रात्तेजः । शब्दस्पर्शरूपगुणम् । शब्दस्पर्शरूपगुणसहित [रस] तन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूप[रस]

गुणाः । शब्दस्पर्शरूपरससहितगन्धतन्मात्रात् पृथिवी शब्दस्पर्शरस[रूपगन्ध]गुणा जायते ॥ ४० ॥ प्रकृतेर्महानहंकारः पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि [पञ्चकर्मेन्द्रियाणि] मनश्च पञ्च-तन्मात्राणि पञ्च भूतानि, २४ तत्त्वानि ह्यं यस्य तत्प्रधानं प्रकृतिः कथिता । पञ्चविंशं तत्त्वं पुरुषः अन्यः अकर्ता । प्रकृतिरेव करोति बध्यते मुच्यते च । पुरुषस्तु "अप्रसंख्यगतनो भोगो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्ता निर्गुणः सोऽपि[सूक्ष्म] आत्मा कापिलदर्शने ॥" अन्यः प्रकृतिरेव कर्ता न पुनर्न पुरुषः । विगुणः सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयविकलः । भोक्ता भोगी । नित्य यासौ चिच्चैतन्यशक्तिः तयाभ्युपेतः सहितः । आत्मा हि स्वबुद्धेरव्यतिरिक्तं मन्यते । सुखदुःखादयो विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति । बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा । ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते । ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचर्यते ॥४१॥ तत्त्वोपसंहारमाह—पूर्वार्धं सुगमम् । अत्र सांख्यमते प्रकृतिपुरुषयोर्वर्तनं पङ्ग्वन्धयोरिव । यथा पङ्ग्वन्धौ संयुतावेव कार्यक्षमौ न पृथक्, तथा प्रकृतिनरौ । प्रकृत्युपात्तं पुरुषो भुङ्क्त इत्यर्थः ॥४२॥ प्रकृत्या सह विरहे पुरुषस्य मोक्षः । एतस्याः प्रकृतेर्विषयमान्तरं ज्ञानं बन्धविच्छेदाद् भवति । बन्धस्त्रिविधः प्राकृतिकवैकारिकदाक्षणिकभेदात् । प्रकृतावात्मज्ञानात् प्राकृतिकः । भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धिविकारान् पुरुषबुद्धयोपासते वैकारिकः । इष्टापूर्ते दाक्षिणः । पुरुषतत्त्वानाभिज्ञो ह्याप्तापूर्तकारी त्रिविधबन्धच्छेदात् परमब्रह्मज्ञानानुभवः । प्रमाणत्रयम्, प्रत्यक्षमिन्द्रियोपलभ्यम्, लैङ्गिकमनुमानम्, शाब्दं चागमस्वरूपम् ॥४३॥ चः समुच्चये । न केवलं बौद्धनैयायिकयोः सांख्यमतस्यापि संक्षेपः कथितः । सुष्ठु शोभनो विचारोऽर्थोऽस्यास्तीति साभिप्रायम् । अपराणि दर्शनानि—"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥" इत्याज्ञाविचारपदवीमाश्रियन्ते । जैमस्त्वाह—"अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं न विचार्यते । निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात् परीक्षायां बिभेति किम्" जैनो युक्तिमवगाहते—"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ ४४ ॥ देवतत्त्वमाह—जयन्ति रागादीन् जिनाः केवलिनः तेषामिन्द्रः स्वामी । रागः सांसारिकः स्नेहः । द्वेषो वैरानुबन्धः तद्रहितः । धवखदिरपलाशादिविशेषावबोधो ज्ञानम्, वनमिति सामान्यावबोधो दर्शनम् । केवलशब्दोभ (शब्द उभ) यत्र संबध्यते । केवलम् इन्द्रियज्ञानानपेक्षम् । छद्मस्थस्य हि प्रथमं दर्शनं ततो ज्ञानम्, केवलिनस्त्वादौ ज्ञानं ततो दर्शनम् ॥ ४५ ॥ मोहनीयकर्मोदयाद् हिंसात्मकशास्त्रेभ्योऽपि युक्तिकाङ्क्षादिमोहः स एव मल्लः, स हि येन रागद्वेषमोहसद्भावादेवमन्यतीर्थाधिष्ठातारो मुक्तितया प्रसिद्धाः । सुरासुरसेव्यमानत्वमानुषङ्गिकफलम् । सद्रूपान् द्रव्यपर्यायरूपान् नित्यानित्यसामान्यविशेषाद्यनन्तधर्मात्मकान् पदार्थानुपदिशति यः सर्वाणि धनधान्यादीनि कर्माणि जीवयोग्यावद्यपुद्गलाः तेषां क्षयं विधाय मोक्षं संप्राप्तः । अपरे सौगतादयः मोक्षं प्राप्ता अपि स्वतीर्थतिरस्कारदर्शने पुनर्भवमवतरन्तः श्रूयन्ते, न तेषां कर्मक्षयः । कर्मक्षये हि भवावतारः कुतः ॥ ४६ ॥ तत्त्वान्याह । तन्मते जैनमते तत्त्वानि ज्ञेयानि निगदसिद्धनामानि ॥ ४७ ॥ जीवादिस्वरूपमाह । जैनमते चैतन्यलक्षणो जीव इति संबन्धः । ज्ञानदर्शनचारित्रधर्माणां गुणाभिन्नो भिन्नश्च । स्वापेक्षया ज्ञानवत्त्वमभिन्नं ज्ञानादिभ्यः, परापेक्षयाज्ञानवत्त्वं भिन्नम्, लेशतोऽपि यदि सर्वजीवेषु न न ज्ञानं तदा जीव अजीवत्वं प्राप्नुयात् । विवृत्तिः परिणामः सुरनरनारकतिर्यक्षु एकेन्द्रियादिजातिषु विविधोत्पत्तिरूपान् परिणामानुभवति जीवः । शुभं सातवेद्यम् अशुभमसातवेद्यम्, एवंविधं कर्म करोतीति कर्तृभूतः । स्वोपार्जितपुण्यपापफलभोक्ता, न चान्यकृतस्यान्यो भोक्ता ॥ ४८ ॥ चेतनास्वभावत्वं लक्षणं यस्य सूक्ष्मबादरएकेन्द्रियास्तथा विकलेन्द्रियाः संज्ञ्यसंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्दशजीवभेदाः । अस्माद्यो विपरीतोऽचेतनादिलक्षणः स अजीवः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः स्कन्धदेशदेशगुणाः, अद्धा केवलपरमाणवश्चेति चतुर्दश जीवभेदाः । सत् शोभनं सातवेद्यं कर्म तस्य पुद्गलाः दलपाटकानि ते च ॥ ४९ ॥ तु पुनः पुण्यप्रकृतिविसदृशं पापम्, ८२ भेदाः । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा हेतवः । यस्तैर्मिथ्यात्वादिभिर्बन्धस्य हेतुः कर्मबन्धः स आस्रवः ४२ भेदाः । पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वारः कषायाः, पञ्च व्रतानि, मनोवचनकायाः, पञ्चविंशतिक्रियाः कायिक्यादय इति ॥ ५० ॥ आस्रवद्वारप्रतिरोधः संवरः ५७ भेदाः । तु पुनरर्थः । यो जीवस्य कर्मणा बद्धस्य परस्परं क्षीरनीरन्यायेन लोलीभावात् संबन्धो योगः स बन्धो नाम, प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्धा । प्रकृतिः परिणामः स्यात् ॥ ५१ ॥ यः पुनर्बद्धस्य मृ वृ निषत्तनिकाचितादिरूपस्य कर्मणस्तपश्चरणध्यानादिभिः क्षयः

क्षपणं सा निर्जरा सकामाकामभेदेन द्विधा । तु पुनः । देहेन्द्रियधर्मादिजीवरहे आत्यन्तिको वियोगो मोक्षे ९ विषः । ननु सर्वथा प्राणाभावादजीवत्वप्रसङ्गः, तथा भोज्ञाभावः न, द्रव्यप्राणानामेवाभावः, भावप्राणास्तु क्षायिकसम्यक्त्ववीर्यज्ञानादयो निष्कर्मावस्थायामपि सन्त्येव ॥ ५२ ॥ स्थिराशयो दृढचित्तः सन् श्रद्दधते अर्थपरीक्षेव मनुते, जानन्नपि अश्रद्दधानो मिथ्यादृगेव । सम्यक्त्वं च ज्ञानं च तयोर्योगः, ज्ञानदर्शनविनाकृतस्य हि चारित्रस्य निष्फलत्वात् सम्यक्चारित्रव्यवच्छेदार्थं सम्यग्ज्ञानग्रहणम् ॥ ५३ ॥ तथेत्युपदर्शने । परिपक्वभव्यत्वेन तद्भूयोवयकमोक्षमन्तव्येन पुंसः स्त्रियो वा ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं पुमान् मोक्षभाजनं मुक्तिश्रियं भुङ्क्ते । सम्यगिति ज्ञानाभागमाववोधः क्रिया चरणकरणात्मिका, तासां योगः संबन्धः, न केवलं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं वा मोक्षहेतुः किन्तु समुदितं त्रयम् ॥ ५४ ॥ तथेति प्रस्तुतमतानुसंधाने । अश्नुते अश्नोति वा व्याप्नोति सकलक्षेत्रकालभावान् इत्यक्षो जीवः । अश्नुते विषयमित्यक्षमिन्द्रियं च । अक्षमक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् इन्द्रिया-[ण्याश्रित्य]श्रितव्यवहारसाधकम् । अवधिमनःपर्ययकेवलानि तद्भेदाः अतएव[वं] सांव्यवहारिकपारमार्थिके निश्चानिन्द्रियादयो भेदाः, अनुमानोपमानार्थापत्त्यभावसंभवैतिह्यादयस्त्वदर्शनान्तर्भेदविशेषाः । अक्षाणां परं परोक्षं स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदमिति । मतिश्रुतज्ञानेऽपि परोक्षे । तु पुनः । इह जिनमते प्रमाणयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः विषयो गोचरः वस्तुतत्त्वं पदार्थस्वरूपम्, अनन्ताः त्रिकालविषयत्वादपरिमिता[ता ये]धर्मा सहभाविनः क्रमभाविनश्च गुणाः आत्मा स्वरूपं यस्य अनन्तधर्मकत्वं साध्यो धर्मः, सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति साधनम्, हेतौ [रन्त] व्याप्त्यैव साध्यसिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिः किं प्रयोजनम् ? य[त]दनन्तधर्मात्मकं न भवति तत्सदपि न स्यात् यथा आकाश-पुष्पम् । आत्मादीनां साकारानाकारोपयोगकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो जगत्प्रसिद्धा धर्माः ॥५५॥ अक्षगोचरातीतः [तः] परोक्षः तदभावोऽपरोक्षः तया साक्षात्कारितया अर्थस्य वस्तुनो ग्राहकम् ईदृगेव ज्ञानं प्रत्यक्षम्, अन्य-योक्तप्रत्यक्षनिषेधः । इतर[द]साक्षात्कारितया स्वसंवेदनबहिःपर्यालोचनया परोक्षम् ॥ ५६ ॥ येन कारणेन यत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं तत् सत् सत्त्वरूपमुच्यते तेन कारणेन अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणगोचरः । सर्ववस्तुषु उत्पत्तिविपत्तिसत्तासद्भावात् उत्पत्त्यादित्रययुक्तस्यैवानन्तधर्मता तेनैव पुनरनन्तधर्मात्मकत्वमुक्तं न पौनरुक्त्यम् ॥५७॥ जिनदर्शनस्य संक्षेपः प्रोक्तः विस्तरस्य अगाधत्वेन वक्तुमगोचरत्वात् अ ना यानि बू[मधो निर्दू] षणाः [णः] सर्वज्ञमूलत्वात् [तु पुनः] समुच्चये, आदौ प्रां च ते [प्रान्ते] च परस्पर[वि]रुद्धत्वेन [यंता] अत्र नः, आस्तां केवलिप्रणीते छद्मस्थप्रणीतेऽप्यङ्गादिके न दोषलवः परेषां [परस्परं] शास्त्राणि परस्पर-विरोधाद्यात[त्वे]न व्याघ्रा[घ्र] इव दुःशक्या कर्णे धर्तुम् ॥ ५८ ॥ वैशेषिकाणां काणादानां नैयायिकैः समं सिद्धसेनविक्रमो भेदो नास्ति तत्त्वेषु शासनरहस्येषु तु भेदो निर्दिश्यते ॥ ५९ ॥ तन्मते वैशेषिकमते तु निश्चितं च तत्त्वषट्कम्, नामानि सुगमार्थानि ॥६०॥ नवविधं द्रव्यं पञ्चविंशतिगुणाश्चेति [श्च नि] गदसिद्धान्येव संस्कारस्य वेगभावनास्थित[ति]स्थापकभेदात् त्रिविधोऽपि[त्रैविध्येऽपि] संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वम् । धार्यो-द्वार्यादीनां गुणानामेष्वेवान्तर्भावात् नाधिक्यम् ॥ ६१-६३ ॥ *पञ्चापि कर्मभेदाः स्पष्टा एव । गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यविरोधः । तु पुनः सामान्ये द्वे परसामान्यमपरसामान्यं चेत्यर्थः ॥ ६४ ॥ एतद्व्यक्ति[क्तं]-विशेषव्यक्तिं चाह—सत्ता परं सत्ता भावो महासामान्यम्, [अपरसामान्यं] च द्रव्यत्वादि, एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते । तथाहि द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यं गुणकर्मव्यावृत्तत्वाद् विशेषः । एवं द्रव्यत्वापेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं तदपेक्षया घटत्वादिकम् । चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यं द्रव्यकर्मभ्यो निर्मूलेभ्यश्च विशेषः । गुणत्वापेक्षया नील[रूप]त्वादिकम् । एवं कर्मण्यपि । नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्य-न्तव्यावृत्तिहेतवः । ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरा:[रम्] । अन्त्ये[न्ते]षु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः । गवादिषु अश्वादिभ्यः तुल्याकृतिक्रियावयवोपचयसंयोगविलक्षणोऽयं प्रत्ययव्यावृत्ते[त्ति]विशेषः ॥६५॥ इह[इतर] प्रस्तुतमते अयुतसिद्धानां परस्परपरिहारेण पृथगाश्रया[ना]श्रितानाम् आधार्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुः संबन्धो यः स समवायः । इह तन्तुषु पट इत्यादौ समवायः । स्वकारणसामग्र्यदुपजायमानं पटाद्या-धार्यं तन्त्वाद्याधार[रे] संबध्यते यया क्रियया छेद्येनेति । षण्णामपि पदार्थानां स्वरूपकथनमात्राधिकृतत्वात् ग्रन्थस्य नेह प्रतन्यते विस्तरः ॥६६॥ यद्यप्यौलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि तथापि श्रीहर-भद्रापेक्षयाऽत्रोभे एव निगदिते । ये पुनरमी । अमीषां वैशेषिकाणां प्रमाणं द्विधा—प्रत्यक्षमेकम् लैङ्गिकमनुमानं

द्वितीयम् । एवमिति प्रकारवचनम् । यद्यपि प्रभातृफलाद्यपेक्षया बहु वक्तव्यं तथापि तथाप्येवममुना पूर्वोक्त-प्रकारेण वैशेषिकमतस्य संक्षेपः परिकीर्तितः कथितः ॥ ६७ ॥ षष्ठं दर्शनमाह । जैमिनिमुनेरमी जैमिनीयाः, पृषोदरादित्वाद्धर्थे तद्धित ईयप्रत्ययः । जैमिनिशिष्याश्चैके पूर्वमीमांसावादिनः । एके उत्तरमीमांसावादिनो ते हि पुरुषाद्वैतवादसाधनव्यसनिनः शब्दार्थखण्डकाः । पूर्वमीमांसावादिनो द्विधा प्राभाकर[राः]भट्टाश्च क्रमेण पञ्चषट्प्रमाणप्ररूपकाः । अत्र तु सामान्येनैव[न] सूत्रकृत् पूर्वमीमांसावादिन एव जैमिनीयानुद्दिष्टवान् । तन्मते प्राहुः—सर्वज्ञत्वादिविशेषणोपपन्नः कोऽपि नास्ति मानुषत्वादि[द्वि]शेषेण विप्रलम्भकत्वात् द्रव्यपुरुषाद्यभावः [सर्वज्ञत्वादिविशिष्टपुरुषादिभावः] यदुक्तं प्रमाणं भवेद् वाक्यम् । अथ कथं यथावस्थिततत्त्वनिर्णयः ॥६८॥ तस्मात् प्रामाणिकपुरुषाभावात् अतीन्द्रियार्थानां चक्षुराद्यगोचरपदार्थानां साक्षाद् दर्शकस्य सर्वज्ञादेः पुरुषस्याभावात् नित्येभ्यः शाश्वतेभ्यो वेदवाक्येभ्योऽपौरुषेयवचनेभ्यो यथावस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूपविवेचनं भवतीत्यभ्युपगन्तव्यम् ॥ ६९ ॥ अथ यथावस्थिततत्त्वार्थस्थानकं तत्त्वो[तथो]पदेशमाह । अत एव [यतो] हेतोः वेदाभिहित-तत्त्वानुष्ठानादेव तत्त्वनिर्णयः । अत एव पूर्वं प्रयत्नाद् वेदपाठः कण्ठ-पीठीलोचनं[पीठीलुण्ठनम्] न तु [ननु] श्रवणमात्रेण ततोऽनन्तरं धर्मसाधनापूर्योपचयहेतुः । धर्मस्य हेयोपादेयस्वरूपस्य वेदाभिहितस्य ज्ञातुमिच्छा कर्तव्या वेदोक्ताभिधेयविधाने यतितव्यमित्यर्थः ॥ ७० ॥ नोदनैव लक्षणं यस्य स नोदनालक्षणः । तु पुनः नोदना क्रियां प्रति प्रवर्तकं वचः, वेदोक्तं भवति, नोदना पुनः क्रियां हवनसर्वभूताहिंसनदानादिक्रियां प्रतिप्रवर्तकं प्रेरकं यद्वो वेदवचनं प्राहुः मीमांसका भाषन्ते । हवनादिक्रियाविषये यदेव प्रेरकं वेदस्य वचनं सैव नोदनेति भावः । प्रवर्तकं तद्वचनमेव निदर्शनेन दर्शयति स्वःकामोऽग्निं यजेदिति । अथेति उपदर्शनार्थः । स्वः स्वर्गं कामयते यस्य स स्वःकामः पुमान् स्वःकामः सन् अग्निं वह्निं यजेत् तर्पयेत् । अत्रेदं श्लोकवन्मानुलोम्येनेत्यनुपन्यस्तम्, अन्यथा त्वेवं भवति—अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति । प्रवर्तकवचनस्योपलक्षणत्वात् निवर्तकमपि वेदवचनं नोदना ज्ञेया, यथा न हिंस्यात् सर्वभूतानि । अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षुः प्रथमं तत्रामानि तत्संख्यां चाह, प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणानि षट् प्रमाणानि जैमिनिमुनेः संमतानीत्यध्याहारः । चकारः समुच्चयोऽर्थः । तदाद्यानि पञ्चैव प्रमाणानीति प्राभाकरोऽभावस्य प्रत्यक्षेणैव ग्राह्यतान्यमानोऽभिमन्यते षडपि तानि तै भट्टो भाषते । अथ प्रत्यक्षप्रमाणस्य लक्षणमाचष्टे । तत्र प्रमाणषट्कम् अक्षाणामिन्द्रियाणां वेदोक्तस्वर्गसाधकाम्नायस्य क्रिया-प्रवर्तकं वचनं नोदना तामाहुः दृष्टान्ते न स्पष्टयति ॥७१॥ प्रमाणान्याह । जैमिनेः षट्प्रमाणानि ज्ञेयानि, यद्यपि प्रभाकराणां मते पञ्च, भाट्टानां षट्; तथापि ग्रन्थकृत् सामान्यतः षट्संख्यामाचष्टे । प्रमाणनामानि मिश्रादप्रसिद्धान्येव ॥७२॥ तत्र प्रमाणषट्के अक्षाणामिन्द्रियाणां प्रयोगे पदार्थैः सह संयोगे यथा[या] बुद्धिरिद-मित्यवबोधः तत्प्रत्यक्षम् । सत्तामदुष्टेन्द्रियाणामिति । एतावता मरुमरीचिकाजलवत् [कायां जलभ्रमः] शुक्तौ रजतभ्रमश्च इन्द्रियार्थसंप्रयोगेऽपि द्रष्टुरविकलेन्द्रियत्वाभावान्न प्रत्यक्षं प्रमाणम् । आत्मा यदनुभीयते [यदनुमिमीते] स्वयं तदनुमानमित्यर्थः । लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकम् । व्युत्पत्तिभेदादुभेदः । उभयशब्दकथनं बालावबोधार्थम् ॥ ७३ ॥ शब्दमागमप्रमाणं शाश्वताद्वैदाज्ज्ञातम्, वेदानां च शाश्वतत्वम्, अपौरुषेयत्वादेव । यत्प्रसिद्धार्थस्य प्रतीतपदार्थस्य साधर्म्यात् साम्यात् [साहार्यात्] अप्रसिद्धस्य वस्तुनः साधनं तदुपमानं यथा प्रसिद्धगोगवयस्वरूपो वनेचरः अप्रसिद्धगवयस्वरूपं नागरकं प्राह यथा गौरेवमस्तथा । अत्र सूत्रानुक्तावपि यत्तदादर्थसंबन्धाद्ध्याहार्यौ ॥ ७४ ॥ यद्बलेन कस्याप्यदृष्टस्य कल्पना संघटना विधीयते । दृष्टः परिचितः प्रत्यक्षलक्ष्योऽर्थः देवदत्ते पीनत्वादिः तस्यानुपपत्त्याघटमानतया अन्यथानुपपन्नेत्यर्थः यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते रात्राववश्यं भुङ्क्त इत्यर्थापत्तिः प्रमाणम् ॥७५॥ यत्र वस्तुरूपेऽभावादौ पदार्थे पूर्वोक्तप्रमाणपञ्चकं न वर्तते तत्राभावप्रमाणता ज्ञेया । किमर्थम् । वस्त्वसत्ताव [स्तुसत्यव]बोधार्थम्, वस्तुनो भावस्वरूपस्य मुख्य-भूतलादेः सत्ता घटाद्यभाव:[वः]सद्भावः तस्यावबोधः प्रामाणिकतयात(प)थावतरणं[तावतरणं] तदर्थं तद्धेतोः । ननु अभावस्य कथं प्रामाण्यम् । प्रत्यक्षं तावद् भूतलमेवेदं घटादि न भवतीति अन्वयद्वारेण [अन्वयव्यतिरेकेण द्वारेण] वस्तुपरिच्छेदः, तदधिकमभावैकरूपं निराचष्टे । नैवं घटाभावप्रतिबद्धभूतलग्रहणासिद्धेः नास्तितायग्रहणा-वसरे प्रामाण्यमेव भावस्य मानसोत्पन्नम् ॥ ७६ ॥ उपसंहरन्नाह । अपिशब्दात् केवलमपरदर्शनानां जैमिनी-

यमतस्यापि कथितः । वक्तव्यस्य बाहुल्या[बहुत्वा]द्रोकामात्रे सामस्त्यकथनायोगात् । एवमा[मित्यमा]स्तिकवादिनाम् इह परलोकगतिपुण्यपापास्तिकयवादिनां बौद्धनैयायिकसांख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपकीर्तनं कृतम् ॥ ७७ ॥ विशेषान्तरमाह । अन्ये आचार्याः नैयायिकमताद् वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते । दर्शनाधिष्ठात्रैकदेवतत्वात् । पृथग्दर्शनं नाम्युपगच्छन्ति तेषां मतापेक्षया आस्तिकवादिनः पञ्चैव । दर्शनानां षट्संख्या कथं फलवतीत्याह ॥ ७८ ॥ तन्मते नैयायिकवैशेषिकाभेदमन्यमानकाचार्यमते षट्दर्शनसंख्या लोकायितमतक्षेपात् पूर्यते । तु पुनरर्थे । किलेत्याम्नाये । तेन कारणेन तन्मतं चार्वाकमतं कथ्यते ॥ ७९ ॥ लोकायिता नास्तिका एवममुना प्रकारेण वदन्ति—देवः सर्वज्ञादिः निर्वृतिर्मोक्षः, धर्मश्च अधर्मश्च द्वन्द्वः, पुण्यपापयोः फलं स्वर्गनरकादिकं च नास्ति । धर्मधिर्माभावे कौतस्कुतं तत्फलम् ॥ ८० ॥ तन्मते लौकायि[य]तमते अयं लोकः संसारः एतावन्मात्र एव यावन्मात्र इन्द्रियगोचरः । इन्द्रियं पञ्चविधम्, तस्य गोचरो विषयः, पञ्चेन्द्रियव्यक्तीकृतमेव वस्त्वस्ति नापरम् । लोकग्रहणात् लोकस्यपदार्थग्रहः । अपरे पुण्यपापसाध्यं स्वर्गनरकाद्याहुः । तदप्रमाणं प्रत्यक्षाभावादेव । अप्रत्यक्षमपि चेन्मतम्; तदा शशशृङ्गवन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । दृष्टान्तमाह—यथा कश्चित्पुरुषो वृकपददर्शनकुतूहलां दयितां समीरणसमीकृतपांशुप्रकरे कराङ्गुल्या वृकपदाकारं विधाय मुग्धामवादीत्—भद्रे वृकपदं पश्य । तथा परवञ्चनप्रवणा मायाधार्मिका स्वर्गादिप्राप्तये तपश्चरणाद्युपदेशेन मुग्धजनं प्रतारयन्ति ॥ ८१ ॥ परमार्थवेदिन इदं वाक्यम्—यदतीतं यौवनादि तन्न ते । किन्तु जराजीर्णत्वादि भावि । हे भीरु, गतम् इह भवातिक्रान्तं सुखयौवनादि परलोके न लौकते भूतानां समुदयो मेलः[ऽन्तः] तन्मात्रम्, केवलं [कलेवरं] भूतचतुष्टयाङ्गु[धिक्]लाभावान्न च पूर्वभवादिसंबन्धः शुभाशुभकर्मजन्या[न्यः] ॥८२॥ पृथ्वी जलमिति, पृथ्वी भूमि , जलमापः, तेजो वह्निः, वायुः पवनः एतानि चत्वारि भूतानि एतेषामाधारोऽधिकरणभूमिः भूतानि संभूय एकं चैतन्यं जनयन्ति । एतन्मते प्रमाणम्, प्रत्यक्षमेव एकं प्रमाणं न पुनरनुमानादिकम् । हि शब्दोऽत्र विशेषार्थो वर्तते । विशेषः पुनश्चार्वाकैः लोकयात्रानिर्वाहणप्रवणं धूमाद्यनुमानमिष्यते । क्वचन, न पुनः स्वर्गादिष्टाविप्रसाधकमलौकिकमनुमानमिति । चैतन्यमाह । पूर्वार्धं सुगमम् । एतेषां चार्वाकाणां चेतनोत्पत्तिकारणं भूतचतुष्टयम् । चत्वार्यपि संभूय चैतन्यमुत्पादयन्ति । तु पुनः । मति प्रमाणम् अक्षमेव ॥८३॥ ननु भूतचतुष्टयसंयोगेऽपि[गे]कथं चैतन्योत्पत्तिरित्याह-पृथिव्यादिचतुर्भूतानां संहतौ मेले सति । तथेत्युपदर्शने । देहादिसंभवः । आदिशब्दाद् भूधरादिपदार्था अपि । यथा येन प्रकारेण सुराङ्गेभ्यो गुडधातक्यादिभ्यो मद्य[द]शक्तिः उन्मादकत्वं भवति[तीति] तथा भूतचतुष्टयसंबन्धाच्छरीर आत्मनः स्थिता चे[सचे]तनता ॥८४॥ तस्मादिति पूर्वोक्तानुस्मरणपूर्वकं दृष्टपरित्यागात् प्रत्यक्षसुखत्यागात् अदृष्टे [तपश्चरणादिकष्टे] प्रवृत्तिः । च: समुच्चये । तल्लोकस्य विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे । प्रवञ्चातत:[तवन्तः] ॥८५॥ साध्यस्य मनोषितस्य कस्यचिदस्तुनो वृत्तिः प्राप्तिः अनभीष्टस्य निवृत्तिरभावः ताभ्यां जने या प्रीतिरुत्पद्यते सा तेषां चार्वाकाणां निरर्था । श्रेष्ठा [निरर्थका । शून्या] पूर्वभवार्जितपुण्यपापाभावात्[भ एव] । सा च प्रीतिराकाशरूपा शून्येत्यर्थः । धर्मस्य कामादन्यस्याभावात् ॥ ८६ ॥ एवं लौकायितमतसंक्षेपः कथितः । एतं षड्दर्शन[नोत्पन्न]विकल्पे सति अभिधेयतात्पर्यार्थः मुक्त्यङ्गतत्त्वसारार्थः[र्यंतातत्त्वमारार्थः] चिन्तनीयः बुद्धिमद्भिः ॥ ८७ ॥

इति षड्दर्शनसमुच्चयावचूर्णिः समाप्ता ॥ छ ॥ श्री ॥

परिशिष्टम् ३

कारिकानुक्रमणिका

[अ]

अक्षपादमते देवः १३।७८
अजीवः स समाख्यातः ४९।२१३
अत एव पुरा कार्यः ७०।४३५
अर्थापत्तिरभावश्च ७२।४३९
अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात् १६।८२
अन्यस्त्वकर्ता विगुणश्च भोक्ता ४१।१४८
अन्यानि पञ्च रूपादि ३९।१४६
अन्योऽन्यानुगमात्मा तु ५१।२७५
अनन्तधर्मकं वस्तु ५५।३१२
अनन्तधर्मकं वस्तु ५७।३४७
अपरोक्षतयार्थस्य ५६।३३५
अभिधेयतात्पर्यार्थः ८७।४६०
अवयवाः पञ्च तर्के २७।११२
अहंकारस्ततोऽपि स्यात् ३७।१४५

[आ]

आचार्यशिष्ययोः पक्ष- २९।११४
आत्मनो बुद्धिजन्म ७३।४३९
आत्मात्मीयभावाख्यः ६।४२
आत्यन्तिको वियोगस्तु ५२।२५८
आधारो भूमिरेतेषाम् ८३।४५७

[उ]

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकम् ६४।४१९
उपमानं समाख्यातम् २३।१०५
ऊर्ध्वं संवेष्टितकाभ्याम् २८।११२

[ए]

एतानि नव तत्त्वानि ५३।३०९
एतावानेव लोकोऽयम् ८१।४५२
एतेषां या समावस्था ३६।१४५
एवमास्तिकवादानाम् ७७।४४९
एवं चतुर्विंशति तत्त्वरूपम् ४१।१४८
एवं सांख्यमतस्यापि ४४।१५८

[क]

कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा ४६।१६२
क्षणिकाः सर्वसंस्काराः ७।४३
कार्यात्कारणानुमानम् २१।१०३
कालदिगात्ममनांसि च ६१।४०७
किमेतदिति संदिग्धः २५।१०९
क्रियते यद् बलेनासौ ७५।४४२

[च]

चतुर्णामार्यसत्यानाम् ४।३६
चैतन्यलक्षणो जीवः ४९।२१३

[ज]

जातयो दूषणाभासाः ३१।११७
जातयो निग्रहस्थान- १६।८२
जिनेन्द्रो देवता तत्र ४५।१६२
जीवाजीवौ तथा पुण्यम् ४७।२११
जैनदर्शनसंक्षेपः ४४।१५८
जैनदर्शनसंक्षेपः ५८।३९२
जैमिनीयमतस्यापि ७७।४४९
जैमिनीयाः पुनः प्राहुः ६८।४३२
जैमिनीयं च नामानि ३।३५

[त]

तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यः ४८।२१३
तत्र द्रव्यं नवधा ६१।४०७
तत्र प्रत्यक्षमक्षाणाम् ७३।४३९
तत्र परं सत्ताख्यम् ६५।४२०
तत्र बौद्धमते तावत् ४।३६
तत्राद्यं कारणात्कार्यं १९।८५
तत्रेन्द्रियार्थसंपर्क- १७।८५
तत्त्वानि षोडशामुत्र १४।८२
ततो धर्मस्य जिज्ञासा ७०।३५
ततः संजायते बुद्धिः ३७।१४५
तथाविधनदीपूरात् २१।१०३
तथा भव्यत्वपाकेन ५४।३०९
तस्मादतीन्द्रियार्थानां ६९।४३४
तस्माद्दुष्टपरित्यागात् ८५।४५९
त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गि १०।६६

[द]

दृष्टार्थानुपपत्त्या तु ७५।४४२
दृष्टान्तस्तु भवेद्देयः २६।११०
दृष्टान्तोऽन्यश्च सिद्धान्तः १५।८२
द्रव्यं गुणस्तथा कर्म ६०।४०७
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे ६३।४१२
दर्शनानि षडेवात्र २।३४
दुःखं संसारिणः स्कन्धाः ५।४०
देवतातत्त्वभेदेन २।३४
देवताविषयो भेदः ५९।४०६
देवो न विद्यते कोऽपि ६८।४३२

[ध]

धर्माधर्मौ न विद्येते ८०।४५२
धर्मायतनमेतानि ८।५०

[न]

न मन्यन्ते मते तेषाम् ७८।४४९
न हि भीरु गतं निवर्तते ८२।४५५
निग्रहस्थानमाख्यातम् ३२।१२९
नित्यत्वं वेदवाक्येभ्यः ६९।४३४
निरर्था सा मते तेषाम् ८६।४५९

निश्चयतो नित्यद्रव्य- ६५।४२०
नैयायिकमतस्येतैः १२।७६
नैयायिकमतस्यैष: २३।१३८
नैयायिकमतादन्ये ७८।४४९
नोदनालक्षणो धर्मो ७१।४३६

[प]

पृथ्व्यादि भूतचैतन्या ८४।४५८
पृथ्वी जलं तथा तेज: ८३।४५७
प्रकृतिवियोगो मोक्ष: ४३।१५३
प्रमाणं च द्विधामीषाम् ६७।४२६
प्रमाणपञ्चकं यत्र ७६।४४४
प्रमाणे द्वे च विज्ञेये ९।५५
प्रमेयं त्वात्मदेहाद्यम् २४।१०६
प्रमाणं च प्रमेयं च १४।८२
प्रधाननरयोश्चात्र ४२।१५२
प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्याम् ३६।१४५
प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् १०।६०
प्रत्यक्षं च परोक्षं च ५५।३१२
प्रत्यक्षमनुमानं च ७२।४३९
प्रत्यक्षमनुमानं तु १८।८५
प्रत्यक्षमनुमानं च १७।८५
प्रत्यक्षमनुमानं च ९।५५
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयम् ५६।३३५
प्रतिज्ञाहानिसंन्यास- ३२।१२९
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त- २७।११२
प्रवर्तते तदर्थित्वात् २५।१०९
प्रवर्तकं वच: प्राहु: ७१।४३६
प्रसाद्यतापदैन्यादि ३५।१४३
प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यात् ७४।४४०
प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यात् २३।१०५
परिमाणं च पृथक्त्वम् ६२।४१२
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या ८।५०
पञ्चविधं कर्मतत्परापरे ६४।४१९
पञ्चविंशति तत्त्वानि ४२।१५२
पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्यत्र ३८।१४६
पापं तद्विपरीतं तु ५०।२६९
पायूपस्थवच:पाणि ३९।१४६
पिब खाद च चारुलोचने ८२।४५५
पुंसि देशान्तरप्राप्ति: २२।१०४
पूर्ववच्छेषवच्चैव १९।८५
पूर्वापरपराघातः ५८।३९२

[ब]

बन्धो विनिर्जरामोक्षौ ४७।२११
बद्धस्य कर्मण: साटो ५२।२७८
बुद्धि: सुखदु:खेच्छा- ६३।४१२
बौद्धं नैयायिकं सांख्यम् ३।३५
बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य १२।७५

[भ]

भद्रे वृकपदं पश्य ८१।४५२

[म]

मदशक्ति: सुराङ्गेभ्य: ८४।४५८
मानत्रितयं चात्र ४३।१५३

[य]

यच्च सामान्यतो दृष्टम् २२।१०४
यथा काकादिसंपातात् २८।११२
य इहायुतसिद्धानाम् ६६।४२४
येनोत्पद्यव्ययध्रौव्य- ५७।३४७
ये बन्धस्य स विज्ञेय ५०।२६९
य: कथाभ्यासहेतु: स्यात् २९।११४

[र]

रूपात्तेजो रसादाप: ४०।१४७
रूपाणि पक्षधर्मत्वम् ११।६९
रोलम्बगवलव्याल- २०।१०३

[ल]

लोकस्य तद्विमूढत्वम् ८५।४५९
लोकायतमतक्षेपे ७९।४५०
लोकायता वदन्त्येवम् ८०।४५२
लोकायतमतेऽप्येवम् ८७।४६०

[व]

वृष्टिं व्यभिचरन्तीह २०।१०३
व्यवसायात्मकं ज्ञानम् १८।८५
वस्तुसत्तावबोधार्थम् ७६।४४४
वादी जल्पो वितण्डा च १५।८२
विजिगीषु कथा या तु ३०।११५
विज्ञानं वेदना संज्ञा ५।४०
विपक्षे नास्तिता हेतो: ११।६९
विभुर्नित्यैकसर्वज्ञ: १३।७८
विशेषसमवायौ च ६०।४०७
वैशेषिकमतस्यैष: ६७।४२६
वैशेषिकाणां तत्त्वे तु ५९।४०६

[श]

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थ- ७४।४४०
शाब्दमाप्तोपदेशस्तु २४।१०६
शुभाशुभकर्मकर्त्ता ४८।२१३

[ष]

षड्दर्शनसंख्या तु ७९।४५०

[स]

स्पर्शरसरूपगन्धा: ६२।४१२
स्पर्शाद्यायुक्तसिद्धं च ४०।१४७
स्पर्शनं रसनं घ्राणम् ३८।१४६
स जल्प: सा वितण्डा तु ३०।११५
सत्त्वं रजस्तमश्चेति ३५।१४३
सद्दर्शनं जिनं नत्वा १।२
सम्यक्त्वज्ञानयोगेन ५३।३०९
सम्यग्ज्ञानक्रियायोगात् ५४।३०९
स मार्ग इह विज्ञेय: ७।४३
साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्याम् ८६।४५९
सांख्या निरीश्वरा: केचित् ३४।१४२
सांख्याभिमतभावानाम् ३३।१३८
समुवेति यतो लोके ६।४२
सर्वेषामपि तेषां स्यात् ३४।१४२
सिद्धान्तस्तु चतुर्भेद: २६।११०
सुरासुरेन्द्रसंपूज्य: ४६।१६२
संबन्ध इह प्रत्ययहेतु: ६६।४२४
संवरस्तन्निरोधस्तु ५१।२७५

[ह]

हतमोहमहामल्ल: ४५।१६२
हेत्वाभासास्त्रसिद्धाद्या: ३१।११७

परिशिष्टम् ४

उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका

[अ]

अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः [गौभ्यु० ६।३] ७१।५२४।४३७
अग्नीषोमीयं पशुमालभेत [ऐतरेय आ० ६।१३] ५८।४४२।४०१
अज्ञो जन्तुरनीशानो [महा भा० वन० ३१] १।२१।१८
अज्ञो जन्तुरनीशानः [महाभा० वनप० ३०।२८] १३।१२।८२
अतर्कितोपस्थितमेव सर्वम् [आचा० २।१।१।१।४] १।२५।२४
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः [ ] १०।७७।९२, ८१।६६
अतिदूरात्सामीप्यात् [ ] ४९।११३।२५९
अतीन्द्रियाणामर्थानाम् [ ] ६६।५१९।४३५
अतोऽनेकस्वरात् [हैम० ७।२] १।३१।२४
अथापि दिव्यदेहत्वात् [ ] ६८।५१६।४३३
अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च [त० भा० १०।७] ५२।२४५।२८२
अन्तेषु भवा अन्त्याः [प्रशा०भा०पु०१६८] ६५।४९९।४२३
अन्धे तमसि मज्जामः [ ] ५८।४४६।४०२
अन्यदपि चैकरूपं तत् [ ] ५२।२९१।२९६
अनुमातुरयमपराधो नानुमानस्य [ ] १९।२९।९८
अनुवादादरवीप्सा [ ] ८२।५६२।४५६
अनेकानि सहस्राणि [ ] ५८।४४५।४०२
अप्राप्तकाल्युग् न्यूनम् [ ] ३२।१३०।१३६
अप्सु स्पर्शः शीत एव [ ] ४९।१४५।२४०
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६] ७६।५४६।४८८
अपवर्तते कृतार्थं [केवलमुक्ति श्लो० १६] ४६।८४।२०८
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति [ ] ५८।४४५।४०२
अपेक्ष्येत परः कश्चिद्यदि [प्र०वा० ३।२७९] ७।५८।४५
अभावोऽपि प्रमाणाभावलक्षणो [शा० भा० १।१] ७६।५३९।४४४
अमूर्तश्चेतनो भोगी [ ] ४१।२४।१५२
अयोगं योगमपरैः [प्र० वा० ४। १९०] ९।७२।५६
अर्थापत्तिरपि दृष्टः [शाबरभा० १।१।५] ७५।५३९।४४२
अर्थी ज्ञानसमन्वितः [ ] ११।९५।७५
अस्ति वक्तव्यता काचित् [ ] ४४।३८।१५८
अस्ति ह्यालोचना ज्ञानम् [मी० श्लो० प्रत्य० ११२] ५।४९।४०
अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि··· [वैशे० सू० ९।२।१] ६७।५०७।४२७
असदकरणादुपादानग्रहणात् [सांख्यका० ९] ४३।३५।१५७
असिहस्तयं क्रियाणां [सूत्रकृ० नि० गा० ११९] १।१८।१३
आग्रही बत निनीषति युक्तिम् [ ] ८७।५७४।४६१
आत्मनि सति परसंज्ञा [प्र० व० १।२१९-२२१] ५२।२५९। २९४
आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिः [न्यायसू० १।१।९] २४।५८।१०६
आत्मा सहैति मनसा [ ] १९।१९।८७
आधारमस्मत्कौपीन- [ ] १२।४।७८
आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् [ ] ५२।२५१।२८९
आरण्यमेतत्सवितास्तमागतः [ ] २८।९७।११३

[इ]

इत एकनवते कल्पे [ ] ५।५०।४१
इत एकनवतौ कल्पे [ ] ५८।४२५।३९५
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् [न्यायसू० १।१।४] १९।१७।८६

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठम् [मुण्डक० १।२।१०] ४३।२८।१५४
इयुकारनरः कश्चित् [ ] ४९।१८७।२५८

[ई]

ईर्याभाषैषणादान-[ ] ४४।१।१६०

[उ]

उपपत्तिश्चोपलक्ष्य-[ ] ३२।१३०।१३६
उपमानमपि सादृश्यात् [शाबर भा० १।१।८] ७४।५३४।४४१

[ऊ]

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो [त० भा० १०।७] ५२।२४५।२८२
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः [सांख्यका० ५४] ३५।९।१४४
ऊर्मिषट्कातिगं रूपम् [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] ५२।२५०।२८८

[ए]

एक एव हि भूतात्मा [त्रि० ता० ५।१२] ६३।५१२।४३०
एकादश जिने [त० सू० ९।११] ४६।८५।२०९
एको भावः सर्वथा येन दृष्टः [ ] ५५।३४९।३३४
एकं चेत्तत्कार्यं चित्रम् [प्रश० क० पृ० ३०] ५७।३८२।३७२
एरण्डयन्त्रपेडासु [त० भा० १०।७] ५२।२४५।२८२
एषामैन्द्रियकत्वेऽपि [मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १३] ७१।५२४।४३८

[ओ]

ओवेकः कारिकां वेत्ति [ ] १।३७।३३

[क]

कइणं भंते दव्वा पण्णत्ता [ ] ४९।१९५।२६१
कर्मक्षयाद्धि मोक्षः [ ] ५२।२६१।२९६
कः कण्टकानां प्रकरोति [बुद्धच० ९।६२] १।२४।२०
क्वचित् [हैम० ५।१।१७१] १।१२।८
कारणमेव तदन्त्यम् [ ] ४९।१८१।२५५
कालाभावे च गर्भादि [शास्त्रवा० श्लो० १६७] १।२०।१६
कालः पचति भूतानि [महाभा० हारीत सं०] १।२०।१६
किंच कालादृते नैव [शास्त्रवा० श्लोक २६६] १।२०।१६
कुलालचक्रे दोलायाम् [त० भा० १०।७] ५२।२४४।२८१
को दुक्खं पाविज्जा [ ] ४६।४।१६३
क्षणिकाः सर्वसंस्काराः [ ] १।२७।२१
क्षीरे दधिभवेदेवम् [मी० श्लो० अभाव० श्लोक ५] ७६।५४६।४४७

[ग]

गतानुगतिको लोकः [न्यायम० प्रमा० पृ० ११] ३०।७४।११६
गुणवर्षी परितुष्यन् [प्र० व० १।२१९-२२१] ५२।२५९।२९४
गुणपर्यायवद्द्रव्यम् [त० सू० ५।३८] ४९।१६४।२४९

[घ]

घटमौलिसुवर्णार्थी [आप्तमी० श्लो० ५९] ५७।३५८।३५०

[च]

घ्राणादितोऽनुयातेन [ ] ३३।१।१४०

[ज]

जातिरेव हि भावानां [ ] ७।५९।४७
जावइया वयणपहा [सन्मति० ३।४७] १।१६।१२
जे एगं जाणइ [ ] ५५।३४९।३३४
जेसु अणाएसु तओ [ ] ५५।३४९।३३४
जो तुल्लसाहणाणं [ ] ५०।२१६।२७१
ज्ञातसंबन्धस्यैकदेश··· [शाबर भा० १।१।५] ७३।५३१।४४०
ज्ञानमप्रतिघं यस्य [ ] १३।१२।८१
ज्ञानमप्रतिघं यस्य [महाभा० वन प० ३०] १।२१।१७
ज्ञानादयस्तु भावप्राणा [ ] ५२।२४५।२८३
ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य [ ] ५२।२८४।३०८
ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य [ ] ४६।९।१६५

[त]

तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् [ ] १९।३२।९२
तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम् [न्यायसू० ४।२।५०] २९।७०।११४
ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषाम् [त० भा० १०।७] ५२।२४५।२८२
तदनन्तरमेवोर्ध्वम् [त० भा० १०।७] ५२।२४४।२८१
तद्वेत्त्यधीते [हैम०६।२] ३।४२।३६
तदा तल्लिख्यमानत्वम् [ ] ५२।२५१।२८९

तदुच्छेदे च तत्कार्यं [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] ५२।२५०।२८७
तपसा निर्जरा च [त० सू० ९।३] ४७।९२।२१३
तपांसि यातनाश्चित्रा: [ ] ८१।५५९।४५३
तस्माद्यत्स्मर्यते तत् [मी० श्लो० उप० श्लो० ३] ५५।३०५।३१५
तस्मान्न बध्यते नैव मुच्यते [सांख्यका० ६२] ४३।२९।१५४
तस्मान्मानुषलोकव्यापी [ ] ४९।१७२।२५१
तस्सेवाधिगमत्थं [विशेषा० गा० १४] १।८।६
तं मंगलमाईए [विशेषा० गा० १३] १।८।६
तादूप्येण च धर्मत्वम् [मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १४] ७१।५२४।४३८
तावदेव चलत्यर्थो [ ] २६।६३।११०
त्रैरूप्यं पाञ्चरूप्यं वा [ ] ५७।३८६।३७७

[द]

दग्धेन्धन: पुनर्नैति [सिद्ध० द्वा०] ४६।९।१६५
दग्धे बीजे यथात्यन्तम् [तत्त्वार्थाधि० भा० १०।७] ४६।९।१६५
दशहरातान्तरं व्योम्नो [ ] ६८।५१४।४३३
दुःशिक्षितकुतर्कांध– [न्यायम० प्रमा० पृ० ११] ३०।७४।११६
देवागमनभोयान–[आप्त मी० श्लो० १] ६८।५१५।४३३
देवागमनभोयान–[आप्तमी० १।१] १।३२।२६

[ध]

धर्माधर्मनिमित्तो हि [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] ५२।२५०।२८७

[न]

न कालव्यतिरेकेण [शास्त्रवा० श्लोक० १६५] १।२०।१६
न च स्यात् व्यवहारोऽयम् [मी०श्लो० अभाव० श्लो० २] ७६।५४६।४४६
न चावस्तु न एते स्यु [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४]
न चर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति [वसि० धर्म० १६।३६] ५८।४४३।४०१
न नर: सिंहरूपत्वात् [ ] ५७।३८६।३७७
ननु तस्यामवस्थायाम् [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] ५२।२५०।२८७
न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्याम् [प्र० वा० २।६३] ९।७५।६०
न मांसभक्षणे दोषो [मनु० ५।५६] ५८।४४५।४०२
नयि अत्थि माणुसाणं तं [ ] ५२।२४५।२८३
न वै हिंस्रो भवेत् [ ] ५८।४४२।४००
न श्रद्धयैव त्वयि [अयोगव्य० श्लो० २९] १।१५।१२
न स्वर्धुनी न फणिनो [ ] १२।३।७७
न ह्यस्मामर्थपरिच्छित्त्य [ ] ८।६६।५३
न ह्यर्थे शब्दा: सन्ति [ ] १०।७६।६१
नहि वै सशरीरस्य [छान्दो० ८।१२।१] ५२।२५१।२८८
न हिंस्यात्सर्वभूतानि [ ] ७१।५२४।४३७
न हिंस्यात्सर्वभूतानि [ ] ५८।४४२।४०८
नाकारणं विषय: [ ] ५८।४२१।३९४
नाभ्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति [प्र० वा० २।३२७] १०।७९।६४
नान्वय: स हि भेदित्वात् [ ] ५७।३८६।३७७
नाननुकृतान्वयव्यतिरेकम् [ ] ५८।४२१।३९४
नाननुकृतान्वयव्यतिरेकम् [ ] ९।७३।५८
नास्तिता घयसो दध्नि [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६] ७६।५४६।४४७
नित्यद्रव्याण्युत्पत्तिविनाशयो [ ] ६५।५००।४२४
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा [प्र० वा० ३।३४] ४९।११९।२२६
नियतेनैव रूपेण [शास्त्रवा० श्लो० १७३] १।२३।१९
निर्बंतकं निमित्तम् [ ] ४९।१६७।२४९

[प]

पक्षपातो न मे वीरे [लोकतत्त्व०- १।३८] १।१४।११
पक्षपातो न मे वीरे [लोकतत्त्व नि० श्लो० ३८] ४४।३८।१५९
पञ्चविंशतितत्त्वज्ञ: [ ] ३३।४।१४१
पयोव्रतो न दध्यत्ति [आप्त मी० श्लो० ६०] ५७।३५८।३५०
पुद्गलस्तिकाए [ ] ४९।२०२।२६५
पुराणं मानवो धर्म: [मनु० १२।११०] ४४।३८।१५८
पुरुष एवेदं सर्वम् [ऋक्० १०।९०।२] ६७।५१२।४३१

पुरुषोऽविकृतात्मैव [ ] ४१।२२।१५१
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारः [सांख्यका० ३३] ४१।१७।१४८
प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् [ ] ४९।१११।२२३
प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः [मी० श्लोक० अभाव० श्लो० ११] ७६।५४०।४४५
प्रतिक्षणं विशरारवो [ ] ११।९३।७३
प्रतिज्ञाहानिसंन्यास- [ ] ३२।१३०।१३६
प्रतिनियताध्यवसायः [ ] ४३।३१।१५५
प्रध्वस्ते कलषे शुशोष तनया मौली समुत्पादिते[ ] ५७।३५८।३५०
प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम् [ ] ८।६६।५२
प्रमाणपञ्चकं यत्र [ ] ४६।७३।२०१
प्रमाणषट्कविज्ञातो [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १] ५५।३०६।३१६
प्रसङ्गः प्रतिदृष्टान्तः [ ] ३२।१३०।१३६
प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनम् [न्यायसू० १।१।६] २३।५५।१०५

[ब]

बदर्याः कण्टकस्तीक्ष्ण– [लोकतत्त्व २।२२] १।२४।२०
बन्धविप्रयोगो मोक्षः [ ] ४७।९२।२१३
बन्धुर्न नः स भगवान् [लोकतत्त्व० १।३२] १।१४।११
बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो [प्र० वा० २।३२७] १०।७९।६४
बुद्धिदर्पणसंक्रान्तम् [ ] ४१।२२।१५१
बुद्धयध्यवसितमर्थम् [ ] ४१।२२।१५०
बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुः [अभिधान० २।१४६] ४।४५।३७
बुद्धिश्चाचेतनापि [ ] ४१।२१।१५२
पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति [ ] ८४।५६८।४५८

[भ]

भागे सिंहो नरो भागे [ ] ५७।३८६।३७७

[म]

मतानुज्ञापरिनिरनुयोज्यः [ ] ३२।१३०।१३६
मतिः स्मृतिः संज्ञा [त० सू० १।१३] ५५।३१६।३२१
मणिप्रदीपप्रभयोः [प्र० वा० २।५७] १०।८१।५७
मणुन्नं भोयणं भुच्चा [ ] ४।४४।३७
मयाकरयामाक [ ] ७९।५५५।४५१
मयूराण्डरसे यद्वत् [ ] ५७।३८६।३७६
महोक्षं वा महाजं वा [याज्ञ० स्मृ० १९९] ५८।४४२।४०१
म्रियन्ते मिष्टतोयेन [ ] ३३।२।१४०
मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेः [प्र० वा० १।२५६] ११।९५।७४
मुख्यसंव्यवहारेण [सन्मतितर्क टीका पृ० ५९] ५५।३२०।३२७
मूलसि (क्ष) तिकरीमाहु [ ] ५७।३७१।३६२
मूलप्रकृतिरविकृतिः [सांख्यका० ३] ४१।१८।१४८
मृतानामपि जन्तूनाम् [ ] ५८।४४७।४०३
मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया [ ] ४।४४।३७
मृल्लेपसंगनिर्मोक्षात् [त० भा० १०।७] ५२।२४४।२८१

[य]

य एव श्रेयस्करः [शाबर भा० १।१।२] ७१।५२४।४३७
यथा तथायथार्थत्वे [प्र० वा० २।५८] १०।८१।६६
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च [त० भा० १०।७] ५२।२४५।२८२
यथा सकलशास्त्रार्थः [प्र० वार्तिकाल० २।२२७] ४६।७६।२०३
यथोक्तलक्षणोपपन्नः [न्याय सू० १।२।२,३] २९।७०।११५
यद्यर्थवाविसंवादि [सन्मतितर्क टीका, पृ० ५९] ५५।३२०।३२७
यद्यदेव यतो यावत् [शास्त्रवा० श्लो० १४७] १।२३।१९
यद्वानुवृत्तिव्यावृत्ति [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ३] ७६।५४६।४४७
यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा [न्यायभा० १।१।३] १९।२८।९०
यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्व [ ] ५२।२४५।२८३
यः परमस्यात्मानम् [प्र०व० १।२१९-२२१] ५२।२५९।२९४

यावदात्मगुणाः सर्वे [न्याय म० प्रमे० पृ० ७] ५२।२५०।२८७
यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् [ ] ८१।५५९।४५३
युगपदयुगपत्क्षिप्रम् [ ] ४९।२००।२६४
येन येन हि भावेन [ ] १२।३।७७

[र]

रागोऽङ्गनासङ्गमतः [ ] ४६।५।१६३
रूपादयस्त्वर्थाः [ ] १९।१७।८६

[ल]

लिखितं साक्षिणो भुक्तिः (याज्ञव० स्मृ० २।२२) ५५।३१२।३१९
लूतास्य तन्तुगलिते [ ] ३३।२।१४०

[व]

वर्तत इदं न वर्तत [ ] ४९।२००।२६५
वर्तना परिणामः क्रिया [त० सू० ५।२२] ४९।१७३।२५२
वरं वृन्दावने वासः [ ] ५२।२४९।२८७
वस्तु (स्व) संकरसिद्धिश्च [मी० श्लो० अभाव० श्लो०५] ७६।५४६।४४७
विविक्ते दृक्परिणतौ [ ] ४१।२२।१५१
विरोधादेकमनेकस्वभाव [प्रश० कन्द० पृ० ३०] ५७।३८२।३७२
विशेषणविशेष्याभ्याम् [प्र० वा० ४।१९१] ९।७२।५६
वीतरागं स्मरन् योगी [ ] १२।३।७७
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम् [प्रश० किरण० पृ० ३३] ६५।४९५।४२१
व्यवच्छेदफलं वाक्यम् [प्र० वा० ४।१९२] ९।७२।५६

[श]

शब्दज्ञानादसंनिकृष्टे [शाबर भा० १।१।५] ७४।५३३।४४०
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य— [त० सू० ५।२४] ४९।१८०।२५४
शिरसोऽवयवा निम्ना [मी० श्लो०अभाव० श्लो०७] ७६।५४६।४४७
शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययम् [योग भा० २।२०] ४१।२३।१५१
शुद्धचैतन्यरूपोऽयम् [ ] ४३।२७।१५३
शैवाः पाशुपताश्चैव [ ] १२।४।७८
शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीम् [ ] १२।१।७६
श्रुत्वा वचः सुचरितं [लोकतत्त्व० १।३२] १।१४।११
श्रूयतां धर्मसर्वस्वम् [चाणक्य १।७] ५८।४४६।४०२
श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः [मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १९१] ७१।५२४।४३७
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा ४३।३०।१५५

[ष]

षट्त्रिंशदङ्गुलायामम् [ ] ३३।२।१४०

[स]

स एव योगिनां सेव्यः [ ] १२।३।७७
सत्संप्रयोगे सति [मी० सू० १।१।४] ७३।५२९।४३९
सद्विद्यमाने सत्ये च [अनेकार्थ १।१०] १।१२।८
सदकारणवन्नित्यम् [वैशे० सू० ४।१।१] ६१।४६७।४१०
सप्तदशप्राजापत्यान्पशून् [तैत्ति० सं० १।४] ५८।४४२।४०१
स प्रतिपक्षस्थापनाहीनः [न्यायसू० १।२।३] २९।७०।११५
सम्यग्ज्ञानदर्शन - [त०सू० १।१] ५४।२८८।३१०
संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना [मी० प्रत्यक्ष० सू० श्लो० ८४] ६८।५१७।४३४
सर्वमेतदिदं ब्रह्म [छान्दो० ३।१४।१] ६७।५१२।४३०
सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणे [ ] ५७।३५६।३४८
सावर्ण्यमथ वैधर्म्यम् [ ] ३२।१३०।१३६
सामीप्ये च व्यवस्थायाम् [ ] ४।४७।३९
सिद्धस्य सुहृदो रासौ [ ] ५२।२४५।२८३
सुखमात्यन्तिकं यत्र [ ] ५२।२५१।२८९
सुनिश्चितं नः परतन्त्र- [द्वात्रिंश०] ५८।४१९।३९३
सुविवेचितं कार्यं कारणं च [ ] १९।३९।१९६
सुरगण सुहृदं समग्गं [ ] ५२।२४५।२८३
सुरासुरनरेन्द्राणाम् [ ] ५२।२४६।२८४
सत्संप्रयोगे सति [मी० सू० १।१।४] ७३।५२९।४३९
सद्विद्यमाने सत्ये च [अनेकार्थ १।१०] १।१२।८
सदकारणवन्नित्यम् [वैशे० सू० ४।१।१] ६१।४६७।४१०
सप्तदशप्राजापत्यान्पशून् [तैत्ति० सं० १।४] ५८।४४२।४०१
स प्रतिपक्षस्थापनाहीनः [न्यायसू० १।२।३] २९।७०।११५
सम्यग्ज्ञानदर्शन - [त०सू० १।१] ५४।२८८।३१०
संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना [मी० प्रत्यक्ष० सू० श्लो० ८४] ६८।५१७।४३४
सर्वमेतदिदं ब्रह्म [छान्दो० ३।१४।१] ६७।५१२।४३०
सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणे [ ] ५७।३५६।३४८
सावर्ण्यमथ वैधर्म्यम् [ ] ३२।१३०।१३६
सामीप्ये च व्यवस्थायाम् [ ] ४।४७।३९
सिद्धस्य सुहृदो रासौ [ ] ५२।२४५।२८३
सुखमात्यन्तिकं यत्र [ ] ५२।२५१।२८९
सुनिश्चितं नः परतन्त्र- [द्वात्रिंश०] ५८।४१९।३९३
सुविवेचितं कार्यं कारणं च [ ] १९।३९।१९६
सुरगण सुहृदं समग्गं [ ] ५२।२४५।२८३
सुरासुरनरेन्द्राणाम् [ ] ५२।२४६।२८४

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः [त० सू० ५।२३] ४९।१७९।२५४
स्मृत्यनुमानागमसंशय—
[न्यायभा० १।१।१६]
१९।३४।९४
स्वभावतः प्रवर्तन्ते [त० भा० १०।७] ५२।२४५।२८२
स्वस्वभावजमत्यक्षम् [ ]
५२।२४६।२८४

[ह]

ह्रः स्वोऽथ संप्रति [ ]
४९।२००।२६५
हस पिब लल खाद मोद
[ ] ३३।४।१४१
हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः [ ]
४९।७०।२००
हेतुमदनित्यमव्यापि
[सांख्यका० २०]
४१।१९।१४९

परिशिष्टम् ४

विशेष शब्द-सूची

[अ]

अकर्ता १४८।३
अकाम २७८।५
अकिंचित्कर ४५।३
अकिंचित्करत्व ३५५।९
अकौशल ७३।१
अक्रियावादी २१।८
अक्ष ३१२।९
अक्षज ४५७।८
अक्षपाद ३५।५;७८।१३; ८६।२;१३८।५;३८२।२
अक्षरविषाण २३०।६
अगस्ति ७७।१५
अगस्त्य २४३।६
अगृहीतार्थग्राहक ४३८।८
अगुरुधूप २६७।२
अगोरसव्रत ३५०।८
अग्नि २६२।१; २६८।६; ४४८।१
अग्निदग्धपाषाणखण्डिका २४१।३
अग्निहोत्र ४३७।४; ४५३।१३
अङ्कुर २४३।५
अङ्गना ३०१।५; २७०।८
अचित्तमहास्कन्ध २५६।१
अचेतन ८३।४
अजहद्वृत्ति ९९।२
अजीव १४।१; २१३।१; २११।१; २३०।३; २४८।३
अतीत २५२।३; २६५।७
अतीन्द्रिय ४३४।९; ४३६।१
अतीन्द्रियार्थज्ञान ४३४।८*
अत्यन्ताभाव ४४७।१०
अत्र २६५।३
अधर्म २११।३;२५०।११; २५६।४;२६०।४; ४१७।६;४५२।२
अधर्मास्तिकाय २५१।४
अधर्मद्रव्य ३३८।४
अधिक १३०।३; १३३।८
अधिकरण सिद्धान्त ११०।१४
अध्यात्मवादी १४१।७; १४२।६,९
अनित्य २३०।६
अनुक २३९।५
अनर्थ ४३५।१४
अदृष्टार्थकल्पना ४४२।१३
अध्यक्ष ४२।२; ५९।२
अनन्तधर्म ३२९।३; ३५३।२
अनन्तधर्मात्मकता ३४७।१
अनन्तधर्मात्मकवस्तु ३५४।८
अननुभाषण १३०।३; १३४।१
अनवगत ३८३।९
अनवस्था २९२।४; ३६१।२; ३६२।१; ३८३।८
अनागत २५२।३; २६५।७
अनादि पारिणामिक ३१०।१
अनाद्यनन्त २०२।६
अनित्य ८१।१; १२०।११; १२७।९
अनिल २६३।१०; ४०७।१०
अनुत्तर विमान २३३।१३
अनुत्पत्ति (समा) १२०।१०; १२४।४
अनुपलब्धि ३१८।१०,१२०।११
अनुप्रेक्षा ३१२।५
अनुभयहेतु ३८३।२
अनुभाग २१५।७;२६६।५
अनुभागबन्ध २७७।७
अनुमान ४२।२;५७।३;६६।७; ८१।७ ; १९४।१; १२।८, ९६।६ ; १४।९; १८८।५; १९४।१;२०९।१०;२१८।४; २२८।३;२३४।९;२६५।१०; २८५।३; ३१३।४; ३१४।६; ३२२।८,३२४।१;३७१।११; ३८३।८; ४३४।३; ४३५।२; ४४०।६
अनुवृत्ति ४४७।१
अनुश्रेणि २४२।१०
अनुष्ठान २९८।९
अनेकान्त ३५१।११;३५६।१; ३६१।४;३७६।१
अनेकान्तजयपताका ४०५।२
अनेकान्तप्रघट्टक २८६।७
अनेकान्तप्रवेश ४०५।२
अनेकान्तमत ३९२।५
अनेकान्तात्मकता ३८१।१०
अनेकान्तशासन ३६६।७
अनेकान्तरूप हेतु ३७९।३
अनेकार्थनाममाला ८।१
अनैकान्तिक ११७।८;२०१।७; २२६।१०;२८०।११; २८५।२ ; ३८२।३; ३८६।१०; ३९०।९
अन्त्यज ४५०।११
अन्तरिक्ष ४०७।१०
अन्तर्द्वीप १८३।२
अन्तराय १९१।६

अन्तःकरण २२१।३
अन्न २७०।८; २७१।१
अन्यथानुपपत्ति ३२५।४
अन्ययोगव्यवच्छेद ५५।८
अन्योन्याभाव ४४७।८
अन्वय २१७।१; २४१।१२; ३७९।५
अन्वयदृष्टान्त ३२४।५
अन्वयव्यतिरेकि ९५।१०; ३७९।६;३९५।२
अपकर्ष (समा) १२०।१०
अपचय २७९।६
अपत्य २९७।२
अपरत्व २५२।७;४१५।८
अपरसामान्य ३८५।४
अपवर्ग १७।८; १०७।१; १०८।५; ४५३।९
अपसिद्धान्त १३०।४; १३५।७; २८६।३
अपान २३४।५
अपारमार्थिक ४४९।१
अपार्थकम् १३०।३; १३३।१
अपुण्य २७८।१०
अपौरुषेय २००।३; ४४०।१४; ४३५।४
अप् २२३।१०;२३७।४; २३८।७;४४८।१
अप्काय २३९।३
अप्रतिभा १३०।३; १३४।६
अप्राप्तकाल १३०।३; १३३।४
अप्रसिद्ध ४४०।१३
अप्राप्ति (समा) १२०।१०
अबला ३०२।४
अबाधितविषय ३८१।२;३८१।२
अब्राह्मण १९९।७
अभव्य ३०९।१२
अभव्यसंसार ३६३।९
अभयतिलकोपाध्याय १३८।५
अभाव ३१४।६; ३१९।६; ४३९।३; ४४४।४; ४४७।१४
अभावप्रमाण ३७६।४
अभिनिबोध ३२२।२
अभेदप्रतिभास २१४।५
अभ्रान्त ६०।१०;६२।२;६५।५
अभ्यञ्जन २७७।४
अभ्युपगतसिद्धान्त ११०।१४
अम्बर २६४।१;२६।६९;२६७।१
अम्भोरुह ४५३।४
अयस्पिण्ड २६८।४; २७६।१०
अयुतसिद्ध ४२४।९
अरोधिवरत्व २२।१०
अरूपित्व २५६।८
अर्चट ३८।१; ७५।६
अर्चिमार्ग ४०२।१२
अर्चिमार्गानुग १४१।६
अर्चिमार्गविरुद्धधूममार्गानुगामी १४१।६
अर्थ ३२०।१
अर्थान्तरं १३०।२; १३२।१
अर्थापत्ति (समा) १२०।११; १९४।१;२०१।४; ३१४।६;४१९।३; ४४२।५;१२५।५
अर्थापत्तिसाध्य २२०।५
अर्थोपलब्धि ८२।१६; ८४।१०; ८५।२
अर्थोपलब्धि ४२५।८
अर्घजरती २७०।६
अर्धतृतीयद्वीप २५१।६
अर्ग २३८।१
अर्हन् १६३।१०
अर्हन्त ३५।९
अलाबु २८१।१३
अलोक २५०।८
अलोकाकाश २५१।५
अवकर २४०।११
अवक्षेप ४१९।१२
अवक्तव्य ३३६।१२
अवगत ३८३।९
अवग्रह ३१९।९; ३२०।१
अवगाह २६३।४
अवधिदर्शन ३६२।९
अवयव ८२।१३; ८३।९
अवयवावयवि ३७४।४
अवर्ण्य (समा) १२०।१०
अवाच्यत्व २८।१
अवाय ३१९।९; ३२०।५
अविकृति १४८।१३
अविज्ञान ३०८।६
अविद्या ४४९।१
अविप्रति २७४।४;२७५।११
अविसंवाद ३१२।२;५१।७; २१९।९
अविशेषसमा १२५।८
अविज्ञातार्थम् १३०।२;१३२।९
अवैशद्य ३६२।८
अव्यक्त १४५।२
अव्यपदेश्य ८६।२;८८।१;८९।५
अव्यभिचारि ८६।२; ८८।८; ८५।८
अशुभकर्मबन्धहेतु २७४।७
अशोक २४२।११;२४३।९
अश्वमेध ४०१।५
अष्टसहस्री ४०५।४
अष्टावक्रशीलाङ्कधारी २७८।७
अस्तित्व ४४९।९
अस्तित्वसंबन्ध ३३९।२
अस्तेय १६०।८
असंकर ४४७।५
असत्प्रतिपक्ष ३८१।२
असत्त्व २८।१
असाता २०६।७
असिद्ध ११७।६;११७।८; ३८२।२
असिद्धत्व २७८।१०
असुरभि २५४।१०
असूया २०२।३
अस्ताचल १०४।११
अस्तिकाय २५१।६
अहंकार १४५।१३; १४६।४,५

अहमधिक ३०१।८
अहमर्द्धिक ३०८।२
अहिंसा १६०।८
अहि २७०।९
अहेतु (समा) १२०।११
अग्नि ७७।२
अज्ञान १३०।३;१३४।३; २७८।१०

[आ]

आकाश २११।३;२२०।३; २५०।११;२५६।४;२६०।४; २६३।१; २७९।३; ४०८।४; ४४१।४; ४५०।१२;४५३।८
आकाशगुण २२६।१०
आकाशद्रव्य ३३८।४
आकिञ्चन्य १६०।८
आकुञ्चन ४१९।१२
आगम ९४।९;१८८।१;१९४।१; २००।३;२०६।४;२११।१०; २१५।१०;३२३।१;३२७।१; ४३४।३
आचाराङ्ग २६।१२;३४२।४
आतप २०६।६;२६८।६
आत्मगुण २८७।८
आत्मसिद्धि २१९।१२
आत्मा ४२।१; ४०७।११; ४०९।६
आत्मादिद्रव्य ३३८।१०
आत्मवादी १८।४
आत्मसंवेदन ३६८।१
आत्यन्तिक २७८।१२
आत्यन्तिकवियोग २७८।३;११
आदर्श २६८।३
आदाननिक्षेप १६०।६
आदित्य २४२।२
आधाराधेय ४२४।९
आधिदैविक १४२।६,९।१०
आधिभौतिक १४२।६,९,१०
आनन्द २८९।५
आप्तपरीक्षा ४०५।३
आप्त १०६।७;२१८।३; ३२७।२;२६६।१
आमलकी २४३।६
आम्ल २५४।९
आयुर्वेद २४५।६
आयु आदि बाह्य प्राण २७८।१०
आराम २३३।८
आर्यसत्य ३६।८;३८।६
आर्हत ३९३।८
आसुरि १४१।३;१५१।५
आस्तिकवाद ४४९।५
आस्रव १४।१;२११।१;२१२।१; २७४।३,६,७,८,१०,११; २६९।२
आश्रयदोष २७५।२
आश्रयासिद्ध २८६।१
आह्नोपुरुषिका २०६।९
आत्रेयतन्त्र १५८।४;४२९।१०
आज्ञासिद्ध २४।८;२७।६
आज्ञासिद्ध १५८।१४

[इ]

इन्द्रजाल २९।८
इन्द्रियसंनिकर्ष ३७१।९
इन्द्रियार्थसंनिकर्ष ३९८।११; ८६।२
इलापुत्र २९।४
इषुकारनर २५८।१
इष्टापूर्ति १५४।४,५

[ई]

ईर्या १६०।६
ईर्यापथ २०४।४
ईशान ७७।१
ईश्वर १६६।३; १८५।४; १८२।३;३९८।११
ईश्वर ४०६।१२
ईश्वरकृष्ण १४८।१२;१५५।१०
ईश्वरदेवता १४१।१;१४२।१४
ईश्वरप्रत्यक्ष ३९९।१
ईश्वरबुद्धि १७९।३
ईश्वरवादी १७।७
ईहा ३१९।९;३२०।५

[उ]

उत्कर्ष (समा) १२०।१०
उत्कर्षापकर्षसमा १२१।८
उत्कुटिका २४०।११
उत्क्षेप ४१९।११
उत्क्षेपण २११।५
उत्क्षेप्य २३८।७
उच्छ्वास ३१३।७
उत्तरप्रकृति २७७।१०
उत्तरबन्ध २७४।१०
उत्तरमीमांसावादी ४३०।७
उत्पादव्ययध्रौव्य ३४७।२
उत्सर्ग १६०।६
उदयाचल १०४।११
उदयन ४२९।९
उदीरणा २०७।१
उद्वेग ३१८।८
उद्योत २६८।६
उद्योतकर १३८।५
उपचारच्छल ११९।१
उपनय ११२।५;३२४।४,६
उपपत्ति (समा) १२०।११; १२५।१०
उपमान १८८।७;१९४।१; २०१।१; १०५।३; ८५।७; २२०।१;३१४।४;४३४।४; ४४०।१२
उपमेय २२०।१
उपरम २९८।८
उपल २८०।१०;२३७।७
उपलब्धि (समा) १२०।११; १२६।५
उपवास २९५।८
उपस्थ १४६।१०; १४७।२

उपायोपेय ६।१०
उभयहेतु ३८३।२
उरः २६६।६
उलूक १३।११;१४१।३
उष्ण २०९।४;२५४।८

[ऊ]

ऊह ९४।९

[ऋ]

ऋक् ४३५।१४
ऋतुविभाग २६५।५
ऋषभ ३५।९

[ए]

एकदण्डी १४०।२
एकाङ्गयन्त्रपीडा २८२।१
एषणा १६०।६

[ऐ]

ऐतिह्य ३१४।६
ऐन्द्रियकत्व ४३८।१
ऐन्द्रियप्रत्यक्ष ४२६।५
ऐश्वर्य १७।८;१८१।३
ऐणस २६५।३

[ओ]

ओष्ठ ४४१।४

[औ]

औदारिक २८०।४;२५५।१;२१०।३
औलूक्य ४०६।९
औवेक ३३।३

[क]

कञ्चुकसंयोगकल्प २७६।८,१२
कञ्चुकि २७६।११
कट २६५।१०
कटु २५४।९;४५१।४
कठिन २५४।८
कठोर ४५३
कण्ठ २४३।६
कणाद ४०६।८;२५५।७
कण्टक २७०।९
कण्ठ २६६।६
कण्ठेरेखात्रयाङ्कितसर्वज्ञ ३७।१०
कन्दली ३७२।२;४२९।८
कपिल ।५४।८;११।१२;१३।११
कपिलाण्ड ७७।१
कपिलमत १४१।९
कमण्डलु ३७।१
कमलशील ७५।७
कर्कादि ३८४।७
कर्तृत्वानुपपत्ति १८०।३
कर्म २११।५;४१९।११;४०७।२
कर्मग्रन्थ २७७।११
कर्मत्व ३७३।४
कलल २३९।४
कल्प १६०।४
कल्पनापोढ ६०।१०,६१।२
कवलाहार २०१।९
कषाय ४५३।४;२५४।९;२७४।४;२७५।११
कषायादिसङ्ग २७८।१०
ककुच्छन्द ३५।४
क्रमभावीधर्म १।२
काकतालीय २४।४
काञ्चन ३५।५;२८०।१०
काण्ठेवि २१।९
कान्तार २१८।८
कापालिक ४५०।१०
कापिल २११।११;१३९।२;१४१।२,३
काम ४५१।३
कायक्लेश ३००।४
कायाकारपरिणाम २२५।६
कायोत्सर्गकरण २७८।६
कारणानुपलब्धि ५८।८;६७।७
कारणानुपलम्भ १९६।२
कारणानुमान २७१।७
कारीष २६२।५
कार्यकारणभाव २३।४;३८९।६
कार्यानुमान २७०।७
कार्यसमा १२८।१;१२०।११
कार्यहेतु ६८।१
काल २११।७;२२०।३;२६४।६;२६५।२;२६०।५;२५०।११;२५३।५;३१०।३;३३१।९;४०७।११;४०८।६
कालद्रव्य ३३८।४
कालमुख ७८।६
कालवचन २६५।४
कालवादी १५।१,१७।६
कालात्ययापदिष्ट ११७।८;११८।२;१७९।५;१८४।६;२१८।५;२८५।२;७९।७
काश्यप ३०।३;३५।५
काष्ठ २५५।१
काष्ठासङ्घ १६१।१
किरणावली ४२९।९
किसलय २४३।५
कुट २६५।१०
कुटीचर ३३।५;४३१।३
कुडव २५८।८;२६७।८
कुमार २४३।१
कुमारिल ४३३।१०
कुमुद २४३।१२
कुम्भकार २४९।१२
कुशिक ७७।२
कूटस्थ १८५।७;२१५।४;२३५।४;४००।७
कृतक ११८।२
कृत्ति ३७।१
कृत्स्नकर्मक्षय १६२।५
कृमि २४६।५;३०३।९
क्रिया २५२।७
क्रियाकल्पना ६१।७
क्रियावादी १३।१०;२१।६;२४।७
क्षपि २७०।१;२७२।१

कुयोबल २३६।१;२६१।३; २८९।२
कृष्ण २५४।१०
केतकतम २४३।३
केवलदर्शन २।९
केवलान्वय ३८०।१
केवलान्वयि ९५।९;१६।६; ९७।१;३८२।७
केवलव्यतिरेक ३८०।१;९५।९; ९६।६;९७।४;३८२।७
केवलज्ञानदर्शन १६२।३;१६४।३
केवलज्ञानावरण २०४।४
केवलिनर २०३।९;२०४।२; २०५।३
केवलिप्रणीत ३९३।२
केशोण्डुकज्ञान ५१।८
कोटाकोटी ३१०।५
क्रोकुल २१।८
क्रोधादिपरिणतत्व २१४।२
क्रोधादिविजयो १६०।८
कौपीनवसना १४०।३

[ख]

खट्वा २३३।९
खद्योत २४२।१
खपुष्प २१६।९;२१७।९;२३६।२
खरशृङ्ग २३१।१०;२३२।३; २३३।५
खारो ३१७।६,३१८।६

[ग]

गति ५५१।४
गन्ध २५४।९;२५४।१०; २७८।१०;४४८।१
गन्धहस्ति ३०९।५
गमन ४१९।१२
गलनक १४०।८,९
गले पादिका न्याय २३७।२
गवय १०५।३;२२०।१; ३१४।९;४४१।८
गवल १०३।१
ग्रह २५१।१०;२५९।१
ग्राह्य ७७।१
ग्राहक ४३६।४
गुण ४०७।२;४०७।११
गुणकल्पना ६१।६
गुणत्व ३७३।३
गुणरत्नसूरि ४६२।१
गुप्ति २१२।५
गुरु २५४।८
गुड ४५८।६
गुरुत्व ४१८।८
गृह २३२।२; २३३।५
गृहत्यागी ४२१।४
गो ४४१।७
गोधूम २७१।९
गोप्यसंघ १६१।२
गोयम २७१।६
गोस्वामिनामकदिव्यपुरुष ३१।४
गोधूमाहिल २७६।८
गौ २२०।१;१०५।३;३१५।१
गौड़पाद १५८।४
गौतम २८७।६

[घ]

घट २६५।१०
घटमौलिसुवर्णार्थी ३५०।५
घ्राण १४६।८;१२,१५; २६६।२;४५२।१३
घातिकर्म २०६।४
घातिचतुष्टय २१०।६
घ्रेय २३८।७
घोषातकी २४३।१२

[च]

चक्र १८५।२
चक्रवर्ती ३०८।३
चक्षु १४६।८,१२,१५; २६६।२;४५२।१३
चतुरातुर २९७।४
चतुर्भूतात्मक ४५०।११
चतुर्वर्ग २८४।५
चन्दन २७०।८
चन्द्र १९३।४
चन्द्रमण्डल २५८।१०
चन्द्रमा २३२।४
चमर ३७।१
चमरी १६१।२
चम्पक २४२।११
चम्पकस्थ २४३।१०
चरक ९।२;३३।६
चर्या २०९।४
चारित्र २१४।१;३१०।६
चार्वाक ५५।४;२१५।४; ४०४।३;४५०।७;४५१।४; ४५७।११;४५९।३;४६०।२
चार्वाकीय ४६२।२
चार्वाकैकदेशीय ४५०।१२
चिकित्सित १५८।१३
चिकीर्षा २२६।८
चिदात्मन् ४५८।३
चिन्ता ३२१।६,३२२।२
चिन्तामयी २९५।२
चित्रा ४५३।१२
चीवर १८५।२
चेल ३०१।१०
चैतन्य १४१।२
चैतन्य २१५।९;२२३।७;४५१।१
चोलपट्ट १६०।४

[छ]

छद्मस्थ २७।४;२०८।४
छल ८२।१४;८४।४;११७।६; ११८।१०;३९७।६
छाया २०६।६;२६८।१; ४०७।१४
छेद्य २२८।७

[ज]

जगद्गोचर १७।८
जङ्गम ४५३।५

अटिन १४०।३
अटी १४१।१२
अतु २५५।१
अनक ४३६।४
अम्बूद्वीप ३३१।१
अयन्त १३८।७
अल २६३।१०;२६८।१;
४०७।१०;४५७।६
अलबुद्बुद ४५१।१
अल्प ८३।१४; ८४।२;
११४।११; ११५।१
अति ८२।१५;८४।४;११७।७;
१२०।६;१२१।१;१२२।२;
१२३।१;१२४।४;१२५।१;
१२६।१;१२७।४;३९७।६
आलक २५८।५
आगमिया २२६।८
आन २।६;३।३;३५।९;
२०७।३; २०९।५
आनशासन २९९।२
आनेन्द्र १९२।२
आहारामुल २६६।६
आज्ञासा २२६।८;४३५।१३
आव १४।१;२२।४;२११।१;
२१३।१०;२४२।९;२५०।११;
३०९।१२;४४९।९;
४५०।११;४५२।१
आवन्मुक्ति ३००।१०
आवन्मृत ३१३।८
आयेष्ठ ३१३।५
आन ४४९।९;३५।२;२१३।४
आनदर्शन २।११;३९३।२
आमिनि ४३९।३
आमिनी २४।१०;३३।१
आमिनीय ३५।३;१८८।३;
४३०।३;४३२।५;४३९।१४;
४४९।४;४४९।९;४६२।२

[झ]

झष २६२।१०
झल्लरि २६६।७

[ञ]

ञित्य २३०।८

[त]

तटाक २४०।५;२६०।१०
तत्कार्यविरुद्ध १९७।३
तत्कारणविरुद्ध १९७।१
तत्पूर्वकत्वेन ९३।२
तत्पूर्वकव्यापार १८१।३
तत्त्व ३४।१०;८२।१०;
२११।२;३०९।१
तत्त्वकौमुदी १५८।७
तत्त्वसंग्रह ७५।६
तत्त्वार्थप्रमाणवार्तिक ४०५।१
तत्त्वार्थभाष्य २८१।८
तत्त्वार्थसूत्र २०९।३
तद्व्यापकविरुद्ध १९७।१
तदुत्पत्ति ३८७।४;३८९।६
तन्त्र ३३।३
तप २१३।२;४५३।१२
तपस्वि ७८।६
तम ४०७।१४
तमाल १०३।१
तर्क ३२२।८;३२३।७;११२।६;
११३।४;८२।१२;८३।१०
तर्कभाषा ७५।६
तर्करहस्यदीपिका ४६२।२
तथागत ३८१;३९४।१
तादात्म्य ३८७।४
ताप १४३।३,६,७,८,९
तापस ७८।७
तारादेवी ३७।९
तारासमूह २६७।३
तालु ४४१।४
तिक्त २५४।९;४५३।४
तीर्थंकर २१२।८
तीर्थंकरत्व २६७।९
तीर्थेश ७७।३
तिल २५९।३
तिलक २४३।१०
तीव्र २७७।१०;२७७।१०
तुरङ्गम २१७।६;२५६।११
तुरुष्क ३१।४
तुष ३०७।२
तृण २९०।१
तृणस्पर्श २०९।५
तेज ४०७।१०;२२३।१०;
२२४।१५;२२७।५,२२८।७;
४५७।६;४५८।४
तेजस् २६६।१
तैजसशरीर २१०।३
तैमिरिकज्ञान ६२।४
तैथिक २६९।६

[द]

दंश २०९।४
दक्षप्रजापति ३०।३
दण्ड १८५।२
दधिव्रत ३५०।७
दन्त २६६।६
दरिद्र ३०८।२
दर्दुर २३९।१०
दर्शन २१४।१;३१०।६;४५०।२
दान २७२।२
दान्तेन्द्रिय १६०।८
दारवी १४०।५
दिक् २२०।३;४०७।११
दिक्पट २०३।८
दिग् १९३।४;४०९।२
दिग्नाग ३८।२
दिगम्बर ८।४;१६१।१;३०१।४
दिवा २६५।३
दुःख २१४।१
दुःखव्यावृत्ति २८७।९
दुःखसमुदय ३८।७
दुष्करतरतपश्चरण २७८।६
दूषणाभास ११७।७,१२०।६
दृष्टान्त ११०।४;११२।५;
३२४।४

देव ४५२।५;४३४।८
देवच्छन्द २०८।८
देवता ३४।१०;४०६।४
देवदत्त २३२।१,२३३।५
देवसुन्दरसूरि ४६२।१
देवागम २६।८
वेश १९३।४
देशसंवर २७६।४
दैन्य १४३।३,६,७,८,९
द्रवत्व ३१८।१०
द्रव्य ४०७।२
द्रव्यकल्पना ६१।७
द्रव्यगुणादि ३०।२
द्रव्यत्व २१४।२;२३८।८;३७३।३
द्रव्यप्राण २८३।१
द्रव्यभेद ४०७।९
द्रव्यैकान्त ३५५।७
द्वयणुक २५६।१;२५८।६;२६५।११;४११।४
द्वादशतत्त्व ५१।५
द्वादशाक्षरजापी १४०।४
द्वादशाङ्ग ३०९।५;३९३।२
द्वादशायतन ५०।७
द्वाविंशतिपरीषहपरिषहण २७८।६
द्विज ५३०।४
द्विजगृहाशन १४०।३
द्विरोमक २१।९
द्वेष ४१८।४
द्रोण ३१७।६;३१८।१

[ध]

धर्म १७।८;२११।३;२५०।११;२६०।३;४३५।१३;४३६।५;२५६।४;४५१।३;४५२।२
धर्मकीर्ति ६८।२;६६।२
धर्मता ४३७।१४
धर्मद्रव्य ३३८।४
धर्मधातु ३७।१०
धर्मबुद्धसङ्घरूपरत्नत्रय ३७।९
धर्मबुद्धि १६१।४
धर्मलाभ १६१।५
धर्मसंग्रहणी ४०५।२
धर्मसाधनी ४३५।१३
धर्मानुप्रेक्षा २७६।१
धर्मायतन ५०।७
धर्मास्तिकाय २५१।४;२५९।९;२६०।१;२८२।१०
धर्मोत्तर ३८।२
धातकी ४५८।६
धातुरक्ताम्बर १४०।३
धारणा ३१९।९;३२०।६;३२१।५
धाराबाहिकज्ञान ३९८।५;४३८।९
ध्रुव २५५।९

[न]

नकुली ७६।१५
नक्षत्र २५१।१०;२५९।१
नक्त २६५।३
नन्दादि १५७।१
नपुंसक ३०१।६
नभोजीव २५७।५
नभोऽम्भोज २६९।१२
नय १।५;१२।११;२६१।५
नयचक्रवाल ४०५।१
नयवाद १२।१५
नरक ४३७।९;४५२।७;४५३।२
नरसिंह ३७७।५
नवकोटिविशुद्ध १६०।९
नवोदक ११७।६
नाग्न्यलिङ्ग १६१।१
नामकल्पना ६१।५
नारद ३०८।४
नारायणदेव १४१।१
नास्तिक २६९।१२;४५०।६;४५२।३
नास्तित्वसंबन्ध ३३९।२
निगद २९७।७
निगम ११२।५
निगमन ३२४।४,६
निगोद २५८।६
निग्रहस्थान ८२।१५;८४।५
निग्रहस्थानं १३०।७;१३१।१;५;१०;१२;३९७।६
नित्य ७८।१४;८१।२;१२०।११;२१५।५;४३४।१०
नित्यचित् १४८।३
नित्यसमा १२७।४
नित्यैकसर्वज्ञ ८०।९
निमित्त २४९।११;४३६।३
निमित्तकारण २५०।१
निम्ब २४३।८
नियति १८।६
नियतवादी १८।६
निरंशसद् ४४८।३
निरनुयोज्यानुयोग १३०।४;१३५।४
निरन्वयविनाशी २७९।८
निरपेक्ष ४।२
निरर्थकम् १३०।२,१३२।५
निराकार २१५।९
निरीश्वर १४१।१;१४२।१,३
निवर्तक ४३७।५
निश्चितान्यथानुपपत्ति ३८०।७;१८१।१
निरोध ३९।३;४३।८;५०।१
निर्गुण १४८।३
निर्ग्रन्थगुरु १६०।८
निर्जरा १४।१;२११।२;२१२।१;२१३।१;२१३।२;२७८।२;५
निर्जरातत्त्व २७८।१
निर्णय ८२।१३;२४।१;११२।८;११३।११
निर्वर्तक २४९।११;२५२।५;२६०।८

निर्वाण ३०८।६
निर्विकल्पक ९१।१२;३९६।१;
४२६।६;३६८।१
निर्वृति ४५२।१
निःप्रतिकर्मशरीरी २७८।७
निःश्वास ३१३।७
नीहार २५८।५
नैयायिक ३।९;३५।२;३५।६;
२१५।४;२८७।७;३११।६;
३१४।९;३७१।९;४०६।४;
४४०।४;४४९।९;७६।३;
३७४।२;३९६।११
नोदनालक्षण ४३६।५
नोदया ४३६।३
न्याय ३५।५
न्यायकन्दली ४२७।६;४२८।८
न्यायकलिका १३८।७
न्यायकुसुमांजलितर्क १३८।७
न्यायकुमुदचन्द्र ४०५।३
न्यायप्रवेश ७५।७
न्यायबिन्दु ७५।७
न्यायभूषण १३८।७
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १३८।४
न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि
१३८।४
न्यायविनिश्चयटीका ४०५।४
न्यायालंकारवृत्ति १३८।५
न्यायसारटीका ९२।७
न्यायसार १३८।२;१३८।६
न्यायसूत्रभाष्य १३८।४
न्यायावतार ४०५।२
न्यूनम् १३०।३,१३३।६

[प]

पक्ष ३२४।३
पक्षधर्मत्व ६९।७;३८७।१
पञ्चकेन्द्रिय २७८।९
पञ्चग्रासोपरा १४०।४
पञ्चभूतात्मक ४५०।१२
पञ्चमहाभूत ४५२।४
पञ्चमस्वर २४३।११
पञ्चरूप ३८२।८
पञ्चलक्षणहेतुवादी ३७५।१२
पञ्चविंशतिगुण ४०७।११,
४१२।३
पञ्चशिख १४१।३
पञ्चसमिति १६०।५,७
पञ्चस्कन्ध ४२।३;७३।३
पञ्चास्रवत्याग ३२४।६
पञ्चावयवानुमान ७२।३
पञ्चास्तिकाय २५०।११
पटल २६५।१०
पटह २६६।७
पतञ्जलि १५१।१४
पद्म २४२।११
पद्मनाभ २५७।४
पद्मराग २६८।७
पनस २४३।९
पयोव्रत ३५०।७
परत्व २५२।७;४१५।७
परदर्शन २९।८
परद्रव्यक्षेत्रकालभाव ३२९।६
परधर्म ३३३।५
परपर्याय ३२९।७; ३३०।६
परब्रह्म ४४९।१
परमपद १६२।५; १६६।२
परममुक्ति ३००।१०
परमर्षि १४१।४
परमहंस ३३।५;४३१।३
परमाणु २५२।३;२५५।४;
२५८।६;२६०।२;२६५।११;
२६६।१;३६६।५;३९६।८;
४११।४
परवस्तुव्यावृत्तत्व २१४।२
परमार्थसत् ३५३।४;४४९।२
परमार्थसत्य ४।२
परलोक ४४९।९;४५६।८
परलोकयायी २३४।९;४६२।४
परसंवेदनवेद्यता २५६।८
परसमय १२।६
परस्परपरिहार ३८८।५
परस्परपरिहारस्थितिविरोध
३५९।८
परा[illegible] २७२।२
परहेतुगोचरज्ञानात्मक
वादलक्ष[illegible] ३७८।८
परा[illegible] २५५।३
परार्थ ३२४।१
परार्थानुमान ९७।५
परिणाम २५२।७;२५३।१;
३३४।१;४१४।५
परिणामी २४९।११; २५२।५
परिव्राजक १४०।४
परीषह २०९।४
परुत् २६५।३
परोक्ष ५६।११;३१२।५;३१३।४;
३०२।२;३१९।२;३२२।८;
३२८।२;३४३।८
पर्यनुयोज्योपेक्षण १३०।४;
१३५।१
पर्यायार्थिकनय २५५।९
पर्यायैकान्त ३५५।७
पर्वत २१८।९
पल २०१।८;२३४।७;२५८।१३
पाञ्चरूप्य ३७७।८
पाटलिपुत्र १५२।१२;
३३१।२
पाणि १४६।१०; १४७।२
पायस १९१।१०; १९२।१
पाद १४६।१०; १४७।३
पाप २११।१;२६९।१;४४९।९;
४५०।११;४५२।२
पापास्रव २६८।११
पायु १४६।१०; १४७।१
पारगार्य ७७।१
पारमार्थिक ३१९।५
पारमर्षा १४१।४
पाराशर २९।४

पार्थिव २६६।१
पाशुपत ७८।५;४०६।९
पाषाण २३८।४
पिङ्गल ७७।२
पिच्छिका १६१।२
पिपासा २०९।४
पियोलिका २४६।५;३१८।९
पिप्पल २४३।७
पिप्पलाद २४।१०
पिप्पली २६६।६
पिशाच १४४।९,१०;१७१।१;
१८०।७;२०१।८;२३४।७;
२५७।५
पुण्य १४।१;२११।१;२१३।११;
२७८।१०;४४९।९;
४५०।११;४५२।२
पुद्गल ६७७।६;२१६।४,
२४२।९;२५०।११;२५१।२;
२५४।५;२५५।४;२५६।४;
२६०।५;२६३।४;२६५।१०;
२८२।४
पुद्गलगुण २२७।१
पुनर्जन्म ग्रहण २७८।१०
पुनरुक्त १३०।३; १३३।१०
पुराण १५८।१३
पुरुष २९०।६;२९१।७;२९३।१
पुरुष ३०१।५
पुष्पक ७७।२
पूतराः १४०।१०
पूर्वबन्ध २७४।१०
पूर्वमीमांसावादी ४३०।७
पूर्ववत् ८५।११; ९२।१०;
९५।७; ९६।१; ९७।६;
१००।३; १०१।९
पूर्वोत्तरमीमांसा ४०३।११
पृथक्त्व ४१५।५
पृथ्वी २२३।१०;२३७।४;
२३८।७;४६७।६;४५८।२
पृथिवीकाय २३७।१
पौराणिक ३०।४
पौरुषेय २००।३;४४३।६
पौद्गलिकद्रव्य ३३८।७
प्रकरण (सम) १२०।११;७९।७;
११७।८;१२४।१०;१८५।१
प्रकृति १४५।१;१४६।१;
१४८।१३;२१२।७;२६६।६;
२९०।६;२९१।७;२९२।११;
३७५।९;४००।८
प्रकृतिबन्ध २७७।७
प्रतिदृष्टान्तसमा १२०।१०;
१२३।१०
प्रतितन्त्र सिद्धान्त ११०।१४
प्रतिपक्ष भावना २०७।७
प्रतिबिम्ब २६८।२
प्रतिभा ९४।९
प्रतिज्ञा ११२।५
प्रतिज्ञाशान्तेः १३०।२; १३०।११
प्रतिज्ञाविरोधः १३०।२; १३१।५
प्रतिज्ञासंन्यासः १३०।२;१३१।९
प्रतिज्ञाहानि. १३०।२; १३०।६
प्रत्यक्ष ५६।११;८५।७;२२६।७;
२६५।१०;२८५।३;३१२।५;
३१३।४;३१४।२;३१९।२;
३२८।१;३४३।४;४२६।२
प्रत्यभिज्ञान ३२२।८;३२३।२
प्रत्यक्षलक्षण ६०।९
प्रत्यक्षाभास ४४०।१
प्रत्यवस्थानहेतुसमा १२५।१
प्रदीप २६७।३;२८५।१
प्रदेश २१२।७
प्रदेशबन्ध २७७।७
प्रधान १४५।२;३७५।८
प्रध्वंसाभाव १७२।६;४४७।७
प्रपञ्च ४४९।१
प्रपुन्नाट २४३।६
प्रभाकर ३३।३;३३।५;
४३८।११;४३९।५
प्रमाण ५८।२;८२।११;८३।१;
१९३।४;३१४।२;३६१।५;
४३९।१;४५७।५
प्रमाणता ४४८।२
प्रमाणपञ्चक १८८।८;१९३।७;
४१४।५;४४२।१३
प्रमाणपञ्चकाभाव २३४।६
प्रमाणफलभेद ३२१।२
प्रमाणमीमांसा ४०५।२
प्रमाणवार्तिक ७४।६
प्रमाणसंख्या ५४।८;४२६।१
प्रमाणसामान्य ५१।६
प्रमाणषट्क ४४२।१५
प्रमाद २७४।४; २७५।११
प्रमादपरिहार २७६।१
प्रमेय ५८।५;८२।१२;८३।६;
१०६।५;२१४।१;४५७।५
प्रमेयकमलमार्तण्ड ४०५।३
प्रमेयरत्नकोश ४०५।२
प्रयत्न ४१७।७
प्रयोग २५३।४
प्रयोजन ८२।१२; ८३।९,
१०९।५
प्रवर्तक ४३६।६
प्रशस्तकर ४२३।७;४२९।८
प्रशाखा २४३।५
प्रसंग(सम) १२०।१०;१२३।८;
प्रसाद १४३।३,६,७,८,९;
३१८।८
प्रसारण ४१९।१२
प्रसिद्धार्थ ३४०।१३
प्रसुप्त २२।४
प्रस्वेद २६८।४
प्रागभाव २८०।९;४४६।१४;
४४७।६
प्राण २२४।५;२८३।१
प्राणधारित्व २१४।२
प्रातः २५५।३
प्रातिम ११४।६
प्राप्ति (सम) १२०।१०
प्राप्त्यप्राप्तिसमा १२३।५
प्राभाकर ४३०।९
प्रायोगिकी २५०।१

प्रावृट् २४३।८
प्रेक्षापूर्वकारि २८९।२

[फ]

फलविशेषणपक्ष ९०।८

[ब]

बकुल २४२।११;२४३।१०
बन्ध १४।१;२११।२;२६९।२;
२७५।८,९;२७६।५,७;
४००।८
बन्धतत्त्व २७७।११
बम्भूल २४३।६
बलाका ९९।२;२६१।५
बस्ति २२४।२
बहिःकरण २२१।३
बहूदक ३३।५;४३१।३
बादर २७६।३
बादरायण २४।१०
बाष्प २८०।१
बार्हस्पत्य ४५१।६
बाल २४३।१
बाह्यान्तरसर्वपरिग्रहपरिहारी
२७८।७
बीट १४०।५
बुद्ध ३५।४;३९५।७
बुद्धाष्टक ३८।१
बुद्धि १४५।१२;१४६।१,३,४,
१३,१४;१४७।४;४१५।१२
बृहस्पति ४५१।६
बौद्ध ६।७;९।२;३३।३;३५।२;
३५।५;५५।५;२११।८;
३६६।८;३६८।६;३७६।६;
४०३।१३;४४९।९;४६०।११
बौद्धदर्शन ३६।१०
बौद्धमत ९।६;३६।६;४९।८
ब्रह्म १४४।९,१०;१५६।६;
२८९।५
ब्रह्मचर्य १६०।८
ब्रह्मादित्रय ३०।३
ब्रह्मसूत्री ४३१।१
ब्रह्मावैत ३७५।३;४३०।१०
ब्रह्माद्वैतवादी ४०३।९
ब्राह्मण ४५०।१०

[भ]

भक्त ७८।७
भट्ट ४०३।६;४३७।१२;३९।६
भरट ७७।५;७८।७
भरत ३३१।१
भव्य ३०९।१२
भव्यत्व ४।१
भस्मोद्धूलनपर ४५०।१०
भागासिद्ध १७२।५
भाट्ट २३।५;४३०।९;४३८।११
भावनय २९५।२
भावप्राण २८३।१
भार्गव १४१।३
भाव ३३२।६
भासर्वज्ञ १३८।६
भाषा १६०।६
भिक्षु ३८।१
भुवन ४५३।४
भू २६३।१०;४०७।१०;४५३।४
भूत २२३।७;४५१।१
भूतचतुष्टय ४५७।६
भूधर ४५३।४
भूमि ४५७।७
भूरुह ४५३।४
भेद्य २३८।७
भेरी २६३।९;२६५।७
भोक्ता १४८।३
भोगवञ्चना ४४३।१२
भोग्य २३८।७;२३६।७
भ्रमर २४६।५
भ्रमरभान १४०।११
भ्रान्तज्ञान ३६८।५

[म]

मकर २६२।२
मण्डूक ३०३।९
मतानुज्ञा १३०।४;१३४।११
मति ३२२।२
मतिज्ञान ३६२।१०
मत्त २२२।२
मत्यावरण २१२।८
मत्स्य २६०।१०;३०६।२
मदशक्ति ४५१।१;४५८।३
मदिरा २३४।६;२३७।७,
४५६।१
मधुराङ्ग २२३।८;४५८।६
मधुर २५४।१९
मन ४०७।११;४०९।७
मनःपर्यय ३६२।११
मनुस्मृति १५८।१४
मनुष्यक ७७।१
मन्द २७७।१०
मन्वतर २७७।१०
मरीचिकुमार १३।११
मरुत् २६२।१
मरुमरीचिका ४४०।२
मल १६१।४;२०९।५
मशक २०९।४
महत्तादि १४८।१३;४००।३
महातर्क ३०९।५
महान् १४५।१२
महामख २१८।७
महाभारत १४०।५
महावीर ५।३
महाव्रत ७८।५
महासामान्य ४२२।४
महेशिता १८७।२
महेश्वर १७१।३;१८७।८
मांसाङ्कुर २३८।१
माठर १३।११
माठरप्रान्ते १४१।७
माठरभाष्य १५८।३
माथुरसङ्घ १६१।१
माधुकरीवृत्ति १६०।९
माध्यमिक ३३।१;७२।१०
७४।६

मान १०६।४
मानवधर्म १५८।१३
मानसज्ञान ६२।५
माया ३०१।८;४४९।१
मायावी २६।७
मायूरपिच्छ १६१।२
मार्ग ३९।२;४३।८;४९।८
मासोपवासी १४१।५
माष ३०७।१
मात्राद्यगम्यागमन ४५१।२
मिथ्यात्व २६९।१;२७४।३,४
मीमांसा ३।१०
मीमांसक २८३।७;३११।१०;
३१४।५;३१५।४;४३६।१२;
४३७।१०;३७६।१
मीमांसकमत ४३०।३
मुक्त २८७।१३
मुक्ताकण २९६।८
मुक्तात्मा २८१।२;३३८।१
मुक्ति २८७।६;२९९।८;
३७१।४;४३१।२
मुक्तिपथ २५।८
मुख २६८।३
मुखवस्त्रिका १४०।५;१६०।४
मुखनि.श्वासनिरोधिका १४०।६
मुण्डी १४१।१२
मुण्डकोपनिषद् १५४।६
मुद्ग २५९।३
मुमुक्षु २५।८
मुखतिुर २९७।२
मूर्च्छित २२२।४
मूर्तता २६६।६
मूलप्रकृति १४८।१३;२१२।७;
२७७।९
मूलसंघ १५१।१
मृग ३१३।६
मृगचर्मासना १४०।३
मृदु २५४।८
मृदावस्था २२४।९
मृदुत्व ४५३।३
मेचकमणि २६९।८
मेरु २२९।१; २५७।३
मैत्र्य ७७।१
मोक्ष ११।१;४३।८;७४।१;
२११।२;२११।२;२१२।२;
२१३।४;२७८।११;२८४।५;
२८५।८;२८९।५;२९०।७
२९६।६;३०१।४;४५२।५
मोक्षतत्त्व २७८।९
मोक्षमार्ग ३१०।११
मोहनीय २०७।५
मौद २४।१०

[य]

यक्ष ३१८।२
यजमान ४३१।४
यजुः ४३५।१४
यथाख्यातचारित्रिन् २०५।१
यथानामनिर्गम ४५१।३
यथार्थत्वविनिश्चय ४३४।१०;
४३५।३
यदृच्छावादी २२।३;२३।३
यव २६३।१०;२७१।९;
१४५।१२
यवाङ्कुर २६३।१०
यज्ञमार्गानुग १४१।६
यज्ञोपवीत ४३०।५
याकिनीमहत्तरा २।१
यातना ४५३।१२
याज्ञिक ४१०।७
युक्ति ३१८।१०
युद्ध २४३।१
योग २७४।४;२७४।११
योगजप्रत्यक्ष ४२६।५;४२७।१
योगाचार ३३।१
योगभास्कर १५१।१६
योगशास्त्र ७७।११;२८४।१
योगिप्रत्यक्ष ९१।११;३९४।९;
३९८।२
योगिज्ञान ६२।५;६३।५
योगी ३९९।९;४५०।१०
योषित ३०८।६
योग ७६।५;३११।११;
३५५।७;३८०।२
योगाचार ७२।१०;३४४।७;
७४।२

[र]

रजोहरण १६०।४
रत्नाकरावतारिका ४०५।१;
४४५।१२
रस २११।५;२५४।५;२५४।९;
२७८।१०;४१२।८;४४८।१
रसन २६६।२;४५२।१३
रसना १४६।८,१२,१४
रसनीय २३८।७
राशीकर ७७।३
रात्रिभोजन ४४३।१०
रूक्ष २५४।८
रूप ४०।४;७३।३;२११।५;
४४८।१
रेवण ३३।४
रोग २०९।५
रोमहर्ष १९८।१;२७९।७;
२८०।९
रोलम्ब १०३।१

[ल]

लघु २५४।८
लज्जालु २४४।१
लवण ३७।१०;२५४।१०;
२५९।४;२६६।२
लीलावतीतर्क ४२९।९
लूता १४०।१०
लैङ्गिक ७८।७;४२६।२;
४२७।७;४३९।९
लोक २५०।८
लोकतत्त्वनिश्चय १५९।६
लोकतत्त्वनिर्णय ११।७;३२।१

लोकव्यवहार ३१३।९,३३९।१३
लोकस्वरूप ३०।१
लोकायत ४५०।४;४५०।९;
४५१।४;४५२।१;४६०।८
लोकालोक २०२।२
लोच १६०।४
लोचन २६६।२
लोचादिकायक्लेशकारी २७८।७
लोलीभाव २७७।५

[व]

वज्रस् १४६।१०;१४७।२
वट २४९।७
वध २०९।४
वध्यघातकभावविरोध ३५९।४
वनस्पति २३०।५;२३८।७
वन्ध्यास्तनंधय ५५३।३
वर्ण २७.।१०.२५४।६;
२५५।१०
वर्णकला १०।५
वर्ष्य (समा) १२०।१२
वर्ष्यविर्ष्यसमा १२२।२
वर्तना २२२।७
वर्तमान २६५।७;२५२ ३
वर्धमान ३।१;२।१४.५।३.
२५।११;२६।३
वसिष्ठ २९।४
वसु २४।१०
वाक्कलह ११९।१
वाचकमुख्य २१०।१०
वाचस्पति ११८।५;४५८।१४
वाणिज्य २७२।४
वात २६८।१
वात्स्यायन १३८।५
वाद ८२।१४;८४।२
वादमहार्णव १५१।३
वामन ३३।४
वामनीय २६६।१
वायु २२३।१०;२२४।११;
२३७।४;२३८।७;४४८।१;
४५७।६;४५८।४
वाराणसी १४१।५
वाल्मीकि २९।४
वासना २८७।८
वासि ३२८।५
विकल्प (समा) १२०।१०;
१२२।८
विकृति १४८।३;४००।८
विक्षेप १३०।३;१३४।६
विघटन २७८।५
विजातीय ३५५।३
विज्ञान ४०।४;७३।३;४४०।१
विज्ञप्ति ८३।१४;८४।३;
११४।११;११५।२
विदेह ३३१।२
विद्यागुरु ७७।३
विद्युत् १८४।४
विद्रुम २३७।७;२३८।४
विन्ध्यवासी १५१।८
विपक्षसत्त्व ३८०।४
विपक्षासत्त्व ९६।५;७०।६;
३८२।९
विपक्ष ३५।४
विपक्षी ३७।९
विभाग ४१४।३
विभु ८०।६
विरहक २४३।११
विरुद्ध ११७।८;३५५।६;३८२।३
विरुद्धोपलब्धि ६०।३;६७।७
विरोध ३८७।३;३८८।५
विविक्तद्रव्यपर्यवैकान्त ३५५।८
विवेकख्याति २९०।५;२९२।१०
विशेष ३९१।१:३११।५;
३३२।१;४०७।३
विशेषणविशेष्यभाव ८६।९;
३८७।३;३८९।१
विशेषलक्षण ३१०।१२;४३८।५
विशेषहेतु ३८३।१
विश्वभूः ३५।४
विस्रस २५३।४
विष २७०।९
विषय ३२०।१
विषयी ३२०।२
विषाण २३८।८
विष्णुनाभिपद्म ३०।४
विष्णुप्रतिष्ठाकारक १४१।२
विष्णुमय ३०।४
विज्ञान ४०।४;७३।३;४४०।१
वीणा ४५३।५
वीतराग ८।३;४३२।८
वीर २।६
वीर्य २१४।१
वृक ४५२।७
वृक्ष २६५।५
वृक्षायुर्वेद २४५।६
वृद्धता २४३।१
वृन्दावन २८७।५
वेग ४१९।१
वेणु ४५३।५
वेद २००।६;२०१।५
वेदना ४०।४;७३।३
वेदनादिषट्क २०४।२
वेदनीय २०५।६;२०६।१;
२०७।१
वेदपाठ ४३५।१२
वेदप्रिय १४१।६
वेदवाक्य ४३४।१०;४३५।३
वेदशय २७८।१०
वेदान्तवादी ४०२।१२
वेदान्ती २६९।१२;४३०।१०
वैधर्म्य (समा) १२०।१०
वैधर्म्यसमा १२१।४
वैनयिक २९।४
वैमानिक ३३।१;५०।४;
७२।१०; २६९।६
वैयधिकरण ३५७।७
वैयावृत्यकरण २०४।४
वैराग्य १७८

वैशाख ३६२।८
वैशेषिक ३।९;३०।२;३५।२;
२१४।५;२६४।२;२६६।१;
२४०।४;२८४।७;२८७।३;
३११।११;३७१।९;
४२६।१;[illegible]
वैशेषिकमत ७७।१६;४०६।३
वैशेषिकी २८७।६
वैशेषिकीयसूत्र ४२४।१२
वैश्रसिकी २५०।२
वैषयिकसुख २८९।१
वैष्णव ३०।३
व्यतिकर ३५७।९
व्यतिरेक २११।६;२१७।१;
२४१।१२;२८१।५;
३२४।५;३७९।६
व्यभिचारि ८८।७;६८।८
व्यवसायात्मक ८६।२;८८।१०;
८९।५
व्याल १०३।१
व्यावृत्ति ४४७।१
व्यास २९।४
व्युपरत २०८।७
व्योम २६१।२;२६३।४;४४८।१
व्योमवती ४२९।९
व्योमशिव ४२८।१०;४२९।९

[श]

शकट २६५।१०
शकुनि २६२।१
शक्र १८७।४
शङ्ख २६६।७;२०७।५
शङ्खनामक पुरुष ३५।८
शब्द २५४।१०;२६६।५;
२६६।९;२६७।९;४१३।४
शब्दब्रह्मवादी ४।१
शब्दलिङ्ग २६४।२
शमी २४३।६
शम्या २०९।४
शरीर २७८।९
शशशृङ्ग २११।९;४३४।६,
४४७।८;४५३।२
शशविषाण २५६।९
[illegible] ३४।१०
शास्त्र ३१।१;३८।१;३७।४
३११।७;३५।५
शाखा २४३।५
शाबर ४३७।१०;४४०।९
शाबलेयादि ३८५।१
शाब्द ८५।४,८८।१;१०६।४;
४३९।२;४४०।११
शाब्दिक ८५।७
शालि २७१।९; २७२।१
शाश्वतवेद ४४०।१२
शिक्षापत्री १९४।६
शिखावन्त १४०।३
शिखी ३५।४;१४१।१२
शिरः २६६।६
शिरीष २४३।११
शिशिर २४३।८;२६८।१
शीत २०९।४;२५४।८
शुक्लध्यान २१।२
शुक्लपक्षेन ३००।१०
शुभाशुभकर्मकर्ता २१५।६
शुषिर २२४।१
शून्यवाद ३७५।३;३८।१
शेषवत् ८५।११; ९२।१०;
९५।९; ९६।३;९८।६;
१००।५; १०१।९,
१०३।११
शैव ७८।१
शैवशासन ७६।४
शोकप्रमोदमाध्यस्थ ३५०।६
शौच्यकौशिक ७७।१
शौद्धोदनि ३८।१
श्वः २६५।३
श्वापद ४५३।४
श्वेताम्बर ८।४

श्राद्ध ४०३।१
श्रीउदयन १३८।५
श्रीकण्ठ १३८।५
शृगाल २८७
श्रीधराचार्य ४९९।८
श्रीवत्साचार्य ४३९।९
श्रुत ३२२।१
श्रुतमयी २९५।१
श्रेयःसाधनता ४३८।२
श्रोत्र १४६।८, १२, १५;
४५२।१३
श्रोत्रिय ४०१।१

[ष]

षट्पदार्थी ४२९।८
षष्टितन्त्र १५८।३

[स]

संशय (समा) १२०।१०
सकलप्रत्यक्ष ३६२।१२
सकलादेश २८।६
सकाम २७८।५
सचेलत्व ३०१।९
सजातीय २६५।५;३५५।३
सटन २७८।४
सत् ३४७।२
सत्कर्मपुद्गल २१३।११
सत्तासामान्य ४२०।१२;४२२।४
सत्त्व २८।१;२१४।१;१६०।८
सत्यवक्त २९।४
सत्संप्रयोग ४३९।१४
सदंश ४४८।३
सदंशासदंश ४४८।५
सदसत्त्व २८।१
सदसदंश ४४८।५;४४४।७
सद्भूतार्थप्रकाशक १६२।४
सद्भूतार्थवादी ५।२
सनत्कुमार १५६।६
सपक्षसत्त्व ७०।६;९६।५

समबुद्ध ३७।९
समभिरूढ ३०४।९
समन्तभद्र ४३२।१४
समवाय २११।५;२३१।११; ३८४।४;३८७।३;३९७।१२; ४०७।३;४२८।८
समुदय ३९।१;४२।८
समुद्र २६०।१०
सम्प्रति २६५।३
सम्भव ३१४।६
सन्मतिटीका ४०५।१०
सन्मतिसूत्र १२।७
सम्यग्ज्ञान ५६।१;५७।१
सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र ३१०।१०
सयणासण ३७।४
सरका २४३।६
सरघा १८७।४
सरित् २६०।१०
सर्वतन्त्रसिद्धान्त ११०।१४
सर्वज्ञ २।१०;५।१;२६।४; ७६।५;७८।१४;८१।६; ८२।३;१८६।५;१८८।१; २०२।२;३६५।६;३८३।१४; ४०४।८;४३२।५;४३४।३; ४३५।५;४५२।५;३९९।४
सर्वज्ञभाव २६।७
सर्वज्ञानुपलम्भ १९६।१
सर्वदर्शी २।१०;४३२।८
सर्वसंवर २७६।२
सविकल्पक ९१।१२; ३६८।५
सविकल्पत्व ३६७।७;४२६।७
सविकल्पज्ञान ६२।१
सवितृ २६७।३
सशिख ४३१।३
सहकारिकारण २२६।२
सहकारिसंपाद्यस्वभाव २८०।१
सहभावीधर्म ३३७।९
सहभूस्वभाव २८०।१
सहानवस्थान ३८८।५
सहावस्थानविरोध ३५९।२
सहस्रार ३०६।६
सांख्य ३।९;३१।१;३३।५, ३५।२; ३५।६; ५५।५; १३८।१०; १३९।२; १४१।१,३,४;१४२।१,३,५; १४५।९;२१५।८;२३५।८; २३६।१;२८४।८;२९४।१; २९०।१;२९२।८;३४५।७; ३७५।८;४००।२;४३०।३; ४४९।९
सांख्यव्यवहारिक ३१९।४
सांख्यकारिका १५४।१०, १५७।६
सांख्यमत १४०।२;१४१।१३
सांख्यसप्तति १४८।१२; १४९।१४;१५८।३;२५९।६
साकार २१५।९
साक्षात्कारित्व २०३।६
साक्षाद्द्रष्टा ४३४।९
सागर ३१०।५
साङ्गवेद १५८।१३
साट २७८।२,४
साता २०६।७
सातवेदनीय २१०।८
सातोदय २०६।४; २०७।३
सात्यमुग्रि २४।१०
साधनाभास ३८२।८
साधन विकल ३५५।१०
साधर्म्य (समा) १२०।९, १२१।१
साधु ३०३।५
साध्य ३२४।२;१२०।१०
साध्यविकल २८६।५;३५५।१०; १२३।१
साध्यसाधनता दाढ्य ३८९।४
सापेक्ष ४।२
सामग्रीविशेषण पक्ष ९०।३
सामान्य २११।५; २३१।११; ३८४।१;३८५।४;३९१।१; ४०७।२;४१९।१३
सामान्यकक्षल ११९।१
सामान्यरूपहेतु ३८५।१०
सामान्य लक्षण ३१०।१३; ४३८।५
सामान्यविशेष ३७३।२
सामान्यविशेषसमवाय ३९७।१
सामान्यविशेषसामान्य ४२२।४
सामान्यतोदृष्ट ८५।११,९२।१०; ९५।१;९६।३;९९।१;१०१।२; १०४।५;२१९।३;२३१।१
सायण् २६५।४
सारना २३८।८
सासवचित्तसन्तान २९५।३
सिद्ध २४३।६;२६५।८; २८१।१४
सिद्धसेन ३९३।५
सिद्धसेनदिवाकर १२।७;१६५।९
सिसृक्षा ३७२।१०
सिद्धहैमोणादि दण्डक ४५१।६
सिद्धान्त ८२।१३;८३।९;११०।५
सिद्धान्तसार ४०५।४
सुख ४१६।६
सुगत २१।९;२६।२;३५।४; ३६।६;१६६।२;१८२।१; १९४।८; १९९।५
सुन्दक २४३।६
सुरभि २५४।१०;४५३।४
सुरासुरेन्द्रसंपूज्य १६२।४
सूक्ष्म २५५।८;२६५।११; २७६।३
सूर्य २५१।१०;२५९।१; २६४।६
सूत्रकृत् १३।५;४४९।९
सृष्टि १८५।८
सृष्टिसंहारकर्तेश्वर ८०।१
सृष्टयादिकर्ता ४३२।८
सोमाग्नि ३०।२
सौगत ३।९;२६।२;३८।१; ६५।१; २१५।१; २८४।८; २९४।३; २९८।६;३५५।७

सौगताभ्युपगत अनेकान्त ३६७।२
सौवर्णघटदृष्टान्त ३२९।५
सौत्रान्तिक ३३।१;७२।१०;
७३।३;३६९।९
सौत्रान्तिकमत ५०।३;५१।४
संकर १।७;३५७।८
संख्या ४१३।८
संज्ञिहीर्घा ३७२।१०
संतान ७७।३
संतानान्तर ३४५।१
संदिग्धासिद्ध ३५५।५
संनिकर्ष ८७।२
संप्रदाय २९।५
संमति (सन्मतितर्क) ४०५।१
संभावना ११९।४
संयम २०५।१;४५३।१२
संयुक्तसमवाय ८६।६
संयुक्तसमवेत समवाय ८६।७
संयोग ८६।६;२३१।११;
३८७।३;३८८।१
संवर १४।१;२११।१;२१२।१;
२७५।८,९;२७६।१,२
संवेदन ३७१।१
संसार २७।५;२०२।६
संसारित्व २१४।२
संसारी ४०।३
संशय ८२।१२;८३।७;१०९।४;
९४।९;२२६।८;३६१।१
संशयसमा १२४।७
संस्कार ४०।४;७३।३;४१७।९
संहार १८५।८
संज्ञा ४०।४;७३।३;
३२१।६;३२२।२
स्कन्ध ४०।३;२५४।९;२५५।४
स्तम्ब १४४।९,१०;४५३।४
स्तुतिकार समन्तभद्र २६।९
स्थाणु १०९।१०
स्थावर ४५३।५
स्थिति २१२।७;३६६।५;
२५१।४;२५२।९
स्थितिबन्ध २७७।७
स्थिरांश ३०९।१
स्निग्ध २५४।८
स्नेह ४१८।६
स्नेहाभ्यक्तवपु २७७।४
स्पर्श २५४।५;२७८।१०;
४१२।८
स्पर्शन १४६।८,१२,१४,
२६६।२;४५२।१३
स्पृश्य २३८।८
स्मरण ३२२।८;३२३।१
स्मृति ९४।९;२२६।६;३२१।५;
३३२।२;३९८।४
स्याद्वाद १।६;३।५,७,३५७।४;
३६६।८;३७१।२;४०४।१
स्याद्वाददेश २।६
स्याद्वादरत्नाकर ४०५।१
स्याद्वादामृत ३६३।५
स्रक् २७०।८;२७१।१
स्वःकाम ४३६।६;४३७।२
स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव ३२९।६
स्वधर्म ३३३।५
स्वपरव्यवसायी ३११।१
स्वपर्याय ३२९।७;३३०।६
स्वप्न ९४।९;१८५।५,
२१६।६
स्वभाववादी १९।६
स्वभावविरुद्धोपलब्धि ५८।१
स्वभावहेतु ५८।१;६८।१
स्वभावानुपलब्धि ६७।७
स्वरूपविशेषणपक्ष ९०।२
स्वरूपासिद्ध ३५५।१
स्वर्ग १७।८;४५२।७;४५३।२
स्वर्गकाम ४३७।४
स्वसंवेदवेद्यत्व २५६।६
स्वसंवेदन ३४५।६३;७१।५
स्वसंवेदनज्ञान ६२।५;६३।४
स्वार्थ ३२४।१
स्वार्थानुमान ६७।४
स्वैरी १८६।५
स्त्री ३०१।५;३०८।५

[ह]

हंस ३३।५;४३१।३
हतमोहमहामल्ल १६२।३;
१६३।७
हरिभद्र ३२।२
हरिभद्रसूरि ११।७
हिंगु २६६।२
हिंसाविरति ३००।४
हिमवत् २०१।८;२३४।७
हिरण्यगर्भ २००।५
हुतभुग् २१८।११
हूतपूर २३७।७
हेतु ७०।१;७१।३;३२४।२;
११२।५;३८६।२
हेतुसामान्य ३८३।१
हेतुबिन्दु ७५।६
हेत्वाभास, ८२।१४;८४।,३;
११७।६;११८।८;
३७९।९
हेत्वन्तरम् १३०।२;१३१।१२;
१३०।४;१३६।१
हेमसूरि १२।१
हेयोपादेय ६।१२
ह्रः २६५।३
ह्रद २६०।१०

[क्ष]

क्षणिकता ३८४।२
क्षणिकत्व ४८।५
क्षमादिगुप्तित्रय २७६।१
क्षायिकसम्यक्त्व २८३।३
क्षितिजलाद्यष्टमूर्तिसा ३७२।१०
क्षुत् २०७।५;२०९।४
क्षुरगुण्डा १४०।३
क्षेत्र ३१०।३;३३०।९

[अ]

त्रसरेणु २५८।५
त्रिकालशून्य ४३६।१०
त्रिदण्डः १४०।२
त्रिदण्डी ४३१।३
त्रिभुवन २२०।२
त्रिरूप ३८२।८

त्रैलोक्यपूज्य २०४।४
त्रैरूप्य ३२५।५;३७७।८;
३७९।१०

[ज्ञ]

ज्ञान १७।८;८३।४;९४।९;
२१३।८;२१४।१;
३१०।६

ज्ञानपारमिता ७५।६
ज्ञानवादी ३४४।१
ज्ञानवादी तथागत ३७१।१
ज्ञानवत्त्व १८१।२
ज्ञानावरण २१०।७
ज्ञानाद्वैतवादी ४१
ज्ञानावरणीयकर्म २७९।१०
ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्व १८१।२

परिशिष्टम् ५

संकेत-विवरणम्

अनुयोग० : अनुयोगद्वारसूत्रम्, आगमोदय समिति, सूरत

अनेकान्तवादप्र० : अनेकान्तवादप्रवेशः, हेमचन्द्राचार्य-ग्रन्थावली, पाटन

अनेकान्तजयप० : अनेकान्तजयपताका, प्र० द्वि० भाग, ओरियण्टल सीरिज, बड़ोदा

अमर० : अमरकोश, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

अयोगव्य० : अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका, रायचन्द्र-शास्त्रमाला, बम्बई

अष्टश०, अष्टसह० : अष्टशती (अष्टसहस्र्यन्तर्गत), निर्णयसागर, बम्बई

अष्टसह० : अष्टसहस्री, निर्णयसागर, बम्बई

आप्तप० : आप्तपरीक्षा, वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली

आप्तमी० : आप्तमीमांसा (अष्टसहस्र्यन्तर्गत), निर्णय-सागर, बम्बई

आ० मलय० : आवश्यकनिर्युक्तिः मलयगिरिटीका, देवचन्द्र लालभाई फण्ड, सूरत

ऋग्वेद पुरुषसू० सायणभा० : ऋग्वेदः [पुरुषसूक्त सायणभाष्ययुक्त] वैदिक संशोधन मण्डल, पूना

कालको० : कालकोकप्रकाशः, देवचन्द्र लालभाई फंड, सूरत

केवलिभु० : केवलिभुक्तिप्रकरणम्, जैनसाहित्य संशो-धकपत्रे मुद्रितम्

क्षणभ० सि० : क्षणभङ्गसिद्धिः, एशियाटिक सोसा-इटी, कलकत्ता

गच्छा० वृ० : गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्तिः, आगमोदय समिति, सूरत

गो० कर्म० : गोम्मटसार कर्मकाण्ड, रायचन्द्र शास्त्र-माला, बम्बई

चरक सं० : चरक संहिता, निर्णयसागर, बम्बई

चतुःश० : चतुःशतकम्, विश्वभारती शान्तिनिकेतन

चिसु० : तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

जैनतर्कभा० : जैनतर्कभाषा, सिंघी जैन सीरिज, भार-तीय विद्याभवन, बम्बई

जैनतर्कवा० : जैनतर्कवार्तिकम्, सिंघी जैन सीरिज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

त० वा० : तत्त्वार्थवार्तिकम्, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

त० सू० : तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धयन्तर्गत)

त० सू० भा० : (तत्त्वार्थाधिगम) तत्त्वार्थसूत्रभाष्य, देवचन्द्र लालभाई फंड, सूरत

त० श्लोक० : तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

तत्त्वसं० : तत्त्वसंग्रह, ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा

तत्त्वसं० प० : तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा

तत्त्वोप० : तत्त्वोपप्लवसिंह, ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा

तन्त्ररह० : तन्त्ररहस्यम्, ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा

तन्त्रवा० : तन्त्रवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

ति० प० : तिलोयपण्णत्ती, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर

तैत्ति० : तैत्तिरीयसंहिता, निर्णयसागर, बम्बई

द्रव्यसं० : द्रव्यसंग्रह:, रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई

धवला० : धवला टीका, जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती

धर्मसं० : धर्मसंग्रहिणीवृत्तिः, आगमोदय समिति, सूरत

नन्दि० मलय० : नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका, आगमोदय समिति, सूरत

नयवि० : नयविवेकः, मद्रास यूनिवर्सिटी सीरिज, मद्रास

न्यायकलि० : न्यायकलिका, सरस्वती भवन, काशी

न्यायकुसु० : न्यायकुसुमाञ्जलिः, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायकुमु० : न्यायकुमुदचन्द्र, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

न्यायदी० : न्यायदीपिका, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली

न्यायमं० : न्यायमञ्जरी, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायमं० प्रमे० : न्यायमञ्जरीप्रमेयप्रकरणम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायम० प्रमाण० : न्यायमञ्जरी प्रमाणप्रकरणम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायमुक्ता० दिन० : न्यायमुक्तावली दिनकरी, निर्णयसागर, बम्बई

न्यायलो० : न्यायलीलावती, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायवा० : न्यायवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायवा० ता० टी० : न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायसार : न्यायसारः, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

न्यायावता० : न्यायावतारः, सिंघी जैन सीरिज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

न्यायभा० : न्यायभाष्यम्, गुजराती प्रेस, बम्बई

न्यायवा० ता० टी० : न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायवि० वि० : न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

न्यायबि० : न्यायबिन्दुः, जायसवाल सीरिज, पटना

न्यायबि० टी० : न्यायबिन्दुटीका, जायसवाल सीरिज, पटना

न्यायसू० : न्यायसूत्रम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

न्यायभा० ता० टी० : न्यायभाष्य, गुजराती प्रेस, बम्बई

प्रमाकरवि० : प्रभाकर विजय, जैन सिद्धान्तप्रकाशनी संस्था, कलकत्ता

प्रकरणपं० : प्रकरणपंजिका, चौखम्बा सीरिज, वाराणसी

प्रज्ञा० मलय० : प्रज्ञापनासूत्रमलयगिरिटीका, आगमोदय समिति, सूरत

प्र० वार्तिकाल० : प्रमाणवार्तिकालंकारः, जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना

प्र० वा० स्ववृ० टी० : प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, किताब महल, इलाहाबाद

प्रमाणवा० : प्रमाणवार्तिकम्, बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना

प्रमाणसमु० : प्रमाणसमुच्चयः, जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना

प्रमाणप० : प्रमाणपरीक्षा, जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता

प्रमाणमी० : प्रमाणमीमांसा, भारतीय विद्याभवन, काशी

प्रमाणसं० : प्रमाणसंग्रह, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

प्रमेयक० : प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णयसागर, बम्बई

प्रमेयरत्नमा० : प्रमेयरत्नमाला, पं० फूलचन्द्र शास्त्री, काशी

प्रव० टी० प्रवचनसारटीका (जयसेनीया) रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई

प्रश० भा०, कन्द० : प्रशस्तपादभाष्यकन्दलीटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी

प्रश० किर० : प्रशस्तपादभाष्यकिरणावलीटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी

प्रश० भा०, व्यो० : प्रशस्तपादभाष्य व्योमवतीटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी

पात० महाभा० : पातञ्जलमहाभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

बृहत्कल्प० मलय० : बृहत्कल्पभाष्यम्, आत्मानन्द सभा, भावनगर

बृ० सर्वज्ञसि० : बृहत्सर्वज्ञसिद्धिः (लघीयस्त्रयादिसंग्रहान्तर्गतः), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

बृहदा० : बृहदारण्यकोपनिषत्, निर्णयसागर, बम्बई

ब्रह्मसू० शां० भा० : ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, निर्णयसागर, बम्बई

ब्रह्मसू० शां० भा० रत्नप्रभा : ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, निर्णयसागर, बम्बई

बोधिचर्या० पं० पृ० : बोधिचर्यावतारः, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

भग० : भगवतीसूत्रम्, आगमोदय समिति, सूरत

भगवद्गी० : भगवद्गीता, आनन्दाश्रम, पूना

मनु० : मनुस्मृति, निर्णयसागर, बम्बई

महाभा० : महाभारतम्, निर्णयसागर, बम्बई

माध्यमिक० वृ० : माध्यमिकवृत्तिः, बिब्लोथिका बुद्धिरा, रशिया

मी० श्लो० : मीमांसाश्लोकवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

मी० श्लो० उपमान० : मीमांसाश्लोकवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० : मीमांसाश्लोकवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

मुण्डक० : मुण्डकोपनिषत्, निर्णयसागर, बम्बई

मूलाचा० : मूलाचार, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

मैत्रा० : मैत्रायण्युपनिषद्, निर्णयसागर, बम्बई

यश० : यशस्तिलकम्, निर्णयसागर, बम्बई

युक्त्यनुशा० : युक्त्यनुशासन, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

योगद० व्यास० भा० : योगदर्शनव्यासभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

योगभा० : योगदर्शनव्यासभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

योगभा० तत्त्ववै० : योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारदीटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी

योगसू० व्यासभा० : योगसूत्रव्यासभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

रत्नक० : रत्नकरण्डश्रावकाचार, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

रत्नाकराव० : रत्नाकरावतारिका, यशोविजय ग्रन्थमाला, भावनगर

राजवा० : राजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

वादन्याय : वादन्यायः, महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ

विधिवि० : विधिविवेक, लाजरस प्रेस, काशी

विधिवि० न्यायकणि० : विधिविवेक टीका न्यायकणिका, लाजरस प्रेस, काशी

विवरणप्र० : विवरणप्रमेयसंग्रहः, विजयानगरम् सीरिज, काशी

विशेषा० : विशेषावश्यकभाष्यम्, यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी

विसुद्धि० : विसुद्धिमग्गो, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

वैशे० सू० : वैशेषिकसूत्रम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

वैशे० उप० : वैशेषिकसूत्रस्य उपस्कारः, चौखम्बा सीरिज, काशी

व्या० प्र० : व्याख्याप्रज्ञप्ति, आगमोदय समिति, सूरत

शाबरभा० : शाबरभाष्यम्, आनन्दाश्रम, पूना

शास्त्रदी० : शास्त्रदीपिका, निर्णयसागर, बम्बई

शास्त्रवा० यशो० : शास्त्रवार्तासमुच्चयः, देवचन्द्र लालभाई, सूरत

शास्त्रवा० श्लो० : शास्त्रवार्तासमुच्चयः, देवचन्द्र लालभाई, सूरत

श्वेता० : श्वेताश्वतरोपनिषद्, निर्णयसागर, बम्बई

षद्० खण्ड० : षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तिः, आत्मानन्द सभा, भावनगर

षट्प्रा० टी० : षट्प्राभृतटीका, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

सप्तभंगीत० : सप्तभंगितरंगिणी, रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई

सर्वद० : सर्वदर्शन, भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना

सर्वद० : सर्वदर्शनसंग्रहः, भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना

सर्ववेदान्त० : सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः (प्रकरणसंग्रहान्तर्गत), ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना

सर्वार्थसि० : सर्वार्थसिद्धिः, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

सन्मति० टी० : सम्मतितर्कटीका, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

संक्षेपशा० टी० : संक्षेपशारीरकटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी

सांख्यका० : सांख्यकारिका, चौखम्बा सीरिज, काशी

सांख्यप्र० भा० : सांख्यप्रवचनभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

सांख्य० माठर० : सांख्यकारिका माठरवृत्ति, चौखम्बा सीरिज, काशी

सांख्यतत्त्व कौ० : सांख्यतत्त्वकौमुदी, चौखम्बा सीरिज, काशी

सांख्यसं० : सांख्यसंग्रह, चौखम्बा सीरिज, काशी

सांख्यसू० वि० : सांख्यसूत्रविपणम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

सिद्धिवि० टी० : सिद्धिविनिश्चयटीका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

सौन्दर० : सौन्दरनन्दमहाकाव्यम्, पंजाब यूनिवर्सिटी सीरिज, काशी

स्था० : स्थानांगसूत्रम्, आगमोदय समिति, सूरत

सूत्र० : सूत्रकृतांग, आगमोदय समिति, सूरत

स्त्रीमु० : स्त्रीमुक्तिप्रकरणम्, जैनसाहित्य संशोधकमें मुद्रित, अहमदाबाद

स्या० मं० : स्याद्वादमञ्जरी, रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई

स्या० र० : स्याद्वादरत्नाकरः, आर्हतप्रभाकर कार्यालय, पूना

हेतुबि० : हेतुबिन्दुटीका, ओरिएण्टल सीरिज, बड़ौदा

हैम० : हैमकोशः, भावनगर, काशी